द्विवेदी अभिनंदन ग्रन्थ

5,,v

२५०

त

नेकी
तिथि

हि० १७७७

श्री गणेश वर्णी दि. जैन (शोध) संस्थान
५६०
नरिया [illegible]

सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द्र जी शास्त्री
प्राचार्य, श्री स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी
द्वारा भेंट

ह० १८८

सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द्र जी शास्त्री
प्राचार्य, श्री स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी
द्वारा भेट

श्री गणेश वर्णी दि. जैन (शोध) संस्थान
५६०
वाराणसी

द्विवेदी-अभिनंदन ग्रंथ

काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा

१९९०

Printed by K. Mittra, at The Indian Press, Limited, Allahabad.

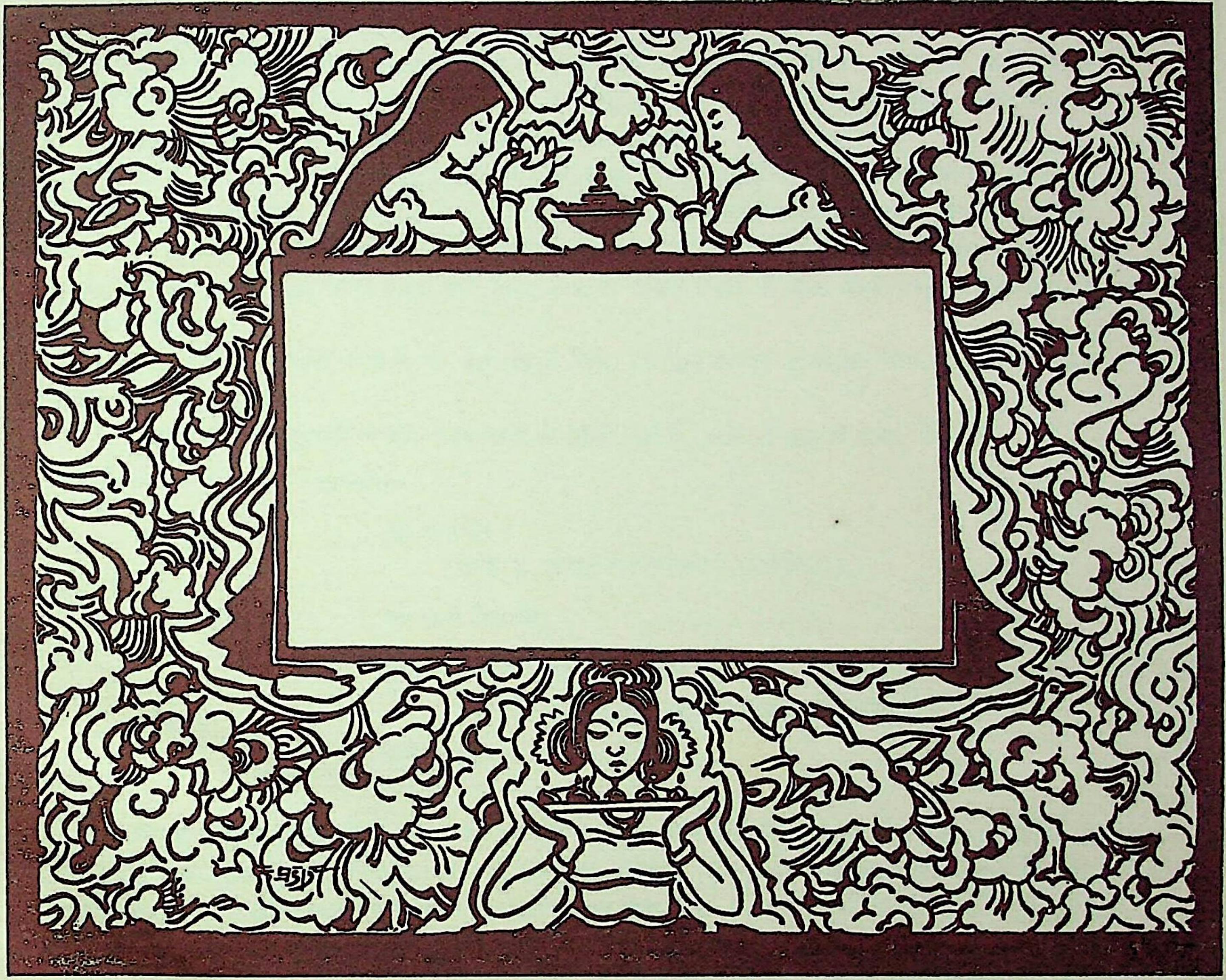

भूमिका

जनवरी १९३२ में पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी २४ घंटे के लिये काशी पधारे थे। उस समय काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा की ओर से उन्हें एक अभिनंदन-पत्र दिया गया था। उनके चले जाने के कई दिन बाद श्री शिवपूजनसहाय ने सभा के मंत्री से चर्चा की कि सभा को केवल मानपत्र देकर ही न रह जाना चाहिए, आचार्य के अभिनंदनार्थ एक सुंदर ग्रंथ भी निकालना चाहिए। इसके लिये उपयुक्त अवसर भी आ रहा है; क्योंकि संवत् १९९० के वैशाख में वे सत्तरवें वर्ष में पदार्पण करेंगे। इस समुचित प्रस्ताव का सभा ने सहर्ष और सादर स्वागत किया और इसे कार्य्य-रूप में परिणत करने का आयोजन प्रारंभ कर दिया।

शीघ्र ही इस ग्रंथ के लिये महत्पुरुषों से शुभ कामना की, श्रीमानों से आर्थिक सहायता की, हिन्दी के एवं देशी-विदेशी अन्य भाषाओं के विद्वानों तथा साहित्यिकों से उनकी रचनाओं की और प्रमुख चित्रकारों से उनके चित्रों की प्रार्थना की गई। समाचार-पत्रों में भी इसकी चर्चा प्रारंभ की गई। जैसी हमें आशा थी, इस प्रस्ताव का सब ओर से अच्छा स्वागत हुआ और हमारे इस महत् स्वप्न को सफल बनाने में सभी उदारचेता 'महामनाओं ने हमारा हाथ बँटाया।

यहाँ तक कि महात्मा गांधी ने भी इस ग्रंथ के लिये हमें शुभ कामना का संदेश भेजा, जिसकी प्रतिकृति इस ग्रंथ में दी जा रही है।

जिन अन्य महानुभावों ने हमें सद्भावना के संदेश भेजे हैं, उनमें से कुछ के नाम ये हैं—

सर्वश्री—

नूट हामजून
(नार्वे के नोबुल प्राइज-विजेता साहित्यिक),

सर जार्ज ग्रियर्सन,

डाक्टर थियेडोर वन विन्टरस्टीन
(जर्मनी के इंडिया इंस्टिट्यूट के संस्थापक—अध्यक्ष)

भाई परमानंद

विषम आर्थिक परिस्थिति के कारण हमें आर्थिक सहायता प्राप्त करने में बड़ी अड़चन पड़ी। हमारे उद्देश्यों से सहानुभूति रखते हुए भी बड़े-बड़े श्रीमानों तक ने हमें कोरा उत्तर दे दिया। यदि सीतामऊ के राजकुल ने हमारा हाथ न पकड़ा होता तो संभवतः हमें यह प्रस्ताव ही स्थगित कर देना पड़ता। हमारी प्रार्थना के पहुँचते ही वहाँ के विद्या-रसिक महाराज महोदय ने सौ रुपये का दान देकर हमें प्रोत्साहित किया। इसके अनंतर वहाँ के विद्वान् राजकुमार ने, जिन्होंने हिन्दी-सेवा का व्रत धारण किया है और जो हिंदी के एक श्रेष्ठ वर्द्धमान लेखक हैं, अपने कई इष्ट-मित्र नरपतियों से भी हमें सहायता दिलवाई, जिसका ब्योरा इस प्रकार है:—

सर्वश्री—

सरगुजा-नरेश	३००)	खिलचीपुर-नरेश	२५)
झालावाड़-नरेश	५१)	बनेड़ा-नरेश	२५)
प्रतापगढ़-नरेश	५०)	एक श्रीमती	१००)

कुमार महोदय ने इस संबंध में जो कष्ट उठाया है, उसके लिये सभा उनकी बहुत ही आभारी है।

जिन अन्य दाताओं ने हमें इस सत्कार्य के लिये आर्थिक सहायता प्रदान की है, उनके नाम ये हैं—

१००) श्रीमान् बीकानेर-नरेश

११) बाबू हनुमानप्रसाद पोद्दार

५) बाबू विरजानंद पोद्दार

२) बाबू रामरक्षपाल संघी

किंतु हमारी आवश्यकता बहुत बड़ी थी। हर्ष का विषय है कि हमारे शेष भार का एक बहुत बड़ा अंश इंडियन प्रेस के स्वामी श्री हरिकेशव घोष ने अपने ऊपर ले लिया। उन्होंने हमारे इस सचित्र ग्रन्थ को लागत-मात्र पर छाप देने का दायित्व ग्रहण करके अपनी सराहनीय उदारता का परिचय दिया है।

ओड़छा-दरबार से भी हमें विपुल आर्थिक सहायता का वचन मिला है। वहाँ के महेंद्र महाराज महोदय का हिंदी-प्रेम और इस दिशा में उत्साह तथा उद्योग प्रशंसनीय ही नहीं, अन्य श्रीमानों के लिये अनुकरणीय भी है। वे ही अपने करकमल से आचार्य महोदय को यह ग्रंथ भेंट देंगे, यह हमारे सौभाग्य का विषय है।

आचार्य द्विवेदी जी का प्रेमी और भक्त-समुदाय विस्तृत है। इस समुदाय के ऐसे धनी मानी महानुभाव, जो इस बात के इच्छुक थे कि अभिनंदन ग्रंथ के रूप में आचार्य की जो प्रतिष्ठा की जा रही है, वे भी उससे संबद्ध हो जायँ, इसके निमित्त सभा ने यह निश्चय किया कि वे अभिनंदन ग्रंथ प्रकाशन के संबंध में ३०) सहायता-स्वरूप देकर इसके प्रतिष्ठापक बन जायँ और प्रत्येक प्रतिष्ठापक को अभिनंदन ग्रंथ की एक प्रति भेंट दी जाय। यह भी निश्चय किया गया कि प्रतिष्ठापक-वर्ग की सूची अभिनंदन ग्रंथ में प्रकाशित की जाय, जिसमें उनके सत्कार की स्मृति ग्रंथ के साथ स्थायी रूप से बनी रहे। इन महानुभावों के सुनाम की सूची अन्यत्र प्रकाशित की जाती है।

हिंदी एवं देशी तथा विदेशी अन्य भाषाओं के जिन विद्वानों और साहित्यिकों से इस संग्रह के लिये लेख की याचना की गई, उन्होंने सहर्ष हमें सहयोग प्रदान किया। आचार्य द्विवेदी जी के व्यक्तित्व का ऐसा ही प्रभाव है कि लब्धप्रतिष्ठ विद्वन्मंडली ने ऐसा करने में बहुत ही तत्परता दिखलाई। इसके लिये सभा इस ग्रंथ के आदरणीय लेखकों और कवियों को उनकी रचनाओं के निमित्त विनम्र धन्यवाद देती है।

हमें खेद है कि इस अभिनंदन ग्रंथ के लिये ऐसे बहुत-से अधिकारी साहित्य-सेवियों और लब्धकीर्त्ति विद्वानों की कृतियाँ न प्राप्त हो सकीं, जो इस समय जेल में हैं या देश के अन्य कार्यों में व्यस्त हैं। और सबसे अधिक खेद उन महानुभावों की रचनाओं के प्रकाशित न हो सकने का है, जिनसे विशेष अनुरोध-पूर्वक रचनाएँ मँगाई गई थीं, पर जो इस ग्रंथ में संमिलित न हो सकीं। इसका एकमात्र कारण यह है कि अन्य प्रांतों तथा भाषाओं के विद्वानों की कृतियों का समादर करना आवश्यक जान पड़ा; क्योंकि स्वयं कष्ट सहकर भी अतिथियों का सत्कार करना परम आर्य धर्म्म है। बहुत-से लेख इसलिये भी प्रकाशित न हो सके कि वे आशातीत विलंब से प्राप्त हुए। अनेक अभीष्ट लेखों की प्रतीक्षा में मुद्रण-कार्य्य का आरंभ १५ जनवरी के बाद हुआ। इतने अल्प समय में ही संपूर्ण कार्य्य पूरा करना पड़ा। इस परिस्थिति में हमारे आमंत्रण पर जिन लेखकों ने रचनाएँ भेजने की कृपा की थी; हम उनके कृतज्ञ हैं; साथ ही उनसे तथा उन अन्य समस्त लेखकों और कवियों से—जिनकी रचनाओं को प्रबल इच्छा रखते हुए भी कारण-वश इस ग्रंथ में देने में असमर्थ रहे— क्षमा प्रार्थना करते हैं। हम जानते हैं कि आचार्य की श्रद्धांजलि में अपने पुष्प को न पाकर उन्हें बड़ा परिताप होगा, किंतु उन्हें भूल नहीं जाना चाहिए कि त्याग ही अभिनंदन का सर्वश्रेष्ठ रूप है।

जिन प्रख्यात तथा कुशल चित्रकारों से हमने उनकी कृतियों-द्वारा द्विवेदी जी का सम्मान करने का आग्रह किया था, प्रायः उन सभी कलावंतों ने बड़े उत्साह से अपने अन्यत्र अप्रकाशित नूतन चित्र हमें प्रकाशनार्थ भेजे।

ये रचनायें कला की दृष्टि से अनुपम हैं। अमेरिका के जगद्विख्यात चित्रकार श्री० निकोलस डी रोरिक ने अपना जो चित्र इस संग्रह में प्रकाशित कराया है, उसे वे भारत-कला-भवन को भेंट कर चुके हैं। हम आशा करते हैं कि अन्य चित्रकार भी उनकी इस उदारता का अनुसरण करेंगे।

जिन चित्रकारों ने अपनी कृतियाँ भेजकर हमें अनुगृहीत किया है, उन्हें हम हृदय से धन्यवाद देते हैं।

हमें अत्यंत खेद है कि भारतीय चित्रकला के नवयुग-विधायक श्री अवनींद्र ठाकुर की कोई कृति हम इस ग्रंथ में प्रकाशित नहीं कर सके। आंतरिक इच्छा रखते हुए भी आचार्य के इस समादर में ठाकुर महोदय अपने गिरते हुए स्वास्थ्य और कौटुंबिक परिस्थितियों के कारण सम्मिलित न हो सके, जिसका उन्हें अत्यंत खेद है।

यदि इंडियन प्रेस के संचालक श्री हरिकेशव घोष के अनवरत प्रयास और सुरुचि का सहयोग हमें न मिलता तो यह ग्रंथ इतनी शीघ्रता और सुंदरता से प्रकाशित न हो पाता। उनका सहयोग हमारे लिये गर्व का विषय है और उनके प्रति हम हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

सभा ने इस ग्रंथ के संपादन का भार बाबू श्यामसुंदरदास जी और राय कृष्णदास जी को सौंपा था। इन दोनों महाशयों ने जिस तत्परता और अध्यवसाय से इस कार्य को सुसंपन्न किया है, उसके लिये सभा उनके प्रति अपना हार्दिक धन्यवाद प्रकट करती है। कदाचित् यह बता देना अनुचित न होगा कि जिस समय लेखों की संख्या निर्धारित करनी पड़ी और कुछ लेखों के संमिलित न करने का निश्चय करना पड़ा, उस समय इन संपादकों ने सबसे पहले अपने ही लेखों को निकाल दिया।

श्री शिवपूजनसहाय जी ने जो बीज बोया, उसे पल्लवित करने में उनका बहुत बड़ा हाथ रहा है। लेखों के संपादन में उन्होंने पूरी सहायता दी है और इस थोड़े समय के अन्दर ही जहाँ तक बन पड़ा है, उन्होंने प्रूफ भी बड़ी सतर्कता और सतत परिश्रम से देखा है।

समय की कमी के कारण प्रूफ-संबंधी तथा और कई प्रकार की अनेक भूलें रह गई होंगी। हमारा विश्वास है कि लेखक तथा पाठक-समुदाय उसके लिये, हमारी कठिनाइयों का अनुभव करते हुए हमें उदारतापूर्वक क्षमा करेगा।

भगवती सरस्वती से हमारी एकांत कामना है कि उनके सुपुत्र आचार्य द्विवेदी जी के अभिनंदन का यह आयोजन, सहृदयों के स्थायी अनुरंजन का विषय हो।

काशी
१९ वैशाख १९९०

रामनारायण मिश्र
सभापति, नागरी-प्रचारिणी सभा।

प्रस्तावना

पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी, जिनके अभिनंदन का इस ग्रंथ में अनुष्ठान है, आधुनिक हिंदी के युग-प्रवर्तक लेखक और आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित हैं। जिनके मस्तिष्क की भगीरथ शक्ति संसार में नवीन विचार-धारा प्रवाहित करती है 'ते नरवर थोरे जग माँहीं।' किंतु जो नई नहरें निकाल कर उस धारा का स्वच्छ जल अपने समाज के लिये सुगम कर देते हैं, वे भी हमारी अभ्यर्थना के अधिकारी हैं। आचार्य द्विवेदी जी ने पिछले पैंतीस चालीस वर्षों के सतत परिश्रम से खड़ी बोली के गद्य और पद्य की एक पक्की व्यवस्था की और दोनों प्रणालियों-द्वारा पूर्व और पश्चिम की, पुरातन और नूतन, स्थायी और अस्थायी, ज्ञान-संपत्ति—अपनी कठिन कमाई—संपूर्ण हिंदी-भाषा-भाषी प्रांतों में मुक्त-हस्त से वितरित की जिसके लिये हम सब उनके ऋणी हैं। संयोग से इन दिनों पश्चिम में पंडिताई अधिक सुलभ हो गई है; किंतु परिग्रह की व्याधि बढ़ जाने के कारण वहाँ की वास्तविक बुद्धि-विभूति के घट जाने का भय भी कम नहीं है। प्रत्येक आगंतुक प्रश्न को नवीन समस्या कहने और प्रत्येक विचार को नव्य दिव्य संदेश के नाम से घोषित करने की जो प्रथा चल गई है, उससे मनुष्य अपने पूर्वजों के प्रति कृतघ्नता का कपटाचरण करने लगा है। यही नहीं, उनके चिरकालव्यापी महत् उद्योग की शक्ति न समेट कर स्वयं क्षीणता की ओर बढ़ने लगा है। हमारे द्विवेदी जी भी पंडित हैं, किंतु बहुत कुछ अपरिग्रही हैं। उन्होंने हिंदी को—हमको जो कुछ प्रदान किया, यह कह कर नहीं किया कि यह मेरा है, इसे लो। उन्होंने हिंदी से जो कुछ प्राप्त किया—सहस्रों पुस्तकें और सहस्रों रुपये—वह सब हिंदी की हितैषिणी संस्थाओं को दे दिया और अब अपने जन्म-ग्राम में जाकर साधारण गृहस्थ का-सा स्वल्पसाध्य जीवन व्यतीत कर रहे हैं। जो जिसका प्राप्य है, वह उसे सौंप कर द्विवेदी जी अब इस देश के चिर-प्रचलित मुक्ति-मार्ग पर आ गए हैं। भगवान् उनका मंगल करे।

साहित्य और कला की स्थायी प्रदर्शनी में उनकी कौन-सी कृतियाँ रखी जायँगी? क्या उनके अनुवाद? 'कुमारसंभव-सार', 'रघुवंश', 'हिंदी-महाभारत'; अथवा 'बेकन-विचार-रत्नावली', 'स्पेंसर की ज्ञेय और अज्ञेय मीमांसाएँ,' 'स्वाधीनता' और 'संपत्तिशास्त्र'? किंतु ये सब तो अनुवाद ही हैं, इनमें द्विवेदी जी की भाषा-शैली स्वयं ही परिष्कृत हो रही थी—क्रमशः विकसित हो रही थी—और आज-कल की दृष्टि से उसमें और भी परिवर्तन किए जा सकते हैं। इन सबमें भाषा-संस्कार के इतिहास की प्रचुर सामग्री मिलेगी; किंतु इनमें द्विवेदी जी का वह व्यक्तित्व बहुत कुछ ढूँढ़ने पर ही मिलेगा जो इस समय हम लोगों के सामने विशद रूप में आया है। उन्हें पढ़कर साहित्य का कोई विद्यार्थी संभवतः यह न कह सकेगा कि यह द्विवेदी जी की ही लेखनी है, और किसी की नहीं। आज से सौ वर्ष बाद का विद्यार्थी तो कदाचित् और भी द्विविधा में पड़ेगा। बात यह है कि द्विवेदी जी ने खड़ी बोली की भाषा-शैली की व्यवस्था अवश्य की है; उसमें निश्चय ही उनका निजत्व है। किंतु वह व्यवस्था उनकी कलम के मँजने पर हुई है और वह निजत्व आते-आते आया है। उन्होंने केवल दूसरों की भाषा का ही नहीं, अपनी भाषा का भी मार्जन किया है। उनकी शब्दसंपत्ति और भाषा की संघटित प्रतिमा कालांतर में प्रतिष्ठित हुई है। तो क्या उनकी रचित कविताएँ प्रदर्शनी में रखी जायँ? किंतु वे तो स्वयं द्विवेदी जी के ही कथनानुसार 'कविता' नहीं हैं और हमारी दृष्टि से भी अधिकतर उपदेशामृत हैं। उनके लेख? 'हिंदी भाषा की उत्पत्ति', 'कालिदास की निरंकुशता', 'मिश्रबंधु का हिन्दी नवरत्न', 'तिलक का गीताभाष्य' और ऐसे अन्य अनेक आलोचनात्मक लेख तथा टिप्पणियाँ द्विवेदी जी की जाग्रत प्रतिभा का परिचय कराते हैं। इनमें हिंदी की भाव-प्रकाशिका शक्ति निस्संशय विस्तृत रूप में प्रकट हुई है। इनके द्वारा हिंदी के समीक्षा-साहित्य का अवश्य शिलान्यास हुआ है। फिर भी प्रश्न यह है कि क्या यह स्थायी साहित्य है? द्विवेदी जी के दार्शनिक और आध्यात्मिक लेखों पर उनके कर्मठ जीवन और अंतर की अनुभूति की छाप लगी है। उनमें विचारों की गहनता भी है और उनका क्रम भी निर्धारित है। किंतु द्विवेदी

जी की ख्याति उन लेखों से नहीं है। उन्हें कोई संस्कृत का प्रकांड पंडित या दर्शन का सूक्ष्मदृष्टि-अन्वेषक नहीं मानता। तो क्या आचार्य की शिष्यमंडली ही उक्त प्रदर्शन में सजा दी जाय? उनका शिष्य तो हिंदी का अधिकांश समाज ही है; किंतु उनके जो निकटस्थ सहयोगी और छात्र थे, जिन पर उनकी कृपा की विशेष दृष्टि रहती थी, जिनके लेखों और कविताओं पर द्विवेदी जी की 'सरस्वती' वाली कलम चलती थी—उनमें भी कतिपय ऐसे कवि और पंडित हो गए हैं जिनकी कृतियाँ साहित्य में संरक्षणीय और समाननीय समझी जाती हैं। क्या द्विवेदी जी के ये नवीन संस्करण ही उनके प्रतिनिधि-रूप में मान लिए जायँ? किंतु क्या यह न्याय्य होगा?

क्यों न 'सरस्वती' की सब संख्याएँ, जिनमें द्विवेदी जी और उनकी मित्र-मंडली की कृतियाँ हैं, हिंदी के स्थायी कला-भवन में रख दी जायँ? और उनके साथ ही द्विवेदी जी का वह सब संशोधन, काट छाँट और कायापलट भी एकत्र कर दिया जाय जो उन्होंने मूल प्रतियों में किया था और जिनके कारण वे प्रतियां मुद्रित प्रतियों से भी अधिक दर्शनीय और संग्राह्य हो गई हैं। जब यह बात सच है कि जो लोग द्विवेदी जी के संपर्क में आए, उन्होंने उनका मंत्र ले लिया और जिन पर द्विवेदी जी की लेखनी चल गई, वे कला की शब्दावली में 'द्विवेदी कलम' के लेख हो गए, तब क्यों न उनकी बीस वर्षों की संपादित 'सरस्वती' पर 'द्विवेदी-काल' का लेबल लगा कर रख दिया जाय? वे ऐसे-वैसे संपादक नहीं थे, सिद्धांतवादी और सिद्धांतपालक संपादक थे। जान पड़ता है कि वे निश्चित नियम बना कर उनके अनुसार अपनी रुचि के लेख मँगाते और वही छापते थे। संस्कृत-साहित्य का पुनरुत्थान; खड़ी बोली कविता का उन्नयन; नवीन पश्चिमीय शैली की सहायता से भावाभिव्यंजन; संसार की वर्तमान प्रगति का परिचय; साथ ही प्राचीन भारत के गौरव की रक्षा—जो कुछ उनके लक्ष्य थे, उनकी प्राप्ति अपनी निश्चित धारणा के अनुसार 'सरस्वती' के द्वारा करना उनका सिद्धांत था; अतः 'द्विवेदी-काल' की 'सरस्वती' में केवल द्विवेदी जी की भाषा की प्रतिमा ही गठित नहीं है, उनके विचारों का भी उसमें प्रतिबिंब पड़ा है। उन्होंने किसी संस्था की स्थापना नहीं की, परंतु सरस्वती की सहायता से उन्होंने भाषा के शिल्पी, विचारों के प्रचारक और साहित्य के शिक्षक—तीन तीन संस्थाओं के संचालक—का काम उठाया और पूरी सफलता के साथ उसका निर्वाह किया। एक बार उन्होंने सोचा कि अँगरेजी पढ़े-लिखे व्यक्तियों को हिंदी के क्षेत्र में लाना चाहिए। बस सरस्वती के प्रायः प्रत्येक अंक में उनकी साम, दाम, दंड, भेद की प्रणालियाँ चल निकलीं और शीघ्र ही उनका यथेष्ट प्रभाव भी देख पड़ा। हिंदी में अँगरेजी के विद्यार्थी-लेखकों की संख्या बढ़ने लगी, हिंदी पर अँगरेजी का गहरा रंग चढ़ने लगा और आज उस पर अँगरेजी के विद्वानों का बहुत कुछ अधिकार हो गया है। यह तो केवल एक उदाहरण है। द्विवेदी जी के सरस्वती-संपादन का इतिहास ऐसे अनेक आंदोलनों का इतिहास है। वह उनके व्यक्तित्व के विकास का इतिहास भी कहा जा सकता है।

जिस व्यक्ति ने लगातार बीस वर्षों तक लगभग दस करोड़ हिंदी-भाषी जनता का साहित्यिक अनुशासन किया, वह लखनऊ की तलहटी का रहनेवाला एक ग्रामीण ब्राह्मण है। जब अवध की नवाबी के दिन बीत चुके थे, तब उसी प्रांत के दौलतपुर नामक निर्धन ग्राम में इनका जन्म हुआ था। अवध—जिस प्रदेश के ये निवासी हैं—इस काल में उजड़ कर निरक्षरता और दरिद्रता का केंद्र बन गया है। किंतु प्राचीन स्मृतियाँ तो लुप्त नहीं होतीं, इसलिये प्राचीन संस्कार भी कभी सुयोग पाकर पुनर्जन्म ले लेते हैं। गंगा की जो धारा कभी अपनी वीचि-रचना के उपलक्ष में वाल्मीकि के कवि-कंठ का सुवर्ण-हार प्राप्त करती होगी, आज भी दौलतपुर के समीप से ही निकल कर बहती है। वे आम्र-कानन जो निद्रागत पथिकों के मुखों में भी अपने अमृतफल बरसाते थे, आज भी दौलतपुर के चतुर्दिक् अपना वही उपहार लिए खड़े हैं। वैशाख का महीना यद्यपि गर्मी का है, किंतु रात को अच्छी ठंढक पड़ती है। ऐसे ही समय इस ग्राम में शिशु महावीरप्रसाद ने जन्म लिया। सरस्वती का बीजमंत्र उसकी जिह्वा पर अंकित कर दिया गया। ज्योतिष विद्या सत्य हुई!

शिशु महावीरप्रसाद की शिक्षा की कोई अच्छी व्यवस्था न हो सकी। उर्दू-फारसी की शिक्षा पाठशाला में मिली। घर पर 'शीघ्रबोध'-वाली संस्कृत की ग्रामीण विधि का कुछ अभ्यास ही किया। फिर अँगरेजी पढ़ने रायबरेली गए। पुरवा, उन्नाव आदि में भी इनकी पढ़ाई कुछ दिन चली। जो लोग उन दिनों के ग्रामों की

परिस्थिति जानते हैं या उस प्रदेश के ब्राह्मणों की अवस्था से परिचित हैं, उन्हें यह सुनकर आश्चर्य न होगा कि स्कूली शिक्षा भी उनके लिए दुर्लभ हो गई थी। दरिद्रता मनुष्य को उद्योगी बना सकती है—बहुधा बनाती भी है। शिशु द्विवेदी अपने घर से १५ कोस दूर रायबरेली पैदल जाता था और सप्ताह भर के खाने-पीने का सामान साथ ले जाता था। अपने हाथ से भोजन बनाना तो साधारण बात थी; ऊपर से फीस की विकट समस्या थी, यद्यपि वह कुछ आनों से अधिक नहीं पड़ती थी। बाल्यावस्था की दरिद्रता मनुष्य में विनय, आत्म-विश्वास आदि उत्पन्न कर सकती है, सहनशक्ति बढ़ा सकती है; पर वह यदि अतिशय उग्र हो जाय तो मनुष्य के स्वभाव में एक प्रच्छन्न उग्रता भी उत्पन्न कर सकती है। कुछ और गुणों के योग से यह उग्रता अवसर पाकर विचारों की दृढ़ता और क्रिया की निष्ठा आदि सद्‌गुण भी उत्पन्न करती है, किंतु इससे मनुष्य के स्वभाव में जो और दूसरे विकार उत्पन्न होते हैं उनसे द्विवेदी जी ने बचने की बराबर उत्तरोत्तर चेष्टा की है।

पढ़ाई-लिखाई का क्रम भंग होने पर ये अपने पिता के पास बंबई चले गए और कुछ समय बाद इन्हें रेलवे में एक नौकरी मिल गई। इसी बीच में इन्होंने मराठी और गुजराती भाषाओं की जानकारी भी प्राप्त कर ली और कुछ अँगरेजी भी सीखी। नौकरी के सिलसिले में ये नागपुर, अजमेर और बंबई में रहे। बंबई में रहते हुए इन्होंने तार का काम सीखा और सीख कर जी० आई० पी० रेलवे में तार बाबू हो गए। हरदा, खंडवा, होशंगाबाद और इटारसी में क्रम-क्रम से इनकी पदोन्नति होती गई। प्रवीणता के कारण तत्कालीन आई० एम० आर० (इंडियन मिडलैंड रेलवे) के ट्रैफिक मैनेजर श्री० डबल्यू० बी० राइट ने इन्हें टेलीग्राफ इन्स्पेक्टर बनाकर झाँसी भेज दिया। नई तरह का लाइन-क्लियर ईजाद करके इन्होंने वहाँ भी अपनी अनोखी प्रतिभा का परिचय दिया। तारबर्की की एक पुस्तक भी अँगरेजी में लिख डाली। इन दिनों ये कानपुर से इटारसी और आगरा से मानिकपुर तक की पूरी लाइन का तार-सम्बन्धी काम देखते थे और बंगालियों की संगति में रहकर बँगला भी सीखते थे। यद्यपि दौलतपुर का वह ग्रामीण ब्राह्मण रेलवे के एक उच्च पद पर पहुँच कर किसी प्रकार की माथा-पच्ची किये बिना सुख के साथ समय बिता सकता था, परंतु द्विवेदी जी की उदात्त प्रकृति के वह अनुकूल न था। झाँसी के पुराने डी० टी० एस० की बदली होने पर जो नए साहब आए, उनसे एक दिन द्विवेदी जी की कहा-सुनी हो गई; दूसरे दिन रेलवे का काम साहब के सपुर्द कर आप हिंदी के क्षेत्र में चले आए। तब से वे वहाँ और ये यहाँ।

यह पूर्वकथा इसलिये आवश्यक थी कि द्विवेदी जी के साहित्य-संबंधी क्रिया-कलाप में उनके बाल्यकाल के संचित संस्कारों की गहरी छाप लगी है; और उनकी लेख-शैली तो मानों उस लौह-लेखनी से प्रकट हुई है जिसे वे रेलवे आफिस में इस्तेमाल कर रहे थे। खड़ी बोली के गद्य और पद्य दोनों में उन्होंने वही लौह-लेखनी चलाई जो इतिहास में 'द्विवेदी-कलम' के नाम से प्रचलित होगी। पहले कुछ समय तक तो द्विवेदी जी ने पद्य में खड़ी बोली का थोड़ा-बहुत शैथिल्य सहन किया; जैसे उन्हीं के 'कुमार-संभव-सार' के इस पद्य में :—

अधरौं के रँगने में अपना अतिशय कोमल कर न लगाय,
कुच-गत-अंगराग से अरुणित कंदुक से भी उसे हटाय।

कुश के अंकुर तोड़ तोड़ कर घाव उँगलियों में उपजाय,
किया अक्षमाला का साथी उसे उमा ने वन में आय॥

यहाँ 'अधरौं' का 'औ'कार अभी पिट कर 'ओ' कार में परिणत नहीं हुआ और न 'लगाय' 'हटाय' 'उपजाय' और 'आय' के अंतिम 'य' कार का लोप कर 'लगा' 'हटा' 'उपजा' और 'आ' के स्पष्ट प्रयोग ही निकले हैं। यही नहीं 'आग' के बदले 'आगी' भी आई है जिसे लेकर पंडित श्रीधर पाठक की 'कहाँ जले है वह आगी' पर काफी छेड़खानी की गई थी। यह सन् १९०२ की रचना है, जब द्विवेदी जी हिंदी-पद्य की नई प्रणाली चला रहे थे।

परंतु जो बात किसी प्रकार प्रकट हुए बिना रह नहीं सकती, वह यह है कि खड़ी बोली के आरंभिक पद्यों में अर्थ की रमणीयता चाहे जितनी खो गई हो और भाषा के विषय का भी थोड़ा बहुत अनियम क्यों न हुआ

हो, पर एक नई परिपाटी—भावाभिव्यक्ति की तीखी, लाइन-क्लियर की सी स्वच्छ सपाट शैली अवश्य चल निकली है जिसमें संस्कृत का सा दूरान्वय दोष या अर्थक्लिष्टता कहीं नहीं है। मस्तिष्क लड़ा कर अर्थ निकालने का झगड़ा हमें नहीं करना पड़ता।

किंतु रस ? रस के विषय में यही कहना चाहिए कि भाषा की चुस्ती और अर्थ की सफाई में ही द्विवेदी जी ने विशेष रूप से रस लिया। उस काल के जैसे चित्रकार रविवर्मा थे, वैसे ही कवि द्विवेदी जी और उनके साथी हुए। ये लोग आचारी और सुधारक व्यक्ति हैं। कविता जिस प्रकार की सौंदर्य-सामग्री का व्यवहार कर अंतर का पवित्र रस उच्छ्वसित करती है, उसका स्पर्श करने में ये जैसे लोक-लाज से डरते रहे हों। इनकी कविताएँ इसी लिये उपदेश-प्रधान हैं; वस्तु की व्यंजना करती हैं, अंतर के तारों को झनझनाती नहीं। बाहर ही ठकठक करके चुप हो रहती हैं। 'कविता-कलाप' में द्विवेदी-काल के जिन प्रधान कवियों का काव्य-संग्रह है, प्रायः उन सबमें यही बात है।

तथापि यह आरंभ की बात है; कालांतर में इसमें परिवर्तन भी हुआ। स्वयं द्विवेदी जी ने प्राचीन सरसतम काव्यों का अनुवाद किया। उनके कविताक्षेत्र के प्रधान सहकारी मैथिलीशरण जी गुप्त ने हिन्दी-भिन्न सामयिक साहित्य का अध्ययन करके सरस काव्य की आत्मा पहचानी और हिंदी के नवीन उत्थान के कुछ वास्तविक कवियों का भी अनुसरण किया। द्विवेदी जी ने भी साहित्य की सक्रिय सेवा से अवसर ग्रहण करने के उपरांत भक्ति के स्रोत में निमज्जित होकर कविता-मुक्ता के दर्शन किए। किंतु सामयिक साहित्य में कविता की जो उनकी विरासत है, वह अधिकांश में शब्दों का स्वच्छ वसन धारण करके खड़ी हुई सतोगुण की संन्यासिनी की प्रतिमा है—उसमें काव्य-कला का वास्तविक जीवन-स्पंदन कहीं ही कहीं मिलता है।

'कविता-कलाप' का अध्ययन करने से यह भी प्रकट होता है कि द्विवेदी जी आदि को मुक्तक पद्यों की अपेक्षा छोटे छोटे कथानकों में अधिक सफलता मिली है। घटना का सूत्र न रहने के कारण मुक्तक के कवि को कल्पना-भूमि में एक प्रकार से निरवलंब हो जाना पड़ता है। जहाँ कोई कथा आ जाती है, वहाँ और कुछ नहीं तो वर्णन का एक आधार, आकर्षण का कुछ हेतु तो मिल ही जाता है; किंतु मुक्तक तो सब प्रकार से मुक्त गीत है। उस समय द्विवेदी जी जिस जरूरी काम में लगे हुए थे, उसे छोड़ कर गीत गाने की फुर्सत भी तो हो! भारतेंदु हरिश्चंद्र और उनके समकालीन कई महानुभाव दूसरी ही रुचि रखते थे। उनका मन साहित्य के प्रत्येक अंग की श्री-शोभा बढ़ाने, उसका शृंगार करने की ओर था। उन लोगों ने कविता की, नाटक रचे, निबंध लिखे, उपन्यासों का भी श्रीगणेश किया; और उनकी ये सब रचनाएँ सचमुच हमारे आधुनिक आरंभिक साहित्य का शृंगार हैं। भारतेंदु हरिश्चंद्र में कल्पना की बड़ी ही कमनीय शक्ति थी। उनके समसामयिक कितने ही लेखक सजीव और सरस साहित्य की अवतारणा करने में सिद्धहस्त हुए। 'द्विवेदी-काल' का साहित्य सबसे पहले खड़ी बोली का आग्रह करके चला। गद्य और पद्य की भाषा एक करके जनता तक नवीन युग का संदेश पहुँचाना ही उनका उद्देश्य था। साहित्यिक सामग्री को समाज-व्यापी बनाने का ध्येय लेकर ये लोग निकले थे। खड़ी बोली को छंदों के साँचे में ढाल देना—एक अनभ्यस्त कार्य कर दिखाना—जब सध गया, तब द्विवेदी जी ने छंद की मेशीनरी को भी अपने उसी प्रचार-कार्य में लगाया। उस काल की कविता का अलंकार उसकी सरलता और सामयिकता है। हृदय के निष्कपट उद्‌गार—चाहे वे रूखे उद्‌गार ही हों—उसमें भरे हैं। व्रज भाषा की शृंगारिक कविता से विरक्ति हो जाने के कारण समाज में इस नवीन काव्य-साधना का अच्छा सत्कार किया गया। कहीं कहीं छोटी छोटी रचनाओं में भी बड़े ही मधुर भाव भरे मिलते हैं। कविता का चोला बदल गया।

कविता और साहित्य के विषय में द्विवेदी जी के विचार जानने की इच्छा बहुतों को होगी; परंतु वे उनके फुटकर निबंधों को पढ़कर कोई निश्चित धारणा नहीं बना सकेंगे। यह एक बात प्रत्यक्ष है कि उन्होंने उदात्त और लोक-हितैषी विचारों के पक्ष में शक्तिशाली प्रेरणा उत्पन्न की। कुमारसंभव के आदि के ही पांच सर्गों का सार प्रकाशित करके उन्होंने अतिशय शृंगारिकता से हिंदी को बचाने का प्रयत्न किया। जब 'हिंदी-नवरत्न' में मिश्र-बंधुओं ने हिंदी के नौ सर्वोत्तम कवियों की श्रेणी-शृंखला तैयार की और उन पर अपने विचार प्रकट किए,

तब लोगों को हिंदी कविता के संबंध में द्विवेदी जी की राय जानने का अवसर मिला। 'हिंदी-नवरत्न' की समीक्षा करते हुए द्विवेदी जी ने सबसे पहले यह प्रदर्शित किया कि कवियों के उत्कर्ष-अपकर्ष का निर्णय करने की एक व्यवस्था, एक क्रम होना चाहिए। किंतु व्यवस्था क्या हो और क्रम कैसा हो, इस पर अधिक प्रकाश नहीं पड़ा। यह अवश्य देखने में आया कि द्विवेदी जी ने सूर, तुलसी आदि भक्त कवियों की एक कोटि बना दी, देव आदि को अलग स्थान दिया और भारतेंदु हरिश्चंद्र को इन सबसे पृथक् रखने की सम्मति दी, पर यह नहीं स्पष्ट हुआ कि भारतेंदु हरिश्चंद्र को किस विशेष श्रेणी में रखने की उन्होंने सिफ़ारिश की और किस आधार पर की; किंतु इससे भारतेंदु के प्रति द्विवेदी जी की अगाध श्रद्धा अवश्य प्रकट हुई। गद्य का नवीन उत्थान ही द्विवेदी जी का साध्य था। अतः नव्य साहित्य का निर्माण करनेवाले प्रथम महापुरुष होने के कारण हरिश्चंद्र को द्विवेदी जी ने 'नवरत्न' के कवियों में अधिक उच्च आसन का अधिकारी समझा। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि भारतेंदु हरिश्चंद्र खड़ी बोली-गद्य के यशस्वी विधायक थे और द्विवेदी जी भी उसी पथ के पथिक थे। संभव है, भारतेंदु के प्रति इनके श्रद्धा रखने का एक हेतु यह भी रहा हो।

हिंदी की साहित्य-समीक्षा का इतिहास विशेष रूप से मनोरंजक है। आरंभ में जब भक्तगण भजनानंद में लीन होकर काव्य-रचना कर रहे थे, तब जान पड़ता है कि भक्तवर नाभादास ने अपने 'भक्तमाल' का सुमेरु तुलसीदास को बनाकर उनकी कविता के गौरव की उतनी व्यंजना नहीं की थी जितनी भक्तों की परिपाटी की रक्षा की थी। अथवा की भी हो तो पता नहीं। लोक-प्रचलित कुछ पदों से जैसे—'सूर सूर तुलसी ससी उडुगन केशवदास' 'तुलसी गंग दुऔ भये सुकविन के सरदार' 'और कवि गढ़िया, नंददास जड़िया'। यद्यपि जनता के साहित्य-विषयक सामान्य ज्ञान का पता लगता है, परंतु यह नहीं जाना जाता कि ये तथ्य किस प्रकार प्राप्त हुए थे। उन्नीसवीं शताब्दी के विलायत के साहित्यिक समाज में डाक्टर जानसन का विनोदपूर्ण पांडित्य विशेष प्रख्यात है। एक बार जब वे अपनी साहित्यिक मंडली में बैठे थे, तब कोई महत्त्वाकांक्षी महानुभाव वहाँ अपने साहित्य-ज्ञान का कुछ परिचय देने पहुँचे। आपने बड़े तपाक से कहा—महाशयगण, शेक्सपियर की कविता बहुत अच्छी है।' डाक्टर जानसन की मंडली के लोग आगंतुक की ओर आकृष्ट हुए। उन्होंने समझा कि शायद ये शेक्सपियर के बारे में कुछ और बातें कहेंगे; परंतु आगंतुक महाशय इससे अधिक कुछ जानते ही न थे। उनकी तो सारी समीक्षा बस यहीं समाप्त होती थी। डाक्टर जानसन ने ताड़ लिया। बोले—"शायद इनकी खोपड़ी की जाँच करने की जरूरत है।" हमारे हिंदी-समाज का मस्तिष्क यद्यपि उक्त महानुभाव का सा विकृत नहीं था, परन्तु यहाँ भी साहित्य-समीक्षा की गाड़ी 'सूर-ससी' 'उडुगन' 'जड़िया' और 'गढ़िया' आदि की दलदल में ही अटक रही थी, आगे नहीं बढ़ रही थी।

जब संस्कृत की साहित्यिक रीति हिंदी में आई, तब तो साहित्य-समीक्षा और भी विलक्षण हो गई। कवियों ने काव्य के गुणों और दोषों के उदाहरण अपनी ही कविता में दिखाने आरंभ किए। यह न उनका अहंकार था न उनकी विनयिता; यह एक प्रकार की अंध-परंपरा बन गई थी। श्रीपति नाम के एक कवि ने दोष दिखाने के लिये कविवर केशवदास की कविता के उदाहरण लिए जिससे काव्य-संबंधी उनके विवेक का—किन्तु इससे भी अधिक उनकी स्वतंत्र बुद्धि का—थोड़ा बहुत परिचय मिला। परंतु परंपरा को ये भी न बदल सके। बिहारी की सतसई की उस काल में अनेकानेक टीकाएँ की गईं जिससे यह अनुमान हो सकता है कि उनकी कविता की ओर साहित्यिक समाज की अधिक रुचि थी; पर उन टीकाओं में भी कुछ अधिक सूक्ष्म और व्यापक विश्लेषण नहीं मिलता। कविता के संग्रह ग्रन्थ—'हजारा' आदि—भी लोगों ने निकाले, पर उनमें भी विशेष अच्छी कविताओं का संकलन नहीं किया गया। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि पिछले कई सौ वर्षों से साहित्यालोचन का कोई गम्य मार्ग प्रशस्त नहीं किया गया; और यदि कुछ साहित्य-पारखियों में वास्तविक जानकारी रह गई थी तो वह केवल बीज-रूप में थी।

भारतेंदु हरिश्चंद्र ने कविवर देव के सुंदर पदों का संग्रह प्रकाशित कर अपनी प्रखर प्रतिभा का परिचय दिया; परंतु इतना प्रकाश पर्याप्त नहीं था। उन्होंने कवियों के संमेलन की भी नए सिरे से प्रतिष्ठा की जिसमें

केवल लोकरुचि को आकर्षित करना ही अभीष्ट नहीं था, बल्कि पारस्परिक विचार-विनिमय से नई सूझ तथा साहित्य-विषयक स्वच्छ, सूक्ष्म दृष्टि के भी उदय होने की शुभाशंसा थी। परंतु भारतेंदु के अस्त होते ही ये कवि-संमेलन अपना वह पूर्व लक्ष्य भूल गए; और बाद में तो उनका बहुत ही विकृत रूप हो गया। संमेलनों की साहित्य-समीक्षा केवल कवित्त सुनाने में रह गई। रात रात भर यही देखा जाता था कि कौन किस तर्ज से, किस रस के, कितने कवित्त सुना सकता है। आगे चलकर इसने जलसे का रूप धारण किया और स्कूलों-कालेजों तक में इसका सिक्का जमने लगा। पुरस्कार बँटने लगे, इनाम मिलने लगे। गलेबाजी दिखाने का शौक चढ़ा। कविता-संमेलन नहीं रहे। संगीत-संमेलन और ताली-संमेलन बन गए। इन्हें परिहास-संमेलन भी समझ सकते हैं। लक्ष्य भ्रष्ट हो गया।

इस समय तक मेकाले साहब की डाली हुई अँगरेजी शिक्षा की नींव हमारे प्रांतों में भी पड़ चुकी थी। लोग अँगरेजी की समीक्षा-शैली से भी परिचित हो रहे थे। संस्कृत, प्राकृत और देश-भाषाओं के अभ्यासी कतिपय विदेशी विद्वान् और उनके हिंदुस्तानी शिष्य क्षेत्र में आने लगे थे। सभा-सोसाइटियाँ यद्यपि पहले भी थीं, परंतु एक-दम नवीन उत्साह और उत्तरदायित्व लेकर अँगरेजी-शिक्षा-प्राप्त तीन नवयुवकों ने काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा की स्थापना की जिसे समय ने देश की एक प्रमुख साहित्यिक संस्था सिद्ध कर दिया है। यद्यपि पत्र-पत्रिकाएँ भी हिंदी में निकल रही थीं, परन्तु नवीन रुचि के अनुसार नवीन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सभा की ओर से 'सरस्वती' नाम की मासिक पत्रिका का श्रीगणेश हुआ। ऐसे ही अवसर पर डाक्टर ग्रियर्सन महोदय ने, जो भारतीय भाषाओं के प्रकांड पंडित माने गए हैं, हिंदी-साहित्य के कतिपय कवियों की जीवनी और प्रशंसात्मक समीक्षा अँगरेजी में लिखी। उसमें तुलसीदास को उन्होंने एशिया के उत्कृष्ट कवियों में स्थान दिया जिससे हिंदी के अँगरेजी-दाँ विद्वानों में एक अच्छी हलचल-सी मची और एक नवीन उत्साह-सा देख पड़ा। 'नवरत्न' नामक हिंदी-कवियों का समीक्षा-ग्रंथ इसी उत्साह-काल में प्रकट हुआ। उसमें केवल डाक्टर ग्रियर्सन के विचारों की ही पुष्टि नहीं की गई बल्कि-बहुत सी नवीन उद्भावनाएँ भी दिखाई पड़ीं। परंतु इसके कुछ पहले ही पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी संस्कृत, मराठी, गुजराती, बँगला, उर्दू और अँगरेजी की अपनी बहुज्ञता के साथ नवोदिता 'सरस्वती' में बुला लिए गए थे। 'नवरत्न' की परीक्षा करते हुए इन्होंने साहित्य और कविता-संबंधी अपने जो विचार सरस्वती में प्रकट किए, उनका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। अतः यहाँ उन्हें दोहराने की आवश्यकता नहीं है।

द्विवेदी जी ने संस्कृत अथवा अँगरेजी आदि के साहित्यिक सिद्धांतों का अनुसरण करके अपने विचार नहीं प्रकट किए, यह कहना ही मानों साहित्य-सरणी में उनकी गति जान लेना है। वे हिंदी का साहित्य-शास्त्र लिखने नहीं बैठे थे। स्टील, एडीसन, जानसन, लैम्ब, हेज़लिट या हमारे देश के रवींद्रनाथ कोई भी नहीं बैठे। यह भी नहीं कह सकते कि ये लोग शास्त्रीय समीक्षा की प्राचीन प्रणाली से परिचित नहीं थे। इन्होंने उसका अभ्यास नहीं किया। यहाँ हमारा अभिप्राय यह भी नहीं कि हम द्विवेदी जी की समीक्षा से स्टील, जानसन, रवींद्र आदि की समीक्षा की तुलना करें। परंतु इतनी समता तो सबमें है कि अपने समय की साहित्य-समीक्षा पर अपनी प्रकृति की मुद्रा ये सभी अंकित कर गए हैं। भावना की वह गहन तन्मयता, जो रवींद्रनाथ को कविता के निगूढ़ रहस्यमय अंतरपट का दर्शन करा देती है, द्विवेदी जी में नहीं मिलती; न इन्हें कल्पना की वह आकाशगामिनी गति ही मिली है जो सदा रवि बाबू के साथ रहती है। परंतु इन प्रदेशों के निस्संपन्न, कर्मठ ब्राह्मण की भाँति द्विवेदी जी का शुष्क, सात्विक आचार साहित्य पर भी अपनी छाप छोड़ गया है जिसमें न कल्पना की उच्च उद्भावना है, न साहित्य की सूक्ष्म दृष्टि; केवल एक शुद्ध प्रेरणा है जो भाषा का भी मार्जन करती है और समय पर सरल उदात्त भावों का भी सत्कार करती है। यही द्विवेदी जी की देन है। शुष्कता में व्यंग्य है, सात्विकता में विनोद है। द्विवेदी जी में ये दोनों ही हैं। स्वभाव की रुखाई, कपास की भाँति नीरस होती हुई भी, गुणमय फल देती है। द्विवेदी जी ने हिंदी-साहित्य के क्षेत्र में कपास की ही खेती की 'नेरस विशद गुणमय फल जासू।'

फलतः लोगों में साहित्य विषय की जानकारी अच्छी बढ़ी और द्विवेदी जी के विचारों का अनुकरण भी होने लगा। प्राचीन हिंदी से भी अधिक संस्कृत की ओर द्विवेदी जी की रुचि थी। जनता में भी 'सरस्वती' द्वारा

उस रुचि का प्रवेश हुआ। कविता की अंतरंग शोभा की अपेक्षा भाव-विन्यास का चमत्कार 'सरस्वती' के पाठकों को अधिक भेंट किया जाता था। तदनुसार हिंदी के उस काल के कवि भी चमत्कार की खोज करने लगे और समीक्षक भी उस पर प्रसन्नता प्रकट करने लगे। द्विवेदो-काल की इस अभिरुचि का पूर्ण परिपाक आगे चल कर बाबू मैथिलीशरण गुप्त के 'साकेत' महाकाव्य में हुआ जिसमें कथनोपकथन का चमत्कार—जिसे सभा-चातुरी कह सकते हैं—विशेष मात्रा में रखा गया। समीक्षा में उसका परिपाक लमगोड़ा जी की तुलसीदास-समीक्षा में समझना चाहिए जिसमें एक एक पंक्ति का चमत्कार प्रदर्शित किया गया, पर काव्य की संघटित शोभा नहीं देख पड़ी। द्विवेदी-युग की मनोवृत्ति के वृक्ष पर ये जो दो फूल फूले हैं, इनकी श्री-शोभा स्वयं द्विवेदी जी को मुग्ध कर चुकी है। इनके अतिरिक्त साहित्य के प्रायः प्रत्येक विभाग में कतिपय कृतविद्य लेखक और कवि कार्य कर रहे हैं जिनकी कृतियाँ अब भी द्विवेदी जी के आशीर्वचन से अलंकृत हो रही हैं।

द्विवेदी जी अपने युग के उस साहित्यिक आदर्शवाद के जनक हैं जो समय पाकर प्रेमचंदजी आदि के उपन्यास-साहित्य में फूला फला। अपनी विशेषताओं और त्रुटियों से समन्वित इस आदर्शवाद की महिमा हमें स्वीकार करनी चाहिए। मनुष्य में सत् के प्रति जो पक्षपात रहता है, वह जब उसकी साहित्य-रचना का नियंत्रण करने लगता है, तब साहित्य में आदर्शवाद का युग आता है। कभी कभी समाज की कुछ विशेष रीतियों का समर्थन करनेवाला यह आदर्शवाद उक्त समाज की बहुजनमान्यता का ही एक-मात्र आश्रय लेकर बुद्धिजन्य संस्कार का त्याग कर देता है और केवल उन प्रथाओं के प्रचार की पद्धति पकड़ लेता है। कभी यह आदर्शवाद वीर प्रजा की प्रकृति पर प्रतिष्ठित होकर महत् चरित्रों का आविर्भाव करता है। आदर्शवादी कभी—जैसे रामचरितमानस में—प्रतिस्पर्द्धी पात्रों के काले पट पर ईप्सित नायक का उज्ज्वल चित्र अंकित करते हैं; और कभी—जैसे कतिपय आधुनिक पाश्चात्य उपन्यासों में—स्वयं नायक के ही उत्तरोत्तर विकास में अपना आदर्शवाद निहित रखते हैं। इसकी कोई निश्चित प्रणाली नहीं है, तथापि आशामय वातावरण का आलोक, उत्साहभरे उदात्त कार्य आदर्शवादी कृतियों में देखे और पहचाने जा सकते हैं। द्विवेदी जी और उनके अनुयायियों का आदर्श, यदि संक्षेप में कहा जाय तो, समाज में एक सात्त्विक ज्योति जगाना था। दीनता और दरिद्रता के प्रति सहानुभूति, समय की प्रगति का साथ देना, शृंगार के विलास-वैभव का निषेध ये सब द्विवेदी युग के आदर्श हैं। इन्हीं आदर्शों के अनुरूप उस साहित्य का निर्माण हुआ जो अपनी पूर्णता का अवलंब लेकर चाहे चिरकाल तक स्थिर न रहे, परंतु अपनी सत्य वृत्ति के कारण चिरस्मरणीय अवश्य होगा। वह आदर्श धन्य है जो हमारी व्यापक भावना का कपाट खोलकर सरस, शीतल समीर का संचार करता है और हमारे मस्तिष्क की सत्यान्वेषिणी शक्ति का समाधान करके आत्मतृप्ति की व्यवस्था करता है। परंतु जो आदर्श समय और समाज के अंधकार में आलोक की दीपशिखा दिखाकर प्रकाश की व्यवस्था करता है, वह भी अपना अलग महत्त्व रखता है। द्विवेदी जी का ऐसा ही आदर्श था। मुक्ति ज्ञान से ही होती है; किंतु शास्त्रों में कर्म और उपासना की भी विधियाँ विहित हैं। द्विवेदी-युग को साहित्य के कर्म-योग का युग कहना चाहिए।

साहित्य और कविता से भी अधिक द्विवेदी जी ने भाषा, व्याकरण और पद-प्रयोगों पर विचार किया। 'प्राचीन कवियों की दोषोद्भावना' निबंध में उन्होंने स्पष्ट-कथन की आवश्यकता दिखाते हुए ईश्वरचंद्र विद्यासागर, अरविंद घोष, रवींद्रनाथ ठाकुर, चिपलूणकर आदि के जो प्रमाण दिए, हिंदी में उनका भरपूर निर्वाह करनेवाले उस काल में स्वयं द्विवेदी जी ही थे। 'नवरत्न' की आलोचना का अधिकांश भाषा-संस्कार के विषय का है। उस समय द्विवेदी जी स्पष्ट-कथन के बदले अप्रिय-कथन भी कह देते थे और व्यंग्य भी उन्हें अप्रिय नहीं थे। उनके संघटन में व्यंग्य का एक विशेष स्थान हो गया था। कई बार उनसे और हिंदी के अन्य विद्वानों से तर्क-वितर्क भी हुआ। यहाँ उन प्रसंगों का कोई प्रयोजन नहीं। उन अस्थायी अप्रिय घटनाओं से हमारी भाषा की वैसे ही एक स्थायी सुष्ठु विशेषता बन गई, जैसे कीचड़ से कमल खिलता है।

'हिंदी-नवरत्न' तो एक उदाहरणमात्र है। लाला सीताराम-कृत कालिदास के हिंदी पद्यानुवादों पर द्विवेदी जी की और भी तीव्र दृष्टि पड़ी थी। 'भारतमित्र' के बाबू बालमुकुंद गुप्त, पंडित गोविंद नारायण मिश्र, और द्विवेदी जी का भाषा-संबंधी विवाद कई कोटियों तक चला। फिर द्विवेदो जी ने 'सरस्वती' में 'पुस्तक-

परिचय' का एक स्थायी स्तंभ ही बना लिया था और प्रति मास नवीन प्रकाशित पुस्तकों के साधारण गुणदोष-विवेचन के साथ प्रमुख रूप से भाषा की अशुद्धियाँ दिखाने लगे थे। शब्दों के व्यवहार के संबंध में द्विवेदी जी का मध्यम मार्ग मानना चाहिए। जैसा कि 'अनस्थिरता' वाले विवाद से प्रकट भी हुआ, द्विवेदी जी हिंदी की एक नई चलन अवश्य चाहते थे, यद्यपि उस चलन में भी एक व्यवस्था थी। संस्कृत से हिंदी का साधारण व्यावहारिक संबंध भी उन्हें इष्ट था। संस्कृत के 'मार्दव' के स्थान पर वे हिंदी 'मृदुता' के पक्षपाती थे; परंतु यदि उनसे 'मृदुत्व' और 'मृदुपन' आदि के व्यवहार की स्वच्छंदता माँगी जाती तो वे उसे अस्वीकार कर देते। 'श्रेष्ठ' 'श्रेष्ठतर' 'श्रेष्ठतम' और 'सर्वश्रेष्ठ' आदि के व्यवहार का उन्होंने विरोध किया। 'नोकदार नाक' के बदले 'नोकवती नासा' उन्हें नहीं रुच सकती थी। संस्कृत से एक श्रेणी नीचे का अपभ्रंश, जो हिंदी में अपना लिया गया हो, द्विवेदी जी भी अपना लेते हैं; परंतु इसके आगे वे प्रायः नहीं बढ़ते। भाषा के संस्कार की रक्षा वे चाहते थे, अतः ग्रामीण एकदेशीय शब्दों का प्रयोग भरसक नहीं करते थे। तथापि शुद्ध संस्कृत के वाक्य-विन्यास के साथ साथ सलीस उर्दू की मुहावरेबाजी दिखा देने का भी उन्हें पहले शौक था। यह उनके प्रारंभ और मध्य काल की गद्य-शैली की बात है। पद्य में और अपने प्रौढ़-काल के गद्य में द्विवेदी जी की वही टकसाली हिंदी—न संस्कृत और न उर्दू—की पद-रचना चलती रही। वही भाषा जो इन दिनों हिंदी के पठित समाज की—काशी, प्रयाग, कानपुर, लखनऊ आदि में बोल-चाल की—भाषा बनी हुई है और जिसमें सैकड़ों साहित्यिक पुस्तकें प्रति वर्ष प्रकाशित हो रही हैं।

अधिक से अधिक ईप्सित प्रभाव उत्पन्न करना ही यदि भाषा-शैली की मुख्य सफलता मान ली जाय तो शब्दों का शुद्ध, सामयिक, सार्थक और सुंदर प्रयोग विशेष महत्त्व रखने लगे। शब्दों की शुद्धि व्याकरण का विषय है; व्याकरण की व्यवस्था साहित्य की पहली सीढ़ी है। सामयिक प्रयोग से हमारा आशय प्रसंगानुसार उस शब्दचयन-चातुरी से है जो काव्य के उद्यान को प्रकृति की सुषमा प्रदान करती है। उसमें कहीं अस्वाभाविकता बोध नहीं होती। सार्थक पदविन्यास केवल निघंटु का विषय नहीं है; उसमें हमारी वह कल्पनाशक्ति भी काम करती है जो शब्दों की प्रतिमा बनाकर हमारे सामने उपस्थित कर देती है। पदों का सुंदर प्रयोग वह है जो संगीत (उच्चारण), व्याकरण, कोष आदि सबसे अनुमोदित हो और सबकी सहायता से संघटित हो; जिसके ध्वनन-मात्र से अनुरूप चित्रात्मकता प्रकट हो और जो वाक्य-विन्यास का प्रकृतिवत् अभिन्न अंग बन कर वहीं निवास करने लगे। अभी तो हिंदी के समीक्षा-क्षेत्र में उर्दू-मिश्रित अथवा संस्कृत-मिश्रित भाषाभेद को ही शैली समझ लेने की भ्रांत धारणा फैली हुई है; परंतु यदि साहित्यिक शैलियों का कुछ गंभीर अध्ययन आरंभ होगा तो द्विवेदी जी की शैली के व्यक्तित्व और उसके स्थायित्व के प्रमाण मिलेंगे। द्विवेदी जी की शैली का व्यक्तित्व यही है कि वह ह्रस्व, अनलंकृत और रूक्ष है। उनकी भाषा में कोई संगीत नहीं, केवल उच्चारण का ओज है जो भाषण-कला से उधार लिया गया है। विषय का स्पष्टीकरण करने के आशय से द्विवेदी जी जो पुनरुक्तियाँ करते हैं, वे कभी कभी खाली चली जाती हैं—असर नहीं करतीं; परंतु वे फिर आती हैं और असर करती हैं। लघुता उनकी विभूति है। वाक्य पर वाक्य आते और विचारों को पुष्ट करते हैं। जैसे इस प्रदेश की छोटी 'लखौरी' ईंटें दृढ़ता में नामी हैं, वैसे ही द्विवेदी जी के छोटे छोटे वाक्य भी !

द्विवेदी जी की साहित्य-शैली का भविष्य अब तक यथोचित प्रकाश में नहीं आया है। हिंदी-प्रदेश की जनता ने उसे अपने समाचारपत्रों की भाषा में अच्छी मात्रा में अपना लिया है और हिंदी के प्लेटफार्म पर भी उसकी तूती बोलने लगी है। इसका अर्थ यही है कि हिंदी-जनता के श्रवणों को यह अच्छी लगी है और उसने समूह रूप से उसका सत्कार किया है। यह सामूहिक सत्कार शैली के भविष्य के लिए बहुत बड़े द्वार का उद्घाटन कर देता है और उसकी संभावनाएँ बहुत बढ़ जाती हैं। अभी द्विवेदी जी की भाषाशैली को गुंफित विचार-राशि के वहन करने का यथेष्ट अवसर नहीं प्राप्त हुआ है—अभी विचारों का तार हिंदी में बँधा नहीं है। परंतु इस युग के तीक्ष्ण, संश्लिष्ट विचारों का प्रकाशन—चाहे वह समाचारपत्रों-द्वारा हो, चाहे सामयिक पुस्तकों-द्वारा—अब अधिक काल तक समय की बाट नहीं जोह सकता। जब कभी वह अवसर आवेगा, (हम समझते हैं कि शीघ्र ही आवेगा), तब द्विवेदी जी की भाषा का चमत्कार देखने को मिलेगा। वह सरल रूक्ष अभिव्यक्ति, जिसके गर्भ से गहन

विचारों की परंपरा फूट निकलेगी, हिंदी के क्षेत्र में एक दर्शनीय वस्तु होगी। व्यावहारिक, राजनीतिक, सामाजिक, तथा धार्मिक विवेचन और देशव्यापी विचार-विनिमय जब खड़ी बोली का आधार लेकर चलने लगेंगे, तब द्विवेदी जी की भाषा को भली भाँति फूलने-फलने का मौका मिलेगा। कविता और अलंकृत गद्य तब भी रहेंगे, मयूरपंख की लचकीली लेखनी तब भी उपयोग में आवेगी, बहुत-सी नवीन शैलियों से हमारा अनुरंजन तब भी होगा। किंतु देश की जो व्यापक सामाजिक भाषा हमारे सामूहिक जीवन में सर्वत्र अभिज्ञता की लहर उत्पन्न करेगी, जो हमारे व्यवस्थापकों, व्यापारियों और वोट देनेवालों की, जो हमारी नित्य प्रति की दुनियादारी की भाषा होगी, वह पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी की भाषा का ही विकसित रूप होगी, इसमें संदेह करने की ज्यादा जगह नहीं है।

द्विवेदी जी की भाषाशैली बहुत कुछ उनकी परिस्थिति की उपज है। जब वे 'सरस्वती' में संपादकीय कार्य करने आए, तब देश में एक ऐसी विचित्र बहुज्ञता का बाजार गर्म हो रहा था जो इसके पहले देखी-सुनी नहीं गई थी। स्कूलों के विद्यार्थी भी इतिहास, भूगोल, विज्ञान, गणित, अँगरेजी, उर्दू, संस्कृत, फारसी आदि की अनिवार्य शिक्षा से शिक्षित होकर निकल रहे थे; और कालेजों में तो इतने शास्त्र पढ़ाए जा रहे थे जितने स्वयं शुकदेव जी ने भी न पढ़े होंगे। यद्यपि यह बहुत ही छिछली शिक्षा थी, परंतु इससे जिस एकमात्र उत्कृष्ट वृत्ति का विकास हुआ, वह थी परिचय की वृत्ति। उस परिचय में पांडित्य न हो, परंतु एक अभिज्ञता, जो कभी व्यर्थ नहीं जाती, संचित की गई थी। उस समय यह परिचय की आकांक्षा समाज में सर्वत्र देखी जाती थी; अतः उसकी तृप्ति का भी विधान होने लगा। जो पत्र-पत्रिकाएँ अँगरेजी में निकलीं, उनमें यद्यपि आवश्यक विषय-वैचित्र्य था, किंतु जनता तक उनकी पहुँच नहीं थी। देशी भाषाओं की पत्रिकाएँ भी अब ऐसी निकलीं जिनकी सबसे स्पष्ट विशेषता बहुविध-विषय-विन्यास ही हुई। हिंदी में अब तक कितने ही वृत्तपत्र निकल चुके थे, परन्तु उनमें प्रायः किसी एक विषय की ही प्रधानता रहती थी और उनकी भाषा संपादक की मनोभिलाषा की उपज होती थी। भारतेंदु-काल के हिंदी पत्र ऐसे ही थे जिनमें संपादक अपनी पसंद के विषयों पर अपनी पसंद की भाषा में ऐसे लेख लिखते थे जो एक बँधे हुए घेरे तक ही पहुँच पाते थे। अब वह समय आ गया है जब संपादक जन-समाज का स्वेच्छाशिक्षक बनकर ही काम नहीं कर सकता। उसे अपना व्याख्यान आरंभ करने के पहले जनता की रुचि भी समझ लेनी पड़ेगी। अब संपादक महोदय जो भाषा लिखेंगे, उस पर हजारों पाठकों की दृष्टि पड़ेगी। जिस विषय पर वे विचार करेंगे, उस पर और लोग भी विचार करेंगे। जब तक एक ही विषय की प्रधानता रखकर पत्र निकलते रहे, तब तक भाषा-अलंकरण की बहुत कुछ सुविधा थी। पंडित बदरीनारायण चौधरी जैसे रसिक व्यक्तियों को छोड़कर, जो राजनीतिक टिप्पणियों में भी साहित्यिक छटा छहराने की चाह रखते थे, जिन्हें उन विषयों की वास्तविकता से मतलब था, वे ऐसी उधेड़बुन पसंद नहीं कर सकते थे। व्यावहारिक दृष्टि से भी संपादक के लिए यह अशक्य हो चला था कि वह विभिन्न विषयों का विवेचन करता हुआ उनमें कविता की कलाबाजी दिखाने की चेष्टा भी किया करे।

'सरस्वती' आरंभ से ही विविध विषयों की पत्रिका बनकर निकली और निकलते ही वह हिंदी का हृदय-हार बन गई। उसका कलेवर उज्ज्वल-वसन और निरलंकार था; वैसा ही उसका अंतस् भी स्वच्छ, सरल और निरलस था। उसके निश्छल विचार थे; स्पष्ट, स्फुट भाषा थी। उसमें विद्या थी, किंतु विद्या का प्रदर्शन न था। कठिन परिश्रम था, उपालंभ न था। संघटन था, विज्ञापन न था। ऐसी वह हिन्दी-जनता की 'सरस्वती' शीघ्र ही हमारी श्रेष्ठ पत्रिका बन गई। द्विवेदी जी जब उसके संपादक हुए, तब उन्होंने समाज की बहुमुखी आकांक्षाओं के अनुरूप विविध विषयों के विशिष्ट लेखक तैयार किए। उन्हें हिंदी में लिखने की प्रेरणा की। उनकी हिंदी सुधार-सँवार कर प्रकाशित की। आज उनमें से कतिपय लेखक इन प्रांतों के प्रसिद्ध पंडित, अध्यापक और विचारकर्ता माने जाते हैं। उनमें से कुछ ने तो द्विवेदीजी के सरस्वती छोड़ने पर हिंदी में लिखना भी बंद कर दिया! ऐसा उनका पारस्परिक संबंध था! बहुत से लेखक 'सरस्वती' से आकृष्ट होकर स्वयं ही उसमें आए। इन सबका इतना नियमित संघटन हो गया कि 'सरस्वती' को दूसरे लेखकों की आवश्यकता ही

न रही। जो 'सरस्वती' के लेखक थे, वे दूसरी पत्रिकाओं में लिखने की चाह नहीं रखते थे—प्रायः नहीं ही लिखते थे। दूसरे लेखकों के लेख बहुधा अस्वीकृत होकर लौट भी जाते थे। लेखकों की संख्या इतनी बढ़ रही थी कि सब लेख छप भी नहीं सकते थे। द्विवेदी जी के निजी सिद्धांत भी अनेक लेखों के छपने में बाधक हुए होंगे।

द्विवेदी जी सिद्धांतवादी संपादक थे। यद्यपि लोकरुचि और लोकमत का उन्हें ध्यान था, परंतु अपने सिद्धांतों का अधिक ध्यान था। वे सरस्वती के लेखकों का सुचारु संघटन कर चुके थे और उनकी सहायता से अपने मनोनुकूल विषयों की विवृत्ति करते रहते थे। संस्कृत-साहित्य, प्राचीन अनुसंधान, इतिहास, जीवनचरित, यात्रा-विवरण, नवीन अभ्युत्थान का परिचय, हिंदी का प्रचार आदि विषयों से 'सरस्वती' का प्रायः प्रत्येक अंक विभूषित रहता था। प्रचलित साहित्य और सामयिक पुस्तकों पर भी टिप्पणियाँ रहती थीं। यदि हम इस कसौटी पर सरस्वती की समीक्षा करें कि उसके द्वारा अँगरेजी अथवा दूसरी प्रांतीय भाषाएँ न जाननेवाले व्यक्ति कहाँ तक अपने देशवासी भिन्न-भाषा-भाषियों की शिक्षा-दीक्षा की समता कर सकते थे और कहाँ तक संसार की गति से परिचित हो सकते थे—यदि हम यह पता लगा लें कि जो पाठक सरस्वती की ही सहायता से अपनी विद्याबुद्धि और मतिगति निर्माण करते थे, वे देश की पठित जनता के बीच किस रूप में दिखाई देते थे—तो हम उस पत्रिका का बहुत कुछ यथार्थ मूल्य समझ लें। हम बहुत प्रसन्नता के साथ देखते हैं कि 'सरस्वती' की सामग्री इस विचार से यथेष्ट मात्रा में उन्नत थी और उसके पाठकों को (संभवतः कविता को छोड़कर) किसी विषय में संकुचित होने का कुछ भी अवसर नहीं था। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो सरस्वती अपने समय की हिंदी-जनता की विद्याबुद्धि की मापरेखा थी और वह अपने देश की अन्य भाषाओं की पत्रिकाओं से हीन नहीं थी। परिचयात्मक सामग्री देने में तो द्विवेदी जी की कुशलता अद्वितीय थी। यह उनके उत्कट अध्ययन और चयन-शक्ति का द्योतन करता है कि वे प्रति मास मराठी, गुजराती, उर्दू, बँगला और अँगरेजी पत्रों की उल्लेखनीय टिप्पणियाँ सरस्वती में उद्धृत करते थे।

सरस्वती विचार की अपेक्षा प्रचार की पत्रिका अधिक थी, परंतु द्विवेदी जी ने उसे व्यक्तिगत प्रचार (प्रोपेगैंडा) का साधन नहीं बनाया। अवश्य वह उनके व्यक्तिगत विचारों का प्रचार भी करती रही; अवश्य उसने अपनी एक परिधि भी बना ली जिसके अंदर प्रतिस्पर्द्धी लेखकों का प्रवेश-निषेध था। अपने स्थायी लेखकों के विषय में कोई अन्यथा बात अपनी पत्रिका में छापना द्विवेदी जी को इष्ट न था। इन कारणों से हिंदी में कतिपय अन्य पत्रिकाएँ भी निकाली गईं, परंतु इनमें से किसी को सरस्वती का सा स्थायित्व न मिला। वह गुण जो सरस्वती की स्थायी सफलता का मुख्य हेतु बना, द्विवेदी जी का विलक्षण अध्यवसाय था। वे कठिन परिश्रम करके प्रत्येक लेखक की भाषा को अपनी शैली के साँचे में ढालते थे और इस क्रिया में लेखों का कायापलट कर देते थे। 'सरस्वती' की भाषा में जो अधिकांश एकरूपता है, वह इसी क्रिया का परिणाम है। 'सरस्वती' में रहते हुए नवयुवक लेखकों को भी विमुख न करके उनकी कृतियाँ सुधार कर छापने में द्विवेदी जी को कई कई महीने लग जाते थे। पत्रिका को शुद्ध रूप में ठीक समय पर निकाल देना वे अपना संपादकीय कर्तव्य समझते थे, और यह संपादकीय कर्तव्य कर चुकने के बाद वे प्रति मास उसकी ग्राहक-संख्या और आय-व्यय का हिसाब भी जानते रहते थे।

ऐसे उद्योगी और कार्यकुशल व्यक्ति का उन्नति के उच्च आसन पर पहुँच जाना आश्चर्य की बात नहीं है। किसी को यह देखकर विस्मय नहीं हुआ कि द्विवेदी जी ने अनेक वर्षों तक सरस्वती की सेवा करते हुए हिंदी के बहुजन समाज पर साहित्यिक अनुशासन किया। बहुत दिनों से वे हिंदी के प्रमुख आचार्य माने जाते हैं। हिंदी-साहित्य-संमेलन के कानपुर के अधिवेशन में वे स्वागतकारिणी के प्रधान थे। पिछले कई वर्षों से संमेलन उन्हें अपने वार्षिक अधिवेशन का सभापति बनाकर गौरव प्राप्त करना चाहता है, परंतु अस्वस्थता आदि कारणों से द्विवेदी जी वह पद अस्वीकार करते आ रहे हैं। अब तो उक्त पद से द्विवेदी जी की उतनी शोभा नहीं, जितनी द्विवेदी जी से उक्त पद की शोभा हो सकती है। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा को द्विवेदी जी का बहुमूल्य

सहयोग भाँति भाँति से प्राप्त हुआ है जिसके लिए सभा उनकी कृतज्ञ रहेगी। सभा को अपने विद्यावैभव और कार्य की सहायता देने के अतिरिक्त उन्होंने उसे अपनी कठिन कमाई की अमूल्य संपत्ति, सहस्रों पुस्तकों और 'द्विवेदी पदक' की निधि के रूप में, प्रदान की है। परंतु इन सबसे कहीं अधिक साहित्यिक महत्त्व की वस्तु, जिसके लिए सभा उनकी चिरऋणी रहेगी, उन लेखों की मूल प्रतियाँ हैं जो सरस्वती में छपे थे और जिनमें द्विवेदी जी के सुधार के सुवर्णाक्षर अनोखी दीप्ति से चमक रहे हैं। ये वे लेख हैं जो हिंदी की संपादन-कला और भाषा-शैली के विकास के इतिहास में स्मरणीय रहेंगे। हिंदी के स्थायी कला-भवन में द्विवेदी-युग की यह धरोहर आदर्श रहेगी और परम आदर-पूर्वक देखी जायगी। काशी-विश्वविद्यालय को भी द्विवेदी जी ने कई सहस्र रुपये दिए हैं जो उनके समान श्रमजीवी पुरुष के आजीवन अर्जित धन का बृहदंश है। द्विवेदी जी के ये दान—वृद्धावस्था की लकड़ी का सहारा भी छोड़ देना—आत्मोत्सर्ग की सीढ़ियाँ हैं जिन्हें भविष्य की संतान को स्मरण रखना चाहिए।

हमारे साहित्य में 'द्विवेदी-युग' अब समाप्त हो रहा है, यद्यपि उनके नाम का जादू अब भी काम कर रहा है और उनके अनुयायी अब भी क्रियाशील हैं। परंतु संप्रति एक नवीन लहर उठ रही है जिसके सामने प्राचीन प्रगति स्वभावतः अपना आकर्षण खोने लगी है। वह सरल, शुभ आदर्श और वह प्रांजल व्यवस्था आज एक व्यापक अविश्वास और शक्तिपूर्ण अराजकता में विलीन सी हो रही है। साहित्य का कोई एक मार्ग नहीं रह गया—चतुर्दिक् आक्रांति की सूचना मिल रही है। आधुनिक मस्तिष्क किसी एक दिशा में काम करने को तैयार नहीं, सब दिशाएँ छान डालने का उद्योग करता है। कोई कह नहीं सकता कि विचारों के क्षेत्र में विस्तार हो रहा है या विशृंखलता बढ़ रही है। बहुत से दुर्बलमस्तिष्क, क्षीणबुद्धि व्यक्तियों के बीच थोड़े से सच्चे विचारवान् साहित्य-सेवी भी नवीन उत्थान का साथ दे रहे हैं; परंतु अभी इसकी गतिविधि निरूपित नहीं हुई है। प्रतिभा का एक नवीन उन्मेष देख पड़ता है, परंतु नवीन साहित्यिक आकांक्षा अब तक प्रकट नहीं हुई है। इन सबका नियंत्रण करने तथा इन्हें ठीक मार्ग पर ले आने के लिए अब हिंदी-संसार को एक ऐसे साहित्यिक नियामक की आवश्यकता हो रही है जो नवीन और अनुभवी साहित्य-सेवियों को उच्छृङ्खल होने से रोके और साहित्य-रथ को ठीक मार्ग पर चलाये।

ऐसे ही अवसर पर द्विवेदी-अभिनंदन ग्रन्थ का प्रणयन हुआ है। यह उस महापुरुष के स्मारक का कार्य करेगा और उसके प्रति इस युग का संमान-भाव प्रकट करेगा। यद्यपि साहित्य के स्थायी विचार-भवन में द्विवेदी जी की कीर्ति को जरामरण का भय नहीं, किंतु लोक में उस कीर्ति का प्रचार-प्रसार भी साहित्यिक संस्कार का कारण होगा। हिंदी के इस नवीन संधि-काल में, नवयुग के उन्नायकों के लिये, इस संस्कार की आवश्यकता और भी अधिक होगी; अतः इस ग्रंथ की दूनी उपयोगिता सिद्ध होगी; यही हमारी विनीत आशा और आकांक्षा है।

श्यामसुंदरदास
कृष्णदास

F. ग

विषय-सूची

विषय — पृष्ठ

(१) पूजन (कविता)—श्री सियारामशरण गुप्त, चिरगाँव, झाँसी ... १
(२) रस-मीमांसा—डाक्टर भगवानदास, काशी २
(३) संस्कृत का वैज्ञानिक अनुशीलन—आचार्य श्रीविधुशेखर भट्टाचार्य शांतिनिकेतन, बोलपुर ... २१
(४) संदेश (कविता)—श्रीमती तोरनदेवी शुक्ल 'लली,' लखनऊ ... ३०
(५) मुसलमानों के पहले की राजपूत-चित्रणकला—विद्यामहोदधि श्री काशीप्रसाद जायसवाल, एम० ए०, बारिस्टर-एट-ला, पटना ३१
(६) वेद और वह्नियुग—श्री रुद्रदेवशास्त्री, वेदशिरोमणि, दर्शनालंकार, काशी-विद्यापीठ ३२
(७) चातक (कविता)—राय कृष्णदास ४३
(८) भारतीय इतिहास में राजपूतों के इतिहास का महत्त्व—महाराज-कुमार रघुवीरसिंह बी० ए०, एल-एल० बी०, सीतामऊ ४४
(९) जीवन-फूल—श्रीमती सुभद्रादेवी चौहान, जबलपुर ५७
(१०) सूरदास का काव्य और सिद्धांत—श्री नलिनीमोहन सान्याल, एम० ए०, भाषा-तत्व-रत्न, नदिया (बंगाल) ५८
(११) भारतीय वाङ्मय के अमर रत्न—श्री जयचंद्र विद्यालंकार, प्रयाग ... ६९
(१२) लोरी (कविता)—श्री मैथिलीशरण गुप्त, चिरगाँव, झाँसी ... ९३
(१३) आर्य कालक—श्री मुनि कल्याणविजय, उदयपुर ९४
(१४) पुरुषार्थ—महामहोपाध्याय श्री गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, जयपुर ... १२०
(१५) जन्म-मृत्यु के अनुपात में भारत तथा संसार के अन्य देश—प्रोफेसर विनयकुमार सरकार १३३
(१६) उनसे (कविता)—श्रीमती कुमारी 'सत्य', देहरादून १३६
(१७) अंगिरस अग्नि—श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, एम० ए०, एल-एल बी०, मथुरा १३७
(१८) पर्दे के पीछे (कविता)—श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी', अजमेर १४२
(१९) कविवर ठाकुर जगमोहनसिंह—रायबहादुर हीरालाल, बी० ए०, कटनी-मुड़वारा १४३
(२०) सेवा (कविता)—प्रोफेसर शिवाधार पांडेय, एम० ए०, प्रयाग-विश्वविद्यालय १४७
(२१) साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद—श्री रामचंद्र शुक्ल, हिन्दू-विश्वविद्यालय, काशी १४८

विषय ... पृष्ठ

(२२) मृत्यु-जीवन (कविता)—पं० हरिशंकर शर्मा कविरत्न, आगरा ... १५७

(२३) उद्यान (कविता)—श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय "हरिऔध" काशी ... १५८

(२४) कौटलीय अर्थशास्त्र में राज्य द्वारा समाज का नियंत्रण—श्री सत्यकेतु विद्यालंकार, गुरुकुल, काँगड़ी १६०

(२५) ओस की बूँद के प्रति (कविता)—ठाकुर श्रीनाथसिंह, प्रयाग ... १६६

(२६) भविष्य का समाज—डाक्टर बेनीप्रसाद, एम० ए०, पी-एच्० डी०, डी० एस्-सी०, विश्वविद्यालय, प्रयाग १६७

(२७) माली (कविता)—मुंशी अजमेरी, काशी १७०

(२८) कुंडलिनी-तत्त्व—प्रिसिपल गोपीनाथ कविराज, एम० ए०, काशी ... १७१

(२९) भावी भारत के पत्रकार—श्री रामानंद चट्टोपाध्याय, संपादक माडर्न रिव्यू, कलकत्ता १८४

(३०) हिन्दुस्तानी का सबसे प्राचीन व्याकरण—डाक्टर सुनीतिकुमार चट्टोपाध्याय, एम० ए०, डी० लिट० (लंदन), कलकत्ता विश्वविद्यालय ... १९४

(३१) An Englishman's Stray Thoughts on Hindi Literature—रेव० एडविन ग्रीव्स् २०४

(३२) प्राचीन अरबी कविता—प्रोफेसर मुंशी महेशप्रसाद मौलवी-आलिम-फाजिल, हिन्दू-विश्वविद्यालय, काशी २१०

(३३) गुरुता से लघुता की ओर (कविता)—श्री जगन्नाथप्रसाद 'मिलिंद' ... २१७

(३४) जावा के प्राचीन संस्कृत शिलालेख—श्री बहादुरचंद्र शास्त्री, हिंदी प्रभाकर, एम० ए०, डी० लिट्०, हालैंड २१९

(३५) एक (कविता)—श्री मदनमोहन मिहिर, प्रयाग २३५

(३६) दुखी जीवन—श्री प्रेमचंद बी० ए०, संपादक, 'हंस' और 'जागरण', काशी २३६

(३७) भूमि की 'पादावर्त्त' नामक प्राचीन माप—महामहोपाध्याय रायबहादुर गौरीशंकर-हीराचंद ओझा, अजमेर २४२

(३८) महिम्न-स्तोत्र की प्राचीनता और उसका मूल पाठ—प्रोफेसर रामेश्वर-गौरीशंकर ओझा, एम० ए०, इंदौर २४७

(३९) कौन था ? (कविता)—श्रीमती महादेवी वर्मा बी० ए०, प्रयाग ... २६१

(४०) अलंकार—सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, मथुरा २६२

(४१) उर्दू-शायर और शेख जी—श्री व्रजमोहन वर्मा, सहकारी संपादक 'विशाल भारत', कलकत्ता २६८

विषय ... पृष्ठ
(४२) कुछ क्षण (कविता)—श्री भगवतीचरण वर्मा, प्रयाग २७७
(४३) चित्र-मीमांसा—श्री न्हानालाल चमनलाल मेहता, आइ० सी० एस० ... २७९
(४४) श्री हर्षवर्धन का विद्यानुराग और कवित्व-शक्ति—डॉक्टर रमाशंकर त्रिपाठी, एम० ए०, पी-एच्० डी० लंदन, हिन्दू-विश्वविद्यालय, काशी ... २८४
(४५) उसी ओर—तेजनारायण काक 'क्रांति' २९१
(४६) दिल्ली की पठान-कालीन मुस्लिम वास्तु-कला—प्रोफेसर परमात्माशरण, एम० ए०, हिंदू-विश्वविद्यालय, काशी २९२
(४७) रूप-राशि (कविता)—श्री रामकुमार वर्मा, प्रयाग ३०७
(४८) मनुस्मृति के संबंध में कुछ नए अनुसंधान—डॉक्टर मंगलदेव शास्त्री, एम० ए०, डि० फिल्० (ऑक्सन), काशी ३०८
(४९) परदे में (कविता)—ठाकुर गोपालशरणसिंह, रीवाँ ३१२
(५०) नालंदा विश्वविद्यालय—साहित्याचार्य प्रोफ़ेसर विश्वनाथप्रसाद, एम० ए०, साहित्यरत्न, नालंदा (बिहार) ३१४
(५१) 'मनु' तथा 'इंद्र'—प्रोफ़ेसर सत्यव्रत सिद्धांतालंकार, गुरुकुल, काँगड़ी ... ३३०
(५२) धूम (कविता)—महंत धनराजपुरी, मुजफ्फरपुर ३३३
(५३) अप्रौढ़ हिंदी—श्री रामचंद्र वर्मा, काशी ३३४
(५४) वीर बाला (कविता)—श्री द्वारकाप्रसाद गुप्त 'रसिकेंद्र' कालपी ... ३३७
(५५) The Future of Hindi Literature—प्रो० पो० शेषाद्रि ... ३३८
(५६) विक्रमशिला-विद्यापीठ—अध्यापक शंकरदेव विद्यालंकार, गुरुकुल-सूपा, गुजरात ३४१
(५७) दूसरी दिशा को (कविता)—श्री पद्मकांत मालवीय, प्रयाग ... ३४६
(५८) झिल्ली-रव (कविता)—प्रोफेसर बलवंत गणेश खापर्डे, कविभूषण, हिंदू-विश्वविद्यालय, काशी ३४७
(५९) रजत—कविराज प्रतापसिंह रसायनाचार्य, हिंदू-विश्वविद्यालय, काशी ३५०
(६०) तेरी लीला—ठाकुर रामसिंह, एम० ए०, बीकानेर ... ३५२
(६१) बेवोल्फ—प्रोफेसर कृपानाथ मिश्र, एम० ए०, पटना ३५३
(६२) जागरण (कविता)—श्री रामनरेश त्रिपाठी, प्रयाग ३५५
(६३) गुजराती साहित्य के तीन अपूर्व 'न'—अध्यापक साँवलजी नागर, काशी ३५६
(६४) अतिथि (कविता)—श्रीमती सुशीलादेवी सामंत, विदुषी, सिंहभूमि ... ३६३
(६५) प्रतिमानूं लुप्त अंग—श्री दीवान बहादुर केशवलाल हर्षदराय ध्रुव, बी० ए० ३६४

विषय पृष्ठ

(६६) विचित्र बेनी (कविता)—पं० गांगेय नरोत्तम शास्त्री, कलकत्ता ... ३७१
(६७) ऐतिहासिक विचार-शैली—प्रोफेसर गंगाप्रसाद मेहता, एम० ए०, हिंदू-विश्वविद्यालय, काशी ३७२
(६८) On Different Perceptions of Literary Facts—प्रो० ए० बेरिन्निकोव, लेनिनग्रेड, रूस ३८२
(६९) सुधि (कविता)—श्री नरेंद्र, प्रयाग ३८८
(७०) कौटिल्य का भूगोल-ज्ञान—श्री गोपाल दामोदर तामस्कर, एम० ए०, जबलपुर ३८९
(७१) वाणी (कविता)—श्री कृष्णानंद गुप्त, चिरगाँव ३९४
(७२) पद्मावत की कहानी और जायसी का अध्यात्मवाद—श्री पीतांबरदत्त बड़थ्वाल, एम० ए०, एल-एल० बी०, काशी ३९५
(७३) संस्कृत-गीत (कविता)—श्री शालग्राम शास्त्री, लखनऊ ... ४०१
(७४) उर्दू क्योंकर पैदा हुई—मौलाना सैयदहुसेन शिबली नदवी, आजमगढ़... ४०२
(७५) कलिके ! (कविता)—श्री बालकृष्ण राव, प्रयाग ४११
(७६) तरंग (कविता)—श्री जयकिशोरनारायणसिंह, मुजफ्फरपुर ... ४१२
(७७) कौतुक—श्रीमती दिनेशनंदिनी, चोरड्या, नागपुर ४१३
(७८) हास्य का मनोविज्ञान—श्री कृष्णदेवप्रसाद गौड़, एम० ए०, एल्० टी०, काशी ४१४
(७९) खड़ी बोली की प्राचीनता—श्री जगन्नाथप्रसाद शर्मा, एम० ए०, रसिकेश, काशी ४१८
(८०) आधुनिक नाटक पर एक दृष्टि—श्री कृष्णानंद गुप्त, चिरगाँव ... ४२२
(८१) कामना (कविता)—श्रीमती रामेश्वरी देवी मिश्र 'चकोरी', लखनऊ ... ४२५
(८२) हिंदी वर्णों का प्रयोग—प्रोफेसर धीरेंद्र वर्मा, एम० ए०, प्रयाग ... ४२६
(८३) निंदे ! (कविता)—श्री पद्मनारायण आचार्य, एम० ए०, काशी ... ४३०
(८४) प्रताप-पंचक (कविता)—श्री अक्षयकीर्ति व्यास 'अखय', उदयपुर ... ४३१
(८५) गोस्वामी तुलसीदास और समर्थ रामदास—श्री ब्योहार राजेंद्रसिंह, जबलपुर ४३२
(८६) गीत (कविता)—श्री सत्याचरण 'सत्य', एम० ए०, गोरखपुर ... ४४१
(८७) प्राचीन भारत का न्याय-विभाग और उसकी कार्य-प्रणाली—श्री कैलाशपति त्रिपाठी, एम० ए०, एल्-एल० बी०, काशी ४४२
(८८) कामना-कली (कविता)—श्री मधुसूदनप्रसाद मिश्र 'मधुर' ... ४५७

विषय पृष्ठ
(८९) धमणार की बौद्ध गुफाएँ और धर्मनाथ का मंदिर—श्री किशनलाल दुर्गाशंकर दुबे ४५८
(९०) उपालंभ (कविता)—श्री देवीदत्त शुक्ल, प्रयाग ४६२
(९१) बुद्धि नापने की वैज्ञानिक प्रणालियाँ; उनकी आवश्यकता और उपयोग—राय बहादुर लज्जाशंकर झा, एम० ए०, आइ० इ० एस०, काशी ... ४६३
(९२) शिशु के प्रति (कविता)—श्री शांतिप्रिय द्विवेदी, काशी... ... ४७२
(९३) मारवाड़-नरेश महाराज रामसिंह जी और राठौड़ वीरों की अद्भुत उदारता—श्री विश्वेश्वरनाथ रेउ, साहित्याचार्य, एम० ए०, जोधपुर ... ४७३
(९४) बोधि-वृक्ष से (कविता)—श्री सोहनलाल द्विवेदी, काशी ४७९
(९५) भारतीय चिकित्सा-शास्त्र की विशेषता—नाड़ी-परीक्षा—आयुर्वेद पंचानन पं० जगन्नाथप्रसाद शुक्ल, वैद्यभिषङ्मणि, प्रयाग ४८०
(९६) भारतीय कला—श्री गोपाल नेवटिया, फतेहपुर (जयपुर) ... ४८९
(९७) निरक्ष देश—ज्योतिषाचार्य सूर्यनारायण व्यास, विद्यारत्न, उज्जैन ... ४९२
(९८) The Macaulay Maya—श्री संत निहालसिंह, देहरादून ... ४९५
(९९) छाया-छल (कविता)—श्री श्यामाचरणदत्त पन्त ५१५
(१००) अन्त में (कविता)—श्री मैथिलीशरण गुप्त, चिरगाँव, झाँसी ... ५१७

श्रद्धांजलि

विषय पृष्ठ
(१) महात्मा गाँधी का संदेश—श्री मोहनदास कर्म्मचंद गाँधी ... ५२०
(२) श्रद्धांजलि—श्री सुमित्रानंदन पंत ५२१
(३) हिंदी-साहित्य पर द्विवेदी जी का प्रभाव—श्री रामदास गौड़ एम० ए०, काशी ५२२
(४) संदेश—डाक्टर थियोडोर वान विन्टरस्टोन ५२८
(५) वे दिन—श्री केदारनाथ पाठक, काशी ५२९
(६) संदेश—नूट हामजून ग्रिम्सटैड ५३२
(७) द्विवेदी जी की एकनिष्ठ साधना—श्री चंद्रशेखर शास्त्री, प्रयाग ... ५३३
(८) परिचय—श्री देवीप्रसाद शुक्ल, प्रयाग ५३४
(९) संस्कृति-रक्षा और द्विवेदी जी—भाई परमानंद, लाहौर ... ५३६
(१०) पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी—श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, बी० ए०, नागपुर ५३७

विषय पृष्ठ
(११) श्रद्धांजलिः—श्रीज्वालादत्तशर्मणः ५३८
(१२) मेरे गुरुदेव—श्री देवीदत्त शुक्ल (सरस्वती-संपादक) ५३९
(१३) संदेश—सर जार्ज ग्रियर्सन ५४१
(१४) आचार्य द्विवेदी जी—श्री हरिभाऊ उपाध्याय, सावरमती ... ५४२
(१५) साहित्य-महारथी द्विवेदी जी—श्री सत्यदेव परिव्राजक ५४५
(१६) अभिनन्दन (कविता)—श्री रूपनारायण पांडेय, लखनऊ ... ५४६
(१७) सफल सम्पादक द्विवेदी जी—पं० लल्लीप्रसाद पांडेय, काशी ... ५४७
(१८) द्विवेदी-युग की काव्य-प्रगति—श्री रामवहोरी शुक्ल, बी० ए०, काशी ... ५४९
(१९) आदर्श संपादक द्विवेदी जी—श्री लक्ष्मीधर वाजपेयी और ज्योतिःप्रसाद मिश्र 'निर्मल' ५६०
(२०) संदेश—श्री एल० डी० बोमन जी ५६२
(२१) आचार्य पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी—श्री यज्ञदत्त शुक्ल, बी० ए० ... ५६३
(२२) संदेश—डाक्टर वन विन्टरस्टीन ५७२
(२३) चित्र-परिचय ५७५
(२४) प्रतिष्ठापक-सूची ५८१

चित्र-सूची

विषय पृष्ठ
१—आचार्य द्विवेदी जी (इस ग्रंथ के लिये तैयार कराया गया चित्र) ... मुखपृष्ठ
२—पं० श्रीधर पाठक, पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय, राय देवीप्रसाद पूर्ण और पं० नाथूराम शंकर शर्मा १६
३—आचार्य द्विवेदी जी (संवत् १९७९) ३२
४—आचार्य द्विवेदी जी और उनकी दिवंगता धर्मपत्नी ४८
५—पं० गंगाप्रसाद अग्निहोत्री, पं० लल्लीप्रसाद पांडेय, पं० रामावतार शर्मा और पं० महेन्दुलाल गर्ग ६४
६—आचार्य द्विवेदी जी (संवत् १९६२-१९६४) और उनकी धर्मपत्नी की संगमर्मर की मूर्त्ति ८०
७—बाबू मैथिलीशरण गुप्त, पं० रामचंद्र शुक्ल, पं० कामताप्रसाद गुरु, और पं० रामचरित उपाध्याय ९६
८—ठाकुर जगमोहनसिंह वर्मा १४०

विषय — पृष्ठ

९—स्व० बाबू चिंतामणि घोष (रंगीन) १४४
१०—बाबू काशीप्रसाद जायसवाल, सेंट निहालसिंह, श्रीमान् रामानंद चट्टोपाध्याय १६८
११—पं० गोविंदनारायण मिश्र, पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० पद्मसिंह शर्मा और पं० माधवराव सप्रे १८४
१२—चि-अरुतन् और जंबु के शिलालेख २२०
१३—तुगु, कलस्सन् और कबोन् कोपि के शिलालेख २२२
१४—स्वामी सत्यदेव, पं० प्यारेलाल मिश्र, पं० वेंकटेशनारायण त्रिपाठी और पं० लोचनप्रसाद पांडेय २८८
१५—दीग का राजप्रासाद, राजा वीरसिंह देव का राजप्रासाद, ताजमहल, ढाई दिन का झोपड़ा और कुतुबुद्दीन काफी की कब्र २९४
१६—अलाई दरवाजा दिल्ली, ढाई दिन का झोपड़ा, तुगलकशाह की कब्र और फीरोज तुगलक के किले का अशोक-स्तम्भ ३००
१७—जमाअतखाना मसजिद, मुबारकशाह की कब्र और फीरोज तुगलक की कब्र ३०४
१८—बाबू बालमुकुंद गुप्त, पं० रामजीलाल शर्मा और पं० गणेशशंकर विद्यार्थी ३२०
१९—पं० देवीदत्त शुक्ल, ठाकुर श्रीनाथसिंह, पं० सुंदरलाल द्विवेदी और श्री अपूर्वकृष्ण बोस ४००
२०—बाबू राधाकृष्णदास, पं० किशोरीलाल गोस्वामी, बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर और बाबू कार्तिकप्रसाद खत्री ४३२
२१—श्री पदुमलाल पुन्नालाल बखशी, पं० देवीप्रसाद शुक्ल, पं० हरिभाऊ उपाध्याय और पं० उदयनारायण वाजपेयी ४९६
२२—आचार्य द्विवेदी जी की धर्मपत्नी का स्मृति-मंदिर और द्विवेदी जी का बैठका तथा पुस्तकालय ५६४
२३—आचार्य द्विवेदी जी, उनका परिवार तथा अतिथिशाला ... ५६८

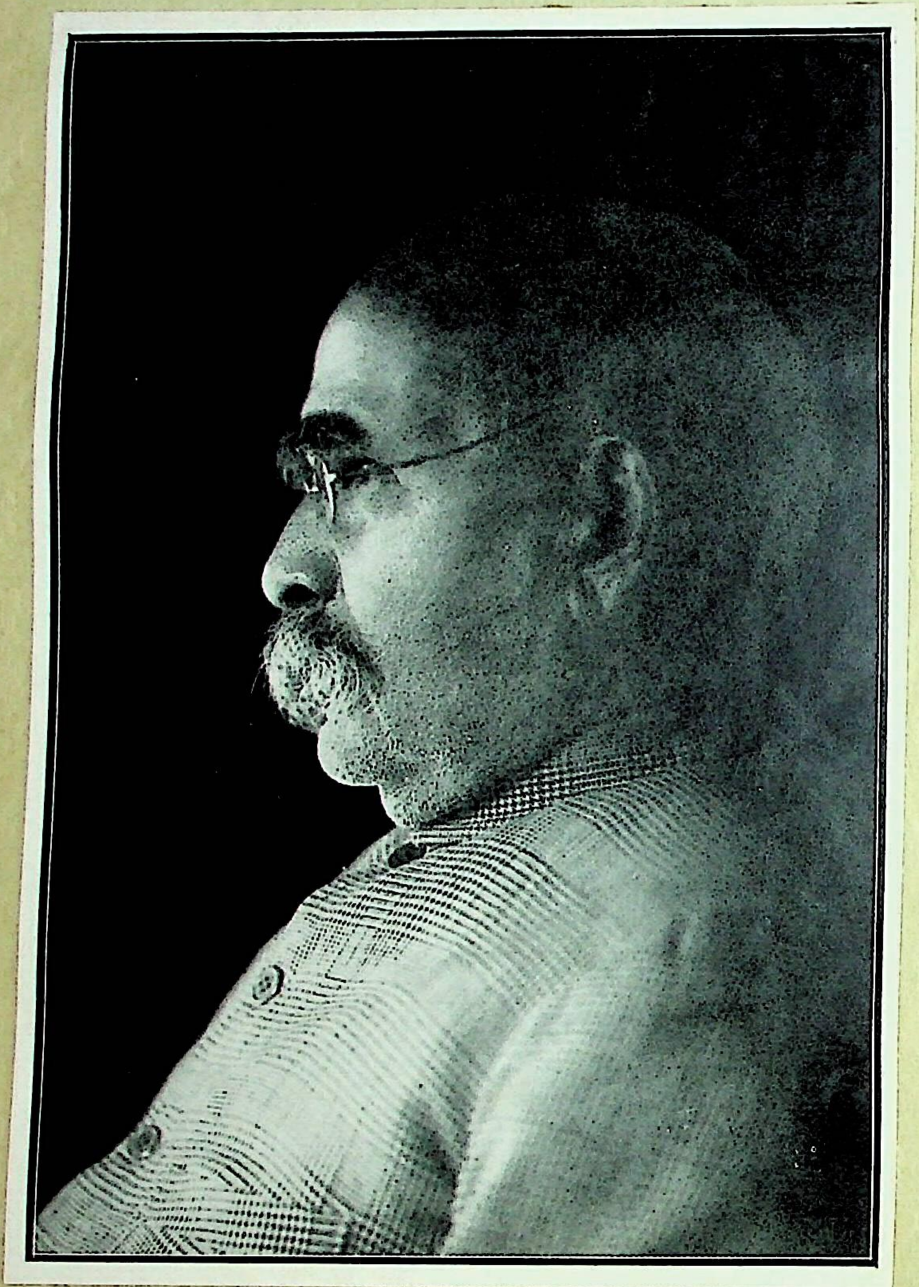

पूजन

पद-पूजन का भी क्या उपाय ?
तू गौरव-गिरि, उत्तुंगकाय !

तू अमल-धवल है, मैं श्यामल;
ऊँचे पर हैं तेरे पद-तल;
यह हूँ मैं नीचे का तृण-दल।
पहुँचूँ उन तक किस भाँति हाय !
तू गौरव-गिरि, उत्तुंगकाय !

हों शत-शत झंझावात प्रबल,
फिर भी स्वभावतः तू अविचल।
मैं तनिक-तनिक में चिर-चंचल;
मेटूँ कैसे यह अंतराय !
तू गौरव-गिरि, उत्तुंगकाय !

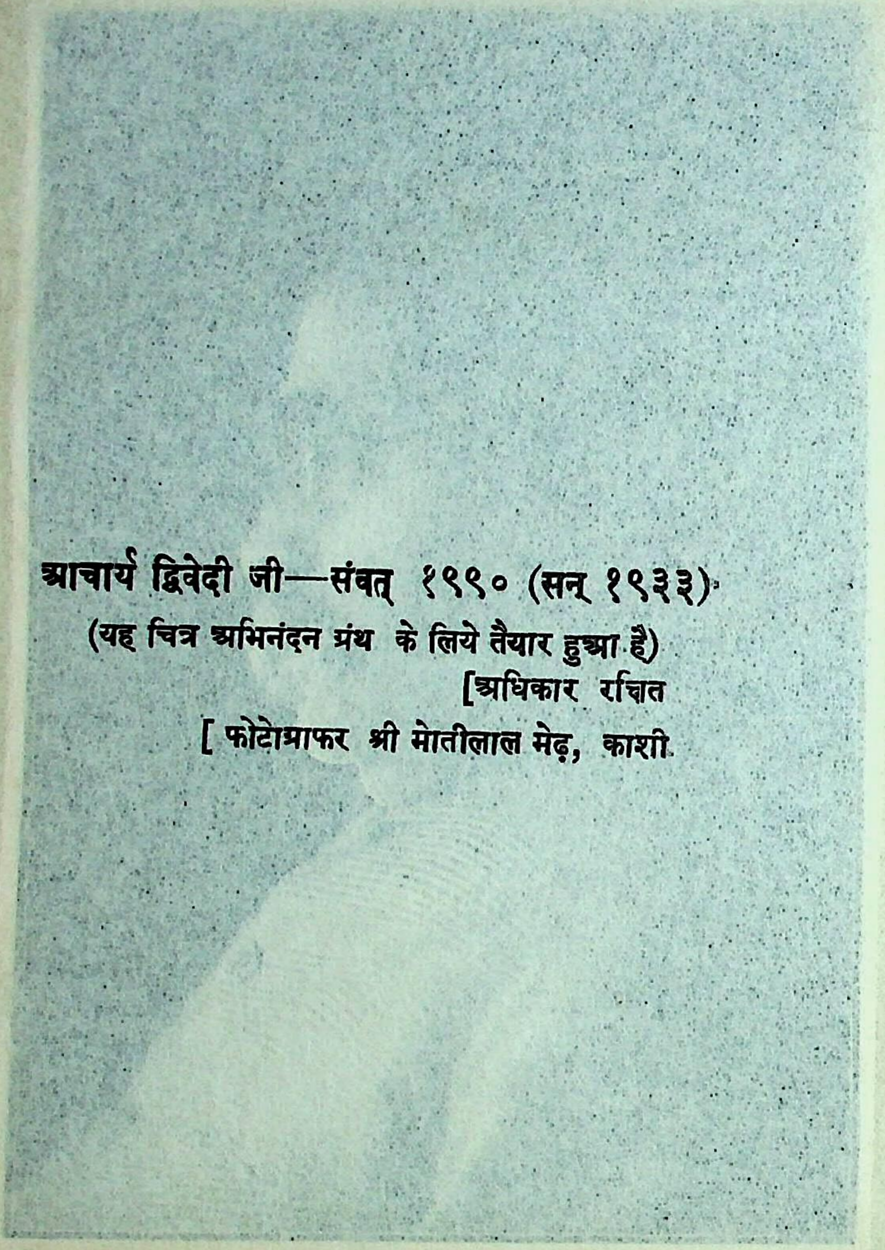

आचार्य द्विवेदी जी—संवत् १९९० (सन् १९३३)

(यह चित्र अभिनंदन ग्रंथ के लिये तैयार हुआ है)

[अधिकार रक्षित

[फोटोग्राफर श्री मोतीलाल मेढ़, काशी

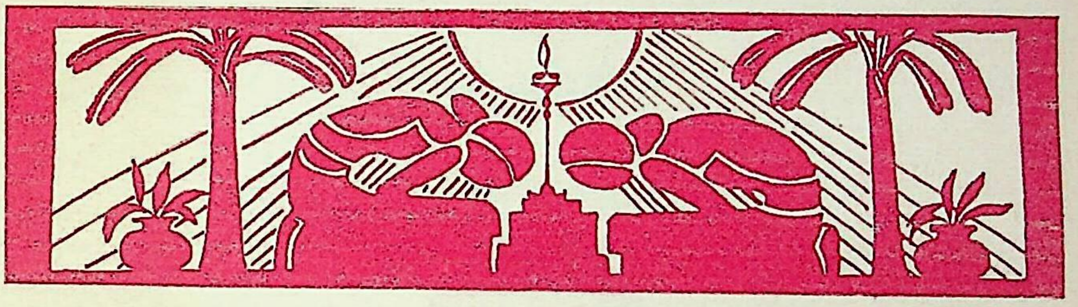

पूजन

पद-पूजन का भी क्या उपाय ?
तू गौरव-गिरि, उत्तुंगकाय !

तू अमल-धवल है, मैं श्यामल;
ऊँचे पर हैं तेरे पद-तल;
यह हूँ मैं नीचे का तृण-दल।
पहुँचूँ उन तक किस भाँति हाय !
तू गौरव-गिरि, उत्तुंगकाय !

हों शत-शत झंझावात प्रबल,
फिर भी स्वभावतः तू अविचल।
मैं तनिक-तनिक में चिर-चंचल;
मेटूँ कैसे यह अंतराय ?
तू गौरव-गिरि, उत्तुंगकाय !

अविरत तेरा करुणा-निर्झर
अगणित धाराओं से झरकर,
जीवित रखता है जीवन भर
मेरा यह जीवन जड़ितप्राय;
तू गौरव-गिरि, उत्तुंगकाय!
हैं जहाँ अगम्य दिवाकर-कर,
तेरे गह्वर भी आकर वर
हैं ऊँचों से भी ऊँचे पर;
मन उन तक भी किस भाँति जाय?
तू गौरव-गिरि, उत्तुंगकाय!

सियारामशरण गुप्त

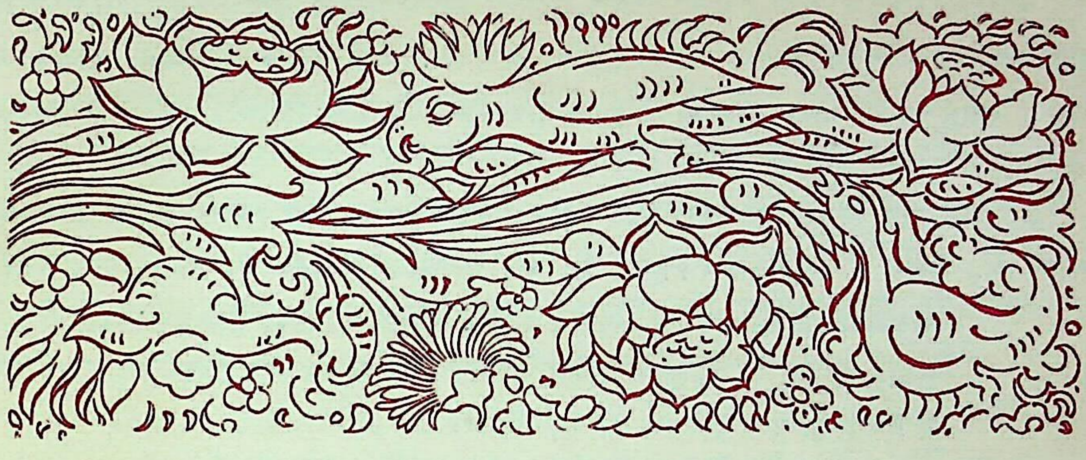

रस-मीमांसा

डाक्टर भगवान्‌दास

'रसो वै सः'

'साहित्य' और 'सौहित्य'

'साहित्य' शब्द हिंदी में प्रसिद्ध है। संस्कृत में एक शब्द और इसी आकार का है—जो हिंदी में इतना प्रसिद्ध नहीं है, न संस्कृत में ही—'सौहित्य'। दोनों का प्रधान लक्ष्य 'रस' है। 'दधाति इति हितम्'। 'धाता' 'विधाता' में जो 'धा' धातु है वही 'हित' में है। जगद्धाता, जगद्धात्री, जगत् के बनानेवाले देव-देवी। जो विशेष प्रकार से, वि-धियों—नियमों—से बनावे वह 'वि-धाता'। जो बनाए रहे वह 'हित'। 'हितेन सह सहितम्, तस्य भावः साहित्यम्'। 'सु-शोभनं हितं सुहितम्, तस्य भावः सौहित्यम्'। तथा, 'सह एव सहितम्, तस्य भावः साहित्यम्'। 'साहित्य' शब्द का अब रूढ़ अर्थ है—ऐसा वाक्यसमूह—ऐसा ग्रंथ, जिसको मनुष्य दूसरों के सहित, गोष्ठी में अथवा अकेला ही, सुने, पढ़े, तो उसको 'रस' आवे, स्वाद मिले, आनंद हो और तृप्ति तथा आप्यायन भी हो।

प्रायः 'साहित्य' का अर्थ काव्यात्मक साहित्य समझा जाता है, पर अब धीरे-धीरे इस अर्थ में विस्तार हो रहा है। सब प्रकार के ग्रंथ-समूह को साहित्य कहने लगे हैं। यथा—संस्कृत-साहित्य, अरबी-साहित्य, फारसी-साहित्य, अँगरेजी-साहित्य, फरासीसी साहित्य, जर्मन वा चीनी वा जापानी साहित्य, आयुर्वेद- (विषयक) साहित्य, वैज्ञानिक साहित्य, ऐतिहासिक साहित्य, गणित-साहित्य, वैदिक साहित्य, लौकिक साहित्य आदि। अँगरेजी भाषा में 'लिटरेचर' शब्द का प्रयोग भी इसी प्रकार से होने लगा है, यद्यपि पहले प्रायः काव्यात्मक साहित्य के अर्थ में ही उसका भी प्रयोग होता था। तो भी बिना विशेषण के साहित्य शब्द जब कहा जाता है तब प्रायः उसका अर्थ काव्य-साहित्य ही समझा जाता है।

और यह निर्विवाद है कि 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'—रसीले वाक्य को ही काव्य कहते हैं; काव्य का आत्मा 'रस' है।

'सौहित्य' शब्द का अर्थ है उत्तम रसमय भोजन और तज्जनित तृप्ति। मनु जी का आदेश है, 'नातिसौहित्यमाचरेत्'—उत्तम भोजन भी अति मात्रा में न करे, अति तृप्त न हो जाय; भोजन परिमित ही अच्छा। स्यात् यह भी आदेश मनु जी ने किया होता कि 'नातिसाहित्यमाचरेत्'—रसभरी कविता का भी अति सेवन न करे, तो अनुचित न होता।

रस

जैसे अति सौहित्य से, विशेषकर तीव्र रसवाले चटनी-अचार और खटाई-मिठाई के व्यंजनों के अति भोजन से, शरीर में व्याधि उत्पन्न होती है, वैसे ही अति साहित्य से, अति मात्र रसों और अलंकारों की ही चर्चा से, चित्त में आधि, विकार, शैथिल्य, दौर्बल्य पैदा होते हैं। 'अति सर्वत्र वर्जयेत्'। अस्तु। प्रकृत अभिप्राय यह है कि जैसे जिह्वा का रस 'सौहित्य' में प्रधान है, वैसे ही मन का रस 'साहित्य' में।

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्।
पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भवि भावुकाः॥ (भागवत)
[वेदकल्पतरु पै उपज्यौ फल, सुकमुख छूइ गिरायौ।
बह्यौ सुधा-'रस', पियौ 'रसिक' सब जब लगि लय नहि आयौ॥]
वयं तु न वितृप्याम उत्तमश्लोकविक्रमे।
यच्छृण्वतां रसज्ञानां स्वादु स्वादु पदे पदे॥ (भागवत)
[चरित पुनीत सुनत हरि के नित नित चित तृप्ति न जोहै।
पद पद में जाके निसरत 'रस' रसिकन के मन मोहै॥]

कोई-कोई, गिने-चुने, ग्रंथ ऐसे महाभाग हैं जिनमें 'रस' भी भरा है और स्वास्थ्यवर्द्धक आधिशोधक तोषक-पोषक ज्ञान भी।

नैषाऽऽतिदुःसहा क्षुन्मां त्यक्तोदमपि बाधते।
पिबन्तं त्वन्मुखाम्भोजाच्च्युतं हरिकथाऽऽमृतम्॥ (भागवत)
[सुक सौं कहत परीच्छित राजा, अनसन बरत धरे,
तन झुरात दुःसह पियास मोहि जानिहु नाहिं परै।
जब लौं बदन-कमल तें तुम्हरे हरि-गुन-'रस' निसरै,
तौ न अमृत कौ मन मेरो अति लोलुप पान करै।
स्थूल देह की सुधि बिसारि सब सूच्छम प्रान मरै।]

'रस' क्या है? 'अस्मिता' का अनुभव, आस्वादन, रसन ही 'रस' है। इसका प्रतिपादन आगे किया जायगा।

'साहित्य' शब्द का साधारण अर्थ ऊपर कहा। विशेष अर्थ यह हो रहा है कि जैसे सब प्रकार की गिनतियों का शास्त्र 'गणित,' ग्रह-नक्षत्रादि की गतियों का 'ज्योतिष', रोगों की चिकित्सा के उपायों का

'आयुर्वेद', वैसे ही सर्व प्रकार की कविताओं का शास्त्र 'साहित्य-शास्त्र' है। जो पदार्थों का राशियों में, जातियों में संग्रह और सन्निवेश करके उनके कार्य-कारण-संबंध को अनुगमों और नियमों के रूप में बतावे, सिखावे, शासन शंसन करे, और जिसके ज्ञान से मनुष्य के ऐहिक अथवा पारलौकिक अथवा उभय प्रकार के व्यवहार में सहायता मिले, वह 'शास्त्र'। जिस शास्त्र से काव्य का तत्त्व, रहस्य, मर्म, मूल रूप तथा उसके अवांतर अंग, सब परस्पर व्यूढ रूप से जान पड़ें, और जिससे कविता के गुण-दोष के विवेक की शक्ति जागे तथा अच्छी कविता करने में सहायता मिले, वह 'साहित्य-शास्त्र'।

संस्कृत में भरत मुनि का 'नाट्यशास्त्र' इस विषय का आकर-ग्रंथ और आदि-ग्रंथ भी माना जाता है। बहुत और ग्रंथ छोटे-मोटे लिखे गए हैं। आजकल पढ़ने-पढ़ाने में दंडी के 'काव्यादर्श,' आनंदवर्द्धन के 'ध्वन्यालोक,' मम्मट के 'काव्यप्रकाश', विश्वनाथ के 'साहित्य-दर्पण' का अधिक उपयोग देख पड़ता है। इनके आधार पर हिंदी में भी अच्छे-अच्छे ग्रंथ बने हैं और बनते जाते हैं।

कविता का प्राण 'रस' है, यह सबने माना है। शब्द और अर्थ उसके शरीर हैं। शब्दालंकार, अर्थालंकार उसके विशेष अलंकरण हैं। 'रसं वा सौन्दर्यं वा अलं पूर्णं कुर्वन्ति इति अलङ्काराः'—जो रस को, सौंदर्य को, बढ़ावें, पूरा करें वे अलंकार। पर यह याद रखना चाहिए कि—

अस्ति चेद्रससम्पत्तिः अलङ्कारा वृथा इव।
नास्ति चेद्रससम्पत्तिः अलङ्कारा वृथैव हि॥

'सौहित्य' में जिह्वा के रस छः मुख्य माने हैं—मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय। इनके अवांतर भेद अनंत हैं। पचासों फल ऐसे हैं जो मधुर कहे जाते हैं, पर प्रत्येक की मिठास अलग है। त्रिकटु, तीन कटु (अर्थात् तीता—हिंदी में जिसको तीता कहते हैं, संस्कृत में वह कटु है; और हिंदी का कड़ुआ संस्कृत का तिक्त है; कैसे उलट गया यह, कौतूहली के खोजने की बात है!) प्रसिद्ध हैं—सोंठ, मिर्च, पिप्पली। तथा त्रि-कषाय, कसैला—हड़, बहेरा, आँवला। अन्य पचासों पदार्थ कटु और पचासों कषाय आदि हैं, और सब एक से एक कुछ न कुछ भिन्न हैं। सामान्य, समानता—यह आत्मा की एकता की झलक है। विशेष, पृथक्त्व, भिन्नत्व—यह आत्मा की प्रकृति, अनात्मा की अनेकता, नानात्व, का फल है। ऐसे ही 'साहित्य' में रस नौ माने हैं—

शृङ्गार - हास्य - करुण - वीर - रौद्र - भयानकाः।
बीभत्सोऽद्भुत इत्यष्टौ रसाः शान्तस्तथा मतः॥ (साहित्य-दर्पण)

इनके भी सूक्ष्म अवांतर भेद बहुत होने चाहिएँ। ग्रंथकारों ने भाव, आभास भाव, अनुभाव, संचारी भाव, व्यभिचारी भाव, स्थायी भाव आदि की सेना इनके साथ लगा दी है। प्रत्येक के भेद हैं। यथा—'हास्य' रस का स्थायी भाव 'हास' कहकर उसके छः भेद बताए हैं—स्मित, हसित, विहसित, अवहसित, अपहसित, अतिहसित। 'एको रसः करुण एव निमित्तभेदात्' कई प्रकार का हो जाता है। इत्यादि। जैसे प्रत्येक स्थायी भाव के साथ एक 'स्थायी' रस, वैसे प्रत्येक संचारी या व्यभिचारी भाव के साथ एक संचारी या व्यभिचारी रस होता है। रसों में सामान्य-विशेष, पराऽपरा जाति, है या नहीं।

पर जहाँ तक देखन-सुनने में आया और विद्वानों से पूछने पर जान पड़ा, इस विषय पर किसी ग्रंथकार ने विचार नहीं किया कि यह सब रस सर्वथा परस्पर भिन्न और स्वतंत्र हैं अथवा इनमें भी राशीकरण हो सकता है, परापर जाति का संबंध इनमें है या नहीं। किसी-किसी ने संख्या घटाने-बढ़ाने का यत्न तो किया है। यथा, 'वात्सल्य' रस दसवाँ है, ऐसा कोई मानते हैं। परमेश्वर की अथवा किसी भी इष्टदेव की नवधा 'भक्ति' के रस को भी अलग मानते हैं। कोई कहते हैं कि सब रस चमत्कारात्मक 'अद्भुत' के ही भेद हैं। पर विद्वल्लोकमत ने नौ को ही मान रक्खा है, और जो नए बताए जाते हैं उनका इन्हीं में इधर-उधर समावेश कर लेता है। पर इन नौ का जन्म कैसे, एक या दो या तीन पर वा अपर सामान्यों की ये नौ अपर जाति या विशेष संतान हैं या नहीं, इन प्रश्नों पर विचार नहीं मिलता। और बिना विशेषों और अपर जातियों को सामान्य की अँकवार में संग्रह किए चित्त को संतोष नहीं।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ (गीता)

पृथक्ता को एकता में स्थित, एकता को पृथक्ता में विस्तृत, जब पुरुष जान लेता है तब उसका ब्रह्म अर्थात् वेद अर्थात् ज्ञान संपन्न—संपूर्ण—होता है, तथा तब पुरुष अर्थात् जीव ब्रह्ममय—ब्रह्मरूप—निष्पन्न हो जाता है।

इसलिये इस प्रश्न पर विचार करना उचित है।

'रस' सब नौ का 'सामान्य' स्पष्ट ही है। 'रस' के स्वरूप की भी मीमांसा करने से स्यात् पता चले कि इस एक के सद्यः नौ की पृथक्-पृथक् उत्पत्ति हुई, अथवा एक से दो या तीन और दो, या तीन से चार या छः या नौ, इस क्रम से परापर जाति और विशेष के रूप से जन्म हुआ।

'रस' का मुख्य अर्थ 'जल' 'द्रव' है।

सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः। (रघुवंश)

अमरकोष में जल के पर्यायों में 'घनरस' है।

आम का रस; ईख का रस; पान का रस; अनार, अंगूर, नारंगी आदि का रस—यह सब उसके 'विशेष' हैं। रस के 'आस्वादन', चषण, चखने से जो 'अनुभव' हो उसको भी 'रस' कहते हैं।

यदि भूखा बच्चा जल्दी-जल्दी आम खा जाय तो उसको स्वाद तो अवश्य आवेगा ही, पर भूख की मात्रा अधिक और स्वाद की मात्रा कम हो तो 'रस' नहीं आवेगा। खा चुकने पर जब उसके मुँह पर मुस्कुराहट और आँखों में चमक देख पड़े और वह कहे कि 'बड़ा मीठा था' तब जानना चाहिए कि उसको 'रस' आया।

ऐसे ही, दो मनुष्य, क्रोध में भरे, एक दूसरे पर खड्गों से प्रहार कर रहे हों तो दोनों का 'भाव' रौद्र अवश्य है, पर उनको 'रौद्र का रस' नहीं आ रहा है। किंतु, यदि एक मनुष्य दूसरे को गहरा घाव पहुँचाकर और बेकाम करके ठहर जाय और कहे—'क्यों, और लड़ोगे, फिर ऐसा करोगे, अब तो समझ गए न?' तो उसको रौद्र 'रस' आया, ऐसा जानना चाहिए। किसी दुःखी दरिद्र को देखकर किसी के मन में करुणा उपजे और उसको धन दे वा अन्य प्रकार से उसकी सहायता करे तो दाता तो करुणा का, दया का,

दुःखी के शोक में अनुकंपा--अनुशोक—का 'भाव' हुआ, पर 'रस' नहीं आया। यदि सहायता कर चुकने के बाद उसके मन में यह वृत्ति उत्पन्न हो—'कैसा दुःखी था, कैसा दरिद्र था, कैसा कृपापात्र था' तो जानना कि उसको करुण रस आया। महापुरुष की कथा को सावधान सुनना, और उसके प्रति भक्ति उपजना भी, रस नहीं। पर मन में यह वृत्ति उदित होना कि 'वाह, कैसे अलौकिक उदार महानुभाव-चरित हैं, इनके सुनने से हृदय में तत्काल कैसी उत्कृष्ट भक्ति का संचार होता है, कैसे सात्विक भाव चित्त में उदित होते हैं'—यह 'रस' का आना है। किसी को किसी दूसरे से किसी विषय में तीव्र ईर्ष्या—मत्सर—का भाव उत्पन्न हो, पर उसके वश होकर वह कोई अनुचित कार्य न कर बैठे, और उस भाव की वर्त्तमानता में ही, अथवा उसके हट जाने या मंद हो जाने पर, अपने से या मित्रों से कहे—'कैसा दुर्भाव था, क्या-क्या पाप करा सकता था' तो जानना कि उसको ईर्ष्या का रस आया। पहलवान अपनी भुजा को देखता, ठोंकता और प्रसन्न होता है, अपने बल का रस लेता है। सुंदर स्त्री-पुरुष अपने रूप को 'दर्पण' में (दर्पयति इति दर्पणः) में देखकर आनंदित होते हैं, अपने रूप का रस लेते हैं।

जैसे बच्चे तीती वस्तु को चीखकर 'सो-सी' करते हैं और फिर भी चीखना चाहते हैं, अर्थात् यदि अति मात्रा में नहीं है तो उसमें दुःख मानते हुए भी सुख मानते हैं, सो दशा साहित्य के उन रसों की है जिनके 'भाव'—यथा भय, बीभत्स आदि—दुःखद भी हैं, पर उनके स्मरण में 'सुख'मय 'रस' उठता—उत्पन्न होता—है।

निष्कर्ष यह है कि अबुद्धिपूर्वक—अनिच्छापूर्वक—'स्वाद' नहीं, किंतु बुद्धिपूर्वक, इच्छा-पूर्वक, 'आस्वादन' की अनुशयी चित्तवृत्ति का नाम 'रस' है। भाव (क्षोभ, संरंभ, संवेग, आवेग, उद्वेग, आवेश, अँगरेजी में 'ईमोशन') का अनुभव 'रस' नहीं है; किंतु उस अनुभव का स्मरण, प्रति-संवेदन, 'आस्वादन', 'रसन' रस है। 'भावस्मरणं रसः'। और आस्वादन का रूप यह है—'मैं क्रोधवान् हूँ (अहं क्रोधवान् अस्मि'), 'मैं (अहं) करुणावान् हूँ (अस्मि)', 'मैं शोकवान् या अनु-शोकवान् हूँ', 'मैं भक्तिमान् हूँ', 'मैं ईर्ष्यावान् हूँ', 'मैं बलवान् हूँ', 'मैं सुरूप हूँ'। अर्थात् 'मैं हूँ'—यही रस का सार-तत्त्व है।

ऐतरेय ब्राह्मण में कहा है, '...पुरुषे त्वेवाविस्तरामात्मा, स हि प्रज्ञानेन सम्पन्नतमः, विज्ञातं वदति, विज्ञातं पश्यति, ...(पशवः) न विज्ञातं वदन्ति, न विज्ञातं पश्यन्ति, ...'। पशु जानते हैं, देखते हैं, बोलते हैं; पर यह नहीं जानते कि हम जान, देख, बोल रहे हैं। मनुष्य जानता, देखता, बोलता है और साथ ही साथ यह भी जानता है कि हम जान, देख, बोल रहे हैं। इसलिये पुरुष में आत्मा का आविर्भाव सब प्राणियों से अधिक है, उसमें प्रज्ञान भी है। आत्मज्ञान का आरंभ मनुष्ययोनि में पहुँचकर जीव को होता है। इसी लिये 'मोक्षस्तु मानवे देहे'। ऐसा ऐतरेय ब्राह्मण में कहा तो सही कि पशु 'न विज्ञातं वदन्ति', पर इसको भी 'वैशेष्यास्तु तद्वादः', सापेक्ष उक्ति जानना चाहिए। पशु सर्वथा इस प्रकार के 'प्रज्ञान' से रहित ही हैं, ऐसा भी नहीं कह सकते; क्योंकि वे 'खेलते' हैं, और 'खेलना', 'क्रीड़ा', तथा 'लीला' का मर्म 'आत्मानुभव रस' ही है। मुँह से, व्यक्त वाणी से, वे यह नहीं कह सकते हैं कि हमको यह-यह अनुभव हो रहा है; पर ऐसा कह सकने का बीज उनमें है अवश्य। और होना उचित ही है, क्योंकि वे भी तो परमात्म चैतन्य की ही कला हैं।

जानना, इच्छा करना, क्रिया करना, और इसको पहचानना, अनुभव करना, प्रत्यभिज्ञान करना, प्रज्ञान करना कि हममें ज्ञान, इच्छा, क्रिया हो रही है—इस बुद्धिवृत्ति को विविध दर्शनों में विविध नामों से कहा है। यथा—अनुव्यवसाय, प्रतिसंवेदन, प्रत्यभिज्ञान, प्रत्ययानुपश्यता, निजबोध, प्रत्यक् चेतना, आलय-विज्ञान प्रभृति। इनमें 'प्रस्थानभेद से दर्शनभेद' के न्याय के अनुसार सूक्ष्म-सूक्ष्म भेद हो सकता है, पर मुख्य आशय एक ही है, अर्थात् बहिर्मुखीन विशेष वृत्तियों के साथ-साथ, उनमें अनुस्यूत 'अहं' 'अस्मि', 'मैं हूँ' इत्याकारक अखंड एकरस निर्विशेष अंतर्मुखीन वृत्ति।

बाह्य पदार्थों के अनुभव के साथ-साथ यह आत्मानुभवरूपिणी वृत्ति सत्-विद्यमान है, चित्-चेतन है, आनंद-सुखमय है। इस 'मैं हूँ' में जो आनंद का अंश (अंग, अवयव, कला, मात्रा, रूप, भाव, पहलू) है वही रसबुद्धि है, उसी का पर्याय रस है। इसी लिये उपनिषदों में आत्मा के विषय में कहा है, 'रसो वै सः', 'रसं ह्येवाऽयं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति', 'कृत्स्नो रसघन एव', 'सद्घनोऽयं चिद्घन आनन्दघनः', 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं वै प्रियं भवति', 'सोऽयमात्मा श्रेष्ठश्च प्रेष्ठश्च', 'आङ्गिरसो अङ्गानां हि रसः', 'प्राणो हि वा अङ्गानां रसः', 'एष हि वा अङ्गानां रसः', 'स एवाऽयं मुख्यः प्राणः', 'स एष रसानां रसतमः' 'आपयिता ह वै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुपास्ते', 'को ह्येवाऽन्यात् कः प्राण्याद्यदेष आनन्दो न स्यात्', 'सैषा आनन्दस्य मीमांसा भवति'। 'अहम्—अस्मि'—यही सन्मय, चिन्मय, आनंद-रस-मय है। आत्मा का किसी 'अनात्मा' के बहाने से आस्वादन—यही रस, लीला, क्रीड़ा, नटन है—यही कविता में श्रेष्ठ नाटक है—'काव्येषु नाटकं श्रेष्ठम्'। नाटक में पात्र 'बनते' हैं, अपने को अपने से अन्य 'बनाते' हैं,—बुद्धिपूर्वक, लीला से, माया से ('या-मा') 'जो नहीं है' वह 'बन' जाते हैं, और उसमें बड़ा रस मानते हैं, आनंद पाते हैं।

'चैतन्य' का परोक्ष नाम 'आत्मा' है, 'अपरोक्ष' नाम 'अहम्' है। ॐ तो उसका नाम है, पर थोड़ा 'अव्यक्त' सा है[1]। 'अहम्'—यह दिन-दिन के व्यवहार में कुछ अधिक व्यक्त जान पड़ता है। संस्कृत-वर्णमाला का आदिम अक्षर 'अ' और अंतिम 'ह' है। इन दोनों के बीच में अन्य सब अक्षर हैं। अक्षरों के संयोग में सब वाक्य हैं जो सब ज्ञान, इच्छा, क्रिया के वाचक बोधक हैं। तंत्रशास्त्र में एक-एक अक्षर से एक-एक तत्त्व, एक-एक पदार्थ की, जिनका वर्णन सांख्य आदि दर्शनों में किया है, सूचना होती है। 'अ-हम्' आत्मा की निगूढ सर्वज्ञता इस आद्य अंत्य अक्षरों के संयोग से सूचित होती है, तथा यह भी कि 'अहम् एव सर्वः', 'मयि स्थितमिदं जगत् सकलमेव', सब पंचविंशति, षड्विंशति, षट्त्रिंशत् प्रभृति तत्त्व एक 'अहम्' के, 'मैं' के, भीतर हैं, 'मैं' किसी के भीतर नहीं है। इस विश्वंभरता—विश्वोदरता—की 'भूमा' के आस्वादन से बढ़कर कौन आनंद-रस-आस्वादन हो सकता है? जो भी कोई, कुछ भी, रस-आनंद है वह सब इसी की छाया है।

इति नानाप्रसंख्यानं तत्त्वानां कविभिः कृतम्।
सर्वं न्याय्यं युक्तिमत्त्वाद् विदुषां किमसाम्प्रतम्॥ (भागवत)

---

[1] इस विषय पर मैंने अपने 'समन्वय' नामक ग्रंथ के अंतिमाध्यायों में—'प्रणव की पुरानी कहानी' और 'महासमन्वय' में—कुछ विस्तार किया है।

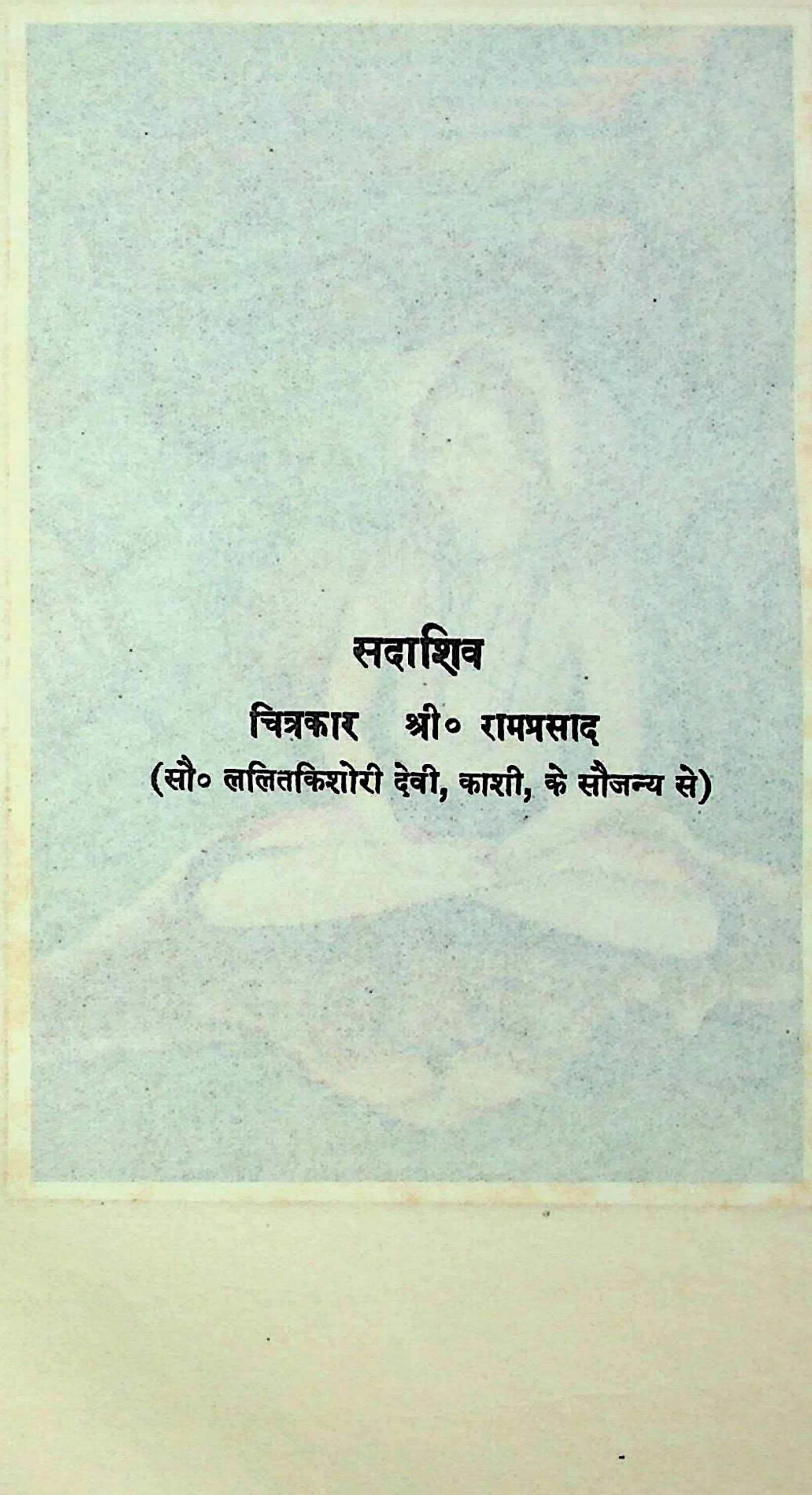

सदाशिव

चित्रकार श्री० रामप्रसाद

(सौ० ललितकिशोरी देवी, काशी, के सौजन्य से)

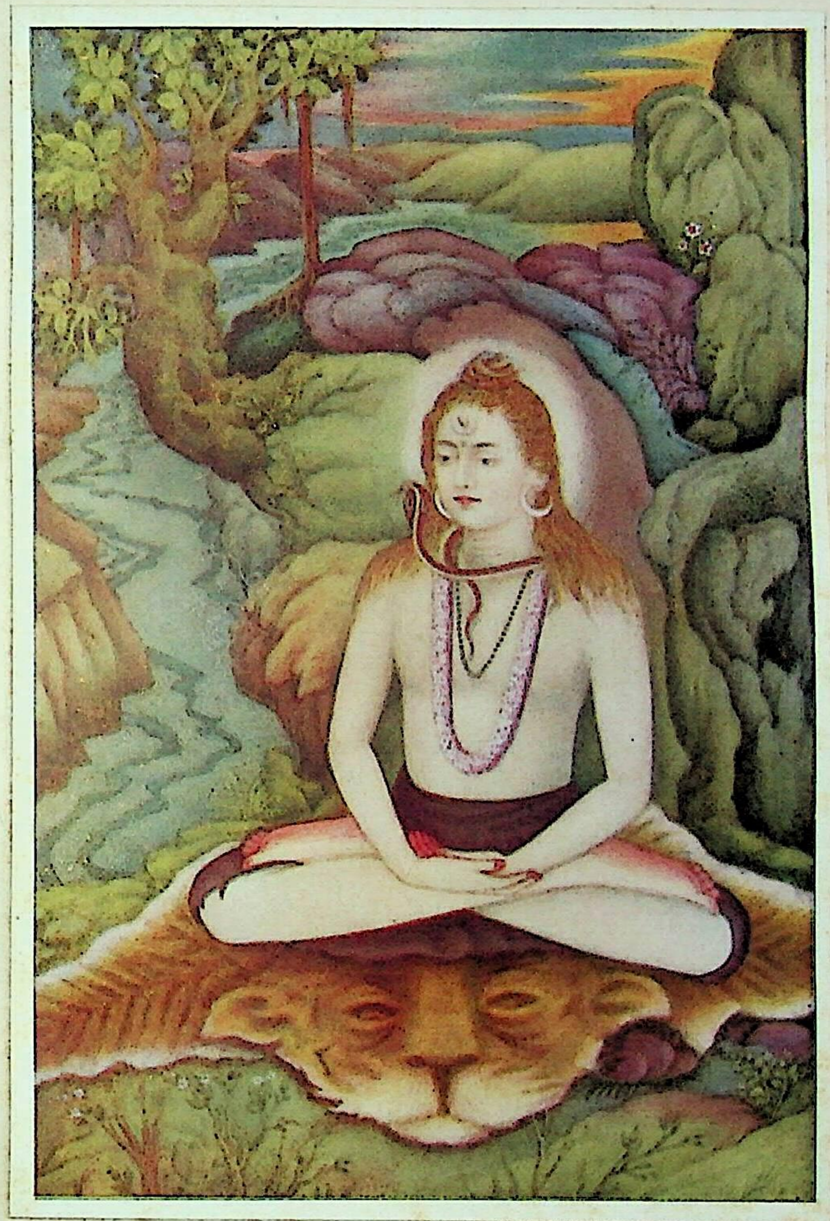

इस 'अहम्' में, 'अस्मि' में, आनंदांश 'रस' है, ऐसा कहा। पर यहाँ एक धोखा होने का भय है। उसका निवारण करना चाहिए। 'अहम्' नाम परमात्मा (वा प्रत्यगात्मा) का भी है और जीवात्मा का भी। दोनों में एकता होते हुए भी जो भेद है वह प्रायः प्रसिद्ध है। देश-काल-द्रव्य आदि से परिच्छिन्न अवच्छिन्न परिमित विशेषित आधिभौतिक शरीर की उपाधि से उपहित चैतन्य को जीवात्मा कहते हैं। इन सबसे अतीत चैतन्य को परमात्मा कहते हैं। ऐसे ही एक 'अस्मिता' परमात्मा की और एक 'जीवात्मा' की होती है। पुराणों में, दर्शनसूत्रों में, बताया है कि परमात्मा में विद्या-अविद्या दोनों भासती हैं। अनंत आत्मा अपने को सांत, हाड़-मांस का बना शरीर, मान ले तो इसे 'अविद्या' अर्थात् सीधी बोली में मूर्खता कहना चाहिए। पर अपनी ही 'माया' से परमात्मा इस 'मूर्खता' में पड़ा हुआ भासता है, सचमुच पड़ा नहीं है, इससे 'अविद्या' बनावटी है, नाटक है, लीला और क्रीड़ा है। जैसे दूब में से 'पोर' निकलती है वैसे अविद्या में से भी 'पर्व' निकलते हैं। पहली पोर स्वयं 'अविद्या', दूसरी 'अस्मिता', तीसरी 'राग', चौथी 'द्वेष', पाँचवीं 'अभिनिवेश' (हठ, आग्रह, शरीर में निविष्ट हो जाना, घुस जाना, धँस जाना)। इसलिये 'पंचपर्वा' अविद्या। 'विद्या' के साथ रहनेवाली 'अस्मिता' पारमात्मिक, पारमार्थिक अस्मिता। 'अविद्या' के साथवाली 'अस्मिता' सांसारिक, व्यावहारिक, जैवात्मिक। 'मैं सांत पदार्थ नहीं हूँ, मैं मैं ही हूँ, मैं से अन्य कुछ नहीं हूँ', 'अहमेव न मत्तोऽन्यत्' (भागवत)—यह 'विद्या'। 'मैं यह शरीर हूँ'—यह 'अविद्या'।

जैसे पारमार्थिक अस्मिताऽऽनुभवरूपी 'रस', पारमार्थिक 'आनंद', ब्रह्मानंद का पर्याय है वैसे ऐहार्थिक व्यावहारिक अस्मिताऽऽनुभवरूपी 'रस' लौकिक काव्यसाहित्य से संबंध रखनेवाले 'आनंद' का पर्याय है। यह आनंद उस आनंद की, यह रस उस रस की, छाया है—नकल है।

सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः॥
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वे नायमास्वाद्यते रसः॥ (साहित्य-दर्पण)

स्यात् दर्शन के अधिक अनुकूल होता, यदि इन श्लोकों को यों पढ़ते—

सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दरूपकः।
वेद्यान्तरस्पर्शयुतो ब्रह्मास्वादविवर्त्तकः॥
असामान्यचमत्कारप्राणः सहृदयैरिह।
स्वाकारवदभिन्नत्वे नायमास्वाद्यते रसः॥

ब्रह्मास्वाद का सहोदर काव्यास्वाद नहीं, प्रत्युत उसका प्रतिबिंब, विवर्त्त, रूपक, नकल, छाया-मात्र है। तथा इसमें 'वेद्यांतर' तो है, अर्थात् 'विभाव', 'भाव का विषय', जिस भाव के बिना रस नहीं। ब्रह्मास्वाद में 'वेद्यांतर' का निषेध, 'नेह नानास्ति किंचन', है। इसमें तो बिना 'विभाव'-रूपी 'वेद्यांतर' के काम नहीं चलता। 'लोकोत्तर' भी कैसे कहा जा सकता है? लोक में ही तो, और लौकिक विशेष-विशेष अनुभवों को लेकर ही तो, काव्यसाहित्य के 'रस' की चर्चा है। 'कैश्चित्प्रमातृभिः' भी नहीं जँचता। हाँ, किसी को कम, किसी को अधिक निश्चयेन, पर कुछ न कुछ 'रस' तो मनुष्य-मात्र के अनुभव

में होता है। ऊपर कहा कि पशु तक खेलते हैं। और खेलना, तथा हँसना, और सिसककर आँसू बहाकर रोना (जो चोट के दुःख से कराहने-चिल्लाने से भिन्न है) बिना रस के नहीं हो सकता। हँसना, रोना, ये दोनों 'अनुभाव' पशुओं में नहीं देख पड़ते; पर मानव-बालकों में बहुतायत से देख पड़ते हैं। थोड़े ध्यान से, और रसिकता तथा साहित्यज्ञता का अभिमान छोड़कर, यदि उपर्युक्त श्लोककार महाशय देखते तो उनको स्पष्ट विदित होता कि नटखट बच्चे हास्य, रौद्र, भयानक, वीर, अद्भुत रसों के उनसे अधिक प्रज्ञाता हैं। बूढ़ों की नकल करना, उनको चिढ़ाकर भागना, एक दूसरे को डराना, शूरवीर की नकल करना, ये सब बाल्यावस्था में स्वाभाविक हैं, और रसप्रमातृत्व के प्रमाण हैं, इत्यादि। पर, इसमें संदेह नहीं कि ऊपर के उद्धृत श्लोकों का अभिप्राय ठीक है, चाहे बहुत सूक्ष्मेक्षिका से अर्थ-परिष्कार और शब्द-परिष्कार करने लगें तो कुछ परिवर्त्तन करना पड़े। अस्तु।

'काव्य' के कई प्रयोजन कहे हैं—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥ (काव्यप्रकाश)

पर मुख्य प्रयोजन 'निर्वृतये', रस का आनंद ही है। व्यवहारज्ञान नितांत उपयोगी है, पर वह काव्य के ऐतिहासिक अंग का फल है। जैसे 'निर्वृति' इतिहास-पुराण के काव्यांग का फल है। हाँ, यदि काव्य का अर्थ कोई भी लेख, संदर्भ या निबंध किया जाय तो अवश्य उद्धृत श्लोक ठीक हो सकता है। उस पर भी कहना होगा कि अन्य सब प्रयोजक फल कम या अधिक गौण हैं, और निर्वृति-साधकता और व्यवहार-ज्ञापकता के समीपवर्त्ती अथवा दूरवर्त्ती अवांतर कार्य हैं। प्रस्तुत चर्चा में आनंद देनेवाला काव्य ही साहित्यिक काव्य है।

यह सांसारिक रस उस पारमार्थिक रस का आभास है, प्रतिबिंब है। प्रतिबिंब, बिंब के सदृश होता हुआ भी, उसका उलटा विवर्त्त होता है। मुकुर के आगे मनुष्य खड़ा हो तो प्रतिबिंब में पुरुष का दहिना अंग बायाँ और बायाँ अंग दहिना हो जाता है। जल के किनारे खड़ा हो तो प्रतिबिंब में सिर नीचे और पैर ऊपर हो जाता है। इसी से इस कृत्रिम, बनावटी, रस के अधिक सेवन में बहुत दोष है। प्रत्यक्ष ही बहुत खेलने से लड़के बिगड़ जाते हैं, थोड़ा खेलने से हृष्ट-पुष्ट होते हैं। अति मात्र रस-सेवन से मनुष्य अपने को भोगी, विलासी, केवल रसान्वेषी रसिक, और दैनंदिन के व्यवहार-कार्य के निर्वाह के लिये अकर्मण्य अशक्त बना डालता है—जैसे बहुतेरे धनी और राजा-महाराजा, नवाब-बादशाह लोग—और अपने कर्त्तव्यों को, धर्म-कर्म को, भूल जाता है। करुण रस का स्वाद ही लेता है, करुणा—दया—के अनुसार दीनों की सहायता नहीं करता।

करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम्।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्।
किं च तेषु यदा दुःखं न कोऽपि स्यात्तदुन्मुखः ॥ (साहित्य-दर्पण)

करुण रस की कहानी कभी-कभी बच्चे तक शौक से सुनते हैं। ग्रामगीत तो अधिकांश अत्यंत करुणाजनक होते हैं, जैसा 'उत्तररामचरित' में भी मिलना कठिन है। उन्हें ग्राम की स्त्रियाँ शौक से गाया

करती हैं। यदि उन गीतों से दुःख ही होता तो क्यों सुने, गाए, पढ़े जाते ? पर यह भी प्रकृति-पर है। कोई अति कोमल, मृदुवेदी, बालक, स्त्री, पुरुष ऐसी करुण कथा को नहीं सुन सकते।

> पिकाद्वने शृण्वति भृङ्गहुङ्कृतैर्दशामुदञ्चत्करुणे वियोगिनम्।
> अनास्थया सूनकरप्रसारिणीं ददर्श दूनः स्थलपद्मिनीं नलः॥ (नैषधचरित)

कहीं-कहीं, कभी-कभी, तो ऐसा भी देखा गया है, जैसा 'नीरो' नामक तथा 'रोम'-राज्य के अन्य. सम्राटों के विषय में इतिहास लिखनेवाले लिखते हैं कि वे बुद्धिपूर्वक, अभिसंधिपूर्वक, जान-बूझकर, पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों को सिंह-व्याघ्र आदि हिंस्र पशुओं के सामने रंगभूमि के घेरे के भीतर फिंकवा देते थे, अथवा दूसरे प्रकारों से उनकी यातना कराते थे, इस उद्देश्य से कि उनकी और हिंसकों की भय-करुण चेष्टा और रौद्र-भयंकर चेष्टा देखकर अपने चित्त में तत्तत्संबंधी रस का आस्वादन करें। अर्थात् कृत्रिम नाटकों से थक गये थे, मन भर गया था; उनसे रस नहीं मिलता था। जैसे किसी नशे के ऐयाश को चिराभ्यस्त मात्रा से संतोष नहीं होता, शिथिल जीभ पर रस जान ही नहीं पड़ता, जब तक बहुत तीव्र न किया जाय। उनके मानस-वृकोदर की रसेच्छा की पूर्त्ति के लिए ऐसे क्रूर-कराल सच्चे नाटक की आवश्यकता होती थी और उसको बना डालते थे। रक्षक और भक्षक, देव और दैत्य, के बीच में ऐसा सूक्ष्म अंतर है। 'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया'। थोड़ी भी भूल हुई और विष्णु के पार्षद, हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष हो गए, दैत्य-योनि में आ गिरे। इसलिये इस मार्ग पर बहुत सावधानी से चलना चाहिए। परिष्कृत, संस्कृत, 'रस' के थोड़े आस्वादन तक संतोष करना; चटनी, अचार, खटाई, मिठाई से पेट न भरना; उसी मात्रा में इनका सेवन करना जितने से प्रधान भोज्य—काव्य के पुष्टिकारक अंग इतिहास आदि—के भोजन में सहायता मिले। और ध्यान इस ओर सदा रखना कि काव्य और नाटकों के धीर, उदात्त, ललित, शांत, दक्षिण नायक-नायिकाओं की परिष्कृत सुरस रीति-नीति, बोल-चाल, हाव-भाव का अनुकरण यथाशक्य यथोचित अपने जीवन में किया जाय। अस्तु।

जीवात्मक मनुष्य की 'अस्मिता' के साथ-साथ 'राग-द्वेष' 'काम-क्रोध' लगे हुए हैं। एक 'अस्मिता' से, 'अहंकार' से, इस द्वंद्व—जोड़—की उत्पत्ति होती है।

> इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
> इन्द्रियसेन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ॥
> काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः॥
> सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥ (गीता)
> इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-सुख-दुःख-ज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्।
> ज्ञस्य इच्छा-द्वेषनिमित्तत्वादारम्भनिवृत्त्योः। (न्यायसूत्र)
> इच्छाद्वेषपूर्विका धर्माधर्मप्रवृत्तिः। (वैशेषिक सूत्र)
> इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः॥ (गीता)

'मैं यह शरीर हूँ' इस अंतर्निगूढ 'अविद्या (ध्यायतो विषयान् पुंसः) के भाव के साथ ही, जो 'मैं' 'अहं' 'अहं-कार' 'अस्मिता' ('सङ्गस्तेषूपजायते') के पोषक—वर्द्धक—हैं उनकी ओर 'राग', 'काम' और

'आकर्षण,' तथा जो उसके विरोधक—हानिकारक—हैं उनकी ओर 'द्वेष', 'क्रोध' और 'अपकर्षण' तत्काल अवश्य उत्पन्न होते हैं।

मुनेरपि वनस्थस्य स्वकर्माण्यनुतिष्ठतः।
उत्पद्यन्ते त्रयः पक्षाः मित्रोदासीनशत्रवः॥ (महाभारत)

जब तक शरीर और शरीर के पोषण की इच्छा और आवश्यकता है, तब तक चाहे कितनी भी विरक्त मुनि-वृत्ति से रहे, मनुष्य के—मित्र, शत्रु और उदासीन—तीन प्रकार के पास-वर्त्ती हो ही जाते हैं। राग का विषय, द्वेष का विषय, शत्रु। जो अपने को सुख दे वह मित्र, दुःख दे वह शत्रु।

सुख-दुःख क्या हैं? 'अहम्' की वृद्धि का अनुभव सुख, और ह्रास का अनुभव दुःख। "नाल्पे वै सुखमस्ति, भूमैव सुखम्,...यत्र नान्यद्विजानाति स भूमा।" (छांदोग्य)

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।
एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः॥ (मनु)

'अपने' को, 'आत्मा' को, 'दूसरे' से कम जानना, दूसरे के अधीन जानना, यही दुःख है। 'पराधीन सपनेहु सुख नाहीं'। अपने को दूसरे से बड़ा जानना, अनुभव करना, यही सुख है। अपने को अपनी ही पूर्वावस्था से अब अधिक संपन्न जानना—किसी भी बात में, बल में, विद्या में, रूप में, स्वास्थ्य में, धन में, आभिजात्य में, ऐश्वर्य में, सम्मान में, इत्यादि—यह सुख है। इसके विरुद्ध—दुःख है। 'अहं स्याम्, बहु स्याम्, बहुधा स्याम्' यही तीन एषणा (लोक, वित्त, दार-सुत) का रूप है। एषणापूर्त्ति, इच्छापूर्त्ति, से 'अहम्' की वृद्धि और सुख; अन्यथा दुःख। अपने को सबसे बड़ा जानना, 'भूमा', 'भूयिष्ठ', 'महतो महोयान्' क्या 'महिष्ठ', अनादि, अनंत, अपरिमेय, अप्रमेय, अजर, अमर, नितांत आत्मवश, स्ववश, स्वाधीन, स्वतंत्र जानना—यह ब्रह्मानंद, ब्रह्मसुख। पर यह सुख तो 'शांति' है, क्योंकि निरपेक्ष, अपेक्षातीत, है। और जिसको हम लोग 'सुख' जानते-मानते हैं वह सापेक्ष है। जैसा अभी कहा, दूसरे से, या अपनी पूर्वावस्था से, 'अधिकता' का अनुभव है। यह सब व्यावहारिक औपाधिक जीवात्मा के सुख, उस त्रिकालक्रमातीत पारमार्थिक पारमात्मिक सुख के क्रमिक 'आभास' हैं। 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'। इन क्रमिक वृद्धि-रूप सुखों के अभिव्यंजन के लिये क्रमिक ह्रास-रूप दुःखों का भी माया से देख पड़ना आवश्यक है। जैसा फ़ारसी में कहा है—'सुबूति शै ब ज़िदि शै'—किसो भी वस्तु का निरूपण उसके प्रतिद्वंद्वी से होता है। बिना उजेला का अँधेरा नहीं जान पड़ता, बिना अँधेरा के उजेला नहीं; बिना सुख के दुःख नहीं, बिना दुःख के सुख नहीं। सुख से देह उपचित, वर्द्धित, पुष्ट होता है। वर्द्धन, उपचय, पुष्टि से सुख। एवं, अपचय से दुःख, दुःख से अपचय, क्षय। अस्तु।

राग के तीन भेद होते हैं, तथा द्वेष के भी—

गुणाधिका'न्मुदं' लिप्सेद्, 'अनुक्रोशं' गुणाधमात्।
'मैत्रीं' समानादन्विच्छेन्, न तापैरभिभूयते॥

महतां 'बहुमानेन', दीनानां 'अनुकम्पया'।
'मैत्र्या' चैवात्मतुल्येषु, यमेन नियमेन च ॥ इत्यादि। (भागवत)

समः समानोत्तममध्यमाधमः।
सुखे च दुःखे च जितेन्द्रियाशयः ॥

'दयां' 'मैत्रीं' 'प्रश्रयं' च भूतेष्वद्धा यथोचितम् ॥ (भागवत)
दीनेषु 'दयाम्', समेषु 'मैत्रीम्', उत्तमेषु 'प्रश्रयम्'। (श्रीधरी टीका)

मैत्री करुणा मुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्। (योगसूत्र)

अकृ'त्वेर्ष्यां' विशिष्टेषु, हीनान'वमान्य' च।
अकृत्वा सदृशे 'स्पर्धां', त्वं लोकोत्तरतां गतः ॥ (महाभारत)
स तुल्यातिशयध्वंसं यथा मण्डलवर्त्तिनाम्। (भागवत)
तुल्ये 'स्पर्धा', अतिशये 'असूया', ध्वंसालोचने 'भयम्'। (श्रीधरी)

तथा दोषाः। तत्त्रैराश्यम्। रागद्वेषमोहार्थान्तर्भावात्। रागपक्षः कामो, मत्सरः, स्पृहा, तृष्णा, लोभ इति। द्वेषपक्षः क्रोधः, ईर्ष्या, असूया, द्रोहोऽमर्ष इति। मोहपक्षः मिथ्याज्ञानं, विचिकित्सा, मानः, प्रमाद इति। आसक्तिलक्षणो रागः, अमर्षलक्षणो द्वेषः, मिथ्याप्रतिपत्तिलक्षणो मोहः। (न्याय-भाष्य)

मानसास्तु आधयः क्रोध-शोक-भय-हर्ष-विषादेर्ष्याऽभ्यसूया-दैन्य-मात्सर्य-काम-लोभप्रभृतयः इच्छा-द्वेषभेदैर्भवन्ति। (सुश्रुत)

इन सब विषयों पर मेरे लिखे अँगरेजी ग्रंथ 'दि सायंस आफ दि इमोशंस' में विस्तार से विचार किया गया है। यहाँ इन उद्धरणों का पूरा हिंदी-अनुवाद करने से विशेष लाभ नहीं। निष्कर्ष, निचोड़, इतना ही है कि अपने से 'विशिष्ट' 'उत्कृष्ट' जीव की ओर 'राग' का नाम है 'संमान', 'बहुमान', 'आदर', 'प्रश्रय', 'मुदिता', 'पूजा' आदि। 'समान' की ओर 'मैत्री', 'प्रेम', 'अनुराग', 'स्नेह', 'प्रीति', 'सख्य' आदि। 'हीन' की ओर 'दया', 'करुणा', 'अनुकंपा', 'अनुक्रोश' आदि। ऐसे ही 'द्वेष' के भेद। विशिष्ट की ओर 'भय', 'मत्सर', 'असूया', 'ईर्ष्या' आदि। 'तुल्य' की ओर 'क्रोध', 'कोप', 'रोष' आदि। 'हीन' की ओर 'दर्प', 'गर्व', 'अभिमान', 'अवमान', 'अपमान', 'तिरस्कार', 'घृणा' आदि।

प्रसिद्ध 'षड्रिपु', 'अंतरारि' भी इन्हीं दो राशियों में बँटेंगे। (प्रश्रय-स्थानीय) लोभ, काम; (करुणा-स्थानीय) मोह; (भय-स्थानीय) मत्सर, क्रोध; (तिरस्कार-स्थानीय) मद।

अब देखना चाहिए कि साहित्यशास्त्र के ग्रंथों में नौ रसों के मूल जो नौ स्थायीभाव कहे हैं, उनका इस आदिम द्वंद्व राग-द्वेष और तदुत्थ त्रिक-द्वय से कुछ संबंध है या नहीं। क्रम से 'स्थायी भाव' और 'रस' ये हैं—

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेत्थं अष्टौ प्रोक्ताः शमोऽपि च ॥

श्रृङ्गार-हास्य-करुणा-रौद्र-वीर-भयानकाः ।
बीभत्सोऽद्भुत इत्यष्टौ रसाः शान्तस्तथा मतः ॥
रसावस्थं परंभावः स्थायितां प्रतिपद्यते ॥
विभावेनानुभावेन व्यक्तः सञ्चारिणा तथा ।
रसतामेति रत्यादिः स्थायिभावः सचेतसाम् ॥ (साहित्य-दर्पण)

नौ रस 'शृंगार' आदि के नौ स्थायी भाव 'रति' आदि हैं । 'स्थायी भाव' ही विशेष अवस्था में 'रस' हो जाता है ।

थोड़ी-सी सूक्ष्मेक्षिका से देख पड़ता है कि 'काम' के स्थान में 'रति', 'दर्प' के स्थान में 'हास', 'दया' के स्थान में 'शोक', 'घृणा' का पर्याय ही 'जुगुप्सा' है । 'क्रोध' और 'भय' तो बिना रूपांतर-शब्दांतर के ही कहे गए हैं । बचे उत्साह, विस्मय और शांत । इनकी परीक्षा करनी चाहिए । पर इसके पहले 'हास' के विषय में कुछ आलोचना उपयुक्त होगी ।

बिना 'दर्प' की कुछ मात्रा के 'हास' नहीं होता । दूसरे को 'बेवकूफ़ बनाना', अपने को 'होशियार बनाना'—यह हँसी का प्रधान अंग प्रायः देख पड़ता है । तीव्र होने से कुरस हो जाता है, ललित होने से सुरस । हँसना—यह हर्ष का, सुख का, मानो उबाल है, उमड़ पड़ना है । किसी दूसरे को अपने से छोटाई देखकर, अपनो 'अहंता' की, 'अहंकार' की, सद्यः और अतिमात्र 'वृद्धि' से जो हर्ष होता है, वह हर्ष 'अमान्तमिवाङ्गेषु', मानो अपने अंगों में न अमा सकने के कारण 'हास' होकर बाहर निकल पड़ता है । इसका प्रतियोगी, दुःख से अपनी छोटाई का सद्यः अतिमात्र अनुभव करके 'सिसकना' है । ये दोनों 'अनुभाव' पशुओं में नहीं देख पड़ते । मनुष्य 'विज्ञातं विजानाति', 'अहम्' को जानता है, इसलिये 'अहंता' के सद्योवृद्धि और सद्योह्रास से दर्प और शोकसंबंधी 'अपने ऊपर मुदिता' और 'अपने ऊपर करुणा' के उद्गार-रूपी हास और गद्गद रोदन के अनुभावों का आधार होता है । हास का मूल 'अहम्' वृद्धि, दर्प, गर्व है । इसीसे पुराणों में कहा है—नारायणः पातु च माऽऽपहासात् । मा = माम् । 'देवी भागवत' में कथा है—नारायण 'ऋषि' तपस्या करते थे । विघ्न करके इंद्र ने उर्वशी की प्रधानता में सोलह सहस्र एक सौ अप्सराएँ भेजीं । नारायण उनको देखकर 'हँसे', और अपने ऊरु, जाँघ, पर हाथ मारा । नई 'उरु-अशो' और सोलह सहस्र एक सौ अप्सराएँ निकल आईं । पुरानो उवशी खिसियाइं, शरमाईं; पर नारायण के सिर हो गईं—'जैसे हो तैसे हम सबसे ब्याह करो' ! बड़े असमंजस में पड़े । पछताने लगे—क्यों मैंने 'स्मय', 'स्मित', 'हास', 'अपहास' किया, फल भोगना ही पड़ेगा । ईश्वरैरपि भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् । फिर 'ईश्वर' का कर्म ! एक आँख को पलक मारने में भारी गुण-दोष उत्पन्न हों ! 'बहुत अच्छा, अब इस मेरे रूप पर तो दया करो, तपस्या पूरी कर लेने दो, कृष्णरूप से जब अवतार लूँगा तब तुम सब भी वहीं आना, सबसे ब्याह कर लूँगा' । ऐसा ही हुआ । और कृष्ण जी को महागृहस्थी को भारो झंझट उठानी पड़ी, जिसका रोना वे नारदजो से रोए । (महाभारत, शांतिपर्व, अध्याय ८१)

नारायणजी को स्वयं अपहास के दुष्फल का अनुभव हो चुका है, इससे वे दूसरों को उससे बचाने में अधिक रस से दत्तचित्त होंगे। इसलिये उन्हीं से यह प्रार्थना विशेषेण की जाती है कि अपहास से बचाइए।

अपहास से कितनी लड़ाइयाँ हो जाती हैं यह प्रसिद्ध है। 'हास' को एक प्रकार से 'मिश्र' रस कह सकते हैं। रागपक्ष में भी पड़ता है, द्वेषपक्ष में भी। थोड़ा भी दर्पांश अधिक होने से 'अवहास' 'अपहास' होकर द्वेषपक्ष अधिक देख पड़ने लगता है। परस्पर प्रीतिपूर्वक कृत्रिम दर्प का प्रदर्शन ही जब तक है तब तक 'हास' रागपक्ष में रहता है।

जैसे 'रति' के स्थान में 'समान' की ओर 'काम', और 'करुणा' के स्थान में 'हीन-दीन' की ओर 'दया', वैसे ही 'विशिष्ट' की ओर यदि 'भक्ति'-रस माना जाय तो उसका स्थायी भाव अमिश्र 'सम्मान' 'पूजा' होगा। 'विस्मय' इसके पास पहुँचता है, पर उसमें कुछ मिश्रता जान पड़ती है। यदि 'वात्सल्य' रस माना जाय तो उसका स्थायी भाव शुद्ध अमिश्र 'दया' होगी। 'करुणा' और 'वात्सल्य' में इतना ही भेद है कि 'करुणा' में दयापात्र में शोक की और दयालु में अनुशोक—अनुकंपा—की मात्रा अधिक है, और वत्स तथा वत्सल में बीजरूपेण ही है।

'उत्साह', 'विस्मय' और 'शांत' पर अब कुछ विचार करना चाहिए—

पदे पदे सन्ति भटा रणोद्भटा न तेषु हिंसा रस एष पूर्यते। (नैषध)

केवल लड़ने की खुजली--यह वीरता नहीं है, प्रत्युत हिंसारस और हिंस्रपशुता है। सद्-उद्देश्य से धर्मयुद्ध करना ही 'शूर-वीर' का लक्षण है। 'तपः क्षत्रस्य रक्षणम्', 'क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः', 'तिमिरकरिमृगेन्द्रं बोधकं पद्मिनीनां सुरवरमभिवन्दे सुन्दरं विश्ववन्द्यम्'। दीन-दुर्बल की रक्षा के लिये, दया से प्रेरित होकर, धर्मपालनार्थ, दुष्ट-दमन के 'उत्साह' से ही युद्ध करना 'वीरता' है। तो यह जो 'उत्साह'-पद से स्थायी भाव कहा गया, इसमें दुष्टों पर 'क्रोध' और उनका 'तिरस्कार' (वीरों की 'गर्वोक्ति' प्रसिद्ध है, जो 'विकत्थन' से बहुत भिन्न है) तथा दीनों पर 'दया'—इन तीन भावों का मिश्रण है।

ऐसे ही 'वि-स्मय' का अर्थ है 'स्मय' का, गर्व का, विरुद्ध भाव—अर्थात् एक प्रकार की नम्रता। इसमें अपनी लघुता और अल्पशक्तिता के अनुभव के साथ-साथ 'विस्मय' के विषय की ओर 'भय' और 'आदर' के बीच की अनिश्चितता की अवस्था मिली है। जैसे 'रत्नाकर' 'महोर्मिमाली' समुद्र में, 'अति-रम्य' और 'अनाक्रमणीय' हिमालय में, भीम गुण और रुचिर गुण एकत्र हैं।

'राग-द्वेष' दोनों का विरोधी जो भाव है उसी का नाम 'शम' है। 'मुनयः प्रशमायनाः'।

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत॥

शंका हो सकती है कि राग-द्वेष बिना स्थायी भाव क्या, कोई भी भाव--संचारी, व्यभिचारी, अस्थायी भी नहीं, फिर रस कहाँ? समाधान यही है कि निवृत्ति-मार्ग भी क्रमिक है। सद्यो विदेहमुक्ति की कथा न्यारी, उसमें न शम का अवसर है न शांतरस का। क्रमिक निवृत्ति और जीवन्मुक्ति में

'वैराग्य' 'वैद्वेष्य' क्रम से बढ़ता जाता है। उसके साथ-साथ सांसारिक भावों और रसों के विरोधी भावाभास और रसाभास भी, और पारमार्थिक परमानंद 'महाभाव' का साथी, तात्त्विक 'रसधन' का 'रस', 'सर्वभूतेषु भक्तिरव्यभिचारिणी' का 'रस' अनुभूत होता है। इस महारस में अन्य सब रस देख पड़ते हैं, सबका समुच्चय है। श्रेष्ठ और प्रेष्ठ अंतरात्मा परमात्मा का (अपने पर) परम प्रेम, महाकाम, महाश्रृंगार ('अकामः सर्वकामो वा', 'मानभूवं हि भूयासमिति प्रेमात्मनीद्यते'), संसार की विडंबनाओं का 'उपहास', संसार के महातमस् अंधकार में भटकते हुए दीन जनों के लिये 'करुणा' ('संसारिणां करुणयाऽऽह पुराणगुह्यम्'), षड्रिपुओं पर क्रोध ('क्रोधे क्रोधः कथं नते), इनको परास्त करने, इंद्रियों की वासनाओं को जीतने, ज्ञान-दान से दीन भ्रांत जनों की सहायता करने के लिये 'उत्साह' ('युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनः', ईश्वरस्य...भूतानुग्रह एव प्रयोजनम्', 'नमो महाकारुणिकोत्तमाय'), अंतरारि षड्रिपु कहीं असावधान पाकर विवश न कर दें—इसका 'भय' (सर्वं वस्तु भयान्वितं जगति रे, वैराग्यमेवाभयम्', अन्धकारे प्रवेष्टव्यं दीपो यत्नेन धार्यताम्', 'भयानां भयं भीषणं भीषणानाम्', 'भीषाऽस्माद्वातः पवते, भीषोदेति सूर्यः', 'नरः प्रमादो स कथं न हन्यते यः सेवते पञ्चभिरेव पञ्च'), इंद्रियों के विषयों पर और हाड़-मांस के शरीर पर 'जुगुप्सा' ('...मुखं लालाक्लिन्नं पिबति चषकं सासवमिव ... अहो मोहान्धानां किमिव रमणीयं न भवति', 'स्थानाद् बीजाद् उपष्टम्भान् निस्स्यन्दान् निधनादपि, कायमाधेयशौचत्वात्पण्डिता ह्यशुचिं विदुः', 'अस्थिस्थूणं स्नायुयुतं मांसशोणितलेपनम्, चर्मावनद्धं दुर्गन्धिपूर्णं मूत्रपुरीषयोः, जराशोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम्, रजस्वलमिमं देहं भूतावासमिमं त्यजेत्'), और क्रीडात्मक, लीलास्वरूप, अगाध अनंत जगत् का निर्माण विधान करनेवाली परमात्मा की (अपनी ही) माया-शक्ति पर 'महाविस्मय' ('त्वमेवैकोऽस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयम्भुवः, अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्यतत्त्वार्थवित् प्रभो')—सभी तो इस 'शांत' रस के रसन में अंतर्भूत हैं।

विषय का विस्तार बहुत हो सकता है, पर 'विस्तरेणालम्'। संक्षेप से अभिप्राय यह है कि नौ रसों में दो राशि अथवा जाति तीन-तीन शुद्धप्राय रसों (और स्थायी भावों) की और एक राशि तीन मिश्र रसों की होती है। साहित्यशास्त्र के ग्रंथों में संचारी-व्यभिचारी भावों की राशियाँ अलग कर दी गई हैं, पर उनमें से प्रत्येक—यदि सूक्ष्मेक्षिका से देखा जाय तो जान पड़ेगा कि—राग-द्वेष के भाव (इच्छा) को और उत्तम, मध्यम (सम) तथा अधम के ज्ञान की वृत्तियों के संकर से उत्पन्न होता है, और प्रत्येक को स्थायी बनाकर उससे जनित एक रस माना जा सकता है। इस दृष्टि से, यदि असंकीर्ण-प्राय भावों के बोधक शब्दों में मूल स्थायी भावों की गणना इष्ट हो तो, स्यात् ऊपर के उद्धृत श्लोक को यों पढ़ना अनुचित न हो—

कामो दर्पो दया क्रोधो रक्षा गर्वो भयं तथा।
घृणाऽऽदरौ विरक्तिश्च स्थायिभावा मता इमे॥

'दर्प' अर्थात् 'अहंकार' 'अस्मिता' की मात्रा निसर्गतः कइयों में क्या, अध्यात्मदृष्टि से सबमें, अनुस्यूत है। काम का पर्याय 'कंदर्प' है। 'कं दर्पयति, अथवा कं न दर्पयति इत्यपि'। काम किसके दर्प को रहने देता है? सबको नीचा दिखाता है; तथा किसके दर्प को एक बेर नहीं बढ़ा देता, किसको उद्धत नहीं

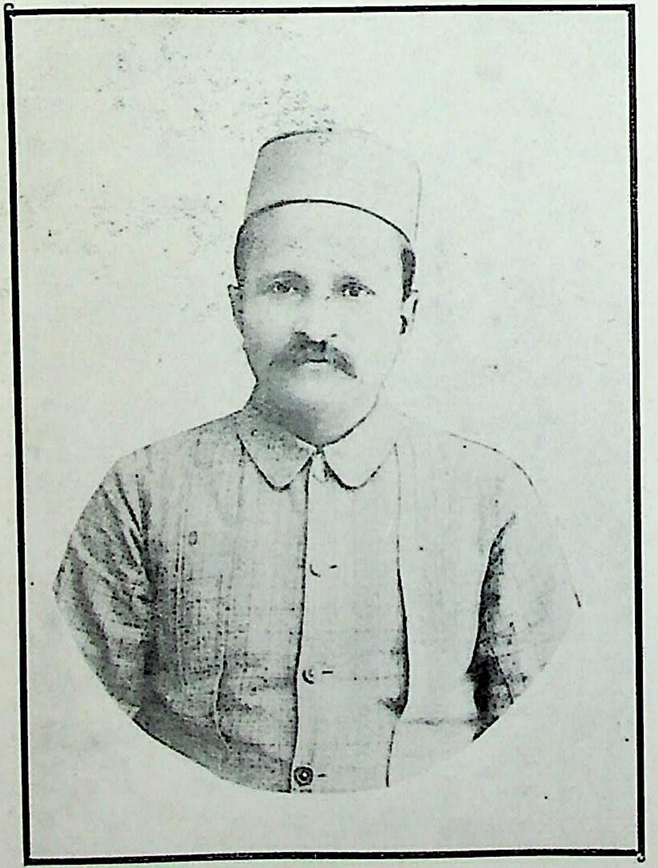

स्वर्गीय पंडित श्रीधर पाठक

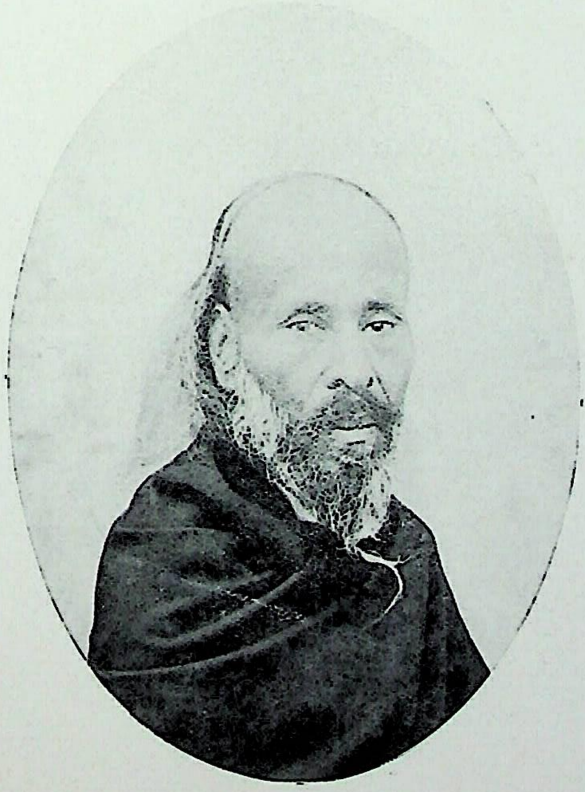

पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

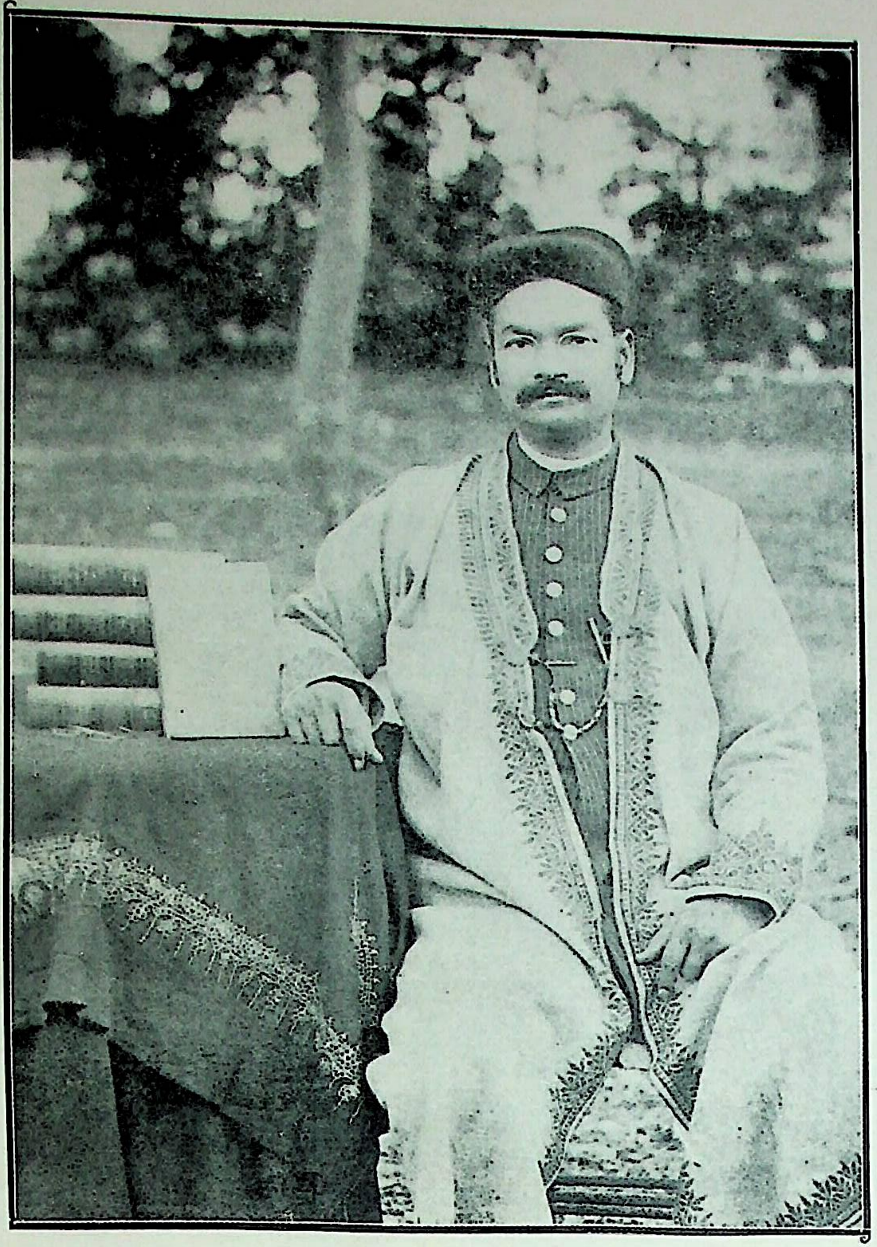

स्वर्गीय राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'

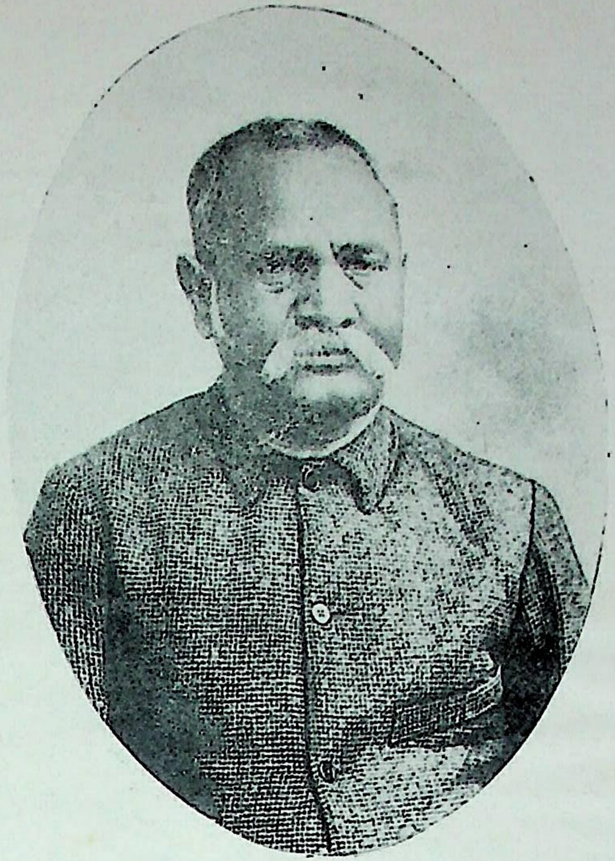

स्वर्गीय पंडित नाथूराम शंकर शर्मा

कर देता ? हास के दर्प की कथा ऊपर कही गई। दया करुणा में भी, दूसरे की सहायता करने की शक्ति मुझमें है—ऐसा सात्विक दर्प छिपा है, जैसे काम में तामस, हास में राजस, अपहास अतिहास में तामस-राजस, स्मित हसित विहसित में सात्विक राजस। क्रोध में भी शक्ति-सामर्थ्य जब है तब दर्प उपस्थित है। उत्साह में दीन की रक्षा की शक्ति और दुष्ट के तिरस्कार से अवश्य दर्प की सात्विक मात्रा है। भय में अहं का, अस्मिता का, राजस-तामस रूप है। पर की घृणा में अपने उत्कर्ष का अनुभव स्पष्ट है। आ-दर, वि-स्मय शब्दों की व्युत्पत्ति से ही जान पड़ता है कि उनमें भय और पूजा के भाव मिले हुए हैं। ईषद्दरः, भयं, आदरः। विगतः स्मयो यस्मात्, अथ च विशिष्टः स्मयः। यदि द्वंद्व, जोड़ा, करना चाहें तो स्यात् यों बैठेंगे—शृंगार-रौद्र (काम-क्रोध), हास्य-करुणा (हर्ष-शोक, दर्प-दैन्य, तिरस्कार-दया), वीर-भयानक (सामर्थ्य-गर्व—असामर्थ्य-भय, उत्साह-अवसाद), बीभत्स-अद्भुत (घृणा-बहुमान)। इन सबके अध्यात्म की चर्चा विस्तार से मेरे अँगरेजी ग्रंथ 'दि सायंस आफ दि इमोशंस' में की गई है।

रसों के मिश्रण के विषय में ग्रंथकारों ने लिखा है कि इन-इन रसों का साथ है, यह-यह विरोधी हैं, इन-इनका संकर कविता में न करना चाहिए, इन-इनका संकर हो सकता है और उचित है। ठीक है। पर परमेश्वर के इस जगद्रूप अनंत नाटक में सभी रसों का प्रतिपद संकर देख पड़ता है। सौहित्य में लवण और मधुर का संकर वर्जनीय है। अम्ल के साथ मीठा भी चलता है, खट्टा भी। पर नमक और शक्कर एक में मिलाने से दुस्स्वाद होता है और वमन करा देता है। पर उत्सर्ग के अपवाद भी होते ही हैं। आम की 'मीठी खटाई' बनाने में नमक भी डाला जाता है और गुड़ भी। हाँ, अग्नि से अचार सिद्ध किया जाता है, या धूप से 'सिझा' लिया जाता है। ऐसे ही, साहित्य में 'भयानकेन करुणेनापि हास्यो विरोधभाक्'। पर जीवज्जगन्नाटक में सबका संकर बहुधा देख पड़ता है।

कई वर्ष हुए, माघ-मेला के दिनों में, 'छोटी लाइन' की रेलगाड़ी सबेरे के समय बनारस से चली। गंगा का पुल पार करके, प्रयाग में दारागंज के स्टेशन पर ठहरी। भीड़ उतरी। एक 'टिकट-कलक्टर' ने, टिकट जाँचते हुए, एक डब्बे में से एक स्त्री और तीन बच्चों को उतारा।

'एक टिकट में चार आदमी जाना चाहती है ?'

'सयाने कर टिकट लगत हौ, ई तीन तो बच्चा हैं, माफ हैं, इनकर टिकट नाहीं लगी।'

'कैसे न लगेगा ? इनमें से दो तो जरूर तीन बरस से ज्यादा हैं, आठ और दस बरस के मालूम होते हैं, तीसरा भी चार-पाँच का नजर आता है। तुमको सबके लिये अद्धे टिकटों के दाम देने पड़ेंगे, नहीं तो जुर्माना और कैद भुगतना पड़ेगा।'

टिकट-कलक्टर ने स्त्री को बहुत 'डाँटना-धमकाना' शुरू किया। वह बहुत छोटे कद की थी। जाड़े का दिन, सबेरे का समय, गंगा-किनारे के मैदान की ठंढी और तेज हवा। उसके तन पर केवल एक फटी धोती थी। बच्चे भी ऐसे ही फटे-पुराने कपड़ों में लिपटे थे। टिकट-कलक्टर आज-कल अँगरेजी वर्दी पहनते हैं, उनमें रोब अधिक होता है। पहले तो स्त्री डरी, घबराई; फिर बच्चों को देखकर उसको 'क्रोध' और 'उत्साह' हुआ। जरा-सी ठिंगनी स्त्री ने हैट-कोट-बूट-पतलूनधारी शानदार लंबे-चौड़े टिकट-कलक्टर को सिंही के ऐसा उलटा डपटना-घुड़कना शुरू किया।

'तूँ हम के जर्बाना कैद करके का पैबा ? एक ठे इहै फटहो लुगरो मोरे तन पर बाय, तोहार मन होय तो एहू के उतार ला। केहूँ भाँत तीन ठे बच्चन के जियाईला, से जर्बाना करिहैं, कैद करिहैं! और जो तूँ कहा ला कि तीन बरस से जास्ती होवैं, सो बरस-ओरस का कायदा नाहीं हौ। कायदा हौ कि खिरकी से ऊँचा न होय। सो नाप ला कि इनमें से कोई खिरकी से ऊँचा हौ।'

देखनेवाला 'डर' रहा था कि कहीं टिकट-कलकूटर महाशय इन सब बेचारों को स्टेशन पर रोक ही न लें। (स्त्री और बच्चों को अगले स्टेशन पर उतरना था, पर वहाँ के भी टिकट इसी स्टेशन पर ले लिए जाते थे, और देखनेवाले को भी अगले स्टेशन तक, जहाँ 'लाइन' समाप्त होती है, जाना था)। वह कहना ही चाहता था कि मुझसे टिकटों का दाम ले लो कि टिकट-कलकूटर की मनुष्यता ने जोर किया, खिरकीवाली दलील पर 'हँस' पड़ा, माता के हृदय को पहचाना, उसके 'वात्सल्य' के ऊपर कायल हुआ, उन सबकी अतिदीन 'करुण' अवस्था पर 'दया' आई। कहा—'जा भाई, जा, ('बहिना' कहना चाहिए था, पर इसकी चाल कम है!) अपने बच्चों को लेकर डब्बे में जा बैठ।'

स्त्री, 'मुस्कुराती' भी और 'बड़बड़ाती' भी, बच्चों को लेकर गाड़ी में जा बैठी।

देखनेवाले के चित्त में टिकट-कलकूटर के 'रौद्र' आरम्भ, स्त्री के 'भय', 'उत्साह' और 'वीरता', 'करुण दशा', 'मातृवात्सल्य', दलील पर 'हास', पृथ्वी पर अधिकांश मानवों की अन्न-वस्त्र के विषय में भी घोर दुर्दशा पर ग्लानि और 'बीभत्सा' भी, तथा ईश्वर के 'अद्भुत' नीतिदारिद्र्य अथवा दारिद्र्य-नीति पर 'विस्मय' 'आश्चर्य', और अंततः संसार की लीला का विचार करके 'शांति'—सभी रसों का संकर हो गया! जान पड़ता है कि परमात्मा करुण रस के आस्वादन के लिये ही रौद्र, भयानक आदि उत्पन्न करता है।

स्वशान्तरूपेष्वितरैः स्वरूपैरभ्यर्च्यमानेष्वनुकम्पितात्मा।
परावरेशो महदंशयुक्तो ह्यजोऽपि जातो भगवान्यथाग्निः॥ (भागवत)

गाँवों की स्त्रियों के गीतों में, एक-एक कड़ी में जितना करुण रस भरा रहता है—क्योंकि अपने अपरोक्ष घोर अनुभव पर आधृत होता है, उतना स्यात् आर्ष काव्यों को छोड़कर अर्वाचीन काव्यों में, 'उत्तररामचरित' में भी, कठिनाई से मिलेगा।

फटही लुगरिया एकै मोरा रे पहिरनवाँ,
ओहू में देवरवा की भगहिया, मोरे बीरन्।

वर्षों का घोर दारिद्र्य-दुःख, अन्नवस्त्र का दैनंदिन महाकष्ट, इन दो पंक्तियों में से उबल कर बह रहा है!

अहह, वेद्मि यतोऽसि जनार्दनो, ननु जगज्जनकोऽपि भवन्भवान्।
स्रवति नाति पयो जननीस्तनाद् यदि न रोदिति वेदनयाऽर्भकः॥
परमनाटककृत्करुणारतिर्भृशतरं ननु रौद्रमचीकरः।
उदयतेऽति विनाऽदयमर्दनं न ननु दीनजने दयनीयता॥

अपि रसेषु रसः करुणो वरो, ह्यपि भवान् रसिकोऽसि रसे वरे।
अपि ततो जगतां जनकोऽपि सन् भवसि निर्दय एव जनार्दनः ॥

हाँ, ग्रामगीतों में शब्द-अर्थ का परिष्कार-अलंकार न हो, पर—

अस्ति चेद्रससम्पत्तिः अलङ्कारा वृथा इव।
नास्ति चेद्रससम्पत्तिः अलङ्कारा वृथैव हि ॥

अच्छा, यह हुई जीवज्जगन्नाटक में रस-संकर की कथा। लिखित काव्य की कथा देखिए। 'भट्टिकाव्य' का प्रथम श्लोक है—

अभून्नृपो विबुधसखः परन्तपः
श्रुतान्वितो दशरथ इत्युदाहृतः।
गुणैर्वरं भुवनहितच्छलेन यं
सनातनः पितरमुपागमत् स्वयम् ॥

सनातन पुरातन पुरुष, अतिवृद्ध (कालेनानवच्छेदात्), 'शांत'-रसाधिष्ठाता, ब्रह्मांडपति, अतिविस्तृत संसार के असंख्य जीवों के निग्रहानुग्रह प्रग्रह संग्रह की और कर्मफलदान की अपरिमेय चिंता करते-करते थक गए, उबियाय (उद्विग्न हो) गए। यह सब चिंता दूर फेंककर, एक बेर मन भर, कैसे खेल लें—यह उत्कट अभिलाषा उठी। 'अश्वैः यानं यानं, दुग्धैः पानं पानं, बालैर्लीला लीला।' आप छोटे बच्चे हो जायँ और दूसरे बच्चों का साथ भी हो, तब दूसरों के माथे भर पेट खेलते-कूदते बने। पर सब माता-पिता एक-से नहीं होते, कोई-कोई तो बच्चों की डाँट-घोंट भी किया करते हैं। और पुरुष-पुरातन के माता-पिता होने के लिये ऐसे-वैसे जान भी नहीं चाहिएँ, सर्वोत्कृष्ट ही हों। तो ऐसे माँ-बाप ढूँढ़ना चाहिए जो अच्छे से अच्छे हों; सारी पृथ्वी के आदरणीय, पूजनीय हों और बच्चों पर खूब 'निहाल' भी हों। चारों ओर देखा। करीब-करीब अपने ही इतने बूढ़े कौशल्या-दशरथ देख पड़े। श्रुतान्वित, सर्वज्ञप्राय; और ज्ञानी ही नहीं, बड़े धर्मी कर्मी; क्षत्रियधर्म, राजधर्म के अनुसार परंतप, बड़े शूर-वीर, प्रतापी; दुष्ट शत्रुओं का दमन करनेवाले। वह भी ऐसे-वैसे तलवार चलानेवाले नहीं, विबुधसख—इस उच्च कोटि के अस्त्र-शस्त्र का प्रयोग करनेवाले कि इंद्र भी उनसे मित्रता खोजते थे और देवासुर-संग्रामों में सहायता माँग लिया करते थे। गुणैर्वर, सब श्रेष्ठ-वरिष्ठ गुणों से विभूषित। और नृप, पृथ्वी के प्रजापालक सम्राट्। महासमृद्धिशाली, जिनके यहाँ मक्खन-मिसरी की कमी नहीं, जो लड़कों को बहुत प्रिय भी है और बहुत उपकारक भोज्य सार भी। और सर्वोपरि यह कि उनके संतान नहीं, और संतान के लिये रात-दिन तरसते हैं। बूढ़े आदमी, अपनी आजन्म की बटोरी अक्ल को फेंककर, बेवकूफ होकर, बच्चों पर 'छछाते' हैं, और उनको मनमानी तोड़-फोड़ फेंक-फाँक करने देते हैं। तो, बस, इन्हीं की गोद में जन्म लेना और इनके सिर पर खूब खेलना। साथी बच्चे कहाँ से आवें? अपने चार टुकड़े कर डाले। लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न के साथ रामजी कौशल्या-दशरथ के घर आए। पुराण-पुरुष खेलने चले, लोग हँसेंगे। कोई बहाना निकालना चाहिए। तो 'भुवनहितच्छलेन' राक्षसों को दूर करके संसार का उपकार करेंगे, आसुरी संपत् को हटाकर दैवी संपत् का पुनः भारतवर्ष में उज्जीवन करेंगे।

बहुत अच्छा, भारत-जनता के हृदय में घर-घर अवतार लेकर बहाने को जल्द सच्चा कीजिए। अवतारों को 'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्' सब विरुद्ध प्रकारों के महाकार्य करने पड़ते हैं, इससे उनके महाचरितों में सभी 'रस' एकत्र देख पड़ते हैं। बाललीला और विबुधसखित्व में ललिततम 'शृंगार' की झलक; माता-पिता के संबंध में 'वात्सल्य' और 'बहुमान'; परंतपता में 'वीर', 'रौद्र', 'भयानक' और रणभूमि की युद्धानंतर 'बीभत्सता'; सनातन के पिता खोजने में और भुवनहितच्छल में 'हास्य' और 'अद्भुत'; सनातनता में 'शांति'—सभी एकत्र हैं। कृष्णावतार का भी श्लोक है—

मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्त्तिमान,
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः।

मृत्युर्भोजपतेर्विराड्विदुषां तत्त्वं परं योगिनाम्,
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गङ्गतः केशवः॥ (भागवत)

रौद्रोऽद्भुतश्च शृङ्गारो हास्यो वीरो दया तथा।
भयानकश्च बीभत्सः शान्तः स प्रेमभक्तिकः॥ (श्रीधरी)

'सोऽयमात्मा सर्वविरुद्धधर्माणामाश्रयः', 'यस्मिन् विरुद्धगतयो ह्यनिशं पतन्ति', 'तस्मै समुन्नद्धविरुद्धशक्तये नमः परस्मै पुरुषाय वेधसे', 'यदविद्या च विद्या च पुरुषस्तूभयाश्रयः'—(भागवत); 'आत्मरतिरात्मक्रीडआत्म-मिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति' (छान्दोग्य); 'स स्वराड् भवति य एवं वेद' (नृसिंहतापनी); इत्यादि।

आत्मनोऽन्यत्र यातु स्याद्रसबुद्धिर्न सा ऋता।
आत्मनः खलु कामाय सर्वमन्यत् प्रियं भवेत्।
सत्यो ध्रुवो विभुर्नित्य एक आत्म'रस'ः स्मृतः॥

इस 'रसमीमांसा' का निष्कर्ष यह होता है कि संसार-नाटक का लीला-बुद्धि से प्रवर्त्तन-निवर्त्तन और परमानंद-परमात्मानंद का आस्वादन—यह परमार्थ 'रस' है, और जीवात्मानंद के छः मुख्य तथा अवांतर असंख्य मिश्र स्थायी भावों का आस्वादन—यह काव्यसाहित्य में व्यवहृत स्वार्थ 'रस' है।

'कविं पुराणमनुशासितारम्,' 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः', 'अखिल कलादिगुरुर्ननर्त्त'।
सृष्टिस्थितिलयाभासं सन्ततं सकलं जगत्। लीलामयं सर्वरसं नाटकं परमं कवेः॥
कला लीलात्मिका व्यक्तिः लीला रसमयी क्रिया। स्वस्वभावविभूतीनामात्मना रसनं रसः॥
नमो रसानां धर्माणां शक्तोनामथ सर्वदा। अप्यत्यन्तविरुद्धानां द्वन्द्वानामाश्रयाय च॥
रसाय रससाराय तथा रसघनाय च। रसानां च निधानाय तथा रसतमाय च॥
रसानामपि सर्वेषां रसिकायै कलाय च। प्रेष्ठाय सर्वश्रेष्ठाय परानन्दस्वरूपिणे॥
जगन्नाटककाराय सर्वपात्रमयाय च। सर्वस्य सूत्रधारायाप्याद्याय कवये नमः॥

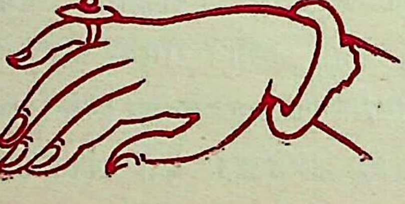

संस्कृत का वैज्ञानिक अनुशीलन

आचार्य विधुशेखर भट्टाचार्य

इसमें तो कोई संदेह नहीं कि भारतवर्ष में स्मरणातीत काल से संस्कृत का प्रचार है। ऐसे अनेक विद्वान् इस भाषा ने पैदा किए हैं जिनका प्रतिस्पर्धी मिलना असंभव है। फिर भी हमारा विचार है कि हमारी पाठ-शैली में कुछ संस्कार होना चाहिए। इस बात को थोड़े-से उदाहरण देकर यहाँ स्पष्ट किया जाता है।

किसी अति निपुण वैयाकरण से भी 'दृश्' धातु के वर्त्तमान काल के प्रथम पुरुष एकवचन का रूप पूछिए। वह झट उत्तर देगा—'पश्यति'। पर क्या यह ठीक है? 'दृश्' का 'द'कार 'प'कार कैसे हुआ? यह बात हजारों नैरुक्त मिलकर भी नहीं बता सकते। बात असल यह है कि 'पश्यति' 'दृश्' धातु का रूप नहीं है। यह दर्शनार्थक 'स्पश्' धातु का रूप है जिससे 'स्पश' 'स्पष्ट' और 'पस्पशा'—ये तीन रूप लौकिक संस्कृत में पाए जाते हैं। 'पस्पशे' 'पस्पशान' इत्यादि कई रूप वैदिक संस्कृत में भी मिलते हैं। इन प्रयोगों में 'स'कार का लोप क्यों हुआ, यहाँ विस्तार-भय से उसकी व्याख्या छोड़ देता हूँ। पाठक 'स्पर्ध्' धातु का 'पस्पर्धे' रूप देखकर उसके लोप-कारण का अनुमान कर सकते हैं।

'स्था' धातु से 'तिष्ठति', 'घ्रा' धातु से 'जिघ्रति', 'पा' धातु से 'पिबति' इत्यादि रूप बनते हैं। पर इनकी सिद्धि कैसे होती है? क्या कारण है कि ये धातु तत्तद् आकार को ग्रहण करते हैं। बात बड़ी सीधी है, पर पाणिनीय तंत्र में अतिनिष्णात अनेक विद्यार्थी भी शायद इसका उत्तर न दे सकेंगे। असल में बात यह है कि ये रूप उन्हीं धातुओं के अभ्यस्त रूप हैं। यहाँ इन धातुओं का अभ्यास वैसे ही हुआ है जैसे 'सन' प्रत्यय परे होने पर होता है। इसी तरह 'जक्ष' 'जागृ' 'दरिद्रा' 'चकास्' इत्यादि मूल धातु नहीं हैं, बल्कि 'घस्', 'गृ', 'द्रा' और 'कास्' धातुओं के अभ्यस्त रूप हैं जो धातुओं के तौर पर गृहीत हो गए हैं। 'वृध्' 'ऋध्' 'एध्'—ये तीनों भी अलग-अलग धातु नहीं, बल्कि एक ही 'वृध्' धातु के तीन रूप हैं। इसी प्रकार 'वृणोति' और 'ऋणोति' दो नहीं, एक ही हैं। 'वृषभ' और 'ऋषभ' तथा 'वृद्धि' और 'ऋद्धि' एक ही शब्द हैं। यह अत्यंत सामान्य-सी बात भी संस्कृत-पाठशालाओं के विद्यार्थी नहीं जानते।

हमारे शाब्दिकों का कहना है कि अपर शब्द का 'पश्च' आदेश होता है, फिर 'आत्' के आने पर 'पश्चात्' रूप सिद्ध होता है। फिर 'पश्चार्ध' रूप साधने के लिये 'पश्चात्' शब्द का 'पश्च' आदेश किया जाता है। पर आचार्यों का यह आयास वृथा ही है; क्योंकि असल बात यह नहीं है। मूलतः शब्द का रूप 'पश्च' ही है, उसी का पंचम्यंत रूप होता है 'पश्चात्'। यह अव्यय नहीं है। 'पश्चिम' शब्द भी 'पश्च' शब्द से ही सिद्ध होता है। इसी लिये 'अग्रादि पश्चाड्डिमच्' विधान निरर्थक है। 'बृहस्पति' शब्द को ही लीजिए। यह 'बृहत्+पति' से 'त'कार का लोप कर 'स'कार का आगम करके सिद्ध किया जाता है। किंतु वस्तुतः जिस प्रकार 'ब्रह्मणस्पति' 'वाचस्पति' 'दिवस्पति' इत्यादि शब्दों में 'ब्रह्मणः' 'वाचः' 'दिवः' षष्ठ्यंत पद हैं उसी प्रकार बृहस्पति शब्द का बृहः (बृहस्) भी हकारांत 'बृह' शब्द का षष्ठ्यंत रूप है।

इसी प्रकार 'चतिश्चदद्' पद के विद्यमान रहते हुए भी, तथा वेदों में 'सुश्चन्द्र' 'पुरुश्चन्द्र' 'विश्वश्चन्द्र' आदि शब्दों के पाए जाने पर भी, 'हरिचन्द्र' शब्द की व्युत्पत्ति में 'स'कार का आगम-विधान व्यर्थ ही है। 'श्चन्द्र' धातु के 'श्' का लोप होने ही से 'चन्द्र' धातु बनता है जिससे हमारा 'चन्द्र' शब्द बनता है। यहाँ कुछ विचारणीय है। 'चन्द्रमाः' और 'चन्द्र' पर्यायवाची शब्द हैं। अर्थ में कुछ भेद है। 'चन्द्र' का यौगिक अर्थ है 'उज्ज्वल' 'दीप्तिमान्'। मूलतः 'श्चन्दि' या 'चन्दि' धातु दीप्त्यर्थक ही था, पीछे से आह्लादनार्थक हो गया। 'मा' अर्थात् 'चन्द्र—हिमांशु'; क्योंकि उससे काल मापा जाता है (मीयते अनेन इति माः)। चंद्रमा के प्रत्यक्ष उदय और अस्त होने से उसके द्वारा सहज ही काल का निर्णय किया जा सकता है। अतएव प्राचीनों ने उसे 'माः' कहा है। इस प्रकार आरंभ में 'चन्द्र-माः' का अर्थ था 'उज्ज्वल चन्द्र', पीछे से केवल 'चन्द्र' अर्थ रह गया। 'माः' अर्थात् 'चन्द्र'—इसी लिये उसके संबंध से चैत्रादि भी 'मास' कहे गए।

वैयाकरणों का कहना है कि इष्ठादि प्रत्यय परे रहने पर प्रशस्य से 'श्रेष्ठ', प्रशस्य और वृद्ध से 'ज्येष्ठ', स्थूल से 'स्थविष्ठ', दूर से 'दविष्ठ', युवन् (युवा) और अल्प से 'कनिष्ठ', क्षुद्र से 'क्षोदिष्ठ', प्रिय से 'प्रेष्ठ' और स्थिर से 'स्थेष्ठ' शब्द सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार और भी। पर अर्थसाम्य को मानते हुए भी हम पूछते हैं कि प्रशस्य, वृद्ध, युवन् आदि शब्दों ने किस प्रकार श्र-ज्य-कन् आदि आकार धारण कर लिया? स्थूल, दूर, क्षुद्र, प्रिय आदि शब्दों के तत्तद् आकार धारण करने के विषय में भी हमारा यही प्रश्न है। वस्तुतः इष्ठादि प्रत्यय तद्धित के नहीं, कृदंत के हैं। ये प्रशस्य आदि प्रातिपदिकों के परे नहीं आते; आते हैं 'श्रि' आदि धातुओं के परे। इस प्रकार, श्रेष्ठ 'श्रि' धातु से, ज्येष्ठ 'ज्या' धातु से, कनिष्ठ 'कन्' से (इसी से 'कन्या' शब्द बनता है)' स्थविष्ठ 'स्थू' धातु से (इसी से 'स्थविर' आदि शब्द बनते हैं), दविष्ठ 'दू' धातु से (इसी से 'दूर' पद बनता है), क्षोदिष्ठ 'क्षुद्' धातु से, प्रेष्ठ 'प्री' धातु से, और स्थेष्ठ 'स्था' धातु से बनते हैं।

'उच्च-नीच' प्रसिद्ध है। नैरुक्तों का कहना है कि 'उच्चिनोतेः (अन्येभ्योऽपि दृश्यत इति ड प्रत्ययः) उच्चैस्त्वमस्त्यत्र वा (अर्श आदिभ्योऽच्)।' अर्थात् 'उत्'-पूर्वक 'चि' धातु से 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' सूत्र द्वारा ड प्रत्यय करके या 'अर्श आदिभ्योऽच्' सूत्र से—'जिसमें उच्चैस्त्व हो,' इस अर्थ में—'अच्' प्रत्यय करके इस शब्द की सिद्धि होती है। वे ही 'नीच' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार करते हैं—

'निकृष्टाम् ई लक्ष्मीं चिनोति' अर्थात् 'निकृष्ट ई (लक्ष्मी) का जो चयन करे' वह 'नीच' हुआ। अब इस पर क्या कहा जाय !

'उच्चावच' शब्द में आनेवाले 'अवच' शब्द को ही लीजिए। 'अवच' और 'नीच' शब्द एकार्थक हैं, फिर 'अवच' शब्द की निरुक्ति क्या है ? 'अवाक् अधो वा अञ्चतीति'—यहाँ अञ्च् के 'अ'कार का लोप हो गया है, इसका कुछ कारण आगे चलकर बताया जायगा। यहाँ पर तब तक इतना मान लीजिए कि यहाँ अञ्च् के 'अ'कार का लोप हो जाता है। यहाँ जैसे 'अव'-पूर्वक 'अञ्च्' या 'अच्' से 'अवच' बन गया है वैसे ही 'उत्'-पूर्वक उसी धातु से 'उदचम्' बनता है (स्मरण कीजिए—उदच्, उदक, उदीची (?) दिक्)। इसी तरह 'अ'कार के लुप्त होने से ('उत्'-पूर्वक 'अञ्च्' या 'अच्' से) 'उच्च' शब्द बनता है। 'नि'-पूर्वक 'अञ्च्' धातु से 'न्यक्' पद का बनना प्रसिद्ध ही है। इसी शब्द से 'अ' प्रत्यय परे होने पर (न्यच्+अ) 'नीच' पद बनता है। इसका क्रम यों है—'नि+अचम्'; इस प्रकार की स्थिति होने पर पहले की तरह 'अ'कार का लोप हो जाता है। इससे 'निचम्' प्रयोग बनता है। 'इ'कार का दीर्घ निम्नलिखित नियम से होता है। 'नि-अचम्'—इस प्रथमावस्था में तीन मात्राएँ होती हैं। 'अच्' के आदि 'अ'कार के लुप्त होने पर दो ही मात्राएँ रह जाती हैं। 'इ'कार के दीर्घ करने पर वह लुप्त मात्रा किसी तरह बच जाती है। इस प्रकार 'नीच' शब्द सिद्ध होता है। 'उच्च' शब्द में यह बात नहीं है; क्योंकि वहाँ 'उ'कार संयोग-पूर्वक होने के कारण गुरु और द्विमात्रिक है। इसी लिये वहाँ दीर्घ करने की कोई आवश्यकता न रही। तुलना कीजिए—द्वीपम् (द्वि+अपम्), प्रतीपम् (प्रति+अपम्), अनूपम् (अनु+अपम्), प्रतीचा (प्रति+अचा) इत्यादि। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए।

'अस्' धातु के तीन रूप होते हैं 'अस्ति, स्तः, सन्ति। यहाँ अंतिम दो पदों में 'अस्' के 'अ'कार का लोप दिखाई देता है। पर प्रथम में ऐसा नहीं है। इसका कारण यह है कि उदात्त स्वर अनुदात्त से बलवान् होता है। बलवान् ही सर्वत्र रह जाता है और प्रभावशाली होता है। बलवान् के समीप रहने पर दुर्बल पराभूत होता है; पराभूत होकर नष्ट भी हो जाता है। यहाँ प्रकृति में भी 'अस्ति' का 'अ'कार उदात्त है। इसी लिये बादवाले स्वर 'इ'कार से बलवान् हैं। 'स्तः' पद में प्रत्यय का 'अ'कार उदात्त होने के कारण बलवान् है। 'अस्' धातु का स्वर 'अ'कार यहाँ अनुदात्त—अतएव दुर्बल—है। दुर्बलता के कारण वह लुप्त हो गया। धातु का 'स'कार प्रत्यय के 'त'कार से युक्त होकर उसी के स्वर के साथ रह गया; क्योंकि स्वर के बिना व्यंजन की कोई गति नहीं। यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रायः एक पद में एक ही स्वर उदात्त हुआ करता है। 'सन्ति' पद में भी 'अन्ति' प्रत्यय का 'अ' उदात्त है। इसलिये वही प्रबल है। धातु का दुर्बल स्वर 'अ'कार, स्थित रहने में अशक्त होने के कारण, नष्ट हो जाता है। इस प्रकार 'सन्ति' पद सिद्ध होता है। इसी प्रकार इसी 'अस्' धातु के शतृ-प्रत्ययांत शब्द का रूप 'सत्' होता है; क्योंकि वहाँ भी प्रत्यय का 'अ'कार बलवान् है। दुर्बल धातुस्वर 'अ'कार वहाँ टिक न सका। 'हन्ति' में भी धातुस्वर उदात्त, अतएव प्रबल है। इसी लिये उसमें कुछ विकार नहीं आया। पर 'घ्नन्ति' में यह बात नहीं है। इसमें 'अन्ति' के 'अ'कार की ही प्रबलता है; क्योंकि वही उदात्त है। धातुस्वर का 'अ'कार दुर्बल होने के कारण लुप्त हो जाता है। फिर 'ह'कार अपने आदिम

रूप 'घ'कार से प्रकाशित होकर 'न'कार से युक्त हो जाता है। 'हन्' का 'ह्'कार पहले 'घ'कार के रूप में था, यह बात 'जघान' आदि प्रयोगों को देखकर स्पष्ट ही प्रतीत होती है। जिस प्रकार 'घ्नन्ति' पद में प्रत्यय-स्वर के उदात्त होने से धातुस्वर का लोप हुआ है, वैसे ही 'जघ्नतुः' 'जग्मतुः' इत्यादि प्रयोगों में भी। 'अतुस्' प्रत्यय का 'अ'कार उदात्त है। इसी प्रकार तृतीया के एकवचन में (राजन्+आ) राज्ञा, (नामन्+आ) नाम्ना आदि प्रयोग बनते हैं। इन पदों में आदि 'आ'कार उदात्त है। तुलना कीजिए—मन्मथः (∠ मनमथः), कुमुद्वती (∠ कुमुदवती), शाद्वलम् (∠ शादवलम्), नड्वलम् (∠ नडवलम्) इत्यादि।

'चित्' धातु से 'चेतति' और 'तुद्' से 'तुदति' बनता है। पहले में गुण हुआ है, दूसरे में नहीं। क्यों? इसका कारण यही है कि 'भ्वादि' गण में धातु का स्वर उदात्त है और 'तुदादि' में विकरण प्रत्यय का स्वर उदात्त होता है।

'वचस्' और 'उक्त'—ये दोनों शब्द 'वच्' धातु से बनते हैं। पहले में 'व'कार ज्यों का त्यों है, दूसरे में संप्रसारण हुआ है। यहाँ भी वही कारण है। पहले में धातु-स्वर और दूसरे में प्रत्यय-स्वर उदात्त है। उदात्त स्वर के बलवान् होने के कारण धातु का दुर्बल स्वर दूसरे रूप में बदल गया।

इसी तरह 'देवी' शब्द के प्रथमा एकवचन में 'देवी' रूप होता है। इसका अंत्य स्वर उदात्त है। संबोधन में ह्रस्व 'इ'कारान्त 'देवि' शब्द बनता है। यहाँ प्रथम स्वर उदात्त है, इसी लिये प्रबल है। दूसरा स्वर इसकी प्रबलता के कारण दुर्बल पड़ जाता है, इसी लिये—यद्यपि पहले वह दीर्घ था—यहाँ ह्रस्व हो गया।

अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं। मैं समझता हूँ, इतने से ही यह बात स्पष्ट हो गई होगी कि तत्त्व समझने के लिये कैसे व्याकरण की आवश्यकता है।

आज-कल संस्कृत-पाठशालाओं में प्राकृत की बड़ी उपेक्षा की जा रही है। पर यह बात किसी तरह ठीक नहीं है। मधुरता में संस्कृत से प्राकृत बढ़ी-चढ़ी है, यह बात सहृदयों से छिपी नहीं है। सहृदयों का अनुभव ही इसमें प्रमाण है। राजशेखर का कहना है कि संस्कृत-बंध परुष और प्राकृत-बंध सुकुमार होता है। इनमें उतना ही अंतर है जितना पुरुष और रमणी में।

जो कुछ भी हो, आज इस सुकुमारता के लिये प्राकृत के अध्ययन की बात नहीं की जा रही है, और न जैन तथा बौद्ध शास्त्रों के तत्त्वावगमन के लिये इसे पढ़ने को कहा जा रहा है। निस्संदेह प्राकृत के अध्ययन के ये भी फल हैं, किंतु इनके अतिरिक्त भी ऐसे प्रयोजन हैं जिनके कारण प्राकृत की उपेक्षा नहीं की जा सकती। वह यह कि प्राकृत के बिना अनेक स्थानों पर संस्कृत नहीं समझी जा सकती। देखिए—

ऊपर हम 'पश्च' शब्द का उदाहरण दे आए हैं। यहाँ भी पहले उसी को लीजिए। सब जानते हैं कि पूँछ का नाम 'पुच्छ' है। वेदों में भी यह शब्द पाया जाता है। अच्छा, तो इसकी निरुक्ति क्या है? नैरुक्त इसके लिये व्याकुल-से जान पड़ते हैं। तत्त्व यह है कि यह शब्द 'पश्च' से ही प्राकृत प्रभाव से बना है। प्राकृत में 'श्च' का 'च्छ' होना पाया जाता है। जैसे संस्कृत 'आश्चर्य' प्राकृत में 'अच्छरियं' संस्कृत 'पश्चिम' प्राकृत में 'पच्छिम' हो जाता है। कोश कहते हैं कि 'पुच्छः पश्चात्प्रदेशे स्यात् लाङ्गूले पुच्छमिष्यते।' इससे स्पष्ट ही जान पड़ता है कि 'पुच्छ' प्राकृत प्रभाव से यह रूप धारण करके पहले 'पश्चात् प्रदेश' अर्थ में और फिर, 'पीछे रहनेवाली दुम' के अर्थ में भी व्यवहृत होने लगा। किंतु

भाग्य नक्षत्र

चित्रकार—नेकोलस डि रोरिक

(चित्रकार के सौजन्य से)

(चित्रकार ने यह चित्र भारत-कलाभवन को भेंट दे दिया है)

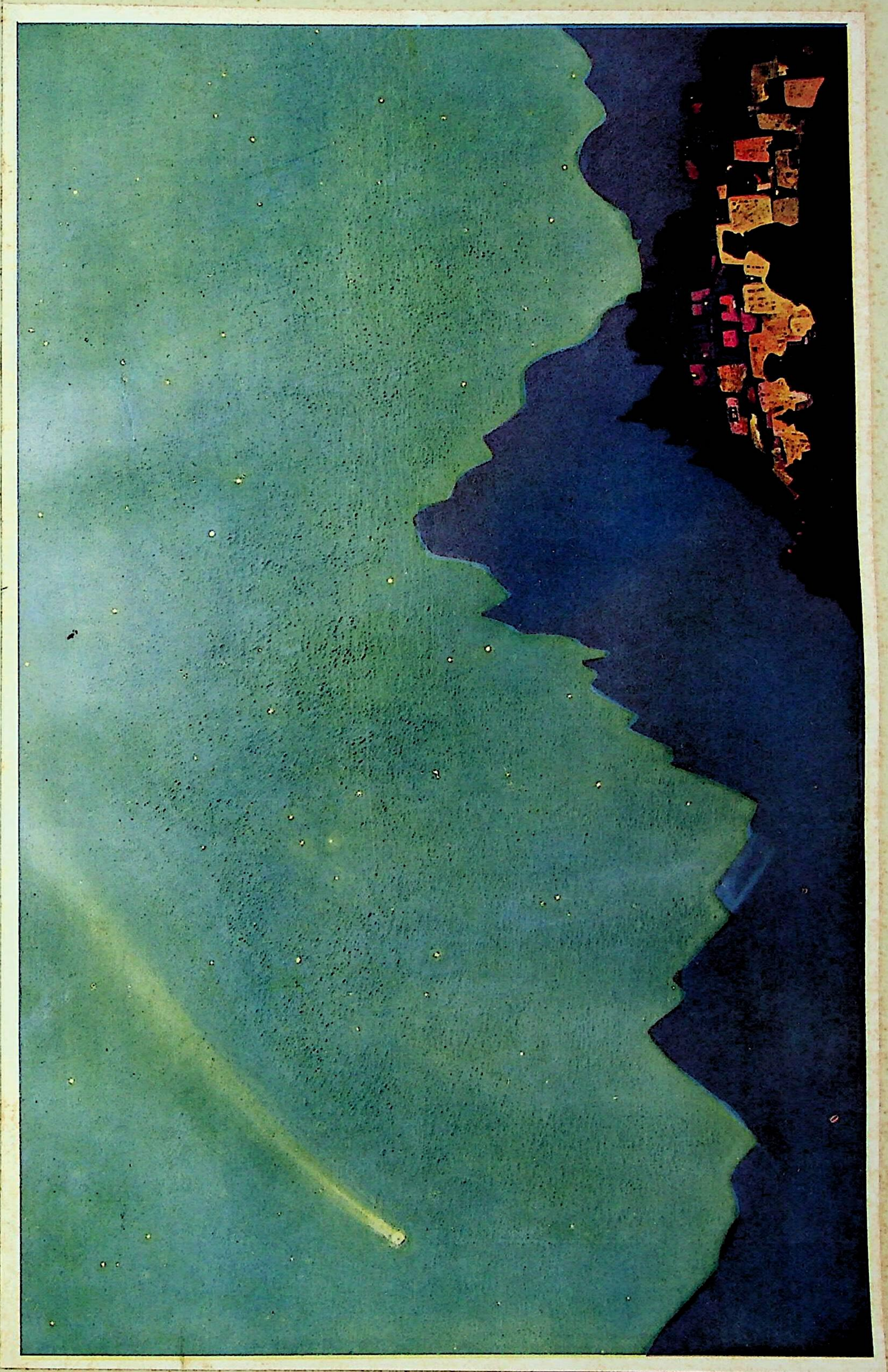

'पश्च' में तो 'प्' के बाद 'अ'कार है और पुच्छ में 'उ'कार, इस भेद का क्या रहस्य है ? इसकी संगति यों लगाई जायगी कि 'प'कार ओष्ठ्य वर्ण है, उससे युक्त 'अ'कार यद्यपि कंठ्य है तथापि ओष्ठ्य वर्ण के सामने दुर्बल पड़कर तज्जातीय (उकार) हो गया। संस्कृत-व्याकरण में ही इस प्रकार का परिवर्त्तन देखा जा सकता है। ऋकारांत धातु का 'ऋ'कार 'मुमूर्षा', 'पूर्ण' आदि शब्दों में तो 'उ'कार हो गया है; पर 'चिकीर्षा' में 'इ'कार ! ओष्ठ्य वर्ण के योग में ओष्ठ्य और तालव्य वर्ण के योग में तालव्य स्वर का रूप ग्रहण करना पड़ा है।

संस्कृत में 'पिच्छ' शब्द 'शिखंड' अर्थ में प्रयुक्त होता है। यह संस्कृत नहीं, प्राकृत है। 'पक्ष' शब्द से इसकी उत्पत्ति है। प्राकृत में 'क्ष'कार अनेक प्रकार से परिवर्तित होता है। कहीं तो यह 'ख(क्ख)'कार के रूप में परिवर्त्तित होता है, कहीं 'छ(च्छ)'कार के रूप में और कहीं-कहीं 'झ(ज्झ)'कार के रूप में। उदाहरणार्थ—संस्कृत का 'दक्ष' शब्द प्राकृत में 'दक्ख', संस्कृत का 'कुक्षि' प्राकृत में 'कुच्छि', संस्कृत का 'क्षाम' प्राकृत में 'झाम' हो जाता है। प्राकृत में 'पक्ष' शब्द के दो रूप हुए हैं—'पच्छ' और 'पक्ख'। प्रथम 'प'कार का 'अ'कार 'इ'कार हो गया है; क्योंकि 'छ'कार तालव्य वर्ण है। दूसरे 'प'कार का 'अ'कार 'उ'कार हो गया है; क्योंकि ओष्ठ्य वर्ण के साथ है। स्वर का परिवर्त्तन कहीं परवर्ण के अनुसार होता है और कहीं पूर्व-वर्ण के। यह 'पुंख' शब्द 'बाण के मूल में संलग्न पक्ष' के अर्थ में व्यवहृत होता है। स्मरण कीजिए—

> "सक्ताङ्गुलिः सायकपुङ्ख एव
> चित्रार्पितारम्भ इवावतस्थे।" (रघुवंश, सर्ग २, श्लोक ३१)

अब 'पुङ्खानुपुङ्ख' शब्द के अर्थ पर विचार कीजिए। यह शब्द श्रीमद्भागवत में प्रसिद्ध है। प्रायः संयुक्त वर्णों में से एक के लुप्त होने पर पूर्व-स्वर सानुनासिक या सानुस्वार हो जाता है। यह नियम प्राकृत में भी है, संस्कृत में भी और अन्यत्र भी। जैसे 'कर्तक' से 'कंटक'। पहले 'कर्तक' प्राकृत में आकर 'कट्टक' हुआ, फिर एक 'ट'कार का लोप होने पर पूर्व-स्वर सानुस्वार हो गया; इस प्रकार 'कंटक' बना। फिर यह शब्द संस्कृत में भी प्रयुक्त होने लगा। सो यह प्राकृत शब्द भी संस्कृत हो गया है ! इसी नियम से 'पक्ष' 'पक्ख' होता है। फिर 'क'कार का लोप करने से 'पुङ्ख' हो जाता है। इसी प्रकार 'लक्षण' शब्द से 'लाञ्छन' बनता है। संस्कृत 'लक्षण', प्राकृत 'लच्छण'; फिर 'चं'कार लोप करके 'लाञ्छन'। इसी प्रकार गर्जन से 'गंजन'। 'गंज' नामक कोई दूसरा धातु नहीं है, वह 'गर्ज' धातु ही है। इसी लिये प्राकृत 'गंजन' भी संस्कृत में प्रयुक्त होता है। और भी देखिए। 'ऋक्ष' शब्द 'भालू' अर्थ में प्रसिद्ध है। इसी का वाचक 'अच्छ' शब्द भी है। यह 'अच्छ' शब्द पहले की भाँति इसी 'ऋच्छ' शब्द का रूप है। इसी प्रकार 'नदीकच्छ' आदि में जो 'कच्छ' शब्द है वह 'कक्ष' का ही प्राकृत रूप है।

इसमें तो किसी को संदेह नहीं हो सकता कि 'विकृत' ही 'विकट' हो गया है। 'विकट' नाम की कोई दूसरी बला नहीं है। मूर्द्धन्य वर्ण 'ऋ'कार के योग से 'त' का 'ट' हो गया है। जैसे संस्कृत का 'कैवर्त्तः' शब्द प्राकृत में 'केवट्टो' हो जाता है। इस प्रकार 'विकट' शब्द यद्यपि प्राकृत है, तथापि वेदों से लेकर लौकिक संस्कृत तक में इसका प्रयोग पाया जाता है। इस तथ्य को न जानकर लोगों ने

‘विकट’ ‘प्रकट’ शब्दों की सिद्धि के लिये ‘कट्’ नामक एक अलग धातु ही बना लिया है। इसी प्रकार ‘भट’ और ‘उद्भट’ वस्तुतः ‘भृत’ और ‘उद्भृत’ के ही प्राकृत रूप हैं। इसकी सिद्धि के लिये भी ‘भट्’ धातु की कल्पना की गई है। ‘पतति’ ही प्राकृत-प्रभाव से ‘पटति’ बनता है। ‘उत्पातयति’ और ‘उत्पाटयति’ कुछ भिन्न नहीं हैं। फिर ‘पट्’ धातु को ‘पत्’ धातु से भिन्न बताना कहाँ तक उचित है, यह पाठक ही विचारें। ‘पिष्’ धातु से ‘पिष्ट’ बनता है जिसका प्राकृत रूप है ‘पिट्ठ’। इसी ने क्रमशः ‘पीड’ रूप धारण कर लिया। नामधातु होकर यही ‘पीडयति’ प्रयोग का कारण हुआ। विस्तार की आवश्यकता नहीं। यह एक ही बात तो है नहीं, और भी बहुत-सी बातें हैं।

‘मनोरथ’ शब्द को लीजिए। इसकी निरुक्ति के विषय में शाब्दिकों का कहना है कि ‘मन एव रथोऽत्र, मनो रथ इव वा’ (मन ही रथ, या मन रथ की भाँति)। इन लोगों ने इसके शब्दों पर ही केवल ध्यान दिया है, अर्थ एकदम छोड़ दिया है। बात असल यह है कि यह शब्द मूलतः ‘मनोऽर्थ’ था। वही रेफ के बाद ‘अ’कार-योग होने से ‘मनोरथ’ हो गया। यहाँ वैदिकी और लौकिकी स्वर-भक्ति पर ध्यान दीजिए। प्राकृत तथा भाषा में ‘दरिसण’ और ‘दरशन’ आदि प्रयोग पाए जाते हैं। ‘गृह’ के अर्थ में ‘गेह’ शब्द वेदों तक में आता है। यह शब्द संस्कृत नहीं, प्राकृत है। इसकी उत्पत्ति का क्रम यों है—गृह 7 ग्रेह 7 गेह। कहीं-कहीं ‘ऋ’कार का उच्चारण ‘रे’कार-जैसा होता है। यजुर्वेदीय शिक्षा के अनुसार ‘कृष्णोऽसि’ को ‘क्रेष्णोऽसि’ पढ़ने का उपदेश दिया गया है। प्राकृत में संयुक्त वर्ण के शब्द के आदि में रहने पर दो में से एक का लोप हो जाना प्रसिद्ध है।

अभ्यस्त ‘दा’ धातु से ‘त’ प्रत्यय आने पर ‘दत्त’ रूप बनता है। उसी का ‘आ’-पूर्वक रूप ‘आदत्त’ और ‘आत्त’ होता है। इस द्वितीय रूप के साधन के लिये शाब्दिकों का कहना है कि स्वरांत उपसर्ग के परे जो ‘दा’ धातु है उसका ‘त्’ आदेश होता है (‘अच उपसर्गात्तः’—पाणिनि ३-४-४३)। यह प्रक्रिया शब्दमात्र की निष्पत्ति के लिये है। किंतु इससे तत्त्व का ज्ञान नहीं होता। बात असल यह है कि प्राकृत में पद के अनादिस्थित क ग, च, ज, त, द, प, य और व वर्णों का प्रायः लोप हो जाता है। यहाँ भी ‘आदत्त’ के ‘द्’ का लोप होकर ‘आ-अत्त’ बना, फिर ‘आत्त’ रूप बन गया; ‘अवदत्त’ ‘अवत्त’ इत्यादि। तुलना कीजिए—वेद में ‘प्रउग’ शब्द आता है, जो मूलतः ‘प्रयुग’ है।

संस्कृत में अधीनार्थक ‘आयत्त’ शब्द है। ‘आयतते स्म’ कहकर वैयाकरण इसे ‘यत्’ धातु से साधते हैं। पर असल में यह प्राकृत है, संस्कृत नहीं। ‘आदत्त’ के ‘द’कार का लोप होने के बाद ‘आअत्त’ रूप बना, फिर ‘यश्रुति’ के अनुसार ‘आयत्त’ बन गया। जैसे प्राकृत में ‘वदन’ का ‘वअण’ और ‘वयण’ हो जाता है। संस्कृत के ‘कः आस्ते, क आस्ते, क यास्ते’ प्रयोगों के साथ इसे मिलाकर देखिए। ऐसे स्थलों पर यह ‘य’कार लघुतर-प्रयत्नोच्चारित हो, ऐसा शाकटायन आचार्य का मत है। यह ‘य’कार पूर्ण ‘य’कार नहीं, बल्कि अपूर्ण और ‘य’ के समान है। इसी लिये प्रातिशाख्यकार इसे ‘यलेश’ कहते हैं। ‘यलेश’—अर्थात् ‘य’ का लेश-मात्र उच्चारण। प्राकृतज्ञ इसे ‘यश्रुति’ कहते हैं। जान पड़ता है कि पाणिनि के समय पूर्ण ‘य’कार ही का उच्चारण होता था। जो हो, यह तो स्पष्ट ही है कि ऐसे स्थलों में दो स्वरों के बीच में एक ‘य’कार सुन पड़ता है। ऐसा करने से उच्चारण सुकर हो जाता

है। इस नियम के अनुसार बहुत-से पदों का साधन अनायास ही किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, 'देव' शब्द के षष्ठी एवं सप्तमी द्विवचन में 'देवयोः' पद बनता है। यहाँ 'देव-ओस्'—इस स्थिति में दो स्वरों के बीच एक 'य' आने से 'देवयोः' पद सरलता से बन जाता है। इसी प्रकार 'गायति' 'लतायाम्' इत्यादि पदों में 'य'कार के आगम की व्याख्या करनी चाहिए।

'कदन्नम्' 'कदर्थः' 'कदुष्णम्' इत्यादि अनेक प्रयोग पाए जाते हैं। वैयाकरणों का कथन है कि यहाँ 'कु'शब्द का 'कद्' आदेश होता है। यह तो केवल उक्ति-मात्र है। इसमें कोई प्रमाण नहीं है। इसी प्रकार कापुरुष, कापथ इत्यादि में भी 'कु' शब्द का ही 'का' आदेश बताया जाता है। इसका भी कोई साधक नहीं है। जैसे यद्, तद्, एतद्, अन्यद् (तुलनीय—अन्यदीय), मद्, त्वद् आदि 'द'कारांत सर्वनाम शब्द हैं, वैसे ही 'किम्' शब्द के अर्थ में ही एक अपर शब्द 'कद्' भी है। जैसे 'द'कारांत 'यद्' आदि शब्दों का प्रथमा आदि विभक्तियों में 'द्' लुप्त होकर 'अ'कारांत शब्द (यः यौ ये) रह जाता है, ठीक वैसे ही 'कद्' शब्द का भी। केवल नपुंसक लिंग के प्रथमा-एकवचन में 'किम्' इमंत पद बनता है; अन्यत्र सर्वत्र 'क' रूप रहता है। 'कदर्थ' आदि शब्दों में तो स्पष्ट ही 'कत्' प्रकृति है। जैसे 'कदन्न' आदि में और 'किंसखा' आदि में क्षेप (निंदा) स्पष्ट ही समझा जाता है। फिर कुत्सित अर्थ का पाया जाना कुछ भी दुर्लभ नहीं है। 'कापुरुष' प्रथमतः 'कत्पुरुष' था, फिर प्राकृत के नियमानुसार 'कप्पुरुष' हुआ। एक 'प'कार के लुप्त और पूर्व-वर्ण के दीर्घ होने से 'कापुरुष' बन गया। (तुलना कीजिए √गुह्, गूढ़ एवं यादृश, तादृश)। इसी प्रकार 'कापथः'—कत्पथः 7 कप्पथः 7 कापथः। अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं।

जो संस्कृत का अनुशीलन करने की इच्छा रखते हैं, उनको कुछ इस बात का भी ध्यान रहना चाहिए कि एक भाषा में प्रायः दूसरी भाषा से शब्द लिए ही जाते हैं; अतएव संस्कृत में भी लिए गए हैं। केवल संस्कृत के ज्ञाता एवं प्रेमी यह समझते हैं कि इस भाषा में वे जो कुछ देखते हैं, सब संस्कृत का ही है। इसी लिये वास्तविकता का त्याग करके किसी न किसी प्रकार शब्दों की व्युत्पत्ति निकालने लगते हैं, अर्थ का कुछ भी विचार नहीं रखते। उदाहरणार्थ, ज्योतिःशास्त्र में तो प्रसिद्ध ही है कि 'होरा' आदि शब्द यवनों से लिए गए हैं। कालिदास एक स्थल पर कहते हैं—

हित्वा हालामभिनवरसां रेवतीलोचनाङ्काम्
बन्धुस्नेहात् समरविमुखो लाङ्गली याः सिषेवे।

यहाँ 'हाला' का अभिप्राय है 'मदिरा'। हमारा ही कोई नैरुक्त इसकी निरुक्ति यों करता है—'हलत्यङ्गम्, हल विलेखने, ज्वलादित्वान् णः, हल्यतेऽनया वा'। इसी नैरुक्त के किसी अनुयायी ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—'हाला हल्यते कृष्यत इव चित्तमनया इति।' किंतु वस्तुतः 'हाला' देशी शब्द है। वामन ने (काव्यालंकार, सूत्र ५-१-२२ में) स्पष्ट ही कहा है—"अतिप्रयुक्तं भाषापदम्, अतीव प्रयुक्तं देशभाषापदं प्रयोज्यम्।" यथा 'योषिदित्यभिललाष न हालाम्' इत्यत्र 'हाला' इति देशभाषापदम्। अर्थात् अतिप्रयुक्त देशभाषापद का प्रयोग करना चाहिए। जैसे 'योषिदित्यभिललाष न हालाम्' इस वाक्य में 'हाला' देशभाषापद है। इसी प्रकार भाषाशास्त्री 'कुंड' 'कूल' 'केयूर' 'कोट्ट' 'खट्वा' 'घोटक' 'चंपक' 'नीर' 'पल्ली' 'मीन' 'वलय' 'वल्गु' आदि शब्दों को द्रविड़भाषा-मूलक कहते हैं।

जो संस्कृत पर अधिकार करने की इच्छा रखते हों उनको पारसीक भाषा के 'अवेस्ता' की उपेक्षा न करनी चाहिए। यह पारसीक भाषा सस्कृत से, विशेषतः वैदिक संस्कृत से, उतना ही अधिक संबद्ध है जितना प्राकृत से संस्कृत। इस संबंध को देखकर सहृदयों को बड़ा कौतूहल होता है। इन दोनों भाषाओं में से एक के हृदयंगम हो जाने पर दूसरी बड़ी सुगम हो जाती है। एक की सहायता से दूसरी के समझने में सरलता होती है। उदाहरणार्थ देखिए—'अस्मद्' शब्द के चतुर्थी के एकवचन में 'मह्यम्' रूप होता है। अवेस्ता में 'मइब्यो' होता है। (अवेस्ता में 'भ' नहीं है, उसके स्थान में 'ब'कार हो जाता है। नहीं तो यहाँ 'मइभ्यो' होता।) इससे यह जाना जाता है कि संस्कृत में मूलतः 'मभ्यम्' ही था, जैसा कि 'तुभ्यम्' (अवेस्ता में 'तइब्यो' है) 'युष्मद्' शब्द का है। यह 'मभ्यम्' समय पाकर—'भ'कार के 'ह'कार हो जाने से (जैसा कि 'ग्रभ' धातु में 'भ' के 'ह' होने से 'ग्रह' हो जाता है)—'मह्यम्' हो गया।

अब यहाँ अधिक न कहकर एक गाथा और उसका संस्कृत-रूप दिया जा रहा है। इसी से दोनों भाषाओं की समता समझी जा सकेगी। इससे यह भी स्पष्ट हो जायगा कि ध्वनि-तत्त्व के नियमानुसार एक भाषा को सुगमता से दूसरी भाषा में रूपांतरित किया जा सकता है।

अवेस्ता

तेम्　　अमवन्तेम्　　यज़न्तेम्
सूरेम्　　दामोहु　　सेविशतेम्
मिथ्रेम्　　यज़ै　　ज़ओथ्राब्यो

इसका संस्कृत-अर्थ होगा—'तं शक्तिमन्तं यजनीयं शूरं जीवानां परमोपकारकं मित्रं हविर्भिर्यजै।'

संस्कृत

तम्　　अमवन्तम्　　यजतम्
शूरम्　　धामसु　　शविष्ठम्
मित्रं　　यजै　　होत्राभ्यः

प्रसंगवश मैं यहाँ एक आप-बीती घटना का उल्लेख करता हूँ।

संस्कृत में देखा जाता है कि जितने ऋतुवाचक शब्द हैं, सभी वर्ष के वाचक हैं। 'अप्' देनेवाले को 'अब्द' (जलद—मेघ कहते) हैं। इन्हीं मेघों के संबंध से वर्षा को भी 'अब्द' कहते हैं। यही 'अब्द' शब्द 'वर्ष' का भी वाचक है। 'वर्ष' अर्थात् वृष्टि—वर्षण। इसी संबंध से वर्षा-ऋतु हुई। फिर 'वर्ष' शब्द भी 'साल' का वाचक हो गया। 'शरद्' शब्द स्पष्ट ही 'शरद्-ऋतु' का वाचक है। यह भी 'वर्ष (साल)' के अर्थ में प्रयुक्त होता है—'जीवेम शरदः शतम्'। इसी प्रकार हिम-ऋतु का वाचक 'हिम' शब्द भी वेदों में इसी अर्थ में प्रयुक्त पाया जाता है—'शतं हिमाः'। इससे पता लगता है कि संस्कृत में निश्चय ही कोई ग्रीष्म-वाचक शब्द भी वर्ष-वाचक होगा। यह हो नहीं सकता कि इस ग्रीष्म-प्रधान भारत के आर्य अपनी प्रधान ऋतु को ही भूल जायँ।

एक बार बड़ी रात तक मैं यही सब सोचता रहा। पर कोई शब्द न सूझ पड़ा। संयोगवश एक बार 'अवेस्ता' के पन्ने उलटते समय अनायास मेरी दृष्टि उसके 'हम' शब्द पर पड़ी। यह शब्द उक्त पुस्तक की भाषा में ग्रीष्म का वाचक है। तत्क्षण मेरे मन में आया कि यही वह शब्द है जिसकी खोज

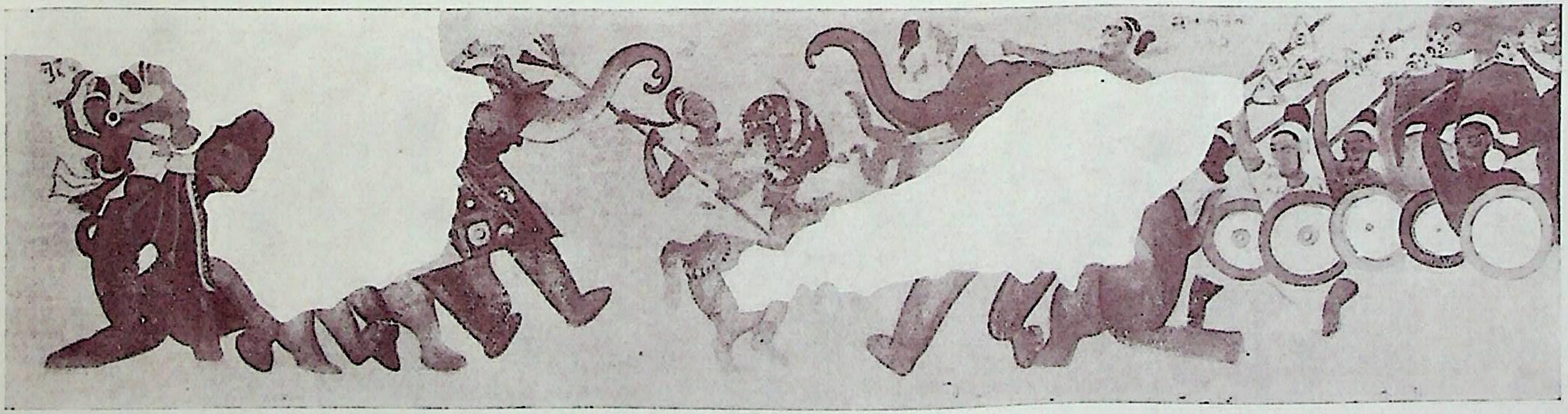

मुसलमानों के पहले की राजपूत चित्रकला।—पृ० ३१

मैं उस रात को कर रहा था—(जिजीविषेच्छतं समाः)—वह संस्कृत शब्द है 'समाः'। संस्कृत का 'सम' ही अवेस्ता में 'हम' हो गया है। 'स'कार का उसमें 'ह'कार हो जाता है। जैसे—संस्कृत का 'सोम' उसमें 'हओमो' हो गया है।

एक बात और। यदि क्षय को न रोका जाय और क्षीण अंश की पुनः पूर्त्ति न की जाय, तो क्या वृद्धि की कोई आशा की जा सकती है? मैं समझता हूँ, संस्कृत के विद्यार्थियों में बहुतेरे यह नहीं जानते कि कितने ही संस्कृतग्रंथों का नाम तक लुप्त हो गया है। कितने ही ऐसे ग्रंथ हैं जो मूल संस्कृत-रूप में तो अब नहीं मिलते, पर भोट (तिब्बती) और चीना भाषाओं के अनुवाद-रूप में मिलते हैं। कुछ मंगोल भाषा में भी विद्यमान हैं। चाहे जिस कारण से हो, बौद्ध ग्रंथ भारत से लुप्त हो गए हैं। ये ग्रंथ बड़े गंभीर अर्थवाले हैं। इनमें अधिकांश दर्शन-संबंधी हैं। इन्हें जाने बिना स्वयं भारतवर्ष के विषय में ही अच्छी तरह नहीं जाना जा सकता। यह सुनकर प्रत्येक भारतीय प्रसन्न होगा कि काव्य एवं अलंकार-ग्रंथों में नागानंद, जीवानंद, मेघदूत, बुद्धचरित, काव्यादर्श आदि तथा व्याकरण-ग्रंथों में चांद्र, कातंत्र, सारस्वत, पाणिनीय आदि भोट (तिब्बती) भाषा में अनूदित पाए गए हैं। अन्य विषयों के भी अनेक ग्रंथ मिले हैं। चीनी भाषा में तो बहुत-से ग्रंथ मिले हैं। जिन ग्रंथों का मूल संस्कृत-रूप मिला है उनके पाठ-शोधन के लिये भी चीनी और भोट-भाषा के अनुवाद-ग्रंथों की आवश्यकता है। जिन पाठों का संशोधन अनेक प्रतियों से भी नहीं होता, उनका भोट-भाषा की सहायता से सहज ही हो जा सकता है। यदि समय और साधन रहते उनका उद्धार न किया गया तो संस्कृत की उन्नति हो चुकी! और, भारतीयों के बिना भला इस महान् कार्य को ठीक-ठीक दूसरा कोई कैसे कर सकेगा? यह भारतीय विद्वानों का ही कार्य था कि दुर्विलंघ्य पर्वत-मालाओं को लाँघकर, नाना प्रकार के संकट झेलकर, भोट (तिब्बत) तथा चीन देशों में जाकर वहाँ की भाषा पर अधिकार किया और वहाँ के लोगों की सहायता से कठिन संस्कृत-ग्रंथों का अनुवाद किया। यह मानना असंभव है कि वहाँवालों ने यहाँवालों की सहायता के बिना ही यह कार्य किया होगा। जो बात तब हो सकी, वह अब क्यों न हो सकेगी? चीनी भाषा प्रायः मूल संस्कृत के भावार्थ का अनुसरण करती है और भोट-भाषा प्रायः अक्षरार्थ का। इसी लिये हमारे नष्टोद्धार-कार्य में भोट (तिब्बती) पाठ ही अधिक सहायक होगा। थोड़ा-सा उदाहरण देकर स्पष्ट किए देता हूँ।

पहले मैंने 'मनोरथ' शब्द के अर्थ पर विचार किया है। वहीं पर यह कहा है कि हमारे नैरुक्तों के मत से इसकी निरुक्ति है 'मनसो रथ इति'। किंतु भोट-भाषावालों ने युक्तायुक्त का विचार न करके जैसा देखा वैसा ही अनुवाद कर लिया है। "यिद्-क्यि-षिङ्-र्त"—इसका यह अर्थ है—

$$\left.\begin{array}{l}\text{यिद्} = \text{मनस्} \\ \text{क्यि} = \text{षष्ठी विभक्ति}\end{array}\right\} \text{मनसः} \ (= \text{मन का})$$

$$\text{षिङ्र्त}^{1} = \text{रथः}$$

---

[1] षिङ्=काष्ठ, र्त=घोड़ा। षिङ्र्त=काठ का घोड़ा। यह शब्द 'रथ' के अर्थ में रूढ़ है। इससे जामा जाता है कि भोट पुरुष काष्ठमय अश्व को ही रथ कहा करते थे!

इस प्रकार 'यिद्-क्यि-षिङ्र्त्' = मनसो रथः = मनोरथः । ऐसा ही अन्यत्र भी समझना चाहिए। तात्पर्य यह कि संस्कृत-पाठों के नष्टोद्धार में जो लोग प्रयत्नशील हैं, उन्हें भोट-भाषा से बड़ी सहायता मिलेगी। चीनी पाठ भी इस कार्य में उपकारी है। अभी भारतवर्ष में इस कार्य का श्रीगणेश ही हुआ है। विद्यार्थियों को इस ओर प्रवृत्त होना चाहिए।

एक समय था, जब कि प्रत्येक विषय—चाहे वह यहाँ का हो या अन्यत्र का—संस्कृत-भाषा में ही लिखा जाता था। इस लिये संस्कृतज्ञ तत्तद् विषयों का ज्ञान प्राप्त कर सकता था। इधर संस्कृत-ग्रंथों के बनने के बाद अनेक नए तत्त्व आविष्कृत हुए हैं। उन्हें न जाननेवाला मनुष्य, लोक में, सुख-पूर्वक जीवन-यापन नहीं कर सकता।

आज-कल केवल भारतवासियों द्वारा ही संस्कृत नहीं पढ़ी जा रही है, अभारतीय राष्ट्रों में भी इसका विशेष प्रचार होता जा रहा है। उन देशों के विद्वानों के मत की उपेक्षा करना उचित नहीं है। जो उपादेय हो, उसे अवश्य ग्रहण करना चाहिए, अन्यथा इष्ट-सिद्धि में बाधा पड़ेगी।

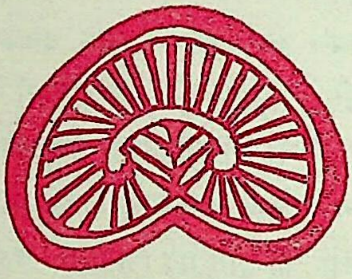

संदेश

उनपर ही जीवन न्योछावर, जिनका उज्ज्वल पुण्य-प्रताप;
जिन्हें न बेध सका जगती का दुःख, शोक, दारुण संताप।
जिनकी बाट जोहती आशा, जिनसे शंकित होता पाप;
जिनके चरणों पर श्रद्धा से नत मस्तक हो जाता आप।
उनकी ही सेवा में मेरा यह संदेश सुना देना—
यदि जाने पाऊँ तो उनके चरणों तक पहुँचा देना॥

तोरन देवी शुक्ल 'लली'

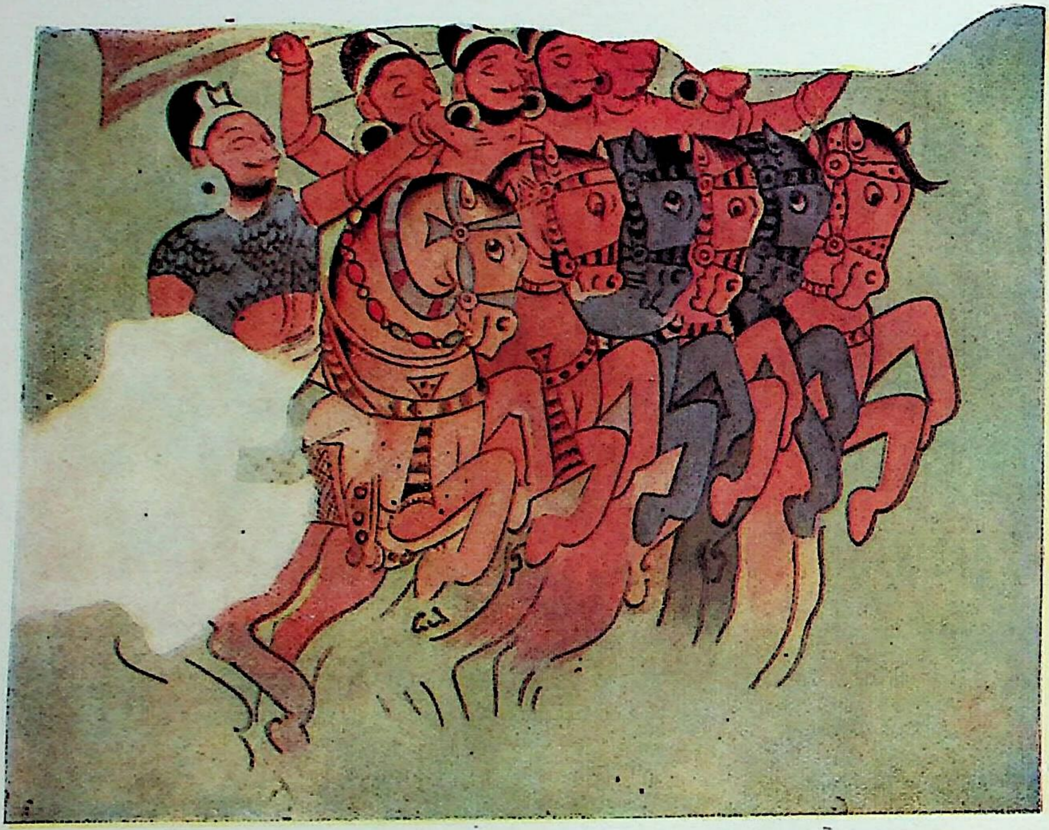

मुसलमानों के पहले की राजपूत चित्रकला।—पृ० ३२

मुसलमानों के पहले की राजपूत-चित्रणकला

श्री काशीप्रसाद जायसवाल, विद्यामहोदधि

राजपूत-क़लम की चितेरी विद्या का बखान सब करते और सराहते हैं। राजपूत-कलम चित्रकारी के उस संप्रदाय को कहते हैं जिसके उस्ताद प्रायः हिंदू चितेरे मुसलमानी समय में हुए। अकबर के पहले की चितेरी के नमूने कम हैं। लंबी नाक और विकट कटाव-गढ़नवाले रूपदर्शी चित्र कुछ जैन-ग्रंथों में मिले हैं; पर वे भी कबीर साहब के युग के पहले के नहीं हैं। अजंता-पहाड़ के गुहा-मंदिरों के बाद और मिस्टर मेहता की जैन तस्वीरों के पहले के चित्र अभी तक नहीं मिले थे। इस लेख में दिखलाया जायगा कि हिंदुओं की चित्र-विद्या विक्रम-संवत् की बारहवीं शती में जीवित थी। जो उदाहरण हमें मिले हैं वे ठीक मुसलमानी राज्य जमने के पहले के हैं। उनके उरेहनेवाले, राजपूत-राजाओं के कारीगर थे। ये मालवा के रहनेवाले रहे होंगे; क्योंकि महाराज भोज के और उनके वंशवालों के ये आश्रित थे।

महाराज भोजदेव—जिनका विद्याप्रेम और पांडित्य घर-घर कहानियों में प्रसिद्ध है, और कहते हैं कि 'कहाँ राजा भोज और कहाँ गंगू तेली' (अर्थात् गांगेय और तैलप राजा)—महमूद के आक्रमण के समय वर्त्तमान थे। अलबिरूनी ने, जो महमूद के साथ आया था, भोज की सभा का वर्णन किया है और लिखा है कि स्त्रियों का उनके यहाँ आदर था। भोज के यहाँ कई महिला-कवि थीं, यह काव्य के ग्रंथों से जाना जाता है। भोज ने 'भोजपाल' नामक—जिसे अब 'भोपाल' कहते हैं—एक बहुत ही बड़ा समुद्र-सा तालाब पहाड़ों को बाँधकर बनाया। भोज की लड़ाई उनके समय के राजाओं से थी। उनमें से कुछ दक्षिणवाले थे और कुछ गुजरात आदि के। भोज का शिव-मंदिर, जो अभी तक 'भोपाल-ताल' पर अधूरा पड़ा हुआ है, इसी लड़ाई-झगड़े में अधूरा रह गया। भोजदेव मारे गए।

इसका बदला उनके भतीजे महाराज उदयादित्य ने चुकाया। शत्रुओं को हराया और मालवा का राज्य फिर चमकाया। एक बहुत ही सुंदर लाल पत्थर का शिखर-मंदिर इन्होंने मालवा में बनाया, जो आज तक उनके बसाए छोटे शहर 'उदयपुर' में (रियासत ग्वालियर में भिलसा के पास) वर्त्तमान

है। उसकी शान का कोई भी मंदिर आर्यावर्त्त में नहीं है। उसमें उदयेश्वर महादेव हैं। उसी में उन्होंने भोजराज की कीर्त्ति-प्रशस्ति संस्कृत-श्लोकों में खुदवा दी है।

इन्हीं उदयादित्य ने दक्षिणवालों को परास्त किया और अर्वलो पहाड़ (अर्बुदाचल) तक अपना राज्य फिर से स्थापित किया। मेरी समझ में इसी विजय की यादगार में कुछ चित्र इन्होंने इलोरा के गुहा-मंदिरों में बनवाए, जिनमें राजा के चित्र के ऊपर 'प्रमार' लिखा हुआ है। 'प्रमार' अथवा 'परमार' इनके वंश का नाम था। ये चित्र युद्ध के हैं। सब राजपूत-सिपाहियों को बड़ी-बड़ी मूँछें और ऊपर चढ़ी हुई दाढ़ी है। इससे सिद्ध होता है कि क्षत्रियों में दाढ़ी रखने की प्रथा पुरानी है, और मुसलमानों के पहले की है। चित्रों में सिपाही कच्छी घोड़ों पर हैं और पैदल भी हैं। सब लाम बाँधकर आज-कल की पलटन की तरह, वरन् यों कहिए कि जर्मन पलटन की तरह, एक साथ लंबी कदम उठाए हुए चल रहे हैं। जब शत्रु-सेना (जो बिना दाढ़ी की है) हार जाती है, हाथ उठाकर लड़ाई बंद करने कहती है। प्रमार राजा, जो पहले हाथी पर लड़ रहा था, पालकी पर आता है, सामने उसके कुछ योद्धा लाम बाँधकर चलते हैं, और एक ओर पलटन खड़ी है तथा स्त्रियाँ मंगल लिए रास्ते में खड़ी हैं। पराजित शत्रुराज का भी चित्र है।

ये चित्र रंगीन हैं। इनकी शैली अजंता और राजपूत-मुगल-शैली के बीच की मानों कड़ी है। देखिए Annual Report of the Archæological Department of His Exalted Highness the Nizam's Dominion, 1337 F (1927-28 A. C.), Plates D, E (इस पर नागरी में लिखा है 'स्वस्ती स्रि प्रमारराज'), F. । लिखनेवाला साधारण अध-पढ़ा चितेरा था; क्योंकि 'स्वस्ति' को 'स्वस्ती' और 'श्री' को 'स्रि' लिखता है। रंग गेरुआ, नीला, काला, हरा आदि हैं। अक्षरों की लिखावट प्रमार राजा भोज और उदयादित्य के समय की है जिनके बहुत लेख और ताम्रपत्र मिले हैं। पिछले राजपूत चितेरों की कारीगरी में भाव नहीं है, भाव की शून्यता है। पर इलोरा के चित्रों में भाव का अभाव नहीं, वे भाव-भरे हैं। हारा हुआ राजा घबराया हुआ है, योधा लड़ने के समय प्रचंड हैं, घोड़े मानों उड़ा चाहते हैं, हाथी और मनुष्य युद्ध में संलग्न हैं।

पर जब चितेरी मुगल बादशाही में पहुँचती है तब बिचारी चुप हो जाती है। मूरत की तरह सीधे खड़ी रहती है। हर जगह मानों उसको हँसने-बोलने की शाही मुमानियत है!

इलोरा-चित्रों के राजपूत दीर्घकाय चेहरे-मुहरेवाले हैं। घोड़े इनके बहुत अच्छी जाति के हैं। एक तरह का जिरहबख्तर सब योधा पहने हुए हैं। ढाल इनकी गोल है।

ये चित्र हिंदी-काल के आदि-समय के हैं।

श्रीपंडित द्विवेदीजी के चिर-साहित्य-सेनापतित्व के उपलक्ष में मैं जो उनका एक सिपाही हूँ, यही भेंट अपने हिंदी-भाइयों को करता हूँ। पंडितजी हमारे साहित्यक्षेत्र के उदयादित्य हैं।

◆

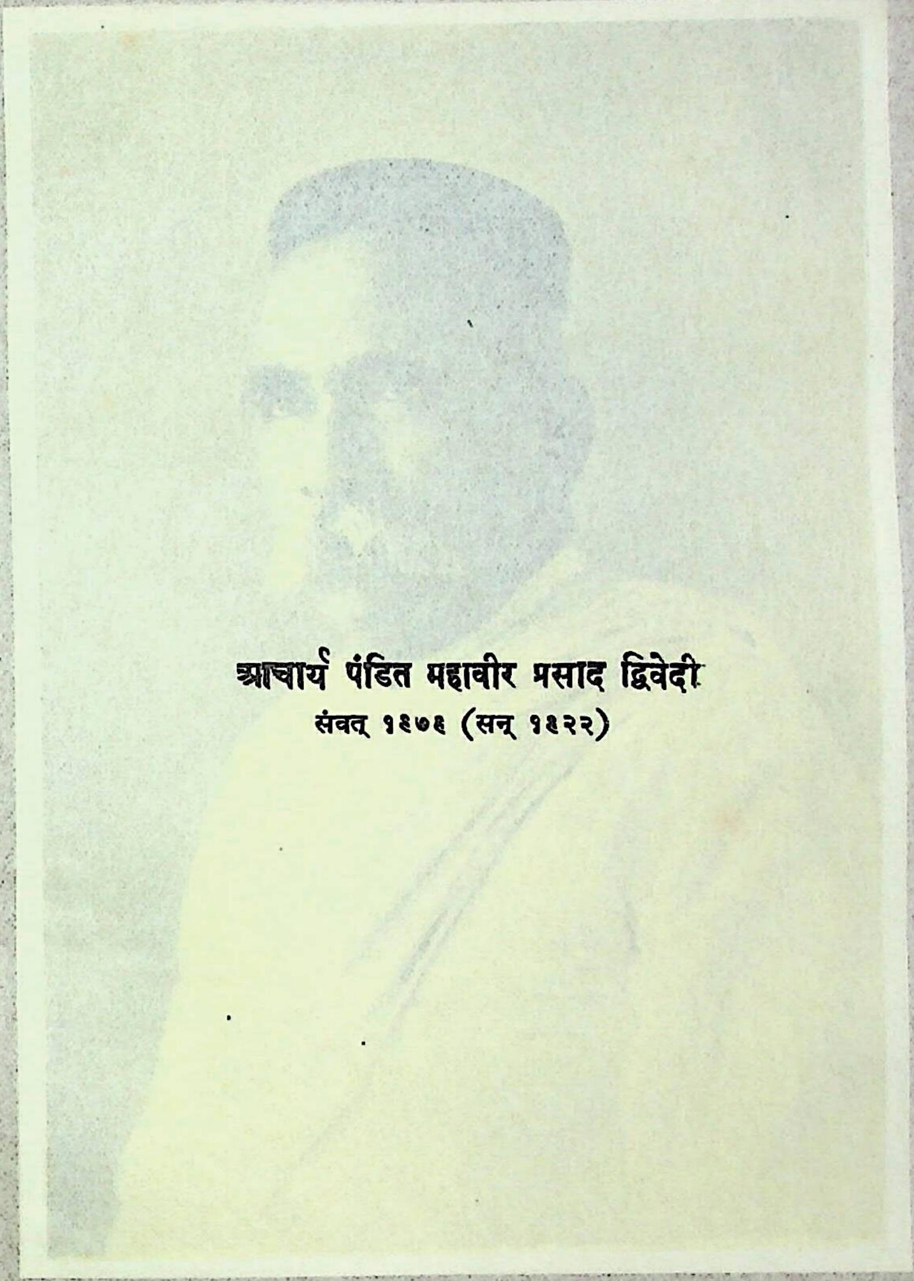

आचार्य पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी
संवत् १९७९ (सन् १९२२)

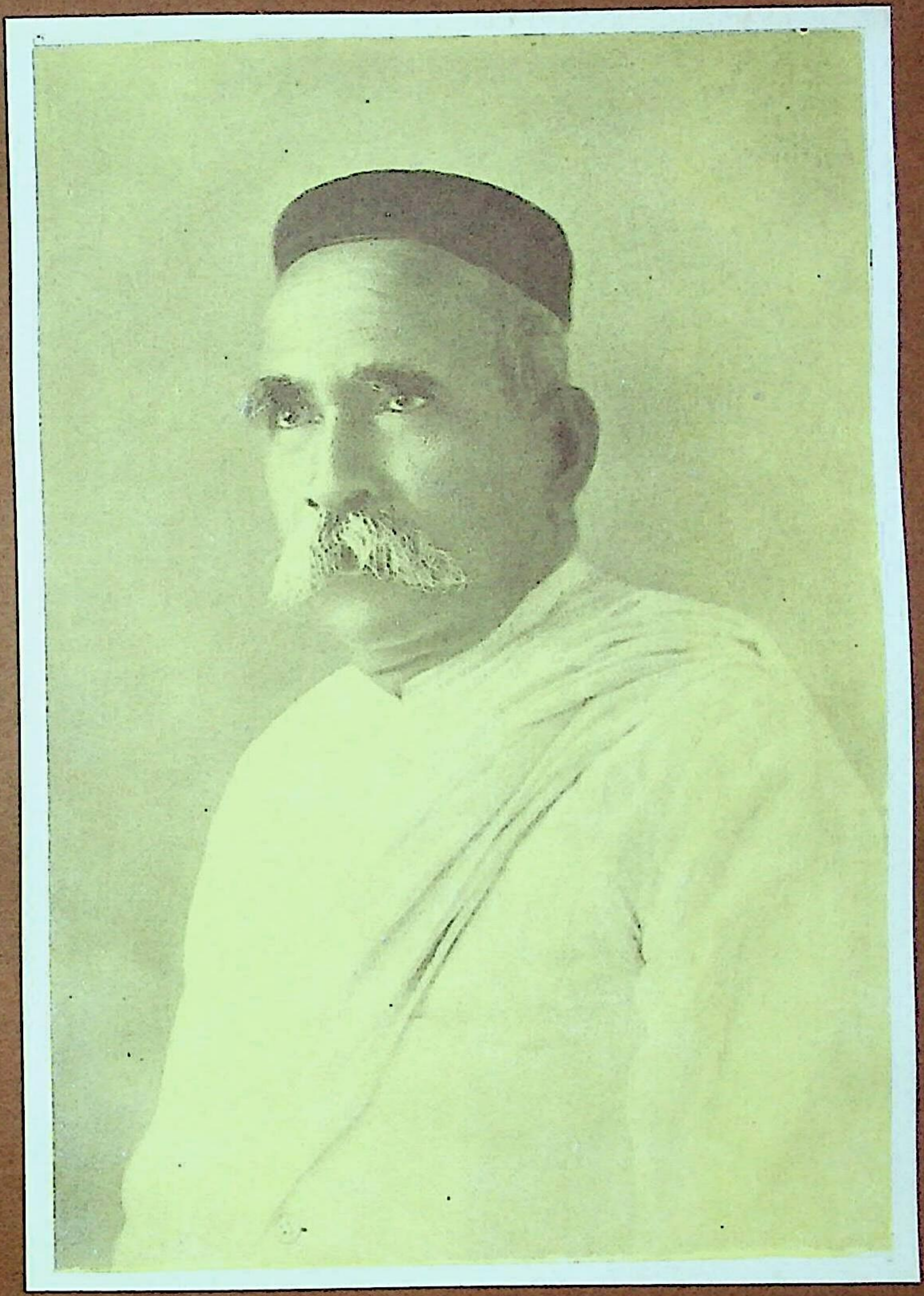

वेद और वह्नि-युग

श्री रुद्रदेव शास्त्री, वेदशिरोमणि, दर्शनालंकार

इतिहास की रूप-रेखा का निर्माण करनेवाले ऐतिहासिकों ने इतिहास के चार बड़े-बड़े कालिक विभाग किए हैं—(१) प्राचीन प्रस्तरकाल, (२) नवीन प्रस्तरकाल, (३) पित्तल-युग और (४) लौह-युग।

पूर्व-निर्देश इनके अवांतर विभाग और भी किए जा सकते हैं। उन अवांतर विभागों के प्रारंभ और अवसान का समय भी किन्हीं निश्चित अथवा कल्पित लक्षणों के आधार पर ही निश्चित किया जा सकता है। बहुत-से ऐतिहासिकों ने इन अवांतर विभागों के स्पष्टीकरण में उचित दक्षता और तत्परता प्रदर्शित की है। परंतु किसी ऐतिहासिक ने 'वह्नि-युग' का निर्देश इस प्रसंग में नहीं किया। मैं प्रकृत में इस 'वह्नि-युग' की स्थापना करने का उद्योग करूँगा।

'इतिहास' शब्द का अर्थ है—'यह प्रसिद्ध था'—(इति = यह, + ह = प्रसिद्ध, + आस = था)। इतिहास ही मनुष्य-जाति के पास एक ऐसा साधन है जिससे परोक्ष देश और परोक्ष काल में हुई घटनाएँ कालांतर में होनेवाले पुरुषों के संमुख प्रत्यक्षवत् उपस्थित की जा सकती हैं।

इस इतिहास के निर्माण करने में बहुधा बड़ी जटिल समस्याएँ भी आ उपस्थित होती हैं। जिन बातों की उत्पत्ति आदि का समय हम नहीं जान पाते, वे प्रागैतिहासिक काल की कही जा सकती हैं। इतिहास से पुष्ट और ऐतिहासिकों द्वारा अनुप्राणित कतिपय बातों को अविकल रूप से स्वीकार करते हुए भी मेरे विचार में एक ऐतिहासिक त्रुटि है। वह त्रुटि है—'वह्नि-युग' का अभाव। मैं 'वह्नि-युग' की ओर विवेचक और परीक्षक पुरुषों का ध्यान-मात्र आकृष्ट करना चाहता हूँ।

ऐतिहासिक त्रुटि को दृढ़ रूप से संश्लिष्ट करनेवाली यही समुचित वस्तु है—ऐसी मेरी प्रतिज्ञा नहीं है; क्योंकि इस विषय में दृढ़ बात कही नहीं जा सकती। मैं तो ऋग्वेद के नासदीय सूक्त की श्रुति को इस विषय में भी नहीं भुलाना चाहता। श्रुति में कहा है—'को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्'—अर्थात् इसे कौन ठीक-ठीक जानता है और कौन ठीक-ठीक बता सकता है। अन्य बहुत-सी कल्पनाओं के साथ ही साथ यह भी कल्पना है। ऐतिहासिक इस सिद्धांत को ही मानें—यह मेरा विचार नहीं। मेरे विचार के अनुसार इसको भी एक कल्पना मानना संमुचित और संगत है, एवं प्रकृत में इतना ही अभीष्ट है।

F. 5

मत-संग्रह

प्राणि-विद्या-विशारदों के मतानुसार प्रोटोजोआ प्राणिजगत् के विकास की पहली सीढ़ी है। पुनः शनैः-शनैः घोंघा, मूँगा, मछली, जल-स्थलचारी और स्थलचारी प्राणी उत्पन्न हो गए। प्रोटो-कोकस से प्रारंभ कर पूर्ण विकसित वृक्ष और वनस्पतियों का जन्म प्राणिजगत् के आविर्भाव से पूर्व ही हो चुका था। परंतु पत्थर के कोयले के स्तरों को जन्म देनेवाले वृक्ष बहुत समय के उपरांत उत्पन्न हुए। "बुक आफ नालेज" के संपादक 'आर्थर मी' ने उक्त ग्रंथ के प्रथम भाग के ग्यारहवें पृष्ठ पर एक चित्र द्वारा—जिसे वैज्ञानिक कलाविद् श्री जो० एफ० मारेल ने बनाया है—घड़ी के रूप में जीवन-जगत् के विकास को काल-क्रम से प्रदर्शित किया है। एच० जी० वेल्स ने भी अपने ग्रंथ 'दि आउट लाइन आफ हिस्ट्री' में रेखा-चित्रों (डाइग्राम) द्वारा इस विषय को हस्तामलकवत् प्रदर्शित करने का सराहनीय उद्योग किया है। उक्त घड़ी में जीवन-जगत् के प्रारंभ से लेकर मनुष्य के आविर्भाव तक के समय को बारह भागों में विभक्त किया है। प्रत्येक विभाग के लिये तीस लाख वर्ष का समय निश्चित किया है। इन बारहों विभागों के नाम कुछ (स्तर आदि की) विशेषताओं के आधार पर रख लिए गए हैं। इन नामों की संख्या केवल आठ ही है। जैसे पहला विभाग—कैंब्रियन, दूसरा और तीसरा—साइलूरियन, चौथे से छठे विभाग तक—डेवोनियन, छठे से आठवें तक—कार्बोनिफेरस, आठवें से नवें तक—ट्राइजिक, नवें से दसवें तक—जुरेसिक, दसवें से ग्यारहवें तक—क्रेटसेअस्, ग्यारहवें से बारहवें तक—टर्शियरी। ये आठ विभाग मानकर उपर्युक्त बारह विभागों की आठ ही संज्ञाएँ रक्खी गई हैं। पहले और दूसरे विभाग में छोटे-छोटे जलीय कीड़ों का आविर्भाव हुआ। इनके नाम 'श्यलफिश', 'ट्रिलोबाइट' आदि हैं। दूसरे विभाग से लेकर चौथे विभाग तक जलीय बिच्छू-जैसे जंतु उत्पन्न हुए। चौथे विभाग की समाप्ति और पाँचवें तथा छठे भाग के मध्य में रीढ़वाली मछलियाँ पैदा हो गईं। इसके पूर्व तक निरस्थि (हड्डी से रहित) जंतु ही पैदा हुए थे। छठे और आठवें भाग के मध्य में अगले और पिछले पैरों (=हाथ-पैर) वाले विशाल जंतु उत्पन्न हुए। आठवें और नवें भाग के मध्य में बृहत् शरीरवाली समुद्रीय छिपकलियाँ उत्पन्न हुईं। नवें और ग्यारहवें भाग के मध्य में डिनोसौरस् डिप्लोडोकस्, ब्रांटोसोर स्टेगोसौर और उड़नेवाले सर्प आदि विशाल और भयंकर जंतु उत्पन्न हुए। ग्यारहवें विभाग और बारहवें विभाग के मध्य में सस्तन प्राणी—मैमथ, कटार के सदृश टेढ़े और लंबे दाँतवाले चीते, प्रारंभिक काल के बदसूरत और बड़े-बड़े बालवाले हाथी, घोड़े तथा ऊँट आदि जीव—उत्पन्न हुए। पुनः टशियरी-काल की समाप्ति के लगभग मनुष्याकार बंदरों—गोरिल्ला, औरांग उटान, गिब्बन और चिंपांजी आदि—के उपरांत, तथा प्रारंभिक काल के मनुष्य अथवा अर्द्धोन्नत होकर चलनेवाले लंगूर (पिथेकंथ्रोपस् एरक्टस्) के उपरांत, वर्त्तमान मनुष्य-जाति के पूर्व-पुरुषों का जन्म हुआ। अर्द्धोन्नत होकर चलनेवाले लंगूर की कुछ अस्थियों के अनुसंधान का श्रेय डाक्टर यूजीन डुबोइस् को दिया जाता है। जावा के 'ट्रिनिल' स्थान में विनष्ट-जातीय जिस जंतु के भग्न कंकाल का पता चला है, डाक्टर यूजीन डुबोइस् के मतानुसार वह भग्न कंकाल अर्द्धोन्नत होकर चलनेवाले लंगूर का ही है। एच० जी० वेल्स के मतानुसार प्लाइओसीन-काल की समाप्ति और प्लाइस्टोसीन-काल के प्रारंभ में—अर्थात् आज से पाँच-छः लाख वर्ष पूर्व—उक्त प्रकार के जंतुओं की सत्ता इस जगत् में थी। 'पिथेकंथ्रोपस् एरक्टस्' के बहुत पीछे, प्रारंभिक काल के मनुष्यों

कों—अर्थात् इओअंथ्रोपस् का—जन्म हुआ। सुसेक्स के 'पिल्टडाउन' नामक स्थान में जो भग्नास्थियाँ और भग्न कपाल आदि मिले हैं, वे संभवतः इओअंथ्रोपस् की सत्ता के ही प्रमाण हैं। कपाल-विद्या के विशेषज्ञों ने, तथा अवयव-संस्थानों की विशेषता के चतुर परीक्षकों ने, उपर्युक्त दोनों जातियों के प्राणियों में पर्याप्त अंतर उपलब्ध किया है। उन लोगों के कथनानुसार इन दोनों की सत्ता के समय में भी कुछ न्यून अंतर नहीं है। हीडलवर्ग के भग्न-कपाल और अस्थियाँ किसी अन्य तीसरी और अधिक विकसित जाति के मनुष्यों की कही जाती हैं। हीडल-वर्गीय कपालादि से संघटित प्राणी, ऐतिहासिकों के मतानुसार, संभवतः दो या ढाई लाख वर्ष पूर्व इस जगत् में जीवित दशा में विद्यमान थे। अतः इओअंथ्रोपस् का समय आज से छः और ढाई लाख वर्ष पूर्व के मध्य में कभी होना चाहिए।

यदि हम इस काल की प्राचीनता को कुछ न्यून करना चाहें, तो भी 'पिल्टडाउन' के कपाल का समय एक लाख वर्ष पूर्व रखना ही होगा। विक्रमाब्द से न्यूनातिन्यून पचास हजार वर्ष पूर्व चतुर्थ हिम-प्रवाह का समय है। कतिपय ऐतिहासिकों का मत है कि पिल्टडाउन में उपलब्ध कपाल तृतीय हिम-प्रवाह के समय का है। डाक्टर अविनाशचंद्र दास ने अपने ग्रंथ 'ऋग्वेदिक कलचर' के आठवें पृष्ठ पर इसी मत को स्वीकार किया है।

क्रो-मैग्नान की गुहा में मनुष्य का एक पूर्ण कंकाल मिला है। इसका समय चालीस हजार से पचीस हजार वर्ष के मध्य में स्थिर किया जाता है। इसको प्राचीन प्रस्तर-काल का कहते हैं। मेंटोन के निकट 'ग्रिमाल्डी' की गुफा में भी एक प्राचीन कंकाल मिला है। वह भी अर्वाग्वर्त्ती प्राचीन प्रस्तर-काल का कहा जाता है। एच० जी० वेल्स के मतानुसार योरप में आज से दस या बारह हजार वर्ष पूर्व नवीन प्रस्तर-काल प्रारंभ हुआ था। कतिपय अन्य स्थानों में नवीन प्रस्तर-काल का समय इससे कुछ सहस्र वर्ष पूर्व भी कहा जा सकता है। इन नवीन प्रस्तर-काल के मनुष्यों को अग्नि का ज्ञान था। वे लोग मिट्टी के बर्तन भी बना सकते थे—वन के कंद-मूल और फल-फूल तथा आखेट के द्वारा ही अपनी जीवन-वृत्ति को निष्पन्न करते थे—खाना पकाते भी थे और बहुधा कच्चा भी खाते थे। बकरा, भेड़, गाय, घोड़ा, सुअर तथा जंगली कुत्तों को भी पालने लग गए थे। वे न केवल अग्नि-द्वारा भोजन ही पकाते थे, अपितु अग्नि ही के द्वारा आत्मरक्षा भी करते थे—यहाँ तक कि अग्नि ही के द्वारा, इसी को प्रधान साधन मानकर, वे आखेट भी करते थे!

प्राचीन और नवीन प्रस्तर-काल के जिन उपकरणों के चित्र 'इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' आदि में दिए हुए हैं, उनसे सुंदर आखेट कर सकना न केवल कष्टसाध्य—अपितु बहुलांश में असाध्य भी है। भिन्न-भिन्न काल के विभिन्न-स्वरूप उपकरणों की प्रचुरता को ध्यान में रखकर ही प्राग्वर्त्ती प्राचीन प्रस्तर-काल, अर्वाग्वर्त्ती प्राचीन प्रस्तर-काल और नवीन प्रस्तर-काल आदि की संज्ञाएँ रखी गई हैं। मेरे विचार में 'अग्नि' आवश्यक उपकरण की भाँति भी रहा है। अतः अग्नि को अभिलक्षित करके इस कालिक विभाग में 'अग्नि-युग' अथवा 'वह्नि-युग' को भी विशिष्ट स्थान देना आवश्यक है। मैं इसी की स्थापना करना चाहता हूँ। यही सिद्ध करना मेरा अभीष्ट है।

प्रस्तर-काल आदि संज्ञाओं के हेतु

मनुष्य का आविर्भाव सबसे प्रथम कहाँ हुआ ? इस विषय में कई मत हैं। कोई कहते हैं कि प्रारंभिक मनुष्य उत्तरीय अफ्रिका में उत्पन्न हुआ। कोई कहते हैं, दक्षिणीय एशिया में। कोई कहते हैं, दक्षिण-पूर्वीय योरप में। सब मतों के समर्थक व्यक्ति अपने-अपने मत की पुष्टि में यथेष्ट युक्तियाँ देने का उद्योग करते हैं। किंतु मनुष्य चाहे कहीं भी जन्मा हो, पर यह तो निश्चित है कि आरंभ में मनुष्य को अपनी जीविका और आत्म-रक्षा के लिये कृत्रिम साधनों की आवश्यकता हुई। सभी जगह अरण्य थे, और सभी जगह आरण्य पशु। यदि मनुष्य के लिये भक्ष्य जंतु विद्यमान थे, तो सर्वत्र मनुष्य के भक्षक भी विद्यमान ही थे। अन्य जंतुओं—बाघ, सिंह, भेड़िया, हाथी, भैंसा आदि—के पास आत्म-रक्षा के लिये स्वाभाविक उपकरण हैं। किसी के पास तीव्र नख हैं—किसी के पास तीव्र दंत, और कोई अपने दृढ़ एवं निशित शृंगों से आत्म-रक्षा कर सकता है। किंतु मनुष्य के पास उपर्युक्त प्रकार का कोई स्वाभाविक उपकरण नहीं है। मनुष्य अपनी बुद्धि के बल से कृत्रिम उपकरणों का निर्माण कर उन्हीं से आत्म-रक्षा आदि करता है। मनुष्य को अपनी सहज बुद्धि से ही कृत्रिम उपकरणों के प्रयोग का ज्ञान हुआ। क्रमशः इन उपकरणों में विकास होता गया। मनुष्य ने पहले-पहल संभवतः वृक्षों की—स्वयं टूटकर गिरी हुई—लकड़ियों और इधर-उधर पड़े हुए असंस्कृत प्रस्तर-खंडों से ही आत्म-रक्षा आरंभ की। इन्हीं उपकरणों से आखेट आदि में भी साहाय्य लेना प्रारंभ किया। कुछ समय के उपरांत पत्थरों को संस्कृत और सुडौल तथा आखेट के योग्य बनाकर हिंस्र जंतुओं से अपनी रक्षा करने लगे। इतना ही नहीं, उन उपकरणों के द्वारा वध्य प्राणियों का वध भी करने लगे।

एच० जी० वेल्स के मतानुसार छः लाख वर्ष पूर्व से लेकर लगभग पैंतीस हजार वर्ष पूर्व तक प्राग्वर्त्ती प्राचीन प्रस्तर-काल है। पुनः पैंतीस हजार वर्ष पूर्व से लेकर लगभग पंद्रह हजार वर्ष पूर्व तक अर्वाग्वर्त्ती प्राचीन प्रस्तर-काल है। तदुपरांत नवीन प्रस्तर-काल का समय है। उपकरणों की दृष्टि से प्राचीन प्रस्तर-काल की दो विशिष्ट संज्ञाएँ हैं। छः लाख वर्ष पूर्व से लेकर चार लाख पचास हजार वर्ष पूर्व तक के उपकरण अधिक भद्दे और असंस्कृत हैं। आंगल-भाषा-भाषी ऐतिहासिकों ने उन उपकरणों का निर्देश 'रोष्ट्रोकेरिनट इंप्लेमेंट्स' शब्द से किया है। प्रथम प्राचीन प्रस्तर-काल के शेष उपकरण कुछ अच्छे और कुछ संस्कृत हैं। इनके आधार पर इस काल को एक विशिष्ट नाम—'माउस्टेरियन एज'—से पुकारते हैं। ये संज्ञाएँ अँगरेजी भाषा की हैं। हम प्रकृत में अँगरेजी भाषा की संज्ञाओं को ही स्वीकार किए लेते हैं।

डाक्टर अल्बर्ट चर्चवर्ड ने 'ओरिजिन एंड इवोल्यूशन आफ़ ह्यूमन रेस' में आज से बीस लाख वर्ष पूर्व से सत्रह लाख वर्ष पूर्व तक के समय को प्राचीन प्रस्तर-काल स्वीकार किया है। उनके मतानुसार प्रारंभिक खर्वाकार मनुष्यों (पिग्मी) के समय से लेकर 'स्टेलार-माइथास पीपुल' के समय तक प्राचीन प्रस्तर-काल ही है। 'निलाटिक नीग्रो' आदि का, समय इसी के मध्य में आ गया है। उन्होंने मंगोल प्रभृति जातियों के आदि-पुरुषों की 'स्टेलार-माइथास पीपुल' संज्ञा रक्खी है। उनके मतानुसार इन्हीं मंगोल प्रभृति जातियों के आदि-पुरुषों के समय से नवीन प्रस्तर-काल प्रारंभ होता है। कालक्रम से ज्यों-ज्यों मनुष्य के

कपाल का मस्तिष्क-स्थान बढ़ता गया, त्यों-त्यों उसके उपकरणों में कृत्रिम स्थिरता एवं सुंदरता भी बढ़ती गई। उनके मतानुसार वानर के कपाल का मस्तिष्क-स्थान अधिक से अधिक छः सौ क्यूबिक सेंटीमीटर होगा—पिग्मी का नौ सौ और निलाटिक (नाइल के समीप के) नीग्रो का ग्यारह सौ क्यूबिक सेंटीमीटर। मस्तिष्क-स्थान में इसी भाँति क्रमशः उन्नति होती गई। इस प्रकार बुद्धि के विकास के साथ ही साथ मनुष्य के उपकरण भी परिष्कृत होते गए। अन्य प्राणियों से मनुष्य की जो बौद्धिक विशेषताएँ हैं, उनमें आत्म-रक्षा अथवा आहार-प्राप्ति के निमित्त कृत्रिम साधनों को उपयोग में लाना भी अन्यतम मुख्य विशेषता है। अन्य प्राणी अपने स्वाभाविक उपकरण—तीव्र नख, दंत और शृंग आदि—को ही आत्म-रक्षा के उपकरण की भाँति प्रयुक्त करते हैं, परंतु मनुष्य आत्म-रक्षा एवं आहार की प्राप्ति के लिये कृत्रिम उपकरणों को भी व्यवहार में ला सकता है और चिरकाल से ला रहा है। कभी-कभी हाथी भी अपनी सूँड़ से ढेला आदि फेंककर प्रहार की चेष्टा करता है। और, बहुधा विकसित दशा के वानर भी ऐसी ही चेष्टा करते देखे गए हैं। पर वे भी कृत्रिम साधनों को प्रस्तुत करने की चेष्टा कभी नहीं करते। अन्य पशुओं से मनुष्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि मनुष्य भोजन इत्यादि पकाने और शीत आदि के निवारण तथा प्रकाश आदि के लिये अग्नि का व्यवहार कर सकता है; परंतु अन्य कोई प्राणी उक्त कार्यों के निष्पादन के निमित्त अग्नि का उपयोग नहीं कर सकता। मनुष्य को जब अग्नि का ज्ञान हो गया तब वह संपूर्ण पशु-जगत् का पूर्ण अधिपति हो गया। अग्नि को प्रज्वलित कर वह अन्य वन्य पशुओं से भली भाँति आत्म-रक्षा कर सकता था। यद्यपि प्रारंभ में कुछ काल तक मनुष्य को अग्नि का ज्ञान न था, तथापि भिन्न-भिन्न शाखाओं में प्रस्थित होने के पूर्व ही उसको अग्नि का ज्ञान हो चुका था। मनुष्य-समाज के प्राचीन और श्रेष्ठ आविष्कारों का अग्रणी यही 'अग्नि' है।

बहुत-से देशों की भाषाओं में 'अग्नि' के पर्यायवाची शब्द प्रायः सदृश ही हैं। जैसे—(१) संस्कृत में 'अग्नि', (२) लेटिन में 'इग्निस्', (३) लिट्रूएनियन में 'उग्निस्', और (४) स्काटिश में 'इंगले' इत्यादि। बहुत-से देशों में अग्नि को देवता मानकर उसकी पूजा भी प्रायः विशिष्ट महत्त्व के साथ की जाती है। अरणियों (लकड़ियों) की रगड़ से उत्पन्न होनेवाले जिस अग्नि का वैदिक नाम 'प्रमंथ' है, उसी को यूनानी लोग 'प्रोमेथियस्' नाम से पुकारते हैं। अरणि अथवा आग्नेय प्रस्तर-खंडों से मनुष्य ने अग्नि को कैसे उत्पन्न किया, अथवा अग्नि की उपयोगिता मनुष्य को कैसे विदित हुई—इन प्रश्नों का समाधान संभवतः यही हो सकता है कि या तो मनुष्य ने 'जंगल में लगी हुई आग' (दावानल) का साक्षात्कार किया होगा, अथवा ज्वालामुखी के समीपवर्त्ती अग्नि के दर्शन कर उसकी उपयोगिता और उत्पत्ति-क्षेत्र का ज्ञान प्राप्त किया होगा, अथवा प्रस्तर-खंडों के प्राकृतिक आघट्टन से उत्पन्न हुए अग्नि का साक्षात्कार करने के उपरांत ही प्राक्तन मनुष्यों के हृदय में इस वस्तु (अग्नि) के प्रयोग की ज्ञानरेखा उद्बुद्ध हुई होगी।

महाशय ई० ओ० जेम्स ने 'इंट्रोडक्शन टु अंथ्रायालाजी' में अग्नि की उत्पत्ति के विषय में प्रायः इसी प्रकार के विचार प्रदर्शित किए हैं। उनके मतानुसार प्लाइस्टोसीन-काल के प्रारंभिक समय में अग्नि का ज्ञान हो चुका था। ऋग्वेद के एक मंत्र (१० म०, २१ सू०, ५ म०) से विदित होता है कि

ऋषि अथर्वा ने अग्नि को उत्पन्न किया था। उन्होंने अग्नि को कब और कैसे उत्पन्न किया, एक मंत्र में इस विषय की कुछ और भी सूचनाएँ मिलती हैं। ऋग्वेद (६,१६,१३) में कहा गया है कि 'त्वामग्ने पुष्करादधि अथर्वा निरमन्थत'—अर्थात् हे अग्नि! अथर्वा ने (दो अरणियों अथवा आग्नेय शिलाखंडों को) रगड़कर कमल के फूल की पँखड़ियों से तुमको उत्पन्न किया। इस मंत्र से अग्नि के उत्पत्ति की कुछ प्रक्रिया विदित होती है। इसके अर्थ पर ध्यान देने से विदित होता है कि अग्नि को उत्पन्न करने के लिये दो पत्थर आपस में रगड़े गए होंगे और उस रगड़ से उत्पन्न होनेवाली चिनगारियों को कमल के फूल की पँखड़ियों पर इकट्ठा करके आग पैदा की गई होगी।

सन् १९३१ ई० में मैं दुर्गापूजा की छुट्टियों में भ्रमणार्थ चित्रकूट, झाँसी, ललितपुर आदि गया था। ललितपुर से थोड़ी ही दूर पर चेदिराज शिशुपाल की नगरी—आधुनिक 'चंदेरी'—है। एक दिन मैं 'चंदेरी' की सड़क पर भ्रमणार्थ जा रहा था। मार्ग और उसके समीप का भू-भाग पथरीला था। वहाँ कुछ लड़के-लड़कियाँ और पुरुष गाय-बैल आदि चरा रहे थे। उन्हें चिलम पीने की इच्छा हुई। तमाखू निकालकर उन्होंने चिलम में रक्खी। पुनः उन्होंने वहीं पास में पड़े हुए दो छोटे-छोटे पत्थर के टुकड़े उठाए। उन टुकड़ों को उन्होंने आपस में तीन-चार बार टकराया। टकराते ही उनसे छोटे-छोटे स्फुलिंग निकले। उन स्फुलिंगों—चिनगारियों—को उन्होंने सेमर की रुई में इकट्ठा कर लिया! पत्थर के साथ ही उससे संश्लिष्ट सेमर की रुई पर जो स्फुलिंग गिरे, उनमें फूँक मारकर उन्होंने थोड़ी ही देर में चिलम पीने लायक आग पैदा कर ली। इस घटना को देखकर मुझे बड़ा कौतूहल हुआ। भ्रमण से लौटकर जब मैं अपने विश्राम-स्थल पर आया, तब मुझे और भी आश्चर्य हुआ। मेरे एक स्निग्ध बंधु, प्रयाग-विश्वविद्यालय के विद्यार्थी, श्रीगोपालचंद्र द्विवेदी बी० एस-सी० ने मुझे बतलाया कि यहाँ पर हमारे समीपवर्त्ती बहुत-से नर-नारी इसी भाँति से अग्नि उत्पन्न करते हैं! उनसे मुझे यह बात भी विदित हुई कि यह पद्धति केवल दरिद्र लोगों में ही प्रचलित है। इस प्रत्यक्षदृष्ट घटना के आधार पर मेरा अनुमान है कि प्राक्काल में बहुधा इसी प्रक्रिया से आग पैदा की जाती होगी।

ऋग्वेद में कुछ और भी ऋचाएँ हैं जो अग्नि की उत्पत्ति पर यत्किंचित् प्रकाश डालती हैं। एक स्थल पर (ऋ० ६,१६,१४) कहा है कि 'अथर्वा के पुत्र दध्यङ् ने तुम (अग्नि) को प्रज्वलित किया है'। फिर दूसरे स्थल पर (ऋ० १,३१,१–२) कहा गया है कि आंगिरस् पुरुषों ने तुम (अग्नि) को उत्पन्न किया है। इसी भाँति एक तीसरे स्थल पर (ऋ० १,५८,६) उल्लेख है कि भृगुवंशी पुरुषों ने मनुष्यों के बीच में तुम (अग्नि) को प्रतिष्ठित किया है। एक अन्य ऋचा (१,३६,१९) में यही बात मनु के विषय में कही गई है। पुनः एक मंत्र (ऋ० १०,४५,१) में कहा गया है कि अग्नि पहले विद्युत् के रूप में आकाश में उत्पन्न हुआ। इससे इस बात की पुष्टि होती है कि संभवतः विद्युत् के पतन से किसी वृक्ष में आग लग गई हो, और सबसे पहले उसी अग्नि का ज्ञान प्रारंभिक मनुष्यों को हुआ हो। सूर्य और विद्युत्, दोनों, अग्नि के ही रूप कहे गए हैं—(ऋ० १,७९,१–३;१०,४५,३)। ऋग्वेद (१०,२०,७) में अग्नि को 'पत्थर का पुत्र' (अद्रेः सूनुः) भी कहा है। एक स्थल पर (ऋ० २,१२,३) और भी कहा गया है कि (योऽश्मनोरन्तः अग्निं जजान) 'जिस इंद्र ने दो पत्थरों अथवा बादलों के बीच में अग्नि उत्पन्न किया'...। यहाँ इस मंत्र में 'अश्मा'

शब्द आया है, जो द्व्यर्थक है। इसका अर्थ है—(१) बादल, और (२) पत्थर। यदि इसका अर्थ 'बादल' लिया जाय तो दो बादलों के बीच में उत्पन्न होनेवाला अग्नि 'विद्युत्' होगा, और यदि 'पत्थर' अर्थ माना जाय तो इससे उत्पन्न होनेवाला अग्नि 'स्फुलिंग-रूप'—चिनगारी—होगा। ऋग्वेद (३ म०, २९ सू०) के कई मंत्रों में अरणियों से भी अग्नि के उत्पन्न करने का उल्लेख है। फिर उसी में (ऋ० १,३४,२,४) अग्नि को 'द्विमातृक' भी कहा है, जिसका अर्थ है 'दो माताओं का पुत्र'। 'अग्नि' को दो माताओं का पुत्र इसी लिये कहा गया है कि वह दो अरणियों के संघर्षण से उत्पन्न किया जाता है। महाशय ई० ओ० जेम्स के विचारानुसार यह प्रक्रिया कतिपय अन्य स्थानों में भी प्रचलित थी। टस्मानिया के आदि-निवासी भी दो लकड़ियों को रगड़कर ही आग पैदा करते थे। डाक्टर अविनाशचंद्र दास ने इस विषय में कैप्टेन कुक के मत का उल्लेख करते हुए कहा है कि आस्ट्रेलिया के न्यू-साउथ-वेल्स के आदि-निवासी भी इसी प्रक्रिया से अग्नि उत्पन्न करते थे। स्थाली-पुलाक-न्याय से इन दो नामों का निर्देश पर्याप्त है।

अग्नि के ज्ञान ने मनुष्य को वस्तुतः मनुष्य बना दिया। आज-कल भी अग्नि का महत्त्व कुछ न्यून नहीं कहा जा सकता। अग्नि के वर्त्तमान महत्त्व और प्रभाव को स्वीकार करते हुए भी मैं एक विशिष्ट समय को 'अग्नि-युग' अथवा 'वह्नि-युग' कहना चाहता हूँ।

वह्नि-युग

वह्नि-युग के मानने की आवश्यकता क्यों हुई? इस संबंध में इतना ही वक्तव्य पर्याप्त है कि प्राचीन प्रस्तर-काल और नवीन प्रस्तर-काल के उपकरण, अग्नि की निश्चित और तात्त्विक सहायता के बिना, आखेट आदि में मनुष्य के योग्य सहायक होने में सर्वथा अपूर्ण और असमर्थ प्रतीत होते हैं। फ्रांस, इँगलैंड, बेलजियम आदि विदेशों में उत्खनन के द्वारा नाना भाँति के तीक्ष्ण एवं सुंदर तथा भद्दी और भुथरी आकृति के जो छोटे और बड़े उपकरण मिले हैं—जिनका आश्रय लेकर प्राचीन प्रस्तर-काल, मध्य प्रस्तर-काल और नवीन प्रस्तर-काल का स-हेतुक नामकरण-संस्कार किया गया है—वे सब स्थूल दृष्टि से ही आखेट आदि की सिद्धि प्रदान करने के अयोग्य प्रतीत होते हैं। उस समय के जिन उपकरणों के चित्र 'इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' आदि में दिए गए हैं, उनका प्रयोग यदि बड़ी दक्षता और पटुता से भी किया जाय, तो भी उनसे खरगोश, हरिण, सुअर और सेही-जैसे जंतुओं को मार लेना संभव नहीं देख पड़ता—शेर, चीता, भेड़िया और लकड़बग्घा-जैसे भयंकर एवं हिंस्र प्राणियों से आत्म-रक्षा कर सकने की बात तो बहुत दूर की है। अतः मेरा विचार है कि कुछ समय तक आखेट का प्रधान साधन 'अग्नि' ही था। यह मान लेने पर भी—कि इधर-उधर पड़े हुए पत्थरों, छोटी-बड़ी लकड़ियों और हड्डी आदि के अस्त्रों से भी (दधीचि की हड्डी से बना इंद्र का वज्र भी था) आखेट के द्वारा भक्ष्य द्रव्य प्राप्त किया जा सकता है—'अग्नि' के महत्त्व में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं आती।

मनुष्य स्वभावतः निरामिष-भोजी है। मनुष्य के दाँतों की बनावट से यही बात प्रमाणित होती है। बंदर आदि के दाँत और प्रायः आकार आदि भी मनुष्य के दाँतों एवं आकार आदि से मिलते-जुलते-से हैं। बंदर आदि भी निरामिष-भोजी हैं। अतः मनुष्य को भी स्वभावतः निरामिष-भोजी ही मानना युक्ति-युक्त है। जब मनुष्य केवल निरामिष भोजन करता था—वृक्षों के फल-फूलों को ही खाकर रहता था—नाना भाँति के कंद और बीज तथा शहद और दूध ही उसके प्रधान आहार-द्रव्य थे, तब

भी उसकी आत्म-रक्षा के लिये 'अग्नि' आवश्यक था। शीत-निवारण का प्रधान साधन भी 'अग्नि' ही था। यजुर्वेद के एक मंत्र में कहा है कि (अग्निर्हिमस्य भेषजम्) 'अग्नि ही शीत का औषध है'।

ऊन और रुई के प्रयोग के पूर्व चमड़े का ही कपड़ा पहना जाता था, यह बात संस्कृत के 'वस्त्र' शब्द से प्रकट होती है। 'वस्त्र' शब्द का अर्थ विचारनेवालों का मत है कि (१) 'वसा'=चर्बी, और (२) 'त्र'=रक्षक—इन दो पदों के योग से बने हुए 'वस्त्र' शब्द का प्रारंभिक अर्थ 'चर्म' ही है। चर्म ही शरीर के 'वसा' की रक्षा करता है। ऋग्वेद (१,९६,१) में एक मंत्र है—'देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदाम्'। इस मंत्र में आया हुआ 'द्रविणोदाः' शब्द और भी बहुत-से मंत्रों में आया है। यास्क मुनि ने 'निरुक्त' में 'द्रविणोदाः' शब्द पर विचार करते हुए कहा है—'द्रविणोदाः अग्निर्भवति, स हि धनबलयोर्दातृतमः' अर्थात 'अग्नि' का ही नाम 'द्रविणोदाः' है; क्योंकि 'अग्नि' ही धन और बल का सबसे मुख्य प्रदाता है। ऋग्वेद के जिस मंत्र-प्रतीक को मैंने ऊपर उद्धृत किया है उसका सरल अर्थ इस प्रकार है—'देवताओं ने धन और बल के देनेवाले अग्नि को धारण किया'। यहाँ पर यह कहना अनावश्यक है कि प्राचीन काल में 'पशु-धन' ही 'सर्व-प्रधान धन' था। इस 'धन' और आत्म-रक्षा आदि के सामर्थ्य का दाता यही 'अग्नि' था। इसी लिये तत्कालीन लोग इसे 'अग्र+णी=आगे ले चलनेवाला' कहा करते थे। इसी 'अग्नि' को अभिलक्षित करके ऋग्वेद के प्रथम मंडल का प्रथम सूक्त भावुक पुरुषों के मुख से निकला हुआ प्रतीत होता है। प्रथम मंडल के प्रथम सूक्त के मंत्रों में एक मंत्र यह भी है—'अग्निः पूर्वेभिः ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत'—अर्थात् अग्नि पुराने और नए, दोनों समय के, ऋषियों द्वारा पूजनीय है। अस्तु। भौतिकाग्नि के पूजक और प्रशंसक उन प्राचीन लोगों का अधिक परिचय देने की आवश्यकता नहीं।

'अग्नि' के द्वारा ही वैदिक काल के लोग अनुदिन पुष्ट करनेवाला धन (अन्न-वस्त्र आदि) प्राप्त किया करते थे। ऋग्वेद (१,१,३) में इसका स्पष्ट रूप से उल्लेख मिलता है—'अग्निना रयिमश्नवत् पोषमेव दिवे दिवे। यशसं वीरवत्तमम्।'

'अग्नि' के द्वारा ही वैदिक काल के लोग अपने निवास-स्थान की रक्षा भी करते थे। हिंस्र जंतु इस अग्नि की ही सहायता से मारे जाते थे। इस प्रकार की बहुत-सी बातें ऋग्वेद के कुछ मंत्रों से विदित होती हैं। मैं इस विषय के कुछ मंत्र स्थाली-पुलाक-न्याय से यहाँ उद्धृत किए देता हूँ—

"बधैर्दुःशंसाँ अप दूढ्यो जहि, दूरे वा ये अन्ति वा केचिदत्रिणः। अथा यज्ञाय गृणते सुगं कृध्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव।" (ऋ०१,९४,९)—अर्थात् "हे अग्ने! बुरा चाहनेवालों को मार; हमारे संबंध में बुरा विचार रखनेवालों को मार; जो हमको खा जानेवाले हैं, वे चाहे दूर हों या समीप, उन्हें भी तू मार। इसके अतिरिक्त तेरी स्तुति करनेवाले के (हमारे) सब मार्ग साफ हों। तेरी मित्रता में रहनेवाले हम नष्ट न हों।"

"नू च पुरा च सदनं रयीणां जातस्य जायमानस्य च क्षाम्। सतश्च गोपां भवतश्च भूरेर्देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदाम्।" (ऋ०१,९६,७)—अर्थात् "पहले और आज के हमारे धन के सदन

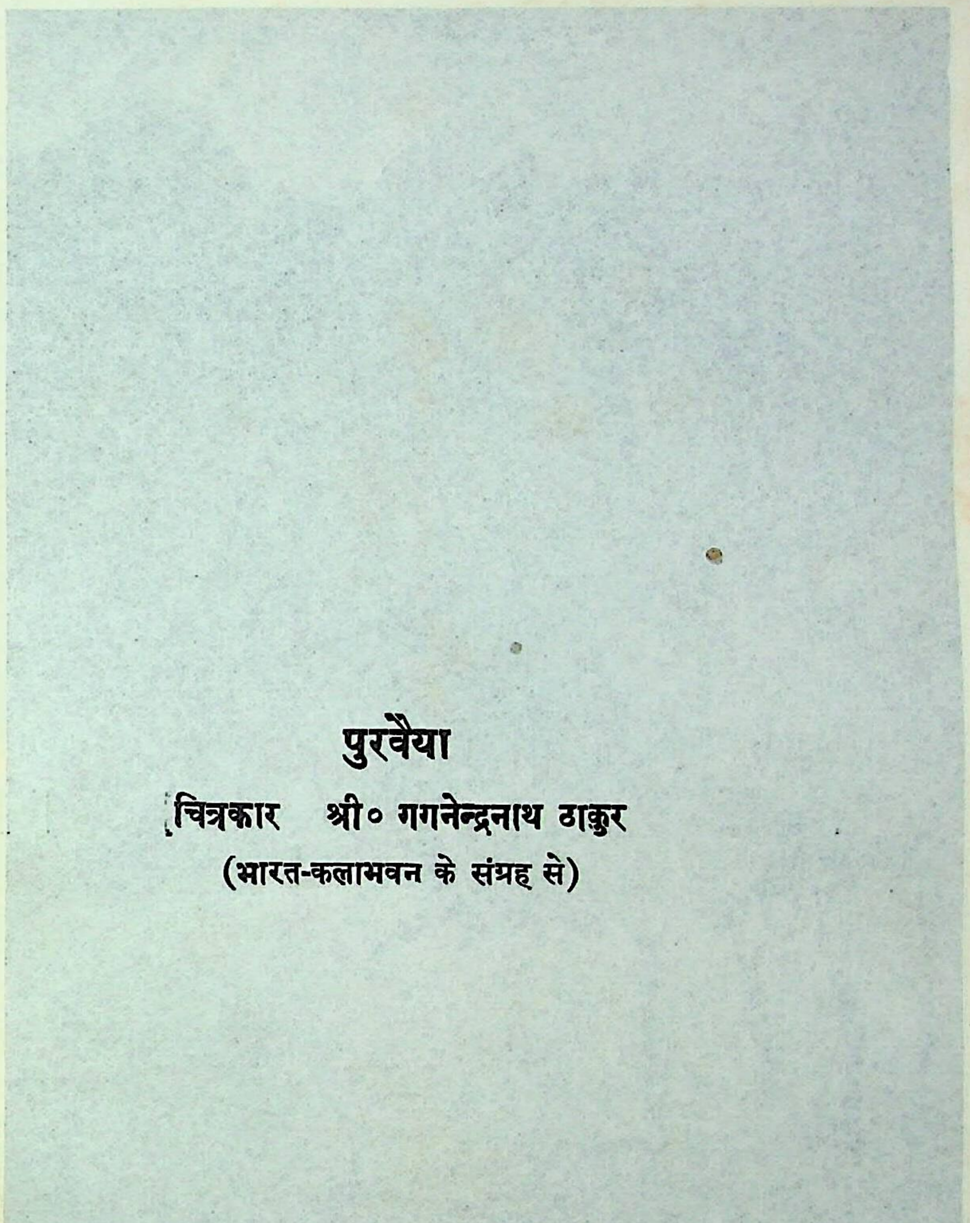

पुरवैया

चित्रकार श्री० गगनेन्द्रनाथ ठाकुर

(भारत-कलाभवन के संग्रह से)

भी उनको आत्म-रक्षा के लिये 'अग्नि' आवश्यक था। [illegible] का प्रधान साधन [illegible] यजुर्वेद के एक मंत्र में कहा है कि (अग्निर्हिमस्य भेषजम्) "अग्नि ही शीत का औषध है"।

अन्न और [illegible] के [illegible] के पूर्व पकाने का ही [illegible] [illegible] जाता था, यह बात [illegible] 'यक्ष' शब्द से प्रकट होती है। 'यक्ष' शब्द का अर्थ [illegible] का मत है कि (१) 'पक्ष' [illegible] और (२) 'ष'=रक्षक—इन दो शब्दों के योग से बने हुए 'पक्ष' शब्द का [illegible] अर्थ 'अग्नि' ही है। [illegible] ही शरीर के 'पक्ष' की रक्षा करता है। ऋग्वेद [illegible] में एक मंत्र है—[illegible] द्रविणोदाम्'। इस मंत्र में आया हुआ 'द्रविणोदा' शब्द [illegible] [illegible] ने 'निरुक्त' में 'द्रविणोदाः' शब्द पर विचार करते हुए कहा है—[illegible] [illegible]' अर्थात् 'अग्नि' का ही नाम 'द्रविणोदाः' है, क्योंकि 'अग्नि' [illegible] [illegible] है। ऋग्वेद के जिस मंत्र-प्रतीक [illegible] प्रकार है—'देवताओं ने धन और बल के देनेवाले अग्नि को [illegible] किया'। [illegible] आवश्यक है कि प्राचीन काल में 'पशु-धन' ही [illegible] था। इस 'धन' और [illegible] आदि के सामर्थ्य का दाता यही 'अग्नि' था। [illegible] [illegible] कहा करते थे। इसी 'अग्नि' को [illegible] [illegible] पुरुषों के मुख से निकला हुआ प्रतीत होता है। प्रथम [illegible] [illegible] है—'अग्निः पूर्वेभिः ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत'—अर्थात् अग्नि पुराने और नये [illegible] ऋषियों द्वारा पूजनीय है। अस्तु। भौतिकाग्नि के पूजक [illegible] परिचय देने की आवश्यकता नहीं।

'अग्नि' के द्वारा ही वैदिक काल के लोग [illegible] धन (अन्न-पान आदि) प्राप्त किया करते थे। ऋग्वेद (१,१,३) में इसका स्पष्ट रूप से उल्लेख मिलता है—'अग्निना रयिमश्नवत् पोषमेव दिवे दिवे। यशसं वीरवत्तमम्।'

'अग्नि' के द्वारा ही वैदिक काल के लोग अपने निवास-स्थान की रक्षा भी करते थे। [illegible] अग्नि की ही सहायता से मारे जाते थे। इस प्रकार की बहुत-सी बातें ऋग्वेद के कुछ मंत्रों से विदित होती हैं। मैं इस विषय के कुछ मंत्र स्थाली-पुलाक-न्याय से यहाँ उद्धृत किए देता हूँ—

"यदीर्दुःशंसो अप दूढ्यो जहि, दूरे वा ये अन्ति वा केचिदत्रिणः। अथा यज्ञाय गृणते सुगं कृध्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव।" (ऋ०१,९४,९)—अर्थात् "हे अग्ने! बुरा बोलनेवालों को मार; हमारे [illegible] से बुरा विचार रखनेवालों को मार; जो हमको खा जानेवाले हैं, वे चाहे दूर हों या समीप, उन्हें भी [illegible] इसके अतिरिक्त तेरी स्तुति करनेवाले के (हमारे) सब मार्ग साफ हों; तेरी मित्रता में [illegible] नष्ट न हों।"

"नू च पुरा च सदनं रयीणां जातस्य च जायमानस्य च क्षाम्। सतश्च [illegible] अग्निं धारयन् द्रविणोदाम्।" (ऋ०१,९६,७)—अर्थात् "पहले और [illegible]

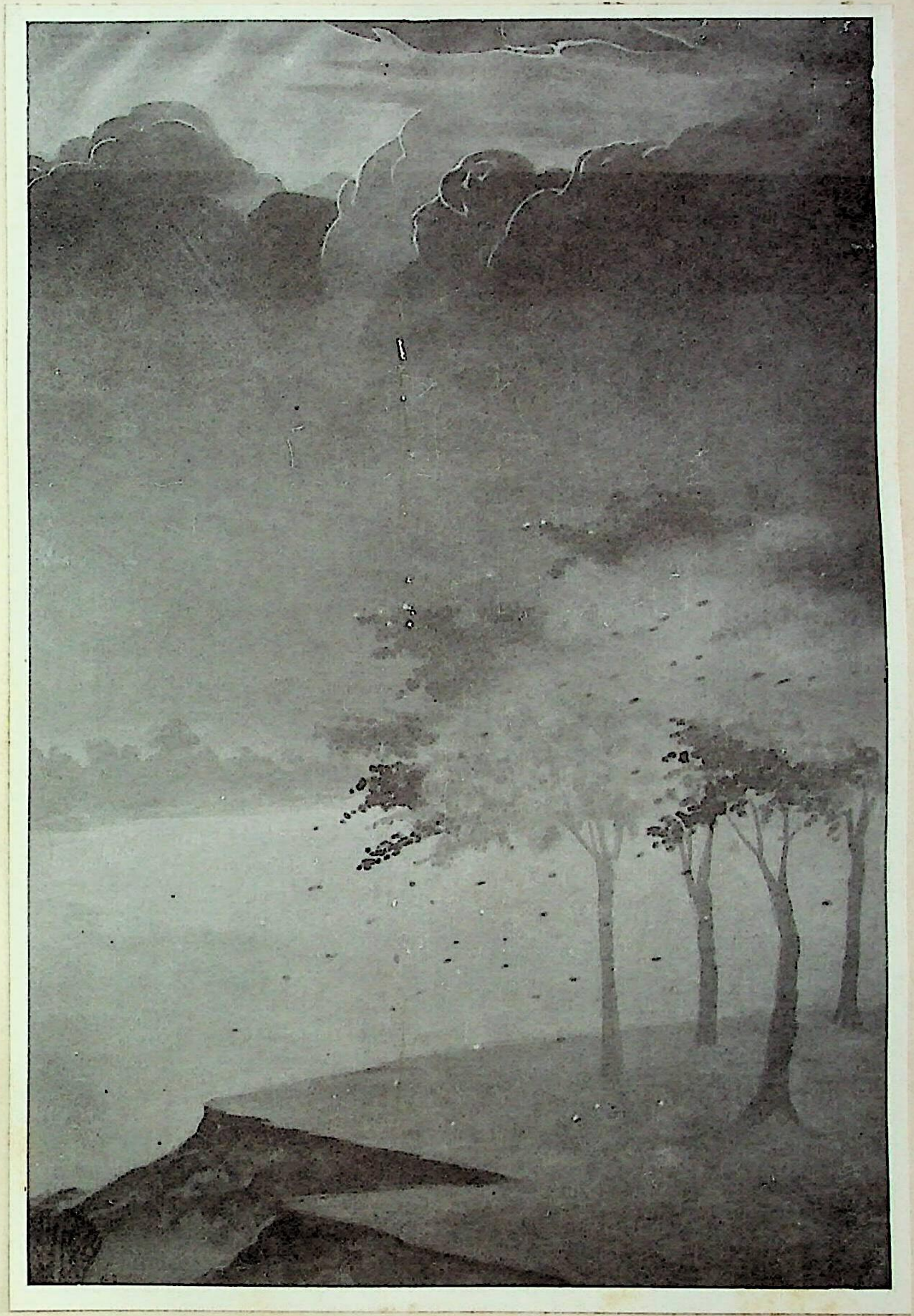

(=घर=हेतु), उत्पन्न हुए और उत्पन्न होनेवाले (धन के) रक्षा करनेवाले, वर्त्तमान और आगे मिलनेवाली हमारी वस्तुओं के बचानेवाले, धन और बल के दाता इस 'अग्नि' को देवताओं ने ग्रहण किया है।"

"जातवेदसे सुनवाम सोमं अरातीयतो निदहाति वेदः। स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा नावेव सिन्धुं दुरितात्यग्निः।" (ऋ०१,९९,१)—अर्थात् "जातवेदा अग्नि के लिये हम सोम को निचोड़ें। (अग्नि का नाम 'जातवेदाः' क्यों है ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए यास्काचार्य ने इस शब्द के बहुत-से निर्वचन किए हैं। ब्राह्मण-ग्रंथों के अनुसार अग्नि का नाम 'जातवेदाः' इसलिये है कि इसने उत्पन्न होते ही पशुओं को पाया।) हमसे शत्रुता करनेवाले के धन और बल को यह अग्नि जला दे। दुर्गम और भय-प्रद मार्गों के पार भी यही अग्नि हमको पहुँचाता है, जैसे नाव समुद्र के पार पहुँचाती है।"

'अग्नि' को ऋग्वेद में 'दूत' भी कहा है। तत्कालीन मनुष्य इस दूत को आगे रखकर अपने सारे कार्य किया करते थे। ऋग्वेद में एक मंत्र है—'अग्निं दूतं पुरोदधे'—अर्थात् 'अग्नि-रूपी दूत को मैं आगे रखता हूँ'।

'अग्नि' का पर्यायवाची एक शब्द 'वैश्वानर' भी है। इस शब्द का निर्वचन करते हुए यास्क कहते हैं—अग्नि का नाम 'वैश्वानर' इसलिये है कि सब मनुष्य इसको ले चलते हैं अथवा सब मनुष्यों को ले चलनेवाला—नायक—यही है। यजुर्वेद के कतिपय मंत्रों (अध्याय ३, मंत्र १७–२५) में भी इसी भाव को पुष्ट किया गया है। यथा—"अग्ने त्वन्नोऽअन्तम उत त्राता शिवो भवा वरूथ्यः। वसुरग्निः वसुश्रवा अच्छा नक्षि द्युमत्तमꣳ रयिन्दाः।" (यजु० ३,२५)। "स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव। स च स्वानः स्वस्तये।" (यजु०३,२४)—इन मंत्रों में अग्नि को 'सर्वदा समीप में रहनेवाला रक्षक और घर के लिये हितकारी' कहा है। 'पिता के समान अच्छी-अच्छी वस्तुएँ देनेवाला' भी अग्नि को ही कहा है। यजुर्वेद का ही एक अन्य मंत्र है जिसमें 'अग्नि' को 'गृहपति' कहा गया है—"अयमग्निर्गृहपतिर्गार्हपत्यः प्रजापाः वसुवित्तमः। अग्ने गृहपतेऽभिद्युम्नमभि सह आयच्छस्व।" (य०३,३९)—इन सब मंत्रों के अर्थों पर विचार करके जब हम भिन्न-भिन्न युगों के नाना प्रकार के प्रस्तर के उपकरणों पर दृष्टिपात करते हैं, तब यह बात आपाततः मन में आ जाती है कि प्रस्तर आदि के उपकरण वस्तुतः बहुत ही गौण उपकारक थे; आत्म-रक्षा और आखेट दोनों का मुख्य उपकारक 'अग्नि' ही था।

नवीन प्रस्तर-काल में बहुत-से पशु पाल लिए गए थे। तैत्तिरीय संहिता (७,१,१,४–६) में कहा गया है कि प्रजापति ने सबसे पहले बकरे को बनाया, फिर भेड़ को, तब गौ को, और अंत में घोड़े को। इस आख्यायिका का तत्त्व डाक्टर अविनाशचंद्र दास ने यह निकाला है कि मनुष्य ने जिस क्रम से पशुओं को पाला है उसी क्रम का इसमें निर्देश है। यह निष्कर्ष मुझे भी सर्वथा अयुक्त नहीं प्रतीत होता। इन पशुओं के अतिरिक्त जंगली कुत्ता और 'बाज' नामक पक्षी भी पाला गया था। पक्षियों में संभवतः बाज को ही मनुष्य ने सबसे पहले पाला था। कुत्ता और बाज, दोनों ही, आखेट में मनुष्य की सहायता किया करते थे। कुछ पुरुषों ने कतिपय सुंदर प्रमाणों के आधार पर यह स्थिर किया है कि कुत्ता और बाज प्राचीन प्रस्तर-

काल में ही पाल लिए गए थे। 'कुत्ता' रात्रि में पहरा देता और दिन में शिकार में सहायता किया करता था। 'बाज' अन्य पक्षियों को मारकर अपने स्वामी को देता था; इसकी सहायता से मांस सुप्राप्य हो गया। चिड़ियों के अंडे तो मनुष्य को सरलता से मिल सकते थे। अंडों को प्राप्त करने के लिये विशेष प्रयत्न अपेक्षित न था। उथले तालाब से मछलियों को पकड़ लाने में विशेष नैपुण्य और प्रयास की आवश्यकता न थी। हाँ, भयंकर, विशाल, बलवान् और शीघ्रगामी प्राणियों को मारने अथवा पकड़ने के लिये विशेष बल और अच्छे उपकरणों की आवश्यकता थी। किंतु प्राचीन और नवीन प्रस्तर-काल के सामान्य उपकरण इस कार्य के संपादन में सर्वथा अयोग्य सिद्ध हुए।

पहले कहा जा चुका है कि मनुष्य को बल और धन देनेवाला 'अग्नि' ही था। प्राचीन काल के मनुष्यों ने अग्नि से बड़े-बड़े कार्य सिद्ध किए। अपनी गुफा अथवा भूमि में खोदे गए छोटे-छोटे गड्ढों के समीप अग्नि को प्रज्वलित कर—ईंधन आदि के प्रक्षेप से उसको सुदीप्त रखकर—प्राचीन काल के मनुष्य अपने बहुत-से कार्य सिद्ध कर लेते थे। इस सुदीप्त अग्नि की धधकती ज्वालाओं को देखकर दिन या रात में भयंकर और हिंस्र पशु उनके वास-स्थान के समीप नहीं आते थे। यही 'अग्नि' शीत-काल में शीत से बचाता था, अँधेरे में प्रदीप का काम देता था। उसी काल में इसकी सहायता से भोजन भी पकाया जाने लगा था। 'अग्नि'-देव की पूजा से शनैः-शनैः 'अग्निहोत्र'-जैसे पवित्र कर्मों की भी उत्पत्ति हुई।

यह भी पहले कहा जा चुका है कि प्राचीन काल में आखेट का प्रधान सहायक 'अग्नि' ही था। मनुष्य के मन में जब मांस खाने की रुचि उत्पन्न हो गई तब उसने नाना प्रकार के जंतुओं का आखेट करना आरंभ कर दिया। सेही, खरगोश आदि जानवरों के वासस्थानों (माँदों या विवरों) का अनुसंधान कर उनके मुख-द्वार पर मनुष्य अग्नि प्रज्वलित कर देता था। अग्नि की ज्वाला और धुएँ से पीड़ित होकर बिलेशय जंतु बहुधा गुफा में ही मरण-प्राय हो जाता था। कभी-कभी गुफा से बाहर निकलकर भागने की भी चेष्टा करता था, किंतु कुछ दूर पर जलाए गए सूखे पत्तों और लकड़ियों की ज्वाला से झुलसकर अचेत हो जाता था। उसी अचेतन अवस्था में उसके ऊपर प्रस्तर के उपकरणों का प्रहार कर दिया जाता था। इस भाँति अग्नि को आगे रखकर, प्रस्तर-काल के क्षुद्र उपकरण, शीघ्रगामी और बलिष्ठ जंतुओं की भी इह-लीला समाप्त कर दिया करते थे। अग्नि के द्वारा आखेट करने की मनोरंजक और सरल विधि यही है।

अग्नि के द्वारा आखेट करने के उपरांत प्राचीन काल के मनुष्यों को अर्द्ध-दग्ध मांस खाने का अवसर दैवात् मिला। दैवात्-प्राप्त यह अर्द्ध-दग्ध मांस उनको सुस्वादु प्रतीत हुआ। अतएव वे भुना हुआ मांस खाने लगे। इस प्रकार चिरकाल तक अग्नि "द्रविणोदाः, जातवेदाः, वैश्वानर, वह्नि, हुतभुक्, हव्यवाहन, पावक" आदि अनेक अन्वर्थ नामों को चरितार्थ करता रहा। धन, बल, वसु और रयि आदि को यही अग्नि उपलब्ध करता रहा। वस्तुतः यही 'सम्राट्' था। यजुर्वेद में कहा भी है—"आगन्म विश्ववेदसमस्मभ्यं वसुवित्तमम्। अग्ने सम्राडभिद्युम्नमभिसह आयच्छस्व।" (य० ३,३८)।

‘वह्नि-युग’ की मर्यादा

वह्नि-युग का समय कब से कब तक रक्खा जाय, यह प्रश्न भी बड़े महत्त्व का है। इस पर मैंने अभी तक प्रकाश नहीं डाला। अग्नि का महत्त्व पहले भी था, आज भी है। तब फिर कौन-सी विशिष्ट बात है जिसके आधार पर वह्नि-युग की सीमा निर्दिष्ट की जाय? इस प्रश्न के संबंध में मेरा सरल और सामान्य विचार यह है कि अग्नि के ज्ञान के समय से लेकर उस समय तक ‘वह्नि-युग’ समझना चाहिए, जब तक अग्नि ही ‘गृहपति’ और ‘सम्राट्’ था—अर्थात् जब तक मनुष्य अपनी रक्षा के लिए सुंदर एवं सुखद गृहों का निर्माण न कर सके थे—जब तक वन्य पशुओं से आत्म-रक्षा करने का मुख्य साधन अग्नि ही था—जब तक राजा और प्रजा तथा संपत्ति और दारिद्र्य का विकसित रूप नहीं प्रकट हुआ था। जिस समय यही अग्नि ‘सम्राट्’ कहा जाता था, उसी युग का नाम है ‘वह्नि-युग’। प्रागैतिहासिक काल से लेकर लगभग दस सहस्र वर्ष पूर्व तक—अर्थात् नवीन प्रस्तर-काल तथा धातु-युग के प्रारंभिक समय तक—‘वह्नि-युग’ ही है। जैसे प्राचीन प्रस्तर-काल, नवीन प्रस्तर-काल, पित्तल-युग और लौह-युग का समय भिन्न-भिन्न देशों के लिये विभिन्न सीमावाला है वैसे ही ‘वह्नि-युग’ के संबंध में भी समझना चाहिए। इस वह्नि-युग में इतनी विशेषता अवश्य है कि सब देशों और सब जातियों के इतिहास के साथ इसका अनिवार्य संबंध है। अन्य कालों और युगों का संबंध प्रत्येक देश के साथ निश्चित और एकांतिक नहीं है। मैंने जिस ‘वह्नि-युग’ की स्थापना का उद्योग किया है उसका विशद आभास ‘वेदों’ में—प्रधानतः ऋग्वेद-संहिता में—दृष्टिगोचर होता है।

‘तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाहि’—यजुः (३,१७)।

* * *

चातक

पंछी जग केते दई दई जिन्हैं रूपरासि सुरहू दिए हैं हठि हियो जानै छोरि लेत।
भावै पै न मोहि कोउ इतो जितो चातक जो आपनी पुकार ही में आपुनो दरस देत॥
आजु लौ न पेख्यौं जाहि कैसो रूप कैसो रंग है अराल कै कराल जानै किधौ स्याम-सेत।
पूरन पढ़ी पै जाने पाटी प्रेम की पुनीत जानत जो रीत कैसें जात है निबाह्यो हेत॥

कृष्णदास

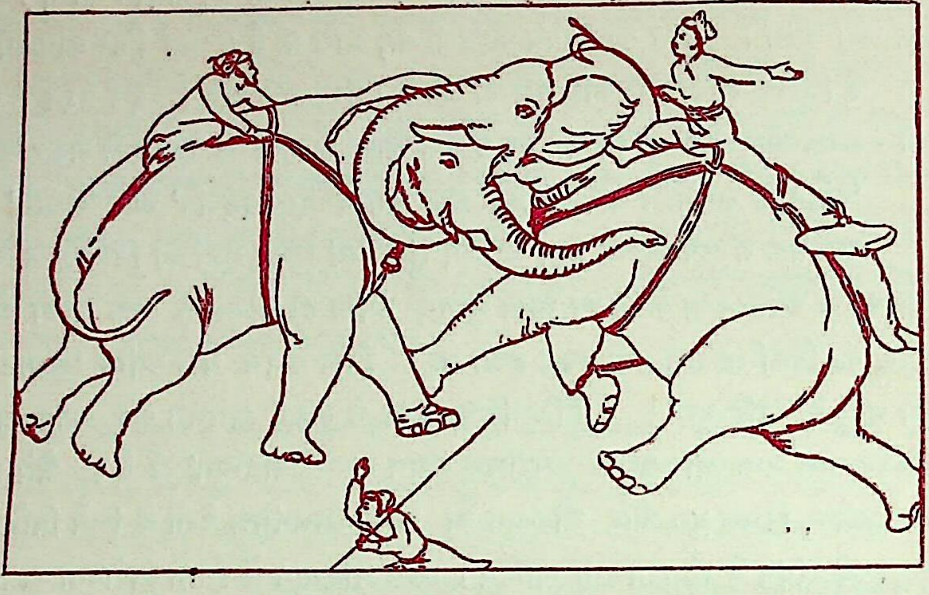

भारतीय इतिहास में राजपूतों के इतिहास का महत्त्व

महाराज-कुमार श्री रघुवीरसिंह, बी० ए०, एल-एल० बी०

राष्ट्रीय इतिहास में एकता

प्रत्येक राष्ट्र के इतिहास में एक ऐसी एकता पाई जाती है जो राजनीतिक परिवर्त्तनों के कारण भी भंग नहीं होती। यह एकता मानवीय स्वभाव में पाई जानेवाली समानता के आधार पर स्थित है। राष्ट्र में समय-समय पर होनेवाली क्रांतियाँ, उत्थान-पतन तथा अन्य महान् परिवर्त्तन मानव-स्वभाव के प्रस्फुटन के ही उदाहरण-मात्र हैं। प्रत्येक राष्ट्र के इतिहास में सर्वदा मध्यगामिनी (Centripetal) तथा मध्योत्सारिणी (Centrifugal) प्रवृत्तियाँ भिन्न-भिन्न प्रमाण में पाई जाती हैं। इनके प्रमाण में विभिन्नता ही राष्ट्र में परिवर्त्तन तथा क्रांतियों का कारण होती है। किंतु ये दोनों प्रवृत्तियाँ राजनीतिक क्षेत्र में मानवीय स्वभाव-वैचित्र्य तथा उसकी भिन्न-भिन्न इच्छाओं के प्रदर्शन-मात्र हैं। अतएव उनके प्रकट होने से राष्ट्रीय इतिहास में पाई जानेवाली एकता में किसी प्रकार बाधा उत्पन्न नहीं होती।

राष्ट्र और जाति

राष्ट्र का प्राधान्य तथा जातियों का प्राधान्य—ये दो विभिन्न आदर्श ही दोनों विरोधिनी प्रवृत्तियों के कारण होते हैं। भिन्न जातियाँ जब संगठित होकर एक राजनीतिक स्वरूप ग्रहण करती हैं तब वे एक राष्ट्र का निर्माण करती हैं, और राष्ट्र के उत्थान के साथ ही जातियों का राजनीतिक महत्त्व घट जाता है। परंतु जब-जब जातियाँ स्वयं संगठित होकर अपना अस्तित्व अलग-अलग स्थापित करती हैं तथा अपना प्राधान्य बनाए रखने का प्रयत्न करती हैं, तब-तब जातियों का उत्थान होता है, और यह मध्योत्सारिणी प्रवृत्ति राष्ट्र के अस्तित्व को नगण्य बना देती है। राजनीतिक क्षेत्र में राष्ट्र तथा जातियों का सापेक्ष्य महत्त्व ही इतिहास में एक या दूसरी प्रवृत्ति का महत्त्व स्थापित करता है।

ये दोनों प्रवृत्तियाँ प्रायः सर्वत्र पाई जाती हैं। प्रत्येक राष्ट्र तथा देश के इतिहास में उनके अस्तित्व का आभास मिलता है। भारतीय इतिहास में ही नहीं, किंतु योरपीय इतिहास में भी ये दोनों प्रवृत्तियाँ समय-समय पर प्रकट हुई हैं। किंतु भारत में योरप की अपेक्षा मध्यगामिनी प्रवृत्ति अधिक पाई जाती है। रोमन साम्राज्य के नष्ट होने के बाद योरप का एक सुसंगठित साम्राज्य, योरपीय राजनीतिज्ञों के लिये, एक स्वप्नमात्र रह गया। और, कुछ शताब्दियों से तो राष्ट्रीय संगठन का आदर्श ही बदल गया है। किंतु भारत में तो 'सार्वभौम राज्य' तथा 'चक्रवर्ती राजा' की धारणा बहुत ही पुरानी है। जब-जब भारत में उपयुक्त राजनीतिक परिस्थितियाँ प्रकट हुईं, तथा जब-जब सुयोग्य महान् शासकों ने भारतीय रंगमंच पर पदार्पण किया, तब-तब भारत में बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापित हुए। इसके विपरीत जब-जब राष्ट्रों के राजनीतिक जीवन में पतन हुआ, तथा ज्यों ही पतनोन्मुख साम्राज्य में महान् सम्राटों का अभाव पाया गया, मध्योत्सारिणी प्रवृत्ति प्रकट हो गई।

दोनों प्रवृत्तियों के अध्ययन की आवश्यकता

इतिहास का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करने तथा उसकी प्रवृत्तियों को जानने के लिये केवल मध्यगामिनी प्रवृत्ति के अध्ययन से ही काम नहीं चलता। प्रायः इतिहासकार केवल मध्यगामिनी प्रवृत्ति पर ही ध्यान देते हैं; क्योंकि उनके लिये राष्ट्र-निर्माण ही एक महत्त्व की घटना होती है। राष्ट्र-भंग भी एक बड़ी घटना है, किंतु वे प्रायः उन प्रवृत्तियों की ओर ध्यान नहीं देते जो राष्ट्र-भंग में सहायता देती हैं। परंतु मेरे विचारानुसार तो यह अत्यावश्यक है कि मध्योत्सारिणी प्रवृत्ति का अध्ययन भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना मध्यगामिनी प्रवृत्ति का। यदि एक राष्ट्रनिर्माण में सहायता देती है, तो दूसरी उसी राष्ट्र का विध्वंस करती है। साथ ही, इतिहास का अध्ययन केवल उसमें लिखी गई घटनाओं के कारण ही महत्त्व का नहीं है; इतिहास का सबसे महान् लाभ तथा उपयोग यह है कि वह भविष्य के लिये पथ-प्रदर्शक हो। और, आज जब पुनः नवीन राष्ट्र-निर्माण के लिये प्रयत्न किए जा रहे हैं, तब मध्योत्सारिणी प्रवृत्ति के अध्ययन की विशेष आवश्यकता है; क्योंकि तभी हम ऐसा राष्ट्र-निर्माण कर सकेंगे जिसमें आज तक पाई जानेवाली समग्र कुप्रवृत्तियों का अभाव हो।

भारतीय इतिहास में सम्राट् हर्ष के बाद हिंदू-भारत का पतन हुआ, और कोई छः शताब्दी तक, जब मुसलमानों ने भारत-विजय की, मध्योत्सारिणी प्रवृत्ति का एकच्छत्र शासन रहा[१]। आधुनिक भारत के लिये उन दिनों का इतिहास विशेषरूपेण अध्ययनीय है। हिंदू-भारत का पतन, संसार के इतिहास की एक विशिष्ट घटना है और इस युग के अंतिम दिनों में राजपूत ही भारतीय राज्यों पर शासन करते थे। स्मिथ के मतानुसार यह युग 'राजपूत-काल' के नाम से कहा जाना चाहिए।[२] राजपूतों की राजनीति में मध्योत्सारिणी प्रवृत्ति का प्राधान्य था।[३] राजनीतिकदृष्टि से इस काल में राजाओं के

---

[१] विंसेंट स्मिथ—'अर्ली हिस्ट्री आफ इंडिया'—तृतीय संस्करण, पृष्ठ ३९६-७

[२] विंसेंट स्मिथ—'आक्सफर्ड हिस्ट्री आफ इंडिया'—सन् १९२० का संस्करण, पृष्ठ १७२

[३] प्रोफेसर ईश्वरीप्रसाद—'मेडीवल इंडिया'—द्वितीय संस्करण, प्रस्तावना, पृष्ठ ११

'दैवी अधिकार' के सिद्धांत का प्राधान्य था। राजाओं का एक-सत्तात्मक शासन था, प्रजा का उसमें कुछ भी हाथ न था।[१] किंतु साथ ही इन राज्यों के संगठन में जागीर की प्रधानता थी।[२] राज्यों में राजनीतिक एकता नहीं पाई जाती थी। बड़े-बड़े राज्यों में प्रायः अनेकानेक छोटे राजा थे, जो उस बड़े राज्य की अधीनता स्वीकार करते थे। मध्य-कालीन हिंदू-भारत में जब कोई राज्य या देश जीते गए तब केवल वे देश या राज्य अधीन कर लिए गए। उस समय की विजयों से यह मतलब नहीं था कि वे देश राज्य में पूर्णतया सम्मिलित कर लिए जायँ[३]। जो देश राजा के अधीन होते थे, वे 'खालसा' कहलाते थे; उनके शासन की देख-रेख प्रायः राजा ही करते थे। किंतु जो कर्मचारी काम करते थे, उनका वेतन प्रायः जागीरें देकर चुकाया जाता था।[४] राज्यों का सैनिक संगठन भी जागीर-प्रधान हो गया था। स्थायी सेना रखने की प्रथा घटती जाती थी। जागीरों द्वारा भेजी जानेवाली सेना से ही राज्यों का काम चलता था।[५] इस प्रकार तत्कालीन राज्यों का संगठन ही ऐसा हो गया था कि उसमें राज्यों की आंतरिक शक्ति घट गई। राज्यों की शक्ति घटने के परिणाम केवल दो ही हो सकते थे—राज्य में अराजकता का होना, या उस राज्य का दूसरी किसी सत्ता के अधीन होना।

हिंदू-भारत का पतन—"राजपूत-काल"—मध्योत्सारिणी प्रवृत्ति का प्राधान्य

किंतु यह मध्योत्सारिणी प्रवृत्ति केवल राज्यों के संगठन में ही प्रदर्शित नहीं होती। उन भिन्न-भिन्न राज्यों में निरंतर युद्ध होता रहता था,[६] और यद्यपि उन राजघरानों के संमिलित तथा संगठित होने के अनेकानेक कारण विद्यमान थे[७] तथापि हिंदू-भारत के वैरी मुसलमान आक्रमणकारियों का सामना करने के लिये वे संगठित न हो सके। इस निरंतर युद्ध तथा एकता के अभाव से भी ये राज्य निर्बल हो गए,[८] और यही कारण है कि मुसलमान आक्रमणकारियों की प्रायः सदैव विजय हुई।

"इतिहासकार सर्वदा राजपूतों के पतन का एक प्रधान कारण यह बताते हैं कि वे सर्वदा आपस में लड़ा करते थे। राजपूत-राजघराने आपस में इसलिये नहीं लड़ते थे कि वे अपना राज्य बढ़ा सकें, प्रत्युत उनका उद्देश्य केवल अपनी महत्ता स्थापित करना ही होता था। इस समय भी (ग्यारहवीं शताब्दी के अंतिम

[१] चिंतामणि विनायक वैद्य—'हिस्ट्री आफ मेडीवल हिंदू इंडिया'—भाग १, पृष्ठ १२१-२; भाग २, पृष्ठ २२०-१

[२] ई० प्र०—'मे० इं०'—द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ३५

[३] वैद्य—'हि० मे० हिं० इं०'—पृष्ठ २२१, २२६

[४] ई० प्र०—'मे० इं०'—द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ३५
वैद्य—'हि० मे० हिं इं०'—भाग २, पृष्ठ २४५

[५] वैद्य—'हि० मे० हिं० इं०'—भाग २, पृष्ठ २४२-३
गौरीशंकर-हीराचंद ओझा—'मध्यकालीन भारतीय संस्कृति'—पृष्ठ १६२

[६] वैद्य—'हि० मे० हिं० इं०'—भाग २, पृष्ठ २२५

[७] वैद्य—'हि० मे० हिं० इं०'—भाग २, पृष्ठ २२७-८

[८] वैद्य—'हि० मे० हिं० इं०'—भाग ३, पृष्ठ ४४६

वर्षों में) पृथ्वीराज, गुजरात और बुंदेलखंड तथा कन्नौज के बड़े-बड़े तीन पड़ोसी राज्यों पर, चढ़ाई कर रहा था। इन लड़ाइयों में योरपीय युद्धों के समान भीषण मार-काट होती थी, और दोनों ओर बड़ी क्षति भी होती थी। इसी कारण उत्तरी भारत के चार बड़े-बड़े शक्तिशाली राजघरानों—चौहान, राठौड़, चंदेल और सोलंकी—के योद्धाओं की संख्या बहुत घट गई थी, और अंत में जब चारों के साथ एक-एक करके मुसलमानों ने युद्ध किया तब चारों की हार हुई। आपसी युद्ध ही राजपूतों का सबसे बड़ा दोष रहा है।......सारे भारत पर आनेवाली विपत्ति को रोकने के लिये भी उन्होंने गृह-कलह छोड़कर संगठन नहीं किया और इसी कारण उनका पतन हुआ।"[१]

इस प्रकार मध्योत्सारिणी प्रवृत्ति के कारण हिंदू-भारत का पतन हुआ। साथ ही, राजपूतों के स्वतंत्र राज्य भी विनष्ट हुए और उत्तरी भारत में मुसलमानों के साम्राज्य की नींव पड़ी। किंतु इसी बात के आधार पर यह कहना कि राजपूतों में मध्यगामिनी प्रवृत्ति का पूर्ण अभाव था, उनके प्रति अन्याय करना है। यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि दोनों प्रवृत्तियाँ सर्वदा पाई जाती हैं। यह कभी नहीं होता कि केवल एक ही प्रवृत्ति पाई जाय और दूसरी का पूर्ण अभाव हो। यह अवश्य कहा जा सकता है कि कभी एक का प्राधान्य रहे तो कभी दूसरी का। किंतु एक की विद्यमानता में दूसरी का अस्तित्व भी अवश्य मानना पड़ेगा।

राजपूतों के इतिहास में मध्यगामिनी प्रवृत्ति

राजपूतों का इतिहास, उसमें पाई जानेवाली प्रवृत्ति के कारण ही, प्रसिद्ध है। किंतु, यदि सूक्ष्म-रूप से उनके इतिहास का विश्लेषण किया जाय तो पता लगेगा कि उनके इतिहास में मध्यगामिनी प्रवृत्ति भी पूर्णरूप से विद्यमान है—चाहे वह गौण ही क्यों न हो। राजपूतों के इतिहास का महत्त्व उसमें गौणरूप से पाई जानेवाली इसी मध्यगामिनी प्रवृत्ति के ऊपर स्थित है। प्रथम तो ये राज्य विनष्ट होने से पहले स्थित थे। इनका शासन ठीक रीति से चला जा रहा था। अतएव इनका कई शताब्दियों तक स्थित रहना ही इनमें इस प्रवृत्ति-विशेष के अस्तित्व का प्रमाण है। यह सच है कि उन प्रारंभिक दिनों में राजपूतों का इतिहास गृह-युद्ध तथा राष्ट्रीय एकता के विचारों के अभाव से कलुषित है, और जैसा कि ऊपर कहा गया है, राजपूतों का पतन इन्हीं दोनों दोषों के कारण हुआ; किंतु साथ-साथ यह भी मानना पड़ेगा कि राजपूत-जाति विनष्ट नहीं हुई। मुसलमानों से पराजित होकर उन्होंने गंगा-यमुना तथा सिंधु के उपजाऊ मैदानों को छोड़ अर्बली, बुंदेलखंड आदि की पहाड़ियों और रेतीले रेगिस्तान में जाकर अपना अड्डा जमाया।[२] उन मैदानों और सुदूर घाटियों में राजपूतों ने अपनी सत्ता पुनः स्थापित की—नए राज्यों का निर्माण किया—हिंदू आदर्शों और हिंदू-धर्म तथा हिंदू-सभ्यता को प्रश्रय दिया। इस प्रकार राजपूतों का इतिहास हिंदू-भारत के पतन का ही इतिहास नहीं है, प्रत्युत वह राजपूतों और हिंदुओं की बिखरी हुई शक्तियों के पुनःसंघटन का विवरण भी है। राजपूतों में, इस समय मध्यगामिनी प्रवृत्ति प्रथम बार प्रबल हुई, और प्रारंभिक उत्थान के बाद प्रथम बार राजपूतों की नीति में क्रियात्मक कार्यक्रम का आभास दिखाई दिया।

---

[१] वैद्य—'हि० मे० हिं० इं०'—भाग ३, पृष्ठ ३६१-२
ई० प्र०—'मे० इं०'—द्वितीय संस्करण, प्रस्तावना, पृष्ठ १४

[२] वैद्य—'हि० मे० हिं० इं०'—भाग ३, पृष्ठ ३६९

किंतु खेद का विषय है कि भारतीय इतिहासकार राजपूतों के इतिहास के इस महत्त्वपूर्ण काल को भुला देते हैं। विक्रम-संवत् १२५० के बाद भारत का जो इतिहास लिखा गया है वह प्रायः मुसलमानों के राज्य का इतिहास है। वे उस महान् हिंदू-समाज के इतिहास की ओर ध्यान नहीं देते जो पतित होकर भी इस नवीन मुस्लिम सभ्यता एवं संस्कृति का सफलतापूर्वक सामना कर रहा था।

राजपूतों ने हिंदुओं की बिखरी हुई शक्तियों को एकत्र करके संगठित किया और पुनः मुसलमानों का सामना करने के लिये तैयार हुए। जितना रोचक दिल्ली के मुस्लिम साम्राज्य के उत्थान का वर्णन है, उससे भी अधिक रोचक राजपूतों के इस पुनःसंघटन का वर्णन होगा। "जहाँ राजपूतों से भी अधिक शक्तिशाली प्राचीन भारतीय राजघराने विनष्ट हो गए, वहीं—यद्यपि राजपूत-राज्यों की सत्ता घट गई है और उनका पुराना वैभव अब विद्यमान नहीं है, तथापि—आज वे राज्य स्थित हैं।"[1] इससे भी अधिक महत्त्व की बात यह है कि जहाँ राजपूतों के विजेता मुसलमानों के साम्राज्य स्थापित हो-होकर विनष्ट हो गए—राजपूतों से छीने गए दिल्ली के जिस सिंहासन पर अनेक मुसलमान घरानों ने राज्य किया और फिर कुछ ही दिनों में उनकी सत्ता तथा शक्ति का अंत हो गया और उनके वंशजों का नाम-निशान तक न रहा—वहीं उसके विपरीत उन्हीं दिनों में पराजित राजपूतों द्वारा नए स्थापित किए गए राजपूत-राज्य आज भी स्थित हैं और वे ही राजपूत-राजघराने उन्हीं राज्यों पर आज भी राज्य कर रहे हैं। "सारे संसार के राजघरानों में, राजपूत-राजघरानों के अतिरिक्त, आज कोई राजघराना ऐसा नहीं मिलता जो नवीं शताब्दी या उससे कुछ पहले स्थापित होकर अखंडरूपेण आज तक चला आया हो।"[2]

इस प्रकार राजपूतों की उस मध्यगामिनी प्रवृत्ति ने उन्हें केवल पुनःसंघटन करने में ही सहायता न दी, प्रत्युत उसी के फलस्वरूप वे अपना अस्तित्व भी बनाए रख सके। राजपूत-राज्यों में जो यह स्थायित्व पाया जाता है, वह संसार की सभ्यताओं के इतिहास का अध्ययन करनेवालों के लिये एक महत्त्व की बात है। जो इतिहासकार राजपूतों में पाई जानेवाली मध्योत्सारिणी प्रवृत्ति की ओर ही निर्देश करते हैं और मध्यगामिनी प्रवृत्ति के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते, उनके लिये राजपूतों के राज्यों का यह एक हजार वर्षों का अखंड अस्तित्व एक अनबूझ पहेली ही रहेगा। संसार के इतिहास में अनेक राज्यों और साम्राज्यों के उत्थान एवं पतन का ब्योरा पाया जाता है—अनेक जातियों के शौर्य तथा शासन-नैपुण्य का वर्णन लिखा गया है; किंतु शताब्दियों तक भारतीय मुस्लिम साम्राज्य की-सी शक्ति का सामना करके तथा निरंतर युद्ध एवं विरोध के फलस्वरूप क्षति और आघातों को सहन करके किसी भी जाति ने अपना अस्तित्व बनाए रक्खा हो—किसी भी जाति या देश ने अपना राजनीतिक स्वातंत्र्य ही नहीं, अपनी संस्कृति, अपना धर्म, अपनी शासन-प्रणाली आदि बनाए रक्खा हो; ऐसा राजपूतों के अतिरिक्त दूसरा कोई उदाहरण ढूँढ़े नहीं मिलता।

[1] वैद्य—'हि० मे० हिं० इं०'—भाग २, पृष्ठ ४

[2] वैद्य—'हि० मे० हिं० इं०'—भाग २, पृष्ठ ४

पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी, संवत् १९६७ (सन् १९१०)

आचार्य द्विवेदी जी की दिवंगता धर्मपत्नी
जिनकी शुभ्र प्रस्तर-प्रतिमा 'स्मृति-मंदिर' में प्रतिष्ठित है।

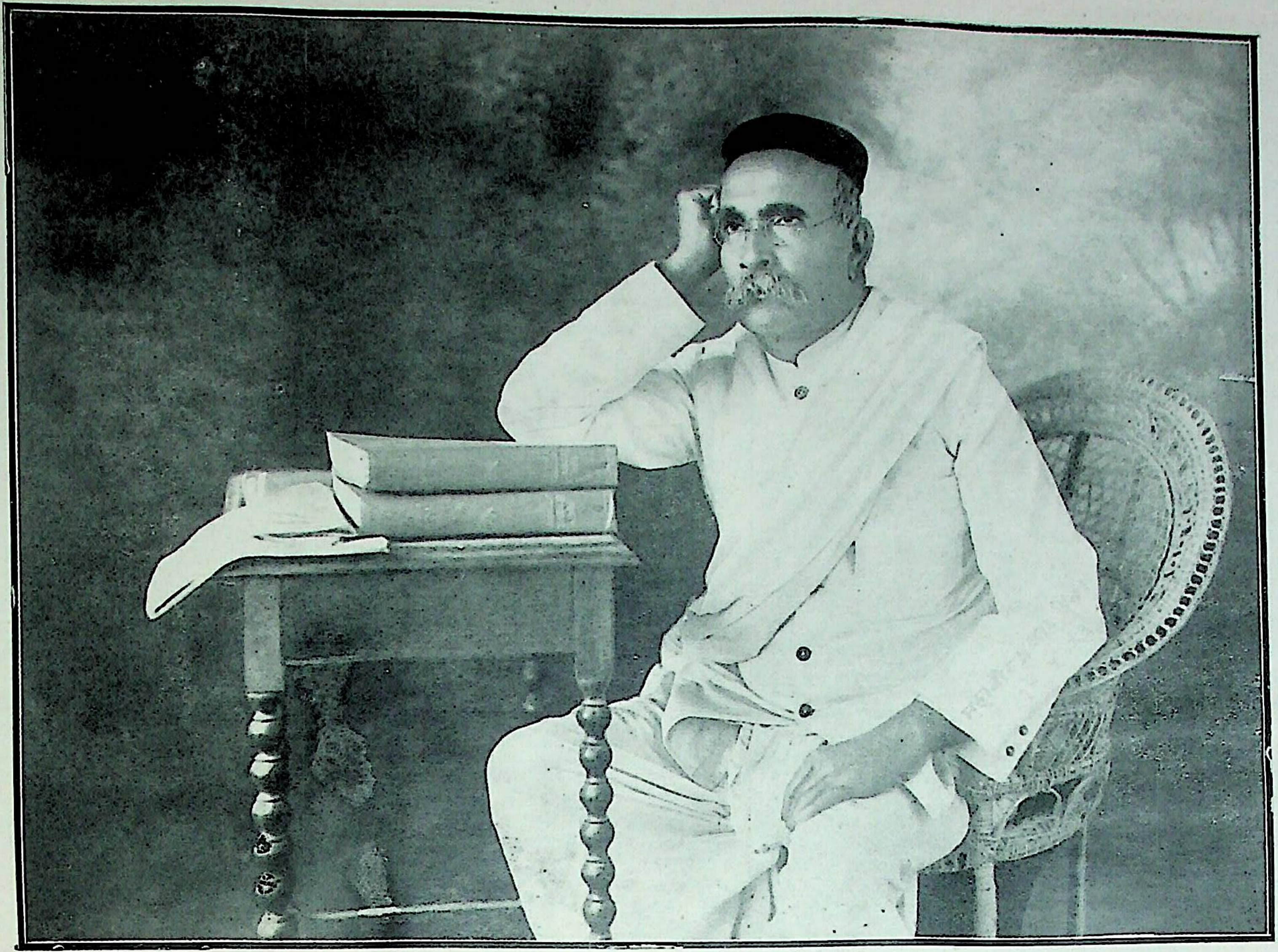

आचार्य पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी, संवत् १९७९ (सन् १९२२)

भारतीय इतिहास में राजपूतों के इतिहास का महत्त्व

सर जेम्स टॉड लिखते हैं—"शताब्दियों के भयंकर अत्याचार तथा विरोध के बाद भी जिस प्रकार राजपूतों ने अपनी सभ्यता, अपने पूर्वजों के आचार-विचार तथा उनके शौर्य को बनाए रक्खा, उसी दशा में संसार की कोई दूसरी जाति उसका लक्षांश भी बनाए रख सकती थी, ऐसा संभव नहीं दिखाई पड़ता। ....मनुष्य द्वारा मनुष्य पर बर्बर से बर्बर जो अत्याचार किए जा सकते हैं उन्हें सहने के बाद भी, तथा जिसका धर्म पूर्ण संहार का ही समर्थन करता हो—अपने ऐसे विरोधी की शत्रुता का सामना करके भी, जिस प्रकार राजपूतों ने अपना धैर्य बनाए रक्खा—आपत्ति के समय झुक गए और उसके निकल जाने के बाद पुनः उठ खड़े हुए, और जिस प्रकार अपनी साहस-रूपी तलवार को विपत्ति-रूपी सान पर अधिकाधिक तेज किया, मानव-जाति के इतिहास में राजस्थान के राजपूत ही उसके एकमात्र उदाहरण हैं। रोमनों के आक्रमण से ब्रिटन लोग किस प्रकार एकाएक झुक गए—कुंज और ड्रुइडों तथा बाल की वेदियों को बचाने के प्रयत्न में कितने विफल हुए! सेक्सन लोगों के सामने भी वे उसी प्रकार विफल हुए, और बाद में डेनों के सामने भी। अंत में ये सब विजयी तथा विजित, नार्मन लोगों में मिल गए। एक ही युद्ध में साम्राज्य बन गए और मिट भी गए! विजितों के आचार-विचार और धर्म, विजयी के धर्म तथा आचार-विचार के साथ संमिलित हो गए। इसके विपरीत राजपूतों को देखिए। यद्यपि देश का बहुत बड़ा भाग उनके हाथ से निकल गया, तथापि उनके धर्म तथा आचार-विचार आदि अब तक बने हुए हैं।......एक मेवाड़ ही उस धर्म का पवित्र आश्रय-स्थल बना रहा। उन्होंने अपने सुख के लिये अपने संमान में कमी न आने दी और फिर भी आज वह राज्य पूर्ववत् ही बना है। वीर समरसी (समरसिंह) के प्रथम बलिदान के समय से इस वीर-घराने के राजाओं तथा राजपुत्रों ने अपना संमान, धर्म और स्वातंत्र्य बनाए रखने के लिये पानी की तरह रुधिर बहाया है।"[१]

वह कौन-सी विशेषता थी जिसके कारण आज भी राजपूत-जाति तथा राजपूत-राज्य स्थित हैं? राजपूतों के जातीय जीवन में ऐसी कौन-सी स्थायी शक्ति है जिससे वे, शताब्दियों तक राजनीतिक जीवन के भीषण धक्के सहन करते हुए, ऐसे महान् विरोधी का सफलतापूर्वक सामना कर सके? ये ही वे महान् प्रश्न हैं जिनका उत्तर देना प्रत्येक सच्चे इतिहासकार का कर्त्तव्य है। नवीन राष्ट्र के निर्माताओं के लिये तो इन प्रश्नों के उत्तर जान लेना अत्यावश्यक है; क्योंकि इन प्रश्नों के उत्तर जान लेने के बाद ही वे मानवीय जीवन तथा विशेषतया राजनीतिक संगठनों में निहित स्थायी तत्त्वों को जान सकेंगे, और नए राष्ट्र के निर्माण में उनको स्थान देकर अपने राष्ट्र को स्थायित्व प्रदान कर सकेंगे। वैद्यजी के विचारानुसार "राजपूतों में पाया जानेवाला यह स्थायित्व ही उन्हें भारतीय इतिहास में समुचित स्थान दिलाने के लिये पर्याप्त है।"[२]

राजपूतों ने पुनः संगठन किया तथा नए राज्य स्थापित किए; किंतु साथ ही वे भारतीय संस्कृति के भी एकमात्र अवशेष थे। मुसलमानों के आक्रमण के साथ ही हिंदू-भारत का पतन हुआ। उन दिनों

---

[१] कर्नल जेम्स टॉड—'एनल्ज एंड एंटिक्विटीज आफ राजस्थान'—क्रुक्स द्वारा संपादित, खंड १, पृष्ठ ३०३

[२] वैद्य—'हि० मे० हिं० इं०'—भाग २, पृष्ठ ४

हिंदू-धर्म, भारतीय संस्कृति तथा राजपूत

हिंदुओं में राजपूत ही शासक तथा संरक्षक थे। जातियों के बंधन कड़े हो जाने के कारण शासन आदि का भार राजपूतों पर ही आ पड़ा था। सामान्य लोगों का इन बातों से कोई विशेष संबंध न था।[1] शासन-संगठन, शासकों तथा राज्य से प्रजा का पूर्ण संबंध-विच्छेद हो गया था। यही कारण है कि प्रजा ने हिंदू राजाओं के पतन के बाद मुसलमान शासकों का आधिपत्य स्वीकार कर लिया; क्योंकि उनके विचारानुसार शासक की नियुक्ति ईश्वर करता था।[2] अतएव जब हिंदू शासकों का पतन हुआ और राजपूतों ने उत्तरी भारत के मैदानों को छोड़ा, तब वहाँ की प्रजा निस्सहाय हो गई—उसका कोई संरक्षक न रहा। "उत्तरी भारत में कोई जातीय जागृति तथा विरोध न था, अतएव सर्वदा के लिये उसका पूर्ण पतन हुआ और मुसलमानों का आधिपत्य स्थापित हो गया।"[3] यह सत्य है कि दोआब, काटेहार आदि के राजपूतों ने यदा-कदा विद्रोह किए, किंतु उसका कोई महान् राजनीतिक परिणाम न हुआ।[4] अतएव प्राचीन भारतीय संस्कृति, उसकी संस्थाओं, कला आदि को सुरक्षित रखनेवाला—उनका संरक्षण करके पुनरुत्थान करनेवाला—उत्तरी भारत में कोई न रहा।

राजपूतों ने मुसलमानों के आक्रमण-काल में भी अपनी सभ्यता आदि बनाए रखने का प्रयत्न किया था।[5] और, जब वे अपनी रही-सही शक्तियों को संगठित कर नवीन राज्य स्थापित करने लगे, तब वे अपनी सभ्यता, शासन-शैली, धर्म, आचार-विचार आदि सब कुछ अपने साथ ले गए। हिंदू-भारत का, विशेषतया उत्तरी भारत का, जो कुछ भी शेष रह गया था, वह राजस्थान में संचित हुआ। राजपूत हिंदू-भारत की प्राचीन सभ्यता के संरक्षक बने और इसी कारण वे मध्यकालीन भारतीय इतिहास में एक विशेष अध्ययन के विषय हैं। राजस्थान में ही प्राचीन स्थापत्य तथा चित्र-कला का—यद्यपि वह नवीन प्रभावों से प्रभावित हुई—पुनः प्रस्फुटन हुआ। सारे राजस्थान में जितने पुराने मंदिर, भवन तथा किले पाए जाते हैं, वे प्रायः इन्हीं प्रारंभिक दिनों के हैं। चित्तौड़ का कीर्तिस्तंभ, दिलवाड़े के मंदिर, जैसलमेर के राजभवन आदि भारतीय कला के उत्कृष्ट नमूने हैं और इसका श्रेय राजपूतों को ही है। राजपूतों ने ही उन प्रारंभिक दिनों में भारतीय कला के विशुद्ध रूप की रक्षा की। पुनः राजपूतों के ही प्रश्रय में चित्र-कला की वह शैली प्रकट और विकसित हुई जो 'राजपूत-कला' कहलाती है और जहाँ की 'जयपुर-कलम' सुप्रसिद्ध है। पर्सी ब्राउन के विचारानुसार "यह चित्रांकण-शैली भारतीय चित्रण-कला में अपना विशिष्ट स्थान रखती है।"[6] "साहित्य के क्षेत्र में भी राजपूत-राजाओं की राजसभाओं में बहुत कुछ कार्य हुआ है। समयानुकूल चारणों

---

१. वैद्य—'हि० मे० हिं० इं०'; भाग १, प्रस्तावना-पृष्ठ ५, पृष्ठ १२१-२; भाग ३, पृष्ठ ३६३, ४५१-२
२. वैद्य—'हि० मे० हिं० इं०'; भाग १, पृष्ठ १२५
   लेनपूल—'मेडीवल इंडिया', पृष्ठ ६०-१
३. वैद्य—'हि० मे० हि० इं०'; भाग ३, पृष्ठ ३६५
४. 'कैंब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया'—खंड ३, पृष्ठ ५१४-५
५. हेवेल्—'हिस्ट्री आफ आर्यन रूल इन इंडिया'—पृष्ठ २६०-१
६. पर्सी ब्राउन—'इंडियन पेंटिंग'—पृष्ठ ८

ने डिंगल तथा हिंदी के प्रारंभिक स्वरूप में वीर-काव्यों की रचना की। उन्होंने अपने आश्रयदाताओं के गुणों का वर्णन किया तथा इतिहास-काव्य भी लिखे।"[1] और, पिछले दिनों में जब 'रीति-काल' आया तब भी 'केशव' और 'बिहारी' सरीखे महाकवियों को अपने दरबार में रखने का श्रेय राजपूत-नरेशों को ही है। पुनः जब वीर-काव्य का द्वितीय उत्थान हुआ तब 'भूषण' आदि कवियों को छत्रसाल आदि राजपूत-नरेशों ने ही उत्तेजना दी। यही नहीं, राणा कुंभा, राजा पृथ्वीराज, महाराजा जसवंतसिंह और महाराज छत्रसाल-जैसे वीर नरेशों ने स्वयं भी साहित्य-सेवा की थी।

किंतु इन सबसे अधिक आदरणीय वस्तु—जो राजपूतों ने भारत को प्रदान की तथा जिस पर केवल राजपूतों को ही नहीं, वरन् सारे भारत को गौरव हो सकता है—उनके स्वातंत्र्य-युद्ध की कथा है।

राजपूतों का स्वातंत्र्य-युद्ध

राजपूतों का यह स्वातंत्र्य-युद्ध भारत के ही नहीं, प्रत्युत संसार के इतिहास में एक अद्भुत वस्तु है। टॉड साहब लिखते हैं—"अपने पूर्वजों का धर्म बचाने के लिये—तथा सर्व प्रकार के प्रलोभनों के जाल तोड़कर अपने अधिकार और जातीय स्वातंत्र्य को बचाने के लिये—जो वीर मृत्यु को गले लगाने से न हिचके, उनके शताब्दियों के स्वातंत्र्य-युद्ध की कथा पढ़कर रोमांच हुए बिना नहीं रहता।"[2]

यह स्वातंत्र्य-युद्ध एक-दो साल का ही न था। यह कई शताब्दियों तक चलता रहा। जिस दिन प्रथम बार राजपूतों को हराकर मुसलमानों ने भारत-भूमि में अपना साम्राज्य स्थापित किया, उसी दिन से यह स्वातंत्र्य-युद्ध प्रारंभ हुआ। यद्यपि यह सत्य है कि मुसलमानों को भारत में किसी प्रकार के राष्ट्रीय विरोध का सामना न करना पड़ा,[3] तथापि इस सत्य के साथ-साथ यह भी मानना पड़ेगा कि हिंदू-भारत के शासक राजपूतों ने पूर्ण साहस के साथ मुसलमानों का सामना किया। राजपूतों में एकता न थी, किंतु उनकी वीरता के विरुद्ध एक शब्द भी नहीं कहा जा सकता। राज्य-के-राज्य जागीरों में विभक्त थे, किंतु प्रत्येक बिस्वा भूमि का कोई न कोई स्वामी अवश्य था, जो उसके लिये लड़ने को उद्यत रहता था। यही कारण है कि केवल राजस्थान की ही नहीं, बल्कि सारे उत्तर-पश्चिमी भारत की भूमि का प्रत्येक कण राजपूतों के उष्ण रुधिर से सींचा गया है। प्रत्येक राह में पहले राजपूत कट-कटकर गिरे हैं—हिंदुओं और मुसलमानों के रक्त की नदियाँ बही हैं; तब कहीं मुसलमान आगे बढ़ सके हैं। इस बहादुर और कट्टर जाति ने अपना खून बहा-बहाकर अपने अस्तित्व को कायम रक्खा है। पराधीनता के उन अंधकार-पूर्ण दिनों में, जब प्रथम बार हिंदुओं ने अपना स्वातंत्र्य खोया था, राजपूतों ने ही स्वातंत्र्य की पुनः-प्राप्ति के

---

[1] श्यामसुंदरदास—'हिंदी-भाषा और साहित्य'—पृष्ठ २६८-३०४
रामचंद्रशुक्ल—'हिंदी-साहित्य का इतिहास'—पृष्ठ १९-५२
रामशंकर शुक्ल 'रसाल'—'हिंदी-साहित्य का इतिहास'—पृष्ठ २८-३०, ४६-८६
सूर्यकांत शास्त्री—'हिंदी-साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास'—पृष्ठ ९-१६, २७-३४

[2] टॉड—एनल्ज एंड एंटिक्विटीज आफ राजस्थान'—क्रुक्स द्वारा संपादित, खंड १, पृष्ठ ६३-६४

[3] वैद्य—'हि० मे० हिं० इं०'—भाग १, पृष्ठ ५, १२३; भाग ३, पृष्ठ ३६४-६

आदर्श की झिलमिलाती हुई लौ को प्रज्वलित रखने के लिये अपना रुधिर बहाया था। अपने रुधिर की आहुतियाँ देकर राजपूतों ने ही हिंदू-जाति को जीवन प्रदान किया, जिसके लिये भारत ही क्यों, संसार-भर को राजपूतों का ऋणी होना चाहिए।

अपने शत्रुओं से घिरे रहकर भी, तथा पराधीनता की उमड़ती हुई काली घटा को देख-देखकर भी, यह जाति जीवित रही है। पराधीन रहकर भी इस जाति ने आश्चर्य-जनक रीति से अपना स्वातंत्र्य बनाए रक्खा है। किंतु उसके लिये राजपूतों ने क्या-क्या बलिदान नहीं किया? स्वतंत्रता की वेदी पर जो-जो बलिदान राजपूतों ने किए, वे संसार के इतिहास में अपूर्व हैं। राजस्थान का एक-एक किला अनेक महत्त्व-पूर्ण स्मृतियों का भांडार है। केवल पुरुष ही नहीं, स्त्रियों और बच्चों तक ने आत्मत्याग किया—शौर्य तथा साहस के अपूर्व उदाहरण उपस्थित किए। स्वातंत्र्य-युद्ध की स्मृतियों का पुंज—केवल राजपूतों का ही नहीं, बल्कि प्रत्येक स्वातंत्र्य-प्रेमी का अपूर्व तीर्थ—वह चित्तौड़ का किला राजस्थान के इतिहास में एक विशेष स्थान रखता है। ओझा जी के शब्दों में—"यहाँ असंख्य राजपूत-वीरों ने अपने धर्म और देश की रक्षा के लिये अनेक बार असि-धारा-रूपी तीर्थ में स्नान किया, और यहाँ कई राजपूत-वीरांगनाओं ने सतीत्व-रक्षा के निमित्त 'जौहर' की धधकती हुई अग्नि में कई अवसरों पर अपने प्रिय बाल-बच्चों-सहित प्रवेश कर जो उच्च आदर्श उपस्थित किया वह चिरस्मरणीय रहेगा। राजपूतों ही के लिये नहीं, किंतु प्रत्येक स्वदेश-प्रेमी हिंदू-संतान के लिये क्षत्रिय-रुधिर से सींची हुई यहाँ की भूमि के रज:कण भी तीर्थरेणु के तुल्य पवित्र हैं।"[1] फिर टॉड के कथनानुसार "राजस्थान में कोई ऐसा छोटा राज्य भी नहीं है जिसमें थर्मापोली-जैसी रणभूमि न हो, और शायद ही कोई ऐसा नगर मिले जिसमें लियोनिडास-जैसा वीर पुरुष उत्पन्न न हुआ हो।"[2] इसी राजस्थान में महाराणा प्रताप ने अपने जीवन भर अकबर का सामना किया। महाराणा का कोई साथी न था; अन्य राजपूत-राजाओं ने अकबर के साथ संधि कर ली थी; किंतु महाराणा ने सिर न झुकाया, अधीनता स्वीकार न की। "अर्वली की पर्वत-श्रेणी में कोई ऐसी घाटी नहीं है जो महाराणा की वीरता से पवित्र न हुई हो। यदि किसी में उनकी विजय-दुंदुभी बजी हो, तो प्राय: अन्य सब उनकी वीरतापूर्ण पराजयों की दर्शक रही होंगी। हल्दीघाटी ही मेवाड़ की थर्मापोली है, और देबारी ही मारेथान है।"[3] और इसी हल्दीघाटी में हारकर भी महाराणा जीते।[4] इस युद्ध ने उनको अमर कर दिया। किंतु विजयी होकर भी अकबर उनके समान पूजनीय न बन सका। पुन: हारकर भी महाराणा हारे नहीं, और तभी उनकी मृत्यु पर सम्राट् अकबर ने स्वीकार किया कि—"गहलोत राण जीति गयो।"[5]

---

१. गौ० शं० ही० चं० ओझा—'राज० का इति०'—जिल्द १, पृष्ठ ३४६

२. टॉड—'ए० एंड एं० राज०'—क्रुक्स-सं०, खंड १, पृष्ठ ६३

३. टॉड—'ए० एंड एं० राज०'—क्रुक्स-सं०, खंड १, पृष्ठ ४०६-७

४. हल्दीघाटी के युद्ध का क्या परिणाम हुआ, इसके विषय में इतिहासकारों का मतभेद है। किंतु प्राय: यही माना जाता है कि राजपूत ही हारे। देखिए—गौरीशंकर-हीराचंद ओझा-लिखित 'राजपूताने का इतिहास'—जिल्द २, पृष्ठ ७४५-७५५

५. गौ० शं० ही० चं० ओझा—'राज० का इति०'—जिल्द २, पृष्ठ ७७६-८१

इसी प्रकार, जब दक्षिण भारत में राष्ट्रीय पुनरुत्थान तथा जातीय विरोध का सूत्रपात हुआ,[1] तब शताब्दियों के योद्धा राजपूतों ने स्वातंत्र्य-ज्योति का वह जाज्वल्यमान दीपक मरहठों को दे दिया। "भारतीय इतिहास में स्वधर्म तथा स्वराज्य के अंतिम समर्थक शिवाजी इसी मेवाड़ के सिसोदियों के वंशज थे। उन्होंने दक्षिण में मुसलमानों के साथ युद्ध किया, पुनः मरहठों को स्वतंत्र बनाया और हिंदू-धर्म की स्थापना की।"[2] राजपूतों का पतन हुआ सही, किंतु उन्होंने भारतीय स्वातंत्र्य का महान् आदर्श अक्षुण्ण रक्खा। हिंदुओं के संमुख यह आदर्श उपस्थित कर अपने बलिदानों द्वारा उनमें जीवन बनाए रखना ही मध्यकाल में राजपूतों का सबसे महान् तथा इतिहास में उल्लेखनीय कार्य है। इसी कारण वैद्य जी का मत है कि "जो आदर राजपूतों को दिया जाता है, उससे कहीं अधिक आदर के वे पात्र हैं। सच पूछा जाय तो राजपूतों की वीरता तथा उनके पौरुष का ठीक-ठीक महत्त्व अभी तक हम नहीं जान पाए हैं।"[3]

राजपूतों के इतिहास पर आधुनिक ग्रंथ

किंतु इस त्रुटि के लिये कौन उत्तरदायी है? क्या कारण है कि राजपूतों के इतिहास का ठीक-ठीक महत्त्व अभी तक नहीं कूता गया है? भारत के मध्यकालीन इतिहास में राजपूतों के इतिहास के संबंध में कुछ ही पृष्ठ लिखकर क्यों इतिहासकार संतोष कर लेते हैं? इन सब प्रश्नों का केवल यही एक उत्तर दिया जा सकता है कि राजपूतों का ठीक-ठीक इतिहास अभी तक लिखा ही नहीं गया। जिन-जिन इतिहासकारों ने इस विषय पर ग्रंथ-रचना की है, उनके प्रति राजपूत-जाति ही नहीं, किंतु भारतीय राष्ट्र भी कृतज्ञ हैं; क्योंकि उन्होंने राजपूत-जाति की ऐसी सेवा की है कि यह जाति उनसे कभी उऋण नहीं हो सकती। ऐसे इतिहासकारों में दो व्यक्तियों के नाम उल्लेखनीय हैं। सर्वप्रथम तो सर जेम्स टॉड का नाम लिया जाना चाहिए। वे अँगरेजों के पोलिटिकल विभाग में नौकर थे, और राजस्थान में भेजे गए थे। अपनी नौकरी के उस काल में उन्होंने अदम्य उत्साह के साथ राजपूतों के प्राचीन इतिवृत्त का शोध किया, समस्त राजस्थान में भ्रमण किया और उस बृहत् ग्रंथ की रचना की जो "एनल्ज एंड एंटिक्विटीज आफ राजस्थान" के नाम से प्रसिद्ध है। इस पुस्तक के प्रकाशित होते ही राजपूत वीरों की कीर्त्ति, जो पहले भारतवर्ष में सीमाबद्ध थी, भूमंडल में फैल गई।[4] फिर कोई एक शताब्दी के बाद राजपूतों के इतिहास पर दूसरे विद्वान्—महामहोपाध्याय रायबहादुर पंडित गौरीशंकर-हीराचंद ओझा—ने लेखनी उठाई। ओझा जी अपना सारा जीवन राजपूतों के इतिहास की खोज में बिता कर अब "राजपूताने का इतिहास" लिखने लगे हैं। यह ग्रंथ अभी अपूर्ण है, किंतु संपूर्ण होने पर यह शोध-कर्त्ताओं के लिये अपूर्व पथ-प्रदर्शक होगा और जैसा कि ओझा जी का खयाल है—"भविष्य में जो कोई

---

[1] वैद्य—'हि॰ मे॰ हिं॰ इं॰'—भाग ३, पृष्ठ ३६५-६

[2] वैद्य—'हि॰ मे॰ हिं॰ इं॰'—भाग २, पृष्ठ ५
गौ॰ शं॰ ही॰ चं॰ ओझा—'राज॰ का इतिहास'—जिल्द १, पृष्ठ २७९-८०; जिल्द २, पृष्ठ १३८६-७

[3] वैद्य—'हि॰ मे॰ हिं॰ इं॰'—भाग २, पृष्ठ ४

[4] गौ॰ शं॰ ही॰ चं॰ ओझा—'राज॰ का इति॰'—जिल्द १, भूमिका-पृष्ठ ३६

इतिहास-वेत्ता इस देश (राजपूताने) का ऐसा इतिहास लिखने में प्रवृत्त होगा, उसको हमारा (ओझा जी का) यह इतिहास कुछ न कुछ सहायता अवश्य देगा।"[१]

उपर्युक्त ग्रंथों के अतिरिक्त अन्य कोई ग्रंथ विशेषरूपेण उल्लेखनीय नहीं है। श्रीचिंतामणि विनायक वैद्य महोदय का "हिस्ट्री आफ मेडीवल हिंदू इंडिया" नामक ग्रंथ प्रारंभिक राजपूत-काल के लिये एक विशद इतिहास है। हाँ, भिन्न-भिन्न रियासतों के संबंध में कुछ इतिहास-ग्रंथ अवश्य लिखे गए हैं, जिनमें महामहोपाध्याय कविराज श्यामलदान जी द्वारा संपादित "वीर-विनोद" का नाम विशेषरूपेण उल्लेखनीय है। किंतु खेद है कि इस ग्रंथ की शायद एकाध ही प्रति बाहर निकल पाई है, नहीं तो इसकी समग्र छपी हुई प्रतियाँ उदयपुर के राजगृह में बंद पड़ी सड़ रही हैं! जो हो, राजपूतों पर लिखे गए साहित्य को देखकर ओझा जी के इस कथन से सहमत होना पड़ता है कि "जहाँ अनेक भारतीय विद्वान् भारतवर्ष के *भिन्न-भिन्न कालों और प्रांतों के इतिहास लिख रहे हैं, वहाँ राजपूताने के इतिहास की तरफ किसी विद्वान् का ध्यान ही नहीं गया!*"[२]

राजपूतों के इतिहास-संबंधी सामग्री की अपूर्णता

किंतु इस उपेक्षा का एक महान् कारण यह है कि राजपूतों के इतिहास से संबंध रखनेवाली सामग्री का भी बहुत कुछ अभाव है। आज भी बहुत-सी सामग्री भिन्न-भिन्न राज्यों के पुराने कागजों में अप्रकाशित एवं अज्ञात पड़ी है। अगर किसी उत्साही इतिहासकार को राज्यों के पुराने कागज ढूँढ़ने का अवसर मिले, तो संभव है कि राजपूतों के सच्चे इतिहास का बहुत-कुछ ज्ञान प्राप्त हो सके। ओझा जी ने अपना जीवन राजपूतों के इतिहास-संबंधी खोज में ही बिताया है। उन्होंने बहुत-कुछ सामग्री एकत्र करके अपने ग्रंथ (राजपूताने का इतिहास) में उसका उपयोग किया है; किंतु फिर भी वे लिखते हैं कि "यदि प्राचीन शोध के कार्य में विशेष उन्नति हुई तो मेवाड़ में अनेक स्थानों में प्राचीन इतिहास की प्रचुर सामग्री उपलब्ध होगी, जिसकी सहायता से भविष्य में वहाँ का एक सर्वांगपूर्ण इतिहास लिखा जा सकेगा।"[३]

राजपूतों के इतिहास की लेखन-शैली में दोष

किंतु उपलब्ध सामग्री के आधार पर जो ग्रंथ लिखे गए हैं, वे सर्वांगपूर्ण न होने पर भी राजपूतों के इतिहास का बहुत-कुछ पता देते हैं। हाँ, उनकी लेखन-शैली सदोष है—यह तो अवश्य मानना पड़ेगा। कर्नल सर जेम्स टॉड ने अपने ग्रंथ में राजपूतों का एक संबद्ध इतिहास न लिखकर अलग-अलग राज्यों तथा वंशों का इतिहास लिखा है, और ओझा जी ने उसी शैली का अनुसरण किया है। किंतु मेरे विचार के अनुसार, ठीक-ठीक इतिहास लिखने के लिये, इस शैली को छोड़ना अत्यावश्यक है। इस शैली में दो बड़े दोष विद्यमान हैं—

---

[१] गौ० शं० ही० चं० ओझा—'राज० का इति०'—जिल्द १, भूमिका-पृष्ठ ४४

[२] गौ० शं० ही० चं० ओझा—'राज० का इति०'—जिल्द १, भूमिका-पृष्ठ ४४

[३] गौ० शं० ही० चं० ओझा—'राज० का इति०'—जिल्द १, भूमिका-पृष्ठ ४३

(१) राष्ट्रीय दृष्टिकोण की आवश्यकता

प्रथम दोष तो यह है कि इसके अनुसार लिखे गए इतिहास में भिन्न-भिन्न वंशों का विवरण-मात्र होता है। ये इतिहास समग्र राजपूतों को एक जाति मानकर नहीं लिखे गए हैं। इस प्रकार लिखे जाने से राजपूतों के इतिहास की एकता नष्ट होती है। विभिन्न विभागों में विभक्त राजपूतों का इतिहास उतना भव्य तथा महान् नहीं दिखाई देता जितना वह सचमुच है। कर्नल जेम्स टॉड स्वयं इस शैली के दोष से परिचित थे। इसी लिये उन्होंने अपने ग्रंथ की भूमिका में यह लिखना अत्यावश्यक समझा कि “मेरा कभी यह ध्येय न रहा कि मैं अपने विषय को इतिहास की वैज्ञानिक शैली से लिखूँ; क्योंकि उसके फल-स्वरूप मुझे अनेकानेक ऐसी बातें छोड़ देनी पड़तीं जो राजनीतिज्ञों तथा उत्सुक पाठकों के लिये उपयोगी एवं रोचक हैं। मैंने तो अपने इस ग्रंथ में भावी इतिहासकार के लिये केवल ऐतिहासिक सामग्री संकलित की है।”[१]

राजपूतों का इतिहास भारतीय इतिहास की एक साधारण घटना नहीं है। साथ ही, यहाँ यह भी कह देना अत्यावश्यक है कि राजपूतों का विरोध तथा विद्रोह केवल किसी एक जाति-समुदाय में ही न था, वरन् वह सभ्यता का विरोध था। राजपूत एक अतीव उन्नत एवं विकसित—किंतु पतित—सभ्यता के उत्तराधिकारी थे। अतएव उन प्रारंभिक दिनों में, जब भारत के मुस्लिम शासक विदेशी थे, राजपूतों का विद्रोह, राष्ट्रीय विद्रोह था। राजपूतों का इतिहास किसी एक जाति का ही इतिहास नहीं है। यह तो मध्यकालीन भारत के राष्ट्रीय जीवन का एक बड़ा महत्त्वपूर्ण अंग है। यह वह पहलू है जिसकी ओर भारतीय इतिहासकारों का अभी तक ध्यान ही नहीं गया है। अतएव, आवश्यकता इस बात की है कि राजपूतों का इतिहास राष्ट्रीय दृष्टि-कोण से लिखा जाय। यह सत्य है कि उनमें वंश-प्रतिष्ठा का विचार अधिक मात्रा में पाया जाता है, और इसी कारण उनमें एकत्र होने की प्रवृत्ति अधिक नहीं पाई जाती; किंतु फिर भी उन्होंने कई बार मुसलमानों का सामना करने के लिये संगठन किया था। पुनः आपस के द्वेष और वैर-भाव के होते हुए भी उन सबमें एकजातीयता पाई जाती है। उनके इतिहास में भी एकजातीय एकता पाई जाती है, जिसके आधार पर उनका एक संगठित इतिहास लिखा जा सकता है। क्रुक्स के मतानुसार “जिस ग्रंथ में भिन्न-भिन्न राज्यों का इतिहास साथ-साथ लिखा जायगा, वह पाठकों के लिये कठिन तथा अरुचिकर होगा।”[२] किंतु जो दशा राजस्थान की थी, वही थोड़ी-बहुत उन्हीं दिनों योरप की थी। तो भी योरप का इतिहास लिखने में अधिक कठिनाई न पड़ी। अतएव कोई कारण नहीं कि उसी शैली पर राजपूतों का इतिहास भी न लिखा जा सके; क्योंकि जब तक एक संगठित इतिहास न लिखा जायगा तब तक यह संभव नहीं कि पृथ्वीराज, राणा कुंभा, राणा साँगा, राणा प्रताप, दुर्गादास आदि जातीय वीरों को राष्ट्रीय वीरों की श्रेणी में स्थान दिया जा सके।

---

[१] टॉड—‘ए० एंड एं० राज०’—क्रुक्स-सं०, खंड १, प्रस्तावना—पृष्ठ ६५

[२] टॉड़—‘ए० एंड एं० राज०’—क्रुक्स-सं०, खंड १, क्रुक्स की भूमिका, पृष्ठ १२

(२) इतिहास-लेखन के नवीन आदर्शों की उपादेयता

राजपूतों के इतिहास की लेखनशैली में दूसरा दोष उसमें इतिहास-लेखन के नवीन आदर्शों का अभाव है। आज-कल जो इतिहास-ग्रंथ लिखे जाते हैं, उनमें अधिकतर घटनाओं की ओर ही ध्यान दिया जाता है। संवत् के क्रम से घटनाओं के उल्लेख के कारण यह संभव नहीं होता कि जातीय जीवन में उठनेवाली भिन्न-भिन्न तरंगों तथा स्पष्ट एवं अदृश्य रूप से बहनेवाले भिन्न-भिन्न प्रवाहों का ठीक-ठीक विवेचन किया जा सके। "प्रत्येक काल से बंध रखनेवाली उन गहन प्रवृत्तियों की—जो महान् परिवर्त्तनों के लिये रास्ता साफ करती हैं, तथा उन संयोगों की—जिनसे उस नए परिवर्त्तित स्वरूप का उद्गम होता है—आलोचना करना ही इतिहास का प्रधान उद्देश्य है। अतएव इतिहासकार का मुख्य कार्य यह है कि मानव-समाज की असंख्य अद्भुत घटनाओं की राशि में से वह उन अत्यावश्यक एकताओं का पता लगावे जो उन घटनाओं के तले अदृश्य रूप से पाई जाती हैं।"[१] जब तक नवीन आदर्शों को संमुख रखकर राजपूतों का इतिहास न लिखा जायगा तब तक ठीक-ठीक इतिहास न लिखा जा सकेगा। राजपूतों की सभ्यता, उनकी शासन-शैली, उनका हिंदू-धर्म से संबंध—आदि प्रश्न ऐसे हैं जिन पर अभी तक पर्याप्त प्रकाश नहीं डाला गया है। इस राष्ट्र-निर्माण तथा जातीय पुनरुत्थान के युग में यह अत्यावश्यक है कि राजपूतों के जातीय जीवन में होनेवाले उत्थान और पतन का पूर्ण अध्ययन किया जाय, जिनके फल-स्वरूप मुगल-साम्राज्य के पतन के साथ ही राजपूतों का भी पतन हुआ। अपने जातीय जीवन के गुण-दोषों को ढूँढ़ना तथा उनकी विवेचना करना प्रत्येक जीवित जाति का कर्त्तव्य है। जब तक कोई जाति अपने दोषों को ढूँढ़कर उनको सुधारने के लिये प्रयत्न नहीं करती, तब तक उस जाति का पुनरुत्थान नहीं होता। संभव है, उसी दोष के फल-स्वरूप वह जाति विनष्ट भी हो जाय। जो इतिहास इस प्रकार की विवेचना से पूर्ण होते हैं, वे ही सच्चे इतिहास हैं, वे ही राष्ट्रीय जीवन के लिये उपादेय होते हैं।

आधुनिक भारत की नींव उसी अनंत उज्ज्वल अतीत पर स्थित है। आधुनिक परिस्थिति को समझने तथा आधुनिक राष्ट्रीय जीवन की उलझी हुई गुत्थियों को सुलझाने के लिये भूत-कालीन इतिहास का ज्ञान अत्यावश्यक है। पुनः प्रत्येक राष्ट्रीय इतिहास को सर्वांगपूर्ण बनाने के लिये यह अत्यावश्यक है कि राष्ट्र के सब अंगों का ठीक-ठीक इतिहास उसमें संनिहित हो। मध्यकालीन भारत में राजपूत ही हिंदुओं के नेता थे। मेवाड़ के महाराणा "हिंदुआ सूरज" कहलाते थे। अतएव जब तक राजपूतों की संस्कृति, उनके आदर्श, उनकी कला आदि का ठीक-ठीक अध्ययन नहीं किया जायगा, तब तक यह संभव नहीं कि मध्यकालीन भारत का सर्वांगपूर्ण इतिहास लिखा जा सके।

भारत को अपने भूतकाल पर गर्व है। भारतीय सभ्यता तथा भारतीय आदर्श संसार की एक अनोखी वस्तु है। किंतु आधुनिक भारतीय सभ्यता दो विभिन्न सभ्यताओं का संमिश्रण है। अतएव जब तक उसके दोनों उद्गमों की जाँच करके उनके महत्त्व तथा सापेक्ष्य प्रभाव को हम ठीक-ठीक जान न

---

[१] रघुवीरसिंह—'पूर्व मध्यकालीन भारत'—पृष्ठ १०-११

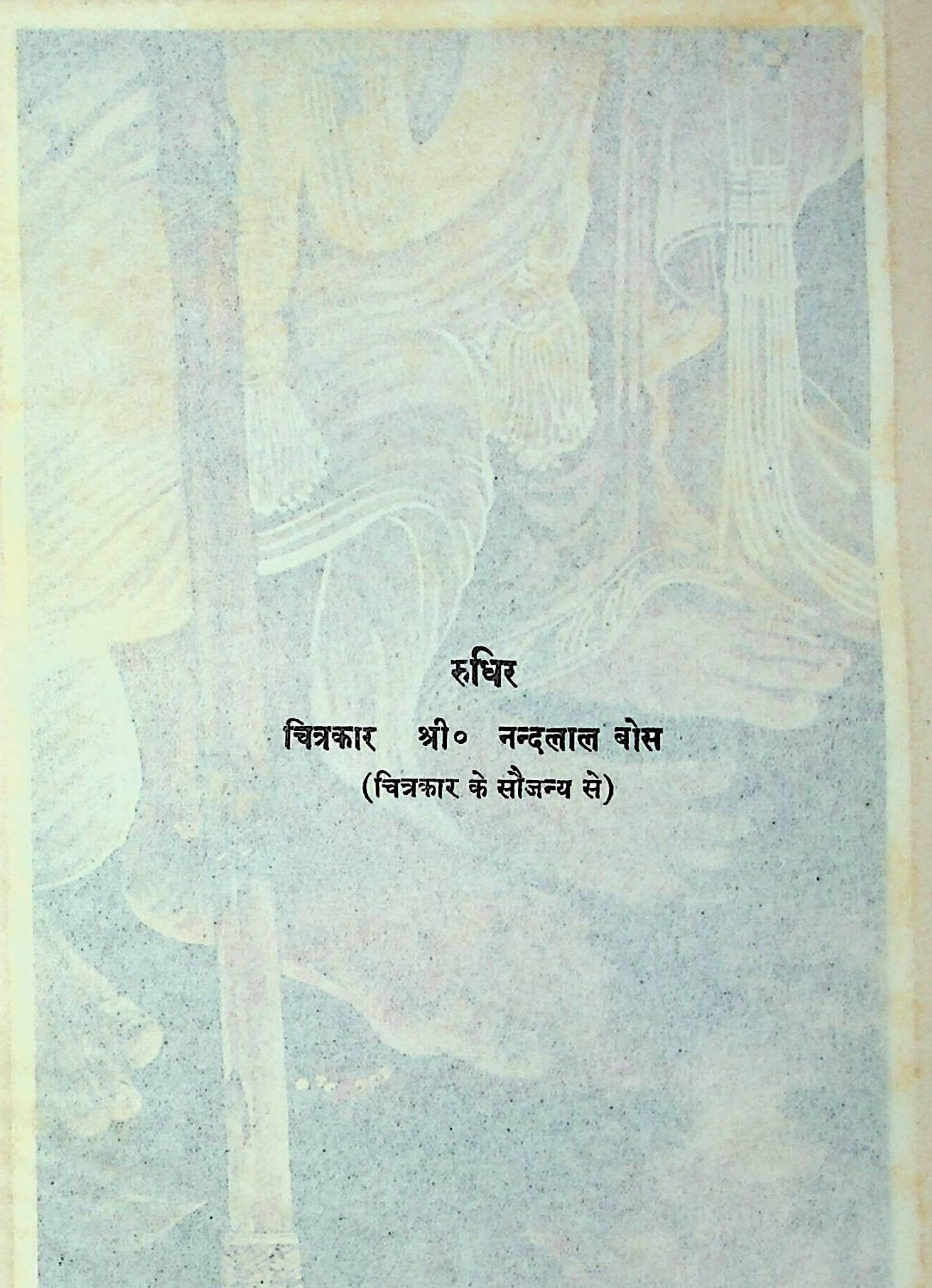

रुधिर

चित्रकार श्री० नन्दलाल बोस

(चित्रकार के सौजन्य से)

(२) इतिहास-लेखन के नवीन आदर्शों की उपेक्षा

राजपूतों के इतिहास की लेखनशैली में दूसरा दोष उसमें इतिहास-लेखन के नवीन आदर्शों का अभाव है। आज-कल जो इतिहास-ग्रंथ लिखे जाते हैं, उनमें अधिकतर घटनाओं की ओर ही ध्यान दिया जाता है। संवत् के क्रम से घटनाओं के उल्लेख के कारण यह संभव नहीं होता कि जातीय जीवन में उठनेवाली भिन्न-भिन्न तरंगों तथा स्पष्ट एवं अदृश्य रूप से बहनेवाले भिन्न-भिन्न प्रवाहों का ठीक-ठीक विवेचन किया जा सके। "प्रत्येक काल के नव रचनेवाली उन गहन प्रवृत्तियों की—जो महान परिवर्तनों के लिये मार्ग साफ करती हैं, तथा उन संयोगों की—जिनसे उस नए परिवर्तित स्वरूप का उद्भव होता है—आलोचना करना ही इतिहास का प्रधान उद्देश्य है। अतएव इतिहासकार का मुख्य कार्य यह है कि मानव-समाज की असंख्य अद्भुत घटनाओं की राशि में से वह उन [illegible] घटनाओं का पता लगावे जो उन घटनाओं के सर्व अदृश्य रूप से चली आती हैं।"[1] जब तक नवीन आदर्शों को सम्मुख रखकर राजपूतों का इतिहास न लिखा जायगा तब तक ठीक-ठीक इतिहास न लिखा जा सकेगा। राजपूतों की सभ्यता, उनकी शासन-शैली, उनका हिंदू-धर्म से संबंध—आदि प्रश्न ऐसे हैं जिन पर अभी तक पर्याप्त प्रकाश नहीं डाला गया है। इस राष्ट्र-निर्माण तथा जातीय पुनरुत्थान के युग में यह अत्यावश्यक है कि राजपूतों के जातीय जीवन में [illegible] उत्थान और पतन का पूर्ण अध्ययन किया जाय, जिसके फल-स्वरूप मुगल-साम्राज्य के [illegible] हुआ। उनके जातीय जीवन के गुण-दोषों को ढूँढना तथा उनकी [illegible] [illegible] नहीं होता। [illegible] जो इतिहास इस प्रकार की विवेचना से पूर्ण होते हैं, वे ही सच्चे इतिहास हैं, वे ही राष्ट्रीय जीवन के सच्चे [illegible] होते हैं।

आधुनिक भारत की नींव उसी अनंत उज्ज्वल अतीत पर स्थित है। आधुनिक परिस्थिति को समझने तथा आधुनिक राष्ट्रीय जीवन की उलझी हुई गुत्थियों को सुलझाने के लिये भूत-कालीन इतिहास का ज्ञान आवश्यक है। पुनः प्रत्येक राष्ट्रीय इतिहास को सर्वांगपूर्ण बनाने के लिये यह अत्यावश्यक है कि उसके सब अंगों का ठीक-ठीक इतिहास उसमें सन्निहित हो। मध्यकालीन भारत में राजपूत ही हिंदुओं के नेता थे। मेवाड़ के महाराणा "हिंदुआ सूरज" कहलाते थे। अतएव जब तक राजपूतों की संस्कृति, उनके आदर्शों, उनकी कला आदि का ठीक-ठीक अध्ययन नहीं किया जायगा, तब तक यह संभव नहीं कि मध्यकालीन भारत का सर्वांगपूर्ण इतिहास लिखा जा सके।

भारत को अपने [illegible] पर गर्व है। भारतीय सभ्यता तथा भारतीय आदर्श संसार की एक अनोखी वस्तु है। किंतु आधुनिक भारतीय सभ्यता दो विभिन्न सभ्यताओं का संमिश्रण है। अतएव जब तक उसके दोनों उद्गमों की जाँच करके उनके [illegible] तथा सापेक्ष प्रभाव को हम ठीक-ठीक जान न

---

१. रघुवीरसिंह—'पूर्व मध्यकालीन भारत'—पृष्ठ १०-११

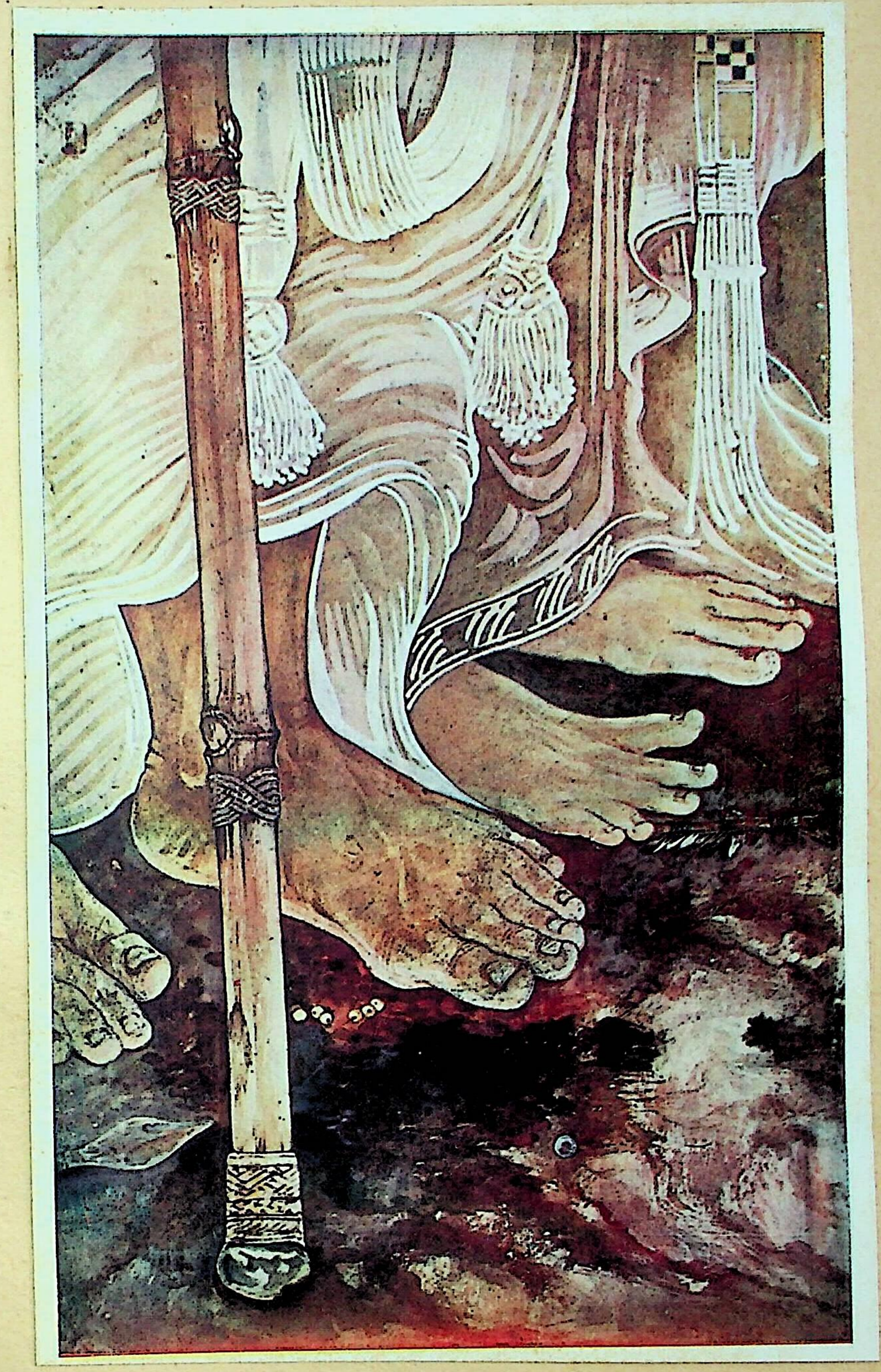

लेंगे, तब तक उसे समझ लेना या उसके स्वरूप को पूर्णतया जान लेना हमारे लिये संभव नहीं। पुनः जब तक इस बात की पूरी खोज न हो सके कि उस स्वतंत्र हिंदू-भारत का आज क्या-क्या रह गया है और क्या-क्या विनष्ट हो गया, तब तक भविष्य का पथ निर्धारित नहीं किया जा सकता। और, यह सब तभी हो सकता है जब उस स्वतंत्र हिंदू-भारत के अवशेष—मध्यकालीन भारत में पुरातन भारतीय सभ्यता के एकमात्र प्रतिनिधि—राजपूतों का यथार्थ इतिहास लिखा जाय तथा भारतीय इतिहास में उनके महत्त्व का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करके उनके इतिहास को समुचित स्थान दिया जाय।

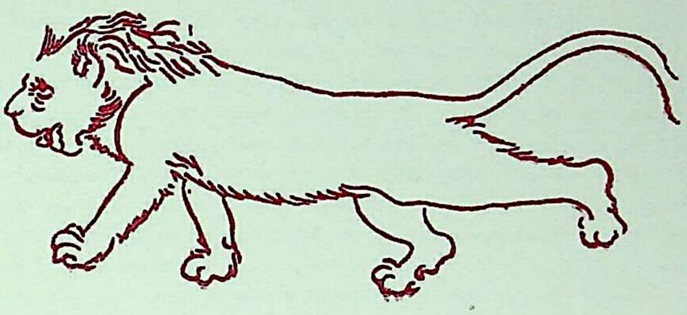

जीवन-फूल

मेरे भोले सरल हृदय ने कभी न इस पर किया विचार—
विधि ने लिखी भाल पर मेरे सुख की घड़ियाँ दो ही चार!
छलती रही सदा ही आशा मृगतृष्णा-सी मतवाली,
मिली सुधा या सुरा न कुछ भी, रही सदा रीती प्याली।
मेरी कलित कामनाओं की, ललित लालसाओं की धूल,
इन प्यासी आँखों के आगे उड़कर उपजाती है शूल।
उन चरणों की भक्ति-भावना मेरे लिये हुई अपराध,
कभी न पूरी हुई अभागे जीवन की भोली-सी साध।
आशाओं-अभिलाषाओं का एक-एक कर ह्रास हुआ,
मेरे प्रबल पवित्र प्रेम का इस प्रकार उपहास हुआ!
दुःख नहीं सरबस हरने का, हरते हैं, हर लेने दो,
निठुर निराशा के झोंकों को मनमानी कर लेने दो।
हे विधि, इतनी दया दिखाना मेरी इच्छा के अनुकूल—
उनके ही चरणों पर बिखरा देना मेरा जीवन-फूल।

सुभद्राकुमारी चौहान

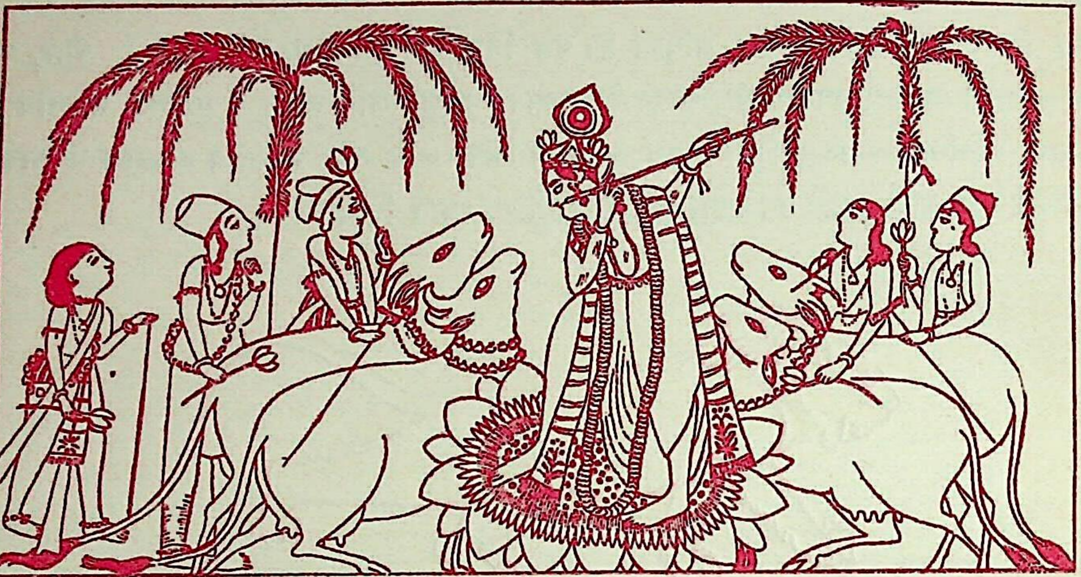

सूरदास का काव्य और सिद्धांत

श्री नलिनीमोहन सान्याल, एम० ए०, भाषातत्त्वरत्न

भक्त-शिरोमणि सूरदास 'सूरसागर' काव्य में कुसुम-सदृश असंख्य छोटे-छोटे हृदयहारी पदों को गूँथकर श्रीकृष्ण की बाल्य-लीला का एक अपूर्व हार हमारे उपभोग के लिये रख गए हैं। उस हार के वात्सल्य, सख्य, मधुर (शृंगार) और शांत रसों का जो परिमल आज चार सौ वर्षों से दिगंत-पर्यंत परिव्याप्त है, उसकी माधुरी कदापि घटनेवाली नहीं, वह सदैव हमारे मानस को परितृप्त करती रहेगी। सूरदास ने यशोदा-देवी के मातृ-स्नेह का आ-लेख्य इस सूक्ष्मता तथा निपुणता से चित्रित किया है कि उसे देखकर नंद-रानी और गोपाल हमारे नेत्रों के सामने सजीव प्रतीत होते हैं। सूरदास के शिल्प का यह निदर्शन सौंदर्य का एक स्थायी आदर्श बना हुआ है। मानव-जीवन का एक और प्रबल आवेग है। वह है नर-नारियों का पारस्परिक आकर्षण। इसके चित्रण में भी सूरदास ने असाधारण दक्षता दिखाई है। नायक-नायिका के रूप-वर्णन में और उनके तीव्र आवेगमय मनोभावों के विश्लेषण में भी सूरदास ने असीम पारदर्शिता दिखाई है।

स्त्री-पुरुषों के प्रेम की अभिव्यक्ति में नाना वैचित्र्यों का उद्भव होता है, जो शृंगार रस के अंतर्गत हैं। शृंगार-रस नाक सिकोड़ने की वस्तु नहीं—केवल इतनी ही सतर्कता आवश्यक है कि वह श्लीलता की सीमा का उल्लंघन न करे। भरत मुनि ने अपने नाट्य-शास्त्र में लिखा है—"यत्किञ्चित् लोके मेध्यं सुन्दरं तत्सर्वं शृङ्गाररसेनोपमीयते।" अर्थात् मानव-समाज में जो कुछ पवित्र तथा सुंदर है, उसकी तुलना के लिये शृंगार रस का उपयोग किया जाता है।

सूरदास का काव्य और सिद्धांत

रस किसे कहते हैं ? किसो वस्तु के आस्वादन में जिस आनंद का अनुभव होता है वही 'रस' है। श्रुति कहती है—"आनन्दाद्धयेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जोवन्ति, आनन्देन प्रयान्त्यभिसंविशन्ति।" अर्थात् आनंद से ही सब भूतों की उत्पत्ति होती है, आनंद में ही वे जीवित रहते हैं, और ध्वंस को पाकर वे आनंद में ही पुनः प्रवेश करते हैं।

अतएव सृष्टि के आदि, मध्य और अंत में—सब समय—आनंद विद्यमान है। 'आनंद' परमात्मा का एक स्वरूप है। जिसका स्वरूप ही आनंद है उसके द्वारा आनंद का अनुभव कैसे संभव है ? आनंद के निमित्त उसको किसी पृथक् सत्ता की आवश्यकता होती है। अतएव आनंद-स्वरूप परमात्मा ने इच्छा की—"एकोऽहं बहु स्याम्—मैं अकेला हूँ, अनेक हो जाऊँ।" यही कारण उनके सगुण-भाव धारण करने का है। आनंदानुभव के निमित्त ही उन्होंने विश्व की सृष्टि की है। 'बहु' न होने से विलास क्योंकर हो सकता है[1] ? आनंदानुभव के लिये ही परमात्मा और जीवात्मा का भेद-भाव रक्खा गया है[2]। 'परमात्मा' पुरुष हैं और 'जीवात्मा' प्रकृति। प्रकृति ब्रह्म में ही विद्यमान रहती है। जो वस्तु भीतर थी उसका बहिर्विकास-मात्र हुआ; क्योंकि अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

जीवात्मा परमात्मा में आत्म-समर्पण करना चाहता है, और भेदात्मक आवरण (माया) को न हटाकर[3] परमात्मा की अनुभूति के द्वारा आनंद में मग्न रहने का अभिलाषी है। इस आकांक्षा को कार्य में परिणत करने के लिये जिस उपाय का अवलंबन किया जाता है उसका नाम है 'साधना'। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों वा सम्प्रदायों की साधना-प्रणाली भिन्न-भिन्न है। जो लोग साधना के मार्ग में अधिक अग्रसर हुए हैं, वे योग तथा समाधि के द्वारा भगवान् को पाने की चेष्टा करते हैं। किंतु यह प्रणाली साधारण जनों के लिये बहुत कठिन है। यह शुष्क तथा नीरस है।[4] मनुष्य आनंद चाहता है। भगवान् को 'कर्महीन और निरवच्छिन्न ज्ञान का स्वरूप' कल्पित करते हुए उनमें अपने-आपको विलीन करने से मनुष्य को संतोष नहीं मिलता। साधारण मनुष्य स्थूल तथा सरस भाव से भगवान् को प्रेम अर्पित करना चाहता है।[5]

१. "गोकुल जनम लियो सुख कारन, गोपिन मिलि सुख भोगूँ।"

२. "प्रकृति पुरुष एकै करि जानहुँ, बातनि भेद बतायो।
जल थल जहाँ तहाँ तुम बिनु नहिँ, भेद उपनिषद गायो।
द्वै तनु, जीव एक, हम तुम दोउ, सुख कारन उपजायो॥"

३. ईश्वर हैं शुद्ध चैतन्य, और जीव अज्ञानावृत चैतन्य। जीव, जीव रहकर ही, परमात्मा का आस्वादन करना चाहता है—वह शुद्ध चैतन्य ईश्वर नहीं बनना चाहता। यही वैष्णवों का धर्म-मत है।

४. (क) सगुन सरूप रहत उर अंतर, निर्गुन कहा करौं। निसिदिन रसना रटत स्याम गुन, का करि जोग मरौं॥
(ख) जाकी कहूँ थाह नहिं पैए, अगम अपार अगाधै। गिरिधरलाल छबीले मुख पर, इतने बाँध को बाँधै॥

५. (क) जिहिँ उर कमलनयन बसत हैं, तिहिँ निर्गुन क्यों आवै।
सूरदास सो भजन बहाऊँ, जाहि दूसरो भावै॥
(ख) स्याम गात सरोज आनन, ललित अति मृदु हास।
सूर ऐसे रूप कारन, मरत लोचन प्यास॥

भगवान् के प्रति भक्त के प्रेम को सूफियों ने मानवोय प्रेम के आधार पर गठित किया है; किंतु उन्होंने भगवान् का कोई रूप नहीं माना। वैष्णवों ने वास्तविक आकार में भगवान् की कल्पना की है। भगवान् की विराट् सत्ता के भीतर रहते हुए भी जीवात्मा विरह-वेदना अनुभव करता है, और उनके अखंड रूप की उपलब्धि करने के निमित्त व्यग्र रहता है; किंतु उनके साथ—अद्वैतवादियों की तरह—एकीभूत होने की आकांक्षा नहीं करता। वैष्णवों ने भगवान् के एक मानवीय रूप की कल्पना कर मानवीय स्थूल प्रेम के आदर्श से अपना प्रेम व्यक्त किया है। उन्होंने जीवात्मा और परमात्मा को मानवीय आकार देकर उन दोनों के भीतरी संबंध को प्रेमिक-प्रेमिका के आकर्षण के रूप में व्यक्त किया है। किंतु मधुर (श्रृंगार) रस के सब लक्षणों को व्यक्त करते हुए वैष्णव कवियों की अधिकांश रचनाओं में अश्लीलता का धब्बा लग गया है। इंद्रियों की भाषा के द्वारा अतींद्रिय विषयों की व्याख्या करने में यह अवश्यंभावी है।

स्थान-स्थान पर सूरदास की कविता रुचि-विरुद्ध विवेचित हो सकती है[1]। किंतु स्मरण रखना चाहिए कि किसी रस के वर्णन में उस रस के अंतर्गत जितने प्रकार के आवेगों तथा भावों की उत्पत्ति हो सकती है उन सबके विस्तृत विश्लेषण में ही रस-शास्त्रानुसार काव्य की श्रेष्ठता प्रकट होती है। श्रृंगार रस के वर्णन में जो-जो कार्य वा भाव आज-कल अश्लील गिने जाते हैं, वे उस रस के अंग हैं, उनको छोड़ देने से रस संपूर्णतया परिस्फुट नहीं होता।

अश्लीलता के वर्णन के अभिप्राय से सूरदास काव्य-प्रणयन में प्रवृत्त नहीं हुए थे। उनकी काव्य-रचना का उद्देश्य था भगवान् के लीला-माधुर्य का आस्वादन करना तथा कराना। उनकी व्याख्या में यदि कहीं श्लीलता का सीमोल्लंघन भी हुआ हो तो हम यह कहना उचित समझते हैं कि वे जिस काल में अवतीर्ण हुए थे और जिस वातावरण में जीवित थे, उसमें और उसके पूर्ववर्त्ती काल में इस प्रकार का स्थूल वर्णन दोष नहीं समझा जाता था। उन्होंने प्राचीन रीति का अनुसरण किया है। कालिदास ने 'कुमार-संभव' के समग्र अष्टम सर्ग में हर-पार्वती का संभोग-वर्णन किया है[2]। जयदेव भी

---

[1] आजु नँदनंदन रंग भरे।
बिबिलोचन सुबिसाल दोउन के, चितवत चित्त हरे। भामिनि मिले परम सुख पायो, मंगल प्रथम करे।
कर सों करज कर्‌यो कंचन ज्यों, अंबुज उरज धरे। आलिंगन दै अधर पान कर, खंजन खंज लरे।
हठ करि मान कियो नव भामिनि, तब गहि पाइँ परे। ले गए पुलिन-मध्य-कालिंदी, रस-बस अनँग अरे।
पुहुप मंजरी मुक्तनि माला, अँग अनुराग भरे। सुरति नाद मुख बेनु सुधा सुनि, ताप अनतप जो टरे॥

[2] सस्वजे प्रियमुरोनिपीडनं प्राथितं मुखमनेन नाहरत्।
मेखलाप्रणयलोलतां गतं हस्तमस्य शिथिलं रुरोध सा॥—(कु० सं०, ८, १४)
क्लिष्टकेशमवलुप्तचन्दनं व्यत्ययार्पितनखं समत्सरम्।
तस्य तच्छिदुरमेखलागुणं पार्वतीरतमभून्न तृप्तये॥—(कु० सं०, ८, ८३)

"Nor Eve refused the rights mysterious of connubial love."

—*Milton's Paradise Lost*

इस विषय में निरपराध नहीं[१]। विद्यापति के अनेक पदों ने श्लीलता की सीमा का अतिक्रम किया है[२]। पूर्व-काल में नायक-नायिका के संभोग का विवरण न देने से काव्य अंगहीन विवेचित होता था।

वृंदावन की लीला में श्रीकृष्ण पुरुष हैं और गोपियाँ प्रकृति। विष्णु-पुराण वा श्रीमद्भागवत में 'राधा' का नाम नहीं पाया जाता। केवल हरिवंश के एक स्थान में इंगित-मात्र है। इससे अनुमान होता है कि 'हरिवंश' भागवत का परवर्त्ती है। जयदेव द्वादश शतक के अंत में विद्यमान थे। उन्होंने राधा-कृष्ण की लीला गाई है। दार्शनिकों में निंबार्काचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्रों की व्याख्या में सबसे पहले राधा-कृष्ण की उपासना की घोषणा की है। निंबार्क का जन्म विक्रम-संवत् १२१९ में हुआ था। अतएव वे जयदेव के समकालीन थे। इससे अनुमान होता है कि जयदेव और निंबार्क के कुछ समय पहले ही किंवदंती वा साहित्य-क्षेत्र में 'राधा' नाम का आविर्भाव हुआ था; क्योंकि गाथा-सप्तशती में 'राधा' का नाम मिलता है।

कृष्ण-भगवान् के लीला-विषयक ग्रंथों में पहले केवल गोपियाँ ही थीं, 'राधा' न थीं। पीछे गोपियों के सार-स्वरूप 'राधा' की कल्पना हुई। गोपियाँ प्रकृति का व्यष्टि-भाव हैं, और राधा समष्टि-भाव।

विष्णु-पुराण, भागवत तथा हरिवंश में श्रीकृष्ण की वृंदावन-लीला का वर्णन है, किंतु महाभारत में नहीं। महाभारत में वृंदावन का नाम तक नहीं, न व्रजलीला का उल्लेख! 'कृष्ण' द्वारकाधीश हैं, केवल इतना ही परिचय मिलता है। राजसूय-यज्ञ-कालीन शिशुपाल की निंदा प्रक्षिप्त मानी जाती है।

ब्रह्मवैवर्त्त-पुराण बहुत आधुनिक है। इसमें 'राधा' का वर्णन मिलता है। सूरदास के समय 'राधा' का नाम और राधा-कृष्ण की लीलाएँ अपरिचित न थीं। उनको अपने गुरु श्रीवल्लभाचार्य से इस विषय का उपदेश भी मिला होगा।

---

[१] (क) श्लिष्यति कामपि चुम्बति कामपि कामपि रमयति वामाम्।
पश्यति सस्मितचारुपरामपरामनुगच्छति वामाम्॥—(गीतगोविंद, १,४६)

(ख) दोर्भ्यां संयमितः पयोधरभरेणापोडितः पाणिजै—
राविद्धो दशनैः क्षताधरपुटः श्रोणीतटेनाहतः।
हस्तेनानमितः कचेऽधरसुधापानेन सम्मोहितः
कान्तः कामपि तृप्तिमाप तदहो कामस्य वामा गतिः॥—(गी० गो०, १२, ११)

[२] थरथरि काँपल लहुलहु भास। लाजे न बचन करये परकास॥
आज धनि पेखल बड़ बिपरीत। छन अनुमति छन मानइ भीत॥
सुरतक नामे मुदइ दुहुँ आँखी। पाओल मदन महोदधि साखी॥
चुंबन बेरि करइ मुख बंका। मिलल्ह चाँद सरोरुह अंका॥
नीबिबंध परस चमकि उठि गोरी। जानल मदन भांडारक चोरी॥
फुयल बसन हिय भुज बाहु साँठि। बाहिर रतन आँचर देइ गाँठि॥—(विद्यापति-पदावली)

सृष्टि के आदि से ही प्रकृति और पुरुष की लीला चल रही है। वैष्णवगण कहते हैं कि वृंदावन की लीला के लिये भगवान् ने प्रकृति के प्रतीक-स्वरूप 'राधा' नाम का एक पृथक् विग्रह उत्पन्न किया और स्वयं भी आकार ग्रहण किया[1]। 'ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।' आनंद-स्वरूप के विकार से जिस शक्ति का विकास होता है उसका नाम है 'ह्लादिनी' वा 'राधा'। पुरुष का ही रूपांतर है प्रकृति, अतएव राधा-कृष्ण अभिन्न हैं। राधा-कृष्ण का विहार ही आदर्श शृंगार रस का विलास है। श्रीकृष्ण हैं सौंदर्य के आधार, शृंगार रस के मूर्त्तिमान विग्रह तथा नायक-शिरोमणि; और राधा हैं सौंदर्य की प्रतिमा, शृंगार रस की मधुरिमा और आदर्श नायिका। अतएव राधा-कृष्ण की उपासना है सौंदर्य की उपासना—रस-स्वरूप की भावना।

वैष्णवगण और भी कहते हैं कि श्रीकृष्ण के साथ राधा तथा गोपियों का विहार प्राकृत विहार नहीं, वरन् अप्राकृत है। कारण, श्रीकृष्ण हैं चिन्मय विग्रह और व्रज-देवियाँ चिन्मयी। व्रज-लीला है विशुद्ध प्रेम-लीला। माया के राज्य में माया का विकार-स्वरूप 'काम' है। किंतु चिन्मय राज्य में 'काम' नहीं रह सकता। चिन्मय राज्य केवल प्रेम का राज्य है। वहाँ सब आनंदमय है। काम-विजय ही इस लीला का उद्देश्य है। "व्रज-वधूगण के संग विष्णु की रास-लीला को श्रद्धा के साथ जो सुनता वा सुनाता है, वह धीर मनुष्य परा भक्ति प्राप्त कर हृदय के रोग-स्वरूप काम का सदा के लिये त्याग करने में समर्थ होता है[2]।" अतएव इसमें किसी प्रकार की अश्लीलता का आक्षेप नहीं किया जा सकता। वैष्णवों के मतानुसार श्रीकृष्ण ही एकमात्र पुरुष हैं—शेष सब प्रकृति है। अतएव जीव भी प्रकृति है। प्रकृति और पुरुष नित्य-संपृक्त हैं। भागवतादि ग्रंथों में इसका रूपक-मात्र वर्णित हुआ है। नव्य उपनिषद् गोपाल-तापनी में समग्र व्रज-लीला ही रूपक के समान व्याख्यात हुई है। प्रकृति और पुरुष की घनिष्ठता को मानव-हृदय में स्पष्ट करने के लिये ही भगवान् ने अवतार-ग्रहण किया था। रास-लीला-प्रांगण में प्रत्येक गोपी अनुभव कर रही थी कि कृष्ण केवल मेरे ही पार्श्ववर्त्ती हैं। इस प्रकार के अनुभव से क्या उपनिषदोक्त एक-शाखा-स्थित दो पक्षियों के सदृश जीवात्मा के साथ परमात्मा का अवस्थान ध्वनित नहीं होता? सूरदास ने कहा है—"वै अबिगति अबिनासी पूरन, सब घट रहै समाई।"

सूरदास ने प्रकृति-पुरुष (जीवात्मा-परमात्मा) के विषय में जैसा बताया है, वही असल बात है—

व्रज ही बसे आपुहिँ बिसरायो।
प्रकृति पुरुष एकै करि जानहुँ, बातनि भेद बतायो॥
जल थल जहाँ तहाँ तुम बिनु नहिँ, भेद उपनिषद गायो।
द्वै तनु, जीव एक, हम तुम दोउ, सुख कारन उपजायो॥

---

१. अजोपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥—(गीता, ४, ६)

२. विक्रीडितं व्रजवधूरिदञ्च विष्णोः श्रद्धान्वितो नु शृणुयादथ वर्णयेद् यः।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः॥

अर्थात् "व्रज में अवतीर्ण होकर तुम आत्म-विस्मृत हो गए हो। मैं प्रकृति और पुरुष को एक ही मानता हूँ। उनका भेद केवल बातों में है। जल-स्थल में और जहाँ-तहाँ (सर्वत्र) तुम्हारे सिवा कुछ भी नहीं है, यह रहस्य उपनिषदों में गाया गया है। देह दो हैं, किंतु जीव (आत्मा) एक ही। 'मैं और तुम'—यह भेद-भाव तुम्हीं ने आनंदोपभोग के लिये उत्पन्न किया है।"

सूरदास भेद में भी अभेद को प्रत्यक्ष देखते थे। श्रीकृष्ण के ब्रह्मत्व में उनका अटूट विश्वास था। (परमात्मा यथार्थ में निर्गुण हैं और उनका स्वरूप है एक निःसंबंध निरपेक्ष चैतन्य। लीला के लिये ही वे सगुण होते हैं।)

सूरदास का सिद्धांत उनके कुछ पदों में मिलता है, जिनमें से एक यह है—

सदा एकरस एक अखंडित, आदि अनादि अनूप।
कोटि कल्प बीतत नहिँ जानत, बिहरत जुगल स्वरूप॥
सकल तत्त्व ब्रह्मांड-देव पुनि, माया सब बिधि काल।
प्रकृति पुरुष श्रीपति नारायण, सब हैं अंश गोपाल॥
कर्मयोग पुनि ज्ञान उपासन, सब ही भ्रम भरमायो।
श्रीवल्लभ प्रभु तत्त्व सुनायो, लीला-भेद बतायो॥

अर्थात्—"महाविष्णु-स्वरूप श्रीकृष्ण अखंडित (पूर्ण) ब्रह्म हैं। वे अनादि और उपमा-रहित हैं, एक-रस (सदा निर्विकार) तथा आनंदमय हैं, सदा युगल-रूप में विहार कर रहे हैं—कोटि कल्प बीत जाने पर भी वे इसका अनुभव नहीं कर सकते, अर्थात् उनके निकट काल की गति नहीं। वही पंचविंशति तत्त्व[1] और ब्रह्मांड-देव हैं। विधि, काल इत्यादि सब माया हैं। प्रकृति-पुरुष—श्री और (उनके पति) नारायण—सभी गोपाल (महाविष्णु) के अंश-मात्र हैं। कर्म, योग, ज्ञान, उपासना—सभी भ्रम (माया) के द्वारा आच्छन्न हैं।"

श्रीवल्लभाचार्य ने सूरदास को वैष्णव-सिद्धांत तथा लीला-रहस्य का जो उपदेश दिया था, ऊपर के पद में वह संक्षेप में व्यक्त हुआ है।

[युगलरूप में राधा-कृष्ण नित्य विहार कर रहे हैं। इस विहार के स्थान में केवल गोपियों (मुक्त जीवों)[2] का प्रवेशाधिकार है। जो एक ही स्थान में सदा के लिये आबद्ध रहता और काल का अनुभव नहीं कर सकता, वह निर्गुण से अधिक भिन्न नहीं।]

शैशवावस्था में ही पूतना, बकासुर, अघासुर इत्यादि के वध तथा गोवर्द्धन-धारण, अनल-पान, कालिय-मर्दन इत्यादि अलौकिक कार्य संपन्न करने के कारण गोपियाँ श्रीकृष्ण को ईश्वर ही जानती थीं।

---

[1] सत्व, रजः और तम—इन तीनों गुणों की साम्यावस्था को 'प्रकृति' कहते हैं। प्रकृति से 'महत्' (बुद्धि or intellect), महत् से 'अहंकार' (individuality), अहंकार से 'पंच-तन्मात्र' (निर्विशेष सूक्ष्म पंचभूत), तन्मात्र स्थूल-भावापन्न होने से 'स्थूल-भूत' (क्षिति, अप्, तेज, मरुत् और आकाश) और 'एकादश इंद्रिय' (ज्ञानेंद्रिय, कर्मेंद्रिय और मन) उत्पन्न होते हैं। इन चौबीस तत्त्वों के अतिरिक्त एक तत्त्व 'पुरुष' है।

[2] कबीरदास ने इनका नाम 'हंस' दिया है।

राधा और कृष्ण दोनों परस्पर के प्रेम से मुग्ध थे। सूरदास के काव्य में राधा-कृष्ण के रूप का वर्णन अति मधुर है। यहाँ दो-तीन पद उद्धृत किए जाते हैं—

श्रीकृष्ण

हरिमुख निरखत नैन भुलाने।
ये मधुकर रुचि पंकज-लोभी ताही ते न उड़ाने॥
कुंडल मकर कपोलन के ढिग जनु रबि रैनि बिहाने।
भ्रुव सुंदर नैननि गति निरखत खंजन मीन लजाने॥
अरुन अधर ध्वज कोटि बज्र द्युति ससिगन रूप समाने।
कुंचित अलक सिलीमुख मानों लै मकरंद निदाने॥
तिलक ललाट कंठ मुकुतावलि भूषनमय मनि साने।
सूरदास स्वामी अँग नागर ते गुन जात न जाने॥

× × ×

लोचन हरत अंबुज मान।
चकित मन्मथ सरन चाहत धनुष त्यजि निज बान॥
चिकुर कोमल कुटिल राजत रुचिर बिमल कपोल।
नील नलिन सुगंध ज्यों रस थकित मधुकर लोल॥
स्याम उर पर परम सुंदर सजल मोतिन हार।
मनों मरकत-सैल तेँ बहि चली सुरसरि-धार॥
सूर कटि पट पीत राजत सुभग छबि नँदलाल।
मनों कनक-लता-अवलि-बिच, तरल बिटप-तमाल॥

[जैसे मेघ और विद्युत् में अविच्छिन्न संबंध है, उसी प्रकार उनमें और उनके पीत वस्त्र में नित्य-संबंध है। जैसे वर्षा के प्रारंभ में सौदामिनी-युक्त वर्षणोन्मुख नवीन मेघ नयनाभिराम होता है और वर्षण से धरातल को सुशीतल करता है, वैसे ही नवयौवन-संपन्न श्रीकृष्ण प्रेमधारा-वर्षण-पूर्वक प्रेमिक भक्तों की तप्त प्रेम-तृषा शांत करते हैं (गोपाल-तापनी)। अन्य किसी अवतार मं भगवान् के वस्त्र की विशिष्टता का पता किसी ग्रंथ में नहीं मिलता।]

श्रीराधा

डोलति बाँकी कुंज-गली।
ब्रज-बनिता मृगसावक-नैनी बीनति कुसुम-कली॥
कमल-बदन पर बिथुरि रहीं लट कुंचित मनहुँ अली।
अधर-बिंब नासिका मनोहर दामिनि दसन छली॥

पंडित गंगाप्रसाद जी अग्निहोत्री

स्वर्गीय पंडित गंगाप्रसाद अग्निहोत्री

पंडित लल्लीप्रसाद पांडेय

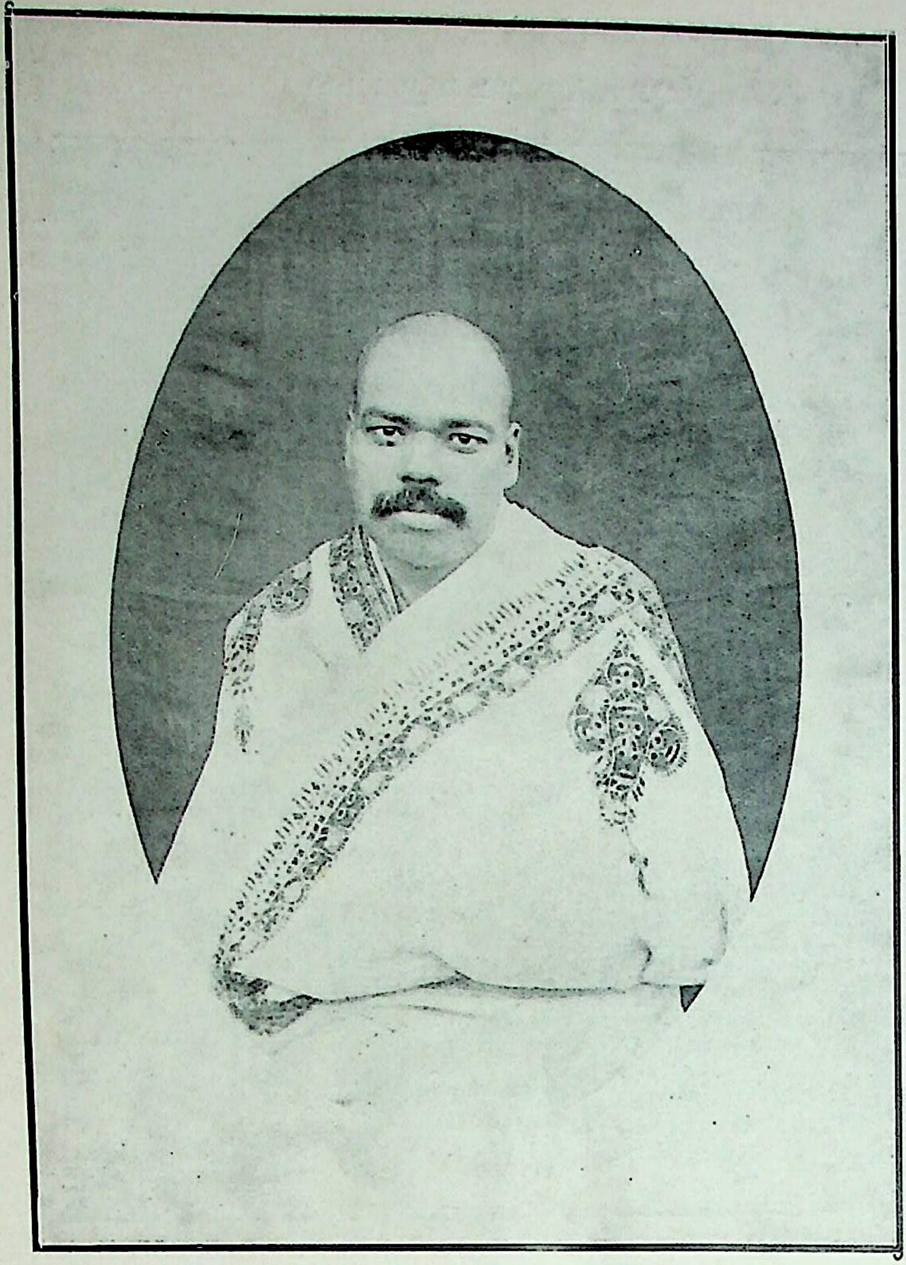

स्वर्गीय पंडित रामावतार शर्मा

कृपापात्र —
महेन्दुलाल गर्ग
२२-४-१९०९

स्वर्गीय पंडित महेंदुलाल गर्ग

नाभि परस लौं रस-रोमावलि कुच जुग बीच चली।
मनहुँ बिबर तें उरग रिंग्यो तकि गिरि कै संधि-थली॥
पृथु नितंब कटि छीन हंस-गति जघन सघन कदली।
चरन महावर नूपुर मनि में बाजति भाँति भली॥

प्रत्येक शिल्पी के मानस-क्षेत्र में सौंदर्य का एक आदर्श बना रहता है और वह अपने कल्पना-निहित आदर्श को वास्तविक रूप देने के लिये व्याकुल रहता है। जिसका आदर्श जितना ऊँचा होता है और प्रकाशन-शक्ति जितनी पटु एवं सुंदर तथा हृदयग्राहिणी होती है, उसे उतनी ही—उसी परिमाण में सफलता प्राप्त होती है। सूरदास की रचना का विषय महान, आदर्श उच्च और वाक्विभव समृद्ध था। इन्हीं कारणों से उनकी कविता इतनी मधुर और मर्मस्पर्शिनी हो सकी है।

अच्छे कवियों को उपमाओं के लिये आकाश-पाताल खोजना नहीं पड़ता। सूरदास की उपमाएँ प्रायः स्वतः आ गई हैं। किंतु कहीं-कहीं उपमा-संग्रह के लिये उन्हें भी प्रयास करना पड़ा है। कहीं-कहीं तो उपमाओं की प्रचुरता से जी ऊबने लगता है। तथापि कविवर के गुण-सन्निपात में अणु-परिमाण दोष निमज्जित हो गया है।

आज-कल योरप से हमारे देश में एक नए मत की अवतारणा हुई है—'पति अपनी पत्नी से प्रेम का दावा नहीं कर सकता, मन जिसकी ओर दौड़ता है उसी को प्रेम अर्पित हो सकता है; क्योंकि 'प्रेम' हृदय की वस्तु है और किसी का हृदय बल के द्वारा अधिकृत नहीं हो सकता।'

'सहजिया'-संप्रदाय का मत भी प्रायः यही है।

जो नारी अपने पति पर अनुरक्त न होकर अन्य पुरुष पर अनुरक्त होती है वह रस-शास्त्र के अनुसार परकीया नायिका और जो अपने पति पर अनुरक्त रहती है वह स्वकीया नायिका कहलाती है। अपने पति के साथ मिलने का जो आग्रह होता है, उससे कहीं अधिक परकीया नारी का उपपति से मिलने का आवेग होता है। इस तीव्र आवेग के द्वारा परिचालित होकर गोपियों ने श्रीकृष्ण—अर्थात् भगवान्—की आराधना की थी। ऋग्वेद (९-३२-१) में ऐसा ही भाव पाया जाता है—"योषा जारमिव प्रियम्।" अर्थात् ईश्वर के प्रति जीवात्मा के प्रेम का आवेग, उपपति के प्रति परकीया नारी के प्रेम के आवेग की भाँति ही, तीव्र होना चाहिए। परकीया नायिका के भाव के साथ ही प्रत्येक साधक को साधना-कार्य में प्रवृत्त होना उचित है, नहीं तो भगवत्-प्राप्ति नहीं हो सकती। कार्डिनल न्युमन भी प्रायः यही कह गए हैं[१]।

कई योरपीय उपन्यासकारों का अनुकरण करते हुए इस देश के कुछ आधुनिक उपन्यासकार स्वाधीन प्रेम की पोषकता करके निंदनीय हुए हैं। स्थूल दृष्टि से देखने पर इस श्रेणी के औपन्यासिकों का अपराध वैष्णव कवियों के अपराध से अधिक नहीं! स्थूल भाव से ही श्रीकृष्ण के प्रति गोपियों के

---

[१] "If thy soul is to go into higher spiritual blessedness, it must become woman; yes, however manly thou mayst be among men."—*Newman.*

अनुराग में परकीया नायिका के लक्षण देखे जाते हैं। किंतु श्रीकृष्ण के ईश्वरत्व में गोपियों का यथार्थ विश्वास था। वैष्णवों की हृद्गत वासना ही यह है कि श्रीकृष्ण के प्रति अनुराग के द्वारा, अर्थात् प्रेम तथा भक्ति की साधना के द्वारा, वे भगवान् का सालोक्य प्राप्त करें, अर्थात् उनके साथ वैकुंठ में एकत्र अवस्थान करें, और अधिकतर साधना के द्वारा सायुज्य के अधिकारी हो सकें। गोपियों ने सौभाग्य-वश ऐसे युग में और ऐसे स्थान में जन्म-लाभ किया था कि उन्होंने मनुष्य की ईप्सित वस्तु को नर-देह में अवस्थान करते हुए पाया था। उस कृष्ण-रूपी भगवान् की रूप-माधुरी से मुग्ध हो जाना उनके लिये अस्वाभाविक न था। उनके साथ एक ही स्थान में रहकर और उनकी सेवा करके वे धन्य हुई थीं। काम्य वस्तु को करतल-गत पाकर वे उन्हें छोड़ न सकी थीं। सूरदास की गोपियों ने कहा था—

मन क्रम बचन नंदनँदन को नेकु न छाँड़ौं पास।
कैसे रहै परै री सजनी, एक गाउँ को बास॥

इस पृथ्वी पर ही गोपियों का सालोक्य-लाभ हुआ था। संभवतः उनकी नारी-देह-जनित वासनाएँ भी चरितार्थ हुई थीं। अतएव एक प्रकार से उनको सायुज्य भी प्राप्त हुआ था। इस कारण से गोपियाँ साधारण परकीया नारियों की श्रेणी में नहीं गिनी जा सकतीं। जो हो, शताब्दियों से गोपियों के लीला-कथा की रुचि-हीनता भक्तों तथा साहित्यिकों के समाज में केवल उपेक्षित ही नहीं हुई है, प्रत्युत आदृत भी होती चली आई है। श्रीमद्भागवतकार और अन्यान्य वैष्णव-कविगण यदि अपराधी हुए हों, तो सूरदास भी अपराधी हैं। कम से कम परंपरागत रीति के अनुसार भी उनका अपराध क्षमा करना उचित है। शृंगार रस के कवि होने की दृष्टि से तो उन्होंने कुछ भी अपराध नहीं किया; क्योंकि उन्होंने इस रस को संपूर्णता दी है। पुनः भक्त होने की दृष्टि से भी राधा-कृष्ण के विहार में उन्होंने प्रकृति और पुरुष के—भक्त और भगवान् के—मिलनानंद का ही अनुभव किया है। सुरुचि-संपन्न पाठकों के हृदय में जो कविताएँ व्यथा पहुँचाती हैं, उनको छोड़ देने से भी इस रस की अन्यान्य असंख्य कविताएँ अति मनोहर हैं।

सूरदास के काव्य में कृष्णानुरक्त गोपियों में से अधिकांश कुमारी ही हैं। राधा भी कुमारी हैं। वृंदावन छोड़कर श्रीकृष्ण के मथुरा चले जाने पर गोपियों ने प्रोषित-भर्तृकाओं के समान आचरण किया था। उन्होंने आजीवन अपने पातिव्रत धर्म का पालन किया था, और इस संबंध में उद्धव से उन्होंने स्पष्ट कहा भी था—

हम अलि गोकुलनाथ अराध्यो।
मन क्रम बचन हरि सोँ धरि पतिव्रत प्रेम जप तप साध्यो॥

नायक-नायिका के दैहिक मिलन के पहले, दोनों के मन में जिस प्रेम का संचार होता है और मिलन की आकांक्षा उत्पन्न होती है, उसे 'पूर्वराग' कहते हैं। प्राचीन अलंकार-शास्त्र में 'पूर्वराग' शब्द नहीं मिलता। 'साहित्य-दर्पण' में इसका व्यवहार प्रथम दृष्टिगत होता है। विश्वनाथ कविराज, महाप्रभु चैतन्य के परवर्त्ती थे। सुना जाता है कि सनातन गोस्वामीजी को उपदेश देकर वृंदावन की ओर भेजते हुए चैतन्यदेव ने प्रेम की अभिव्यक्ति के स्तरों का निर्देश कर दिया था, और उसी समय से

वैष्णव-साहित्य में प्रेम के इस प्रथम तथा मधुर स्तर का अधिक उपयोग होने लगा है। अतएव यह आश्चर्य का विषय नहीं कि सूरदास के काव्य में 'पूर्वराग' का विशद वर्णन नहीं पाया जाता। शकुंतला इत्यादि में जैसे नायक-नायिका के प्रथम दर्शन के परवर्त्ती विरह का वर्णन संक्षेप में है, वैसे ही सूरदास के काव्य में प्रथम साक्षात्कार के बाद परस्पर के अदर्शन से उत्पन्न तीव्र वेदना को व्यक्त करनेवाले पद थोड़े हैं। बंगाली वैष्णव कवियों ने 'पूर्वराग' पर बहुत ध्यान दिया है और उसकी व्याख्या में चमत्कार भी दिखाया है। मिलन के पीछे के विरह का सूरदास-लिखित वर्णन अति मर्मस्पर्शी है। देखिए——

बिछुरे श्रीब्रजराज आज तौ नयनन ते परतीति गई।
उठि न गई हरि सँग तब ही ते ह्वै न गई सखि स्याममई॥
रूप-रसिक लालची कहावत सो करनी कछुवै न भई।
साँचे क्रूर कुटिल ए लोचन वृथा मीन छबि छीनि लई॥
अब काहे जल मोचत सोचत समौ गए ते सूल नए।
सूरदास याही ते जड़ भए इन पलकन ही दगा दए॥

× × × ×

काहे को पिय पिय हीँ रटत हो पिय के प्रेम तेरो प्रान हरैगो।
काहे को लेत नयन जल भरि-भरि नयन भरे तेँ कैसे सूल टरैगो॥
काहे को स्वास उसाँस लेति हौ बैरी बिरह को दावा जरैगो।
छाल सुगंध पुहुपावलि हारु छुए तेँ हिय हार जरैगो॥
बदन दुराइ बैठि मंदिर में बहुरि निसापति उदय करैगो।
सूर सखी अपने इन नैननि, चंद्र चितै जिनि चंद्र जरैगो॥

अब देखना चाहिए कि सूरदास के जीवन के साथ उनके काव्य का सामंजस्य है या नहीं। सूरदास आजीवन त्यागी थे। वल्लभाचार्य के द्वारा दीक्षित होने के बाद से उन्होंने अपना जीवन गोकुल में ही बिताया था। कृष्ण-विषयक पद बनाकर और स्वयं उसे गाकर वे अपना समय काटते थे। अपने काव्य में उन्होंने जो कुछ व्यक्त किया है, सब भक्ति-प्रसूत है। वे श्रेष्ठ कवि तो थे ही, निपुण गायक और परम भक्त भी थे। भक्ति ही उनके काव्य तथा संगीत का उत्सर्ग थी। वे भक्ति-रस में आकंठ निमग्न थे।

कोमल कांत पद जितने 'सूरसागर' में पाए जाते हैं, उतने अन्य कवियों के काव्यों में नहीं। मानव-जीवन की जो वेदनाएँ मनुष्य के मर्म-स्थल का स्पर्श करती हैं, उनको स्पष्ट करने में जो कवि जितना समर्थ हुआ है, उसको उतनी ही ख्याति मिली है। शेक्सपीयर के जगद्वरेण्य होने का यही कारण है। सूरदास ने मनुष्य-हृदय के सार्वजनीन आवेगों को अति निपुणता से परिस्फुट किया है। इस दिशा में उनका कृतित्व असाधारण है। उनका शिल्प प्रधानत: दो रसों के भीतर सीमित है। फिर भी उन रसों के अंकन में वे अद्वितीय हैं। उन्होंने वात्सल्य तथा शृंगार रसों की आलेख्यावली इस सूक्ष्मता तथा निपुणता से चित्रित की है कि उसे देखकर चित्त चकित और मुग्ध हो जाता है—उसके माधुर्य का आस्वादन कर मन

परितृप्त हो जाता है। भावों की कोमलता और विचित्रता, विन्यास की अपूर्वता और रमणीयता तथा शब्दों के लालित्य और झंकार की दृष्टि से हिंदी के महाकवियों में सूरदास का आसन बहुत ही उच्च है। भक्तों की दृष्टि में तो उनके शृंगार-रसात्मक पद भी भक्ति-रसात्मक ही प्रतीत होते हैं।

विद्यापति भी बड़े अच्छे कवि थे। उनके पदों की कोमलता और लालित्य भी प्रसिद्ध है। इन बातों में कदाचित् वे सूरदास से श्रेष्ठ थे, किंतु सूरदास की भक्ति की गंभीरता उनके पदों में विरल है। हाँ, एक कवि चंडीदास थे, जिनके पदों की आवेग-भरी सरलता की कोई तुलना नहीं।

सूरदास के पदों में भी भक्ति की मंजुल तरंगें लहरा रही हैं। वे जीवनावसान के समय दो स्वरचित पदों—"भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो" और "खंजन-नैन रूप-रस माते"—की आवृत्ति करते हुए ही चिरानंदमय अमरधाम को सिधारे थे। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने इस प्रसंग में निम्नलिखित सुंदर दोहा लिखा है—

मन समुद्र भयो सूर को, सीप भए चख लाल।
हरि मुक्ताहल परत ही, मूँदि गए ततकाल॥

भारतीय वाङ्मय के अमर रत्न

श्री जयचंद्र विद्यालंकार

हमारे देश की ऊपर से दीखनेवाली विविधता के भीतर एक बड़ी गहरी एकता है। विविधता उसके बाहरी नाम-रूप में है, एकता उसके विचारों की आंतरिक प्रवृत्तियों और संस्कृति में। भारतवर्ष की भिन्न-भिन्न लिपियों की तह में जैसे एक ही वर्णमाला है, वैसे ही उसकी अनेक भाषाओं के माध्यमों में एक ही वाङ्मय का विकास हुआ है।[1] भारतीय वाङ्मय की वह आंतरिक एकता भारतवर्ष के विचारों और संस्कृति की एकता की सूचक है। और, यद्यपि उस वाङ्मय का आत्मा एक है, तो भी वह इतिहास के परिपाक के अनुसार अनेक भाषाओं, रूपों और परिस्थितियों में प्रकट हुआ है। भारतवर्ष के जीवन और संस्कृति का विकास भारतीय वाङ्मय के उन विभिन्न रूपों के विकास में ही ठीक-ठीक देखा जा सकता है।

उस वाङ्मय का उदय पहले-पहल भारतवर्ष की आर्य भाषाओं में हुआ। बहुत समय बाद द्राविड भाषाओं में भी आर्यावर्त्ती भाषाओं की कलम लगी, और वे भी वाङ्मय से फूलने-फलने लगीं। इधर आर्य भाषाओं में भी एक के बाद दूसरी यौवन पर आती और वाङ्मय का विकास करती रही। और काल बीत जाने पर भारतीय उपनिवेशों और सभ्यता के साथ-साथ भारतीय वाङ्मय की पौद भारतवर्ष के बाहर अनेक देशों में भी जा लगी। पहले तो उन देशों में आर्यावर्त्ती भाषाएँ ही फूली-फलीं, किंतु पीछे उनके रस-सिंचन से स्थानीय भाषाएँ भी परिष्कृत और साहित्य-पुष्पित होने लगीं। उन भाषाओं के वाङ्मयों का भी बीज या आत्मा आर्यावर्त्ती ही रहा—वह केवल नए रूपों में प्रकट हुआ। इस प्रकार 'उपरले हिंद' (Serindia, आधुनिक चीनी तुर्किस्तान या सिम्‌कियाङ) की तुखारी और खोतनदेशी भाषाओं में, पूरबी ईरान की सुग्धी[2] में, नेपाल की नेवारी, तिब्बत की तिब्बती और अंशतः चीनी में भी, एवं जावा की 'कवि' भाषा आदि में भारतीय वाङ्मय का ही विकास भिन्न-भिन्न रूपों में हुआ।

---

१. देखिए—'भारतभूमि और उसके निवासी', परिच्छेद ४९

२. वंक्षु (आमू) और सीर नदियों के बीच का दोआब, जिसमें अब बुखारा-समरकंद की बस्तियाँ हैं, प्राचीन काल में—तुर्कों के आने से पहले—ईरान का ही एक अंश था, और वह 'सुग्ध' कहलाता था। मुस्लिम युग में उसी का नाम 'मवारुन्नहर' रहा।

किंतु भारतीय मन और मस्तिष्क ने चाहे जिस भाषा में अपने को प्रकट किया उसमें उसने कुछ ऐसे रत्न पैदा किए जो त्रैकालिक और अमर हैं। इन सब रत्नों को एक साथ एक जगह उपस्थित करके देखने से भारतीय वाङ्मय का—और उसके द्वारा भारतीय संस्कृति का—समन्वयात्मक दर्शन बहुत ठीक हो सकता है। और अंत में उस चयन और संकलन के द्वारा भारतीय वाङ्मय का एक वास्तविक पूर्ण इतिहास लिखा जा सकता है। सच कहें तो भारतवर्ष का एक पूर्ण इतिहास तैयार करने का भी यही उचित मार्ग है। इस समन्वय-दर्शन के काम के लिये भारतवर्ष की वह भाषा सबसे अधिक उपयुक्त होगी जो समस्त भारत में एक सूत्र पिरोनेवाली भारत की राष्ट्रभाषा है। किसी समय यह काम संस्कृत करती थी। संस्कृत द्वारा विभिन्न भारतीय जनपदों के वाङ्मयों में विनिमय होता था, संस्कृत के ग्रंथों का उनमें अनुवाद होता था—और उनके अच्छे ग्रंथों का संस्कृत में (जैसे पालि तिपिटक का या गुणाढ्य की बृहत्कथा का)। आज वही काम हिंदी को करना होगा। ऐसा करने से उसकी समन्वय-शक्ति—राष्ट्रभाषापन—भी बहुत बढ़ेगी।

ये विचार हमें एक योजना की तरफ ले जाते हैं, और वह योजना मेरे मन में कई बरस से घूम रही है। पहले-पहल वह भारतवर्ष का एक समन्वयात्मक इतिहास तैयार करते समय जगी थी। योजना यह है कि भारतीय वाङ्मय के प्रत्येक अंश में जो त्रैकालिक मूल्य की अमर रचनाएँ उपस्थित हैं, उन्हें चुनकर, उनमें से प्रत्येक का मूल से सीधा प्रामाणिक अनुवाद बड़ी सावधानी से कराके उन्हें एक माला में संकलित किया जाय। पचास बरसों में भी यह योजना पूरी हो सके तो संतोष की बात होगी। भारतवर्ष के राष्ट्रीय समन्वय के लिये उससे एक बड़े महत्त्व का काम हो जायगा।

इस लेख में भारतीय वाङ्मय के विकास-क्रम का एक बहुत संक्षिप्त दिग्दर्शन किया जायगा, और उस दिग्दर्शन में हमें अपना ध्यान बराबर उसके अमर रत्नों की तरफ रखना होगा। उन रत्नों के चयन की योजना का भी उसी के साथ-साथ संकेत होता जायगा।

१—वेद

न केवल भारतवर्ष में, प्रत्युत संसार भर में, पहले-पहल मनुष्य की प्रतिभा जिस वाङ्मय के रूप में पुष्पित हुई वह हमारा वेद है। वेद आज हमें संहिताओं—अर्थात् संकलनों—के रूप में मिलता है। वे संहिताएँ महाभारत-युद्ध के समकालीन कृष्ण-द्वैपायन मुनि ने की थीं, जिस कारण उनका उपनाम 'वेद-व्यास'—अर्थात् वेदों का वर्गीकरण करनेवाला—हो गया। महाभारत-युद्ध का समय हम अनेक प्रामाणिक विद्वानों का अनुसरण करते हुए १४२४ ईसवी-पूर्व मान सकते हैं। हमारी प्राचीन अनुश्रुति से पता चलता है कि कृष्ण-द्वैपायन पहले संहिताकार न थे; संहिताएँ बनाने का कार्य उनके करीब बीस पीढ़ी—प्राय: साढ़े तीन सौ बरस—पहले से (अर्थात् अंदाजन १७७५ ई० पू० से) शुरू हो चुका था। वैदिक वाङ्मय 'त्रयी' कहलाता है। उस त्रयी में ऋक्, यजुष् और साम—अर्थात् पद्य, गद्य और गीतियों—की संहिताएँ संमिलित हैं। वे ऋचाएँ, यजुष् और साम संहिता-रूप में आने से पहले, विभिन्न कवियों के परिवारों या शिष्यपरंपरा में जमा होती आती थीं। हमें सबसे पहले जिन ऋषियों अर्थात् ऋचाकारों के नाम मिलते हैं, वे अनुश्रुति के अनुसार वेदव्यास के प्राय: पैंसठ पीढ़ी पहले हो चुके थे। तब से लेकर संहिता-युग के शुरू

होने तक ऋषियों का सिलसिला जारी रहा—अर्थात् अंदाजन २४७५ ई० पू० में ऋचाएँ पहले-पहल प्रकट हुईं, तब से अंदाजन सात सौ बरस तक वे बनती रहीं, उसके बाद उनके संकलन का जमाना आया। 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा' नामक अपने (अप्रकाशित) ग्रंथ में मैंने यह मत प्रकट किया है कि महाभारत-युद्ध के प्राय: चार शताब्दी पहले आर्यावर्त्त में लिपि—अर्थात् लिखने की रीति—का आविष्कार हुआ, और उस आविष्कार ने ही उस समय तक के 'वेद' अर्थात् ज्ञान को संहिताएँ बनाने—संकलन करने—की एक प्रबल प्रेरणा आर्यों को दी। वैदिक आर्य बड़े जीवटवाले, प्रतिभाशाली, साहसी और रसिक थे। उनके वाङ्मय में उनके उन सब गुणों को छाप है। निराशावाद की उसमें गंध भी नहीं। उसमें एक अनुपम और सनातन ताजगी है, जो पढ़नेवाले के जी को हरा कर देती है। हमारी आधुनिक दृष्टि से वेद का सार और निचोड़ तथा वैदिक आर्यों के जीवन और विचारों का एक जीता-जागता चित्र हमारे सामने रखने के लिये तीन-तीन सौ पृष्ठों की दो या तीन जिल्दों में वेद के चुने अंशों का अनुवाद काफी हो सकता है।

२—उत्तर वैदिक वाङ्मय

(अ) ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्

संहिताएँ बनने के बाद आर्यों की विचार-धारा कई दिशाओं में बह निकली। आर्य लोग प्रकृति की शक्तियों को दिव्य रूप में देखते और अपने उन देवताओं की तृप्ति के लिये यज्ञ करते थे। वे यज्ञ उनके सामूहिक जीवन की मर्यादा बनाए रखते तथा उनके लिये परस्पर मिलने और ऊँची बातों पर विचार करने के अवसर उपस्थित करते। उनमें ऋचाएँ और साम (गीतियाँ) पढ़ी और गाई जातीं तथा यजुषों का विनियोग होता। आर्यों के वैयक्तिक, पारिवारिक और सामाजिक जीवन के सब संस्कार यज्ञात्मक और यज्ञों पर केंद्रित थे। बाद में पुरोहितों ने उन यज्ञों का आडंबर बहुत बढ़ाकर उन्हें जड़-सा बना दिया। अपनी कार्य-प्रणाली को दर्ज करने के लिये उन्होंने एक नए वाङ्मय की रचना की जो 'ब्राह्मण-ग्रंथों' के नाम से प्रसिद्ध है। ज्ञान की खोज में लगे कुछ विचारशील लोगों ने ब्राह्मण-ग्रंथों के कर्मकांड के विरुद्ध पुकार उठाई। उनके संसार के मूल तत्त्वों को टटोलने के उन प्रारंभिक प्रयत्नों से आरण्यकों—अर्थात् जंगलों में लिखे गए ग्रंथों—और उपनिषदों का वाङ्मय उत्पन्न हुआ। उपनिषदों में आर्यों का सबसे पुराना दार्शनिक चिंतन दर्ज है। सचाई की खोज के लिये उनकी आतुर तड़पन के अनेक जीवित चित्र उनमें पाए जाते हैं। प्रामाणिक हिंदी-अनुवाद द्वारा हम एक-दो जिल्दों में ब्राह्मणों और आरण्यकों के तथा एक में उपनिषदों के विचारों का दिग्दर्शन पा सकते हैं।

(इ) वेदांग

संहिताएँ तैयार होने के साथ-साथ विचार, खोज और अध्ययन का एक और सिलसिला भी जाग उठा था। आरंभिक कविताएँ—ऋचाएँ और साम—सजीव हृदयों के सहज उद्गार थीं। अनपढ़ आदमी भी बोलते और बात करते हैं। यदि वे बुद्धिमान् हों तो बड़ी सयानी बातें भी करते हैं। यदि उनके मन में कुछ भावों की लहर उठे—और यदि उनके अंदर वह सहज सुरुचि हो जिससे मनुष्य भाषा के सौष्ठव और शब्दों के सुर-ताल का अनुभव करता है—तो वे अक्षर पढ़ना जाने बिना भी गा सकते, गीत रच

सकते, और कविता कर सकते हैं। आरंभ के सब कवि ऐसे ही थे। उनकी कविताओं में विचारों और भावों का स्वाभाविक प्रकाश था, विद्वत्तापूर्ण बनावटी सौंदर्य नहीं। ऐसी रचनाएँ जब बहुत हो चुकीं तब उन्हें बार-बार सुनने से विचारकों का ध्यान उनके सुर-ताल, उनके छंदों की बनावट, उनकी शब्द-रचना के नियमों और उन शब्दों के बनानेवाले उच्चारणों की तरफ़ गया। और तब इन विषयों की छानबीन होने पर छंदःशास्त्र, वर्णमाला और वर्णोच्चारण-शास्त्र तथा व्याकरण आदि की धीरे-धीरे उत्पत्ति हुई। वर्णों के उच्चारण के नियमों को ही हमारे पुरखा 'शिक्षा' कहते थे। आधुनिक परिभाषा में हम उसे वर्ण-विज्ञान या स्वरविज्ञान (Phonetics) कह सकते हैं। छंदःशास्त्र और व्याकरण से पहले वर्ण-विज्ञान का होना आवश्यक है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, उस विज्ञान का उदय महाभारत-युद्ध के प्रायः चार सौ बरस पहले हुआ। उस विज्ञान में हमारे पुरखों ने उस प्राचीन जमाने में आश्चर्य-जनक उन्नति कर ली। अपनी वर्णमाला को उस युग में ही उन्होंने जो वैज्ञानिक पूर्णता दे दी, संसार की और कोई वर्णमाला आज तक उसे नहीं पहुँच पाई। उत्तर वैदिक काल के सर्वप्रथम व्याकरण-ग्रंथ 'प्रातिशाख्य' कहलाते हैं। व्याकरण के साथ-साथ 'निरुक्त' नामक विज्ञान का उदय हुआ। उसमें शब्दों का निर्वचन किया जाता—अर्थात् मूल धातु से विकास टटोला जाता। यह शास्त्र भी भारतवर्ष के लिये जितना पुराना है, आधुनिक जगत् के लिये उतना ही नया है। उत्तर वैदिक युग के अनेक निरुक्त-ग्रंथों में से अब केवल यास्क मुनि (अंदाजन सातवीं शताब्दी ई० पू०) का निरुक्त बचा है। शिक्षा, छंदस्, व्याकरण और निरुक्त—ये चारों वेदांग हैं। चारों ही शब्द-शास्त्र—अर्थात् भाषा-विषयक विज्ञान—के अंग हैं। इनके साथ दो और वेदांगों को गिनने से छः वेदांगों और उत्तर वैदिक वाङ्मय की गिनती पूरी होती है। उन दो में से एक था ज्योतिष, और दूसरा कल्प। ज्योतिष प्राचीन आर्यों का एकमात्र भौतिक विज्ञान था। वैदिक ज्योतिष का कोई ग्रंथ अब उपलब्ध नहीं है। कल्प में आर्यों के व्यक्तिगत, पारिवारिक और सामाजिक अनुष्ठान का समुच्चय था जो क्रमशः श्रौत, गृह्य और धर्म कहलाता। इस प्रकार, ब्राह्मण-ग्रंथों के कर्मकांड का सार कल्प-ग्रंथों में आ गया।

वेदांग-ग्रंथों से हमारे देश में एक अनुपम शैली शुरू हुई। थोड़े से थोड़े शब्दों में अधिक से अधिक विचार भर देना उस शैली का सार है। वह 'सूत्र-शैली' कहलाती है। वह शैली ही स्वयं बड़ी मनोरंजक है। उपस्थित वेदांग-ग्रंथ व्यक्तियों की रचनाएँ नहीं हैं। उनके कर्त्ताओं के नाम हम नहीं जानते। यही हाल सारे उत्तर वैदिक वाङ्मय का है। वह 'शाखाओं' अथवा 'चरणों'—अर्थात् संप्रदायों—की उपज है। एक-एक 'शाखा' की गुरु-शिष्य-परंपरा में वह उत्तरोत्तर मँजता और संपादित होता रहा है। इसी कारण, उपस्थित धर्मसूत्र यद्यपि पाँचवीं से तीसरी शताब्दी ई० पू० तक के हैं, तथापि उनमें कई शताब्दी पहले की सामग्री तथा जीवन का चित्र है।

हिंदी-अनुवाद द्वारा वेदांग-वाङ्मय का दिग्दर्शन करना हो तो शिक्षा, निरुक्त और प्रातिशाख्य के लिये एक जिल्द और श्रौत तथा गृह्य-सूत्रों के लिये एक जिल्द बस होगी; धर्मसूत्रों के लिये दो-एक अलग जिल्दों की आवश्यकता होगी।

पति की चिता

चितेरी—सौ० प्रतिमादेवी ठाकुर

(भारत-कलाभवन.के संग्रह से)

প্রতিমা

३—पुराण-इतिहास

आरंभिक आर्यों के 'वेद' अर्थात् ज्ञान में ऋचों, यजुषों और सामों की त्रयी के अतिरिक्त बहुत-से आख्यान, उपाख्यान, गाथाएँ और 'पुराण' (पुरानी कहानियाँ) भी संमिलित थे। 'त्रयी' देवता-परक, धर्म-परक थी। इन आख्यानों, उपाख्यानों और गाथाओं (गीतमयी कहानियों) में आर्यों के अपने पुरखों की घटनाओं का वृत्तांत था। त्रयी के ज्ञाता जैसे 'ऋषि' कहलाते, वैसे ही इन आख्यानों आदि के विद्वान् 'सूत' कहलाते। वैदिक समाज में सूतों की बड़ी प्रतिष्ठा थी। कृष्ण-द्वैपायन ने जहाँ 'त्रयी' संहिताएँ बनाईं वहाँ सूतों की कृतियों से पुराण-संहिता भी रची। प्राचीन विद्वान् वेद-संहिताओं का परिगणन यों करते थे—"साम्, ऋक् और यजुर्वेद—यह त्रयी है; अथर्ववेद और इतिहास-वेद—ये कुल (पाँच) वेद हैं।"[१] पहले तीन वेदों में आर्य जनता के ऊँचे दर्जे के लोगों—ऋषियों—के विचार संकलित हैं। अथर्ववेद में जन-साधारण के अभिचार-कृत्या और जादू-टोना-विषयक विश्वासों का भी समावेश हुआ है। हमें अथर्व से यहाँ मतलब नहीं, क्योंकि अब उसका परिगणन वेदों में ही होता है। वेदव्यास ने महाभारत-युद्ध तक के आख्यानों, उपाख्यानों आदि का संकलन पुराण-संहिता में कर दिया। बाद की घटनाओं के भी वृत्तांत दर्ज होते रहे। किंतु पिछले सूतों ने उन्हें एक विचित्र शैली में कहा। उन्होंने वेदव्यास के मुँह से ही अपने समय का वृत्तांत इस प्रकार कहलाया, मानों वे भविष्य की बात कह रहे हों। एक 'भविष्यत्-पुराण' बनता गया, जिसका उल्लेख हम पाँचवीं शताब्दी ई० पू० के आपस्तंब धर्मसूत्र में पाते हैं। भविष्यत् और पुराण—ये परस्पर-विरोधी शब्द हैं। 'पुराण' का विशेषण 'भविष्यत्' होने से सूचित है कि 'पुराण' शब्द का मूल अर्थ तब तक भूला जा चुका और वह शब्द योगरूढ़ि होकर एक विशेष प्रकार के वाङ्मय के लिये प्रसिद्ध हो चुका था। इसी से सिद्ध है कि पाँचवीं शताब्दी ई० पू० से पहले पुराण उपस्थित थे। 'भविष्य' में गुप्त-साम्राज्य के उदय तक की घटनाओं का वृत्तांत जुड़ता रहा। वहाँ आकर पौराणिक इतिहास समाप्त हो जाता है। पुराण शुरू में पंचलक्षण था—उसमें केवल पाँच विषय थे। किंतु मौर्ययुग के बाद जब पौराणिक धर्म का उदय हुआ तब पुराण-ग्रंथों में उनके मुख्य विषयों के अतिरिक्त बहुत-से दूसरे विषय भर दिए गए। उनकी कहानियों के पुराने नायकों के मुँह में बहुत-से उपदेश भरकर पुराणों को धर्म-परक ग्रंथ बना दिया गया। पुराणों के साथ यह छेड़छाड़ इतनी अधिक हुई है कि उनकी अनेक सतहों को अलग-अलग करना भी अब बड़ा कठिन काम हो गया है। तो भी आधुनिक खोज ने वैसी बारीक छानबीन के तरीके निकाल लिए हैं। पहले-पहल स्वर्गीय अँगरेज विद्वान् पार्जीटर ने सब पुराणों से कलियुग-वंशावलियों से संबंध रखनेवाले संदर्भ निकालकर उसके तुलनात्मक अध्ययन से उसका मूल प्रामाणिक पाठ तैयार करने की चेष्टा की। फिर जर्मन विद्वान् किर्फेल ने पुराणों के पंचलक्षण-अंश को अलग निकालकर उसका उसी तरह संपादन किया। इस ढंग से पुराण के भिन्न-भिन्न स्तरों को अलग-अलग करके संपादन करने में ही लाभ है। और वैसा करने से शायद दसएक

---

[१] कौटिलीय अर्थशास्त्र—१, ३

जिल्दों में पौराणिक वाङ्मय का निष्कर्ष हिंदी में आ सके। रामायण और महाभारत का मूल काव्य-रूप भी पहले-पहल अंदाजन पाँचवीं शताब्दी ई० पू० में लिखा गया। वह कथा-अंश पुराण-इतिहास-वाङ्मय का ही भाग है, यद्यपि अब तो महाभारत एक विश्वकोष बन चुका है। उस अंश का संपादन भी पुराण-इतिहास-वाङ्मय के सिलसिले में ही होना चाहिए।

४—आरंभिक संस्कृत वाङ्मय

वेद से वेदांगों का उदय होने में कई नई विद्याओं का जन्म हुआ था। पीछे और परिपक्व होने पर वे स्वतंत्र विद्याएँ बन गईं, वेद का अंग-मात्र न रहीं। इस प्रकार व्याकरण का उदय एक वेदांग-रूप में हुआ था; पर पाणिनि के व्याकरण को हम वेदांग में नहीं गिनते। पाणिनि का समय पाँचवीं शताब्दी ई० पू० है।

उस समय तक आर्यों के आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक जीवन में बड़े-बड़े परिवर्त्तन हो चुके थे। वैदिक आर्यों के राज्य 'जनों' अर्थात् कबीलों के थे। उत्तर वैदिक युग (१४००–७०० ई० पू०) में जनपदों—अर्थात् देशों—का उदय हुआ, और जानपद राज्य होने लगे। उसके बाद कई-कई जनपदों के एक में मिलने से महाजनपदों की सृष्टि हुई। सातवीं-छठी शताब्दी ई० पू० में महाजनपदों की पारस्परिक प्रतिद्वंद्विता से अंत में मगध का पहला साम्राज्य खड़ा हुआ, जो पाँचवीं और चौथी शताब्दी ई० पू० में बना रहा। मगध के उस पहले साम्राज्य के युग को हम पूर्व-नंद-युग कहते हैं; क्योंकि उस साम्राज्य के संस्थापक पहले नंद राजा थे। वैदिक युग में आर्य लोग उत्तर भारत में थे; उत्तर वैदिक में वे गोदावरी-काँठे तक बढ़े। महाजनपद-युग में वे ताम्रपर्णी (लंका) तक आने-जाने लगे, और पूर्व-नंद-युग में पांड्य देश और सिंहल में उनके उपनिवेश स्थापित होकर सारे भारत का आर्यीकरण पूरा हुआ। वैदिक समाज कृषकों और पशुपालकों का था, पर महाजनपद और पूर्व-नंद युगों में शिल्प का खूब विकास हुआ; शिल्पियों की 'श्रेणियाँ' और व्यापारियों के 'निगम' बने, व्यापार के कारण नगरियों का उदय हुआ, और उन नगरियों का प्रबंध करनेवाली संस्थाएँ—'पूग'—उठ खड़ी हुईं। आर्थिक और राजनीतिक जीवन के इस प्रकार परिपक्व होने, और उनमें उक्त अनेक प्रकार के 'निकाय' (सामूहिक संस्थाएँ) पैदा हो जाने से, उनके पारस्परिक संबंध, लेन-देन और अधिकार नियत करने के लिये 'व्यवहार' (कानून) नाम की एक नई वस्तु पैदा हो गई। 'धर्म' और 'व्यवहार' दोनों इस युग की उपज थे—'धर्म' आनुष्ठानिक जीवन के कानून थे और 'व्यवहार' लौकिक जीवन के। 'धर्म' धर्मशास्त्र[1] का विषय था, और 'व्यवहार' अर्थशास्त्र का। अर्थ या अर्थशास्त्र नाम का यह नया वाङ्मय सातवीं-छठी शताब्दी ई० पू० से पैदा हो रहा था; क्योंकि उसका उल्लेख पालि जातकों में—जिनकी चर्चा आगे की गई है—मिलता है। इस प्रकार महाजनपद और पूर्व-नंद-युग में जहाँ पुराने

---

[1] धर्मसूत्रों को ही धर्मशास्त्र कहते थे। धर्मशास्त्र और धर्मसूत्र में अंतर है, और धर्मशास्त्र शब्द केवल बाद की स्मृतियों के लिये बर्ता जाता था, इस प्रचलित विचार का पूरा खंडन जायसवाल जी ने अपने ग्रंथ 'मनु और याज्ञवल्क्य' (कलकत्ता युनिवर्सिटी के टागोर-भाषण १९१७) में किया है।

वेदांगों के विषय स्वतंत्र शास्त्र बने, वहाँ नए शास्त्रों का उदय भी हुआ। पाणिनि की अष्टाध्यायी (४,३,११०) से सूचित है कि उनसे पहले किसी किस्म का एक 'नटसूत्र'—अर्थात् नाट्यशास्त्र—भी था। उसकी गिनती 'धर्म' और 'अर्थ' के अतिरिक्त 'काम'—अर्थात् ललितकलाविषयक—ग्रंथों में करनी चाहिए। उपनिषदों से सूचित होता है कि खास कामशास्त्र-विषयक विचार श्वेतकेतु के समय—उत्तर वैदिक युग—से ही शुरू हो चुका था। किंतु तब तक वह एक गौण विषय था, क्योंकि कौटिल्य अपने समय की विद्याओं का परिगणन 'आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्त्ता और दंडनीति'—इन चार विभागों में ही करता है, और इतिहास-पुराण को वह त्रयी के परिशिष्ट रूप में गिनता है। वार्त्ता और दंडनीति अर्थशास्त्र में संमिलित थे, त्रयी में सब वेद-वेदांग और वेदांगों के विकास से बने हुए विज्ञान भी।

बाकी रही आन्वीक्षिकी, सो उस समय का आरंभिक दर्शनशास्त्र था। कौटिल्य के समय तक केवल तीन किस्म की आन्वीक्षिकी थी—सांख्य, योग और लोकायत। षड् दर्शन तब तक पैदा न हुए थे। उस आरंभिक आन्वीक्षिकी का कोई ग्रंथ अब उपलब्ध नहीं है। किंतु उपनिषदों के आगे पूर्व-नंद-युग तक भारतीय दार्शनिक चिंतन का विकास कैसे हुआ, उसे समझने के लिये हमारे पास एक बहुत कीमती ग्रंथ है, और वह है 'भगवद्गीता'। भगवद्गीता को कई विद्वान् शुंग-युग (१८८-७५ ई० पू०) का और कई उसके भी बाद का मानना चाहते हैं। किंतु बहुत सोचने-विचारने के बाद मुझे स्वर्गीय सर रामकृष्ण गोपाल भंडारकर का ही मत ठीक जँचा है कि वह पाँचवीं शताब्दी ई० पू०—पूर्व-नंद-युग—की रचना है।

हमने देखा कि पुराण-इतिहास-वाङ्मय का बड़ा अंश महाजनपद और पूर्व-नंद-युग में संपादित हुआ। वाल्मीकि-रामायण तभी के समाज को चित्रित करती है। फिर बहुत-से वेदांग—धर्मसूत्र आदि—तभी के हैं। हम देखेंगे कि पालि वाङ्मय की सबसे कीमती रचनाएँ भी उसी युग में पैदा हुईं। उनके अतिरिक्त शास्त्रीय संस्कृत के उस आरंभिक वाङ्मय की—जो वैदिक वाङ्मय को पिछले संस्कृत वाङ्मय से जोड़ता है—तीन अमर रचनाएँ इसी युग की उपज हैं। वे तीन रचनाएँ हैं—पाणिनि की अष्टाध्यायी, भगवद्गीता तथा कौटिलीय अर्थशास्त्र। पाणिनि की अष्टाध्यायी विश्व-वाङ्मय का एक अद्भुत रत्न है। उसके मूलमात्र का अविकल अनुवाद शायद हिंदी-पाठकों की समझ में न आए, इसलिये काशिका-वृत्ति के साथ उसका अनुवाद करना होगा और उसकी पद्धति को भी आधुनिक दृष्टि से स्पष्ट करना होगा। तीन जिल्दों में वह काम हो सकेगा।

भगवद्गीता के महत्त्व के विषय में कुछ कहना सूरज को दीपक दिखाना है। उसके जैसा अमर और अमूल्य रत्न विश्व के वाङ्मय में दूसरा पैदा न हुआ। शिक्षाओं की उच्चता में, त्रैकालिक सनातन सचाइयों का प्रकाश करने में और तेजस्वी सुर में वह अपना सानी नहीं रखती। उसके क्रांतदर्शी लेखक ने अपना नाम न बताकर बड़े मौजूँ ढंग से कृष्ण वासुदेव के मुँह से कुरुक्षेत्र की युद्धस्थली में अपने उपदेशों को कहला दिया है। आधुनिक युग का कोई लेखक गुरु गोविंद के मुँह से बंदा बैरागी को वैसा ही उपदेश दिला सकता था!

भगवद्गीता यदि प्राचीन आर्यों के त्याग के आदर्शों को हमारे सामने रखती है तो कौटिल्य का अर्थशास्त्र उनके व्यावहारिक जीवन और आदर्शों को खोल देता है। इस पहलू में वह भी अनोखा है।

उसकी लहू और लोहे की नीति तथा एक ऊँचे उद्देश्य (भारतीय साम्राज्य की स्थापना) की पूर्त्ति के लिये कोई भी उपाय बर्त्तने की तत्परता में एक ऊँची दृढ़ता, निष्ठा और आदर्श साधना की छाप है। सचमुच उसमें उस दृढ़व्रती ब्राह्मण के कभी न डगमगानेवाले गंभीर हृदय की झलक है जो पैरों को चुभनेवाले डंठलों को उखाड़कर उनकी जड़ों में मट्ठा सींचता था!

महाजनपद और पूर्व-नंद युग कैसे गहरे विचारों और मौलिक रचनाओं के युग थे, सो ऊपर की विवेचना से प्रकट है। उन युगों के विचार और ज्ञान का केंद्र और स्रोत तक्षशिला का विद्यापीठ था जहाँ 'तीन वेद और अठारह विद्यास्थान' पढ़ाए जाते थे। वहाँ के 'दिशा-प्रमुख' (जगत्प्रसिद्ध, नानाराष्ट्रीय ख्याति के) पंजाबी आचार्यों के चरणों में बैठे बिना उस युग में कोई आदमी शिक्षित न कहला सकता था। कुरु-पंचाल, काशी-कोशल, मगध और विदेह से दल के दल नवयुवक—गरीब-अमीर, राजाओं और रंकों के पुत्र—तक्षशिला में पढ़ने को आ जुटते, और वहाँ से लौटकर अपने देशों में बड़ा आदर पाते थे। वहाँ पढ़ाए जानेवाले 'अठारह विद्यास्थानों' में विशेषकर आयुर्वेद की बड़ी प्रसिद्धि थी। दुर्भाग्य से तक्षशिला के आत्रेय आचार्यों का आरंभिक आयुर्वेद-विषयक कोई ग्रंथ आज उपलभ्य नहीं है। आचार्य पाणिनि तक्षशिला के पड़ोसी थे, कौटिल्य वहीं के थे, और भारत (महाभारत) पहले-पहल वहीं गाया गया। संभव है कि भगवद्गीता भी वहीं प्रकट हुई हो।

५—पालि तिपिटक

तक्षशिला के उस गौरव के युग में ही विश्व के इतिहास के उस सबसे बड़े महापुरुष ने आर्यावर्त्त में जन्म लिया जिसका नाम आज भी आधी दुनिया प्रतिदिन जपती है। बुद्ध के महापरिनिर्वाण के ठीक बाद पाँच सौ भिक्खु राजगृह में इकट्ठे हुए, और उन्होंने उनकी शिक्षाओं का गान किया। वह पहली 'संगीति' थी। सौ बरस बाद वैशाली में दूसरी 'संगीति' हुई। फिर तीसरी 'संगीति' अशोक के समय में हुई। इन्हीं संगीतियों में बौद्धों का धार्मिक वाङ्मय तैयार हुआ। पहली 'संगीति' के समय उस वाङ्मय के दो अंश थे—एक 'विनय', दूसरा 'धम्म'। 'विनय' अर्थात् भिक्खु-भिक्खुनियों के आचरण-विषयक नियम; 'धम्म' अर्थात् धर्म-विषयक शिक्षाएँ। इन दोनों में प्रायः बुद्ध के अपने उपदेश थे। कौन-सा उपदेश बुद्ध ने कब, कहाँ, किन अवस्थाओं में दिया, यह उपक्रमणिका भी प्रत्येक उपदेश के साथ दर्ज है। उनके धम्म-विषयक उपदेश 'सुत्त'—अर्थात् सूक्त—कहलाते हैं। वे सब प्रायः संवाद-रूप में हैं। वे पाँच 'निकायों'—अर्थात् समूहों या वर्गों—में बँटे हैं। उन संवादों में संसार की सबसे श्रेष्ठ सदाचार-शिक्षा अत्यंत सरल और सीधे शब्दों में सुनाई देती है। संसार के एकमात्र आचारात्मक धर्म का सार उनमें निहित है। खुद्दकनिकाय के अंतर्गत धम्मपद और सुत्तनिपात मानों बौद्धों के गीता और उपनिषद् हैं। उसी निकाय का एक अंश 'उदान'—अर्थात् बुद्ध की उद्गारमयी उक्तियाँ—भी है। शिक्षा की उच्चता, सदाचार के आदर्शों, शैली की सरलता और सीधेपन में निकायों का मुकाबला नहीं किया जा सकता।

अशोक के समय तक बौद्ध वाङ्मय तिपिटक रूप में आ गया, और तीसरी 'संगीति' के शीघ्र बाद वह अपने अंतिम रूप को पहुँच गया। तिपिटक में विनय-पिटक, सुत्त-पिटक और अभिधम्म-पिटक

शामिल हैं। पुराना विनय विनय-पिटक में और धम्म सुत्त-पिटक में आ गया है; अभिधम्म-पिटक पीछे की रचना है जो बौद्धों के आरंभिक दार्शनिक चिंतनों को सूचित करती है और जिस पर बाद का सारा बौद्ध दर्शन उसी प्रकार निर्भर है जैसे वेदांत-दर्शन उपनिषदों पर। विनय के भी सब उपदेश ऐतिहासिक उपक्रमणिका के साथ—'ऐसा मैंने सुना है, एक बार भगवान्......तब...' इस शैली में—कहे गए हैं; इसी कारण बुद्ध की जीवनी का सबसे पुराना वृत्तांत होने से उनका महत्त्व है।

सुत्त-पिटक के खुद्दकनिकाय में थेरीगाथा, थेरीगाथा, अपदान (थेर-अपदान, थेरी-अपदान) तथा जातकत्थवण्णना भी संमिलित हैं। अपदान का संस्कृत रूप है अवदान, और उसका अर्थ है 'शिक्षाप्रद ऐतिहासिक वृत्तांत'। अपदान में बौद्ध धर्म के आरंभिक थेर-थेरियों के पूर्व-जन्म और इस जन्म के वृत्तांत हैं, थेरगाथा और थेरीगाथा में उनकी गीतियाँ या वाणियाँ। उन चरितों और वाणियों में बहुत-से मनोरंजक अंश हैं; विशेषकर उन प्राचीन महिला सुधारिकाओं के चरित और गीत बड़े ही रुचिकर हैं। 'जातक' कहानियाँ हैं जो बुद्ध से पहले—महाजनपद-युग—की हैं और जिन्हें बुद्ध के जीवन से जोड़कर तिपिटक में रख दिया गया है। बुद्ध के जीवन में कोई घटना घटती है जिससे उन्हें अपने किसी पूर्व-जन्म की कोई घटना याद आ जाती है। वे उस घटना को सुनाते हैं और अंत में उस पूर्व-जन्म की घटना में कौन बोधिसत्व था और कौन क्या था, सो 'समोधान' करते हैं। वह तथाकथित पूर्व-जन्म की घटना जातक का अतीतवत्थु—अर्थात् असल कहानी-भाग—है जो बुद्ध से पहले का है। उसका सार दो-एक 'पालियों'—अर्थात् पद्यों में—कहा होता है। वे पालियाँ अत्यंत पुरानी हैं। ये साढ़े पाँच सौ के करीब जातक विश्व के वाङ्मय में जन-साधारण की सबसे पुरानी कहानियाँ हैं। मनोरंजकता, सुरुचि, सरलता, आडंबर-हीन सौंदर्य और शिक्षाप्रदता में उनका मुकाबला नहीं हो सकता। वे बच्चों के लिये भी सरल और आकर्षक, जवानों और बूढ़ों के लिये भी रुचिकर, और विद्वानों के लिये प्राचीन भारत के जीवन का जीता-जागता चित्रण करने के कारण अत्यंत मूल्यवान् हैं। उनका सीधापन और हल्का व्यंग्य लाजवाब है।

तिपिटक वाङ्मय का हिंदी-अनुवाद द्वारा दिग्दर्शन करना हो तो आठ-दस जिल्दों में वह हो सकना चाहिए। जातकों की गिनती उन जिल्दों में मैंने नहीं की; क्योंकि उनका अलग अविकल अनुवाद पाँच-छः जिल्दों में होना चाहिए।

६—संस्कृत-प्राकृत वाङ्मय

भारतवर्ष के राजनीतिक इतिहास में आरंभिक आर्यों के युग के बाद महाजनपदों का युग आया, फिर नंद-मौर्य-साम्राज्य का युग। वह साम्राज्य-युग पाँचवीं शताब्दी ई० पू० से तीसरी शताब्दी ई० पू० के अंत तक चला। मौर्य-युग में बौद्ध-जैन धर्मों का बड़ा प्रचार हुआ। उसके बाद एक भारी प्रतिक्रिया हुई—पुराने वैदिक आदर्शों और जीवन को फिर से उठाने की। उसकी एक बाहरी—किंतु अत्यंत सारगर्भ—अभिव्यक्ति थी 'अश्वमेध का पुनरुद्धार'। दूसरी शताब्दी ई० पू० के आरंभ में दक्खिन में सातवाहन और उत्तर में शुंग राजाओं ने चिर काल से लुप्त अश्वमेध-यज्ञ फिर से किए। उत्तर भारत में शकों—तुखारों के हमले होने से जब सातवाहनों का गौरव मंद पड़ गया (७८—१७० ई०), तब भारशिव,

वाकाटक और गुप्त राजाओं ने फिर उसी अश्वमेध के आदर्श को जगाया और जीवित रक्खा। सातवाहनों के उदय से गुप्त-साम्राज्य के अंत तक (२१० ई० पू०—५३३ ई०) सारा अश्वमेध-पुनरुद्धार-युग है। उसके दो स्पष्ट भाग हैं—पहला सातवाहन या सालवाहन-युग (२०० ई० पू०—२०० ई०), दूसरा वाकाटक-गुप्त-युग (२००—५३३ ई०)। गुप्त-युग के साथ प्राचीन काल का अंत होता है; आगे मध्य-काल है। नंद-मौर्य-साम्राज्य-युग के एक तरफ जैसे आरंभिक आर्य-युग और महाजनपद-युग हैं, वैसे ही दूसरी तरफ सातवाहन-युग और गुप्त-युग। वह प्राचीन भारत के राजनीतिक इतिहास के ठीक बीच में पड़ता है। संस्कृति और वाङ्मय के इतिहास में भी उसकी ठीक वही स्थिति है। उसमें उत्तर वैदिक वाङ्मय का अंत होता है, और शास्त्रीय संस्कृत वाङ्मय का आरंभ। संस्कृत वाङ्मय का सिलसिला यों तो मध्य-काल में भी जारी रहा, पर उसके उत्कर्षमय जीवन का असल समय सातवाहन और गुप्त युग ही हैं।

पूर्व नंदों, नव नंदों और मौर्य सम्राटों के समय उत्तर वैदिक वाङ्मय अपनी अंतिम सीमा पर पहुँचा, पुराण-इतिहास-वाङ्मय का परिपाक हुआ, तिपिटक वाङ्मय का उदय और विकास हुआ, और एक स्वतंत्र वाङ्मय की धारा चली—जिसमें आन्वीक्षिकी, अर्थशास्त्र (वार्त्ता, दंडनीति) और अन्य 'विद्यास्थान' संमिलित थे। ये सब धाराएँ आगे चलकर अनेकमुखी हो गईं। वही संस्कृत और प्राकृत वाङ्मय है जिसका कई अंशों में अलग-अलग दिग्दर्शन करने में सुविधा होगी।

(अ) दर्शन

उपनिषदों में तत्त्वचिंतन की आरंभिक उड़ानें हैं, दर्शनों में हमें पहले-पहल शृंखलाबद्ध विचार मिलता है। उनमें से सांख्य और पातंजल में विश्व के विकास की व्याख्या है; वैशेषिक और न्याय का मुख्य देन वैज्ञानिक प्रक्रिया है; वेदांत, मीमांसा, बौद्ध, जैन और चार्वाक दर्शनों के आलोचनात्मक अंश अधिक मूल्यवान् हैं। कौटिल्य के समय तक केवल तीन दर्शन थे—सांख्य, योग और लोकायत (चार्वाक)। सांख्य के प्रवर्त्तक कपिल को हमारे देश में 'आदि-विद्वान्'—अर्थात् पहला दार्शनिक—कहते हैं, अनुश्रुति के अनुसार उसका समय भारत-युद्ध के कुछ बाद है। गीता में भी सांख्य का नाम है। किंतु गीता के सांख्य में और आज-कल की उपलब्ध सांख्य-पद्धति में बड़ा अंतर है। उस पद्धति का विकास बहुत धीरे-धीरे हुआ दीखता है। आज-कल जो सांख्यकारिकाएँ मिलती हैं, उनका कर्त्ता ईश्वर-कृष्ण बौद्ध दार्शनिक वसुबंधु का सम-कालीन—अर्थात् पाँचवीं शताब्दी ई० का—है। पंचशिख और वर्षगण्य उस पद्धति के प्राचीन लेखक थे, और षष्ठितंत्र भी उसी पद्धति की रचना थी। उन तीनों के उद्धरण पातंजल योगदर्शन के व्यासभाष्य में हैं, पर ईश्वर-कृष्ण का उसमें संकेत भी नहीं है। व्यासभाष्य में दशमलव गणना का ज्ञान पाया जाता है, जिसे हम अभिलेखों में चौथी शताब्दी ई० के बाद से पाते हैं। इसी लिये व्यासभाष्य का समय ईश्वर-कृष्ण से पहले—अंदाजन चौथी शताब्दी ई०—है; और षष्ठितंत्र आदि सांख्य ग्रंथ उससे और पहले के हैं। यदि षष्ठितंत्र का समय अंदाजन दूसरी-तीसरी शताब्दी ई० हो, तो विद्यमान सांख्य-पद्धति का कोई और ग्रंथ उससे पहले भी था; क्योंकि चरक के सृष्टि-विषयक सब विचार आधुनिक सांख्य-पद्धति के हैं, और चरक कनिष्क (७८ ई०) का समकालीन था। इस प्रकार आधुनिक सांख्य-पद्धति ईसा से पहले परिपक्व हो चुकी

थी। इस दशा में यह संभव है कि योगसूत्रकार पतंजलि भो पुष्यमित्र शुंग का पुरोहित वैयाकरण पतंजलि ही हो।

चरक की युक्ति-प्रक्रिया न्याय-वैशेषिक के तर्कशास्त्र की है, इस कारण वे दर्शन भी उससे पहले उपस्थित थे। न्यायभाष्यकार वात्स्यायन दिङ्नाग से पहले का--इसलिये अंदाजन तीसरी शताब्दी ई० का—है। वैशेषिक का प्रशस्तपाद भाष्य भी यदि उससे पहले का नहीं तो पीछे का भी नहीं है। इस दशा में न्यायसूत्रकार गौतम और वैशेषिक-सूत्रकार कणाद ईसा से पहले के—संभवतः मौर्य-युग के—हैं; क्योंकि चरक के समय तक उनकी पद्धति सुस्थापित हो चुकी थी। वेदांतसूत्रकार व्यास-बादरायण को भी बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन से पहले होना चाहिए। बादरायण का वेदांत परिणामवादात्मक है—उसके अनुसार ब्रह्म सृष्टि का उपादान कारण है, जब कि शंकर के वेदांत का सार विवर्त्तवाद—अर्थात् सृष्टि को ब्रह्म की वास्तविक नहीं प्रत्युत काल्पनिक परिणति मानना—है। बादरायण के परिणामवाद से शंकर के विवर्त्तवाद तक विकास होने की कुंजी नागार्जुन से मिलती है। नागार्जुन दूसरी शताब्दी ई० में हुआ। इस प्रकार बादरायण का समय भी संभवतः ईसा से पहले है। फलतः सभी दर्शनों का आरंभ पिछले मौर्य-युग में हुआ। उपनिषदों, भगवद्गीता और अभिधम्म में दार्शनिक चिंतन की पहली अस्फुट-मार्गी उड़ानें थीं। शुरू-शुरू के बौद्ध, जैन और लोकायत विचारकों ने जब प्राचीन विचार की रूढ़ियों पर खरी-खरी और सीधी-सीधी चोटें कीं, तब विचारों की उस खलबली में शृंखलाबद्ध दार्शनिक विचार पैदा हुआ और हमारे दर्शनों ने जन्म लिया। शुरू-शुरू में सब दर्शन उत्तर वैदिक वाङ्मय की सूत्र-शैली में लिखे गए, इसी से सूचित है कि वे पिछले मौर्य-युग या आरंभिक सातवाहन-युग के बाद की रचनाएँ नहीं हैं।

हम अपने दर्शनों के तत्त्व को, ऐतिहासिक दृष्टि से उनका क्रमविकास देखे बिना, नहीं पा सकते—यह बात आज हमें ख़ूब समझ लेनी चाहिए। बादरायण से शंकर के विचारों तक हम कैसे पहुँचते हैं, इसका उदाहरण ऊपर दिया गया है। न्याय-दर्शन का क्रमविकास भी बौद्ध दर्शन के साथ जुड़ा हुआ है। वात्स्यायन-भाष्य अनेक आरंभिक बौद्ध स्थापनाओं का प्रत्याख्यान करता है; उसके उत्तर में दिङ्नाग ने प्रमाण-समुच्चय लिखा; तब उद्योतकर ने उसके उत्तर में वात्स्यायन-भाष्य पर न्यायवार्तिक लिखा; न्याय-वार्तिक का उत्तर धर्मकीर्त्ति ने प्रमाणवार्त्तिक[1] लिखकर दिया; तब उसके उत्तर में वाचस्पति मिश्र की तात्पर्य-टीका आई। इस परंपरा को देखे बिना और प्रत्येक लेखक की परिस्थिति पर ध्यान दिए बिना हम उसके ठीक अभिप्राय को कैसे जान सकते हैं? भारतीय दर्शनशास्त्र की अनेक अमर रचनाओं के सामने आज भी संसार सिर नवाता है। नागार्जुन और शंकर की टक्कर के दार्शनिक दुनिया ने क्या आज तक कोई पैदा किए हैं? उनके दार्शनिक चिंतन जिस ऊँची सतह तक पहुँच चुके हैं, आधुनिक विचार की धारा उससे

---

[1] मूल 'प्रमाणवार्त्तिक' अब तक न मिलता था, उसका तिब्बती अनुवाद है। मेरे मित्र भिक्खु राहुल तिब्बती से संस्कृत तैयार कर रहे थे। किंतु फागुन १९८८ में नेपाल जाने पर मुझे मालूम हुआ कि वहाँ 'प्रमाण-वार्त्तिक' की एक प्रति मिल गई है।

और ऊपर न उठ सकी। सारे भारतीय दर्शन का ऐतिहासिक दिग्दर्शन दस-पंद्रह जिल्दों में, चुने अंशों का अनुवाद करने से, हो सकना चाहिए।

(इ) व्याकरण और कोष

व्याकरण और कोष सूखे विषय हैं; पर ऐतिहासिक दृष्टि से उनका क्रम-विकास देखना भी मनोरंजक है, और उनके क्षेत्र में भी कई रुचिकर तथा अमर रचनाएँ हैं। नमूने के लिये पतंजलि (लगभग १८० ई० पू०) का महाभाष्य ऐसी शाही शैली में लिखा गया है कि मुझे तो उसके मुकाबले की शैली संस्कृत-वाङ्मय में भी—ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य के सिवा—और कहीं न मिली। और नहीं तो उसकी विवादशैली का ही रस, उसके अंशानुवाद द्वारा, हिंदी-साहित्य-प्रेमियों को मिलना चाहिए। डाक्टर बेलवळकर ने अपने 'सिस्टम्स् आफ संस्कृत ग्रामर' में व्याकरण-वाङ्मय का जो क्रम-विकास दिखलाया है, उसमें भी हमारे राजनीतिक इतिहास के उतार-चढ़ाव की छाया दीख पड़ती है। पूर्णता और बारीक छानबीन में पाणिनि की पद्धति अनोखी थी; वार्त्तिककार कात्यायन और महाभाष्यकार पतंजलि ने उन गुणों में उसे अंतिम सीमा तक पहुँचा दिया। किंतु जब आर्य उपनिवेश भारतवर्ष के बाहर स्थापित होने लगे, और अनेक अनार्यभाषी तथा थोड़ी फुर्सतवाले ('शास्त्रान्तररताश्च ये') लोगों को संस्कृत के किसी सुगम व्याकरण की जरूरत हुई, ठीक तब (अंदाजन ७८ ई०) पुरानी ऐंद्र पद्धति की सुगम परिभाषाएँ बर्त्तनेवाला कातंत्र व्याकरण तैयार हुआ। वह उन लोगों के लिये था जो प्राकृत से संस्कृत पढ़ना चाहते थे। कच्चायन का पालि व्याकरण और तामिल का तोल्कप्पियम् भी फिर उसी नमूने पर लिखे गए। पाँचवीं शताब्दी में बौद्ध लेखक चंद्रगोमी ने फिर एक नई पद्धति चलाई। उस चांद्र व्याकरण का तिब्बती में अनुवाद हुआ और सिंहल के बौद्धों में भी वही पद्धति चल गई। ग्यारहवीं सदी के अंत में जैन हेमचंद्र ने अपना प्रसिद्ध व्याकरण 'शब्दानुशासन' लिखा। उसका अंतिम चौथाई अंश प्राकृत-विषयक है; और भारतीय प्राकृतों के व्याकरण-विषयक हमारे ज्ञान का वही मुख्य स्रोत है। संस्कृत का कोष-वाङ्मय भी भरपूर है, और उसमें 'अमर-कोष'-जैसी अमर रचनाएँ हैं।

(उ) ज्योतिष

वेदांग ज्योतिष क्या था, सो तो हम नहीं जानते; पर संस्कृत-वाङ्मय के युग में भी ज्योतिष की क्रमोन्नति जारी रही। आरंभिक सातवाहन-युग में 'गर्ग' नाम का ज्योतिषी हुआ जिसकी गार्गी संहिता के उद्धरण-मात्र अब मिलते हैं। फिर ज्योतिष के 'सिद्धांत'-ग्रंथ लिखे गए, और यूनान और रोम के सिद्धांत भी अपनाए गए। गुप्त-युग में और उसके बाद आर्यभट, ब्रह्मगुप्त, वराहमिहिर, भास्कर आदि प्रसिद्ध ज्योतिषी हुए। यह सिलसिला लगातार जारी रहा है और गणित तथा ज्योतिष में हाल तक हम दूसरी जातियों के अगुआ रहे हैं। भारतीय गणित और ज्योतिष-वाङ्मय में भी अनेक अंश स्थायी मूल्य के हैं, और कम से कम उसके क्रम-विकास का दिग्दर्शन तो बड़े काम का है।

पूर्व-नंद-युग के धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र की परंपरा में बाद के स्मृति एवं नीति-ग्रंथों का विकास हुआ। सबसे पहले शुंग-युग में मनुस्मृति रची गई, फिर पिछले सातवाहनों के समय याज्ञवल्क्य-स्मृति और महाभारत-शांतिपर्व का राजधर्म। नारद-स्मृति आरंभिक गुप्त-युग की रचना है। कामंदकनीति का कर्त्ता,

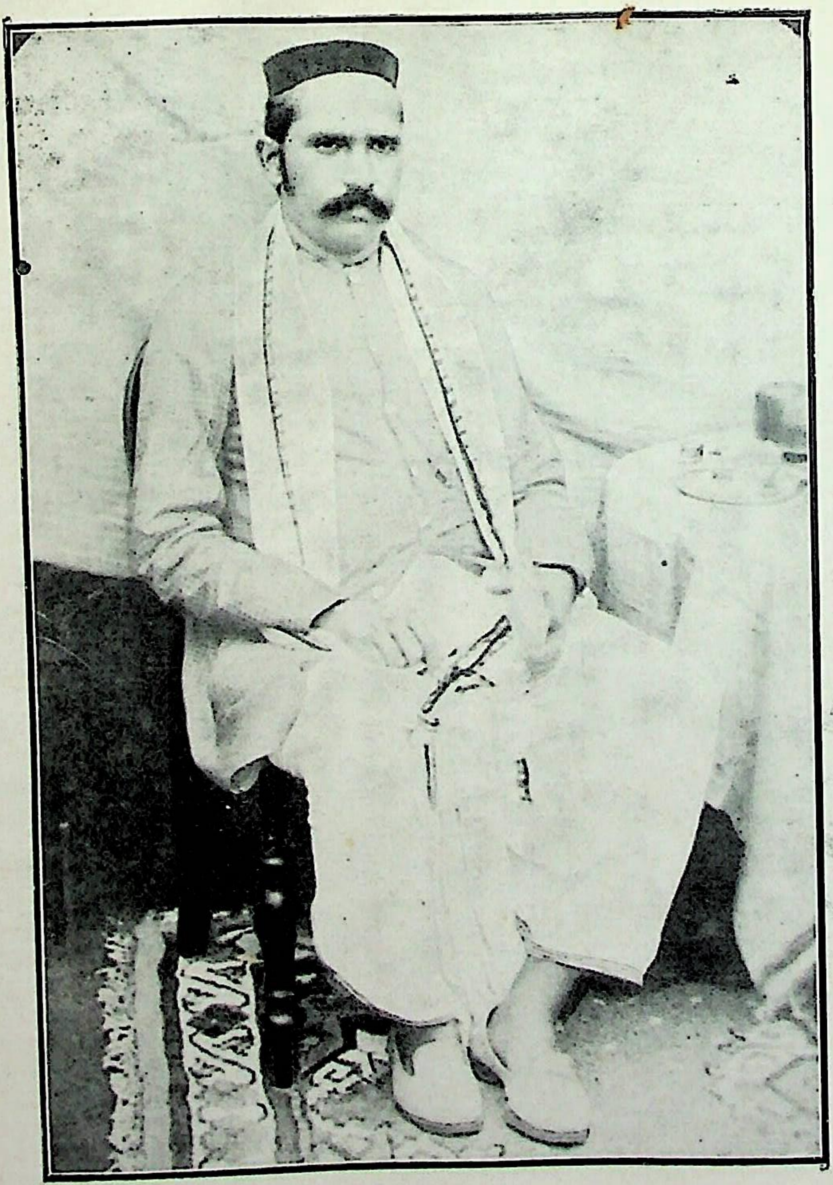

'सरस्वती'-संपादक पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी
संवत् १९६२ (सन् १९०५)

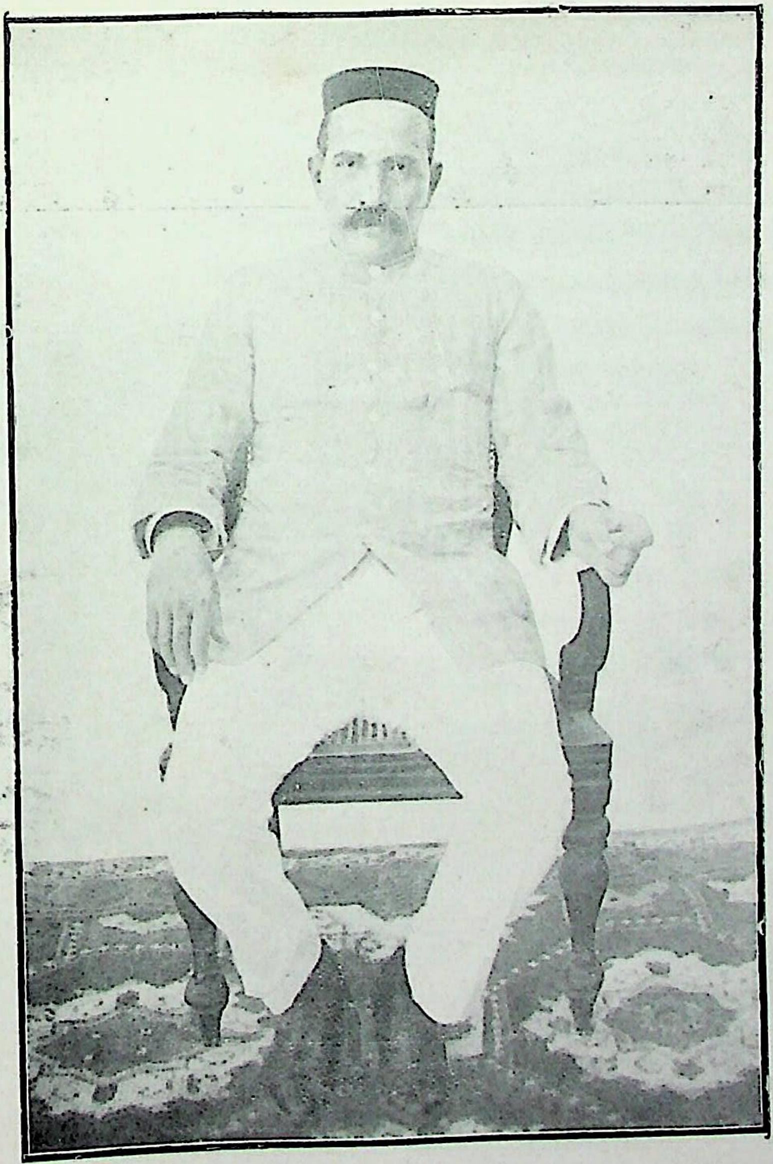

पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी
संवत् १९६४ (सन् १९०७)

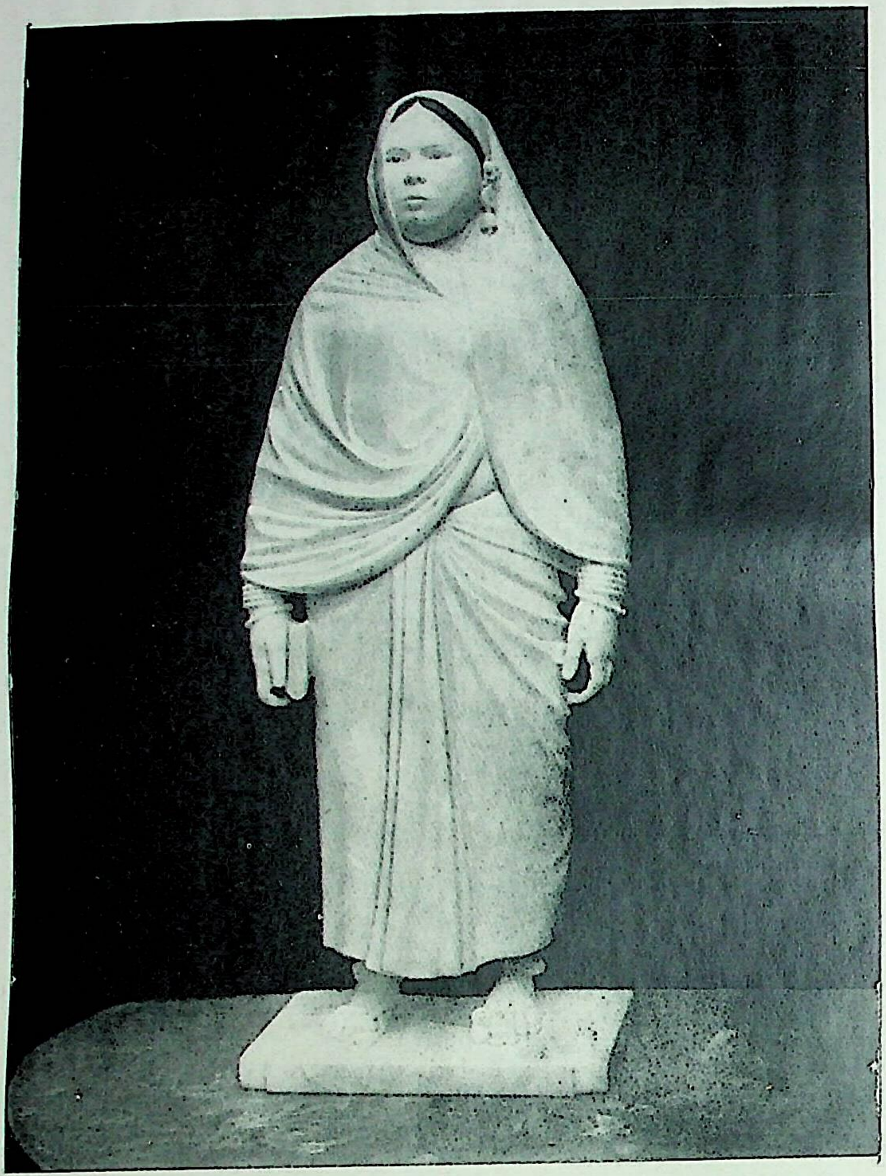

आचार्य-पत्नी की संगमर्मर की यह मूर्त्ति 'स्मृति-मंदिर' के मध्य भाग में स्थापित है। स्मृति-मंदिर के गर्भगृह के भीतर, बीच की इस प्रधान मूर्त्ति पर, यह शिलालेख उत्कीर्ण है—

नवषण्णवभूसंख्ये विक्रमादित्यवत्सरे ।
शुक्र कृष्णत्रयोदश्यामधिकाषाढमासि च ॥१॥
मोहमुग्धा गतज्ञाना भ्रमरोगविपीडिता ।
जह्नुजाया जले प्राप पञ्चत्वं या पतिव्रता ॥२॥
निर्म्मापितमिदं तस्याः स्वपत्न्याः स्मृतिमन्दिरम् ।
व्यथितेन 'महावीरप्रसादेन द्विवेदिना ॥३॥
पत्युर्गृहे यतः साऽऽसीत्साक्षाच्छ्रीरिव रूपिणी ।
पत्याप्येकाऽऽदृता वाणी द्वितीया सैव सुव्रता ॥४॥
एषा तत्प्रतिमा तस्मान्मध्यभागे तयोर्द्वयोः ।
लक्ष्मीसरस्वतीदेव्योः स्थापिता परमादरात् ॥५॥

सं०१९७१

(ऋ) स्मृति और नीति-ग्रंथ

चंद्रगुप्त दूसरे का मंत्री था, यह मत श्रीयुत काशीप्रसाद जायसवाल ने हाल ही में पेश किया है। इनमें से प्रत्येक कृति में अपने-अपने समय की परिस्थिति और विचारों की पूरी छाप है। 'मनु' ने धर्म और व्यवहार को एक ग्रंथ में मिला दिया। याज्ञवल्क्य ने उसका अनुसरण किया। किंतु नारद ने फिर व्यवहार को धर्म के बंधन से मुक्त किया, और बृहस्पति तथा कात्यायन ने भी शुद्ध व्यवहार-स्मृतियाँ लिखीं। मध्य-काल में नई स्मृतियाँ नहीं रची गईं, पुरानियों पर भाष्य और टीकाएँ होती रहीं। उत्तर-भारत में मुस्लिम राजसत्ता स्थापित हो जाने पर भी तिरहुत में गियासुद्दीन तुगलक के समय तक कर्णाट-वंश का राज्य बना रहा, और तुगलकों की आधी शताब्दी की अधीनता के बाद वहाँ फिर एक ब्राह्मण-राजवंश स्थापित हो गया जो सिकंदर लोदी और हुसेन-शाह बंगाली के समय तक जारी रहा। मिथिला के इन पिछले हिंदू राज्यों में स्मृति-वाङ्मय का अध्ययन विशेष रूप से जारी रहा, और उस पर अनेक 'निबंध' (digest) लिखे गए। इस प्रकार इस वाङ्मय का सिलसिला सोलहवीं सदी ई० तक चलता रहा। पहले स्मृति और नीति वाङ्मय में अनेक अमर कृतियाँ हैं, और पिछले भाष्यों और निबंधों में भी कई अंश काम के हैं। जर्मन दार्शनिक 'निशे' ने यह कहकर योरप में खलबली मचा दी थी कि मनुस्मृति की शिक्षाओं को बाइबल नहीं पहुँच पाती। इस वाङ्मय में से कौटिलीय के बाद मनुस्मृति और शांतिपर्व के राजधर्म का तो अविकल अनुवाद होना ही चाहिए, बाकी का दिग्दर्शन सात-आठ जिल्दों में हो सकना चाहिए।

(ऌ) वैद्यक, रसायन आदि

आरंभिक जादू-टोने के साथ ओषधियों का प्रयोग भी संमिलित होता है, और उसी से धीरे-धीरे वैद्यक-शास्त्र का विकास होता है। सभी जातियों में यह बात ऐसे ही हुई है। इस प्रकार हमारे वैद्यक-शास्त्र का मूल अथर्ववेद में है। उत्तर वैदिक-युग में आयुर्वेद एक उपवेद बन गया, और फिर महाजनपद और पूर्व-नंद-युग में तक्षशिला-विद्यापीठ में उसकी बड़ी उन्नति हुई। वैद्यक-शास्त्र के सबसे पुराने उपस्थित ग्रंथ चरक और सुश्रुत के हैं। चीनी बौद्ध ग्रंथों से पता मिला है कि चरक कनिष्क के समकालीन थे। आज-कल चरक का जो ग्रंथ हमें मिलता है वह दृढबल-कृत चरक-संहिता का पुनः-संस्करण है। मूल चरक-संहिता भी अग्निवेश की कृति का संपादित रूप थी। अग्निवेश आत्रेय पुनर्वसु के शिष्य थे। उनके अतिरिक्त कृष्ण आत्रेय और भिक्षु आत्रेय वैद्यक के सबसे बड़े प्राचीन आचार्य थे। इस प्रकार तक्षशिला के आत्रेय आचार्यों से चरक तक वैद्यक-शास्त्र के आचार्यों का एक सिलसिला हमारे देश में बना रहा। उसका केंद्र पंजाब था। आत्रेयों से लेकर दृढबल तक उक्त सभी आचार्य पंजाबी थे। सुश्रुत, धन्वंतरि के शिष्य थे। हमें अब जो सुश्रुत-संहिता मिलती है वह 'वृद्ध सुश्रुत' का नागार्जुन-कृत पुनः-संस्करण है।

भारतीय ज्ञान और विज्ञान के इतिहास में नागार्जुन का नाम बड़ा आदरणीय है। बौद्ध कवि और दार्शनिक अश्वघोष, कनिष्क के समकालीन थे। उनकी शिष्य-परंपरा में कुछ ही पीछे—दूसरी शताब्दी ई० के उत्तरार्द्ध में—माध्यमिक सूत्रवृत्ति-कार दार्शनिक नागार्जुन हुए। वे महायान के आचार्य थे। सिद्ध नागार्जुन हर्षचरित के अनुसार दक्षिण कोशल (छत्तीसगढ़) के एक सातवाहन राजा के मित्र थे, इसलिये उनका समय भी दूसरी शताब्दी ई० के पीछे नहीं जा सकता। उनका 'सिद्ध'-पन कुछ यौगिक क्रियाओं के

कारण भी रहा हो, पर वह रासायनिक सिद्धियों के—लोहे को सोना बनाने के रहस्यपूर्ण प्रयत्नों के—कारण भी था। सिद्ध नागार्जुन ही लोहशास्त्रकार नागार्जुन हैं; पारे के अनेक योग ('रस') बनाकर उन्होंने रासायनिक समासों के ज्ञान में बड़ी उन्नति की, और भारतीय वैद्यक में 'रसों' का प्रयोग उन्हीं ने जारी किया। महायान के बाद सिद्धि-प्रधान वज्रयान का उदय हुआ, इसलिये महायान-दार्शनिक नागार्जुन और सिद्ध नागार्जुन का एक ही व्यक्ति होना बहुत संभव—प्रत्युत एक ही समय होने के कारण लगभग निश्चित—है। सिद्ध नागार्जुन का सिद्धिशास्त्र जननशास्त्र-विषयक अमूल्य गुह्य ज्ञान का भी भांडार है।

नागार्जुन के अतिरिक्त एक पतंजलि का लिखा हुआ लोहशास्त्र बहुत प्रसिद्ध था, और उसके जो उद्धरण जहाँ-तहाँ मिले हैं उनसे उसका बड़ा महत्त्व सूचित होता है। पंडितों की अनुश्रुति के अनुसार लोहशास्त्रकार पतंजलि महाभाष्यकार ही हैं—

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।
योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि॥

किंतु इतने ही से इस विषय में कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता।

वैद्यक और रसायन की उन्नति चरक, सुश्रुत, नागार्जुन और पतंजलि के बाद भी जारी रही। वैज्ञानिक खोज का जो आरंभ उन्होंने किया, वह बहुत आशाजनक और ऊँचे दर्जे का था, पर दुर्भाग्य से कुछ समय बाद उसमें आगे की उन्नति बंद हो गई। मध्य-काल में भारतीय विचार और ज्ञान की धारा में प्रवाह न रहा; जहाँ तक पहुँचे थे उसी को पूर्ण और अंतिम मानकर भारतीय मस्तिष्क संकीर्ण बनकर उसी में चक्कर काटने लगा। इसी से शृंखलाबद्ध भौतिक विज्ञान हमारे देश में पैदा न हुए, आरंभिक तजरबे जमा होकर रह गए। पर उन तजरबों में भी अत्यंत मूल्यवान् रत्न हैं। अभी तक आधुनिक रसायन-शास्त्र हमारे 'रसों' के रहस्य को खोल नहीं सका। उसके अनुसार हमारा मकरध्वज पारे का गंधिद (sulphide) है, पर आधुनिक साधारण प्रक्रिया से बने हुए पारे के गंधिद में मकरध्वज के कोई गुण नहीं पाए जाते। सोने, पारे और गंधक को कपड़मिट्टी की हुई बोतल में बंद कर उपलों की आँच में पकाकर तैयार किए हुए पारे के गंधिद में जो सूक्ष्म प्रभाव आ जाते हैं, उन्हें आधुनिक विज्ञान अभी तक नहीं माप सका। इसी प्रकार के रहस्य अभी तक हमारे त्रिदोष-सिद्धांत में और योग-क्रियाओं में छिपे हैं। आधुनिक दृष्टि से हठयोग के शारीरिक साधनाओं के अंश की गिनती चिकित्सा-शास्त्र में और मानसिक साधनाओं की गिनती मनोविज्ञान में करनी चाहिए। इन विषयों की, आधुनिक विज्ञान की पद्धति से खोज करने पर ही, ठीक व्याख्या हो सकेगी। वैसी खोज में विज्ञान के अनेक नए तथ्य भी प्रकाश में आएँगे। किंतु वैसी खोज के लिये भी आवश्यक है कि इन विषयों की मुख्य-मुख्य कृतियों को ऐतिहासिक क्रम में करके उनका प्रामाणिक संपादन किया जाय।

इनसे मिलता हुआ विषय कामशास्त्र का है। उस विषय के विचार का आरंभ उपनिषदों में प्रसिद्ध श्वेतकेतु मुनि के समय से शुरू हो चुका था। वैसा होना स्वाभाविक भी था; क्योंकि श्वेतकेतु के ही विषय में यह प्रसिद्ध है कि उसने विवाह-प्रथा को सुस्थापित किया, और जहाँ मर्यादित विवाह आदर्श माना जाने लगा, वहीं वह समस्या उपस्थित हो गई जिसे कामशास्त्र हल करता है।

उस समस्या को वात्स्यायन ने जैसे स्पष्ट और सीधे रूप में कहा है वैसे शायद ही आज तक किसी ने कहा हो। वह कहता है कि पशुओं के नर और मादा को यदि परस्पर तृप्ति न हो तो वे दूसरी जोड़ी में तृप्ति कर सकते हैं; पर मनुष्य को मर्यादा से रहना पड़ता है, इसी कारण तृप्ति के अभाव के कारणों और उन्हें दूर करने के उपायों पर विचार करना पड़ता है। वात्स्यायन का कामसूत्र अपने विषय का अनूठा ग्रंथ है; वह एक स्थायी कृति है। उसका समय तीसरी शताब्दी ई० है। पीछे, मध्य-काल के भारतीय विचार में प्रत्येक विषय में किस प्रकार प्रगति बंद हो गई, इसका एक अच्छा नमूना हमें इस विषय के पिछले ग्रंथों से मिलता है। वात्स्यायन ने अपने समय के विभिन्न जनपदों की स्त्रियों के स्वभावों और प्रवृत्तियों की छान-बीन की है। 'अनंगरंग' नाम का एक ग्रंथ दिल्ली के लोदी सुल्तानों के समय लिखा गया। उसका लेखक भी उस विषय को उठाता है, पर अपने समय की जाँच-पड़ताल अपनी आँखों और बुद्धि से करने के बजाय तीसरी शताब्दी ई० के जनपदों के नाम दोहराता हुआ वात्स्यायन के शब्दों का टूटा-फूटा अनुवाद कर डालता है, यद्यपि लोदी-युग के राजनीतिक नक्शे में उन जनपदों का नाम-निशान भी बाकी न था, और पुराने जनपदों में नई जातियाँ बस चुकी थीं। अंधी निर्जीव नकल का वह अच्छा नमूना है!

कामशास्त्र का एक तरफ यदि वैद्यक से संबंध है तो दूसरी तरफ ललित कला से। वात्स्यायन के ग्रंथ से ललित कला की बड़ी समुन्नत दशा सूचित होती है। उस समृद्धि के युग में कलाओं का विकास होना स्वाभाविक था। वह सातवाहन-युग ही था जब कि भारतवर्ष के "बुने हुए हवा के जाले" पहनकर रोमन स्त्रियाँ अपना सौंदर्य दिखाती थीं। नट-शास्त्र का उदय पाणिनि से पहले हो चुका था, सो कह चुके हैं। सातवाहन-युग में भरत का नाट्य-शास्त्र लिखा गया,[1] जो भारतीय संगीत और नृत्य-कला के विषय की अमर कृति है। सरगुजा के रामगढ़-पर्वत की जोगीमारा-गुफा की दीवारों पर लिखे चित्रों से सिद्ध है कि ईसा से पहले भारत में चित्रण-कला की भी अच्छी उन्नति हो चुकी थी। किंतु अजंता की जगत्प्रसिद्ध लेणियों (गुफाओं) के चित्र उस कला की सबसे कीमती और अमर उपज हैं। मूर्त्ति-कला, स्थापत्य आदि-विषयक कई ग्रंथ पुराणों के अंतर्गत हैं। इन कलाओं की अंतिम उन्नति मध्य-काल में हुई, और तब के कई ग्रंथ—मानसार, राजमंडन आदि—उपलभ्य हैं।

(ए) ललित कला

वैदिक और उत्तर वैदिक वाङ्मय में काव्य-साहित्य का बीज-मात्र टटोला जा सकता है। संस्कृत वाङ्मय का वही मुख्य अंग है। संस्कृत और प्राकृत साहित्य का विकास वास्तव में पुराण-इतिहास-वाङ्मय से हुआ। वाल्मीकि 'आदिकवि' कहे जाते हैं। उन्होंने रामचंद्र की कोई ख्यात गाथाओं में रची होगी। फिर ५०० ई० पू० के करीब भारत और रामायण काव्यों के मूल रूप तैयार हुए। किंतु असल साहित्य का उदय सातवाहन-युग में हुआ। २०० ई० पू० से २०० ई० तक भारत का महाभारत बना—अर्थात् महाभारत अपने विद्यमान रूप

(ऐ) काव्य-साहित्य

---

[1] उसमें 'पह्लव' जाति का उल्लेख होने से उसका वह समय निश्चित होता है।

में आया। रामायण को भी पहली शताब्दी ई० पू० में अपना अंतिम रूप मिला। ये सबसे पुराने काव्य थे। वही समय बौद्ध संस्कृत वाङ्मय के सरल और मनोहर गद्य में लिखे गए अवदानों अर्थात् ऐतिहासिक कथानकों का है। उनके बाद श्रव्य और दृश्य काव्यों की धारा ही बह पड़ी। 'भास' का समय विभिन्न विद्वान् पहली शताब्दी ई० पू० से तीसरी शताब्दी ई० तक मानते हैं। किंतु 'अश्वघोष' की कनिष्क से समकालीनता निश्चित है। जब तक भास का समय स्थिर नहीं होता, अश्वघोष का सारीपुत्रप्रकरण संस्कृत का सबसे पुराना नाटक और उनका बुद्धचरित—महाभारत और रामायण के बाद—सबसे पुराना काव्य कहा जायगा। शूद्रक का मृच्छकटिक, विशाखदत्त का मुद्राराक्षस, विष्णु शर्मा का पंचतंत्र आदि अत्यंत हृदयग्राही और अमर रचनाएँ हैं। किंतु संस्कृत-साहित्य-सागर के सबसे उज्ज्वल और अमूल्य रत्न गुप्त-युग में प्रकट हुए। भारतीय आत्मा की जैसी पूर्ण चौमुखी अभिव्यक्ति 'कालिदास' की कृतियों में हुई है वैसी न तो वैदिक ऋचाओं में पाई जाती है, न उपनिषदों के तत्त्वचिंतनों में और न बुद्ध तथागत के सुत्तों में। 'कालिदास' मानों भारत का हृदय है। वह हमारे सामने भारतीय आदर्शों का चौमुखा समन्वय रख देता है। 'शाकुंतल' में वह आरंभिक आर्यों के वीरता और साहस से पूर्ण सरस जीवन के आदर्श को अंकित कर अमर कर गया है, तो 'रघुवंश' में रघु-दिग्विजय के बहाने भारतवर्ष की राष्ट्रीय एकता को एक सजीव ध्येय के रूप में रख गया है। आज से दो बरस पहले, रघु के उत्तर-दिग्विजय के एक-एक देश की पहचान करते हुए जब मैंने उसका समूचा रास्ता टटोल डाला, तब यह देखकर मुझे अत्यन्त आश्चर्य हुआ कि आधुनिक भूगोल-शास्त्र, इतिहास, भाषाविज्ञान और जनविज्ञान के सहारे हम भारतवर्ष की जो स्वाभाविक सीमाएँ नियत कर पाते हैं, कालिदास ने अपनी सहज प्रतिभा से ही उन्हें ठीक-ठीक पहचाना और अंकित किया है। उस महाकवि के विशाल हृदय की अनोखी सूझ और उसकी राष्ट्रीय आदर्शवादिता का पूरा अनुभव मैं तभी कर पाया।[१]

गुप्त-युग के बाद भी कम से कम 'भवभूति' के समय (लगभग ७४० ई०) तक संस्कृत-साहित्य की वही सजीवता बनी रहती है। उसके पीछे सहज सौंदर्य का स्थान आलंकारिक सजावट लेने लगती और मध्य-काल की सड़ाँद अपना प्रभाव दिखाने लगती है। पर 'राजशेखर'-जैसे मध्यकालीन कवियों की रचनाओं में भी काफी ताजगी है।

वाङ्मय के अन्य क्षेत्रों में प्राकृतों को नहीं पूछा गया, पर काव्य-साहित्य में उनका स्थान संस्कृत के बराबर है। प्रत्युत ठीक-ठीक कहें तो अभिलेखों की तरह साहित्य में भी पहले—प्राय: पहली शताब्दी ई० तक—प्राकृतों की ही प्रधानता रही दीखती है। हाल की गाथासप्तशती और गुणाढ्य की बृहत्कथा से यह सूचित है। बृहत्कथा का समय नई खोज से ७८ ई० सिद्ध हुआ है। भारतीय साहित्य का वह अनुपम रत्न आज हमें अपनी मूल पैशाची प्राकृत में नहीं मिलता, पर उसके तीन संस्कृत और एक तामिल अनुवाद उपस्थित हैं।

संस्कृत और प्राकृत साहित्य के कुल रत्नों की गिनती करना कठिन है, तो भी अंदाजन पचास-साठ जिल्दों में उनका संकलन हो सकेगा।

---

[१] "भारतभूमि"—पृष्ठ ३०८-९

पुराणों का ऐतिहासिक वृत्तांत बंद हो जाने के बाद भी अनेक फुटकर ऐतिहासिक ग्रंथ लिखे जाते रहे। बाण का 'हर्षचरित', बिल्हण का 'विक्रमांकचरित', संध्याकर नंदी का 'रामचरित' आदि उनके उदाहरण हैं। पर उन सबसे ऊँचा स्थान कल्हण की 'राजतरंगिणी' का है। उसके पीछे भी ऐतिहासिक प्रबंध लिखे जाते रहे, जिनके संग्रह 'प्रबंधकोष', 'प्रबंध-चिंतामणि' आदि ग्रंथ हैं। आरंभिक सातवाहन-युग के बौद्ध संस्कृत वाङ्मय के अवदान सरल ऐतिहासिक कहानियों के रूप में बेजोड़ रचनाएँ हैं। पुरानी दृष्टि से इन सब ऐतिहासिक ग्रंथों की गिनती भी काव्यों में ही है, क्योंकि काव्य-शैली का उदय स्वयं पुराण-इतिहास से ही हुआ था।

(ओ) पिछले ऐतिहासिक ग्रंथ

७—अभिलेख

पत्थर और ताम्रपत्र आदि पर खुदे हुए राजकीय और अन्य अभिलेख भारतीय इतिहास के पुनरुद्धार में तो सहायक हुए ही हैं, वाङ्मय और साहित्य की दृष्टि से भी उनका बड़ा मूल्य है। गद्य और पद्य की अनेक अव्वल दर्जे की रचनाएँ उनमें हैं। रुद्रदामा का गिरनार-चट्टान का लेख, और राजा चंद्र (चंद्रगुप्त) का महरौली की लोहे की कील पर का लेख संस्कृत गद्य और पद्य के बहुत ही बढ़िया नमूने हैं। वैसे और अनेक संदर्भ अभिलेखों में हैं। अभिलेख-वाङ्मय भी बड़ा विस्तृत है। उसका आरंभ एक तरह से अशोक के समय से होता है। अशोक के अभिलेख मानों उसका पहला अध्याय हैं। वे सब पालि या प्राकृत में हैं। तब से दूसरी शताब्दी ई० तक सब अभिलेख प्राकृत में ही पाए जाते हैं। यह बात ध्यान देने की है कि हिंदूकुश के चरणों में बसी कापिशी नगरी से पांड्य-देश की मधुरा (मदुरा) तक, और हरउवती या अरखुती (आधुनिक अरगंदाब)[१] नदी की दून (आज-कल के कंदहार-प्रदेश) से बंगाल तक, इन चार शताब्दियों के जितने अभिलेख चट्टानों, मूर्त्तियों, स्तंभों या सिक्कों आदि पर मिले हैं, वे सब भिन्न-भिन्न प्रादेशिक प्राकृतों में नहीं, किंतु एक ही प्राकृत में हैं, जो इन चार शताब्दियों में भारतवर्ष की वैसी पूरी राष्ट्रभाषा थी जैसी हिंदी आज भी नहीं हो पाई। वह प्राकृत—जिसे मोशिये सेनार ने 'अभिलेखों की प्राकृत' नाम दिया है—भारतवर्ष की राष्ट्रीय एकता का एक जीवित प्रमाण है। शक रुद्रदामा के ७२ शकाब्द के लेख से अभिलेखों में संस्कृत का प्रयोग शुरू हुआ, और आगे वह उत्तरोत्तर बढ़ता गया। दूसरी शताब्दी ई० के अंत से हमें परले हिंद (Further India) के परले छोर—आधुनिक फ्रांसीसी हिंदचीनी—तक से संस्कृत अभिलेख मिलने लगते हैं। किंतु उपरले हिंद (Serindia, आधुनिक चीनी तुर्किस्तान) की राजभाषा, जो वहाँ की 'कीलमुद्राओं' (लकड़ी की तख्तियों) पर के अभिलेखों में पाई गई है, इस युग में एक उत्तर-पश्चिमी प्राकृत ही रही। गुप्त-युग के सब अभिलेख संस्कृत में हैं। मध्य-काल के अभिलेखों की संख्या और परिमाण प्राचीन कालवालों से कहीं अधिक है, और उस काल के पिछले अंश में उनमें संस्कृत के साथ-साथ देशी भाषाएँ भी आने लगती हैं।

---

[१] हरउवती और अरखुती 'सरस्वती' के रूपांतर हैं, और अरखुती का रूपांतर 'अरगंद-आब'। देखिए—'भारतभूमि', पृष्ठ १८९

भारतवर्ष और बृहत्तर भारत में हिंदू-राज्यों का अंत होने तक वह सिलसिला जारी रहता है। खोज से अभी अनेक नए अभिलेख आए दिन मिल रहे हैं, पर जितनी सामग्री मिल चुकी है, उसका संकलन पंद्रह-बीस जिल्दों में हो सकता है।

८—पिछला बौद्ध वाङ्मय

(अ) पिछला पालि वाङ्मय

तिपिटक के बाद भी पालि वाङ्मय की परंपरा प्राचीन काल के अंत तक चलती रही। दूसरी शताब्दी ई० पू० में मद्र देश (मुख्यतः रावी-चिनाव दोआब के उपरले भाग) की राजधानी शाकल (स्यालकोट) के यवन राजा मेनंद्र को थेर नागसेन ने बौद्ध बनाया। मेनंद्र या मिलिंद और नागसेन के प्रश्नोत्तरों के रूप में 'मिलिंदपञ्हो' नामक प्रसिद्ध ग्रंथ में बौद्ध शिक्षा दी गई है। अशोक के समय सिंहल में बौद्ध धर्म पहुँचा था, तब से बराबर पालि वहाँ की पवित्र भाषा बनी रही। 'दीपवंस' (अर्थात् द्वीपवंश—सिंहलद्वीप के राजवंश) और 'महावंस' नामक दो प्रसिद्ध पालि ऐतिहासिक ग्रंथ वहीं लिखे गए। उनके अतिरिक्त पिछले पालि वाङ्मय में मुख्य वस्तु तिपिटक की अट्ठकथाएँ (अर्थकथाएँ, भाष्य) हैं जिनमें धम्मपाल, बुद्धघोष आदि प्रसिद्ध विद्वानों की कृतियाँ सम्मिलित हैं। उनमें भी बहुत-से मनोरंजक और महत्त्वपूर्ण अंश हैं जिनका संकलन अभीष्ट है।

(इ) सर्वास्तिवाद और महायान के ग्रंथ

पालि तिपिटक में बौद्ध धर्म का जो प्रारंभिक रूप है वह थेरवाद कहलाता है। पीछे अनेक अन्य वाद भी पैदा हुए। बुद्ध का आदेश था कि उनके अनुयायी उनकी शिक्षाओं को अपनी-अपनी भाषा में कहें-सुनें। इसी कारण प्रत्येक वाद का वाङ्मय उस प्रदेश की भाषा में बना जो उस वाद का मुख्य केंद्र था। पालि किस प्रदेश की भाषा थी, सो आज तक विवादग्रस्त है। पिछले अनेक वादों के वाङ्मय पालि तिपिटिक के नमूने पर ही थे; उनमें से कोई-कोई ग्रंथ ही अब बाकी बचे हैं। मौर्य साम्राज्य के पतन-काल में मथुरा-प्रदेश में आर्य-सर्वास्तिवाद प्रचलित रहा। उसके ग्रंथ संस्कृत में थे। अशोकावदान उसी की पुस्तक है। कनिष्क के समय गांधार और कश्मीर में मूलसर्वास्तिवाद का जोर रहा। कश्मीर और गांधार के सर्वास्तिवादियों का पारस्परिक मतभेद मिटाने को ही कनिष्क ने चौथी संगीति जुटाई, जिसमें 'महाविभाषा' नामक तिपिटक का एक भाष्य तैयार हुआ। उसी से उस वाद का नाम वैभाषिक पड़ा। सौत्रांतिक संप्रदाय भी वैभाषिक से मिलता-जुलता है। उनका वाङ्मय भी संस्कृत में था, पर अब उनके ग्रंथ चीन, मध्य एशिया और तिब्बत में ही मिले हैं। 'महावस्तु' नामक एक बड़ा ग्रंथ अब मिलता है जो महासांघिक संप्रदाय का 'विनय' है। उसकी भाषा प्राकृत-मिश्रित एक विचित्र प्रकार की संस्कृत है।

वैभाषिक संप्रदाय से एक नए वाद का उदय हुआ, जिसे आचार्य नागार्जुन ने 'महायान' नाम दिया। उसके लिये नए 'सुत्त' बनाए गए जो सब संस्कृत में हैं। सुत्तों को संस्कृत में 'सूक्त' कहना चाहिए था, पर इस पिछले वाङ्मय में वे 'सूत्र' कहलाते हैं। वास्तव में वे सूत्र नहीं, लंबे-लंबे संवाद हैं जिनमें प्रायः बुद्ध के मुँह से उसी पुरानी शैली—"एवं मया श्रुतम्......"—से भूमिका बाँधकर उपदेश दिलाया गया है। रत्नकूटसूत्र, ललितविस्तर (बुद्ध की जीवनी), सद्धर्मपुंडरीक, प्रज्ञापारमिता सूत्र, सुखावतीव्यूह आदि

इस पिछले बौद्ध वाङ्मय के ग्रंथ हैं। इस वाङ्मय को भी विनय, सुत्त और अभिधम्म में बाँटा जाता है। वास्तव में बौद्ध संस्कृत वाङ्मय में जो नई चीज है वह या तो उसका अभिधम्म अर्थात् दर्शन है, और यां उसके कुछ काव्य (जैसे ललितविस्तर) या अवदान। इनकी गिनती संस्कृत-प्राकृत-वाङ्मय के उक्त क्षेत्रों में हम पहले ही कर चुके हैं; यहाँ केवल स्पष्टता की खातिर उसका अलग उल्लेख किया गया है। महायान के पहले बड़े दार्शनिक थे नागार्जुन, और उनके बाद आए वसुबन्धु और आसंग। ये दोनों विद्वान् भाई पाँचवीं शताब्दी ई० में पेशावर में प्रकट हुए। इनके ग्रंथों के साथ महायान-वाङ्मय की पूर्त्ति हुई। पीछे दिङ्नाग के समय से बौद्ध तार्किक होने लगे।

(ङ) वज्रयान और तंत्र-वाङ्मय

जादू-टोना, कृत्या-अभिचार और अलौकिक सिद्धियों का मार्ग हमारे देश में अथर्ववेद के समय से प्रचलित था। उसमें से अनेक अच्छी चीजें—वैद्यक, रसायन, हठयोग आदि—भी पैदा हुईं, सो कह चुके हैं। दूसरी-तीसरी शताब्दी ई० से बौद्ध धर्म पर भी उसकी छाँह पड़ने लगी, और धीरे-धीरे उसका प्रभाव यहाँ तक बढ़ा कि महायान वज्रयान में परिणत हो गया। वज्रयान से आगे चलकर कालचक्रयान पैदा हुआ। वे दोनों बौद्ध वाममार्ग हैं। संसार का सबसे पवित्र, संयम एवं आचारात्मक धर्म किस प्रकार इस वाममार्ग में परिणत हो गया, सो मानव-इतिहास की एक बड़ी पहेली है। उस पर मैंने "भारतीय इतिहास की रूपरेखा" में अपने विचार प्रकट किए हैं। वज्रयान के आरंभिक आचार्यों ने संस्कृत में ग्रंथ लिखे जिनमें से पद्मवज्र-कृत 'गुह्यसिद्धि', उसके शिष्य अनंगवज्र-कृत 'प्रज्ञोपाय-विनिश्चयसिद्धि', उसके शिष्य उड्डीयान (स्वात नदी की दून) के राजा इंद्रभूति-लिखित 'ज्ञानसिद्धि' आदि कई ग्रंथ प्राप्य हैं। सातवीं से नवीं सदी ई० तक इस पंथ के कुल चौरासी सिद्ध हुए जिनमें से पिछलों की वाणी अपभ्रंश या देशी भाषाओं में भी है। सुप्रसिद्ध गोरखनाथ उन्हीं सिद्धों में थे। तिब्बतवालों के गुरु 'पद्मसंभव' और 'शांतरक्षित' (७५० ई०) वज्रयान के, तथा 'दीपंकर अतिश' (१०४० ई०) कालचक्र-यान के आचार्य थे। उनके समय में तिब्बत-मंगोलिया और अफगानिस्तान से जावा-सुमात्रा तक ये पंथ फैल गए थे। इन आचार्यों और सिद्धों की रचनाएँ तिब्बती अनुवादों में भी सुरक्षित हैं। मानव-इतिहास की उक्त भारी समस्या पर प्रकाश डालने के लिये उन ग्रंथों का अध्ययन और मनन भी आवश्यक है।

बौद्ध वाममार्ग के साथ ही पौराणिक वाममार्ग के तंत्रों की गिनती भी करनी चाहिए। शैव मार्ग में पाशुपत, कापाल और कालामुख पंथों, वैष्णव मार्ग में गोपीलीला-संप्रदाय, शाक्त में आनंद-भैरवी, त्रिपुरसुंदरी या ललिता की पूजा के पंथ और गाणपत्य में हरिद्रागणपति और उच्छिष्ठ गणपति आदि की पूजा में वही प्रवृत्तियाँ प्रकट हुई हैं। इन पंथों के तंत्र बौद्ध वज्रयान के तंत्रों की तरह हैं।

८—जैन वाङ्मय

जैन वाङ्मय का वैसा व्यापक प्रचार और प्रभाव शायद न हुआ जैसा बौद्ध वाङ्मय का। तो भी उसमें बड़ी गहराई है। आरंभिक जैन वाङ्मय के बहुत-से 'अंग' मौर्ययुग में लुप्त हो

गए थे। कलिंग के दिग्विजयी राजा खारवेल के समय (लगभग १७५ ई० पू०) उनका पुनरुद्धार किया गया। बौद्ध सुत्तों की तरह अनेक जैन 'सूत्र' भी हैं। उनका अंतिम संस्करण जो अब पाया जाता है, वलभी की संगीति के बाद का है जो ४५४ ई० में हुई। आरंभिक जैन वाङ्मय सब अर्ध-मागधी प्राकृत में था, जो अवधी का पूर्व-रूप थी। पीछे जैनों ने भी संस्कृत को अपना लिया। जैन दर्शन का भी भारतीय दर्शन-शास्त्र के विकास में महत्त्वपूर्ण स्थान है। दर्शन के अतिरिक्त उस वाङ्मय में इतिहास के ग्रंथ बड़े काम के हैं। मध्यकाल में अनेक जैन पुराण भी लिखे गए।

१०—तामिल वाङ्मय

सुदूर दक्खिन में आर्य-सत्ता स्थापित होने पर पहले तो वहाँ आर्य-भाषाओं से ही काम चलता रहा, और वहाँ के कुलीन एवं शिक्षित द्राविड लोग भी उन्हीं को बर्तने लगे। धीरे-धीरे आर्य प्रवासियों के प्रयत्नों से स्थानीय द्राविड बोलियाँ भी आर्य-लिपि में लिखी जाने लगीं, उनका व्याकरण बनाया गया, तथा आर्य-भाषा की कलम लगने से वे क्रमशः परिष्कृत भाषाएँ बन गईं। तामिल भाषा का पहला व्याकरण अगस्त्य मुनि ने लिखा सो प्रसिद्ध है। वे अगस्त्य उत्तर-भारत के प्रवासी आर्यों के कोई वंशज थे।

तामिल भाषा की लता में वाङ्मय के फूल पहले-पहल आर्य रस के सींचे जाने से ईसवी सन् के प्रायः साथ-साथ प्रकट हुए। भारतवर्ष की अंतिम दक्खिनी नोक—मदुरा और तिरूनेवली जिलों—में ४०० ई० पू० के करीब उत्तर के आर्य प्रवासियों ने 'पांड्य' नाम का एक राज्य स्थापित किया। उसी समय आर्य प्रवासियों के एक दूसरे प्रवाह ने सिंहल पहुँचकर वहाँ अपनी सत्ता जमाई। पांड्य और सिंहल के प्रायः साथ-साथ चोल और केरल राज्यों का उदय हुआ; पर कैसे हुआ, सो हम नहीं जानते। मौर्य और सातवाहन युगों में पांड्य, चोल और केरल (या चेर)—ये तीन राज्य द्रविड़ देश में बने रहे। इन राज्यों की छत्रच्छाया में तामिल भाषा के पौदे में आर्य कलम लगने की उक्त प्रक्रिया चलती रही, और अंत में इन्हीं के क्षेत्र में तामिल वाङ्मय पहले-पहल प्रकट हुआ। पांड्य-राजधानी 'मधुरा' वाङ्मय का एक बड़ा केंद्र रही। सातवाहन-संस्कृति प्रतिष्ठान से मधुरा में प्रतिबिंबित होती थी। वहाँ तामिल वाङ्मय का एक 'संगम्' ईसवी सन् की पहली शताब्दियों—पिछले सातवाहन-युग—में था। तामिल वाङ्मय का कोई भी नया ग्रंथ उस 'संगम्'—अर्थात् साहित्य-परिषद्—से प्रमाणित होने पर ही प्रचार पाता। चोल, चेर और पांड्य देश के कम से कम सात राजा वाङ्मय के बड़े संरक्षक माने गए। संगम्-युग में मामूलनार, परणर, तिरुवल्लुवर आदि महान् साहित्यसेवी प्रकट हुए। उसी युग में तामिल व्याकरण 'तोल्कप्पियम्' लिखा गया, और बृहत्कथा का तामिल अनुवाद हुआ। 'मणिमेखलै', 'शीलप्पतिकारम्' आदि अमर काव्य उसी युग की उपज हैं, और तिरुवल्लुवर का 'कुरल'—जो विश्व-वाङ्मय का एक अनमोल रत्न है—उसी संगम् की खान से प्रकट हुआ। संगम्-युग तामिल इतिहास का सबसे उज्ज्वल युग है।

मध्यकाल में तामिल वाङ्मय में एक और लहर जारी रही। उस काल में अनेक 'आल्वार' अर्थात् वैष्णव भक्तों और 'नायन्मार' अर्थात् शैव भक्तों ने जन्म लिया। तामिल देश से बौद्ध और जैन धर्मों को निकालने का काम उन्हीं ने किया। उनकी कृतियाँ भक्तिप्रधान हैं। आल्वारों ने अनेक

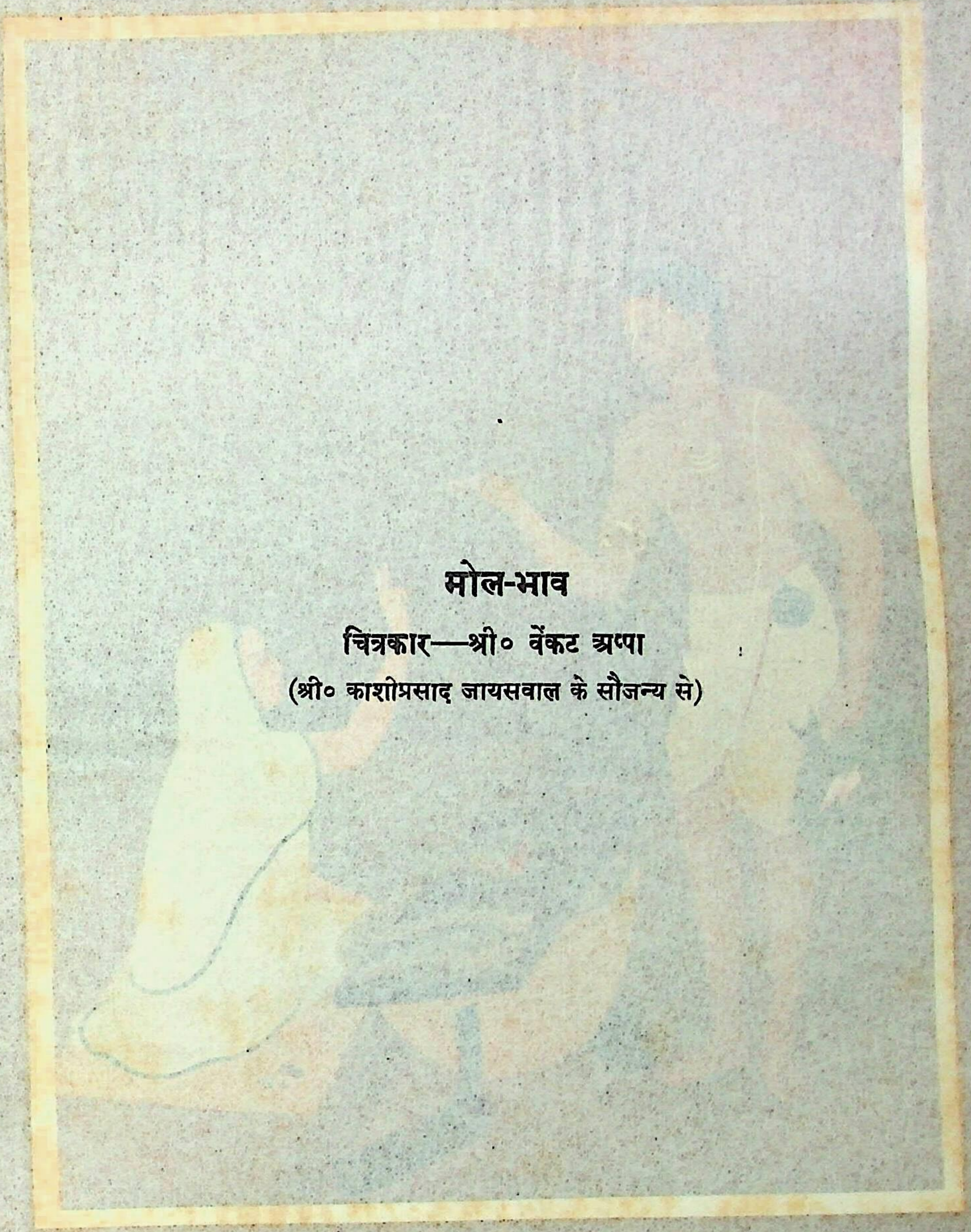

मोल-भाव

चित्रकार—श्री० वेंकट अप्पा

(श्री० काशीप्रसाद जायसवाल के सौजन्य से)

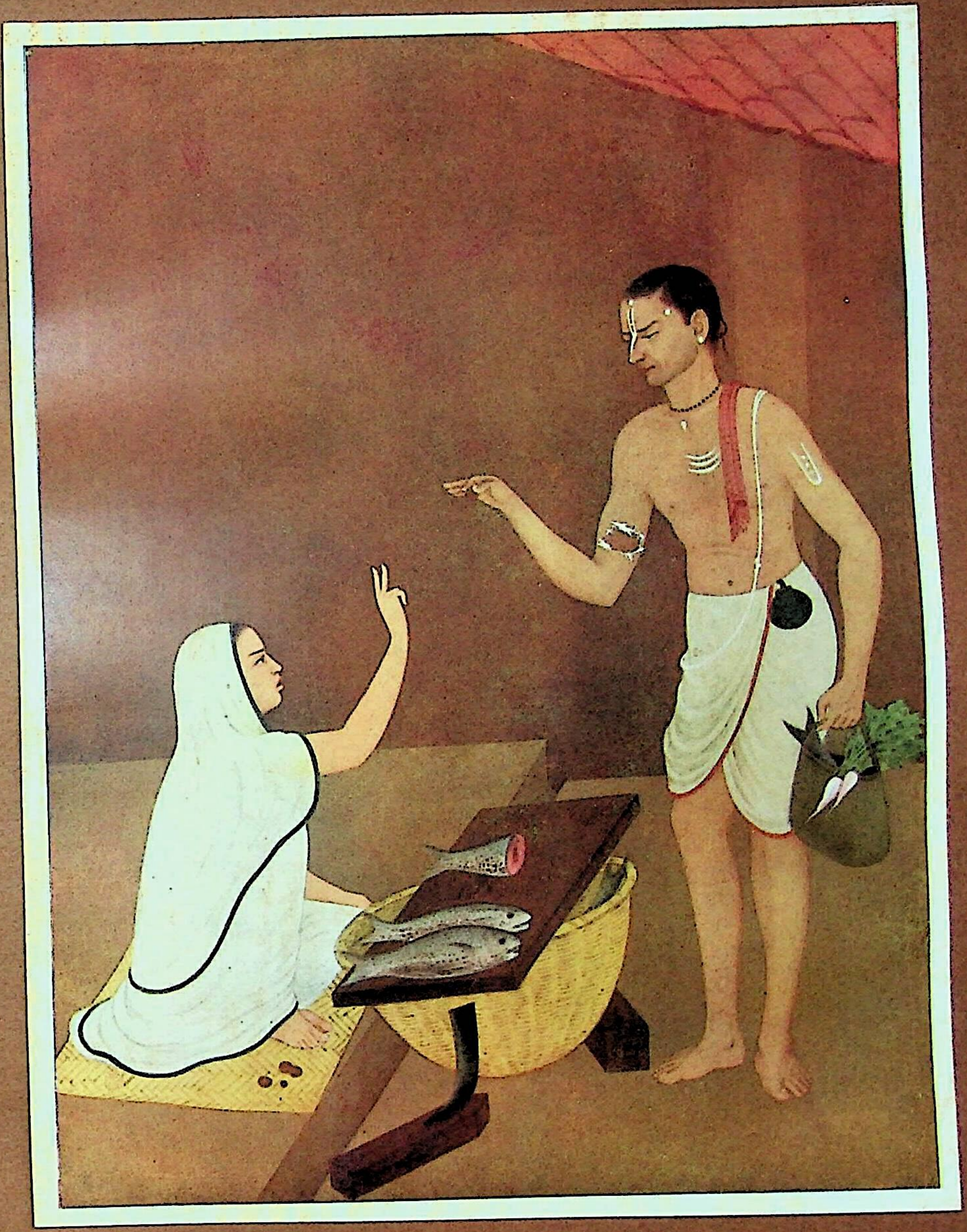

'प्रबंध' (=गीत) लिखे जिनके संग्रह तामिल वैष्णवों के धर्मग्रंथ हैं। तामिल शैवों का विस्तृत वाङ्मय है जिसमें ग्यारह ग्रंथ हैं। उसमें तिरुञानसंबंध के पदिगम्—जो तामिल शैवों के लिये वैदिक सूक्तों के समान हैं, माणिक्कवाशगर-कृत तिरुवाशगम्—जो उनका उपनिषद् है, तिरुमूलर नामक योगी के रहस्यमय गीत, और नंबिआदारनंबि-कृत पेरियपुराण—जिसमें तिरसठ नायन्मारों के वृत्तांत हैं, संमिलित हैं।

मलयाळम् भाषा तामिल से ही फटकर अलग हुई। कनाडी वाङ्मय तामिल से कुछ पीछे का है। तेलुगु का वाङ्मय अन्य आधुनिक देशी भाषाओं की तरह नवीं-दसवीं शताब्दी ई० से शुरू हुआ।

११—सिंहली वाङ्मय

सिंहली एक आर्य-भाषा है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि सिंहल में आर्य प्रवासियों की बहुत बड़ी संख्या पहुँची। सिंहली वाङ्मय बहुत पुराना था। पहले पालि से बहुत-से ग्रंथों का सिंहली अनुवाद हुआ, किंतु उनका फिर पालि अनुवाद (जैसे जातकत्थवण्णना) हो जाने पर सिंहल मूल बचा न रहा। बाद के सिंहल वाङ्मय में भी कई राजावलिय—अर्थात् ऐतिहासिक ग्रंथ—विशेष काम के हैं।

१२—तुखारी और खोतनदेशी वाङ्मय

आज-कल के सिम्‌कियांग् (चीनी तुर्किस्तान) में कम से कम आठवीं शताब्दी ई० पू० से शक, तुखार, ऋषिक ('युचि') आदि जो जातियाँ रहती थीं, आधुनिक खोज ने सिद्ध किया है कि वे सब आर्य थीं।[1] अशोक के समय जब आर्यावर्त्ती आर्यों ने अपने उपनिवेश उनके देश में स्थापित किए तब पहले तो वहाँ किसी आर्यावर्त्ती भाषा की प्रधानता हुई, परंतु पीछे—जैसा द्रविड देश में हुआ था—वैसा ही वहाँ भी हुआ। उस प्रदेश के तुखार आदि जंगली फिरंदर निवासी आर्यावर्त्ती आर्यों के संसर्ग से सभ्य हुए; उन्होंने लिखना सीखा; उनकी बोलियाँ धीरे-धीरे लिखित भाषाएँ बन गईं, और वाङ्मय से पुष्पित होने लगीं। आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों ने सिम्‌कियांग् देश का उन युगों के लिये 'उपरला हिंद' (Serindia) नाम रक्खा है। 'उपरले हिंद' की दो स्थानीय भाषाएँ थीं। तारीम नदी के उत्तर कूचा के चौगिर्द प्रदेश की भाषा को उसके अपने लेखों में 'आर्षी' कहा है; पर उइगूर तुर्कों ने जब उस देश को जीता तब वे उसकी भाषा को तुखारी कहते थे; और आजकल के विद्वान् भी उसे 'कूची' या 'तुखारी' कहने लगे हैं। तारीम नदी के दक्खिन खोतन-प्रदेश की भाषा के कई नाम तजवीज किए गए हैं, पर उनमें से खोतनदेशी नाम सबसे अच्छा है। 'तुखारी' और 'खोतनदेशी' दोनों आर्यभाषाएँ थीं—तुखारी लैटिन-केल्त भाषाओं से मिलती-जुलती, और खोतनदेशी ईरानी भाषाओं से। वे दोनों पहले-पहल आर्यावर्त्ती लिपि में लिखी गईं, और गुप्त-युग में परिष्कृत भाषाओं के रूप में प्रकट हुईं। उनके वाङ्मय—विचारों,

---

[1] देखिए—'भारतभूमि', पृष्ठ ३१३-१५। वहीं पहले-पहल यह भी सिद्ध किया गया है कि 'युचि' का मूल संस्कृत नाम 'ऋषिक' था।

शैली और विषयों में—सर्वथा भारतीय और संस्कृत शब्दों से भरपूर रहे। उनका अधिकांश संस्कृत बौद्ध वाङ्मय से अनुवादित था। धर्मग्रंथों के अतिरिक्त ज्योतिष, वैद्यक, काव्य आदि ग्रंथ उनमें थे। तुखारी-साहित्य की विशेष वस्तु एक किस्म का नाटक था, जो ठीक बँगला 'यात्रा' के नमूने का होता। तुखारी-पद्यों के छंद सब संस्कृत के हैं, पर उनके नाम नए हैं—जैसे मदनभारत, स्त्रीविलाप आदि। तुखारी और खोतनदेशी वाङ्मयों में से बचे हुए कुछ पन्ने ही अब मिले हैं।

इन भाषाओं के पड़ोस की पूरबी ईरान की सुग्धी भाषा में भी बौद्ध वाङ्मय के अनेक अनुवाद हुए। सुग्धी वाङ्मय का आत्मा भी भारतीय ही था।

१३—तिब्बती वाङ्मय

उपरले हिंद से आर्यावर्त्ती वर्णमाला और वाङ्मय ने तिब्बत पहुँचकर वहाँ की फिरंदर जनता की बोली को लिखित और परिष्कृत भाषा बना दिया। उसी जागृति का परिणाम यह हुआ कि सातवीं शताब्दी ई० में तिब्बत में पहला सुसंगठित साम्राज्य स्थापित हुआ। हर्षवर्द्धन के समकालीन पहले तिब्बती सम्राट् स्रोङ्चनगंबो के समय से बारहवीं शताब्दी ई० के अंत तक उत्तर-भारत से अनेक विद्वान् तिब्बत जाते रहे। उन्होंने वहाँ भोटिया लेखकों की सहायता से एक विशाल वाङ्मय की सृष्टि की। तिब्बती बौद्ध वाङ्मय के—'कं-ज्यूर' और 'तं-ज्यूर'—दो मुख्य अंश हैं। कंज्यूर में महायान और वज्रयान के ग्रंथों के अनुवाद हैं, तंज्यूर में अनुवादकों के वृत्तांत और व्याख्या। भारतीय पंडितों के तिब्बत जाने और वहाँ काम करने का वृत्तांत स्वयं एक अत्यंत रुचिकर प्रकरण है। तारानाथ (सोलहवीं शताब्दी ई०) के बौद्धधर्म के इतिहास की तरह और कई ऐतिहासिक ग्रंथ भी उस वाङ्मय में हैं। कई खोतनी ग्रंथ भी तिब्बती अनुवादों में सुरक्षित हैं, जैसे गोशृंग-व्याकरण—अर्थात् खोतन के गोशृंग-विहार का इतिहास। 'व्याकरण' का वहाँ वही अर्थ होता था।

तिब्बत के द्वारा भारतीय वाङ्मय मध्यकाल में किस प्रकार मंगोलिया पहुँचा, सो और भी रहस्यपूर्ण और मनोरंजक वृत्तांत है। विश्वविजयी मंगोल सम्राट् 'कुबलै खान' के राजगुरु प्रतिभाशाली तिब्बती विद्वान् 'फग्स्पा' ने १२६० ई० के करीब मंगोल-भाषा को भी भारतीय पद्धति की एक वर्णमाला में लिखने की प्रथा चलानी चाही। दुर्भाग्य से वह प्रयत्न सफल न हुआ।

१४—चीनी और अरबी वाङ्मयों में भारतीय ग्रंथ

चीन में भारतीय वाङ्मय और ज्ञान कैसे पहुँचा, उसकी कहानी बड़ी लंबी है, और यहाँ उसे छेड़ा नहीं जा सकता। भारतीय वाङ्मय के चीन में पहुँचने, अनुवादित होने और अपना प्रभाव डालने की परंपरा ईसवी सन् के आरंभ से लेकर लगातार सवा हजार बरस तक चलती रही। भारत और चीन के उस पारस्परिक सहयोग के इतिहास में अनेक महापुरुषों के नाम, अनेक निष्ठा और साहस से पूर्ण चरित तथा अनेक रोमांचकारी घटनाएँ हैं। चीनी वाङ्मय के सहारे एक तो हम भारतीय वाङ्मय के बहुत-से लुप्त रत्नों को वापस पा सकते हैं; दूसरे, चीन में सवा हजार बरस तक भारतीय रोशनी पहुँचते रहने का मनोरंजक और अद्भुत वृत्तांत तथा उस वृत्तांत में गुँथे हुए अनेक मनस्वियों के चरित्र

हमें उसी वाङ्मय से मिल सकते हैं; तीसरे, जो चीनी विद्वान् दोनों देशों के उक्त सहयोग के सिलसिले में भारत आते रहे उनके भारतीय अनुभव और वृत्तांत हमारे लिये बड़े काम के हैं, और वे हमें चीनी वाङ्मय से ही मिल सकते हैं।

भारत और अरब का संबंध और तरह का था। अरब-जाति की समृद्धि की तरह वह संबंध भी अल्पायु रहा। अरब लोग शत्रु के रूप में सातवीं-आठवीं शताब्दियों में भारत के सीमांत पर मँड़राते रहे। मध्य एशिया के देश उनके आने से पहले भारतीय सभ्यता के बड़े केंद्र थे। आठवीं सदी के शुरू में जब सिंध और बलख को अरबों ने जीत लिया तब भारतीय ज्ञान और संस्कृति का प्रभाव खलीफों के दरबार में प्रकट होने लगा। संस्कृत से वैद्यक, ज्योतिष, नीति, काव्य, इतिहास आदि के अनेक ग्रंथों के अरबी अनुवाद किए गए। बलख में एक बौद्ध नव-विहार था, उसका प्रमुख 'बरमक' (परमक ?) मुसलमान बना लिया गया। वह संस्कृत का भारी विद्वान् था, और दिल से बौद्ध ही रहा। उसके प्रयत्न से संस्कृत वाङ्मय के अनेक रत्न अरबी में लिए गए। हमारे लिये अब अरबी वाङ्मय का भारत-विषयक अंश ही विशेष मनोरंजक है। प्रसिद्ध विद्वान् अलबेरूनी का ग्रंथ उसी का एक अंग है।

१५—परले हिंद और हिंदी द्वीपों के वाङ्मय

भारतवर्ष और चीन के बीच जो विशाल प्रायद्वीप है, उसे आज 'परला हिंद' (Further India) अथवा 'हिंदचीनी' कहते हैं। 'हिंदचीनी' नाम से सूचित होता है कि उसमें आधा अंश हिंद का और आधा चीन का है। पर सच बात यह है कि तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी ई० से पहले उसमें चीन का कुछ भी अंश न था, वह पूरी तरह 'परला हिंद' ही था। अशोक के समय हमारे आसाम-प्रांत से लेकर चीन के नानशान अर्थात् दक्खिनी पहाड़ तक उस समूचे विशाल देश में तथा उसके दक्खिन समुद्र की द्वीपावली में भयंकर जंगली जातियाँ रहती थीं, जो पत्थर के चिकने हथियारों से जंगली जानवरों का शिकार कर अपनी जीविका चलातीं। वे जातियाँ हमारे देश की संथाल, मुंडा, शबर, खासी आदि जातियों की सगोत्र थीं। सभ्य संसार के आग्नेय कोण में रहने के कारण जर्मन विद्वान् 'श्मिट' ने उनके वंश का नाम आग्नेय (Austric) रक्खा है।[1] अशोक से भी पहले महाजनपदों के युग में उनके देश में भारतीय नाविक जाने-आने लगे, और वहाँ सोने की खानें पाने के कारण उन्होंने उसे 'सुवर्ण-भूमि' तथा उसके कई द्वीपों को 'सुवर्ण-द्वीप' नाम दिया। अशोक के समय सुवर्णभूमि में भी बुद्ध का संदेश पहुँचाया गया। उसके बाद सातवाहन-युग में उस विशाल प्रायद्वीप और उस द्वीपावली के एक छोर से दूसरे छोर तक भारतीय उपनिवेश बस गए। उन उपनिवेशों के संसर्ग से स्थानीय आग्नेय जातियाँ भी सभ्य हो चलीं, और आर्यों के धर्म-कर्म, रीति-रवाज, भाषा, लिपि और नामों तक को अपनाती गईं। ईसवी सन् के आरंभ से तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी तक वहाँ अनेक भारतीय राज्य बने रहे, जिनमें संस्कृत राजभाषा के रूप में बर्त्ती जाती रही। किंतु जैसा दक्खिन भारत और उपरले हिंद में हुआ था, वैसे ही वहाँ भी आर्यावर्त्ती वर्णमाला और

---

[1] पूरी विवेचना के लिये देखिए—'भारतभूमि', परिच्छेद ४१

वाङ्मय के संसर्ग से स्थानीय बोलियाँ अनेक शताब्दियों बाद परिष्कृत होकर लिखित भाषाएँ बन गईं, और वाङ्मयों का विकास करने लगीं। उनको लिपि और वर्णमाला आर्यावर्त्ती रहीं, उनमें संस्कृत शब्दों की कलम लग गई, और उनमें जो वाङ्मय खिला वह सर्वथा भारतीय नमूने का। इस प्रकार कंबुज की 'कंबुजी या ख्मेर' भाषा, चंपा उपनिवेश (आधुनिक फ्रांसीसी हिंदचीनी) की 'चम' भाषा और जावा की 'कवि' भाषा आर्यावर्त्ती अक्षरों में लिखी गईं, और उनमें वाङ्मय का अच्छा विकास हुआ। 'कवि' और उसके अतिरिक्त भारतीय द्वीपावली की पाँच और भाषाओं की लिपियाँ वास्तव में 'कंबुजी' से ही निकलीं।[१] इन सब भाषाओं के वाङ्मय पूरी तरह भारतीय वाङ्मय पर निर्भर और भारतीय आदर्शों से अनुप्राणित हैं। कवि-भाषा नवीं शताब्दी ई० से अभिलेखों में संस्कृत के साथ-साथ प्रकट होने लगी। फिर बारहवीं शताब्दी में उसके साहित्य का स्वर्ण-युग रहा। उसमें अनेक अच्छे काव्य—अर्जुनविवाह, विराट्पर्व, स्मरदहन, भारत-युद्ध आदि—तथा इतिहास-ग्रंथ—नगरकृतागम आदि—हैं।

बारहवीं शताब्दी के कुछ पहले और कुछ पीछे भारतवर्ष की अपनी देशी भाषाओं का भी उदय होने लगा। उनके वाङ्मयों का विषय बहुत-कुछ परिचित है। इस लेख में मैं उसे जान-बूझकर छोड़ता हूँ।

उपर्युक्त विवेचना से यह प्रकट हुआ होगा कि भारतीय वर्णमाला और वाङ्मय के अभ्युदय और अवनति का इतिहास वास्तव में भारतवर्ष के अभ्युदय और अवनति का इतिहास है। एक के बिना हम दूसरे को नहीं समझ सकते।

---

[१] 'भारतभूमि', पृष्ठ २७०

लोरी

शिशु राहुल के प्रति बुद्ध-जाया गोपा

सो, अपने चंचलपन, सो!
सो, मेरे अंचल-धन, सो।

पुष्कर सोता है निज सर में,
भ्रमर सो रहा है पुष्कर में,
गुंजन सोया कभी भ्रमर में,
सो, मेरे गृह-गुंजन, सो!
सो, मेरे अंचल-धन, सो।

तनिक पार्श्व-परिवर्त्तन कर ले,
उस नासा-पुट को भी भर ले,
उभय पक्ष का मन तू हर ले,
मेरे व्यथा-विनोदन, सो!
सो, मेरे अंचल-धन, सो।

रहे मंद ही दीपक-माला,
तुझे कौन भय-कष्ट-कसाला?
जाग रही है मेरी ज्वाला,
सो, मेरे आश्वासन, सो!
सो, मेरे अंचल-धन, सो।

ऊपर तारे झलक रहे हैं,
गोखों से लग ललक रहे हैं,
नीचे मोती झलक रहे हैं,
मेरे अपलक-दर्शन, सो!
सो, मेरे अंचल-धन, सो।

तेरी साँसों का निस्पंदन,
मेरे तप्त हृदय का चंदन!
सो, मैं कर लूँ जी भर क्रदन;
सो, उनके कुल-नंदन, सो!
सो, मेरे अंचल-धन, सो।

खेले मंद पवन अलकों से,
पोंछूँ मैं उनको पलकों से,
छद-रद की छबि की छलकों से,
पुलक-पूर्ण शिशु-यौवन, सो!
सो, मेरे अंचल-धन, सो।

मैथिलीशरण गुप्त

आर्य कालक

श्री मुनि कल्याणविजय

आर्य कालक अथवा कालकाचार्य जैन-समाज में एक सुप्रसिद्ध आचार्य हो गए हैं। उन्होंने जैन-धर्म में और जैन-साहित्य में जो सामयिक जीवन फूँका था, वह अब तक अमिट है। श्वेतांबर-जैन-संघ का अधिक भाग, जो अब तक भाद्रपद शुक्ल चतुर्थी को पर्युषणा-पर्व मनाता है, उन्हीं की कृति का स्मृति-चिह्न है। इसके अतिरिक्त हमारे समाज में जो निमित्त और ज्योतिष का थोड़ा-बहुत प्रचार हुआ उसके भी मूल कारण वही कहे जायँगे, क्योंकि यदि उन्होंने निमित्त का अध्ययन और उसकी संहिता का निर्माण न किया होता, तो पापश्रुत[१] समझकर पिछले आचार्य इस विषय को छूते तक नहीं।

इन सब बातों के अतिरिक्त प्रथमानुयोग की रचना करके कालक ने जो जैन-कथा-साहित्य का खजाना भरा है, उसके लिये तो केवल जैन-समाज ही नहीं, सारा विद्वत्समाज उनका ऋणी है।

[१] निमित्त-ज्योतिषादि विद्याओं को जैन आगमों में 'पापश्रुत' कहा है। संभव है, 'श्रुत' के साथ लगाए गए 'पाप' विशेषण के कारण ही कालकसंहिता, निमित्तप्राभृतादि अमूल्य साहित्य से आज हमें हाथ धोना पड़ा है। इस विद्या की उपयोगिता को स्वीकार करते हुए भी हमारे आचार्य कभी-कभी किस कदर इसकी भयंकरता मान लेते थे, इस बात का उदाहरण हमें 'हरिभद्र' के जीवन-प्रसंग में मिलता है। कहते हैं, एक बार बनारस के 'वासुकि' नामक श्रावक को एक पुस्तक मिली। व्यवसायार्थ चित्रकूट गए हुए वासुकि ने वह पुस्तक आचार्य हरिभद्र सूरि को दी। सूरि जी ने उसे देखकर संघ के प्रधान पुरुषों से कहा कि यह 'वर्ग-केवली' है। उन लोगों ने सूरि जी से अनुरोध किया कि आप इसका विवरण बनावें ताकि कहीं संघ के कार्य में उपयोगी हो। तब आचार्य ने उस पर स्पष्ट विवरण लिखा और उसके अनुसार कतिपय प्रयोगों की परीक्षा करने पर वे सही निकले। परंतु संघ के नायकों ने यह सोचकर कि "इस समय में ऐसे पापग्रंथों को प्रकाशित करना अच्छा नहीं है," उस विवरण का नाश करा दिया!

इन धुरंधर विद्वान् और युगप्रवर्त्तक स्थविर की यशोगाथा अनेक पूर्वाचार्यों ने अपने-अपने प्रबंधों में गाई है।[१] कतिपय विद्वानों ने तो 'कालकाचार्य-कथा'[२] नाम से, प्राकृत और संस्कृतादि भाषाओं में, स्वतंत्र रूप से इनके जीवन-चरित की खास-खास घटनाओं का निरूपण किया है। इसके उपरांत आधुनिक योरप और भारतवर्ष के कतिपय विद्वानों ने भी अपनी-अपनी भाषा में इनकी जीवनगाथा गाने के प्रयत्न किए हैं। यह सब कुछ होते हुए भी दुःख के साथ कहना पड़ता है कि इन महापुरुष के जीवन-संबंधी घटनाओं में, प्राचीनता के कारण, जहाँ-कहीं विषमता अथवा असंबद्धता प्रविष्ट हो गई है, उसका निराकरण करके अब तक किसी ने समन्वय नहीं किया। बहुधा यह देखा गया है कि पुरातन व्यक्तियों के जीवन-संबंधी घटनाओं और उनकी कृतियों के विषय में असंगतता अथवा गोलमाल करनेवाले उनके समनामधारी (नामराशि) व्यक्ति ही हुआ करते हैं। कालक-संबंधी कुछ घटनाओं में जो असंगतता प्रतीत होती है उसका भी कुछ ऐसा ही कारण है। उन सबकी कृतियाँ और समय भिन्न-भिन्न था, पर ज्यों-ज्यों समय-प्रवाह बहता गया त्यों-त्यों पिछले लोग इनकी भिन्नता को भूलते गए। परिणाम यह हुआ कि जो कुछ कालक-संबंधी वास्तविकता है वह आज-कल एक ही व्यक्ति के साथ जोड़ दी जाती है। इस चिरकालीन विस्मृति को ठीक करने के लिये पहले हमें 'कालक'-नामधारी भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की संख्या और उनके भेद को समझ लेना चाहिए। यह अत्यावश्यक है।

व्यक्ति-संख्या

सबसे पहले हमें यह देखना चाहिए कि 'कालकाचार्य' नाम से प्रसिद्ध व्यक्तियों की कुल संख्या कितनी है। इस विषय के विवेचन में हमको 'रत्नसंचय-प्रकरण' की—पचपन, छप्पन, सत्तावन और अट्ठावन नंबर की— गाथाओं से सहायता मिलती है। उनका आशय इस प्रकार है—"वीर-निर्वाण के ३३५ वर्ष बाद 'श्यामार्य' नामक पहले कालक सूरि हुए। ४५३ में कालक गुरु ने 'सरस्वती साध्वी' को छुड़ाया और वीर से ४७० वर्ष के बाद विक्रम हुआ। निर्वाण के ५०० वर्ष बाद सिद्धसेन दिवाकर आचार्य और ७२० में शक्रसंस्तुत कालकाचार्य हुए। वर्द्धमान से ९९३ वर्ष में पर्युषणा चतुर्थी कालकाचार्य ने स्थापित की।"

इस प्रकार हमें 'कालक' नाम के चार आचार्यों का पता मिलता है—(१) श्यामार्य नाम से प्रसिद्ध पहले कालकाचार्य, जिनका अस्तित्व-काल वीर-निर्वाण संवत् ३३५ के लगभग है। (२) गर्दभिल्ल

---

[१] निशीथचूर्णि, कल्पचूर्णि, पंचकल्पचूर्णि आदि प्राचीन टीकाग्रंथों में और कथावली, प्रभावक-चरित्र आदि प्रबंधग्रंथों में कालकाचार्य-संबंधी खंड अथवा संपूर्ण वृत्तांत मिलता है।

[२] 'कालकाचार्य-कथा' नामक स्वतंत्र रचनाएँ भी अनेक हैं। एक प्राकृत कालक-कथा, जो बहुधा कल्पसूत्र की पुस्तकों के अंत में लिखी मिलती है, इन कथाओं में कुछ अधिक प्राचीन मालूम होती है। इसकी एक प्रति, जो संवत् १४९७ की लिखी हुई है, इस समय हमारे पास है। एक और प्राकृत कालक-कथा हमने पाटन के एक पुस्तक-भांडार में देखी है, जो संवत् १३८९ में निर्मित हुई थी—वह धर्मप्रभ सूरि की कृति है। इस कथा का नोट इस समय हमारे पास है। इसके अतिरिक्त मूल कल्पसूत्र के पीछे छपी हुई एक संस्कृत कालक-कथा भी इस समय हमारे पास है।

राजा से सरस्वती साध्वी को छुड़ानेवाले दूसरे कालक, जिनका अस्तित्व-काल ४५३ के आसपास है। (३) इंद्र से प्रशंसित निगोद-व्याख्याता तीसरे कालकाचार्य, जिनका अस्तित्व-काल निर्वाण-संवत् ७२० के आसपास है। (४) पर्युषणा-पर्व को पंचमी से हटाकर चतुर्थी में करनेवाले चौथे कालक, जिनका समय वीर-संवत् ९९३ है।

अब हम यह देखेंगे कि 'रत्नसंचय-प्रकरण' की उक्त गाथाओं में जो भिन्न-भिन्न कालकाचार्यों का निर्देश किया गया है, वह वस्तुतः सत्य है या संदेहास्पद। जहाँ तक हमने देखा है, श्यामार्य नामक प्रथम कालकाचार्य का सत्ता-काल सर्वत्र निर्वाण-संवत् ३३५ ही मिलता है। युगप्रधान-स्थविरावली की गणना के अनुसार इन कालक का निर्वाण-संवत् २८० में जन्म, ३०० में दीक्षा, ३३५ में युगप्रधानपद और ३७६ में स्वर्गवास हुआ था। इनका संपूर्ण आयुष्य छियानबे वर्ष का था। ये 'प्रज्ञापनाकार' और *'निगोद-व्याख्याता'* नामों से भी प्रसिद्ध थे।

इन सब बातों का विचार करने के बाद यह कहना कुछ भी अनुचित न होगा कि उक्त 'प्रकरण' की गाथा में जो प्रथम कालकाचार्य का निरूपण किया है, वास्तव में वही सत्य है।

दूसरे कालकाचार्य के संबंध में तो हमें कुछ कहना ही नहीं है; क्योंकि सरस्वती के निमित्त गर्दभिल्ल को पदभ्रष्ट करानेवाले कालकाचार्य का समय सर्वत्र ४५३ ही लिखा मिलता है। इस लिये इन कालक के संबंध में कोई शंका नहीं है।

तीसरे कालकाचार्य के संबंध में हम निश्चित अभिप्राय नहीं व्यक्त कर सकते। कारण, निर्वाण-संवत् ७२० में कालकाचार्य का अस्तित्व-साधक—इस गाथा के अतिरिक्त दूसरा—कोई प्रमाण नहीं है। दूसरा कारण यह भी है कि गाथा में इन कालकाचार्य को 'शक्रसंस्तुत' लिखा है, जो सर्वथा असंगत है; क्योंकि शक्रसंस्तुत कालकाचार्य तो वही थे, जो 'निगोद-व्याख्याता' के नाम से प्रसिद्ध थे। युगप्रधान-स्थविरावली के लेखानुसार यह विशेषण प्रथम कालकाचार्य को ही प्राप्त था।

चौथे कालकाचार्य को चतुर्थी-पर्युषण-कर्त्ता लिखा है, जो ठीक नहीं। यद्यपि 'वालभी युगप्रधान-पदावली' के लेखानुसार इस समय में भी एक कालकाचार्य हुए अवश्य हैं—जो निर्वाण-संवत् ९८१ से ९९३ तक युगप्रधान थे; पर इनसे चतुर्थी को पर्युषणा होने का उल्लेख सर्वथा असंगत है। चतुर्थी पर्युषणा-कारक ये चतुर्थ कालक नहीं, किंतु सरस्वती-भ्राता द्वितीय कालकाचार्य थे। इस विषय का सोपपत्तिक प्रतिपादन आगे किया जायगा।

उपर्युक्त गाथाओं के अतिरिक्त कालकाचार्य-विषयक एक और गाथा मेरुतुंग की 'विचारश्रेणि' के परिशिष्ट में लिखी मिलती है, जिसमें निर्वाण-संवत् ३२० में कालकाचार्य का होना लिखा है। उस गाथा का अर्थ इस प्रकार है—"वीर जिनेंद्र के ३२० वर्ष बाद कालकाचार्य हुए, जिन्होंने इंद्र को प्रतिबोध दिया"।

इस गाथा से कालकाचार्य के अस्तित्व की संभावना की जा सकती है; पर ऐसा करने की कोई आवश्यकता नहीं है। शक्रप्रतिबोध के निर्देश से ही यह बात स्पष्ट है कि उक्त गाथोक्त कालकाचार्य वे ही हैं, जिनका वर्णन 'युगप्रधान' के रूप में, 'निगोद-व्याख्याता' विशेषण के साथ, युगप्रधान-स्थविरावलियों में किया गया है।

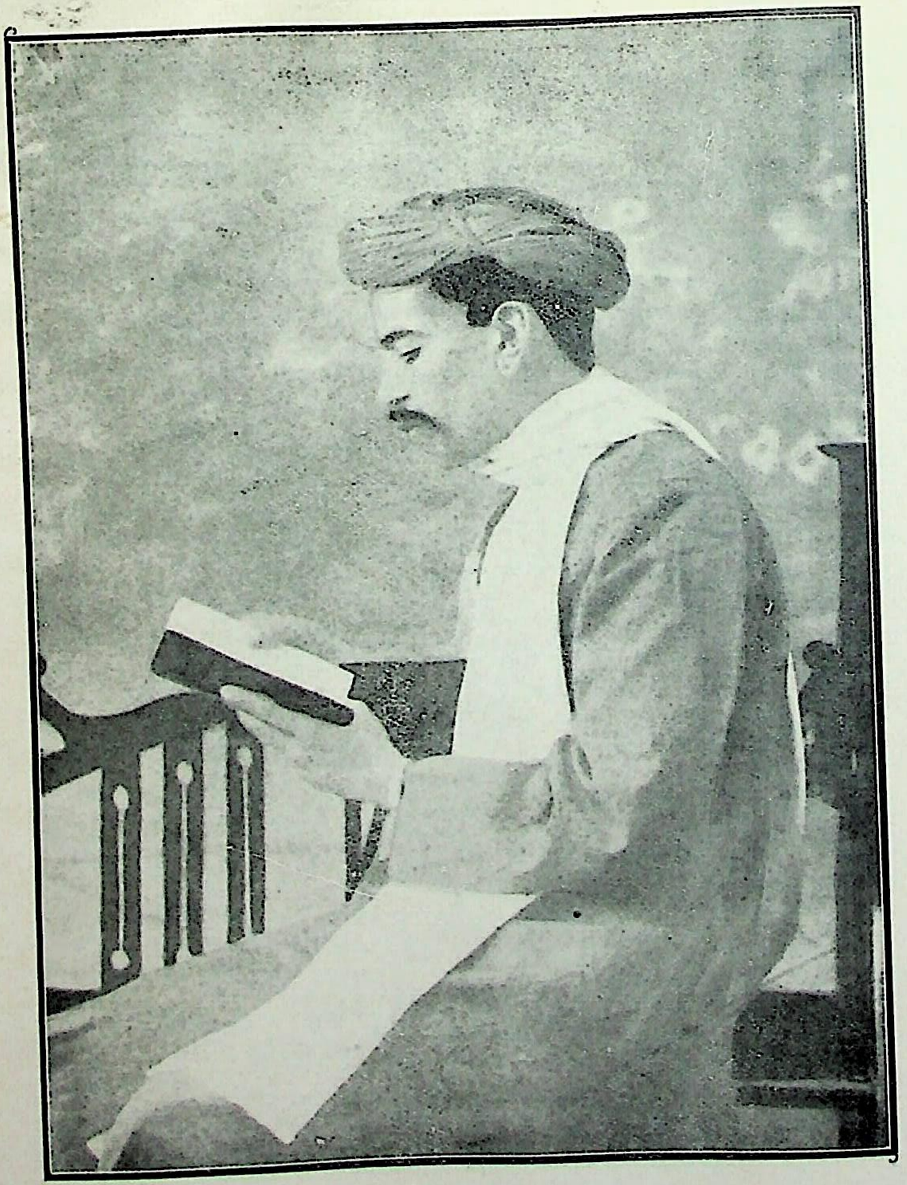

श्री मैथिलीशरण गु

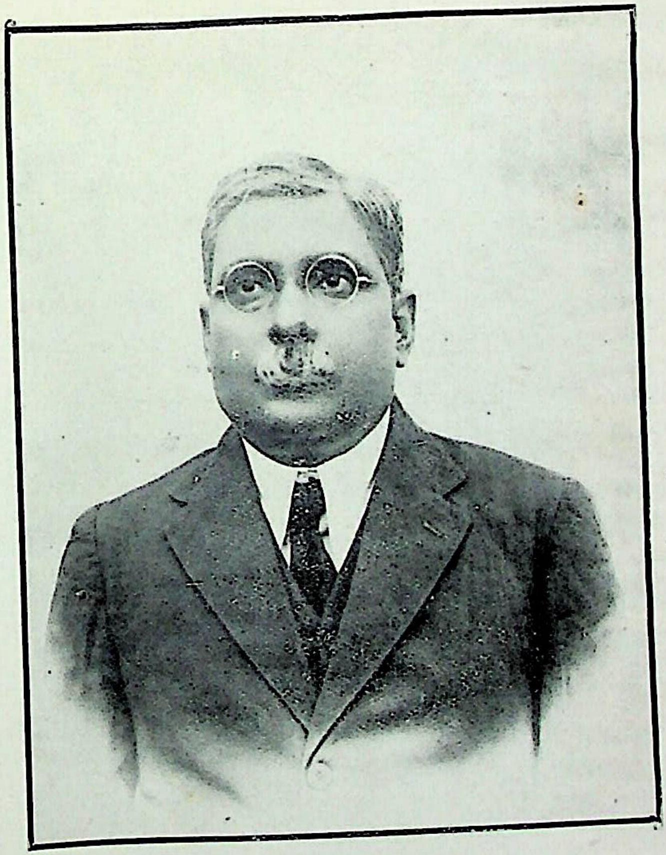

पंडित रामचंद्र शुक्ल

पंडित कामताप्रसाद गुरु

पंडित रामचरित उपाध्याय

* * *

रही बात ३२० की, सो इस समय में भी प्रथम कालकाचार्य विद्यमान ही थे। यद्यपि तब तक वे युगप्रधान नहीं बने थे, तथापि उस समय वे बीस वर्ष के दीक्षित हो चुके थे। क्या आश्चर्य है कि इसी बीच में कालकाचार्य ने इंद्र के आगे निगोद का व्याख्यान किया हो और इस घटना का संस्मरण इस ३२० वाली गाथा में रह गया हो ! कुछ भी हो, पर इस गाथावाले कालकाचार्य के प्रथम कालकाचार्य से भिन्न मान लेने का कोई कारण नहीं दीखता।

कालकाचार्य-संबंधी घटनावली

हमें कालकाचार्य-कथा का अनुवाद तो नहीं करना है; पर उसमें दी हुई मुख्य घटनाओं का उल्लेख तो अवश्य ही करना पड़ेगा। कालकाचार्य-कथा-संबंधी प्रबंधों में निम्नलिखित सात घटनाओं का वर्णन मिलता है—(१) गर्दभिल्ल राजा को पदभ्रष्ट करके सरस्वती साध्वी को छुड़ाना। (२) चतुर्थी के दिन पर्युषणा-पर्व करना। (३) अविनीत शिष्यों को छोड़कर सुवर्णभूमि में प्रशिष्य के पास जाना। (४) इंद्र के सामने निगोद के जीवों का व्याख्यान करना। (५) आजीवकों के पास निमित्त-पठन और कालक-संहिता की रचना। (६) प्रथमानुयोग और गंडिकानुयोग का निर्माण। (७) दत्त राजा के सामने यज्ञफल का निरूपण।

उपर्युक्त सात घटनाओं में से पहली चार घटनाओं का वर्णन इसी क्रम से अनेक नई-पुरानी कालक-कथाओं में मिलता है; पर किसी-किसी प्राकृत कालक-कथा में चौथी घटना का उल्लेख नहीं भी मिलता[१]।

पहली घटना का विस्तृत वर्णन कालक-कथाओं के अतिरिक्त जिनदासगणि महत्तर की 'निशीथचूर्णि' में व्यवहारचूर्णि के अंदर और भद्रेश्वर की 'कथावली' में उपलब्ध होता है। दूसरी घटना का भी सविस्तर वृत्तांत उपर्युक्त 'निशीथचूर्णि' तथा 'कथावली' में दिया हुआ है। तीसरी घटना का वर्णन आवश्यकचूर्णि, काव्यचूर्णि और कथावली आदि में मिलता है। चौथी घटना का वर्णन भी कथावली आदि में मिलता है; पर 'आवश्यकचूर्णि' और उसकी टीकाओं में लिखा है कि यह घटना आर्य-रक्षित सूरि-संबंधी है[२]। पाँचवीं घटना का वर्णन 'पंचकल्पचूर्णि' में दिया हुआ है। छठी घटना का उल्लेख पंचकल्पचूर्णि और प्रकीर्णक-गाथा दोनों में है। सातवीं घटना का वर्णन 'आवश्यक-चूर्णि' में है[३]।

अब हम इन घटनाओं का संक्षिप्त परिचय कराएँगे और यह भी देखेंगे कि कौन घटना कहाँ पर हुई। कालक-कथा के लेखकों ने सबसे पहले और सबसे अधिक वर्णन गर्दभिल्लोच्छेद-संबंधी घटना का दिया है, इसलिये हम भी पहले इसी का परिचय कराते हैं।

---

[१] धर्मप्रभ सूरि-कृत कालक-कथा में चौथी घटना 'निगोद-व्याख्यान' का उल्लेख नहीं है।

[२] 'आवश्यकनिर्युक्ति' की गाथा ७७४ (पृष्ठ ३६७) की चूर्णि में इंद्र के सामने आर्यरक्षित जी के निगोद-व्याख्यान का वर्णन मिलता है।

[३] 'आवश्यकचूर्णि' के अतिरिक्त 'आवश्यकनिर्युक्ति' में भी इस घटना का उल्लेख दो स्थानों में है।

'अतिविरोधी' को झगड़ा करके शिक्षा देनी चाहिए, जैसे कालकाचार्य ने गर्दभिल्ल को शिक्षा दी। गर्दभिल्ल कौन ? अथवा कालकाचार्य कौन थे ? और किस कार्य के निमित्त उन्होंने गर्दभिल्ल को शिक्षा दी ? इन जिज्ञासाओं का समाधान आगे किया गया है।

उज्जयिनी नगरी में 'गर्दभिल्ल' नामक राजा[1] था। ज्योतिष-निमित्त के प्रखर ज्ञाता 'कालक' नाम के आचार्य वहाँ आए। कालक की युवती और रूपवती बहन को गर्दभिल्ल ने अपने अन्तःपुर में रख लिया। कालक तथा संघ ने राजा को बहुत समझाया, पर वह न माना। पहली घटना तब रोष में आकर कालकाचार्य ने यह भीषण प्रतिज्ञा की—"यदि गर्दभिल्ल का राज्योन्मूलन न करूँ तो प्रवचन-संयमोपघातक और उनके उपेक्षकों की गति को प्राप्त होऊँ।" इसके बाद कालक त्रिक, चतुष्क, चत्वर, महाजन आदि स्थानों में इस प्रकार उन्मत्त की तरह प्रलाप करते हुए फिरने लगे—"यदि गर्दभिल्ल राजा है तो इससे क्या ? यदि वह रम्य अन्तःपुर है तो इससे क्या ? यदि देश मनोहर है तो इससे क्या ? यदि नगरी अच्छी बसी हुई है तो इससे क्या ? मैं भिक्षा माँगता फिरता हूँ तो इससे क्या ? और अगर शून्यदेवल में बसता हूँ तो इससे क्या ?" इस तरह बकते हुए कालक ने उज्जयिनी का त्याग किया। वे पारसकूल जा पहुँचे। वहाँ का राजा 'साहि'[2] कहलाता था। कालक उसी के आश्रय में रहे। निमित्त आदि की बातों से वे उसका मनोरंजन करने लगे।

एक बार उस साहि के अधिराज साहाणुसाहि[3] ने किसी कारण से रुष्ट होकर उसके पास एक कटारी भेजी और लिखा कि 'इससे अपना सिर काट डालो।' अधिराज का आदेश पढ़ते ही साहि का चेहरा फीका पड़ गया। यह देख कालक बोले—'आत्मघात मत करो।' साहि ने कहा—'अधिराज के रुष्ट होने पर हमारा जीवित रहना असंभव है।' कालक ने कहा—'चलो, हिंदुक-देश[4] को चले चलें।' राजा ने आचार्य का वचन स्वीकार किया। अन्य पंचानबे साहियों के पास भी साहाणुसाहि ने इसी प्रकार कटारियाँ भेजी थीं। इसलिये उन सबके पास पहले ही दूत भेजकर साहि ने 'आत्महत्या न करके हिंदुस्तान में चले जाने का' संकेत कर दिया। सबको यह सलाह पसंद आई। सबके सब अपने-अपने स्थान से भागकर हिंदुस्तान की तरफ रवाना हुए। इस प्रकार छियानबे साहि समुद्र-मार्ग से सौराष्ट्र (काठियावाड़) में आए।

---

[1] 'कथावली' में इस राजा का नाम 'दप्पण' बताया है। लिखा है कि उसको किसी योगी से गर्दभी विद्या प्राप्त हुई थी जिससे वह 'गर्दभिल्ल' कहलाता था।

[2]—[3]. 'निशीथचूर्णि' और 'कथावली' में 'साहि' का अर्थ 'राजा' और 'साहाणुसाहि' का 'महाराजा' लिखा है। संस्कृत में 'राजा' और 'महाराजा' का जो अर्थ है, वही अर्थ क्रमशः 'साहि' और 'साहाणुसाहि' का है। इन्हीं 'साहि' और 'साहाणुसाहि' के स्थानापन्न शब्द 'शाह' और 'शाहंशाह' हैं।

[4] निशीथचूर्णि में, जो विक्रम की छठी या सातवीं सदी के आसपास की रचना है, भारतवर्ष को "हिंदुगदेस" लिखा है। इस देश का 'हिंदुस्थान' नाम कितना पुराना है, यह इस उल्लेख से ज्ञात होगा।

वर्षा-काल होने के कारण वहाँ से आगे बढ़ना अशक्य था। इसलिये उन लोगों ने समग्र सौराष्ट्र (काठियावाड़) को छियानबे भागों में बाँटकर अपने अधिकार में कर लिया। इनमें जो कालक का आश्रय-दाता साहि था वही सबका अधिपति हुआ। उसी समय से शक-वंश उत्पन्न हुआ।[१]

वर्षाकाल व्यतीत होने पर कालकाचार्य ने साहि से कहा—'चलो, उज्जयिनी पर घेरा डाल दें।'[२] तब, लाट के राजा को—जो गर्दभिल्ल द्वारा अपमानित किए गए थे—और अन्य राजाओं को भी साथ में ले जाकर[३] उज्जयिनी पर घेरा डाला गया। उस गर्दभिल्ल के पास गर्दभी-रूपधारिणी एक विद्या थी, जो अट्टालक में शत्रु-सैन्य के संमुख स्थापित की गई थी। गर्दभिल्ल अष्टम भक्तोपवासी होकर उसको प्रत्यक्ष कर रहा था। प्रत्यक्ष होने के बाद वह बड़ा भयंकर शब्द करती, जिसे सुनकर शत्रु-सैन्य का कोई भी मनुष्य अथवा पशु भय-विह्वल होकर रुधिर वमन करता हुआ अचेत हो पृथ्वी पर गिर पड़ता।

आर्य कालक ने देखा कि गर्दभिल्ल तीन उपवास का तप करके गर्दभी विद्या का अवतरण कर रहा है। तब उन्होंने एक सौ आठ शब्दवेधी योधाओं को बुलाकर यह बात कही और सलाह दी कि

[१] शक लोगों ने यह पहले ही पहल जो सौराष्ट्र को अधिकृत किया था वह बहुत समय तक टिका रहा। उज्जैन का अधिकार-सूत्र तो चार वर्ष के बाद उनके हाथ से निकल गया था; पर ऐसा प्रतीत होता है कि सौराष्ट्र तो कम से कम चार सौ वर्षों तक निरंतर उन्हीं के अधिकार में रहा। पहली बार उज्जैन का स्वत्व हाथ से निकल जाने के बाद तेरहवें वर्ष से उन्होंने फिर मालवा पर चढ़ाई की; पर मालव प्रजा ने बड़ी बहादुरी के साथ उनका मुकाबला करके विजय पाई, जिसकी यादगार में मालवगण ने 'मालव-संवत्' नाम से एक संवत्सर भी प्रचलित किया। शक लोग भी पश्चिम भारत में अपनी सत्ता जमा रहे थे। करीब डेढ़ सौ वर्ष तक भारतवर्ष की शिक्षा-दीक्षा लेकर शक-यूथ फिर मालव पर चढ़ा और बड़ी शानदार जीत के साथ उसने उज्जैन पर अधिकार जमाया। उसने भी मालवगण का अनुकरण कर अपनी विजय के उपलक्ष्य में एक संवत्सर चलाया, जो आज तक 'शक-संवत्' के नाम से प्रचलित है। इस प्रकार पहली बार तो शकों ने केवल चार ही वर्ष उज्जैन में राज्य किया; पर दूसरी बार उसको जीतने के बाद करीब तीन सौ वर्षों तक अपना अधिकार जमाए रक्खा। अंत में ईसवी सन् ४०० के आसपास द्वितीय चंद्रगुप्त विक्रमादित्य द्वारा वे मालवा से हटाए गए। फिर उसके बाद इस जाति का उत्थान न हुआ।

[२] कालक-कथाओं में इस प्रसंग पर लिखा है कि जब कालकाचार्य ने साहि को उज्जैन की तरफ प्रयाण करने को कहा तब वह बोला कि हमारे पास द्रव्य नहीं है और उसके बिना अन्य पंचानबे साहि हमारा साथ देने को तैयार न होंगे। इस पर कालक ने साहि को उत्साह देते हुए कहा—'उद्योगी पुरुष को सब कुछ मिल जाता है।' इसके बाद कालक ने योगचूर्ण के प्रयोग से सोने की ईंटें बनाकर साहि को द्रव्य की सहायता दी, जिससे सब साहि उज्जैन की तरफ प्रयाण करने को राजी हो गए। परंतु निशीथचूर्णि में इस बात का कुछ भी उल्लेख नहीं है। मालूम होता है, पिछले लेखकों ने यह विशेष वृत्तान्त इसमें मिला दिया है।

[३] 'निशीथचूर्णि' तथा 'कथावली' में लाट के राजाओं को साथ लेकर उज्जैन की तरफ जाने का उल्लेख है। 'प्रभावक-चरित्र' में लाट और पांचाल के राजाओं को जीतकर मालवा में जाने का वर्णन है। संस्कृत कालक-कथा में लिखा है कि लाट के स्वामी बलमित्र-भानुमित्र को साथ लेकर साहि राजा अवंति की सीमा में पहुँचे। यथा—

> "ढक्कानिनादेन कृतप्रयाणा नृपाः प्रचेलुर्गुरुलाटदेशम्।
> तद्देशनाथौ बलमित्र-भानुमित्रौ गृहीत्वाऽगुरवन्तिसीमाम्॥"
>
> —मुद्रित कालक-कथा, पद्य ३३, पृष्ठ ३

जिस समय गर्दभी रेंकने के लिये मुँह खोले उस समय उसका मुख बाणों से भर देना। उन धनुर्द्धरों ने वैसा ही किया। तब वह वानव्यंतरी देवी गर्दभिल्ल के ऊपर मल-मूत्र त्यागकर उसे लातों से मारकर चली गई।

कालक ने निर्बल गर्दभिल्ल का उन्मूलन करके उज्जयिनी पर अधिकार किया, और अपनी बहन को फिर संयम-पालन में प्रवृत्त किया। इस प्रकार झगड़ा करके अतिविरोधी को शिक्षा दी जाती है।[१]

अंत में उज्जयिनी का राज्यासन उस साहि के सुपुर्द किया गया जो कालकाचार्य का आश्रयदाता था।'[२]

दूसरी घटना

'अपवाद-मार्ग से भी एक मास और बीस अहोरात्र का उल्लंघन नहीं हो सकता। बीस रात अधिक एक मास पूर्ण होने पर क्षेत्र न मिले तो वृक्ष के नीचे भी पर्युषणा कर लेनी चाहिए। पूर्णिमा, पंचमी, दशमी आदि पर्व-दिनों में ही उसे करना चाहिए, न कि अपर्व में।' शिष्य पूछता है कि अब चतुर्थी—अपर्व—में पर्युषणा क्यों की जाती है। आचार्य कहते हैं कि चतुर्थी कारणिक है—वह कालकाचार्य से प्रवृत्त हुई है। फिर शिष्य पूछता है कि यह कैसे। आचार्य कारण बताते हैं कि कालकाचार्य विहार करते हुए उज्जयिनी में गए और वहाँ वर्षा-वास की स्थिरता[३] की। उस नगरी में 'बलमित्र' नाम का राजा था। उसका छोटा भाई 'भानुमित्र' युवराज था। उनकी बहन 'भानुश्री' का पुत्र 'बलभानु' बड़ा विनीत और साधु-भक्त भद्र मनुष्य था। कालकाचार्य के

---

[१] यह वर्णन हमने 'निशीथचूर्णि' के आधार पर लिखा है।

[२] घटना का यह परिशिष्ट भाग व्यवहारचूर्णि, प्रभावकचरित्र और प्राकृत तथा संस्कृत की कालक-कथाओं से लिया गया है। 'निशीथचूर्णि' में इस बात का कुछ उल्लेख ही नहीं है कि गर्दभिल्ल को हटाकर उज्जैन का राज्याधिकार किसको दिया गया था, किंतु भद्रेश्वर की 'कथावली' में यह लिखा है कि गर्दभिल्ल को पदभ्रष्ट कर साहि-प्रमुख राजाओं ने बलमित्र और भानुमित्र को उज्जयिनी की राजगद्दी पर बैठाया।

[३] 'कालक-कथा' में लिखा है कि कालकाचार्य ने गोदावरी-तटस्थ प्रतिष्ठानपुर जाकर चातुर्मास्य किया; पर 'निशीथचूर्णि' में स्पष्ट लिख दिया है कि वर्षा-चातुर्मास्य में वे उज्जैन में ठहरे हुए थे, कारण विशेष से बलमित्र-भानुमित्र द्वारा निर्वासित होकर प्रतिष्ठान गए। वहाँ जाकर पंचमी को पर्युषणा करने की घोषणा की। जब उन्होंने उज्जैन से प्रस्थान किया तब प्रतिष्ठान के श्रमण-संघ को संदेश भी भेज दिया कि मेरे आने पर पर्युषणा करना। यदि उन्होंने वहीं चातुर्मास्य किया होता तो इस संदेश का अवसर ही कहाँ आता? मालूम होता है, चातुर्मास्य के प्रारंभ में ही वहाँ कोई ऐसी घटना हो गई कि उनको उज्जयिनी का ही नहीं, बल्कि सारे अवंति देश का त्याग करके चले जाने की आज्ञा मिली। यही कारण है कि वर्षा-काल में ही उज्जैन से करीब तीन सौ मील दूर, गोदावरी-नदी के तट पर बसे हुए, प्रतिष्ठान तक उनको जाना पड़ा। उन्होंने पंचमी के पूर्व चतुर्थी को पर्युषणा की, इससे यह भी ज्ञात होता है कि वे भाद्रपद-शुक्ला दूज या तीज को प्रतिष्ठान पहुँचे होंगे। यदि इसके पहले ही वहाँ पहुँच गए होते—चतुर्थी के बदले भाद्रपद की अमावस्या को अथवा उससे भी पाँच दिन पहले पहुँचे होते, तो भाद्रपद-कृष्णा दशमी को ही पर्युषणा कर लेते; क्योंकि उस समय भाद्रपद-शुक्ला पंचमी तक के किसी भी पाँच-दस आदि पर्व-दिनों में पर्युषणा की जा सकती थी। इस कारण यदि कालक वहाँ होते भी, अथवा जल्दी पहुँच भी गए होते, तो वे पर्व को छोड़कर अपर्व में पर्युषणा न करते। इससे यह बात लगभग निश्चित ही है कि वे चौमासे में ही उज्जैन से विहार कर प्रतिष्ठान पहुँचे थे और पंचमी के पहले कोई पर्व-दिन न रहने से चतुर्थी को पर्युषणा की थी।

उपदेश से प्रतिबोध पाकर बलभानु गृहवास को छोड़ साधु हो गया। इससे बलमित्र और भानुमित्र आचार्य कालक पर नाराज हुए और पर्युषणा करने के पहले ही उनको देश से निर्वासित कर दिया।

कोई-कोई आचार्य कहते हैं कि बलमित्र और भानुमित्र कालकाचार्य के ही भानजे थे। मातुल समझकर वे अभ्युत्थानादि से उनका बड़ा आदर करते थे। यह बात राजपुरोहित को अरुचिकर प्रतीत होने लगी। वह कहता था कि यह वेदबाह्य शुद्ध पाखंड है। राजा के सामने बार-बार इस प्रकार कहते हुए पुरोहित को कालकाचार्य ने शास्त्रार्थ में निरुत्तर कर दिया। तब आचार्य का द्वेषी पुरोहित अनुकूल बातों से राजा को बहकाने लगा। उसने राजा से कहा—"ये बहुत बड़े महात्मा हैं। ऐसे महानुभाव जिस मार्ग से चलें उस मार्ग से राजा के चलने अथवा इनके पदन्यासों का उल्लंघन करने पर बड़ा अनिष्ट होता है। इसलिये इनका विसर्जन करना चाहिए।" तब राजा ने आचार्य कालक को वहाँ से बिदा कर दिया।

अन्य आचार्य कहते हैं कि राजा ने बड़ी युक्ति से उनको बिदा किया। युक्ति यह थी कि सारे नगर में आहार दूषित करा दिया जिससे आचार्य स्वयं वहाँ से निकल गए।

उपर्युक्त कारणों में से किसी भी एक कारण से निकलकर कालकाचार्य ने प्रतिष्ठान नगर की ओर प्रयाण किया[१]। उन्होंने प्रतिष्ठान के श्रमण-संघ को संदेश भेजा था कि हमारे वहाँ आने के बाद पर्युषणा करना। वहाँ पर ‘सातवाहन’[२] राजा श्रावक था। आचार्य कालक का आगमन सुनकर राजा और श्रमण-संघ उनकी अगवानी करने के लिये गए। बड़े आडंबर के साथ आचार्य का नगर-प्रवेश हुआ। वहाँ जाते ही आचार्य ने कहा कि भाद्रपद-शुक्ला पंचमी को पर्युषणा होगी। श्रमण-संघ ने स्वीकार किया। तब राजा ने कहा—"उस दिन मुझे लोकानुवृत्ति से इंद्र-महोत्सव में संमिलित होना पड़ेगा, इसलिये साधुओं और चैत्यों की भक्ति न कर सकूँगा; अतएव षष्ठी को पर्युषणा कीजिए।" आचार्य ने कहा—"पंचमी के दिन का उल्लंघन नहीं किया जा सकता।" राजा बोला—"तो फिर आगामी चतुर्थी को पर्युषणा कीजिए।" आचार्य ने पुनः कहा—"ऐसा हो सकता है।" इस प्रकार चतुर्थी के दिन पर्युषणा की गई। युगप्रधानों ने इसी कारण चतुर्थी की प्रवृत्ति की और सर्वश्रमण-संघ[३] ने उसको प्रमाण माना।[४]

---

१. गोदावरी नदी के किनारे रेखांश ७६ और अक्षांश २२ पर स्थित वर्त्तमान ‘पैठण’ ही पुराना ‘प्रतिष्ठानपुर’ है। मानचित्र के आधार से मालूम होता है कि उज्जैन से यह स्थान तीन सौ मील के लगभग होगा। कालकाचार्य यदि चातुर्मास्य के प्रारंभ में ही उज्जैन से चले, तो प्रतिदिन छः-सात मील चलकर वे भाद्रपद-शुक्ल के प्रथम दिन तक प्रतिष्ठान पहुँच गए होंगे।

२. प्राचीन चूर्णियों और संस्कृत कालक-कथाओं में प्रतिष्ठान के राजा का नाम ‘सातवाहन’ लिखा है। प्राकृत कालक-कथाओं और छेदसूत्रों के भाष्यों में इसी राजा का नाम ‘सालवाहण’ अथवा ‘सालाहण’ मिलता है।

३—४. "कालकाचार्य ने जो चतुर्थी-पर्युषणा की थी, उसी को उस समय सर्वश्रमणसंघ ने प्रमाण माना था। इतना ही नहीं, बल्कि उसके बाद भी प्रतिवर्ष भाद्रपद-शुक्ला चतुर्थी को ही पर्युषणा-पर्व मनाया जाता था; क्योंकि पर्युषणा की तरह इंद्र-महोत्सव भी प्रतिवर्ष भाद्रपद-शुक्ला पंचमी को ही पड़ता था। जैन राजा सातवाहन को

उज्जयिनी नगरी में आर्य कालक नाम के गीतार्थ आचार्य विचरते थे। उनके शिष्य का शिष्य 'सागर' नाम का गीतार्थ साधु सुवर्णभूमि में विचरता था। उस समय आर्य कालक ने सोचा—"ये मेरे

तीसरी घटना

शिष्य तो अनुयोग (सूत्र का अर्थ) सुनते नहीं हैं, फिर इनके बीच में रहने से क्या लाभ ? मैं वहाँ चलूँ जहाँ अनुयोग-प्रवृत्ति हो। ऐसा करने से ये भी लज्जित होकर सुनेंगे।" यह विचार कर उन्होंने शय्यातर (मकान के मालिक) से कहा—"मैं अन्यत्र जाता हूँ। तुम शिष्यों से यह बात न कहना। यदि वे अत्यंत आग्रह करें तो उनको कठोर वचनों में उलहना देकर कहना कि सुवर्णभूमि में सागर के पास गए हैं।" यह कहकर रात्रि के समय शिष्यों को सोते हुए छोड़कर वे सुवर्णभूमि में चले गए। वहाँ जाकर अपरिचित वृद्ध के रूप में सागर के 'गच्छ' में मिल गए। सागर ने साधारण वृद्ध साधु समझकर उनका अभ्युत्थानादि आदर न किया। अर्थपौरुषी के समय सागर ने उनसे पूछा—"वृद्ध महाशय! ये अर्थ आपको ज्ञात हैं?" वृद्ध ने कहा—"हाँ, जानता हूँ।" सागर ने कहा—"अच्छा, सुनो, मैं कहता हूँ।" यह कहकर सागर ने अपने गच्छ के साधुओं को अनुयोग दिया।[1]

उधर कालक के वे शिष्य प्रातःकाल आचार्य को न देख संभ्रांत होकर उनको खोजने लगे। जब कहीं पता न लगा तब उन्होंने शय्यातर (गृहस्वामी) से पूछा। शय्यातर ने उत्तर दिया—"आचार्य यदि तुम लोगों से नहीं कहते कि वे कहाँ जाते हैं, तो मुझसे क्योंकर कहेंगे?" पर जब शिष्यों ने अधीर होकर अत्याग्रह से पूछा तब शय्यातर ने कहा—"तुम लोगों से उकताकर आचार्य सुवर्णभूमि की तरफ गए हैं।"

लोगों ने सागर के पास यह समाचार पहुँचा दिया कि आर्य कालक नाम के बहुश्रुत आचार्य बहुपरिवार के साथ इधर आ रहे हैं, अभी वे रास्ते में हैं। सागर ने अपने शिष्यों से कहा—"मेरे दादा-गुरु आते हैं। उनसे मैं पदार्थ पूछूँगा।" इतने में वह शिष्य-समुदाय आ पहुँचा। आगे आनेवालों

लोकानुवृत्ति से उसमें शामिल होना पड़ता था। इस कारण दक्षिण-भारत में प्रतिवर्ष चतुर्थी को ही पर्युषणा होने लगी। दूसरे स्थानों में भी इस प्रवृत्ति का अनुकरण हुआ। कालांतर में यह कारणिक चतुर्थी पर्युषणा सर्वमान्य और सार्वदेशिक हो गई। करीब ग्यारह सौ वर्ष तक यह उसी प्रकार सर्वमान्य बनी रही। विक्रम-संवत् ११५९ में पहले-पहल 'चंद्रप्रभ' नाम के आचार्य ने इस प्रवृत्ति का विरोध किया। उन्होंने पंचमी को पर्युषणा और पूर्णिमा को पाक्षिक प्रतिक्रमण करना फिर शुरू किया। इस तरह उन्होंने अपना पूर्णिमा-पक्ष स्थापित किया। बाद में क्रमशः साधु पौर्णमिक, आंचलिक, आगमिक, लोंकाशाह और पार्श्वचंद्र के अनुयायियों ने भी चंद्रप्रभ का अनुसरण किया। इतना होने पर भी खरतरगच्छ, तपागच्छ आदि गच्छों के अनुयायी श्वेतांबर-जैन-संप्रदाय का अधिक समुदाय अब भी चतुर्थी के ही दिन पर्युषणा-पर्व मनाता है।"—"इस घटना का वर्णन भी हमने 'निशीथचूर्णि' के ही आधार पर किया है।"

[1] 'कालक-कथा' में इस प्रसंग पर लिखा है कि सागरदत्त ने कालक को कुछ प्रश्न करने के लिये कहा। इस पर उन्होंने चार्वाक्-पक्ष लेकर पूर्वपक्ष किया जिसे सुनकर सागर चुप हो गया। इसी प्रसंग पर 'प्रभावक-चरित्र' में लिखा है कि कालकाचार्य ने सागर से अष्टपुष्पी के संबंध में प्रश्न किया था, पर सागर उत्तर न दे सका। परंतु 'कल्पचूर्णि' में इन बातों की कुछ भी सूचना नहीं है।

ने पूछा—"यहाँ आचार्य आए हैं ?" सागर ने कहा—"नहीं, आचार्य तो यहाँ नहीं आए। हाँ, एक अन्य वृद्ध साधु आए हैं। आगंतुक साधुओं (शिष्यों) ने पूछा—"वे कहाँ हैं ?" वास्तव्य साधुओं ने उन्हें वृद्ध का दर्शन कराया। शिष्य उनका पद-वंदन करने लगे। तब सागर ने जाना कि यही आचार्य हैं। वह बहुत लज्जित होकर बोला—"क्षमा श्रमण ! मैंने आपके सामने बहुत प्रलाप किया और आपसे वंदन कराया।" यह कहकर उसने मिथ्या दुष्कृत किया।

इसके बाद सागर ने आर्य कालक से पूछा—"भगवन् ! मैं कैसा अर्थ करता हूँ ?" आचार्य ने कहा—"अच्छा। पर इस विषय का अभिमान न करना।" धूलिपुंज का दृष्टांत देते हुए आचार्य बोले—"जैसे धूलि एक स्थान से दूसरे स्थान में हाथ से उठाकर रखने लगने पर कम हो जाती है वैसे ही अर्थ भी धीरे-धीरे कम होता जाता है। तीर्थंकरों से गणधरों के पास और गणधरों से उनके शिष्य-प्रशिष्यादि परंपरा-द्वारा हमारे आचार्य उपाध्याय तक सूत्रार्थ आया है। क्या पता है, किससे कितने अर्थ-पर्याय का लोप हुआ होगा ! इसलिये इस बात का अभिमान करना न चाहिए।"

शिष्यों ने आर्य कालक से क्षमा-प्रार्थना की। आचार्य भी अपने शिष्य-प्रशिष्यों को अनुयोग देने लगे।[1]

चौथी घटना

अन्य दिन साधु भिक्षाचर्या में गए हुए थे। उसी समय वृद्ध ब्राह्मण के रूप में इंद्र ने निगोद जीवों के संबंध में कालकाचार्य से प्रश्न किया। उत्तर में आचार्य ने कहा—"असंख्य गोलक होते हैं, एक-एक गोलक में असंख्य-असंख्य निगोद और एक-एक निगोद में अनंत-अनंत जीव।" आगे वृद्ध ब्राह्मण ने अनशन के निमित्त अपना आयुष्य पूछा, तब आचार्य ने कहा—"दो सागरोपम आयुष्यवाला तू इंद्र है। क्या तू मेरी परीक्षा करना चाहता है ?" यह सुन इंद्र प्रत्यक्ष होकर बोला—"आज जब मैंने सीमंधर प्रभु से पूछा कि क्या भारतवर्ष में भी इस प्रकार निगोद का व्याख्यान करनेवाला कोई है, तब प्रभु ने इस विषय में तुम्हीं को अपने सदृश बताया और कहा कि इस समय भारतवर्ष में दो तीर्थ हैं—एक तो जंगम तीर्थ आर्य कालक और दूसरा स्थावर तीर्थ श्रीविमलगिरि (शत्रुंजय)।" यह कहकर जब इंद्र जाने लगा तब आचार्य ने कहा कि साधुओं के आने के समय तक ठहरो। इंद्र ने कहा कि साधुओं के निदान भय से मैं जाऊँगा। आखिर मकान का द्वार परावर्तन करके इंद्र अपने स्थान को गया। भिक्षाचर्या से लौटने के बाद जब साधुओं ने यह वृत्तांत सुना तब वे संयम में और अधिक प्रवृत्त हुए।

इस प्रकार अनेक पुरुषों को प्रतिबोध देकर स्वर्ग जानेवाले युगप्रवर श्री कालक सूरिवर भव्य मनुष्यों के लिये कल्याणकारी हों।[2]

---

[1] तीसरी घटना का यह वर्णन हमने 'कल्पचूर्णि' के आधार पर लिखा है।

[2] यह वर्णन हमने प्राकृत 'कालक-कथा' के आधार पर दिया है।

पाँचवीं घटना

पाँचवीं घटना मामूली होने पर भी बड़े महत्त्व की है। हमारे धर्मशास्त्रों में लिखा है कि 'विद्याप्राप्ति के निमित्त साधु को पतित साधु अथवा गृहस्थ की भी सेवा करनी चाहिए।'[1] आज-कल के लोगों में से यह भावना लगभग लुप्तप्राय हो गई है; परंतु आवश्यकता पड़ने पर धुरंधर आचार्य भी अन्यतीर्थिकों की विनय करके विद्या प्राप्त करते थे। यही बात हमें कालक-संबंधी निम्नलिखित घटना से ज्ञात होती है—कालकाचार्य एक बड़े निमित्त-ज्ञानी थे। उन्होंने निमित्त-शास्त्र का निर्माण किया था। ये सब बातें तो हममें से बहुतों ने सुनी होंगी; परंतु यह शायद ही कोई जानता होगा कि हमारे धुरंधर आचार्य कालक ने वह निमित्त-ज्ञान आजीवक-मत के साधुओं से प्राप्त किया था। इस घटना का स्फोट करनेवाला उल्लेख हमें 'पंचकल्पचूर्णि' में मिलता है। उसमें लिखा है—"लोकानुयोग में आर्य कालक का दृष्टांत है। इतना पढ़कर भी वे ऐसा मुहूर्त्त न जान सके जिसमें दीक्षा देने से शिष्य स्थिर हो। इस निर्वेद से उन्होंने आजीवकों के समीप 'निमित्त' पढ़ा। बाद को जब वे प्रतिष्ठान में ठहरे हुए थे तब सातवाहन राजा ने उनसे ये तीन प्रश्न पूछे और एक-एक प्रश्न पर लाख-लाख मुद्रा इनाम ठहराया।[2] पहला प्रश्न यह था कि पशु के पेट में लींड़ियाँ (गोलियाँ) कौन बनाता है, दूसरा प्रश्न था कि समुद्र में जल कितना है, और तीसरा था कि मथुरा कब सर होगी या न होगी? पहले प्रश्न के उत्तर में राजा ने लक्ष-मूल्य कड़ा भेंट किया और दूसरे उत्तर के इनाम में कुंडल अर्पण किए।[3] आचार्य ने कहा कि मुझे इसकी कोई आवश्यकता नहीं है, मैंने तो केवल यह निमित्त का उपचार बताया है। इस अवसर पर वहाँ आजीवक उठ खड़े हुए और बोले कि यह हमारे लिये गुरुदक्षिणा है।"

कालकाचार्य ने आजीवकों के पास निमित्त-शास्त्र पढ़ा था और उसके प्रयोग भी सातवाहन राजा की सभा में किए थे—यह हमने 'पंचकल्पचूर्णि' के उपर्युक्त उल्लेख से जान लिया। अब हम यह देखेंगे कि कालकाचार्य ने निमित्त-शास्त्र-संबंधी कोई ग्रंथ भी लिखा है या नहीं।

---

[1] "इहाणिं विज्जत्ति अस्य व्याख्या विज्जठा उभयं सेवेत्ति। उभयं णाम पासत्थगिहत्था ते विज्ज-मंत-जोगादिणिमित्तं सेवेत्यर्थः।"—'निशीथचूर्णि,' उद्देशक १, पृष्ठ ७०

[2] किसी-किसी 'कालक-कथा' में और 'युगप्रधानपट्टावली' में एक उद्धृत गाथा दृष्टिगत होती है, जिसका तात्पर्य यह है—"आर्य कालक ने एक लक्ष स्वर्णमुद्रा के प्रण पर तीन समस्याओं की पूर्त्ति करके प्रतिष्ठान में सातवाहन राजा को श्राद्ध-श्रावक किया।" इससे यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि आर्य कालक ने ही निमित्त-विद्या के बल से सातवाहन को जैन श्रावक बनाया था। निमित्त-ज्ञान से दिए गए प्रश्नोत्तरों का (आगे) जो वर्णन है, इस गाथा से उसका भी समर्थन होता है।

[3] राजा ने जो तीन प्रश्न पूछे हैं उनका तो किसी तरह पता चल जाता है; पर 'चूर्णि' में इनके उत्तर नहीं बताए गए और तीसरे उत्तर के पुरस्कार का भी उल्लेख नहीं है। बात तो असल यह है कि 'चूर्णि' का यह स्थल बहुत ही अशुद्ध हो गया है, यहाँ तक कि कुछ पाठ भी खंडित हो गया जान पड़ता है।

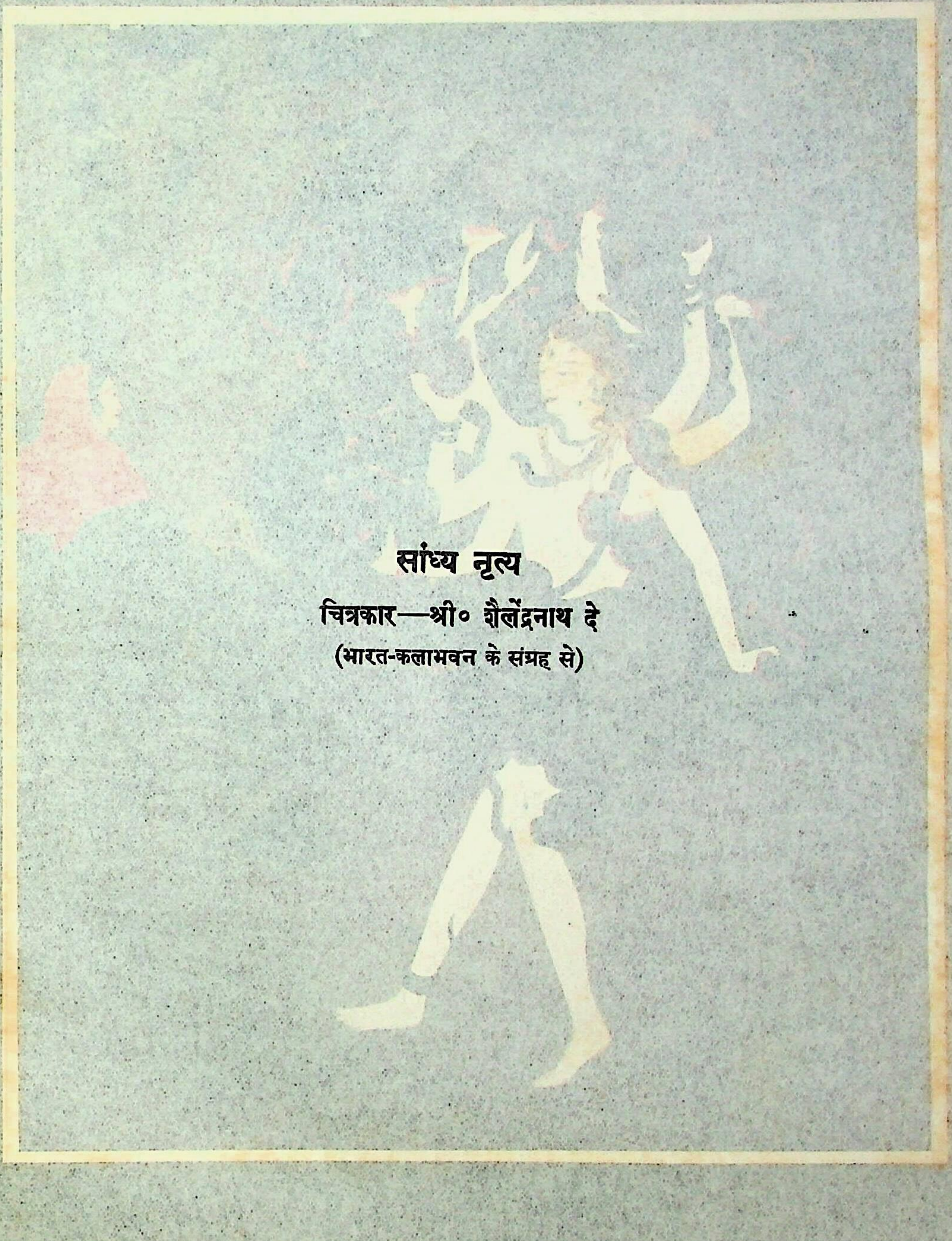

सांध्य नृत्य

चित्रकार—श्री० शैलेंद्रनाथ दे

(भारत-कलाभवन के संग्रह से)

पाँचवीं घटना मामूली होने पर भी बड़े महत्त्व की है। हमारे धर्मशास्त्रों में लिखा है कि 'विद्याप्राप्ति के निमित्त साधु को पतित साधु अथवा गृहस्थ की भी सेवा करनी चाहिए।'[1] आज-कल के लोगों में से यह भावना लगभग लुप्तप्राय हो गई है; परन्तु आवश्यकता पड़ने पर धुरंधर आचार्य भी अन्यतीर्थिकों की विनय करके विद्या प्राप्त करते थे। यही बात हमें कालक-संबंधी निम्नलिखित घटना से ज्ञात होती है—कालकाचार्य एक बड़े निमित्त-ज्ञानी थे। उन्होंने निमित्त-शास्त्र का निर्माण किया था। [illegible] हममें से बहुतों ने सुनी होंगी; परन्तु [illegible] कि हमारे धुरंधर आचार्य कालक ने यह निमित्त-ज्ञान आजीवक-मत के साधुओं से प्राप्त किया था। इस घटना का [illegible] उल्लेख हमें 'पंचकल्पचूर्णि' में मिलता है। उसमें लिखा है—"[illegible] में आर्य कालक का [illegible] [illegible] भी वे [illegible] [illegible] [illegible] देने के [illegible] [illegible]। इस निर्देश से उन्होंने आजीवकों के समीप 'निमित्त' पढ़ा। बाद को जब वे प्रतिष्ठान में ठहरे हुए थे तब सातवाहन राजा ने उनसे ये तीन प्रश्न पूछे और एक-एक प्रश्न पर लाख-लाख मुद्रा इनाम ठहराया।[2] पहला प्रश्न यह था कि पशु के पेट में मींगियाँ (गोलियाँ) कौन बनाता है, दूसरा प्रश्न था कि समुद्र में जल कितना है, और तीसरा था कि मथुरा अब तक होगी या न होगी? पहले प्रश्न के उत्तर में राजा ने लक्ष-मूल्य कड़ा भेंट किया और दूसरे उत्तर के इनाम में कुंडल अर्पण किए।[3] आचार्य ने कहा कि मुझे इसकी कोई आवश्यकता नहीं है, मैं तो केवल यह निमित्त का चमत्कार बतलाता हूँ। इस अवसर पर वहाँ आजीवक उठ खड़े हुए और बोले [illegible] हमारे लिये गुरुदक्षिणा है।"

कालकाचार्य ने आजीवकों के पास निमित्त-शास्त्र पढ़ा था और उसके प्रयोग भी सातवाहन राजा की सभा में किए थे—यह हमने 'पंचकल्पचूर्णि' के उपर्युक्त उल्लेख से जान लिया। अब हम यह देखें कि कालकाचार्य ने निमित्त-शास्त्र-संबंधी कोई ग्रंथ भी लिखा है या नहीं।

---

[1] "[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ते [illegible] [illegible]।"—'निशीथचूर्णि,' उद्देशक १, पृष्ठ [illegible]

[2] [illegible] 'कालक-कथा' में और 'कुवलयमालाकथा' में एक उद्धृत गाथा [illegible] होती है, जिसका आशय यह है—"[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] समस्याओं की पूर्ति करके [illegible] में सातवाहन राजा का [illegible] [illegible]।" [illegible] [illegible] [illegible] है कि आर्य कालक ने ही [illegible] [illegible] के [illegible] से सातवाहन [illegible] [illegible] [illegible] (आगे) जो वर्णन है, [illegible] से उसका भी समर्थन [illegible] है।

[3] राजा ने जो तीन प्रश्न पूछे हैं उनका [illegible] [illegible] है; पर 'चूर्णि' में इनके उत्तर नहीं [illegible] और तीसरे उत्तर के पुरस्कार का भी उल्लेख नहीं है। [illegible] का कारण यह है कि 'चूर्णि' का यह [illegible] के [illegible] हो गया है, यहाँ तक कि कुछ पाठ भी खंडित हो गया जान पड़ता है।

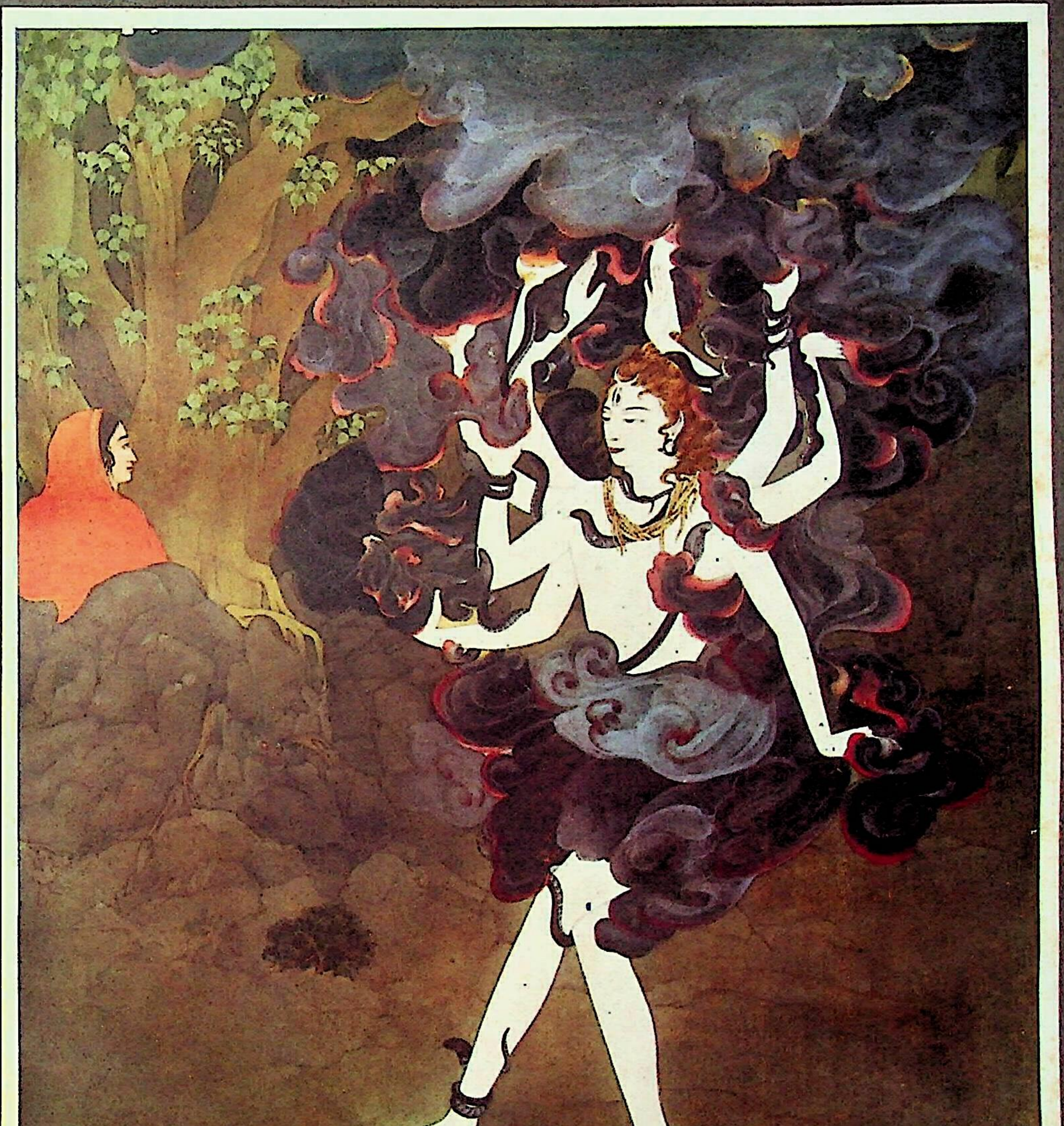

पाटन के ताडपत्रीय पुस्तक-भांडार में, ताडपत्र पर लिखे हुए एक 'प्रकरण'[1] में, हमने एक प्राकृत-गाथा पढ़ी थी, जिसका आशय यह है—"कालक सूरि ने प्रथमानुयोग में जिन, चक्रवर्त्ती, वासुदेव (आदि) के चरित्र और उनके पूर्व भवों का वर्णन किया और लोकानुयोग में बहुत बड़े निमित्त-शास्त्र की रचना की।" इससे यह बात सिद्ध होती है कि कालकाचार्य ने निमित्त-शास्त्र की रचना की थी।

'भोजसागरगणि' नामक जैन विद्वान् ने संस्कृत-भाषा में रमल-विद्या-विषयक एक ग्रंथ लिखा है। उसमें उन्होंने लिखा है कि पहले-पहल यह विद्या कालकाचार्य के द्वारा यवन-देश से यहाँ लाई गई थी।[2] किंतु रमल-विद्या को यवन-देश से चाहे कालकाचार्य लाए हों या न भी लाए हों; पर इससे तो इतना सिद्ध ही है कि निमित्त अथवा ज्योतिष-विद्या के जैन विद्वान् लोग कालकाचार्य को अपने पथ का आदि-पथिक समझते थे।

वराहमिहिर के बृहज्जातक में भी कालक-संहिता का नामोल्लेख हुआ है[3]। संभव है, वह कालक-संहिता इन्हीं निमित्त-वेत्ता कालकाचार्य की कृति हो।

इन सब उल्लेखों से यह बात सिद्ध हो जाती है कि कालकाचार्य एक बहुत बड़े निमित्त-वेत्ता पुरुष थे। उन्होंने इसी निमित्त-विद्या के बल से शक-कुल के 'साहि' को स्ववश किया था, और उसके साहाय्य से गर्दभिल्ल को पदभ्रष्ट कर साध्वी सरस्वती को छुड़ाया था, तथा निमित्त-शास्त्र की भी रचना की थी।

छठी घटना

आर्य कालक दिग्गज विद्वान् के अतिरिक्त एक क्रांतिकारी पुरुष भी थे। विद्वत्ता के कारण उनकी जितनी प्रसिद्धि है उससे कहीं अधिक उनके घटनामय जीवन से है। हमने जो उनके जीवन-प्रसंगों का वर्णन 'घटना' के नाम से करना उचित समझा, उसका भी यही कारण है। घटना-मूर्त्ति आर्य कालक का प्रत्येक जीवन-प्रसंग साधु-स्थिति के सामान्य जीवन-लक्षण से कुछ आगे बढ़ा हुआ है। कदाचित् यह बात स्पष्ट करके समझाने की आवश्यकता अब न रही। अच्छा, तो अब हम देखेंगे कि जैनसाहित्य के मार्ग में भी इन घटनामय-जीवन-धारी आचार्य ने अपने ज्ञान और प्रकृति-स्वातंत्र्य का कुछ परिचय दिया है या नहीं। पहले हम पाँचवीं घटना के वर्णन में एक प्राकरणिक गाथा का तात्पर्य दे चुके हैं, जिसमें यह कहा गया है कि 'कालक सूरि ने प्रथमानुयोग में

---

[1] इस 'प्रकरण' का नाम नहीं मालूम हुआ। लगभग चौदहवीं सदी के लिखे हुए ताडपत्र पर था; किंतु जाँच करने पर भी इसका नाम ज्ञात न हुआ।

[2] बहुत दिन पहले 'जैन-शासन' नामक साप्ताहिक पत्र में भोजसागरजी के इस रमल-विद्या-विषयक संस्कृत-ग्रंथ का अवलोकन (परिचय) निकला था, उसी की स्मृति के अनुसार यहाँ यह बात लिखी गई है। वह 'पत्र' या 'ग्रंथ' संप्रति उपस्थित नहीं है।

[3] 'बृहज्जातक' की मुद्रित पुस्तक में 'वंकालकसंहिता' लिखा है जो अशुद्धि का परिणाम जान पड़ता है। वराहमिहिर जैनाचार्यों से अच्छा परिचय रखते थे। उन्होंने अपने उसी ग्रंथ में 'सिद्धसेन' का भी मतोल्लेख किया है। इससे यही ज्ञात होता है कि उन्होंने अपने ग्रंथ में 'कालकसंहिता' का ही निर्देश किया है, पर उसमें लेखन-दोष से 'वं' अधिक मिल जाने के कारण वह अशुद्ध और अबोध 'वंकालकसंहिता' बन गया।

जिन, चक्रवर्त्ती, वासुदेव (आदि) के चरित्र और उनके पूर्व भवों का वर्णन किया।' इससे पता चलता है कि कालकाचार्य ने 'प्रथमानुयोग' नामक सिद्धांत-ग्रंथ की रचना की थी जिसमें तीर्थंकर चक्रवर्त्ती वासुदेव-प्रमुख शलाका पुरुषों के जीवन-चरितों का वर्णन किया था।

पूर्वोक्त घटना के समर्थन में 'पंचकल्पचूर्णि' का जो उद्धरण पहले दिया गया है, उससे संबद्ध इतनी बात और है—"पीछे कालक ने सूत्र के नष्ट होने पर 'गंडिकानुयोग' बनाए। पाटलिपुत्र के श्रमण-संघ ने उस गंडिकानुयोग को सुनकर प्रमाण माना, प्रतिष्ठित किया—यह सोचकर कि संग्रहणियाँ भी अल्प स्मृतिवाले विद्यार्थियों के लिये उपकारिणी होंगी, इसी विचार से वे सूत्रों का अंग मानी गईं। प्रथमानुयोग आदि (शास्त्र) भी कालक ने बनाए।"

'चूर्णि' के इस उद्धरण से दो बातें सिद्ध होती हैं। पहली यह कि सूत्रों का नाश होते देख, इस विचार से कि सुख-पूर्वक अथवा सुगमता-पूर्वक स्मरण हो सकें या रह सकें, कालकाचार्य ने नष्ट हुए अथवा नष्ट होते हुए सूत्रार्थों का संग्रह गंडिकाओं[1] में किया; तथा दूसरी यह कि जो सूत्र विद्यमान थे और जिनके नाश की संभावना कम थी उन पर भी संग्रहणियाँ[2] बना डालीं, जिन्हें कंठस्थ कर लेने से सारे सूत्रों के प्रकरणों का अर्थाधिकार सुखपूर्वक स्मरण रह सकता था। इसके अतिरिक्त तीर्थंकर, चक्रवर्त्ती, वासुदेव आदि महापुरुषों की जीवन-कथाओं के एक बृहत्संग्रह की रचना भी की और उसका नाम 'प्रथमानुयोग'[3] रक्खा। अपनी इन सब कृतियों को पाटलिपुत्र नगर में श्रमण-संघ को सुनाकर स्वीकृत कराया।

नंदीसूत्र में 'मूलप्रथमानुयोग' और 'गंडिकानुयोग' का उल्लेख मिलता है। वहाँ 'प्रथमानुयोग' के साथ लगा हुआ 'मूल' शब्द नंदी के रचना-काल में दो प्रथमानुयोगों के अस्तित्व की गूढ़ सूचना देता है। यद्यपि टीकाकार इस 'मूल' शब्द का प्रयोग तीर्थंकरों के अर्थ में हुआ बताते हैं, तथापि वस्तुस्थिति कुछ और ही मालूम होती है।

[1] एक-एक अर्थाधिकार को लेकर रचे हुए प्रकरण का नाम 'गंडिका' है। नंदी-टीका में (२४१ पृष्ठ पर) ऐसा ही लिखा है—"इक्ष्वादीनां पूर्वापरपर्वपरिच्छिन्नो मध्यभागो गण्डिका, गण्डिकेव गण्डिका-एकार्थाधिकारा ग्रन्थपद्धतिरित्यर्थः।"

[2] सूत्रों के अध्याय अथवा उद्देशकों के अर्थाधिकार-सूचक आदि पदों को बीजक की तरह एकत्र करके बनाई हुई गाथाओं के संग्रह को 'संग्रहणी' कहते हैं। पहले हमारे प्रत्येक सूत्र पर इस प्रकार की संग्रहणियाँ बनी हुई थीं। अब भी कहीं-कहीं ऐसी संग्रहणी-गाथाएँ विद्यमान हैं जिनको टीकाकार अध्याय या शतक के प्रारंभ में लिखकर एक साथ समस्त प्रकरणों के अर्थाधिकारों की प्रथम सूचना दिया करते हैं।

[3] यद्यपि 'आवश्यक-मूलभाष्य' में 'चरणकरणानुयोग' पहला कहा गया है और 'धर्मकथानुयोग' दूसरा, तथापि इस कथानुयोग को 'प्रथमानुयोग' कहने से यह ज्ञात होता है कि पहले के चार अनुयोगों में 'धर्मकथानुयोग' का नंबर पहला होगा। कहीं-कहीं 'वसुदेवहिंडि' का भी 'प्रथमानुयोग' के नाम से उल्लेख किया गया है; पर वस्तुतः 'वसुदेवहिंड़ि' तो 'प्रथमानुयोग' का एक अंशमात्र है।

'आवश्यक निर्युक्ति' आदि जैन-सिद्धांत-ग्रंथों में यह बात स्पष्ट लिखी मिलती है कि आर्य रक्षित सूरि जी ने अनुयोग को चार विभागों में बाँट दिया था[1] जिसके एक विभाग का नाम 'धर्मकथानुयोग' था। इस धर्मकथानुयोग में उत्तराध्ययन ऋषि-भाषित आदि सूत्रों को रक्खा था[2]। परंतु नंदीसूत्र में मूलप्रथमानुयोग का जो वर्णन दिया है, वह इस आर्य रक्षितवाले धर्मकथानुयोग के साथ मेल नहीं खाता। मूलप्रथमानुयोग में क्या विषय है? इस प्रश्न के उत्तर में नंदी-सूत्रकार कहते हैं—"मूलप्रथमानुयोग में तीर्थंकर भगवन्तों के पूर्वभव, देवगति, आयुष्य, च्यवन, जन्म, अभिषेक, राज्यलक्ष्मी, दीक्षा, तप, उपसर्ग, केवल ज्ञान, तीर्थप्रवर्त्तन आदि का वर्णन और उनके शिष्य, गण, गणधर, आर्या, चतुर्विध संघ, केवली, मनःपर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी, पूर्वधर, वादी, अनुत्तरगतिगामी, वैक्रियलब्धिधारी, सिद्धिगतिगामी आदि का परिमाण-निरूपण तथा तीर्थंकरों के अनशन आदि विषयों का वर्णन है[3]।"

आर्य कालक के 'प्रथमानुयोग' के वर्णन में भी हम यही देख आए हैं कि उसमें उन्होंने तीर्थंकर चक्रवर्त्ती वासुदेवों के पूर्वभवों तथा चरित्रों का वर्णन किया है। इससे यदि यह मान लिया जाय कि नंदीसूत्र में जिन मूल प्रथमानुयोग और गंडिकानुयोगों का वर्णन दिया है वे दोनों ही कृतियाँ आर्य कालक की हैं, तो क्या आश्चर्य है? आर्य रक्षित सूरि ने निर्वाण की छठी सदी के अंतिम[4] चरण में अनुयोगों की व्यवस्था की थी, तब आर्य कालक ने निर्वाण की पाँचवीं सदी के तृतीय चरण में 'प्रथमानुयोग' की रचना की। इस प्रकार सत्ता-काल के विचार से भी कालकाचार्य का 'प्रथमानुयोग' आर्य रक्षित के अनुयोग-विभाजन के पूर्व—करीब सवा सौ वर्ष पहले—बना था। इस कारण से भी यदि उसे 'मूलप्रथमानुयोग' कहा हो तो कुछ अघटित नहीं है।

इस विषय में यह भी नहीं कह सकते कि नंदीसूत्रोक्त 'प्रथमानुयोग' और 'गंडिकानुयोग' तीर्थंकर-कालीन गणधर-निर्मित कृतियाँ होंगी; क्योंकि गंडिकानुयोग में जिन गंडिकाओं का नाम-निर्देश किया गया है[5] उनमें एक 'भद्रबाहुगंडिका' भी है। यदि ये गंडिकाएँ तीर्थंकर-कालीन होतीं, तो इनमें 'भद्रबाहुगंडिका' प्रभृति के उल्लेख न होते; पर नंदीसूत्र में 'भद्रबाहुगंडिका' आदि के भी नाम गिनाए हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि ये 'अनुयोग' भद्रबाहु के बाद की कृतियाँ हैं।

---

[1] देखिए—"आवश्यक सूत्र सटीक", पृष्ठ २९६, गाथा १७४

[2] देखिए—"आवश्यक सूत्र सटीक", पृष्ठ ३०९, गाथा १२४

[3] देखिए—"नंदीसूत्र सटीक", पृष्ठ २३७

[4] माथुरी वाचनानुसारि आवश्यकनिर्युक्ति के लेखानुसार आर्य रक्षित जी का स्वर्गवास निर्वाण-संवत् ५८४ में हुआ था। तब वालभी वाचनानुयायी युगप्रधानपट्टावलियों की गणना के अनुसार यही घटना नि० सं० ५९७ में हुई थी।

[5] नंदीसूत्र में पृष्ठ २३७ पर गंडिकाओं की परिगणना देखिए।

दुर्भाग्यवश आज 'मूलप्रथमानुयोग' अथवा 'प्रथमानुयोग' का कहीं अस्तित्व न रहा। इतना ही नहीं, बल्कि उसके आधार पर बने हुए 'प्रथमानुयोगसारोद्धार'[1] जैसे उद्धार-ग्रंथों का भी कहीं पता नहीं है। फिर भी इन महान् कथानुयोग-सिद्धांतों का निरन्वय नाश नहीं हुआ। वसुदेवहिंडि, शोलांकाचार्य का महापुरुषचरित्र, भद्रेश्वर की कथावली, हेमचंद्र का त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित्र आदि कथा-साहित्य उसी प्रथमानुयोग का संक्षिप्त रूप है, जो एक समय कालकाचार्य के नाम को उज्ज्वल बनाए हुए था। 'दुष्षमाकालगंडिका' आदि प्रकरण भी उन्हीं गंडिकाओं के भग्नावशेष हैं जिन्हें कालक ने पाटलिपुत्र की संघसभा में सुनाया था।

सातवीं घटना

सातवीं घटना का संबंध संभवत: प्रथम कालकाचार्य से है। 'आवश्यकनिर्युक्ति' की एक गाथा (८६५) में उल्लिखित सामायिक के आठ दृष्टांतों में तीसरा दृष्टांत आर्य कालक का है जिसका वर्णन 'आवश्यकचूर्णि' में इस प्रकार मिलता है—"तुरुविणी नगरी में 'जितशत्रु' नामक राजा था। वहाँ 'भद्रा' नाम की एक ब्राह्मणी रहती थी जिसके पुत्र का नाम 'दत्त' था। भद्रा के एक भाई था जिसने जैन मत की दीक्षा ली थी, उसका नाम था 'आर्य कालक'। दत्त जुआड़ो और मदिरा-प्रसंगी था। वह राजसेवा करते-करते प्रधान सैनिक के पद तक पहुँच गया। पर अंत में उसने विश्वासघात किया। राजकुल के मनुष्यों को फोड़कर उसने राजा को कैद किया और स्वयं राजा बन बैठा। उसने बहुत-से यज्ञ किए। एक बार वह अपने मामा 'कालक' के पास जाकर बोला कि मैं धर्म सुनना चाहता हूँ; कहिए, यज्ञों का फल क्या है? कालक ने धर्म का स्वरूप बताया। दत्त ने फिर वही प्रश्न दुहराया। तब कालक ने अधर्म का फल कहा। दत्त ने पुन: तीसरी बार पूछा, तब कालक ने अशुभ कर्मों के उदय का निरूपण किया। दत्त ने कहा, मैं यज्ञ का फल पूछ रहा हूँ। कालक ने कहा, यज्ञ का फल नरक है। दत्त ने कहा, इसका प्रमाण क्या है? कालक बोले, यही कि तू आज से सातवें दिन कुंभी में पकता हुआ कुत्तों से नोचा जायगा। दत्त—इसकी भी सत्यता का प्रमाण क्या है? कालक—इसकी सत्यता का प्रमाण यह है कि सातवें दिन तेरे मुख में अकस्मात् विष्ठा गिरेगी। दत्त—तब तेरी मृत्यु कैसे होगी? कालक—मैं बहुत काल तक प्रव्रज्या-पालन करके 'देवलोक' जाऊँगा। यह सुनकर दत्त ने रोषपूर्वक अपने सैनिकों को आदेश दिया कि इसको रोक रक्खो। किंतु दत्त से सैनिक असंतुष्ट थे। उन्होंने पदभ्रष्ट राजा से कहलाया, तुम यहाँ आ जाओ, हम इसको बाँधकर तुम्हें सौंप दें। वह (पदभ्रष्ट राजा) गुप्त रहने लगा। दत्त दिन गिनते-गिनते भूल गया। सातवें दिन को आठवाँ मानकर राजमार्ग को साफ कराकर उसके रक्षणार्थ पहरे बैठाल दिए। एक देवकुलिक ने सुबह हाथ में फूलों की टोकरी लिए उस मार्ग में प्रवेश किया, और वहाँ अशौच करके फूलों से ढँककर चला गया। दत्त भी सातवें दिन अश्वसेना से परिवृत हो आचार्य की तरफ

---

[1] एक 'कल्पसूत्र' की पुस्तक के अंत में 'कालक-कथा' है जिसमें एक गाथा के अवतरण में दिए हुए एक प्रतीक से ज्ञात होता है कि 'प्रथमानुयोग' के आधार से बना हुआ 'प्रथमानुयोग-सारोद्धार' नामक ग्रंथ भी पहले विद्यमान था जिसका अब कहीं पता नहीं है।

जाने लगा। वह सोच रहा था कि अभी जाकर श्रमणक (साधु) को मारता हूँ। अशौचवाले स्थान के पास पहुँचते ही एक अश्वकिशोर का पैर पुष्पों से ढँकी हुई विष्ठा पर पड़ा और उसकी बूँद उछलकर दत्त के मुख में जा गिरी। दत्त ने समझा, मारा जाऊँगा। तब वह सैनिकों से बिना कहे ही वापस जाने लगा। सैनिक समझे कि भेद खुल गया और जब तक यह राजभवन में न पहुँचे तब तक इसे पकड़ लें। उन्होंने उसे बीच में ही पकड़ लिया और पहले के राजा को बुलाकर दत्त को उसके सुपुर्द किया। जितशत्रु ने दत्त को कुंभी में डालकर ऊपर से कुत्ते छोड़ दिए और नीचे आग जला दी। ताप से आकुल होकर कुत्तों ने दत्त को टुकड़े-टुकड़े कर नोच लिया। इस प्रकार सत्य वचन बोलना चाहिए, जैसे कालकाचार्य बोले।''—इस कथानक का संक्षिप्त सार 'आवश्यकनिर्युक्ति' की निम्नलिखित गाथा में भी सूचित किया है—

"दत्तेण पुच्छिओ जो, जण्णफलं कालओ तुरुमिणीए।
समयाए आहिएणं, संमं वुइयं भयं तेणं ॥८७१॥"

घटनास्थलों की मीमांसा

यद्यपि घटनाओं के वर्णन में उनके आधारभूत स्थलों का भी नाम-निर्देश हो चुका है, तथापि उनके विषय में जो-जो मतभेद हैं उनका उल्लेख वहाँ नहीं किया है; इसलिये अब यहाँ इन बातों पर विचार करना आवश्यक है।

पहली घटना के साथ दो स्थलों का उल्लेख है—उज्जयिनी और पारसकूल। उज्जयिनी में सरस्वती साध्वी का अपहरण हुआ था। पारसकूल में वहाँ के 'साहि'-उपाधिधारी मांडलिक राजाओं की सहायता से गर्दभिल्ल का उच्छेद करके कालक ने सरस्वती को छुड़ाया था।

कालक-संबंधी सभी कथा-प्रबंधों में 'उज्जयिनी' के विषय में तो ऐकमत्य है; परंतु 'पारसकूल' के भिन्न-भिन्न नाम भिन्न-भिन्न ग्रंथों में मिलते हैं। प्राकृत कालक-कथा में 'पारसकूल' की जगह 'शककूल' नाम मिलता[1] है। प्रभावकचरित्रांतर्गत कालक-प्रबंध में इस स्थान का नाम 'शाखिदेश' लिखा है[2]। कल्पसूत्र मूल के साथ छपी हुई संस्कृत 'कालक-कथा' में इस स्थान को 'सिंधु नदी का पश्चिम पार्श्वकूल' लिखा है[3]। फिर 'हिमवंत थेरावली' में इसी स्थल का नाम 'सिंधु देश' कहा है[4]।

[1] "अह सूरी सगकूले, वच्चइ इग साहिणो समीवंमि।"—'कालक-कथा', पृष्ठ ४

[2] "शाखिदेशश्च तत्रास्ति राजानस्तत्र शाखयः।"—प्रभावक-चरित्र—कालकप्रबंध, पृष्ठ ३९

[3] "श्रुत्वेति सूरिर्गत एव सिन्धोर्नद्यास्तटं पश्चिमपार्श्वकूलम्।"—कालकाचार्यकथा, पृष्ठ २

[4] "कोहक्कंतो कालिगज्जो तओ विहारं किच्चा सिंधुजणवए पत्तो। तत्थ णं रज्जं कुणमाणं सामंतणामधिज्जं सगरायं सुवण्ण सिहित्ता वज्ज हय गया इयपयंऽसेणोवेयं कालिगज्जो अवंती णपरी समीवे ठावेइ।"

—हिमवंतथेरावली, पृष्ठ ७

इन भिन्न-भिन्न नामों में हमारी संमति में 'पारसकूल' नाम ही सही है, जिसका उल्लेख इस विषय के सबसे पुराने ग्रंथ 'निशीथचूर्णि'[1] में है। 'पारस' का तात्पर्य 'फारस'[2] देश है, और 'कूल' का अर्थ है 'किनारा'[3]। इसलिये 'पारस-कूल' का अर्थ 'फारस का किनारा' होगा। यह 'फारस का किनारा' संभवतः 'फारस की खाड़ी' के निकट का ईरान प्रदेश होगा और 'पारसकूल' ही 'शककूल' भी कहलाता होगा; क्योंकि वहाँ के निवासी लोग 'शक'-जाति के हैं, अतः उस प्रदेश का 'शककूल' नाम भी संगत है।

'शाखिदेश' नाम तो अप्रसिद्ध है; क्योंकि वहाँ के मांडलिक राजा 'साहि'[4] अथवा 'शाह' कहलाते थे। संस्कृत-लेखकों ने संस्कृत में उस 'साहि' को 'शाखि' और उनके देश को 'शाखिदेश' लिख दिया है। वस्तुतः यह किसी देश का प्रसिद्ध नाम नहीं है। इसी प्रकार 'सिंधु नदी का पश्चिमी किनारा' कहने से भी किसी खास देश का बोध नहीं हो सकता और 'सिंधु देश' का उल्लेख भी ठीक नहीं जँचता। कालक-कथाओं में सिंधु नदी पार होकर[5] सौराष्ट्र में कालकाचार्य के आने का उल्लेख है, पर यह भ्रांतिशून्य नहीं है; क्योंकि सिंधु नदी पार करके पंजाब अथवा सिंध में जा सकते हैं, सौराष्ट्र में नहीं। परंतु यह बात तो सभी लेखक एक-स्वर से स्वीकार करते हैं कि कालकाचार्य सौराष्ट्र में ही उतरे थे[6]। यदि वे साहियों के साथ सिंधु नदी पार कर हिंदुस्तान में आए होते, तो सौराष्ट्र में किसी प्रकार न उतर सकते। इससे यही सिद्ध होता है कि वे सिंधु-नदी नहीं, बल्कि सिंधु[7]—समुद्र—के द्वारा सौराष्ट्र में उतरे थे। 'निशीथचूर्णि' में तो सौराष्ट्र में ही उतरने का उल्लेख है, वहाँ सिंधु नदी का नामोल्लेख नहीं है। संभव है, 'सिंधु' के साथ 'नदी' शब्द पीछे से जुड़ गया हो।

जिस देश में कालक गए थे वहाँ के राजाओं के 'साहि' (शाह) और 'सहाणुसाहि' (शाहंशाह)[8]-जैसे नामों से भी यही प्रमाणित होता है कि वह देश फारस (ईरान) ही था। वहाँ की प्रजा

१. 'निशीथचूर्णि' में कहीं 'पारसकुल' और कहीं 'पारिसकुल' लिखा मिलता है। 'कुल' शब्द सर्वत्र ह्रस्व ही लिखा है, पर चाहिए दीर्घ। 'कथावली' में सर्वत्र दीर्घ ही है। कतिपय लेखक 'कुल' शब्द को 'जाति'-वाचक मानकर उसका निर्वाह करते हैं, पर वह ठीक नहीं है। यहाँ 'कूल' शब्द ही सार्थक है।

२. ईरान देश के ही दक्षिण-भाग का नाम 'फारस' है जिसके दक्षिण में ईरान का अखात अथवा फारस की खाड़ी है, जहाँ से लोग अरब-समुद्र द्वारा कराची या काठियावाड़ आते हैं।

३. "कूलं रोधश्च तीरं च प्रतीरं च तटं त्रिषु"—इत्यमरः

४. "साहि त्ति राया भण्णति"—(निशीथचूर्णि); "साही नाम राया"—(कथावली)

५. "उत्तरिउं सिंधुनइं, कमेण सोरठ मंडलं पत्तो।"—(कालक-कथा)

६. प्रत्येक कालक-कथा, कथावली और निशीथचूर्णि में यही लिखा है कि साहियों के साथ कालक सौराष्ट्र-मंडल में उतरे थे।

७. "उदन्वानुदधिः सिन्धुः सरस्वान्सागरोऽर्णवः"—इत्यमरः।

८. हमारी समझ में 'साहि' और 'साहाणुसाहि' प्राचीन फारसी भाषा के विकृत शब्द हैं। जिस प्रकार संस्कृत में 'मंडलपति' के लिये 'राजा' और 'देशपति' के लिये 'राजाधिराज' शब्द प्रचलित हैं, उसी प्रकार पहले फारसी में मंडलपति के लिये 'साहि' और राजाधिराज के लिये 'साहाणुसाहि' शब्द प्रचलित रहे होंगे।

'पारसी' कहलाती थी और वहाँ के राजवंशी लोग शक-जाति के थे। इसी कारण इस देश का नाम कहीं 'पारस' और कहीं 'शक' लिखा है।

दूसरी घटना के साथ भी दो स्थलों के नाम संबद्ध हैं—'उज्जयिनी' और 'प्रतिष्ठान'। इस विषय के सभी प्रबंधकार इस बात में तो एकमत हैं कि कालकाचार्य ने प्रतिष्ठानपुर में चतुर्थी का पर्युषणा-पर्व किया था; पर उस समय कालक कहाँ से प्रतिष्ठानपुर गए थे, इस विषय में दो मत हैं। 'निशीथचूर्णि' और एक प्राकृत 'कालक-कथा' में उज्जयिनी के बलमित्र-भानुमित्र के दुर्व्यवहार से कालक के उज्जयिनी से प्रतिष्ठानपुर जाने का उल्लेख है। किंतु एक दूसरी प्राकृत 'कालक-कथा' और प्रभावकचरित्रांतर्गत 'कालक-प्रबंध' तथा संस्कृत 'कालक-कथा' में लिखा है कि वे 'भरोच' से प्रतिष्ठान गए थे। इन दो तरह के परस्पर-विरोधी उल्लेखों का कारण क्या है, इसका हमें अवश्य विचार करना चाहिए।

दोनों तरह के लेखकों ने यह बात तो एक-स्वर से स्वीकार ही की है कि कालकाचार्य को बलमित्र-भानुमित्र के दुर्व्यवहार से विहार करना पड़ा था; पर जहाँ से विहार किया था उस स्थान के संबंध में ही मतभेद है। अब यह देखना चाहिए कि बलमित्र और भानुमित्र वास्तव में भरोच के राजा और युवराज थे अथवा उज्जयिनी के। इस विषय में मेरुतुंग सूरि ने अपनी 'विचारश्रेणि' में लिखा है कि "बलमित्र और भानुमित्र ने साठ वर्ष भरोच में राज्य किया था, और कल्पचूर्णि में जिन उज्जयिनीपति एवं कालकाचार्य-निर्वासक बलमित्र-भानुमित्र का उल्लेख है वे कोई दूसरे[1] थे।" इससे यह ध्वनित होता है कि उज्जयिनी और भरोच में उक्त नाम के भिन्न-भिन्न राजा और युवराज थे। परंतु जहाँ तक हमने इस विषय में खोज की है, यही ज्ञात हुआ कि भरोच के बलमित्र-भानुमित्र ही उज्जयिनी के बलमित्र-भानुमित्र थे। इनको दो स्थानों का राजा लिखने का कारण यह है कि ये पहले भरोच के ही राजा थे, पर जब कालकाचार्य पारस देश से शकों को उज्जयिनी पर चढ़ा लाए तब काठियावाड़ से मालवा जाते समय कालक ने इन दोनों को भी भरोच से साथ ले लिया था। 'कथावली' आदि के मत से भी गर्दभिल्ल को पदभ्रष्ट करने के बाद ही ये उज्जयिनी के राजा और युवराज बनाए गए थे[2]। एक दूसरे मत से चार वर्ष तक शकों के राज्य करने के बाद इन्होंने उज्जयिनी का अधिकार प्राप्त किया था[3]

---

[1] "यौ तु कल्पचूर्णौ चतुर्थीपर्वकर्तृ कालकाचार्यनिर्वासकौ उज्जयिन्यां बलमित्र-भानुमित्रौ तावन्यावेव।"—विचारश्रेणि, पृष्ठ २

[2] 'कथावली'—२,२८९

[3] आचार्य मेरुतुंग ने अपनी 'विचारश्रेणि' नाम की स्थविरावली-टीका में इस पर जो कुछ लिखा है उसका आशय यह है—"गर्दभिल्ल ने उज्जयिनी में तेरह वर्ष तक राज्य किया। इसी बीच कालकाचार्य ने सरस्वतीवाली घटना के कारण गर्दभिल्ल का उच्छेदन कर वहाँ शकों को स्थापित किया। शकों ने वहाँ चार वर्ष तक राज्य किया। इस प्रकार सत्रह वर्ष हुए। उसके बाद गर्दभिल्ल के पुत्र विक्रमादित्य ने उज्जयिनी का राज्य प्राप्त किया और सुवर्ण-पुरुष की सिद्धि के बल से पृथिवी को उऋण कर विक्रम-संवत्सर चलाया।"—हमारे खयाल से यह गर्दभिल्ल-पुत्र विक्रमादित्य ही 'बलमित्र' है। संस्कृत में 'बल' और 'विक्रम' तथा 'मित्र' और 'आदित्य' एकार्थक

जो हो, पर इतना तो लगभग निश्चित है कि सरस्वती-गर्दभिल्लवाली घटना के पहले बलमित्र-भानुमित्र भरोच के राजा थे और इस घटना के बाद तुरंत या कुछ दिनों के बाद वे उज्जयिनी के राजा एवं युवराज बने थे। उनको कहीं भरोच और कहीं उज्जयिनी का राजा लिखने का कारण यही है कि भिन्न-भिन्न समय में वे दोनों स्थानों के राजा थे।

अब, इस बात का निर्णय करना बाकी रहा कि चतुर्थी की पर्युषणा के समय कालकाचार्य उज्जयिनी से प्रतिष्ठान गए थे या भरोच से। यदि हम इस विषय में दूसरे कथा-चरित्रों की अपेक्षा प्राचीन चूर्णियों पर अधिक विश्वास रख सकते हैं, तो यही कहना चाहिए कि वे उज्जयिनी से निर्वासित होकर प्रतिष्ठान गए थे। भरोच से कालक का निर्वासन बतानेवाले प्रबंधों के वचन को ठीक न मानने का दूसरा कारण यह भी है कि वे भरोच पर प्रतिष्ठान के राजा सातवाहन की चढ़ाइयों के समय भी भरोच में बलमित्र-भानुमित्र का ही राज्य बताते हैं,[1] जो प्राचीन चूर्णियों के मतानुसार ठीक नहीं है; क्योंकि चूर्णियों में सर्वत्र यही मिलता है कि सातवाहन की चढ़ाइयों के समय भरोच में 'नहवाहन' राजा था[2]। यही ठीक भी है। पिछले लेखकों ने कालक के भानजे बलमित्र और भानुमित्र को सदा के लिये ही भरोच का राजा और युवराज मान लिया है, इसी लिये यह भूल हो गई है।

तीसरी घटना के साथ दो स्थलों का संबंध है—'उज्जयिनी' और 'सुवर्णभूमि'। उत्तराध्ययन-निर्युक्ति, कल्पचूर्णि और प्राकृत कालक-कथा आदि ग्रंथों के लेखानुसार आर्य कालक उज्जयिनी में अविनीत शिष्यों को छोड़कर सुवर्णभूमि[3] में 'सागर' के पास गए थे। पर कतिपय प्रबंधों में इस विषय का मतभेद भी दृष्टिगोचर होता है। संस्कृत कालक-कथा में इस प्रसंग का केवल दो पद्यों में वर्णन है। पहले पद्य का सार यह है कि 'दूसरे दिन कालकाचार्य अपने प्रमादी शिष्यों को छोड़कर स्वर्णमहीपुर में अकेले रहनेवाले सागरचंद्र सूरि के पास[4] चले गए।' इसमें इस बात का कुछ भी उल्लेख नहीं है कि कहाँ से विहार कर कालक स्वर्णमहीपुर गए थे। इस अस्पष्ट उल्लेख पर हम अधिक टीका-टिप्पणी करना नहीं चाहते; पर इसमें एक बात ऐसी कही है जिसका निर्देश किए बिना हम आगे भी नहीं बढ़

शब्द हैं, इसलिये 'बलमित्र' और 'विक्रमादित्य' का अर्थ एक ही है। संभव है, बलमित्र ही उज्जयिनी के सिंहासन पर बैठने के बाद 'विक्रमादित्य' के नाम से प्रख्यात हुआ हो, अथवा उस समय वह 'बलमित्र' और 'विक्रमादित्य' दोनों नामों से प्रसिद्ध हो।

१—देखिए—"प्रभावकचरित्र-पादलिप्तप्रबन्ध", पृष्ठ ६६; श्लोक ३०७,३०८,३०९

२—देखिए—"आवश्यकचूर्णि", पृष्ठ २०० और "कल्पचूर्णि", पृष्ठ ११

३—'सुवर्णभूमि' किस प्रदेश का नाम था, इसका कुछ पता नहीं चलता। ब्रह्मदेश को 'सुवर्णभूमि' कहते थे, पर यहाँ ब्रह्मदेश का समावेश संभव नहीं है। कतिपय लेखक 'सुवर्णभूमि' के स्थान में 'सुवर्णपुर' अथवा 'स्वर्णपुर' लिखते हैं, पर ऐसा लिखने का कारण वे ही जानें। हमने जहाँ-जहाँ इस घटना का प्राचीन वर्णन देखा है, सर्वत्र 'सुवर्णभूमि' का ही उल्लेख है, 'सुवर्णपुर' का कहीं नहीं।

४ "अथाऽन्यदा कालवशेन सर्वान् प्रमादिनः सूरिवराश्च साधून्।
त्यक्त्वा गताः स्वर्णमहीपुरस्थानेकाकिनः सागरचन्द्रसूरीन्॥ ४७—संस्कृत-कालक-कथा, पृष्ठ ५

सकते। वह बात है सुवर्णभूमि में सागरचंद्र के एकाकी होने की। कल्पचूर्णि के लेखानुसार कालक सुवर्णभूमि में जाकर सागर के गच्छ में मिल जाते हैं[१] और जनसंवाद से कालक के आगमन की बात सुनकर सागर अपने शिष्यों से कहते हैं कि 'मेरे दादा-गुरु आते हैं[२]।' यदि सागरचंद्र अकेले थे तो उनका गच्छ कैसा और शिष्यों के आगे कहना कैसा? 'प्रभावक-चरित्र'-कार ने तो इस विषय में एक नई ही बात कह डाली है। कालकाचार्य ने कहाँ पर अविनीत शिष्यों को छोड़ा, इसका तो वहाँ स्पष्ट उल्लेख नहीं है; पर वे कहते हैं कि आर्य कालक अविनीत शिष्यों को छोड़कर 'विशाला' (उज्जयिनी)[३] गए। 'उत्तराध्ययन-निर्युक्ति'-जैसे सूत्र तो कालक का उज्जयिनी से सुवर्णभूमि में जाना बताते हैं, किंतु प्रभावक-चरित्रकार किसी अज्ञात स्थान से कालक को उज्जयिनी भेजते हैं—यह कितनी विचित्रता है! जो हो, पर यह बात तो निश्चित है कि जहाँ से कालक ने विहार किया था वह स्थल था मालवा की राजधानी उज्जयिनी, और जहाँ वे गए थे उस प्रदेश का नाम था सुवर्णभूमि।

चौथी घटना कहाँ घटी थी, इसका ठीक पता नहीं चलता[४]। 'कथावली' और प्राकृत तथा संस्कृत कालक-कथाओं में इस घटना का वर्णन अवश्य है; पर वहाँ यह नहीं लिखा कि यह घटना अमुक स्थान पर घटी। इस प्रसंग के पूर्व सुवर्णभूमिवाली घटना का वर्णन है, और उसकी समाप्ति के अनंतर ही प्रस्तुत घटना का उल्लेख है। प्रभावक-चरित्र में इस विषय को यह सूचित करके छोड़ दिया है कि इस प्रसंग को आर्य रक्षितवाले प्रसंग के अनुसार समझ लेना[५]। धर्मप्रभ सूरि-कृत प्राकृत 'कालककथा' में[६] इस घटना का उल्लेख ही नहीं है। इससे यह सूचित होता है कि कथा-प्रसिद्ध कालक के साथ इस घटना का वास्तविक संबंध नहीं है। इस विषय में यहाँ इतना ही कहा जा सकता है कि इस चौथी घटना के स्थल का ठीक पता नहीं है।

पाँचवीं घटना के संबंध में इतना तो प्राय: निश्चित है कि आर्य कालक ने निमित्त-शास्त्र का अभ्यास प्रतिष्ठानपुर में किया था। पर निमित्त-संहिता का निर्माण कहाँ किया, यह जानना कठिन है। छठी घटना का स्थल पाटलिपुत्र नगर था, यह बात उसके वर्णन से ही सिद्ध होती है। सातवीं घटना

---

[१] "तत्थ खंतलक्खेण गंतुं पविट्ठा सागराणं गच्छं।"—कल्पचूर्णि, पृष्ठ १७

[२] ताहे सागरा सिस्साणं पुरओ भणंति मम अज्जया इंति।"—कल्पचूर्णि, पृष्ठ १८

[३] देखिए—"प्रभावक-चरित्र—कालक-सूरि-प्रबंध", पृष्ठ ४५, श्लोक १३०-३१,१३७-३८

[४] कोई-कोई 'यह घटना प्रतिष्ठानपुर में हुई' बताते हैं; पर इस कथन का आधार क्या है, सो वे ही जानें। हमने तो किसी ग्रंथ में ऐसा उल्लेख नहीं देखा कि इंद्र ने प्रतिष्ठानपुर में आकर कालकाचार्य से मुलाकात की हो, अथवा सीमंधर स्वामी ने ही प्रतिष्ठानपुर का नाम लिया हो।

[५] "श्री सीमंधरतीर्थेशनिगोदाख्यानपूर्वतः।
इन्द्रप्रश्नादिकं ज्ञेयमार्यरक्षितकथया॥ १५३॥"—प्रभावक-चरित्र—कालक-सूरि-प्रबंध, पृष्ठ ४६

[६] धर्मप्रभसूरि की इस कथा का रचना-काल संवत् १३८९ है।

'तुरमिणी' नगरी में घटी थी। उसके वर्णन में ही इसका उल्लेख है। परंतु यह नगरी पहले कहाँ थी और अब किस नाम से प्रसिद्ध है, इसका कुछ पता नहीं[1]।

घटनाओं का संबंध

हमने प्रारंभ में ही प्राचीन गाथाओं के आधार पर इस बात का प्रतिपादन किया है कि 'कालक' नाम के आचार्य कम से कम तीन हुए हैं और यह भी लिखा है कि कालक के नाम से संबद्ध कौन-कौन-सी घटनाएँ हमारे जैन-साहित्य में उपलब्ध होती हैं; पर अभी तक इस बात का निश्चय नहीं किया कि किस घटना का संबंध किन आचार्य के साथ है। जहाँ तक हम जान सके हैं, उपर्युक्त सात घटनाओं के साथ दो ही व्यक्तियों का संबंध है—प्रज्ञापनाकर्त्ता श्यामार्य और सरस्वती-भ्राता आर्य कालक। निगोद-पृच्छा-संबंधी घटना, जो कालक-कथाओं में चौथी घटना कही गई है, हमारी समझ में आर्य रक्षित के चरित्र का अनुकरण है। परंतु इस विषय में निश्चित मत देना दुस्साहस होगा; क्योंकि 'उत्तराध्ययन-निर्युक्ति' में एक गाथा हमें उपलब्ध होती है, जिसका आशय[2] यह है—"उज्जयिनी में कालक क्षमाश्रमण थे और सुवर्णभूमि में सागर क्षमण। (कालक सुवर्णभूमि गए और इंद्र ने आकर) शेष आयुष्य के विषय में पूछा। (तब कालक ने कहा) तू इंद्र है। (तब इंद्र द्वारा द्वार-परावर्तनादि) दिव्य कार्य किए गए।" इस वर्णन से यह तो मानना होगा कि कालक के पास इंद्रागमन-संबंधी बात भी प्राचीन है। उपर्युक्त घटना से यह भी जाना जाता है कि सागर के दादा-गुरु दूसरे आर्य कालक के साथ इस घटना का संबंध है। परंतु हम पहले ही कह चुके हैं कि युगप्रधान-स्थविरावली में 'श्यामार्य' नामक प्रथम कालक को निगोदव्याख्याता कहा है। ऐसी दशा में निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि निगोदव्याख्याता कालकाचार्य पहले थे या दूसरे। वास्तव में इस विषय में पहले ही से प्रकटतया दो मत हैं।

यज्ञ-फलवाली सातवीं घटना के साथ कौन-से कालक का संबंध माना जाय, यह भी नहीं कह सकते। इस घटना से यही जान पड़ता है कि इसके नायक कालकाचार्य ब्राह्मण थे; क्योंकि 'दत्त' पुरोहित इनका भानजा था। इससे यह तो निश्चित है कि दूसरे कालकाचार्य, जो क्षत्रिय[3]

---

[1] अशोक के एक शिलालेख में उल्लिखित भारतवर्ष के बाहर के कतिपय राजाओं के नामों में एक नाम 'तुरमय' है। इस नाम के संबंध से 'तुरमिणी' नाम पड़ा होगा—यदि ऐसा अनुमान कर लिया जाय तो यह कह सकते हैं कि यह नगरी भारतवर्ष से पश्चिम दिशा में किसी निकटवर्ती देश की राजधानी होगी। पहले हिंदुस्तान के बाहर भी हिंदू राजाओं के राज्य थे और वहाँ जैन साधुओं का विहार भी होता था, यह देखते हुए तो उक्त अनुमान अवश्य ही विचारणीय है।

[2] 'उत्तराध्ययन-निर्युक्ति' की अनुपस्थिति में हमने 'विचारश्रेणि' के आधार पर यह बात लिखी है।

[3] कालक-कथाओं के अनुसार आर्य कालक, गार्हस्थ्यावस्था में, मगधदेशांतर्गत 'धारावास' नामक नगर के राजा वयरसिंह के पुत्र थे। उनकी माता का नाम 'सुरसुंदरी' और बहन का नाम 'सरस्वती' था। कुमार कालक एक बार घोड़े पर चढ़ वन में घूमने गए, वहाँ उन्हें जैनाचार्य 'गुणाकर' मिले, जिनका धर्मोपदेश सुनकर वे संसार से विरक्त हो जैन-साधु हो गए। उसी समय 'सरस्वती' ने भी जैन-साध्वियों के पास दीक्षा ग्रहण की। कालक

थे, इस घटनावाले कालक से भिन्न थे। तीसरे कालकाचार्य का भी इस घटना के साथ संबंध संगत होना कठिन है; क्योंकि यह घटना 'आवश्यकचूर्णि' आदि प्राचीन ग्रंथों में उल्लिखित[1] है। अब रहे पहले कालक, सो यदि इनके साथ उक्त घटना का संबंध मान लिया जाय तो कोई हानि नहीं है। इनके समय के आसपास दूसरे भी अनेक ब्राह्मण-जाति के जैन आचार्य हो चुके हैं, यह देखते हुए जब तक किसी चौथे कालक का अस्तित्व सिद्ध न हो, इस सातवीं घटना का संबंध पहले कालक के साथ मान लेना कुछ भी अनुचित नहीं है।

गर्दभिल्लोच्छेद, चतुर्थी-पर्युषणाकरण, अविनीत-शिष्यपरिहार, निमित्त-शास्त्राध्ययन और प्रथमानुयोग-निर्माण—इन पाँच घटनाओं का संबंध दूसरे आर्य कालक के साथ निश्चित है, यह बात आगे के विवेचन से स्पष्ट होगी।

गर्दभिल्लोच्छेदवाली घटना में यह लिखा मिलता है कि ये कालक ज्योतिष और निमित्त-शास्त्र के प्रखर विद्वान् थे। उधर पाँचवीं घटना कालक के निमित्त-शास्त्राध्ययन का ही प्रतिपादन करती है। इससे यह बात निर्विवाद है कि इन दोनों घटनाओं का संबंध एक ही कालकाचार्य से है।

चतुर्थी-पर्युषणावाली घटना में यह कहा गया है कि बलमित्र-भानुमित्र की हरकत से कालक ने उज्जयिनी से विहार कर प्रतिष्ठान में जा चतुर्थी के दिन पर्युषणा की थी। उधर गर्दभिल्लोच्छेद-वाली घटना के वर्णन में, कतिपय कालक-कथाओं में, गर्दभिल्ल पर की गई चढ़ाई में बलमित्र-भानुमित्र के साथ में होने का उल्लेख[2] है। इतना ही नहीं, गर्दभिल्ल को पदभ्रष्ट करने के बाद उज्जयिनी में बलमित्र-भानुमित्र की अधिकार-प्राप्ति का उल्लेख भी 'कथावली' आदि में है। इससे यह बात भी सिद्ध हो जाती है कि जिन कालक ने बलमित्र-भानुमित्र की सहायता से गर्दभिल्ल का उच्छेद किया था, उन्हीं कालक ने बाद में उन्हीं राजाओं द्वारा निर्वासित हो प्रतिष्ठान में जाकर चतुर्थी-पर्युषणा की थी। इससे सिद्ध हुआ कि पहली और दूसरी घटना का भी एक ही कालक के साथ संबंध है।

तीसरी घटना का मूल 'कालक के शिष्यों का अविनय' बताया गया है। उधर पाँचवीं घटना के वर्णन में हमने देखा कि कालक के शिष्य स्थिर नहीं रहते थे, इस कारण से अच्छे मुहूर्त्त में दीक्षा देने के लिये कालक ने निमित्त पढ़ा था। इन दोनों घटनाओं का आंतरिक रहस्य एक है और वह यह कि कालक के शिष्य उनके काबू में न थे। इससे मालूम हुआ कि तीसरी घटना का भी पाँचवीं घटनावाले कालक के साथ संबंध है, तथा पाँचवीं और छठी घटनाएँ एक ही कालक से संबंध रखती हैं। 'पंचकल्पचूर्णि' में इसका स्पष्ट उल्लेख है।

मुनि जैन-शास्त्रों का अभ्यास कर, कालांतर में आचार्य-पद प्राप्त कर, विहार करते हुए उज्जयिनी की तरफ गए, जहाँ गर्दभिल्ल द्वारा सरस्वती का अपहरण हुआ।

[1] 'आवश्यकचूर्णि' में इस घटना का संपूर्ण वर्णन है। इसका संक्षिप्त उल्लेख 'आवश्यक-निर्युक्ति' में भी मिलता है।

[2] देखिए टिप्पणी नं० ३, पृष्ठ ६६

इस प्रकार इन पाँचों घटनाओं का परस्पर-संबंध होने से यह प्रकट होता है कि ये सभी उन एक ही कालक से संबंध रखती हैं, जो सत्ता-काल की अपेक्षा से दूसरे कालकाचार्य कहलाते थे और गर्दभिल्लोच्छेदक के नाम से अधिक प्रसिद्ध थे।

घटनाओं का कालक्रम

अब, हम यह देखेंगे कि उक्त विविध घटनाओं का कालक्रम क्या है। घटनाओं का संबंध बताते हुए हमने पहले सूचित किया है कि निगोदव्याख्यान और यज्ञफलनिरूपण नामक घटनाएँ प्राचीन हैं और इनका संबंध पहले कालक से मानने में कोई बाधा नहीं है। यदि हमारा यह कथन ठीक माना जाय, तो यह मानने में भी कोई आपत्ति नहीं है कि ये दोनों घटनाएँ वीर-निर्वाण से ३०० से ३७६ तक में घटी होंगी; क्योंकि प्रथम कालक का यही सत्ताकाल था। यदि इन दोनों घटनाओं के पूर्वापरत्व का विचार किया जाय तो यह ज्ञात होगा कि यज्ञफलनिरूपणवाली घटना पहली है; क्योंकि इस घटना के समय तक कालक 'आचार्य' मात्र थे। उनके युगप्रधान-पद के साथ 'निगोदव्याख्यातृ' विशेषण का निर्देश भी मिलता है। ऐसे निर्देशों पर विचार कर हम यह कह सकते हैं कि यज्ञफल-विषयक सातवीं घटना वास्तव में पहली घटना थी, और उसका समय निर्वाण से ३०० और ३३५ के बीच में था, तथा निगोद-व्याख्यान-संबंधी चौथी घटना वस्तुतः दूसरी घटना थी और उसका समय ३३६ और ३७६ के बीच में था।

द्वितीय-कालक-संबंधी घटनाओं का कालकृत पूर्वापरत्व-क्रम इस प्रकार हो सकता है—

गर्दभिल्लोच्छेद के लिये कालक पारस देश में गए। उस समय वे निमित्त पढ़ चुके थे। निमित्ताध्ययन के प्रसंग में ही उनके प्रथमानुयोग-निर्माण का भी उल्लेख है, इस कारण से इन घटनाओं के कालक्रम में यह कह सकते हैं कि कालक ने पहले निमित्ताध्ययन और तद्विषयक रचना की, बाद में प्रथमानुयोग और गंडिकानुयोग को संघ-समवसरण में सुनाया। उसके बाद सरस्वती के निमित्त गर्दभिल्ल को पदभ्रष्ट कराया। तदनंतर प्रतिष्ठान में चतुर्थी-पर्युषणा की और अंत को वृद्धावस्था में[१] उज्जयिनी में अविनीत शिष्यों को छोड़कर सागर के पास सुवर्णभूमि में गए। यदि उत्तराध्ययन-निर्युक्ति के लेखानुसार निगोद-व्याख्यान-संबंधी घटना भी इनके साथ जोड़ दी जाय, तो निष्कर्ष यह निकलता है कि सबसे पीछे यह घटना घटी। इस क्रम के अनुसार हम इन सब घटनाओं को इस क्रम से रख सकते हैं—(१) यज्ञफलनिरूपण—नि० सं० ३०० से ३३५ तक में, (२) निगोदव्याख्यान—३३६ से ३७६ तक में, (३) निमित्तपठन—४५३ के पहले, (४) अनुयोगनिर्माण—४५३ के पहले, (५) गर्दभिल्लोच्छेद—४५३ में,

---

[१] शिष्यों को छोड़कर 'कालक' सागर के पास गए और बाद में उनका शिष्य-परिवार भी वहाँ पहुँचा। उस समय अगले साधुओं ने वहाँ जाकर पूछा—यहाँ आचार्य आए हैं? सागर ने जवाब दिया—'आचार्य तो नहीं आए; पर एक वृद्ध साधु आए हैं। देखिए 'कल्पचूर्णि' का पाठ—

> "तत्थ अग्गिलेहिं पुच्छिज्जंति केइ इत्थं आयरिया आगत त्ति, णत्थि, णवरं अण्णे खंता आगता।"
>
> —कल्पचूर्णि, पृष्ठ १८

(६) चतुर्थी-पर्युषणा—४५७ और ४६५ के बीच[1] में, (७) अविनीतशिष्यपरिहार—४५७ के बाद और ४६५ के पहले[2]।

कालक्रम में विरोध-परिहार

घटनाओं के कालक्रम में हमने गर्दभिल्लोच्छेदवाली घटना निर्वाण-संवत ४५३ में बताई है; पर इसमें यह शंका हो सकती है कि इस घटना के समय यदि बलमित्र-भानुमित्र विद्यमान थे—जैसा कि 'कथावली' आदि ग्रंथों से ज्ञात होता है—तो इस घटना का उक्त समय निर्दोष कैसे हो सकता है; क्योंकि मेरुतुंगसूरि की 'विचारश्रेणि' आदि प्रचलित जैन-गणना-पद्धतियों के गणनानुसार बलमित्र-भानुमित्र का सत्ता-काल वीर-निर्वाण से ३५४ से ४१३ तक में आता है। ऐसी दशा में यह कहना चाहिए कि गर्दभिल्लोच्छेदवाली घटना का उक्त समय (४५३) ठीक नहीं है, और यदि ठीक है तो यह कहना होगा कि बलमित्र-भानुमित्र का उक्त समय गलत है, और यदि उपर्युक्त दोनों समय ठीक माने जायँ तो अंत में यह मानना ही पड़ेगा कि गर्दभिल्लवाली घटना के समय बलमित्र-भानुमित्र विद्यमान न थे।

गर्दभिल्लोच्छेदवाली प्रसिद्ध घटना का समय गलत मान लेने के लिये हमें कोई कारण नहीं मिलता। बलमित्र-भानुमित्र आर्य कालक के भानजे थे, यह बात सुप्रसिद्ध है; अतएव कालक के समय में इनका अस्तित्व मानना भी अनिवार्य है। रही बलमित्र-भानुमित्र के समय की बात, सो इसके संबंध में हमारा मत यह है कि उनका समय ३५४ से ४१३ तक नहीं, किंतु ४१४ से ४७३ तक था। मौर्यकाल में से ५२ वर्ष छूट जाने के कारण १६० के स्थान में केवल १०८ वर्ष ही प्रचलित गणनाओं में लिए गए हैं। अतएव एकदम ५२ वर्ष कम हो जाने के कारण बलमित्र आदि का समय असंगत-सा हो गया है। हमने मौर्य-राज्य के १६० वर्ष मानकर इस पद्धति में जो संशोधन[3] किया है, उसके अनुसार कालकाचार्य और बलमित्रादि के समय में कुछ भी विरोध नहीं रह जाता।

बलमित्र और कालकाचार्य के समय-विरोध का परिहार तो ऊपर के वक्तव्य से हो जायगा; पर अभी एक ऐसा विरोध खड़ा है, जिसका समाधान किए बिना इस निबंध को पूरा करना अशक्य है।

---

[1] गर्दभिल्ल के बाद उज्जयिनी में शक-राज्य स्थापित हुआ था। 'विचारश्रेणि' के लेखानुसार वह राज्य केवल चार वर्ष तक रहा। बाद में वहाँ का राज्यासन विक्रमादित्य के अधीन कर दिया गया था। इससे यह सिद्ध हुआ कि नि० सं० ४५३ के अंत में गर्दभिल्ल को हटाकर 'शक' उज्जयिनी का राजा हुआ और चार वर्ष के बाद—नि० सं० ४५७ के अंत में—बलमित्र ने शकों को हटाकर उज्जयिनी पर अपना अधिकार जमाया। बलमित्र-भानुमित्र के राज्य का अंत नि० सं० ४६५ में हुआ। कालक ने बलमित्र के उज्जयिनी-शासन-काल में ही उज्जयिनी से प्रतिष्ठान जाकर चतुर्थी को पर्युषणा की। इससे यह बात स्पष्ट है कि वीर-निर्वाण-संवत् ४५८ और ४६५ के किसी बिचले साल में चतुर्थी-पर्युषणा की प्रवृत्ति हुई।

[2] बलमित्र-भानुमित्र के उज्जयिनी-शासन-काल में ही कालक ने अविनीत शिष्यों का त्याग भी किया था। इससे स्पष्ट है कि यह घटना भी ४५८ और ४६५ के बीच में घटी है।

[3] 'वीर-निर्वाण-संवत् और जैन-काल-गणना'-शीर्षक अपने प्रसिद्ध निबंध में हमने इस भूल के मूल और प्रकार का अच्छी तरह निरूपण किया है।

यह विरोध है चतुर्थी-पर्युषणा के समय के संबंध में। घटनाओं के कालक्रम में हमने चतुर्थी-पर्युषणा का समय ४५७ से ४६५ तक लिखा है; परंतु एक प्राकरणिक गाथा हमारे इस कथन के सामने विरोध उपस्थित करती है। उस गाथा का आशय यह है—"वर्धमान (वीर) से ९९३ वर्ष व्यतीत होने पर कालक सूरि द्वारा पर्युषणा चतुर्थी की स्थापना हुई।" अब, यदि इस गाथा के प्रमाण से पर्युषणा चतुर्थी को स्थापना का समय वीर-संवत् ९९३ मान लिया जाय तो हमारा पूर्वोक्त समय गलत साबित होगा; और यदि हमारा दिया हुआ समय ठीक माना जायगा तो गाथोक्त समय गलत ठहरेगा। दोनों में कोई एक तो गलत ठहरेगा ही।

अच्छा, तो अब हम पहले इस गाथा की जाँच करेंगे कि यह गाथा है कहाँ की, और फिर इस बात का विचार करेंगे कि गाथोक्त काल प्रस्तुत घटना का वास्तविक आधार-समय हो सकता है या नहीं। आचार्य जिनप्रभ ने 'संदेहविषौषधि' नाम की अपनी कल्पसूत्र-टीका में लिखा है कि यह गाथा 'तित्थोगाली-पइन्नय' की है; परंतु वर्त्तमान 'तित्थोगाली-पइन्नय' में यह गाथा उपलब्ध नहीं होती। हाँ, देवेंद्र-सूरि-शिष्य धर्मघोष-सूरि-कृत 'कालसप्तति' में उक्त गाथा—जिसका आशय ऊपर दिया गया है—अवश्य दृष्टिगत होती है और वहाँ इसका गाथांक ४१ दिया हुआ है। इसी गाथा के संबंध में टीका करते हुए उपाध्याय धर्म-सागर जी ने 'कल्पकिरणावली' नाम की अपनी कल्पसूत्र-टीका में लिखा है कि "तीर्थोद्गार में यह गाथा देखने में नहीं आती, और 'कालसप्तति' में यद्यपि यह देखी जाती है तथापि उसमें कई क्षेपक गाथाएँ भी मौजूद हैं, और अब चूर्णिकार ने भी इसकी व्याख्या नहीं की; इससे यह संभव नहीं कि मूल ग्रंथकार की यह गाथा हो।" फिर आचार्य मेरुतुंग ने भी अपनी 'विचारश्रेणि' में 'तदुक्तम्' कहकर, ९९३ में चतुर्थी-पर्युषणा होने के विषय में, प्रमाण की भाँति इस गाथा का अवतरण दिया है। एक कालकाचार्य-कथा में इस गाथा का प्रमाण देते हुए लिखा है कि 'प्रथमानुयोगसारोद्धार के दूसरे उदय में यह गाथा है,' परंतु 'प्रथमानुयोगसारोद्धार' का इस समय कहीं भी अस्तित्व न होने से यह कहना कठिन है कि उसी की यह गाथा है या दूसरे ग्रंथ की। क्या आश्चर्य है कि जिनप्रभ सूरि ने जैसे इसको 'तित्थोगाली' के नाम पर चढ़ाया, वैसे ही कालक-कथा-लेखक ने इस पर 'प्रथमानुयोगसारोद्धार' की मुहर लगा दी हो! कुछ भी हो, पर इन भिन्न-भिन्न उल्लेखों से इतना तो सिद्ध होता है कि उक्त गाथा विक्रम की तेरहवीं सदी के पहले की अवश्य है।

अब हमें यह देखना है कि निर्वाण से ९९३ में चतुर्थी-पर्युषणा के स्थापित होनेवाली गाथोक्त बात वास्तव में सत्य है या नहीं। हम देखते हैं कि 'निशीथचूर्णि' आदि सब प्राचीन चूर्णियों और कथाओं में एक-स्वर से यह बात मानी गई है कि 'प्रतिष्ठानपुर के राजा सातवाहन के अनुरोध से कालकाचार्य ने चतुर्थी के दिन पर्युषणा की', और जब हमने यह मान लिया कि सातवाहन के समय में ही हमारा पर्युषणा-पर्व चतुर्थी को हुआ तब यह मानना असंभव है कि वह समय निर्वाण का ९९३ वाँ वर्ष होगा; क्योंकि निर्वाण का ९९३ वाँ वर्ष विक्रम का ५२३ वाँ और ईसवी सन् का ४६६ वाँ वर्ष होगा—जो सातवाहन के समय के साथ बिलकुल नहीं मिल सकता। इतिहास से यह बात सिद्ध हो चुकी है कि ईसवी सन् की तीसरी शताब्दी में ही आंध्र-राज्य का अंत हो चुका था, इसलिये पर्युषणा-

चतुर्थी का जो गाथोक्त समय है वह सर्वथा कल्पित है। हमारा तो अनुमान है कि जब बारहवीं सदी में चतुर्थी से फिर पंचमी में पर्युषणा करने की प्रथा चली, तब[1] चतुर्थी-पर्युषणा को अर्वाचीन ठहराने के विचार से किसी ने उसी समय में उक्त गाथा रच डाली है और गतानुगतिक रूप से पिछले समय में ग्रंथकारों ने अपने ग्रंथ में उसे उद्धृत कर लिया है। चतुर्थी-पर्युषणा का समय हमारी धारणा के अनुसार निर्वाण से ४५३ और ४६५ के बीच में ही ठीक जँचता है; क्योंकि ४५३ के बाद उज्जयिनी में बलमित्र-भानुमित्र का राज्य-काल आरंभ हुआ और ४६५ के अंत में उसकी इतिश्री हो गई। अतएव इस समय के बीच में ही किसी समय बलमित्र के दुर्व्यवहार से कालकाचार्य उज्जैन से निकले और प्रतिष्ठान में जाकर सातवाहन के कहने से पंचमी के स्थान पर चतुर्थी में पर्युषणा की। सातवाहन का समय भी इस घटना-काल के साथ ठीक मिल जाता है।

उपसंहार

वास्तव में आर्य कालक का वृत्तांत केवल कहानी नहीं, ठोस इतिहास है। भारत में शकों के आगमन का इतिहास तो इसमें है ही, पर उनके उत्थान-पतन का भी दिग्दर्शन इससे अच्छी तरह हो जाता है। इसके अतिरिक्त प्राचीन जैन-संघ के संघटन और विघटन का थोड़ा-बहुत आभास भी मिल जाता है। कालक-कथा पर लिखनेवाले हमारे पहले के लेखकों के मन में कुछ बातों पर शंकाएँ रह गई थीं; क्योंकि कालक-कथा के भीतर बलमित्र-भानुमित्र का जो संबंध है, उसका काल-समन्वय नहीं होता था। प्रचलित गणना-पद्धति के अनुसार बलमित्र-भानुमित्र 'कालक' के समकालीन नहीं ठहरते थे। खासकर ४५३ की गर्दभिल्लोच्छेदवाली घटना के साथ उनके समय का मेल नहीं मिलता था। इस कारण से हमारे पूर्व के लेखक—उज्जैन पर शकों की चढ़ाई में बलमित्र-भानुमित्र को भरोच से साथ लाने और उनके शासन-काल में कालकाचार्य के भरोच अथवा उज्जैन जाने के विषय में—सशंक थे। इसके अतिरिक्त उन्हें यह भी मालूम न हुआ था कि निगोदव्याख्यान और शिष्यपरित्यागवाली घटनाओं का कौन-से कालक के साथ संबंध है और इन घटनाओं का उद्भव-काल क्या है। जहाँ तक प्रमाण मिला और तर्क पहुँचा, हमने सब बातों पर विचार कर यथाशक्य सब समस्याओं को सुलझाने की चेष्टा की है।

---

[1] देखिए टिप्पणी नं० ३, पृष्ठ १०१

पुरुषार्थ

महामहोपाध्याय श्री गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी

आर्य-शास्त्रों में चार 'पुरुषार्थ' बतलाए गए हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। 'पुरुषार्थ' शब्द का अर्थ है 'पुरुषैरर्थ्यते पुरुषार्थः'—पुरुष की इष्ट वस्तु ही 'पुरुषार्थ' है। पूर्वोक्त चारों पदार्थ पुरुष को इष्ट होते हैं, अतः ये 'पुरुषार्थ' कहे गए हैं। स्थूल दृष्टि से देखने पर तो यही प्रतीत होता है कि 'अर्थ' और 'काम' ही पुरुषार्थ हैं। पुरुष स्वभावतः अर्थ और काम की ओर झुकते हैं। द्रव्योपार्जन और उसके द्वारा विविध प्रकार के सुखोपभोग करना कौन नहीं चाहता? सच पूछिए तो इन दोनों के बिना पुरुष किसी काम का नहीं। अर्थ और काम से सर्वथा शून्य पुरुष को संसार में कोई 'पुरुष' कहने को भी तैयार न होगा। अर्थ और काम में जो जितनी उन्नति कर चुका है, जितनी संपत्ति जिसके पास है, जितने उपभोग के साधन—सुंदर विशाल भवन, अच्छी से अच्छी सजीली गाड़ियाँ, चमकीले वस्त्राभूषण आदि—जिसको उपलब्ध हैं, वह उतना ही उन्नत कहलाता है, संसार में उतना ही आदर पाता है। इसी लिये बालक से बूढ़े तक, मूर्ख से प्रकांड विद्वान् तक, ग्रामीण से चतुर नागरिक तक, सब इन दोनों के हेतु यथाशक्ति उद्योग करते हैं। जैसी सबकी स्वाभाविक प्रवृत्ति इन दोनों की ओर होती है वैसी धर्म और मोक्ष की ओर नहीं। धर्म और मोक्ष की ओर यदि प्रवृत्ति होती भी है तो केवल विद्वानों की ही—सो भी अपनी इच्छा से नहीं, केवल शास्त्र की आज्ञा से। तब तो जिसमें पुरुष की स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं उसे 'पुरुषार्थ' कहना सर्वथा अनुचित है! आज्ञा और प्रेरणा से प्रवृत्ति होना और बात है, तथा स्वतः इष्ट समझकर प्रवृत्त होना और बात। प्रभु आदि की आज्ञा से तो पुरुष ऐसे कार्य में भी प्रवृत्त देखे जाते हैं जो उनको सर्वथा अनिष्ट है। इसके अतिरिक्त धर्म में प्रवृत्ति भी बहुधा अर्थ और काम के लिये ही होती है। प्रायः

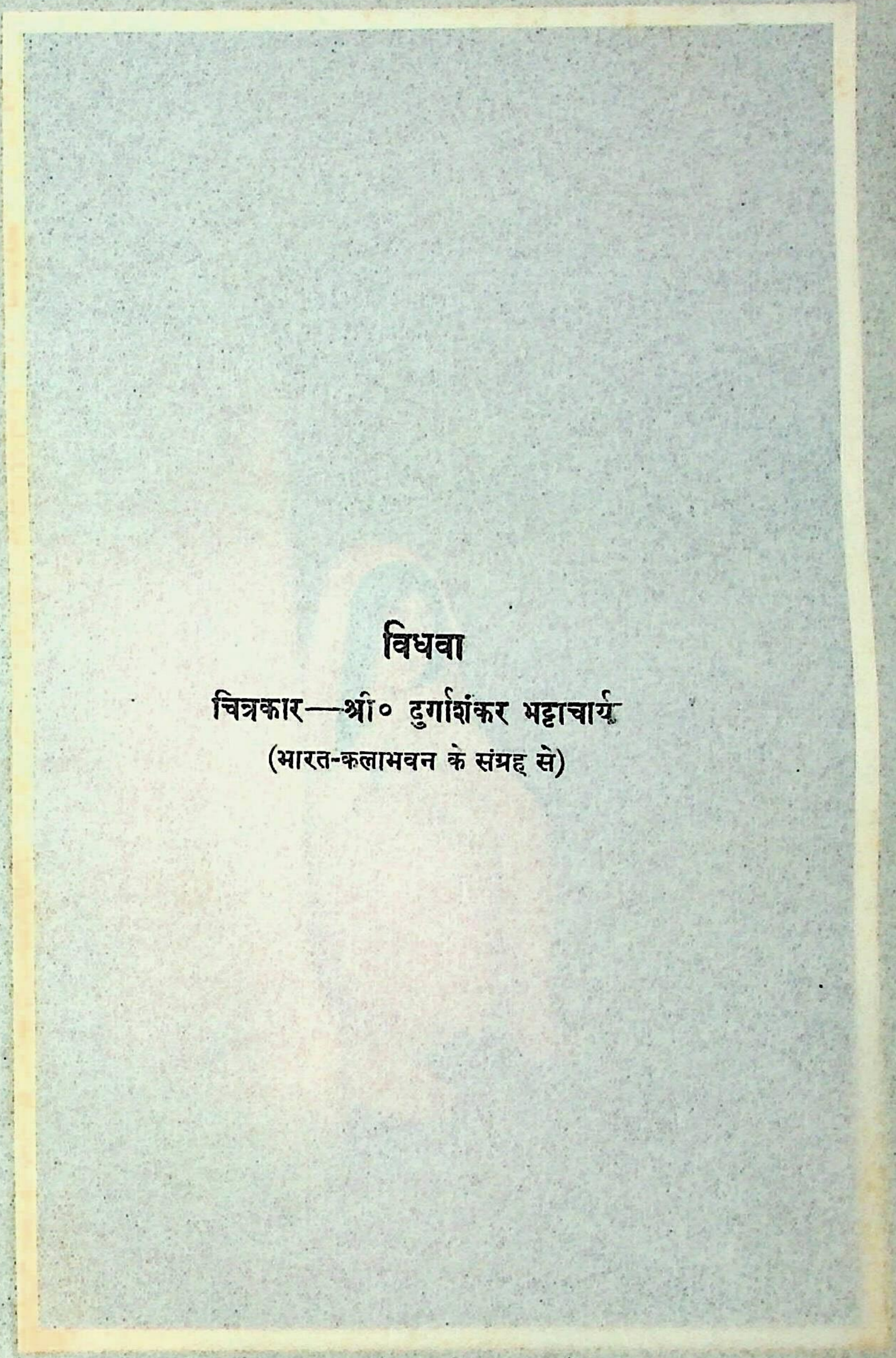

विधवा

चित्रकार—श्री० दुर्गाशंकर भट्टाचार्य

(भारत-कलाभवन के संग्रह से)

पुरुषार्थ

[illegible] 'पुरुषार्थ' शब्द [illegible] पुरुष के [illegible] अर्थ पुरुष [illegible] गए हैं। स्थूल दृष्टि से देखने पर [illegible] स्वभावतः अर्थ और काम की ओर [illegible] करना कौन नहीं चाहता? [illegible] किसी काम का नहीं। [illegible] से सर्वथा शून्य पुरुष [illegible] 'पुरुष' [illegible] होगा। अर्थ और [illegible] उन्नति कर चुका है, जिसकी [illegible] जिसके पास है, जिसने [illegible] के साधन—सुंदर [illegible] से अच्छी [illegible], [illegible] आदि—जिसको उपलब्ध हैं, वह उतना ही [illegible] है, संसार में उतना ही आदर पाता है। इसी लिये बालक से बूढ़े तक, मूर्ख से प्रकांड [illegible] के चतुर नागरिक तक, सब इन दोनों के हेतु यथाशक्ति उद्योग करते हैं। जैसी सबकी [illegible] इन दोनों की ओर होती है वैसी धर्म और मोक्ष की ओर नहीं। धर्म और मोक्ष की ओर [illegible] होती भी है वह केवल विद्वानों की ही—सो भी अपनी इच्छा से नहीं, केवल शास्त्र की आज्ञा से [illegible] पुरुष की स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं उस 'पुरुषार्थ' करना सर्वथा अनुचित है! आज्ञा और [illegible] और पाप है, तथा स्वतः इष्ट समझकर प्रवृत्त होना और पाप। प्रभु आदि की आज्ञा से [illegible] पुरुष [illegible] कार्य में जो प्रवृत्त देखे जाते हैं वह उनको सर्वथा अनिष्ट है। इसके अतिरिक्त धर्म में प्रवृत्ति भी बहुधा अर्थ और काम के लिये ही होती है। अतः

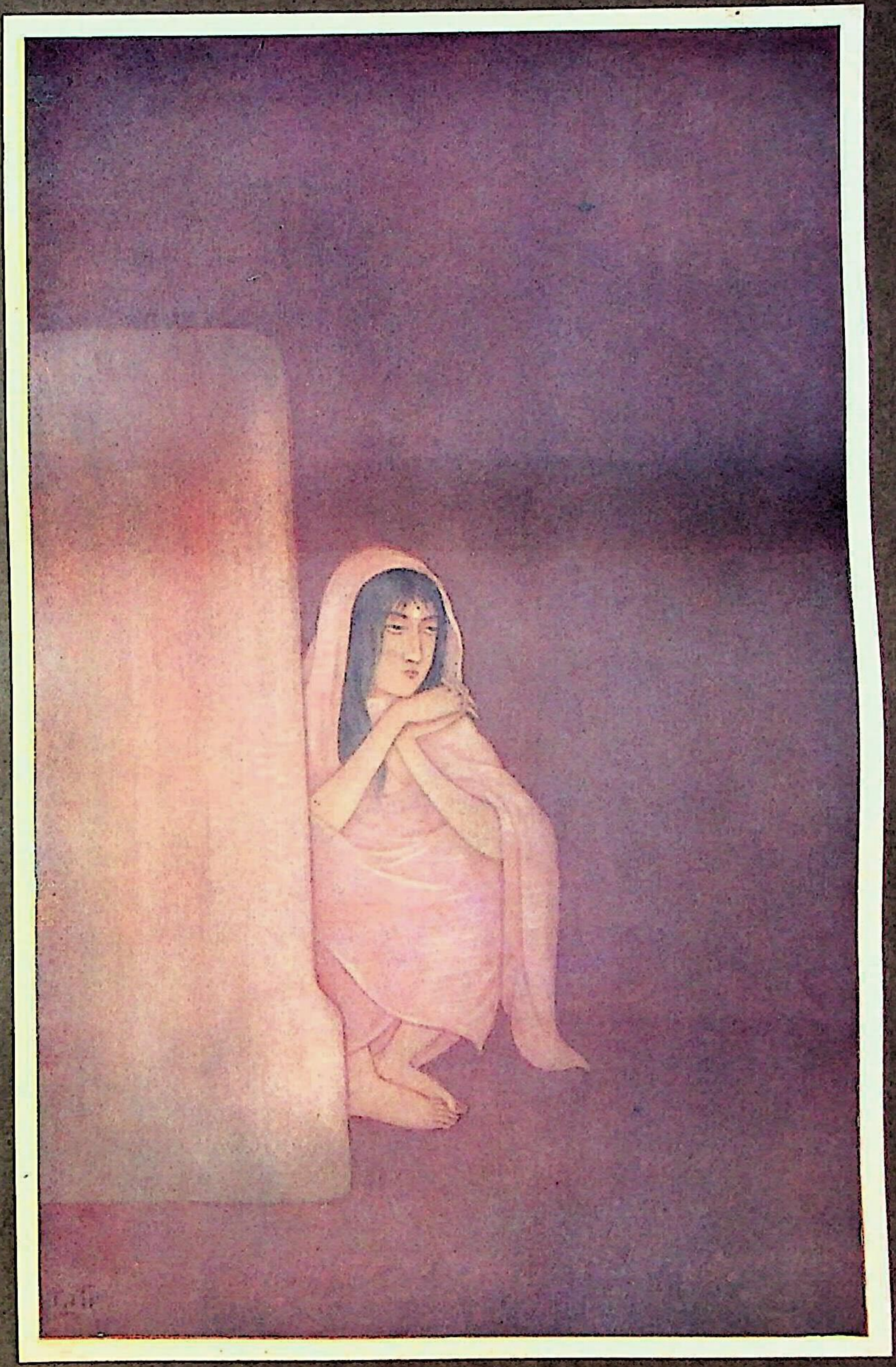

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Nariya, Varanasi

आस्तिक पुरुष कीर्त्ति के लिये या परलोक में धन-प्राप्ति की इच्छा से ही दान करते हैं। परलोक में विविध कामों की प्राप्ति के उद्देश्य से यज्ञ, तप आदि किए जाते हैं। अतः धर्म यदि 'पुरुषार्थ' हो भी, तो स्वयं पुरुषार्थ नहीं, किंतु अर्थ और काम का अंगभूत होकर—उनका साधन होने से गौण पुरुषार्थ हो सकता है। बिना किसी उद्देश्य के, केवल 'धर्म' की इच्छा प्रायः किसी को नहीं होती। मोक्ष का तो स्वरूप ही बहुत कम—इने-गिने आदमी समझ सकते हैं, फिर उसकी इच्छा और उसके विषय की 'प्रवृत्ति' की क्या कथा! सुतरां जिस सार्वभौम भाव से 'अर्थ' और 'काम' पुरुषार्थ कहे जा सकते हैं उस भाव से 'धर्म' और 'मोक्ष' नहीं। यदि कुछ पुरुषों को इनकी चाह हो, तो भी सामान्य रूप से इन्हें 'पुरुषार्थ' नहीं कह सकते। स्थूल दृष्टि से ऐसा ही प्रतीत होता है। किंतु, यदि विज्ञ पाठक विचार-दृष्टि से काम लेंगे, तो सिद्ध हो जायगा कि 'धर्म' और 'मोक्ष' भी सार्वभौम भाव से 'पुरुषार्थ' हैं, प्रत्युत ये ही मुख्य पुरुषार्थ हैं, 'अर्थ' और 'काम' गौण हैं।

इस पर विचार करने से पहले 'धर्म' और 'मोक्ष' शब्द का अर्थ जानना अत्यावश्यक है। 'धर्म' शब्द 'धृ' धातु से बना है, जिसका अर्थ 'धारण करना' है। इससे केवल यही अभिप्राय नहीं कि जो धारण किया जाय वही धर्म है। किंतु 'ध्रियते इति धर्मः और धरतीति धर्मः'—इन दोनों व्युत्पत्तियों के अनुसार जो धारण किया हुआ—तत्तद् वस्तु के स्वरूप को धारण करनेवाला हो, वह उसका धर्म कहा जाता है। 'धर्म' पद का यही अर्थ महाभारत के निम्न-लिखित श्लोक में वर्णित है—

"धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।
यत्स्याद् धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः" ॥

"धारण करने के कारण धर्म को धर्म कहते हैं, धर्म ही प्रजा को धारण करता है"—इत्यादि। अभिप्राय यह कि प्रकृति के प्रवाह में किसी का उत्थान और किसी का पतन बराबर चलता रहता है। शास्त्रकारों का निश्चय है कि यह उत्थान या पतन यादृच्छिक (अकारण) नहीं, किंतु सकारण ही होता है। उत्थान का कारण उपस्थित होने पर उन्नति, और पतन का कारण उपस्थित होने पर पतन अवश्य होगा। इतना भी अवश्य स्मरण रहे कि इस उत्थान वा पतन का कारण क्रिया ही होती है। यह संपूर्ण संसार क्रिया-शक्ति का विजृंभण-मात्र है। बस, जो क्रिया पतन नहीं होने देती—स्वरूप को स्थिर रखती हुई उन्नति की ओर बढ़ाती है, वही 'धर्म' कहलाने के योग्य है। सुतरां स्वरूप-रक्षा ही धर्म का एकमात्र उद्देश्य है। इसके विपरीत जिस क्रिया से पतन होता है—जो क्रिया वस्तु के स्वरूप को नष्ट कर देनेवाली है, वही 'अधर्म' कही जाती है। इस लिये उसका दूसरा नाम है 'पातक'—अर्थात् पतन का (गिरने का) कारण।

ये 'धर्म' और 'अधर्म' शब्द सब वस्तुओं के संबंध में व्यवहृत हो सकते हैं। उदाहरण के लिये समझिए कि जिन क्रियाओं के द्वारा वृक्ष हरा-भरा रहे—पुष्पित और फलित होने के उन्मुख रहे, वे क्रियाएँ वृक्ष के संबंध में 'धर्म' होंगी—चाहे वे वृक्ष की स्वयं शक्ति से उत्पन्न हों या आगंतुक पदार्थों के संबंध से पैदा हुई हों। इसके विपरीत जिनके द्वारा वृक्ष अपना वृक्षत्व छोड़कर स्थाणु (ठूँठ) के रूप में चला जाय, वे क्रियाएँ उसके संबंध में 'अधर्म' होंगी। किंतु जहाँ इतर जड़ पदार्थ वा क्षुद्र प्राणी केवल स्वाभाविक वा

अन्यकृत क्रियाचक्र के अधीन उत्थान या पतन के प्रवाह में उछलते और गोते लगाते हैं, वहाँ ज्ञान-प्रधान पुरुष-जाति स्वाभाविक क्रियाचक्र पर अपना अधिकार जमाती हुई अपने को पतित होने से रोककर उन्नति की ओर प्रवृत्त हो सकती है। अतएव मनुष्य को धर्म और अधर्म का उपदेश शास्त्र द्वारा किया जाता है। शास्त्र हमें बताता है कि अमुक क्रिया के करने से तुम अपने स्वरूप में स्थित रहते हुए उन्नति की ओर बढ़ सकोगे, अतएव यह तुम्हारे पक्ष में 'धर्म' है; और अमुक क्रिया से तुम स्वरूप से पतित हो जाओगे, अतः यह तुम्हारे पक्ष में 'अधर्म' है। विचारशील पाठक स्वयं विचार सकेंगे कि उत्थान और पतन में अपेक्षाकृत अवांतर-भेद बहुत हैं। अतएव सामान्य विशेष भाव से धर्म के भी अवांतर-भेद बहुत हो जाते हैं। जो क्रिया मनुष्यत्व सामान्य के उपयोगी है—जिस कार्य के करने में मनुष्य की मनुष्यता में कोई बाधा नहीं होती, प्रत्युत मनुष्यत्व के उच्च कोटि की ओर ले जानेवाली जो क्रिया हो, वह मनुष्य के पक्ष में सामान्य धर्म कही जायगी; किंतु जो काम करने से मनुष्य मनुष्यता से पतित माना जा सकता है, वह मनुष्य-सामान्य के पक्ष में अधर्म होगा। पूर्वोक्त सामान्य धर्म का परिपालन करते हुए भी—मनुष्यत्व में कोई बाधा न होते हुए भी—जो क्रिया ब्राह्मणत्व में बाधक होगी, जिस क्रिया के द्वारा ब्राह्मण की मूलभूत ज्ञान-शक्ति पर आघात होगा, वह ब्राह्मण के पक्ष में 'अधर्म' होगी। किंतु ब्राह्मणोचित शक्तियों का विकास जिसके द्वारा हो सके, वह ब्राह्मणों का 'धर्म' होगा। यह धर्म विशेष-धर्म या ब्राह्मण-धर्म कहा जायगा। इस विशेष-धर्म के संबंध में यह भी जानना अत्यावश्यक होगा कि जो क्रिया ज्ञान-शक्ति के संबंध में परम उपकार करती हुई भी क्षत्रियत्व की मूलभूत पराक्रम-शक्ति पर आघात पहुँचानेवाली होगी, वह ब्राह्मणों का धर्म होते हुए भी क्षत्रियों के पक्ष में अधर्म कही जायगी। उनकी शक्ति का विकास जिसके द्वारा हो सके, वह उनका धर्म होगा। इस प्रकार प्रति जाति, प्रति श्रेणी, प्रति कुल और प्रति व्यक्ति विशेष-धर्म के अनंत भेद होंगे, जिनका विस्तार करने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। हाँ, इतना और स्मरण करा देना आवश्यक है कि धर्म के विचार में वही उन्नति 'उन्नति' कही जाती है जो भविष्य में पतन का कारण न हो। जहाँ केवल तात्कालिक उन्नति की चमक—किंतु भविष्यत् में अवनति का घोर अंधकार हो, उसे यहाँ उन्नति नहीं कहा जा सकता। वह तो पतन का पूर्वरूपमात्र है और पतन के दुःख को बहुत अधिक कर देनेवाली है। वर्त्तमान में चाहे कुछ कष्ट भी सहना पड़े, किंतु परिणाम अमृतमय हो, वही सच्ची उन्नति है। उसी को शास्त्रों में 'श्रेय' कहते हैं। केवल परलोक ही नहीं, इस लोक की भी स्थिर उन्नति धर्म के ही अधीन है। शास्त्रकार भी धर्म के निरूपण में यही विश्वास दिलाते हैं—

"लोकयात्रार्थमेवेह धर्मस्य नियमः कृतः।
उभयत्र सुखोदर्क इह चैव परत्र च॥"

—महाभारत, अनुशासन-पर्व, अध्याय २६५

अर्थात् लोकस्थिति के निर्वाह के लिये ही धर्म का नियम किया गया है। वह धर्म इहलोक और परलोक में भी परिणाम में सुख देनेवाला होता है।

यहाँ परिणाम से केवल मेरा अभिप्राय यह था कि जैसे कोई चोर या छली अपने पाप के प्रकट होने तक कुछ द्रव्य इकट्ठा कर ले और कुछ काल तक उसका उपभोग करता हुआ उसी को उन्नति मानने लगे,

तो 'उन्नति' शब्द का वह अर्थ यहाँ इष्ट नहीं है। वह तो उसके पतन का पूर्वरूपमात्र है, जिसके अनंतर पतन अवश्यंभावी है। साथ ही यह भी याद रखना होगा कि जो एक व्यक्तिमात्र की उन्नति उसके कुटुंब की, उसके जाति की वा उसके देश की उन्नति में बाधक है, वह उन्नति 'उन्नति' नहीं कही जा सकती; किंतु स्वजनों की और स्वदेश की उन्नति के अनुकूल उन्नति ही सच्ची उन्नति है। जो मनुष्य स्वार्थवश समुदाय को हानि पहुँचाएगा, समुदाय के अंतर्गत होने से उसका प्रभाव उस पर भी पड़ेगा। अतएव वहाँ यही स्पष्ट कहना होगा कि उन्नति के नाम से प्रकारांतर से वह अपनी ही अवनति कर रहा है। समुदाय के प्रश्न को छोड़कर अन्य व्यक्तियों को हानि पहुँचाने से भी इन सब व्यक्तियों द्वारा इसकी भी हानि अवश्य होगी। मान लीजिए कि धर्म का बंधन तोड़कर सब लोग स्वेच्छाचार में लगे हुए हों, ऐसी दशा में यदि मनुष्य औरों को कष्ट पहुँचाकर चोरी, छल आदि से अपने को धनी बनाता है, तो आगे उसको ही स्थिरता क्यों होगी? उससे अधिक चतुर मनुष्य उसकी भी वही दशा करेंगे जो उसने अन्य सीधे-सादे मनुष्यों की की है। इसी आधार पर शास्त्रकार बार-बार आज्ञा देते हैं कि—

"अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः।
या वृत्तिस्तां समास्थाय विप्रो जीवेदनापदि॥"—मनुः
"यदन्यैर्विहितं नेच्छेदात्मनः कर्म पूरुषः।
न तत्परेषु कुर्वीत जानन्नप्रियमात्मनः॥"

—महाभारत, मोक्षानुशासन-पर्व, अध्याय २६५

"अन्य प्राणियों के द्रोह के बिना या अंततः अल्पद्रोह से जो वृत्ति हो सके, उसी का आश्रय ब्राह्मण को ग्रहण करना चाहिए।"—"मनुष्य जिस कार्य का औरों के द्वारा अपने लिये किया जाना नहीं चाहता, वह स्वयं भी दूसरों के लिये न करे।"—इत्यादि।

हाँ, तो जो क्रिया स्वरूप की रक्षा करती हुई उन्नति की ओर ले जाती है उसी का नाम 'धर्म' है। अब विज्ञ पाठक स्वयं विचारें कि क्या कोई मनुष्य ऐसे काम वा अर्थ की इच्छा करेगा जो स्वरूप को नष्ट करनेवाला हो। संसार में जहाँ तक दृष्टि फैलाकर देखिए, यही प्रतीत होगा कि पहले स्वरूप की रक्षा सब चाहते हैं। कितना ही कोई अर्थ या काम में आसक्त पुरुष हो, स्वरूप-नाश का प्रश्न उपस्थित होते ही वह तुरंत अर्थ या काम को नमस्कार कर देता है। कुछ थोड़े-से बुद्धि के शत्रु उन कृपणाचार्यों वा विषय-लंपटों की बात जाने दीजिए, जो क्षुधा से शरीर का नाश करते हुए भी धन ही धन की माला जपते या मद्य-सेवन करते हैं तथा वारांगना-बाहुपाश से बँधे हुए जानते ही नहीं कि स्वरूप क्या होता है और उसका नाश किस चिड़िया का नाम है! वे तो नित्य नए राग और विलास की धुन में मृत्यु के आवाहन-मंत्र स्वयं जपा करते हैं। ऐसे विषयांध जगत् में कम हैं। इनकी प्रवृत्ति का कारण भी आगे दिखाया जायगा। सार्वभौम भाव से यदि प्रवृत्ति सर्वसाधारण की देखी जाय तो यही स्पष्ट होगा कि अर्थ और काम—सबसे बढ़कर पहले स्वरूप-रक्षा की आवश्यकता है। वह स्वरूप-रक्षा धर्म के अधीन है। अतः धर्म ही प्रथम पुरुषार्थ हुआ। यह स्वरूप-रक्षा किसी दूसरे का अंग नहीं, किंतु स्वतः सबकी

इष्ट है; अतः प्रधान पुरुषार्थ है। सच पूछिए तो अर्थ और काम इसी के अंग हैं। जिस पुरुष को जैसे स्वरूप का अभिमान होता है, वह वैसे ही अर्थ और वैसे ही काम-सामग्री की इच्छा किया करता है। स्वरूप-विरोधी अर्थ और काम को इच्छा कोई नहीं करता। इच्छा क्या नहीं करता, बिना स्वरूप के अर्थ और काम हो ही नहीं सकते। अतएव शास्त्रकारों का निश्चय है कि बिना धर्म के अर्थ और काम की स्थिति ही नहीं है—

"अनर्थस्य न कामोऽस्ति तथार्थोऽधर्मिणः कुतः।
तस्मादुद्विजते लोको धर्मार्थाभ्यां बहिष्कृतात्॥"

—महाभारत, आपद्धर्म, अध्याय १६५

"धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते।"—भारत-सावित्री

"परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ।"—मनुः

अस्तु, संक्षेपतः यह सिद्ध हो चुका कि 'स्वरूप-रक्षा' का साधन धर्म है, और स्वरूप-रक्षा के बिना अर्थ और काम की कोई स्थिति नहीं। अब किंचित् यह भी देखना होगा कि स्वरूप-रक्षा का क्या अभिप्राय है। जिस प्रकार के समाज, जाति, कुल, श्रेणी आदि का अभिमान हमको हो, वह सब हमारे स्वरूप में ही प्रविष्ट मान लिया जाता है। इसी लिये धर्म में अवांतर तारतम्य बहुत अधिक हो जाते हैं। जो असभ्य मनुष्य अपने में किसी प्रकार की सभ्यता का अभिमान नहीं रख सकते, उनके पक्ष में धर्म की व्याख्या बहुत कम रह जाती है। उनको केवल अपने स्थूल शरीर का अभिमान है, वही उनका स्वरूप है। उसकी रक्षा जितने से—अर्थात् जिस प्रकार के आहार-विहार से—उनके विचार में हो सकती है, उस धर्म को वे भी बड़े आदर और आग्रह से मानते हैं। स्थूल शरीर के नाशक विषभक्षण आदि से वे भी दूर ही रहेंगे और उसकी उन्नति के लिये बराबर यत्न करेंगे। किंतु तत्काल की उन्नति ही उनके ध्यान में आती है, परिणाम को वे अविद्यावश नहीं समझ सकते। इसी से स्थूल शरीर के लिये भी परिणाम में अपकारक मद्यपान आदि से वे बचना नहीं चाहते। इसी प्रकार कुलरक्षा, समाजरक्षा और सभ्यता, यश आदि की रक्षा को अविद्यावश वे अपनी स्वरूप-रक्षा के अंतर्गत नहीं मानते, और अविद्या के कारण ही इन सब की हानि सह लेते हैं। किंतु जो कुछ वे अपना स्वरूप मानते हैं उसकी रक्षा के साधनों में अवश्य उनकी भी प्रवृत्ति रहती है, इसी से धर्म उनके लिये भी पुरुषार्थ है ही। यही बात सभ्य मनुष्यों के लिये भी कही जा सकती है। ज्यों-ज्यों मनुष्य विद्वान् होता है त्यों-त्यों सामाजिकता, सभ्यता, कुलमर्यादा, यश आदि को भी अपने स्वरूप में प्रविष्ट मानने लगता है, और अपने शरीर के समान ही—प्रत्युत उससे बढ़कर—इन सबकी रक्षा के लिये ध्यान देता है। स्पष्ट देखा जाता है कि शरीर का कष्ट सहते हुए भी सभ्य पुरुष वस्त्र-विन्यास, उठने-बैठने आदि में सभ्यता के नियमों का पालन आवश्यक समझते हैं। जिनको कुलमर्यादा पर विशेष अभिमान है वे मर्यादा को

और जो यश के अभिमानी हैं वे यश को नहीं बिगड़ने देते। 'रघुवंश' के द्वितीय सर्ग में महाकवि कालिदास की यह उक्ति कितनी मार्मिक है—

"किमप्यहिंस्यस्तव चेन्मतोऽहं यशःशरीरे भव मे दयालुः।
एकान्तविध्वंसिषु मद्विधानां पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु॥"

सिंह से राजा दिलीप कहते हैं कि 'हम लोगों का केवल यह हाड़-मांस का शरीर ही शरीर नहीं, एक यश-रूप शरीर हमारा और भी है; और हम लोग इस हाड़-मांस के शरीर की अपेक्षा उस यश-रूप शरीर का बहुत अधिक मूल्य समझते हैं। सो यदि तुम्हें भी मुझ पर दया दिखाना है तो उस यश-रूप शरीर पर ही दया दिखाओ।'

बुद्धिमान् प्रतिष्ठित मनुष्यों की यह स्वाभाविक बात है कि वे यश को अपना स्वरूप मानते हुए उसकी रक्षा के लिये अर्थ और काम को तो तुच्छ समझते ही हैं, शरीर को भी कष्ट देने में किंचित् संकोच नहीं करते। इसी उद्देश्य से यश के साधन 'परोपकार' को सबसे बड़ा धर्म माना गया है।

बुद्धिमान् सभ्य पुरुषों की विवेकशील दृष्टि में 'समाज' भी अपना स्वरूप ही है। समाज और कुछ नहीं, बहुत-से व्यक्तियों का समूह है। यदि सब व्यक्ति उसे अपना स्वरूप न समझें, तो फिर समाज का अस्तित्व कहाँ रहेगा। ऐसे विचारवालों की दृष्टि में जो समाज की उन्नति के साधन हैं वा जिन साधनों के बिना समाज की स्वरूप-रक्षा नहीं हो सकती, वे सब भी धर्म के मुख्य स्वरूप माने जाते हैं।

कल्पना कीजिए एक ऐसे समाज की, जो धन-धान्य से पूर्ण है, सब प्रकार के शिल्प और उच्च कोटि के व्यापार जिसकी शोभा बढ़ा रहे हैं, जिसको अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये कभी दूसरे का मुख नहीं देखना पड़ता। किंतु, यदि उस समाज के सब मनुष्य एक दूसरे का धन हड़प जाने को तैयार हैं, परस्पर धोखा देने में अपना पुरुषार्थ मानते हैं, आपस में लड़ाई-झगड़े करते हैं और अवसर पाते ही एक दूसरे को मार डालने में भी नहीं हिचकते; तो क्या पूर्वोक्त सब ऐश्वर्यों के रहते हुए भी उस समाज को कोई उन्नत कह सकता है? उन्नति तो दूर रहे, क्या उस समाज की जीवन-रक्षा भी कभी हो सकती है—उसे कुछ भी सुख और शांति मिल सकती है? अतएव 'स्वरूप-रक्षा' को समाज-रक्षा के अधीन समझकर ही सभ्य समाज में अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि धर्मों का बहुत ऊँचा आसन है। इतना ही नहीं, समाज को निज स्वरूप माननेवालों के लिये समाज-रक्षा का प्रश्न बड़े महत्त्व का है। उसके सामने वे अपने धन, जन, सुख और शरीर तक का त्याग भी एक सामान्य बात समझते हैं। इसी भाँति देश को स्वरूप माननेवाले, देश-रक्षा के लिये, सबका बलिदान करते हैं। इससे भी बढ़कर, जो अपने को ब्रह्मांड का एक अंश मानते हुए—समस्त ब्रह्मांड में एक आत्मा देखते हुए—समस्त ब्रह्मांड को निज स्वरूप मान चुके हैं, वे ब्रह्मांड के हित के लिये सर्वस्व का बलिदान करने को प्रस्तुत रहते हैं। इसी भाव से प्रेरित होकर जगत् की रक्षा के लिये दधीचि ने अपनी हड्डियाँ भी दे दी थीं। ऐसे ही पुरुषों के लिये कहा गया है कि 'उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्'। अस्तु, विज्ञ पाठक विचारेंगे कि इसी प्रकार विद्वान् सभ्य

पुरुषों के पक्ष में क्रमशः धर्म की व्याख्या विस्तृत होती जाती है। यहाँ यह भी जानना आवश्यक है कि विद्या से मनुष्य परिणामदर्शी बनता है, अतएव ज्यों-ज्यों किसी कार्य से परिणाम में बुराई प्रतीत होती जाती है त्यों-त्यों वह कार्य विद्वानों के समाज में हेय माना जाता है। इसी आधार पर मद्य-मांस-वर्जन आदि विद्वत्समाज में बड़े धर्म समझे गए हैं।

यह स्वरूप के बाह्य विस्तार का संक्षेप हुआ, अब आंतर विस्तार की ओर आइए।

जिस समाज में दर्शन-शास्त्र का विशेष प्रचार या चर्चा नहीं वह स्वरूप-रक्षा का कोई यत्न नहीं कर सकता, अथवा यों कहिए कि जो पूर्णतया यह स्पष्ट नहीं जानते कि इस स्थूल शरीर के बाद भी कुछ रहता है—परलोक में जानेवाला या पुनर्जन्म पानेवाला भी कोई है, वे उसकी स्वरूप-रक्षा या उन्नति के लिये भी कोई यत्न नहीं कर सकते; उनकी धर्म-व्याख्या स्थूल तत्त्वों पर ही समाप्त हो जाती है। किंतु जो अपनी वैज्ञानिक दृष्टि से स्थूल शरीर के अतिरिक्त सूक्ष्म शरीर का भी पूर्ण अनुभव कर चुके हैं, और गंभीर तत्त्व के तल तक पहुँचनेवाली जिनकी दृष्टि उस सूक्ष्म शरीर की स्वरूप-रक्षा और उन्नति के उपायों को भी देख चुकी है, उन विद्वान् महानुभावों के समाज में धर्म की व्याख्या बहुत विस्तृत है। वे स्थूल शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म शरीर की उन्नति को बहुत अधिक प्रतिष्ठा देते हैं। अतएव परलोक-संबंधी धर्म ऐसे समाज में सबसे प्रधान माने जाते हैं। 'परिणाम' शब्द से इनके यहाँ परलोक की उन्नति ही समझी जाती है। स्थूल शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म शरीर बहुत अधिक स्थायी है; वह इस शरीर को छोड़कर अनेक लोकों तथा दूसरे शरीरों में भी जाता है; उसको आगे सद्गति की ओर ले जाना या दुर्गति की ओर गिराना अपने ही कर्मों पर निर्भर है—इस तत्त्व को समझ जानेवाला विद्वान् या विद्वत्समाज स्वभावतः उसी की उन्नति के यत्नों में लग जाता है। यही कारण है कि आर्य-जाति के धर्म का विशेष संबंध परलोक से है और इस जाति की धर्म-व्याख्या अति विस्तृत एवं कठिन है। लाखों वर्ष पूर्व यह जाति दार्शनिक विज्ञान में चरम उन्नति कर चुकी थी—और स्थूल, सूक्ष्म, कारणशरीर, आत्मा, लोक, परलोक-गति आदि का पूर्ण ज्ञान भी प्राप्त कर चुकी थी; साथ ही अपने तलस्पर्शी विज्ञान के द्वारा परलोक की उन्नति के साधन भी निश्चित कर चुकी थी। हमारे यज्ञ, तप, उपासना, योग, श्राद्ध आदि धर्मों का उच्चतम विज्ञान से घनिष्ठ संबंध है, और वे सब सूक्ष्म शरीर की उन्नति के द्वारा परलोक की सद्गति के युक्तियुक्त साधन हैं। भले ही हम आज अज्ञानवश कर्मकांड के वायु-शुद्धि आदि छोटे-छोटे फलों की कल्पना किया करें, किंतु कर्मकांड के आकर-ग्रंथ 'ब्राह्मण' आदि हमें ऐसा नहीं बताते। वहाँ स्पष्ट परलोक-गति ही अधिकतर कर्मों का मुख्य फल माना गया है। मीमांसा में एक 'विश्वजित् अधिकरण' नाम का न्याय ही इसलिये है कि जिस कर्म का कोई फल श्रुति में न लिखा हो उसका फल स्वर्ग ही समझना। उपासना और ज्ञानकांड का तो परलोक-गति से मुख्य संबंध है ही। वे सूक्ष्म शरीर, कारण-शरीर वा व्यावहारिक आत्मा की उन्नति के लक्ष्य से ही नियमित हैं।

स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर का भेद न जानते हुए जनसाधारण भी अविज्ञात भाव से सूक्ष्म शरीर की वृत्तियों का अभिमान रखते हैं, और उन वृत्तियों को ही अपना मुख्य स्वरूप मानते हुए उनकी

रक्षा में शरीर तक का समर्पण कर बैठते हैं। सूक्ष्म शरीर में मन प्रधान है, अतः मन की सब वृत्तियाँ सूक्ष्म शरीर के ही अंतर्गत मानी जाती हैं। बहुत-से दयालु पुरुष दयावृत्ति को प्रधानता देते हुए—उसी को स्वरूप मानकर जैसे विपत्ति में पड़े हुए प्राणी की रक्षा के लिये अपना धन, जन, शरीर, प्राण, सब कुछ छोड़ सकते हैं वैसे ही लोभी पुरुष लोभवृत्ति के चक्कर में पड़कर वा कामी पुरुष कामवृत्ति के वश में होकर भी सबका त्याग कर सकते हैं। यह त्याग भी स्वरूप-रक्षा के अभिमान से ही होता है। यह दूसरी बात है कि वह अभिमान उचित है वा अनुचित, सत्य है वा मिथ्या। लोभ, काम आदि वृत्तियाँ आगंतुक हैं, ये स्वरूप नहीं कही जा सकतीं; अतएव इनकी रक्षा के उपाय भी धर्म नहीं हो सकते। किंतु जिन्होंने भ्रांतिवश इनको स्वरूप समझ लिया, वे अधर्म को धर्म समझकर इन वृत्तियों के परिपालन में लगते हैं। अतः धर्म की अभिलाषा वहाँ भी है, धर्म का यथार्थ ज्ञान नहीं है। सूक्ष्म शरीर, कारणशरीर वा आत्मा का तत्त्व जानने पर धर्म का यथार्थ ज्ञान हो जाता है और आचरण में सत्यता आ जाती है। तात्पर्य यह कि जो समाज दर्शन-विज्ञान प्राप्त कर चुका हो उसकी 'स्वरूप-रक्षा' कुछ और ही है, और उस जाति की धर्मव्याख्या अति विस्तृत एवं उच्च विज्ञान से संबंध रखने के कारण अति कठिन होती है। वह जाति अपने मुख्य धर्म के सामने अर्थ-कामादि की सब प्रकार की उन्नति को गौण समझती है। उस जाति का धर्म औरों के धर्म की अपेक्षा विलक्षण ही होता है। यही कारण है कि हमारे पूर्वज ऋषि-मुनि लौकिक उन्नति को गौण और तुच्छ ही मानते रहे। यद्यपि वे लौकिक उन्नति के भी सब साधनों के पारंगत विद्वान् तथा आचार्य थे—पारलौकिक उन्नति का जिनको पूर्ण अधिकार नहीं उन्हें वे लौकिक उन्नति के साधनों की पूर्ण शिक्षा भी दे गए हैं, तथापि उनका अपना लक्ष्य यही था कि "ब्राह्मणस्य तु देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते, इह क्लेशाय तपसे प्रेत्यानन्तसुखाय च।—अर्थात् ब्राह्मणों की देह छोटी कामनाओं की पूर्ति करने के लिये नहीं है। वे इस जन्म में पूरा क्लेश उठावें और परलोक में अनंत सुख प्राप्त करें।" यह तो एक स्वाभाविक बात है कि बड़ी और अधिक काल की उन्नति के सामने छोटी और अल्पकाल की उन्नति को सभी छोड़ दिया करते हैं। आगे उत्पन्न होनेवाले धान्य की आशा से घर के थोड़े धान्य को खेत में फेंक देनेवाले कृषक वा घर की पूँजी को पहले ही खपा देनेवाले व्यापारी इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। फिर जिनको परलोक का निश्चित ज्ञान है—जो उस विभूति के सामने यहाँ की विभूतियों को तुच्छ ही नहीं, तृण के समान निःसार मानते हैं और इसकी अपेक्षा उसके बहुत स्थिर होने का जिनको निश्चय है, वे उस उन्नति की आशा में यदि इसे छोड़ें तो यह अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता।

बृहदारण्यक उपनिषद् में एक आख्यायिका है। महर्षि याज्ञवल्क्य संन्यासाश्रम में प्रवेश करना चाहते हैं। उनके दो स्त्रियाँ थीं। वे अपनी स्त्री 'मैत्रेयी' से कहते हैं—'मैत्रेयी! मैं अब संन्यास लेता हूँ, मैं अपने धन का तुम दोनों में विभाग कर देना चाहता हूँ।' मैत्रेयी पूछती है—'भगवन्! क्या यह संपूर्ण पृथिवी धन से भरी हुई मुझे मिल जाय तो मैं अमृतदशा को प्राप्त हो सकूँगी?' याज्ञवल्क्य ने कहा—'नहीं! धनवानों की तरह तेरा जीवन होगा; धन से अमृतदशा की तो आशा नहीं की जा सकती।' बस, मैत्रेयी बोल उठी—'जिससे मैं अमृत न होऊँगी उस धन को लेकर क्या करूँगी? जो आपका

मुख्य धन (आत्मज्ञान) है वही मुझे दीजिए।' इसके बाद याज्ञवल्क्य ने समझाया कि आत्मा के संबंध से ही सब वस्तुओं में प्रियता होती है, इसलिये आनंदघन-रूप आत्मा का ही विज्ञान प्राप्त करना चाहिए—इत्यादि। सत्य है। जिसे जिस रस का चसका है वह उसी के लिये मत्त है, संसार में उसे और कुछ नहीं सूझता। जिस प्रकार संसारी मनुष्य धन, पुत्र, कलत्र आदि के सुख में मत्त हैं उसी प्रकार भक्त भक्ति में और ज्ञानी ज्ञान में मत्त रहते हैं। सबकी प्रवृत्ति स्वाभाविक है, किसी की बलात् नहीं। अस्तु, ऊपर कहा जा चुका है कि स्वरूप-रक्षा के साधन का नाम 'धर्म' है। उसमें आबाल-गोपाल सर्वसाधारण की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। अर्थ और काम, स्वरूप-रक्षा की तुलना में, तुच्छ सिद्ध होते हैं। अतः पुरुषार्थ-विचार में धर्म का, अर्थ और काम सबसे, बहुत अधिक गौरव है। लौकिक और पारलौकिक, सब प्रकार की, उन्नति धर्म के ही अधीन है। किंतु जो जितना अपना स्वरूप समझ सकता है वा जिस स्वरूप का जिसे मुख्य रूप से अभिमान है—अर्थात् स्वरूप में प्रविष्ट बहुत-से पदार्थों में से जिसे जिसने मुख्य मान रक्खा है, उसी की रक्षा के लिये वह यत्न करता है। एक गरीब को केवल अपनी कुटिया की रक्षा की चिंता होती है; किंतु राजा को संपूर्ण राज्य के रक्षा की चिंता लगी रहती है। इसी प्रकार अधिकाधिक विद्या के कारण जो अपना स्वरूप जितनी उत्तमता से जान सकें, उनका धर्म उतना ही विस्तृत होता है। स्वरूपांतः प्रविष्ट पदार्थों में से भी अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार कोई किसी को और कोई किसी को मुख्य मानता है, उसी पर उसका स्वरूपाभिमान दृढ़ होता है और उसी की उन्नति में वह प्रयत्नशील होता है। इसी आधार पर धर्मों के बहुत भेद हो जाते हैं, और इसी आधार पर कुछ साधारण धर्म सबके एक-से रहते हैं; क्योंकि मनुष्यता, सामाजिकता आदि का अभिमान सबको एक-सा ही रहता है। आर्य-जाति अनादि काल से विद्वत्ता के उच्च आसन पर आरूढ़ है, इससे इसका धर्म भी बहुत विस्तृत है।

स्वरूप-रक्षा का साधन होने के कारण, अर्थ और काम से धर्म की उत्कृष्टता सिद्ध की जा चुकी है। अब उस विषय में दूसरी दृष्टि से भी विचार किया जाय। वास्तव में पुरुषार्थ 'सुख' है, और सब गौण पुरुषार्थ हैं। आनंद ही के लिये सब मनुष्य सब काल में, सब दशा में, लालायित रहते हैं। सबकी दृष्टि एक ही लक्ष्य 'आनंद' पर है। कोई धन कमा रहा है तो आनंद के लिये, और कोई धन खर्च कर रहा है तो आनंद के लिये। अर्थ, काम, धर्म आदि जिस-किसी वस्तु की इच्छा पुरुष को होती है, बस आनंद के लिये ही होती है। इसलिये 'पुरुषैरर्थ्यते यः स पुरुषार्थः'—पुरुष को जिसकी इच्छा हो वह 'पुरुषार्थ' है—इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'पुरुषार्थ' आनंद या सुख ही हुआ, और सब उसके साधन होने से गौण पुरुषार्थ हुए। सुख के साधन ये तीनों हैं—धर्म, अर्थ और काम; इसलिये ये भी 'पुरुषार्थ' कहाते हैं। इनमें भी 'धर्म' ही सुख का मुख्य साधन है, अतः वह साधनों में 'मुख्य पुरुषार्थ' है, इतर दोनों गौण हैं। इसका कारण यह है कि शुभ आचरण-रूप धर्म के बिना अर्थ और काम की प्राप्ति ही असंभव है। शास्त्राज्ञा-रूप धर्म का आचरण करते हुए ही सब वर्ण और जाति के मनुष्य अपनी-अपनी वृत्ति से उपयुक्त धनोपार्जन कर सकते हैं। धर्म के विरुद्ध साधनों से उपार्जन किया हुआ धन कभी सुख का कारण नहीं हो सकता, प्रत्युत अनंत दुःख उत्पन्न करनेवाला होता है। यह चोरी आदि दृष्टांतों

से नीतिवेत्ता भी मानेंगे। साथ ही, धर्म-विरुद्ध पर-स्त्री आदि का काम-भोग भी कभी सुखजनक नहीं हो सकता। मोहवश चाहे उन कामों में बहुत-से लोग प्रवृत्त हो जाते हों, पर उनका समर्थन वे स्वयं भी नहीं कर सकते, और उन अर्थ-कामों से उन्हें कितना सुख और कितना दुःख होता है—यह तोल भी उनका आत्मा ही जानता है। यहाँ पर यह भी विचारणीय है कि अर्थ या काम से सुख तभी होता है जब उनमें संतोष हो और ईश्वर पर लक्ष्य हो। संतोष की मात्रा के बिना, धन कमाने से अधिकाधिक तृष्णा बढ़ती जाती है; और तृष्णा की ज्वाला से तपे हुए इधर-उधर दौड़-धूप करनेवाले विश्राम-शून्य मनुष्यों को सुख का लेश भी नहीं मिल सकता। स्वयं काम-भोग करते हुए भी जो दूसरों की ईर्ष्या से जले जाते हैं, अथवा जो उत्कट काम-भोग के द्वारा अपनी इच्छा को बढ़ाते हुए भी काम-भोग के साधन—शरीर, इंद्रिय आदि—को जर्जर कर लेते हैं, वे क्या स्वप्न में भी सुखी होते हैं? फिर अर्थ और काम का स्वभाव ही नश्वरता है, वे कभी स्थिर रह नहीं सकते; उनके विनाश पर ईश्वर-लक्ष्यवाले पुरुष ईश्वरेच्छा को बलवान् मानते हुए दुःख से बच सकते हैं, किंतु जो उधर लक्ष्य नहीं रखते वे अथाह दुःख-सागर में डूबते हैं। इस प्रकार धर्म की सहायता भी सुख-साधन में अत्यावश्यक सिद्ध हुई। सारांश यह कि सुख वही पुरुषार्थ है जो दुःख से दबाया न जाय। जहाँ सुख एक अंश और दुःख दो-तीन अंश हो वहाँ कोई विद्वान् प्रवृत्त नहीं होता। यदि धर्म के द्वारा अर्थ और काम की मर्यादा रक्खी जाय तो वे सुख-साधन हो सकते हैं; परंतु धर्म की मर्यादा के बिना वे सुख की अपेक्षा दुःख ही अधिक उत्पन्न करते हैं। इससे भी सुख के साथ धर्म का ही घनिष्ठ संबंध सिद्ध होता है और सुख के साधनों में 'धर्म' ही प्रधान पुरुषार्थ मानने योग्य ठहरता है। शास्त्रों में जो सुख का स्वरूप बड़ी विवेचना के साथ निरूपित हुआ है उस पर एक दृष्टि डालने से तो यह विषय अत्यंत स्फुट हो जाता है। 'सुख' या 'आनंद'[1] बाहर की वस्तु नहीं, यह आंतरिक वस्तु है, या यों कहिए कि आत्मा का स्वरूप है। अविद्या के परिणाम—अंतःकरण के आवरण से ढँके रहने—के कारण यह आनंद हमें सदा प्रतीत नहीं होता। किंतु जब अंतःकरण में सत्त्वगुण की प्रधानता होती है और वह स्वच्छ हो जाता है तब जैसे स्वच्छ शीशे से निकलकर दीपक की प्रभा चारों ओर फैल जाती है वैसे ही आत्मा की आनंद-ज्योति प्रकट होकर बाह्य विषयों तक फैल जाती है। उसी को हम लोग आनंदानुभव—'सुख की प्रतीति'—मानते हैं। सुख की प्रतीति सत्त्वगुण की प्रधानता पर अवलंबित है, और सत्त्वगुण की प्रधानता के साधन का ही नाम 'धर्म' है।

जिस अर्थ या काम की प्राप्ति के लिये पुरुष विकल रहता है और जी-तोड़ परिश्रम करता रहता है, उसकी प्राप्ति के समय वह विकलता—वह चित्त की चंचलता—दूर हो जाती है और स्थिर चित्त में सत्त्व का उदय होता है। इसी से अर्थ और काम की प्राप्ति में सुख की प्रतीति होती है। महात्मा भर्तृहरि की उक्ति कैसी मार्मिक है—

तृषा शुष्यत्यास्ये पिबति सलिलं स्वादु सुरभि
क्षुधार्त्तः सन् शालीन् कवलयति शाकादि वलितान्।

---

[1] शास्त्रीय विवेचना में इन दोनों शब्दों ('सुख' और 'आनंद') के अर्थ में सूक्ष्म भेद है, परंतु यहाँ स्थूल रूप से एकार्थक मानने में कोई क्षति नहीं।

प्रदीप्ते कामाग्नौ सुदृढतरमालिङ्गति वधूं
प्रतीकारो व्याधेः सुखमिति विपर्यस्यति जनः ॥

अर्थात्—"जब तृषा से मुख सूखने लगता है तब सुंदर जल पीकर उसका प्रतीकार किया जाता है। क्षुधा की व्याधि उपस्थित होने पर शाक-ओदन आदि द्वारा उसका निवारण होता है। काम की अग्नि ज्वलित होने पर स्त्री-संयोग से उसे शांत किया जाता है। इस प्रकार रोग के प्रतीकारों को ही मनुष्य धोखे से सुख मान रहे हैं।"—तात्पर्य यही है कि दुःख-जनित चित्त की चंचलता मिटाना ही बाह्य विषयों के संग्रह का उद्देश्य है, सुख तो स्थिर चित्त में स्वतः प्रकाशित होता है। यह चित्त की स्थिरता अर्थ-कामों से, बिना धर्म की नियंत्रणा के, नहीं हो सकती। अधिकाधिक इच्छा से चंचलता बढ़ती ही जायगी। अतः धर्म के बिना अर्थ और काम 'पुरुषार्थ' नहीं। किंतु धर्म, बिना अर्थ और काम के भी, पुरुषार्थ है। कारण, इच्छा-वृत्तियों को रोककर वा समाधि द्वारा, बिना बाह्य विषयों के भी, चित्त की स्थिरता प्राप्त की जा सकती है। इसका आशय यह है कि इच्छा, द्वेष आदि वृत्तियाँ जो मन में चंचलता पैदा करनेवाली हैं, उनके हटने पर चित्त की चंचलता दूर होना ही सुख है। उन वृत्तियों का हटना दोनों प्रकार से संभव है—उनके अनुकूल पदार्थ प्राप्त करके या विचार द्वारा उन्हें पैदा ही न होने देने से। पहला उपाय सभी प्राणी करते हैं, किंतु उससे यथार्थ सिद्धि नहीं होती। एक इच्छा के पूरी होने पर भी आगे इच्छा का स्रोत बहता ही रहता है। सब इच्छाएँ तो कभी किसी की पूरी हो ही नहीं सकतीं, और यदि पूरी हों भी तो यह नहीं कहा जा सकता कि अब आगे इच्छा होगी ही नहीं। जहाँ फिर इच्छा उत्पन्न हुई कि फिर चंचलता और दुःख! ऐसा ही द्वेष आदि के संबंध में भी समझिए। अंतःकरण में इस द्वेष दुष्ट का राज्य होने पर भले-भले आदमी भी क्या नहीं कर डालते। अपने उपकारकों पर भी यह दुष्ट आक्रमण करवा देता है। सीधे-सादे और भोले-भाले आदमियों से भी यह छल-प्रपंच करा डालता है! इस भूत के आवेश में आकर मनुष्य अपने-आपको योग्य पुरुषों की दृष्टि से गिरा लेता है। कलुष हृदय की आकृति बाहर तक प्रकट हो जाती है। किंतु, यदि पूर्ण उद्योग से छल-प्रपंच कर आप कदाचित् अपने शत्रु पर विजय भी पा सकें, तो क्या वह सुख चिरस्थायी है? याद रखिए, अंत में सत्य की विजय होगी और जिस सुख पर आप फूल रहे हैं उसका परिणाम घोर दुःख होगा।

इसी प्रकार मन के सब विकारों पर विचार कर लीजिए। किंतु जो धर्म-मार्ग के पथिक हैं वे संतोष, निर्वैरता, करुणा आदि की ऐसी सघन छाया में बैठ जाते हैं कि इन मनोविकारों का प्रचंड आतप उन्हें सता ही नहीं सकता। योगदर्शनकार भगवान् पतंजलि कहते हैं—"यदि चित्त की प्रसन्नता चाहते हो तो किसी प्राणी का अभ्युदय देखकर उसके साथ ईर्ष्या करने के स्थान में उसे अपना मित्र समझो। किसी को दुःख पाता देखकर प्रसन्न मत हो, उस पर करुणा करो। पवित्र कार्य करते हुए पुरुषों को देखकर हर्ष-युक्त हो। पापियों की—यदि वे नहीं मानते हैं तो—उपेक्षा करो, उनसे झगड़ा मत करो; प्रत्युत उनको सुबुद्धि देने के हेतु परमपिता जगदीश्वर से प्रार्थना करो।"

यही प्रसन्नता के उपाय हैं जो धर्म-कल्प-वृक्ष के आश्रय के बिना मिल ही नहीं सकते।

निष्कर्ष यह कि हर तरह से मुख्य पुरुषार्थ 'सुख' ही है, और दुःखों के अभाव के बिना सुख प्रतीत हो नहीं सकता। केवल अर्थ और काम से कुछ काल तक सुख हुआ भी तो वह दुःख के साथ ही रहेगा, दुःख को दबा नहीं सकता। किंतु धर्म तो अर्थ और काम के साथ रह कर भी सुख प्रतीत करा सकता है और उनकी सहायता के बिना भी सुख-साधन हो सकता है।

जब यह सिद्ध हो चुका कि धर्म ही मुख्य पुरुषार्थ है, तब, अब मोक्ष के संबंध में थोड़ा विचार करना चाहिए। हम पहले कह आए हैं कि प्राणिमात्र दुःख का अभाव चाहते हैं। सुख के साथ भी दुःख भोगना कोई स्वीकार न करेगा। दुःख से छुटकारा पाने की ओर सबकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। ऐसी स्थिति में मोक्ष के परम पुरुषार्थ होने में किसी प्रकार की शंका ही नहीं रह जाती; क्योंकि दुःख-निवृत्ति का ही नाम मोक्ष है। यह दूसरी बात है कि संसार में सब दुःखों का अभाव कभी हो नहीं सकता, अतः मोक्षार्थी पुरुषों को संसार से विमुख होना पड़ता है, इससे भयंकर समझ कर सब उसके लिये प्रवृत्त न हो सकें; किंतु मुक्ति की ओर प्रवृत्त होना स्वाभाविक है, कृत्रिम नहीं।

जो सज्जन इस प्रकार की शंका उठाते हैं कि जिस मोक्ष-दशा में सुख या दुःख किसी का भी अनुभव नहीं होता उसकी तरफ भला कौन प्रवृत्त हो, उनसे हमारा यही संक्षिप्त निवेदन है कि आप अतुल सुख भोगते हुए भी—विविध प्रकार की विलास-सामग्री सामने रहते हुए भी—क्यों नित्य शयन की इच्छा करते हैं—कौन-सा हेतु है जो आपको सब सुखों से हटाकर उस निद्रा की ओर बलात् खींच ले जाता है जिसमें किसी दुःख या सुख का अनुभव नहीं होता? अगत्या मानना पड़ेगा कि सांसारिक श्रम-रूपी दुःख से बचने के लिये शांति-रूपी निद्रा की ओर सबका झुकाव स्वाभाविक है; किंतु अनादि-काल की वासना से घिरे हुए हम लोग उस शांति का चिरानुभव नहीं कर सकते—वासना हमें फिर उधर से इधर घसीट लाती है। तब, जो महानुभाव शांति का तत्त्व समझ जाते हैं वे सब वासनाओं के क्षय में लगकर मोक्ष-मार्ग के पथिक बन जाते हैं। शांत्यानंद ही मुख्य आनंद है, समृद्ध्यानंद तो उसका साधन-मात्र है। जिस समय मनुष्य कोई नई उन्नति करता है—उसे कुछ धन मिले, ऐश्वर्य मिले वा पुत्र-जन्म हो, उस समय कुछ काल के लिये अंतःकरण में विकास होता है, मानों उस नए विषय को पकड़ने के लिये अंतःकरण फूल उठता है। किंतु थोड़े समय के अनंतर उस धन, ऐश्वर्य और पुत्र के विद्यमान रहने पर भी वह आनंद-प्रतीति नहीं रहती। अब वह नया पदार्थ भी अपने स्वरूप में आ गया, इसलिये स्वरूपभूत शांत्यानंद ही अब रह गया, वह चित्तवृत्ति का विकास होते समय जो एक विशेष चमत्कार-रूप से आनंद का अनुभव हुआ था, अब न रहा! हाँ, यदि वह नया पदार्थ अब चला जाय तो दुःख होगा। पहले जब वह न था तब दुःख की वेदना वैसी न थी जैसी अब उसके चले जाने पर होगी। इसका कारण स्पष्ट है कि पहले वह पदार्थ अपने स्वरूप में नहीं था, अब उसके हटने से स्वरूप-हानि-प्रयुक्त दुःख होगा ही।

अस्तु, कहने का तात्पर्य यह कि यों समृद्ध्यानंद क्रम से शांत्यानंद के रूप में परिणत हो जाता है, और शांत्यानंद आत्मा का स्वरूप है। मोक्ष के संबंध में जो यह विवाद दर्शनों में है कि कोई मोक्ष में सुख मानते हैं और कोई नहीं मानते, उसका भी निपटारा इसी रूप में ठीक होता है कि

स्वरूपानंद—अर्थात् शांत्यानंद—मोक्ष में है, समृद्ध्यानंद नहीं। मोक्ष 'सर्वात्मभाव' कहा जाता है, अर्थात् सब कुछ उसके आत्मा—स्वरूप—में आ चुका। जब सब स्वरूप बन गया, तब फिर नई वस्तु मिलेगी कैसे और विकास कहाँ से होगा? इसलिये समृद्ध्यानंद वहाँ नहीं होता, किंतु सब कुछ हमारा हो जाने पर—वा हमारे सर्वरूप हो जाने पर—कमी किस बात की रही? शांत्यानंद जो मुख्यानंद है वह तो अनंतरूप में प्राप्त हो गया! मान लीजिए, एक पुरुष ऐसा है जो सांसारिक दृष्टि से पूर्ण उन्नति प्राप्त कर महाराजाधिराज बन गया। उसे अब प्राप्तव्य कुछ न रहा। दूसरा क्रम-क्रम से अपना अधिकार बढ़ाता जाता है और अधिकार बढ़ने की दशा में नित्य-नित्य सुख का अनुभव करता है। इन दोनों में ऊँचे दर्जे का तो वही कहलाएगा जो सब कुछ प्राप्त कर चुका है। यह दूसरा भी कभी उस स्थिति पर पहुँचेगा—उसके लिये यह लालायित है। बस, इसी तरह सर्वात्मभाव प्राप्त कर चुकनेवाला मुक्त पुरुष ही पूर्ण शांत है, संसारी लोग उसी स्थिति में पहुँचकर झंझट से छूटेंगे।

इस प्रकार, संक्षेप में सिद्ध यह किया गया है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नाम से जो चार पुरुषार्थ आर्यशास्त्रों में निरूपित हुए हैं उनका स्वरूप क्रम से स्वरूप-रक्षा, सांसारिक उन्नति, भोग-विलास और दुःख-निवृत्ति है। ये ही प्राणिमात्र के इष्ट पदार्थ हैं। किसी भी इच्छा का लक्ष्य इनसे बाहर नहीं जा सकता। इसलिये ये चारों ही पुरुषार्थ हैं। और, चार ही पुरुषार्थ हैं भी, अधिक नहीं। सामान्यतः तो चारों ही पुरुषार्थ हैं; किंतु विचार-दृष्टि से सिद्ध यही होता है कि 'मोक्ष' तो परम पुरुषार्थ है, किंतु सांसारिकों के लिये त्रिवर्ग में 'धर्म' ही मुख्य पुरुषार्थ है, और 'अर्थ' तथा 'काम' गौण पुरुषार्थ हैं। प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों मार्गों पर दृष्टि रखकर दो प्रकार से धर्म की मुख्य पुरुषार्थता संक्षेप से सिद्ध की गई है। धर्म की ओर सबकी स्वाभाविक प्रवृत्ति रहने पर भी धर्मानुष्ठान में और धर्म के मंतव्य में क्यों सबका परस्पर भेद हो जाता है, इसका उत्तर भी यथोचित देने की चेष्टा की गई है। यही इसका सार है।

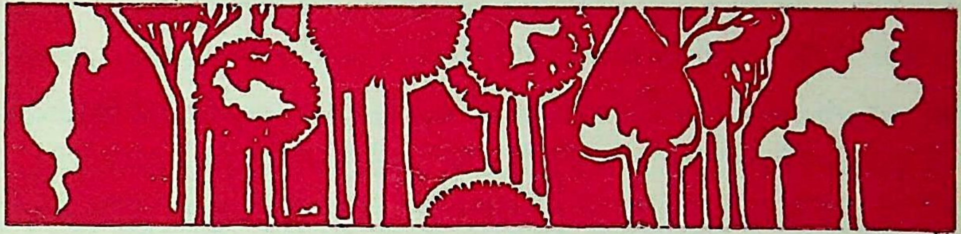

जन्म-मृत्यु के अनुपात में भारत तथा संसार के अन्य देश

प्रोफेसर विनयकुमार सरकार

दुनिया के विभिन्न देशों में प्रति सहस्र का जन्म-निष्पात समान नहीं है। किसी देश में प्रति सहस्र २० शिशु जन्मते हैं, किसी में प्रति सहस्र ३०, और किसी-किसी देश में प्रति सहस्र ४०। इस प्रकार के निष्पात-भेद के आधार पर संसार के विभिन्न देश कई श्रेणी में विभक्त किए जा सकते हैं। जिन देशों की जन्म-संख्या प्रति सहस्र २० तक है वे एक श्रेणी में, जिनकी जन्म-संख्या प्रति सहस्र २० से ३० तक है वे दूसरी श्रेणी में, जिनकी संख्या प्रति सहस्र ३० से ४० तक है वे तीसरी श्रेणी में। इसी प्रकार भिन्न देश भिन्न श्रेणियों में विभक्त हो सकते हैं। दुनिया के प्रायः तीस देशों को इस प्रकार श्रेणी-बद्ध किया जा सकता है। इसी प्रकार भारतवर्ष के विभिन्न प्रांतों को, उनकी जन्म-संख्या के निष्पात के अनुसार, अन्य देशों के साथ श्रेणी-बद्ध किया जा सकता है। कुछ देशों की जन्म-संख्या का निष्पात प्रति सहस्र २५ से ३० के बीच में होता है—इस श्रेणी में योरप का हंगरी देश और भारत का आसाम-प्रांत है। इस प्रकार संसार के देशों को श्रेणी-बद्ध करने से यह बात सिद्ध हो जाती है कि जन्म-निष्पात के भेद उन देशों के जातीय, सामाजिक, भौगोलिक अवस्था या धार्मिक विश्वास के भेद पर निर्भर नहीं करते। अर्थात् दुनिया के कई देशों में, जिनकी जातीय अथवा भौगोलिक स्थिति समान है, जन्म-निष्पात भिन्न है और कई देशों में जिनकी जातीय, सामाजिक अथवा भौगोलिक स्थिति भिन्न है उनका जन्म-संख्या-निष्पात समान है। आँकड़ों के द्वारा यह भी सिद्ध होता है कि जन्म-निष्पात केवल पराधीन देशों में ही उच्च नहीं है। बिहार-उड़ीसा में जो जन्म-निष्पात है वही पोलैंड, जापान और रूमानिया में है। आसाम का जो जन्म-निष्पात है वही ठीक इटली और हंगरी का है। पराधीन देशों में ही नहीं, प्रत्युत स्वाधीन देशों में भी जन्म-निष्पात उच्च हो सकता है। जन्म का अनुपात प्रायः बढ़ता-घटता रहता है, कदाचित् ही एक समान रहता हो। इस विषय में निम्नलिखित कई साम्य-संबंध निर्दिष्ट किए जा सकते हैं—

[१] 'क' देश का (१९३० का) जन्म-निष्पात यदि 'ख' देश के (१९३० के) जन्म-निष्पात से तिगुना है तो 'क' (१९३०) = ३ 'ख' (१९३०)।

[२] 'क' देश का १९३० में जो जन्म-निष्पात था, हो सकता है कि १९०६ में वही न रहा हो। १९०६ और १९३० के जन्म-निष्पात में कमी या बढ़ती दिखलाई जा सकती है। यदि १९३० में वह १९०६ से दुगुना हो तो 'क' (१९३०) = २ 'क' (१९०६)।

[३] १९३० में 'क' देश का जो जन्म-निष्पात था, यदि वही जन्म-निष्पात 'ख' देश का १९०५ में था, तो उसे इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—'क' (१९३०) = २ 'ख' (१९०५)—इत्यादि।

आज-कल दुनिया के सब देशों में जन्म-निष्पात घट रहा है। भेद केवल यही है कि कहीं घटना पहले प्रारंभ हुआ, कहीं उसके बाद। सन् १८८४ तक जर्मनी और इँगलैंड का जन्म-निष्पात बढ़ रहा था; पर उसके बाद से घटने लगा है। इटली में जन्म-निष्पात १८९० तक बढ़ता रहा। तात्पर्य यह कि दुनिया के समस्त श्रेष्ठ देशों में जन्म-निष्पात बढ़ रहा था और गत तीस, चालीस या पचास वर्ष से घटने लगा है, और आज-कल भी दुनिया के कई बड़े देशों में जो जन्म-निष्पात है वह भारत के अनेक प्रांतों में पाया जाता है। बंगाल का जन्म-निष्पात प्रति सहस्र २८.९ है और इटली का २९.२। इसलिये जन्म-निष्पात द्वारा यदि सभ्यता की परीक्षा हो तो इटली सभ्य और बंगाल असभ्य नहीं कहा जा सकता। जन्म-निष्पात के समान मृत्यु-निष्पात भी सब जगह घट रहा है—भारत में भी धीरे-धीरे घट रहा है। भारत के प्रांतों में युक्तप्रांत का मृत्यु-निष्पात सबसे अधिक घटा है। शिशु-मृत्यु का निष्पात भी, दुनिया के विभिन्न देशों में, घटना आरंभ हो गया है। सन् १९२६-२७ में विहार का (एक वर्ष से कम उम्र के) शिशु-मृत्यु-निष्पात प्रति सहस्र १४७.७ था। भारत के विभिन्न प्रांतों के शिशु-मृत्यु-निष्पातों में यह सबसे कम है। १९०५ में फ्रांस का शिशु-मृत्यु-निष्पात प्रति सहस्र १४८.५ था। इससे देखा जाता है कि बिहार-प्रांत फ्रांस से केवल इक्कीस वर्ष पीछे है। १९२६ में बंगाल का शिशु-मृत्यु-निष्पात प्रति सहस्र १९६.७६ था। १९०५ में जर्मनी का शिशु-मृत्यु-निष्पात १९५ था। इसमें भी कहा जा सकता है कि बंगाल जर्मनी से केवल इक्कीस वर्ष पीछे है। जन्म-निष्पात के संबंध में भी ठीक यही बात लागू होती है। १९२५ का बंगाल का जन्म-निष्पात १९०५ से १९१४ तक के जर्मनी के जन्म-निष्पात के समान और १९०० से १९१० तक के इँगलैंड के जन्म-निष्पात के समान था।

इन सब आँकड़ों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि योरप के प्रधान-प्रधान देश भारतवर्ष से केवल दस, पंद्रह या बीस वर्ष आगे हैं।

प्रत्येक देश में मृत्यु-निष्पात से जन्म-निष्पात जितना अधिक होता है उसी पर उस देश की जन-संख्या-वृद्धि निर्भर करती है। १८८१ में भारत में लोक-वृद्धि प्रति सहस्र १.५ थी, १९११ में ९.६, १९२१ में १२ और १९३१ में १०.२। अन्य देशों में लोक-वृद्धि एक निर्दिष्ट पथ पर होती है—या तो वृद्धि ही होती है या कमी। पर भारत के संबंध में यह नहीं कहा जा सकता। भारतवर्ष में लोक-वृद्धि किसी एक नियम से नहीं होती। किन्हीं दस वर्षों (दशाक) में वह बढ़ती और किन्हीं दस वर्षों में घट जाती है। तात्पर्य यह कि भारत का लोक-वृद्धि-निष्पात दुनिया के अन्य पचीस देशों की अपेक्षा कम है। जिस प्रकार जन्म-मृत्यु के निष्पात की तुलना करके कहा जा सकता है कि भौगोलिक अवस्था

इत्यादि का निष्पात के ऊपर प्रभाव नहीं पड़ता, उसी प्रकार लोक-वृद्धि-निष्पात के संबंध में भी कहा जा सकता है कि यह भौगोलिक अवस्था पर निर्भर नहीं करता। आज-कल दुनिया के विभिन्न देशों में जो लोक-वृद्धि-निष्पात पाया जाता है उससे यदि दुनिया की लोक-संख्या की (अति) वृद्धि (over-population) हो तो भारत उसके लिये कहाँ तक दायी होगा? भारत का लोक-वृद्धि-निष्पात अनेक देशों के निष्पात से कम है। रूस, जापान आदि अनेक देशों का लोक-वृद्धि-निष्पात भारत की अपेक्षा अधिक है। ब्रिटिश भारत की लोक-संख्या चौबीस करोड़ है। इन चैाबीस करोड़ मनुष्यों में वृद्धि-निष्पात जिस गति से चल रहा है, पचास करोड़ जन-संख्यावाले अन्य बीस देशों में उससे ज्यादा तेजी से चल रहा है। दुनिया के किसी-किसी देश में जो वृद्धि-निष्पात देखा जाता है वह भारत में कभी नहीं देखा गया। भारतवर्ष के लोक-वृद्धि-निष्पात का ह्रास केवल फ्रांस को छोड़कर अन्य सब देशों की अपेक्षा अधिक है। विभिन्न देशों की जन-संख्या कितने वर्षों में, आज-कल के निष्पात को ध्यान में रखते हुए, दूनी हो जायगी—इसकी तालिका नीचे दी जाती है। इन संख्याओं के देखने से यह भी पता चलेगा कि कौन-कौन देश दुनिया में लोकाधिक्य (over-population) की समस्या उत्पन्न कर देंगे। संख्याएँ इस प्रकार हैं—

रूस	३३ वर्ष	इटली	६२ वर्ष
जापान	४५ ,,	युक्तराष्ट्र	८२ ,,
पोलैंड	४८ ,,	जेकोस्लोवाकिया	९५ ,,
कनाडा	५१ ,,	ब्रिटिश भारत	१०२ ,,

ऊपर लिखी बातों से यह सहज ही समझा जा सकता है कि दुनिया के लोकाधिक्य को अन्य देश जितना बढ़ाएँगे, उतना भारतवर्ष नहीं। भारतवर्ष में लोकाधिक्य हो रहा है कि नहीं, इस संबंध में भी दो-एक बात कहने की आवश्यकता है। लोकाधिक्य एक आपेक्षिक वस्तु है। किसी देश में लोकाधिक्य हो रहा है अथवा नहीं, इसका विचार करने के साथ-साथ इसका भी विचार करना होगा कि उस देश की जीवन-यात्रा-प्रणाली (standard of living) किस प्रकार की होनी चाहिए। कुछ देशों में खाने-पहनने का खर्च घटाकर, आमदनी वही रहते हुए, अधिकसंख्यक लोगों का निर्वाह संभव हो सकता है। दूसरी ओर, यदि खर्च बढ़ जाय, और जंन-सख्या न बढ़ते हुए भी आमदनी न बढ़े, तो लोकाधिक्य-समस्या और भी कठिन हो जाती है। भारतवर्ष यदि जापानी जीवन-यात्रा-प्रणाली को अपनावे तो उसके लिये अपनी वर्त्तमान जन-संख्या का पोषण करना असंभव हो जायगा, और शायद उसे उस चाल-ढाल से रहने के लिये अपनी जन-संख्या घटाकर बीस करोड़ करनी पड़ेगी। यदि वह जर्मन जीवन-प्रणाली को अपनावे तो कदाचित् उसे अपनी संख्या घटाकर दस करोड़ करनी पड़े। यदि अमेरिकन जीवन-प्रणाली अपनावे तो शायद छः करोड़ ही संख्या का पोषण वर्त्तमान आमदनी से हो सके—इत्यादि।

जो कुछ भी हो, भारत का मृत्यु-निष्पात घट रहा है। पर साथ ही साथ जन्म-निष्पात नहीं घट रहा है। इससे लोकाधिक्य-समस्या प्रबल हो जायगी, और इस समस्या को सुलझाने के लिये

जन्म-निष्पात कम करना पड़ेगा। जन्म-निष्पात कम करने के लिये जन्म-निरोध, अविवाहित रहना, अथवा देर से विवाह करना—इत्यादि अनेक उपाय काम में लाने पड़ेंगे। लोक-वृद्धि के कुफलों से देश को बचाने के लिये देश की आर्थिक अवस्था का सुधार भी आवश्यक है। दुनिया के विभिन्न देशों में जनता की स्वास्थ्य-रक्षा के लिये प्रति मनुष्य कितना खर्च होता है, वह आगे दिया जाता है—जापान ३।), इटली ३।), जर्मनी १।), फ्रांस १), इँगलैंड १), भारतवर्ष ।)॥! इससे यह स्पष्ट देखने में आता है कि भारतवर्ष में जनसाधारण के स्वास्थ्य की उन्नति के लिये कितना कम खर्च होता है! इसलिये भारतवर्ष प्रथम श्रेणी के अन्य राष्ट्रों से बीस-तीस वर्ष पीछे है। इसका कारण क्या है? साधारणतः हमारा यह विश्वास है कि हमारे देश का जलवायु स्वास्थ्य के लिये अहितकर है अथवा हमारे सामाजिक रीति-रवाजों में अनेक अस्वास्थ्यकर बातें हैं—इत्यादि। भारतवर्ष में स्वास्थ्य पर इतना कम खर्च होते हुए भी हमारा यह देश अन्य प्रधान देशों से केवल बीस या तीस वर्ष पीछे है; इससे इस विचार की पुष्टि होती है कि हमारे देश का जलवायु, सूर्यकिरणें अथवा सामाजिक रीति-रवाज—चाहे वे अभारतीयों के लिए मंगलकारक न हों, पर—भारतीयों के लिये तो विशेषरूप से कल्याणकर हैं ही। सूर्य की किरणें, भारत का जलवायु, अथवा सामाजिक रीति-रवाज और जीवन-यात्रा-प्रणाली—इनमें कौन-सी भारतीयों के लिये हितकर है और कौन नहीं, यह प्रश्न चिकित्सकों के लिये विचारणीय है।

उनसे

प्राणों के दीप जलाए,
कब से पथ हेर रही हूँ।
भावों के सुमन मनोहर,
सब आज बिखेर रही हूँ॥

श्वासों की धूप बनाकर,
जीवन नैवेद्य बनाया।
तव चरणों की पूजा का
मैंने है साज सजाया॥

आओ, चिर-संचित मेरी
यह साध पूर्ण होने दो।
निज पद-रज में हे प्रियतम,
अब अपनापन खोने दो॥

कुमारी 'सत्य'

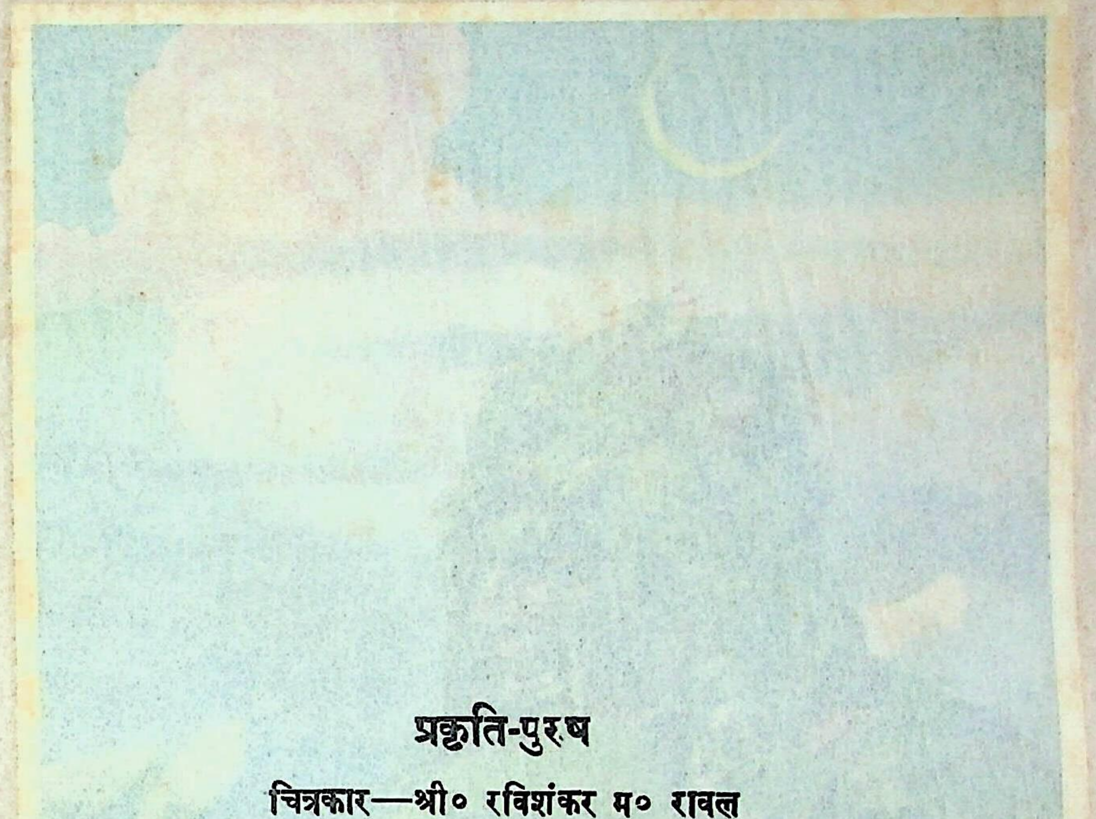

प्रकृति-पुरुष

चित्रकार—श्री० रविशंकर म० रावल

(चित्रकार के सौजन्य से)

अंगिरस अग्नि

श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, एम० ए०, एल्-एल० बी०

ब्राह्मण-ग्रंथों में कई स्थानों पर एक कथा पाई जाती है कि प्रजापति ने सृष्टि के सब पदार्थों को रचकर उनमें मृत्यु को भाग दे दिया। मृत्यु को भाग मिलने से सब पदार्थों में नश्वर-धर्म का संस्पर्श हो गया। जो वस्तु उत्पन्न होती है उसी को जराग्रस्त भी होना पड़ता है। यह प्राकृतिक अलंघ्य विधान है। केवल एक वस्तु ऐसी थी जिसको प्रजापति ने अपने लिये प्रिय जानकर उसमें मृत्यु को हिस्सा नहीं दिया। वह ब्रह्मचारी था। मृत्यु उसमें हिस्सा पाने के लिये उपरोध करने लगा। मृत्यु के आग्रह से प्रजापति ने नियम कर दिया कि अच्छा, तुमको ब्रह्मचारी में भी भाग लेने का अधिकार होगा; लेकिन एक शर्त है, वह यह कि जिस अहोरात्र में ब्रह्मचारी समिधाधान से अग्निहोत्र नहीं करेगा उस दिन या रात्रि को तुम दबा लेना। जिस अहोरात्र में अग्निहोत्र विधि-पूर्वक निष्पन्न किया जाता है, वह अमृतत्व का बढ़ानेवाला होता है। अग्निहोत्र के द्वारा ब्रह्मचारी उस अमृत अग्नि की परिचर्या करता है जो सब नरों में अतिथि-रूप से बसा हुआ है। जीवात्मा ही वैश्वानर अतिथि है (शतपथ ११-३-३-१ तथा गोपथ पू० २-६)।

इस कथा का अभिप्राय वृद्धि और ह्रास के ब्रह्मांडव्यापी नियम के पिंडगत विधान को स्पष्ट करना है। ब्रह्मचर्य उस अवस्था का नाम है जिसमें मनुष्य ब्रह्म के साथ चलता है। ब्रह्म + चर्य = moving with the creative growth; बृंहणत्व या बढ़ना स्वभावसिद्ध है। इस बृंहण या ब्रह्म की शक्ति को जब हम अपने भीतर ही पचा लेते हैं तब हम ब्रह्मचर्य-दशा में रहते हैं। कुमारावस्था में ब्रह्म-धर्म प्रबल रहता है। उस समय शरीर के कोषों की अभिवृद्धि ही अधिक होती है। जो थोड़े-बहुत कोष क्षय को भी प्राप्त होते हैं, उनका समुदाय बहुत ही अल्प होता है। वृद्धि और ह्रास के कार्य इस प्रकार जब व्यवस्थित हों कि वर्धिष्णु प्रवाह ह्रसिष्णु की अपेक्षा बहुत प्रबल रहे, तब शरीरस्थ विद्युत् या प्राण ब्रह्मचर्य-निष्ठित रहते हैं। वृद्धि का नाम प्राण (Anabolic force) और ह्रास का नाम अपान (Katalytic force) है। प्राणापान का समीकरण ही शरीर-स्थिति का प्रधान हेतु है। वृद्धि की

संज्ञा भरद्वाज ऋषि है। ह्रास का नाम च्यवन ऋषि है। वृद्धि और ह्रास या प्राणापान का ही रूपांतर अग्नि + सोम है, जिनको उद्दिष्ट करके अग्निहोत्र की आहुतियाँ दी जाती हैं। जीवन के प्रत्येक क्षण में, शरीर के सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणु या कोष में भी यह अग्निहोत्र का द्वंद्व गूढ़ रीति से अनुप्रविष्ट है। ब्रह्मांड या पिंड में कुछ भी ऐसा नहीं जो इस द्वंद्व से विनिर्मुक्त हो। प्राणापान या अग्निषोम के ही काल-धर्म-विशिष्ट नाम ये हैं—

सृष्टि	प्रलय
ब्राह्म दिन	ब्राह्म रात्रि
उत्तरायण	दक्षिणायन
शुक्ल पक्ष	कृष्ण पक्ष
दिन	रात
पूर्वाह्ण	अपराह्ण
प्रातः	सायं
प्राण	अपान
देव	पितृ
ज्ञान	कर्म
ज्योतिः	तमः

सृष्टि के साथ ही प्रलय की कल्पना संनिहित है। प्रलय-विहीन सृष्टि असंभव है। सृष्टि के प्रत्येक क्षण में भी प्रलय-प्रक्रिया वर्त्तमान रहती है। रात्रि न हो तो दिन की सत्ता विच्छिन्न हो जाय।

इस प्रकार यद्यपि सृष्टि में प्रलय और प्रलय में सृष्टि के अंकुर बने रहते हैं, फिर भी अपने-अपने समय में जो विधान प्रबल रहता है उसी के धर्मों के अनुसार सृष्टि और प्रलय या प्राण और अपान के फल दृष्टिगोचर होते हैं। उत्तरायण प्राण-प्रधान, दक्षिणायन अपान-प्रधान है। ब्रह्मचर्य प्राण-प्रधान और जरा-काल अपान-प्रधान है। जहाँ प्राण की शक्ति अपान से बलवती है वहाँ मृत्यु का भाग बहिष्कृत समझना चाहिए। जिस दिन ब्रह्मचारी अंगिरस अग्नि को समिद्ध नहीं करता, उसी दिन प्राणापान की समता अस्तव्यस्त हो जाती है। वर्धिष्णु धर्मों को क्षयिष्णु शक्तियाँ दबा लेती हैं, अथवा यों कहें कि देवों को असुरों के सामने पराभूत हो जाना पड़ता है।

ऊपर की तालिका में एक कोष्ठक ज्योतिषावृत है, दूसरा तमसावृत। सृष्टि से पूर्वाह्ण तक ज्योति है, प्रलय से अपराह्ण तक तमस् है। ज्योतिर्मय काल में प्राणों का उत्सर्ग ऊर्ध्वगमन है, तमसावृत काल में प्राण-त्याग अधस्तात् गति है। सूर्य अपनी विराट् गति से एक अग्निहोत्र हमारे सामने रच रहा है—'सूर्यो ह वाऽ अग्निहोत्रम्' (शतपथ २-३-१-१)। इस अग्निहोत्र की षाण्मासिक, मासिक और दैनिक

आवृत्ति का हम प्रति संवत्सर में अनुभव करते हैं। 'शतपथ ब्राह्मण' में अग्निहोत्र को 'जरामर्य सत्र' कहा गया है, अर्थात् जिस यज्ञ का सत्र (session) जरा-पर्यंत या मृत्यु-पर्यंत रहता है, वह अग्निहोत्र है—'एतद्वै जरामर्यं ꣳ सत्रं यदग्निहोत्रं, जरया व ह्येवास्मान्मुच्यते मृत्युना वा' (शतपथ १२–४–१–१)। इस संतत-प्रचारित अग्निहोत्र से तादात्म्य प्राप्त करने के लिये—उसके रहस्य को आत्मसात् करने के लिये ही वैदिक जीवन में सायं-प्रातः होनेवाले अग्निहोत्र की कल्पना की गई है। जीवन के अनवरत संग्राम में हम अनेक विषम ध्वनियों से अभिभूत होकर अंतर्व्यापी संगीत को मधुर लय को खो बैठते हैं। हमारे चारों ओर नश्वर-धर्मवाले पदार्थों का जाल बिछा है। इन सबमें एक अविनाशी तत्त्व का सरस उद्गीथ (rhythm) छिपा हुआ है। सायं-प्रातः के अग्निचयन से हम उसी संगीत को सुनने और उसके साथ संमनस् होने को विचेष्टित होते हैं। जिन्हें यह दर्शन भी सुलभ नहीं है, उनका जीवन शक्ति का विवश अपव्यय ही है।

इस अग्निहोत्र की केवल दो ही प्रधान आहुतियाँ हैं। दो की संधि ही तीसरी आहुति है। यही त्रिक का मूल है। सर्वत्र ही त्रिकशास्त्र में पूर्व-रूप और उत्तर-रूप तथा उनके संधान का वर्णन पाया जाता है। त्रिकविद्या की वैदिक संज्ञा ही त्रिणाचिकेत अग्नि है। जिस व्यक्ति ने सब जगत् के त्रिक को पहचान लिया है, वह शोकातीत होकर ज्योतिषावृत स्वर्ग में आनंद करता है—

त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा य एवं विद्वाꣳश्चिनुते नाचिकेतम्।
स मृत्युपाशान्पुरतः प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके॥ (कठ-उपनिषद्)

इसी त्रिक के संज्ञान का कारण अग्निहोत्र की आहुतियाँ हैं—

भूः	भुवः	स्वः
प्राण	अपान	व्यान
अग्नि	वायु	आदित्य

ये ही अग्निहोत्र की आहुतियाँ हैं। इन्हीं देवों को उद्दिष्ट करके स्वाहाकार होता है। व्यक्त ब्रह्मांड (cosmos) का संगीत 'अ उ म्' की इन्हीं तीन मात्राओं से प्रतीत हो रहा है। यही वामन-वेशधारी विष्णु (Macrocosm as microcosm) के तीन पैर हैं, त्रेधा विचक्रमण है, जिसके द्वारा विष्णु ने त्रिलोकी को नाप लिया है। जो वामन है, वही विष्णु है—'वामनो ह वै विष्णुरास'। अपने विराट् रूप में जो आत्मा सहस्रशीर्षा और सहस्रपाद् है, वामन-वेष में वही दस अँगुलियों के आधार से खड़ा है। दो चरणों से जिसकी स्थिति है, उसके विराट् रूप को जो पहचानते हैं, वे आत्मज्ञानी धन्य हैं। अध्यात्म विष्णु के तीन चरण वाक्, मन और प्राण हैं। इन्हीं के नामांतर इस प्रकार हैं—वाक् = विज्ञातं (Known), मन = विजिज्ञास्यं (To be known), प्राण = अविज्ञातं (Unknown)। वाक् ऋग्वेद, मन सामवेद और प्राण यजुर्वेद का सार है। भूत विज्ञात है, वर्त्तमान विजिज्ञास्य है, भविष्य अविज्ञात है। बिना इन तीन पहियों के ब्रह्मांड का एक परमाणु भी आगे नहीं बढ़ सकता। इन्हीं के ऐक्य-मर्म को जानने के लिये अग्निहोत्र की निम्न आहुतियाँ हैं—'ॐ भूरग्नये स्वाहा,

ॐ भुवर्वायवे स्वाहा, ॐ स्वरादित्याय स्वाहा।' इन्हीं आहुतियों में प्राणापान और व्यान भी संमिलित हैं। ये ही अग्नीषोमात्मक आहुतियाँ हैं—"अग्नि—Metabolism, भरद्वाज = प्राण; सोम—Catalysis, च्यवन = अपान। अग्नये स्वाहा—यह उत्तरायण की आहुति है। सोमाय स्वाहा—यह दक्षिणायन की आहुति है।" सारा जगत् अग्नीषोमात्मक है। महाप्राण या विद्युत् द्विधा रूप होकर सबको बनाती और बिगाड़ती है। Positive—Negative का द्वंद्व ही अग्नीषोम या प्राणापान है—'प्राणापानौ अग्नीषोमौ' (ऐतरेय ब्राह्मण १–८)। "द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति। आर्द्रं चैव शुष्कं च। यच्छुष्कं तदाग्नेयं यदार्द्रं तत्सौम्यम्"—(शतपथ १–६–३–२३)। अग्नीषोम के अतिरिक्त तीसरा पदार्थ कुछ नहीं है। जो कुछ है वह इन्हीं की संधि है—इन्हीं का परस्पर आकर्षण है। इस ग्रंथि के द्वारा अग्नि की शक्ति सोम में और सोम की अग्नि में अवतीर्ण होती है। Positive और Negative का संमिलन ही व्यक्त प्रकाश या शक्ति का हेतु है। 'अहोरात्रे वा अग्नीषोमौ' (कौषीतकी, १०–३)। कर्मकांड में अग्नोषोम की ही संज्ञा 'दर्श पौर्णमास' है। शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष मासिक अहोरात्र के रूप हैं। इस मासव्यापी अग्निहोत्र से सोम की कलाओं की वृद्धि और क्षय होता है। 'यच्छुक्लं तदाग्नेयं, यत्कृष्णं तत्सौम्यं'। चाहे इसे ही दूसरी तरह कह लें (यदि वेत रथा)। 'यदेव कृष्णं तदाग्नेयं, यच्छुक्लं तत्सौम्यम्' (शतपथ १-६-३-४१)। एक ही वस्तुतत्त्व को कहने के अनेक प्रकार हैं। जो कभी positive है, वही negative बन जाता है। ब्रह्मचर्य-काल में जो शक्ति प्राणात्मक है, जरावस्था में वही अपानात्मक हो जाती है। सूर्य का ही तेज रात्रि के समय अग्नि में प्रविष्ट हो जाता है। प्रातःकाल की आहुति सूर्य-निमित्त है, सायंकाल की अग्नि-निमित्त—'ॐ सूर्यो ज्योतिः ज्योतिः सूर्यः स्वाहा, सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा'। ज्योति और वर्च—ये सूर्य के दो रूप हैं। सूर्य की प्रातःकालीन ज्योति (प्राण) अपने वर्च (अपान) से रहित नहीं रह सकती। जयेति और वर्च दोनों दो होते हुए भी एक हैं, और एक ही सूर्य प्रातःकाल में भी ज्योति + वर्च के रूप में प्रकट होता है।

$$\text{सूर्य} = \left\{ \begin{array}{l} \text{ज्योति} \\ \text{वर्च} \end{array} \right. \qquad\qquad \text{ज्योति} = \text{वर्च}$$

यही प्राणापान का संक्षिप्त समीकरण है। प्राणापान की ही वैदिक संज्ञा 'सविता' और 'सावित्री' है। गोपथ ब्राह्मण [पू० १-३२] में मौद्गल्य और मैत्रेय के संवाद-रूप में, सविता-सावित्री का विशद निरूपण है। सावित्री-शक्ति के बिना सविता निःशक्त रहती है। सविता देव और सावित्री उसकी देवी है।

मैत्रेय ने मौद्गल्य के चरण छुए और पूछा—कृपा कर पढ़ाइए, कौन सविता और कौन सावित्री है। इस पर मौद्गल्य ने द्वादश जोड़ोंवाली सावित्री का निर्वचन किया। उदाहरणार्थ, वे बारह द्वंद्व इस प्रकार हैं। सूर्य के द्वादशमासात्मक संवत्सर के ये द्वादश द्वंद्व हैं—

Positive	Negative
१ मन	वाक्
२ अग्नि	पृथिवी
३ वायु	अंतरिक्ष

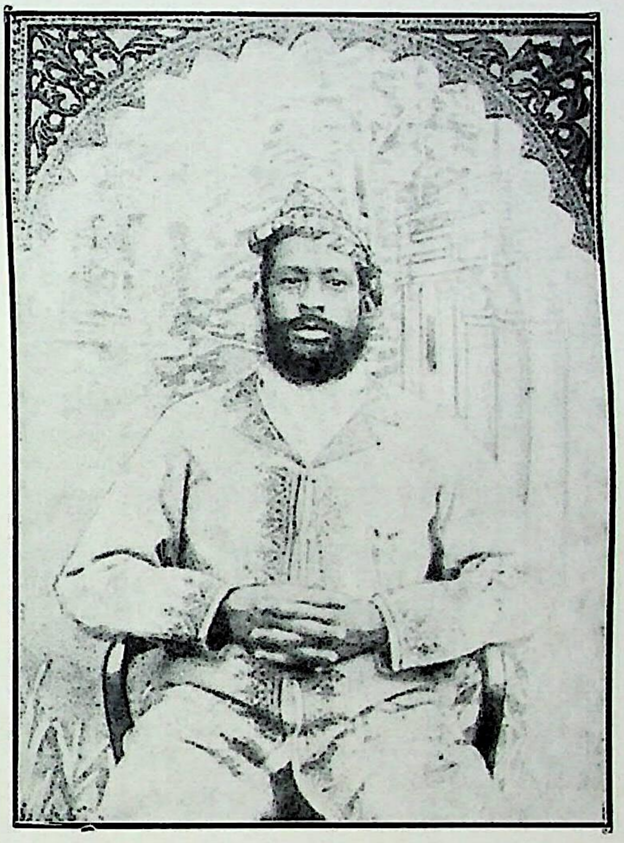

कविवर ठाकुर जगमोहनसिंह

Positive	Negative
४ आदित्य	द्यौः
५ चंद्रमा	नक्षत्राणि
६ अहः	रात्रि
७ उष्ण	शीत
८ अभ्र	वर्ष
९ विद्युत्	स्तनयित्नु
१० प्राण	अन्न
११ वेदाः	छंदांसि
१२ यज्ञ	दक्षिणा

वस्तुतः सविता और सावित्री मूल में एक हैं। 'मन एव सविता, वाक् सावित्री। यत्र ह्येव मनस्तद्वाक्, यत्र वै वाक् तन्मनः। इत्येते द्वे योनी, एकं मिथुनम्।' अर्थात् 'जो मन है वही वाक् है। जहाँ वाक् है, वहीं मन है। योनियाँ दो हैं, पर मिथुन एक ही है।' जैसे स्त्री-पुरुष में पृथक् दो योनियाँ होते हुए भी सृष्टि के लिये एक ही मिथुन है, वैसे ही सविता-सावित्री मिथुन हैं। सविता प्राण, सावित्री अपान है। सविता अमूर्त्त और सावित्री मूर्त्त है--'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे, मूर्त्तं चामूर्त्तं च।' सविता या ज्ञान अमूर्त्त है। सावित्री या कर्म मूर्त्त है। ज्ञान और कर्म को एक साथ प्रचोदित करने की प्रार्थना सावित्री या गायत्री मंत्र है। अमूर्त्त ज्ञान के लिये मूर्त्त कर्म की नितांत आवश्यकता है। अव्यक्त ज्ञान का अवतार मूर्त्त कर्म में होता है। अव्यक्त का व्यक्त रूप में अवतार वैसे ही स्वाभाविक है, जैसे व्यक्त का अव्यक्त में जाना। कारलाइल ने Sorrows of Teufels dröchh में एक स्थान पर कहा है—"The end of man is an Action, and not a Thought, though it were the noblest?" सविता का वरेण्य भर्ग बिना सावित्री की शक्ति के कृतकार्य नहीं हो सकता। प्रातःकालीन सूर्य की सावित्री उषा है। उषा इंद्रवती या प्राणात्मिका है। इसलिये तीसरे मंत्र में सविता-सावित्री-(प्राणापान अथवा ज्योति-वर्च)-संयोग दिखाया गया है—'ॐ सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहा'—अर्थात् सूर्य के लिये स्वाहा हो, जो सूर्य सविता देव और सावित्री प्राणात्मक उषा से जुष्ट रहता है।

इसी प्रकार सायंकाल के अग्निहोत्र में अग्निसंज्ञक प्राण के ज्योति और वर्च रूपों का स्मरण है। सायंकाल का सविता अग्नि और इंद्रवती सावित्री रात्रि है। सूर्य और उषा, अग्नि और रात्रि—ये प्राणापान या अग्नीषोमाख्य द्वंद्व के ही कल्पना-भेद हैं।

ये सब अग्निहोत्र-कल्प किस निमित्त हैं? उसी अग्नि की उपासना के लिये, जिसे प्रजापति ने ब्रह्मचारी को सौंपा था। वह अग्नि अतिथि-रूप से सब शरीरों में रहता है, वह वैश्वानर है। प्रजापति ने जन्म लेने के साथ ही अपने आयु के उस पार को देख लिया था, एक तट पर आते ही उन्हें

दूसरे तट का ज्ञान हो गया। जो अतिथि आता है, उसका जाना (महायात्रा या महान् सांपराय) भी निश्चित है। वह अतिथि अग्नि अंगिरा बना है, सब अंगों में रस बनकर वही व्याप्त है। उसके रस से सब अंग हरे रहते हैं, उस अंगिरा के पृथक् होते ही 'सस्यमिव मर्त्यः पच्यते' वाली गति हो जाती है, अस्थि-पंजर सूखकर गिर जाता है। यह उसी अग्नि की ज्वाला, प्रभा या रोचना है जो प्राण से अपान तक दौड़ती है—"अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणादपानती। व्यख्यन्महिषो दिवम्"—(यजु० ३–७)। महिष ने द्युलोक को देख लिया है। 'अग्निर्वै महिषः' (शतपथ ७–३–१–३४) तथा 'द्यौर्वा अस्य (अग्नेः) परमं जन्म' (शतपथ ९–२–३–३९)। जिस अंतर्यामी की दीप्ति के रूप प्राणापान हैं उसने अपने परम जन्म को जान लिया है। अंतश्चारी प्राणापान के द्वारा उस अंगिरा अतिथि को समिद्ध और प्रबुद्ध करना ही दिव्य अग्निहोत्र है।

समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्। आस्मिन्हव्या जुहोतन॥
सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन। अग्नये जातवेदसे॥
तन्त्वा समिद्भिरंगिरो घृतेन वर्धयामसि। बृहच्छोचा यविष्ठ्य॥

आयु का वसंत-काल घृत है, यौवन समिधाएँ हैं। घृत और समिधाओं से अतिथि को समिद्ध करो। बिना जागे हुए जो अतिथि महानिद्रा में सो गया, उसके लिये महती विनष्टि जानो। वह अंगिरा यविष्ठ्य—अर्थात् युवतम वा शाश्वत यौवन-संपन्न है। वह बृहच्छोचा है—अर्थात् जहाँ सूर्य-चंद्र का भी तेज नहीं जाता, वहाँ उसके बृहत् शोच या तेज की गति होती है। प्राणापान के अग्निहोत्र के अतिरिक्त अतिथि को जगाने का और साधन नहीं है।

पर्दे के पीछे

सुनती हूँ, पार क्षितिज के, प्रियतम का सुंदर घर है,
जिसके चरणों को छूने झुक गया वहीं अंबर है।
उस पर्दे के पीछे ही क्या रहता 'सत्य' 'अमर' है
जिसकी छवि रवि-शशि से भी सुंदर है, अजर, अमर है।

जिसके प्रकाश से होते आलोकित रवि-शशि-तारे,
संचालित करते जग को जिसके अविराम इशारे।
कहते हैं, मुझे उसी ने भेजा है जग-आँगन में,
उसकी ही चंचल गति है मेरे प्रत्येक चरण में।

हरिकृष्ण 'प्रेमी'

कविवर ठाकुर जगमोहनसिंह

रायबहादुर हीरालाल, बी० ए०

मध्यप्रदेश के जबलपुर जिले में कटनी (मुड़वारा) नामक एक प्रसिद्ध रेलवे जंकशन है। वहाँ से बीस मील पर ठाकुर जगमोहनसिंह का जन्म हुआ था। आपके पितामह ठाकुर प्रयागदाससिंह ने सन् १८२६ ई० के लगभग एक नई बस्ती बसाकर उसमें एक किला और किले के भीतर एक मंदिर बनवाया। मंदिर में श्री विजयराघव की स्थापना की गई। बस्ती का नाम भी इन्हीं इष्टदेव के नाम पर 'विजय-राघव-गढ़' रक्खा गया। इसी किले को ठाकुर प्रयागदास ने अपना निवास-स्थान बनाया। इसलिये उस ग्राम को राजधानी का गौरव प्राप्त हुआ। ठाकुर प्रयागदास उस आमेराधिपति के वंशज थे, जिसके गढ़ की प्रशंसा यशस्वी कवि पद्माकर भट्ट ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'जगद्विनोद' के आरंभ ही में इस प्रकार की है—

'जय जय सक्ति सिलामयी जय जय गढ़ आमेर।
जय जयपुर सुरपुर-सद्दस जो जाहिर चहुँ फेर॥'

यह वंश, लहुरे भाई की संतति होने के कारण, केवल जागीर पाने का अधिकारी हुआ। जब 'घाट-खुटेटा' नामक सवा लाख की जागीर में अनेक पीढ़ियाँ बीत चुकीं, तब घर में झगड़ा होने पर उनमें से एक व्यक्ति 'भीमसिंह' विदेश चल पड़ा। बुंदेलखंड की ओर आकर उसने पन्ना-नरेश का आश्रय लिया। कुछ काल में उसने पन्नाधीश को बहुत प्रसन्न कर लिया। अंत में उसने रणक्षेत्र में अपने प्राण त्याग दिए। उसका नाती वेणीसिंह और भी अधिक पराक्रमी और बुद्धिमान् निकला। उसने पन्ना-राज्य की सीमा का विस्तार करने में विशेष सहायता की। इसलिये पन्ना-नरेश ने प्रसन्न होकर मुड़वार में—अर्थात् युद्ध-सेवा के बदले—अनेक जागीरें प्रदान कीं। अंत में जब 'मैहर' का इलाका प्राप्त हुआ तब उसका एक लड़का दुर्जनसिंह मैहर चला आया और उस जागीर का स्वयं प्रबंध करने लगा।

दुर्जनसिंह के दो पुत्र हुए—विष्णुसिंह और प्रयागदाससिंह। दुर्जनसिंह की मृत्यु के पश्चात् सन् १८२६ ईसवी में दोनों भाइयों में झगड़ा उठ खड़ा हुआ। परिणाम यह हुआ कि अँगरेजी सरकार ने मैहर-राज्य के दो तुल्य भाग कर बँटवारा कर दिया। विष्णुसिंह मैहर में रहे और प्रयागदास अपने हिस्से के इलाके के बीच नया किला अर्थात् विजय-राघवगढ़ बनवाकर वहीं रहने लगे। बँटवारे के समय दोनों भाइयों को सरकार से समान अधिकार मिले। प्रयागदास का इलाका बघेलखंड से जुटा हुआ था। इसलिये बघेलों से इनकी मुठभेड़ हो गई, जिससे रीवाँ-राज्य के कुछ परगने इनके हस्तगत हो गए। बुंदेलखंड में उस समय जो उपद्रव खड़े हुए उनके निवारण करने में इन्होंने अँगरेज-सरकार को अच्छी सहायता पहुँचाई, इसलिये इन्हें अनेक खिलअतों के साथ कुछ और परगने पुरस्कार-स्वरूप अर्पित किए गए। इससे इनके इलाके की विशेष वृद्धि हो गई। इन्होंने उन्नीस वर्षों तक बड़ी योग्यता के साथ अपने इलाके का शासन किया। सन् १८४६ ई० में इनकी मृत्यु हो गई। उस समय इनका इकलौता पुत्र सरयूप्रसादसिंह केवल पाँच वर्ष का था। अपने पुत्र की अल्पवयस्कता के कारण मृत्यु के पूर्व ही इन्होंने अपने इलाके का प्रबंध कोर्ट आफ वार्ड्स् के सुपुर्द कर दिया था। इसलिये विजय-राघवगढ़ में एक सरकारी मैनेजर रहने लगा। जैसा बहुधा हुआ करता है, राजा को नाबालिग पाकर स्वार्थ-लोलुप दरबारियों ने राजा के नाम की आड़ में अनेक उपद्रव खड़े करने आरंभ किए। सन् सत्तावन के गदर के साल ऐसा षड्यंत्र रचा कि सरकारी मैनेजर को अपने प्राण से हाथ धोना पड़ा! इसी सिलसिले में उन लोगों ने और भी कई नाजायज कारवाइयाँ कीं। फलतः बेचारा सरयूप्रसाद गड्ढे में जा गिरा! इलाका जब्त हो गया और बेचारे को काले पानी की सजा मिली! बालक सरयूप्रसाद स्वभावतः यह दंड न सह सका। दंड भोगने के पूर्व ही उसने आत्महत्या कर डाली।

इन्हीं सरयूप्रसादसिंह के पुत्र जगमोहनसिंह थे। आप गदर के समय ही, संवत् १९१४ की सावन सुदी चौदस को, विजय-राघवगढ़ के किले में पैदा हुए थे। जब आप नौ वर्ष के हुए तब सरकार ने आपको बनारस के राजकुमार-विद्यालय (Wards Institute, Queen's College) में पढ़ने के लिये भेज दिया। आपकी परवरिश के लिये केवल बीस रुपये मासिक की पोलिटिकल पेंशन मंजूर की! इस छोटी रकम को देखकर बनारस के कमिश्नर को क्षोभ हुआ। उन्होंने लिखा-पढ़ी करके जीवन भर के लिये सौ रुपया मासिक कर दिया। राजकुमार-विद्यालय में ठाकुर साहब ने बारह वर्ष अध्ययन किया। हिंदी, अँगरेजी और संस्कृत में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। आप उसी समय से हिंदी तथा संस्कृत में पद्य-रचना करने लगे। आपने अपनी कतिपय पुस्तकें भी उसी समय छपवा डाली थीं। जब आप काशी से लौटकर अपने घर जाते समय कटनी (मुड़वारा) में ठहरे, तब वहाँ के मिडिल स्कूल के शिक्षकों ने आपको अपनी शाला के अवलोकन के लिये निमंत्रित किया। निमंत्रण स्वीकार कर आपने केवल निरीक्षण ही न किया, वरन् प्रत्येक कक्षा की परीक्षा भी ली। जब आप हिंदी की तीसरी कक्षा में पहुँचे और उसकी परीक्षा ली तब इन पंक्तियों के लेखक को पारितोषिक प्रदान कर बड़ी प्रसन्नता प्रकट की। उस कक्षा के शिक्षक संस्कृतज्ञ थे। वे ठाकुर साहब की रुचि से अनभिज्ञ न थे। अकस्मात् बोले—

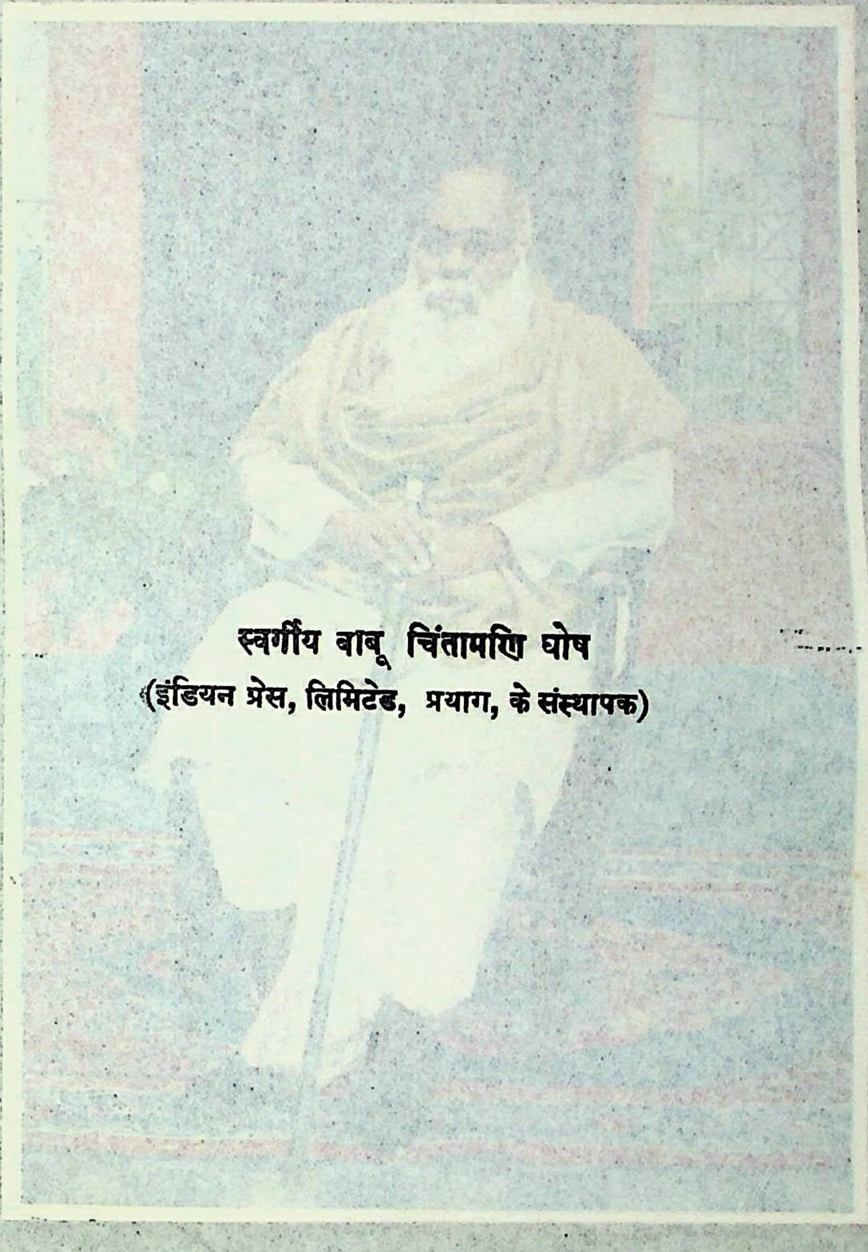

स्वर्गीय बाबू चिंतामणि घोष

(इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग, के संस्थापक)

दुर्जनसिंह के दो पुत्र हुए—विष्णुसिंह और प्रयागदाससिंह। दुर्जनसिंह की मृत्यु के पश्चात् सन् १८२६ ईसवी में दोनों भाइयों में झगड़ा उठ खड़ा हुआ। परिणाम यह हुआ कि अँगरेजी सरकार ने मैहर-राज्य के दो तुल्य भाग कर बँटवारा कर दिया। विष्णुसिंह मैहर में रहे और प्रयागदास अपने हिस्से के इलाके के बीच नया किला अर्थात् विजय-राघवगढ़ बनवाकर वहीं रहने लगे। बँटवारे के [illegible] दोनों भाइयों को सरकार से समान अधिकार मिले। प्रयागदास का इलाका बघेलखंड से जुड़ा हुआ था। इसलिये बघेलों से इनकी मुठभेड़ हो गई, जिससे रीवाँ-राज्य के कुछ परगने इनके इलाके में आ गए। बुंदेलखंड में उस समय जो उपद्रव खड़े हुए उनके निवारण करने में इन्होंने अँगरेज-सरकार को अच्छी सहायता पहुँचाई, इसलिये इन्हें अनेक खिलअतों के साथ कुछ और परगने पुरस्कार-स्वरूप अर्पित किए गए। इससे इनके इलाके की विशेष वृद्धि हो गई। इन्होंने छब्बीस वर्षों तक बड़ी योग्यता के साथ अपने इलाके का शासन किया। सन् १८४५ ई० में इनकी मृत्यु हो गई। उस समय इनका इकलौता पुत्र सरयूप्रसादसिंह केवल पाँच वर्ष का था। अपने पुत्र की अल्पवयस्कता के कारण मृत्यु के पूर्व ही इन्होंने अपने इलाके का प्रबंध कोर्ट आफ वार्ड्स के सुपुर्द कर दिया था। इसलिये विजय-राघवगढ़ में एक सरकारी मैनेजर रहने लगा। जैसा बहुधा हुआ करता है, राजा को नाबालिग पाकर स्वार्थ-लोलुप कर्मचारियों ने राजा के नाम की आड़ में अनेक उपद्रव खड़े करने आरंभ किए। सन् सत्तावन के गदर के साल ऐसा षड्यंत्र रचा कि सरकारी मैनेजर को अपने प्राण से हाथ धोना पड़ा! इसी सिलसिले में उन लोगों ने और भी कई नाजायज कारवाइयाँ कीं। फलतः बेचारा सरयूप्रसाद गड्ढे में जा गिरा! इलाका जब्त हो गया और बेचारे को काले पानी की सज़ा मिली! बालक सरयूप्रसाद [illegible] के पूर्व ही आत्महत्या कर डाली।

इन्हीं सरयूप्रसादसिंह के पुत्र जगमोहनसिंह थे। आप गदर के समय ही, अर्थात् १८५७ की श्रावण शुक्ल चौदस को, विजय-राघवगढ़ के किले में पैदा हुए थे। जब आप नौ वर्ष के हुए तब सरकार ने आपको बनारस के राजकुमार-विद्यालय (Wards Institute, Queen's College) में पढ़ने के लिये भेज दिया। आपकी परवरिश के लिये केवल बीस रुपये मासिक की पोलिटिकल पेंशन मंजूर की! इस तुच्छ रकम को देखकर बनारस के कमिश्नर को क्षोभ हुआ। उन्होंने लिखा-पढ़ी करके जीवन भर के लिये [illegible] कर दिया। राजकुमार-विद्यालय में ठाकुर साहब ने बारह वर्ष अध्ययन किया। हिंदी, अँगरेजी और संस्कृत में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। आप उसी समय से हिंदी तथा संस्कृत में पद्य-रचना करने लगे। आपने अपनी कतिपय पुस्तकें भी उसी समय छपवा डाली थीं। जब आप काशी से लौटकर अपने घर जाते समय कटनी (मुड़वारा) में ठहरे, तब वहाँ के मिडिल स्कूल के शिक्षकों ने आपको अपनी शाला के अवलोकन के लिये निमंत्रित किया। निमंत्रण स्वीकार कर आपने केवल निरीक्षण ही न किया, वरन् प्रत्येक कक्षा की परीक्षा भी ली। जब आप हिंदी की तीसरी कक्षा में पहुँचे और उसकी परीक्षा ली तब इन पंक्तियों के लेखक को पारितोषिक प्रदान कर बड़ी प्रसन्नता प्रकट की। उस कक्षा के शिक्षक-संस्कृतज्ञ थे। वे ठाकुर साहब की ओर से अनभिज्ञ न थे। अकस्मात् बोले—

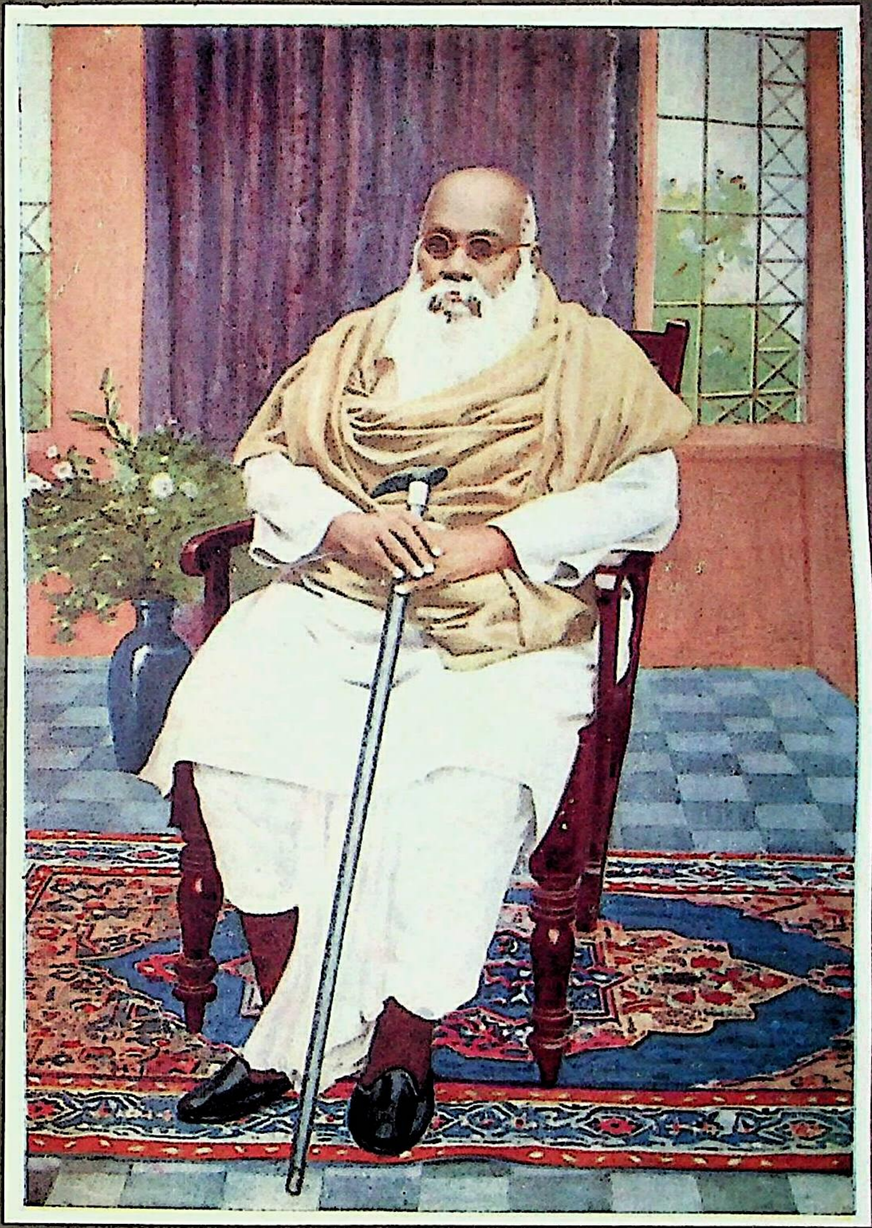

'होनहार बिरवान के होत चीकने पात',* यह लड़का संस्कृत अच्छी पढ़ेगा। मैंने तब तक संस्कृत का नाम भी न सुना था। मैंने समझा, कदाचित् भूगोल आदि के समान ही संस्कृत भी कोई विषय होगा। इसलिये छुट्टी पाते ही एक पैसे का कागज खरीद लाया। शिक्षक के पास जाकर निवेदन किया—'आप इस पर संस्कृत लिख दीजिए, मैं उसे दो-एक दिन में पढ़ डालूँ।' शिक्षक बड़े कृपालु थे, उत्साह भंग न किया, बड़ी चतुराई के साथ समझा-बुझाकर अपना पिंड छुड़ाया। तात्पर्य यह कि ठाकुर जगमोहनसिंह के प्रथम तथा अंतिम दर्शन उसी समय हुए थे। ठीक स्मरण है, वे बड़े तेजस्वी पुरुष थे। उस समय वे बीस वर्ष के रहे होंगे।

ठाकुर जगमोहनसिंह ने कोई पंद्रह-सोलह ग्रंथ रचे हैं—(१) श्यामा-स्वप्न—गद्यपद्यमय उपन्यास, (२) श्यामा-सरोजिनी, (३) श्यामा लता, (४) प्रेम-संपत्ति-लता, (५) ओंकार-चंद्रिका, (६) प्रलय, (७) सज्जनाष्टक, (८) प्रतिमाक्षर-दीपिका, (९) देवयानी, (१०) सांख्य-सूत्रों की भाषा-टीका, (११) ज्ञान-प्रदीपिका—महर्षि कपिल-कृत सांख्यकारिका का छंदोबद्ध अनुवाद, (१२) 'मेघदूत' का पद्यबद्ध अनुवाद, (१३) 'ऋतु-संहार' का पद्यात्मक अनुवाद, (१४) 'कुमार-संभव' का पद्यमय अनुवाद, (१५) 'हंस-दूत' का पद्यबद्ध अनुवाद, (१६) शिलन का वंदी—अँगरेजी काव्य (Byron's Prisoner of Chillon) का छंदोबद्ध अनुवाद।

इनमें कई पुस्तकें तो छप चुकी हैं और कई अप्रकाशित हैं।

ठाकुर साहब, भारतेंदु हरिश्चंद्र के बड़े मित्र थे—उनकी शैली के प्रतिपादक थे। आप प्रकृति के सच्चे उपासक और सुंदरता के सहृदय ग्राहक थे। मातृभूमि के भी अनन्य भक्त थे। स्वदेश के प्रताप का चित्रण करने में तो परम प्रवीण थे। 'ऋतु-संहार' में, जिसे छात्रावस्था में लिखा था, भारत की भूरि-भूरि प्रशंसा की है—

भुव-मधि जंबू-द्वीप दीप सम अति छबि छायो। तामें भारत-खंड मनहुँ बिधि आपु बनायो॥
ताहू में अति रम्य आरजावर्त्त मनोहर। सकल कर्म की भूमि धर्मरत जहँ के नरबर॥
मनु बालमीकि ब्यासादि-से पूजनीय जहँ के अमित। भे मनुज अबौ जग के सबै मानत जिनकी आन नित॥
जहँ हरि लिय अवतार राम-कृष्णादि रूप धरि। जहँ बिक्रम, बलि, भोज, धरम-नृप गे कीरति करि॥
जहँ की बिद्या पाइ भए जग के नर सिच्छित। जहँ के दाता सदा करत पूरन मन-इच्छित॥
जहँ गंगा-सी पावन नदी हिम-सोँ ऊँचो सैलबर। जहँ रत्न-खानि अगनित लसत मानहुँ मनिमय सकल घर॥

* यही वाक्य जगमोहनसिंह जी के समकालीन कवि 'कामताप्रसाद' ने ठाकुर साहब को लिखा था। जब उन्होंने ठाकुर साहब की प्रथम कृति (ऋतु-संहार) देखी तब यह पद्य लिख भेजा—

"जिहि सुचि 'ऋतु-संहार' कहँ भेजेहु नाथ लजाइ।
प्रथमहि सादर ताहि लै बाँच्यौं चित्त लगाइ॥
तासु सुघर रचना निरखि आयो हिए हठात।
होनहार बिरवान के होत चीकने पात॥"

फिर अपने प्रांत और नगर का भी स्मरण किया है—

तामें खंडबुँदेल को सोहत सब मनहारि। जहँ के छत्रिन की बिदित सब जग में तरवारि ॥
तामें नगर नवल विजय राघवगढ़ बिख्यात। महानदी के तट बसत धन-जन सौं अवदात ॥

जिस प्रकार आप पद्य-रचना में सिद्धहस्त थे उसी प्रकार गद्य-लेखन में भी। 'श्यामा-स्वप्न' नामक उपन्यास में दंडकारण्य की शोभा का कैसा सुंदर चित्र खींचा है!—"मैं कहाँ तक इस सुंदर देश का वर्णन करूँ?...जहाँ की निर्झरिणी—जिनके तीर वानीर से भिरे, मद-कल-कूजित विहंगमों से शोभित हैं, जिनके मूल से स्वच्छ और शीतल जल-धारा बहती है और जिनके किनारे के श्याम जंबू के निकुंज फल-भार से नमित जनाते हैं—शब्दायमान होकर झरती हैं।.........जहाँ के शल्लकी-वृक्ष की छाल में हाथी अपना बदन रगड़-रगड़ खुजली मिटाते हैं और उनमें से निकला क्षीर सब वन के शीतल समीर को सुरभित करता है। मंजु वंजुल की लता और नाल निचुल के निकुंज, जिनके पत्ते ऐसे सघन जो सूर्य की किरनों को भी नहीं निकलने देते, इस नदी के तट पर शोभित हैं...।" पंडित रामचंद्र शुक्ल ने अपने पांडित्यपूर्ण ग्रंथ 'हिंदी-साहित्य का इतिहास' में ठीक ही लिखा है—"प्राचीन संस्कृत-साहित्य के अभ्यास और विंध्याटवी के रमणीय प्रदेश में निवास के कारण विविध-भावमयी प्रकृति के रूप-माधुर्य की जैसी सच्ची परख, जैसी सच्ची अनुभूति, इनमें थी वैसी उस काल के किसी हिंदी-कवि या लेखक में नहीं पाई जाती।... अपने हृदय पर अंकित भारतीय ग्राम्य जीवन के माधुर्य का जो संस्कार ठाकुर साहब ने अपने 'श्यामा-स्वप्न' में व्यक्त किया है उसकी सरसता निराली है।...प्राचीन संस्कृत-साहित्य के रुचि-संस्कार के साथ भारत-भूमि की प्यारी रूप-रेखा को मन में बसानेवाले ये पहले हिंदी-लेखक थे।"

विद्याध्ययन पूरा करने पर सरकार ने आपको तहसीलदार के पद पर नियुक्त किया जिससे आपको मध्यप्रदेश के अनेक भागों में भ्रमण करने और वनश्री का प्रकृत सौंदर्य देखने का अवसर मिला। इन स्थलों में जिस दृश्य पर आपकी रुचि जमी उसका वर्णन किए बिना आप न रहे। जब आप दक्षिण-कोशल—अर्थात् छत्तीसगढ़ की शवरीनारायण तहसील—में थे तब महानदी की प्रबल बाढ़ से उस ग्राम-तीर्थ की अत्यंत क्षति हुई। आपने उस पर 'प्रलय'-शीर्षक एक हृदयग्राही कविता लिख डाली। इसी प्रकार जब आप खंडवा में थे तब ओंकार-मांधाता—प्राचीन 'माहिष्मती' नगरी—का मनोहर वर्णन 'ओंकार-चंद्रिका' नामक काव्य में कर डाला।

आप बड़े विनोदी और आशु-कवि थे। एक बार आपकी अदालत में एक बड़ी तोंदवाले बंगाली वकील उपस्थित हुए। आपने मुकदमा लेने के पहले उनकी तोंद पर कविता कर डाली जिसको सुनकर अन्य लोग ही नहीं, वरन् तोंदवाले महाशय भी खुश हो गए!

आप सरकारी नौकरी में आदि से अंत तक तहसीलदार ही बने रहे; क्योंकि आप बड़ी स्वतंत्र प्रकृति के व्यक्ति थे—डिपुटी कमिश्नरों अथवा कमिश्नरों की भी कुछ परवा नहीं करते थे।

अंत में सरकारी नौकरी से मुक्त होकर आप कूचबिहार-नरेश की कौंसिल के सेक्रेटरी हो गए थे। सन् १८९९ ई० में, ४ मार्च को, इस सहृदय कवि तथा स्वाभिमानी पुरुष का देहावसान हो गया!

कविवर ठाकुर जगमोहनसिंह

आपके पुत्र-रत्न ठाकुर ब्रजमोहनसिंह, बी० ए०, बैरिस्टर, बड़े विद्यानुरागी और शांति-स्वरूप सज्जन हैं। वे अपने पूर्व-पुरुषों के ग्राम में ही विद्या-विनोद में काल-यापन करते हैं।

ठाकुर जगमोहनसिंह अपनी दिनचर्या लिखा करते थे, जो उनके पुस्तकालय में सुरक्षित है। उससे, उनकी विस्तृत जीवनी लिखने के लिये, पर्याप्त सामग्री मिल सकती है।

सेवा

गगन चढ़ीं बुंदैं बतावैं अलबेली
गली-गली जाईं किरन चढ़ीं आईं
हम तुम हैं सारी सहेली
गगन चढ़ीं बुंदैं बतावैं अलबेली

हिलीं-मिलीं गाढ़ीं एकइ संग बाढ़ीं
ठाढ़ीं धूपछाँही हवेली
गगन चढ़ीं बुंदैं बतावैं अलबेली

इतै-उतै धावैं भुवन भरमावैं
हरि हलरावै नवेली
गगन चढ़ीं बुंदैं बतावैं अलबेली

देव हमैं ताकैं अदेव हमैं झाँकैं
छाकै मन कोधौँ अकेली
गगन चढ़ीं बुंदैं बतावैं अलबेली

प्रेममयी कूदैं प्रमोदमयी कूदैं
प्राणों की बूझैं पहेली
गगन चढ़ीं बुंदैं बतावैं अलबेली

शिवाधार पांडेय

साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद

श्री रामचंद्र शुक्ल

किसी काव्य का श्रोता या पाठक जिन विषयों को मन में लाकर रति, करुणा, क्रोध, उत्साह इत्यादि भावों तथा सौंदर्य, रहस्य, गांभीर्य आदि भावनाओं का अनुभव करता है वे अकेले उसी के हृदय से संबंध रखनेवाले नहीं होते; मनुष्य-मात्र की भावात्मक सत्ता पर प्रभाव डालनेवाले होते हैं। इसी से उक्त काव्य को एक साथ पढ़ने या सुननेवाले सहस्रों मनुष्य उन्हीं भावों या भावनाओं का थोड़ा या बहुत अनुभव कर सकते हैं। जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलंबन हो सके तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ 'साधारणीकरण' कहलाता है। यह सिद्धांत यह घोषित करता है कि सच्चा कवि वही है जिसे लोक-हृदय की पहचान हो, जो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच मनुष्य-जाति के सामान्य हृदय को देख सके। इसी लोक-हृदय में हृदय के लीन होने की दशा का नाम रस-दशा है।

किसी काव्य में वर्णित किसी पात्र का किसी कुरूप और दुःशील स्त्री पर प्रेम हो सकता है; पर उस स्त्री के वर्णन द्वारा श्रृंगार रस का आलंबन नहीं खड़ा हो सकता। अतः ऐसा काव्य केवल भाव-प्रदर्शक ही होगा, विभाव-विधायक कभी नहीं हो सकता। इसी प्रकार रौद्र रस के वर्णन में जब तक आलंबन का चित्रण इस रूप में न होगा कि वह मनुष्य-मात्र के क्रोध का पात्र हो सके तब तक वह वर्णन भाव-प्रदर्शक मात्र रहेगा, उसका विभाव-पक्ष या तो शून्य अथवा अशक्त होगा। पर भाव और विभाव दोनों पक्षों के सामंजस्य के बिना पूरी और सच्ची रसानुभूति हो नहीं सकती। केवल भाव-प्रदर्शक काव्यों में भी होता यह है कि पाठक या श्रोता अपनी ओर से अपनी भावना के अनुसार आलंबन का आरोप किए रहता है।

काव्य का विषय सदा 'विशेष' होता है, 'सामान्य' नहीं; वह 'व्यक्ति' सामने लाता है, 'जाति' नहीं। यह बात आधुनिक कला-समीक्षा के क्षेत्र में पूर्णतया स्थिर हो चुकी है। अनेक व्यक्तियों के

रूप-गुण आदि के विवेचन द्वारा कोई वर्ग या जाति ठहराना, बहुत-सी बातों को लेकर कोई सामान्य सिद्धांत प्रतिपादित करना, यह सब तर्क औ विज्ञान का काम है—निश्चयात्मिका बुद्धि का व्यवसाय है। काव्य का काम है कल्पना में 'बिंब' (Images) या मूर्त्त भावना उपस्थित करना; बुद्धि के सामने कोई विचार (Concept) लाना नहीं। 'बिंब' जब होगा तब विशेष या व्यक्ति का ही होगा, सामान्य या जाति का नहीं।[1]

इस सिद्धांत का तात्पर्य यह है कि शुद्ध काव्य की उक्ति सामान्य तथ्य-कथन या सिद्धांत के रूप में नहीं होती। कविता वस्तुओं और व्यापारों का बिंब-ग्रहण कराने का प्रयत्न करती है; अर्थग्रहण मात्र से उसका काम नहीं चलता। बिंब-ग्रहण जब होगा तब विशेष या व्यक्ति का ही होगा, सामान्य या जाति का नहीं। जैसे, यदि कहा जाय कि 'क्रोध में मनुष्य बावला हो जाता है,' तो यह काव्य की उक्ति न होगी। काव्य की उक्ति तो किसी क्रुद्ध मनुष्य के उग्र वचनों और उन्मत्त चेष्टाओं को कल्पना में उपस्थित भर कर देगी। कल्पना में जो कुछ उपस्थित होगा वह व्यक्ति या वस्तु विशेष ही होगा। सामान्य या 'जाति' की तो मूर्त्त भावना हो ही नहीं सकती।[2]

अब यह देखना चाहिए कि हमारे यहाँ विभावन-व्यापार में जो 'साधारणीकरण' कहा गया है उसके विरुद्ध तो यह सिद्धांत नहीं जाता। विचार करने पर स्पष्ट हो जायगा कि दोनों में कोई विरोध नहीं पड़ता। विभावादिक साधारणतया प्रतीत होते हैं, इस कथन का अभिप्राय यह नहीं है कि रसानुभूति के समय श्रोता या पाठक के मन में आलंबन आदि विशेष व्यक्ति या विशेष वस्तु की मूर्त्त भावना के रूप में न आकर सामान्यतः व्यक्ति मात्र या वस्तु मात्र (जाति) के अर्थ-संकेत के रूप में आते हैं। 'साधारणीकरण' का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति विशेष या वस्तु विशेष आती

---

१. अभिव्यंजना-वाद (Expressionism) के प्रवर्त्तक क्रोसे (Benedetto Croce) ने कला के बोध-पक्ष और तर्क के बोध-पक्ष को इस प्रकार अलग-अलग दिखाया है—(क) Intuitive knowledge, knowledge obtained through the imagination, knowledge of the individual or of individual things. (ख) Logical knowledge, knowledge obtained through the intellect, knowledge of the universal, knowledge of the relations between individual things.—'*Aesthetic*' by *Benedetto Croce*.

२. साहित्य-शास्त्र में नैयायिकों की बातें ज्यों की त्यों ले लेने से काव्य के स्वरूप-निर्णय में जो बाधा पड़ी है उसका एक उदाहरण 'शक्तिग्रह' का प्रसंग है। उसके अंतर्गत कहा गया है कि संकेतग्रह 'व्यक्ति' का नहीं होता है, 'जाति' का होता है। तर्क में भाषा के संकेत-पक्ष (Symbolic aspect) से ही काम चलता है जिसमें अर्थग्रहण मात्र पर्याप्त होता है। अतः न्याय में तो जाति का संकेतग्रह कहना ठीक है। पर काव्य में भाषा के प्रत्यक्षीकरण-पक्ष (Presentative aspect) से काम लिया जाता है जिसमें शब्द द्वारा सूचित वस्तु का बिंब-ग्रहण होता है—अर्थात् उसकी मूर्त्ति कल्पना में खड़ी हो जाती है। काव्य-मीमांसा के क्षेत्र में न्याय का यह हाथ बढ़ाना डाक्टर सतीशचंद्र विद्याभूषण को भी खटका है। उन्होंने कहा है—It is, however, to be regretted that during the last 500 years the Nyaya has been mixed up with Law, Rhetoric, etc., and thereby has hampered the growth of those branches of knowledge upon which it has grown up as a sort of parasite.—*Introduction* (*The Nyaya Sutras*).

है वह जैसे काव्य में वर्णित 'आश्रय' के भाव का आलंबन होती है वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलंबन हो जाती है। जिस व्यक्ति विशेष के प्रति किसी भाव की व्यंजना कवि या पात्र करता है, पाठक या श्रोता की कल्पना में वह व्यक्ति विशेष ही उपस्थित रहता है। हाँ, कभी-कभी ऐसा भी होता है कि पाठक या श्रोता की मनोवृत्ति या संस्कार के कारण वर्णित व्यक्ति विशेष के स्थान पर कल्पना में उसी के समान-धर्मवाली कोई मूर्त्ति विशेष आ जाती है। जैसे, यदि किसी पाठक या श्रोता का किसी सुंदरी से प्रेम है तो शृंगार रस की फुटकल उक्तियाँ सुनने के समय रह-रहकर आलंबन-रूप में उसकी प्रेयसी की मूर्त्ति ही उसकी कल्पना में आएगी। यदि किसी से प्रेम न हुआ तो सुंदरी की कोई कल्पित मूर्त्ति उसके मन में आएगी। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह कल्पित मूर्त्ति भी विशेष ही होगी—व्यक्ति की ही होगी।

कल्पना में मूर्त्ति तो विशेष ही की होगी, पर वह मूर्त्ति ऐसी होगी जो प्रस्तुत भाव का आलंबन हो सके, जो उसी भाव को पाठक या श्रोता के मन में भी जगाए जिसकी व्यंजना आश्रय अथवा कवि करता है। इससे सिद्ध हुआ कि साधारणीकरण आलंबनत्व धर्म का होता है। व्यक्ति तो विशेष ही रहता है; पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा या बहुत होता है। तात्पर्य यह कि आलंबन रूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति, समान प्रभाव-वाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण, सबके भावों का आलंबन हो जाता है। 'विभावादि सामान्य रूप में प्रतीत होते हैं—' इसका तात्पर्य यही है कि रसमग्न पाठक के मन में यह भेदभाव नहीं रहता कि यह आलंबन मेरा है या दूसरे का। थोड़ी देर के लिये पाठक या श्रोता का हृदय लोक का सामान्य हृदय हो जाता है। उसका अपना अलग हृदय नहीं रहता।

'साधारणीकरण' के प्रतिपादन में पुराने आचार्यों ने श्रोता (या पाठक) और आश्रय (भाव-व्यंजना करनेवाला पात्र) के तादात्म्य की अवस्था का ही विचार किया है जिसमें आश्रय किसी काव्य या नाटक के पात्र के रूप में आलंबन-रूप किसी दूसरे पात्र के प्रति किसी भाव की व्यंजना करता है और श्रोता (या पाठक) उसी भाव का रसरूप में अनुभव करता है। पर रस की एक नीची अवस्था और है जिसका हमारे यहाँ के साहित्य-ग्रंथों में विवेचन नहीं हुआ है। उसका भी विचार करना चाहिए। किसी भाव की व्यंजना करनेवाला, कोई क्रिया या व्यापार करनेवाला पात्र भी शील की दृष्टि से श्रोता (या दर्शक) के किसी भाव का—जैसे श्रद्धा, भक्ति, घृणा, रोष, आश्चर्य, कुतूहल या अनुराग का—आलंबन होता है। इस दशा में श्रोता या दर्शक का हृदय उस पात्र के हृदय से अलग रहता है—अर्थात् श्रोता या दर्शक उसी भाव का अनुभव नहीं करता जिसकी व्यंजना पात्र अपने आलंबन के प्रति करता है, बल्कि व्यंजना करनेवाले उस पात्र के प्रति किसी और ही भाव का अनुभव करता है। यह दशा भी एक प्रकार की रस-दशा ही है—यद्यपि इसमें आश्रय के साथ तादात्म्य और उसके आलंबन का साधारणीकरण नहीं रहता। जैसे, कोई क्रोधी या क्रूर प्रकृति का पात्र यदि किसी निरपराध या दीन पर क्रोध की प्रबल व्यंजना कर रहा है तो श्रोता या दर्शक के मन में क्रोध का रसात्मक संचार न होगा, बल्कि क्रोध प्रदर्शित

करनेवाले उस पात्र के प्रति अश्रद्धा, घृणा आदि का भाव जगेगा। ऐसी दशा में आश्रय के साथ तादात्म्य या सहानुभूति न होगी, बल्कि श्रोता या पाठक उक्त पात्र के शील-द्रष्टा या प्रकृति-द्रष्टा के रूप में प्रभाव ग्रहण करेगा और यह प्रभाव भी रसात्मक ही होगा। पर इस रसात्मकता को हम मध्यम कोटि की ही मानेंगे।

जहाँ पाठक या दर्शक किसी काव्य या नाटक में सन्निविष्ट पात्र या आश्रय के शील-द्रष्टा के रूप में स्थित होता है वहाँ भी पाठक या दर्शक के मन में कोई न कोई भाव थोड़ा-बहुत अवश्य जगा रहता है; अंतर इतना ही पड़ता है कि उस पात्र का आलंबन पाठक या दर्शक का आलंबन नहीं होता, बल्कि वह पात्र ही पाठक या दर्शक के किसी भाव का आलंबन रहता है। इस दशा में भी एक प्रकार का तादात्म्य और साधारणीकरण होता है। तादात्म्य कवि के उस अव्यक्त भाव के साथ होता है जिसके अनुरूप वह पात्र का स्वरूप संघटित करता है। जो स्वरूप कवि अपनी कल्पना में लाता है उसके प्रति उसका कुछ न कुछ भाव अवश्य रहता है। वह उसके किसी भाव का आलंबन अवश्य होता है। अतः पात्र का स्वरूप कवि के जिस भाव का आलंबन रहता है, पाठक या दर्शक के भी उसी भाव का आलंबन प्रायः हो जाता है। जहाँ कवि किसी वस्तु (जैसे—हिमालय, विंध्याटवी) या व्यक्ति का केवल चित्रण करके छोड़ देता है वहाँ कवि ही आश्रय के रूप में रहता है। उस वस्तु या व्यक्ति का चित्रण वह उसके प्रति कोई भाव रखकर ही करता है। उसी के भाव के साथ पाठक या दर्शक का तादात्म्य रहता है; उसी का आलंबन पाठक या दर्शक का आलंबन हो जाता है।

आश्रय की जिस भाव-व्यंजना को श्रोता या पाठक का हृदय कुछ भी अपना न सकेगा उसका ग्रहण केवल शील-वैचित्र्य के रूप में होगा और उसके द्वारा घृणा, विरक्ति, अश्रद्धा, क्रोध, आश्चर्य, कुतूहल इत्यादि में से ही कोई भाव उत्पन्न होकर अपरितुष्ट दशा में रह जाएगा। उस भाव की तुष्टि तभी होगी जब कोई दूसरा पात्र आकर उसकी व्यंजना वाणी और चेष्टा द्वारा उस बेमेल या अनुपयुक्त भाव की व्यंजना करनेवाले प्रथम पात्र के प्रति करेगा। इस दूसरे पात्र की भाव-व्यंजना के साथ श्रोता या दर्शक की पूर्ण सहानुभूति होगी। अपरितुष्ट भाव की आकुलता का अनुभव प्रबंध-काव्यों, नाटकों और उपन्यासों के प्रत्येक पाठक को थोड़ा-बहुत होगा। जब कोई असामान्य दुष्ट अपनी मनोवृत्ति की व्यंजना किसी स्थल पर करता है तब पाठक के मन में बार-बार यही आता है कि उस दुष्ट के प्रति उसके मन में जो घृणा या क्रोध है उसकी भरपूर व्यंजना वचन या क्रिया द्वारा कोई पात्र आकर करता। क्रोधी परशुराम तथा अत्याचारी रावण की कठोर बातों का जो उत्तर लक्ष्मण और अंगद देते हैं उससे कथा-श्रोताओं की अपूर्व तुष्टि होती है।

इस संबंध में सबसे अधिक ध्यान देने की बात यह है कि शील विशेष के परिज्ञान से उत्पन्न भाव की अनुभूति और आश्रय के साथ तादात्म्य-दशा की अनुभूति (जिसे आचार्यों ने रस कहा है) दो भिन्न कोटि की रसानुभूतियाँ हैं। प्रथम में श्रोता या पाठक अपनी पृथक् सत्ता अलग सँभाले रहता है; द्वितीय में अपनी पृथक् सत्ता का कुछ क्षणों के लिये विसर्जन कर आश्रय की भावात्मक सत्ता में मिल जाता है। उदात्त वृत्तिवाले आश्रय की भाव-व्यंजना में भी यह होगा कि जिस समय तक पाठक या

श्रोता तादात्म्य की दशा में पूर्ण रसमग्न रहेगा उस समय तक भाव-व्यंजना करनेवाले आश्रय को अपने से अलग रखकर उसके शील आदि की ओर दत्तचित्त न रहेगा। उस दशा के आगे-पीछे ही वह उसकी भावात्मक सत्ता से अपनी भावात्मक सत्ता को अलग कर उसके शील-सौंदर्य की भावना कर सकेगा। भाव-व्यंजना करनेवाले किसी पात्र या आश्रय के शील-सौंदर्य की भावना जिस समय रहेगी उस समय वही श्रोता या पाठक का आलंबन रहेगा और उसके प्रति श्रद्धा, भक्ति या प्रीति टिकी रहेगी।

हमारे यहाँ के आचार्यों ने श्रव्य काव्य और दृश्य काव्य दोनों में रस की प्रधानता रक्खी है, इसी से दृश्य काव्य में भी उनका लक्ष्य तादात्म्य और साधारणीकरण की ओर रहता है। पर योरप के दृश्य काव्यों में शील-वैचित्र्य या अंतःप्रकृति-वैचित्र्य की ओर ही प्रधान लक्ष्य रहता है जिसके साक्षात्कार से दर्शक को आश्चर्य या कुतूहल मात्र की अनुभूति होती है। अतः इस वैचित्र्य पर थोड़ा विचार कर लेना चाहिए। वैचित्र्य के साक्षात्कार से केवल तीन बातें हो सकती हैं—(१) आश्चर्यपूर्ण प्रसादन, (२) आश्चर्य्यपूर्ण अवसादन, या (३) कुतूहल-मात्र।

आश्चर्यपूर्ण प्रसादन शील के चरम उत्कर्ष अर्थात् सात्विक आलोक के साक्षात्कार से होता है। भरत का राम की पादुका लेकर विरक्त रूप में बैठना, राजा हरिश्चंद्र का अपनी रानी से आधा कफन माँगना, नागानंद नाटक में जीमूतवाहन का भूखे गरुड़ से अपना मांस खाने के लिये अनुरोध करना इत्यादि शील-वैचित्र्य के ऐसे दृश्य हैं जिनसे श्रोता या दर्शक के हृदय में आश्चर्य-मिश्रित श्रद्धा या भक्ति का संचार होता है। इस प्रकार के उत्कृष्ट शीलवाले पात्रों की भाव-व्यंजना को अपना कर वह उसमें लीन भी हो सकता है। ऐसे पात्रों का शील विचित्र होने पर भी भाव-व्यंजना के समय उनके साथ पाठक या श्रोता का तादात्म्य हो सकता है।

आश्चर्यपूर्ण अवसादन शील के अत्यंत पतन अर्थात् तामसी घोरता के साक्षात्कार से होता है। यदि किसी काव्य या नाटक में हूण-सम्राट् मिहिरगुल पहाड़ की चोटी पर से गिराए जाते हुए मनुष्य के तड़फने, चिल्लाने आदि की भिन्न-भिन्न चेष्टाओं पर भिन्न-भिन्न ढंग से अपने आह्लाद की व्यंजना करे तो उसके आह्लाद में किसी श्रोता या दर्शक का हृदय योग न देगा, बल्कि उसकी मनोवृत्ति की विलक्षणता और घोरता पर स्तंभित, क्षुब्ध या कुपित होगा। इसी प्रकार दुःशीलता की और-और विचित्रताओं के प्रति श्रोता की आश्चर्य-मिश्रित विरक्ति, घृणा आदि जगेगी।

जिन सात्त्विकी और तामसी प्रकृतियों की चरम सीमा का उल्लेख ऊपर हुआ है, सामान्य प्रकृति से उनकी आश्चर्यजनक विभिन्नता केवल उनकी मात्रा में होती है। वे किसी वर्ग विशेष की सामान्य प्रकृति के भीतर समझी जा सकती हैं। जैसे, भरत आदि की प्रकृति शीलवानों की प्रकृति के भीतर और मिहिरगुल की प्रकृति क्रूरों की प्रकृति के भीतर मानी जा सकती है। पर कुछ लोगों के अनुसार ऐसी अद्वितीय प्रकृति भी होती है जो किसी वर्ग विशेष की भी प्रकृति के भीतर नहीं होती। ऐसी प्रकृति के साक्षात्कार से न स्पष्ट प्रसादन होगा, न स्पष्ट अवसादन—एक प्रकार का मनोरंजन या कुतूहल ही होगा। ऐसी अद्वितीय प्रकृति के चित्रण को डंटन (Theodore Watts-Dunton) ने कवि

की नाटकीय या निरपेक्ष दृष्टि (Dramatic or Absolute vision) का सूचक और काव्य-कला का चरम उत्कर्ष कहा है। उनका कहना है कि साधारणतः कवि या नाटककार भिन्न-भिन्न पात्रों की उक्तियों की कल्पना अपने ही को उनकी परिस्थिति में अनुमान करके किया करते हैं। वे वास्तव में यह अनुमान करते हैं कि यदि हम उनकी दशा में होते तो कैसे वचन मुँह से निकालते। तात्पर्य यह कि उनकी दृष्टि सापेक्ष होती है; वे अपनी ही प्रकृति के अनुसार चरित्र-चित्रण करते हैं। पर निरपेक्ष दृष्टिवाले नाटककार एक नवीन नर-प्रकृति की सृष्टि करते हैं। नूतन निर्माणवाली कल्पना उन्हीं की होती है।

डंटन ने निरपेक्ष दृष्टि को उच्चतम शक्ति तो ठहराया, पर उन्हें संसार भर में दो ही तीन कवि उक्त दृष्टि से संपन्न मिले जिनमें मुख्य शेक्सपियर हैं। पर शेक्सपियर के नाटकों में कुछ विचित्र अंतः-प्रकृति के पात्रों के होते हुए भी अधिकांश ऐसे पात्र हैं जिनकी भाव-व्यंजना के साथ पाठक या दर्शक का पूरा तादात्म्य रहता है। 'जूलियस सीजर' नाटक में अंटोनियो के लंबे भाषण से जो क्षोभ उमड़ा पड़ता है उसमें किसका हृदय योग न देगा? डंटन के अनुसार शेक्सपियर की दृष्टि की निरपेक्षता के उदाहरणों में हैमलेट का चरित्र-चित्रण है। पर विचारपूर्वक देखा जाय तो हैमलेट की मनोवृत्ति भी ऐसे व्यक्ति की मनोवृत्ति है जो अपनी माता का घोर विश्वासघात और जघन्य शीलच्युति देख अर्द्धविक्षिप्त-सा हो गया हो। परिस्थिति के साथ उसके वचनों का असामंजस्य उसकी बुद्धि की अव्यवस्था का द्योतक है। अतः उसका चरित्र भी एक वर्ग विशेष के चरित्र के भीतर आ जाता है। उसके बहुत से भाषणों को प्रत्येक सहृदय व्यक्ति अपनाता है। उदाहरण के लिये आत्मग्लानि और क्षोभ से भरे हुए वे वचन जिनके द्वारा वह स्त्री-जाति की भर्त्सना करता है। अतः हमारे देखने में ऐसी मनोवृत्ति का प्रदर्शन, जो किसी दशा में किसी की हो ही नहीं सकती, केवल ऊपरी मन-बहलाव के लिये खड़ा किया हुआ कृत्रिम तमाशा ही होगा। पर डंटन साहब के अनुसार ऐसी मनोवृत्ति का चित्रण नूतन सृष्टिकारिणी कल्पना का सबसे उज्ज्वल उदाहरण होगा।

'नूतन सृष्टि-निर्माणवाली कल्पना' की चर्चा जिस प्रकार योरप में चलती आ रही है उसी प्रकार भारतवर्ष में भी। पर हमारे यहाँ यह कथन अर्थवाद के रूप में—कवि और कवि-कर्म की स्तुति के रूप में ही गृहीत हुआ, शास्त्रीय सिद्धांत या विवेचन के रूप में नहीं। योरप में अलबत यह एक सूत्र-सा बनकर काव्य-समीक्षा के क्षेत्र में भी जा घुसा है। इसके प्रचार का परिणाम वहाँ यह हुआ कि कुछ रचनाएँ इस ढंग की भी हो चलीं जिनमें कवि ऐसी अनुभूतियों की व्यंजना की नकल करता है जो न वास्तव में उसकी होती हैं और न किसी की हो सकती हैं। इस नूतन सृष्टि-निर्माण के अभिनय के बीच 'दूसरे जगत् के पंछियों' की उड़ान शुरू हुई। शेली के पीछे पागलपन की नकल करनेवाले बहुत-से खड़े हुए थे; वे अपनी बातों का ऐसा रूप-रंग बनाते थे जो किसी और दुनिया का लगे या कहीं का न जान पड़े।[१]

---

[१] After Shelley's music began to captivate the world certain poets set to work upon the theory that between themselves and the other portion of the human race

यह उस प्रवृत्ति का हद के बाहर पहुँचा हुआ रूप है जिसका आरंभ योरप में एक प्रकार से पुनरुत्थान-काल (Renaissance) के साथ ही हुआ था। ऐसा कहा जाता है कि उस काल के पहले काव्य की रचना काल को अखंड, अनंत और भेदातीत मानकर तथा लोक को एक सामान्य सत्ता समझकर की जाती थी। रचना करनेवाले यह ध्यान रखकर नहीं लिखते थे कि इस काल के आगे आनेवाला काल कुछ और प्रकार का होगा अथवा इस वर्त्तमान काल का स्वरूप सर्वत्र एक ही नहीं है—किसी जन-समूह के बीच पूर्ण सभ्य काल है, किसी के बीच उससे कुछ कम; किसी जन-समुदाय के बीच कुछ असभ्य काल है, किसी के बीच उससे बहुत अधिक। इसी प्रकार उन्हें इस बात की ओर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं होती थी कि लोक भिन्न-भिन्न व्यक्तियों से बना होता है जो भिन्न-भिन्न रुचि और प्रवृत्ति के होते हैं। 'पुनरुत्थान-काल' से धीरे-धीरे इस तथ्य की ओर ध्यान बढ़ता गया, प्राचीनों की भूल प्रकट होती गई। अंत में इशारे पर आँख मूँदकर दौड़नेवाले बड़े-बड़े पंडितों ने पुनरुत्थान की कालधारा को मथकर 'व्यक्तिवाद' रूपी नया रत्न निकाला। फिर क्या था? शिक्षित-समाज में व्यक्तिगत विशेषताएँ देखने-दिखाने की चाह बढ़ने लगी।

काव्यक्षेत्र में किसी 'वाद' का प्रचार धीरे-धीरे उसकी सार-सत्ता को ही चर जाता है। कुछ दिनों में लोग कविता न लिखकर 'वाद' लिखने लगते हैं। कला या काव्य के क्षेत्र में 'लोक' और 'व्यक्ति' की उपर्युक्त धारणा कहाँ तक संगत है, इस पर थोड़ा विचार कर लेना चाहिए। लोक के बीच जहाँ बहुत सी भिन्नताएँ देखने में आती हैं वहाँ कुछ अभिन्नता भी पाई जाती है। एक मनुष्य की आकृति से दूसरे मनुष्य की आकृति नहीं मिलती, पर सब मनुष्यों की आकृतियों को एक साथ लें तो एक ऐसी सामान्य आकृति-भावना भी बँधती है जिसके कारण हम सबको मनुष्य कहते हैं। इसी प्रकार सबकी रुचि और प्रकृति में भिन्नता होने पर भी कुछ ऐसी अंतर्भूमियाँ हैं जहाँ पहुँचने पर अभिन्नता मिलती है। ये अंतर्भूमियाँ नर-समष्टि की रागात्मिका प्रकृति के भीतर हैं। लोक-हृदय की यही सामान्य अंतर्भूमि परखकर हमारे यहाँ 'साधारणीकरण' सिद्धांत की प्रतिष्ठा की गई है। वह सामान्य अंतर्भूमि कल्पित या कृत्रिम नहीं है। काव्य-रचना की रूढ़ि या परंपरा, सभ्यता के न्यूनाधिक विकास, जीवन-व्यापार के बदलनेवाले बाहरी रूप-रंग इत्यादि पर यह स्थित नहीं है। इसकी नीचँ गहरी है। इसका संबंध हृदय के भीतरी मूल देश से है, उसका सामान्य वासनात्मक सत्ता से है।

there is a wide gulf fixed. Their theory was that they were to sing, as far as possible, like birds of another world. ....It might also be said that the poetic atmosphere became that of the supreme palace of wonder—*Bedlam*.

Bailey, Dobell and Smith were not Bedlamites, but men of common sense. They only affected madness. The country from which the followers of Shelley sing to our lower world was named 'Nowhere'.

—'*Poetry and the Renascence of Wonder*' by *Theodore Watts Dunton*.

जिस 'व्यक्तिवाद' का ऊपर उल्लेख हुआ है उसने स्वच्छंदता के आंदोलन (Romantic movement) के उत्तर-काल से बड़ा ही विकृत रूप धारण किया। यह 'व्यक्तिवाद' यदि पूर्णरूप से स्वीकार किया जाय तो कविता लिखना व्यर्थ ही समझिए। कविता इसी लिये लिखी जाती है कि एक ही भावना सैकड़ों, हजारों क्या, लाखों दूसरे आदमी ग्रहण करें। जब एक के हृदय के साथ दूसरे के हृदय की कोई समानता ही नहीं तब एक के भावों को दूसरा क्यों और कैसे ग्रहण करेगा? ऐसी अवस्था में तो यही संभव है कि हृदय द्वारा मार्मिक या भीतरी ग्रहण की बात ही छोड़ दी जाय; व्यक्तिगत विशेषता के वैचित्र्य द्वारा ऊपरी कुतूहल मात्र उत्पन्न कर देना ही बहुत समझा जाय। हुआ भी यही। और हृदयों से अपने हृदय की भिन्नता और विचित्रता दिखाने के लिये बहुत-से लोग एक-एक काल्पनिक हृदय निर्मित करके दिखाने लगे। काव्यक्षेत्र 'नकली हृदयों' का एक कारखाना हो गया!

ऊपर जो कुछ कहा गया उससे जान पड़ेगा कि भारतीय काव्य-दृष्टि भिन्न-भिन्न विशेषों के भीतर से 'सामान्य' के उद्घाटन की ओर बराबर रही है। किसी न किसी 'सामान्य' के प्रतिनिधि होकर ही 'विशेष' हमारे यहाँ के काव्यों में आते रहे हैं। पर योरपीय काव्यदृष्टि इधर बहुत दिनों से विरल विशेष के विधान की ओर रही है। हमारे यहाँ के कवि उस सच्चे तार की झंकार सुनाने में ही संतुष्ट रहे जो मनुष्य-मात्र के हृदय के भीतर से होता हुआ गया है। पर उन्नीसवीं शताब्दी के बहुत-से विलायती कवि ऐसे हृदयों के प्रदर्शन में लगे जो न कहीं होते हैं और न हो सकते हैं। सारांश यह कि हमारी वाणी भावक्षेत्र के बीच 'भेदों में अभेद' को ऊपर करती रही और उनकी वाणी झूठे-सच्चे विलक्षण भेद खड़े करके लोगों को चमत्कृत करने में लगी।

'कल्पना' और 'व्यक्तित्व' की, पाश्चात्य समीक्षा-क्षेत्र में, इतनी अधिक मुनादी हुई कि काव्य के और सब पक्षों से दृष्टि हटकर इन्हीं दो पर जा जमी। 'कल्पना' काव्य का बोध-पक्ष है। कल्पना में आई हुई रूप-व्यापार-योजना का कवि या श्रोता को अंतःसाक्षात्कार या बोध होता है। पर इस बोधपक्ष के अतिरिक्त काव्य का भावपक्ष भी है। कल्पना को रूप-योजना के लिये प्रेरित करनेवाले और कल्पना में आई हुई वस्तुओं में श्रोता या पाठक को रमानेवाले रति, करुणा, क्रोध, उत्साह, आश्चर्य इत्यादि भाव या मनोविकार होते हैं। इसी से भारतीय दृष्टि ने भावपक्ष को प्रधानता दी और रस के सिद्धांत की प्रतिष्ठा की। पर पश्चिम में 'कल्पना' 'कल्पना' की पुकार के सामने धीरे-धीरे समीक्षकों का ध्यान भावपक्ष से हट गया और बोधपक्ष ही पर भिड़ गया। काव्य की रमणीयता उस हलके आनंद के रूप में ही मानी जाने लगी जिस आनंद के लिये हम नई-नई, सुंदर, भड़कीली और विलक्षण वस्तुओं को देखने जाते हैं। इस प्रकार कवि तमाशा दिखानेवाले के रूप में और श्रोता या पाठक तटस्थ तमाशबीन के रूप में समझे जाने लगे। केवल देखने का आनंद कुछ विलक्षण को देखने का कुतूहल-मात्र होता है।

'व्यक्तित्व' ही को ले उड़ने से जो परिणाम हुआ है उसका कुछ आभास ऊपर दिया जा चुका है। 'कल्पना' और 'व्यक्तित्व' पर एकदेशीय दृष्टि रखकर पश्चिम में कई प्रसिद्ध 'वादों' की इमारतें खड़ी हुईं। इटली-निवासी क्रोसे (Benedetto Croce) ने अपने 'अभिव्यंजनावाद' के निरूपण में बड़े कठोर

आग्रह के साथ कला की अनुभूति को ज्ञान या बोध-स्वरूप ही माना है। उन्होंने उसे स्वयंप्रकाश ज्ञान (Intuition)—प्रत्यक्ष ज्ञान तथा बुद्धि-व्यवसाय-सिद्ध या विचार-प्रसूत ज्ञान से भिन्न केवल कल्पना में आई हुई वस्तु-व्यापार-योजना का ज्ञान-मात्र माना है। वे इस ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान और विचार-प्रसूत ज्ञान दोनों से सर्वथा निरपेक्ष, स्वतंत्र और स्वतःपूर्ण मानकर चले हैं। वे इस निरपेक्षता को बहुत दूर तक घसीट ले गए हैं। भावों या मनोविकारों तक को उन्होंने काव्य की उक्ति का विधायक अवयव नहीं माना है। पर न चाहने पर भी अभिव्यंजना या उक्ति के अनभिव्यक्त पूर्व रूप में भावों की सत्ता उन्हें स्वीकार करनी पड़ी है। उससे अपना पीछा वे छुड़ा नहीं सके हैं।[१]

काव्य-समीक्षा के क्षेत्र में व्यक्ति की ऐसी दीवार खड़ी हुई, 'विशेष' के स्थान पर सामान्य या विचार-सिद्ध ज्ञान के आ घुसने का इतना डर समाया कि कहीं-कहीं आलोचना भी काव्य-रचना के ही रूप में होने लगी। कला की कृति की परीक्षा के लिये विवेचन-पद्धति का त्याग-सा होने लगा। हिंदी की मासिक पत्रिकाओं में समालोचना के नाम पर आज-कल जो अद्भुत और रमणीय शब्द-योजना-मात्र कभी-कभी देखने में आया करती है वह इसी पाश्चात्य प्रवृत्ति का अनुकरण है। पर यह भी समझ रखना चाहिए कि योरप में साहित्य-संबंधी आंदोलनों की आयु बहुत थोड़ी होती है। कोई आंदोलन दस-बारह वर्ष से ज्यादा नहीं चलता। ऐसे आंदोलनों के कारण वहाँ इस बीसवीं शताब्दी में आकर काव्यक्षेत्र के बीच बड़ी गहरी गड़बड़ी और अव्यवस्था फैली। काव्य की स्वाभाविक उमंग के स्थान पर नवीनता के लिये आकुलता-मात्र रह गई। कविता चाहे हो, चाहे न हो; कोई नवीन रूप या रंग-ढंग अवश्य खड़ा हो। पर कोरी नवीनता केवल मरे हुए आंदोलन का इतिहास छोड़ जाय तो छोड़ जाय, कविता नहीं खड़ी कर सकती। केवल नवीनता और मौलिकता की बढ़ी-चढ़ी सनक में सच्ची कविता की ओर ध्यान कहाँ तक रह सकता है? कुछ लोग तो नए-नए ढंग की उच्छृंखलता, वक्रता, असंबद्धता, अनर्गलता इत्यादि का ही प्रदर्शन करने में लगे। थोड़े-से ही सच्ची भावनावाले कवि प्रकृत मार्ग पर चलते दिखाई पड़ने लगे। समालोचना भी अधिकतर हवाई ढंग की होने लगी।[२]

योरप में इधर पचास वर्ष के भीतर 'रहस्यवाद', 'कलावाद', 'व्यक्तिवाद' इत्यादि जो अनेक 'वाद' चले थे वे अब वहाँ मरे हुए आंदोलन समझे जाते हैं। इन नाना 'वादों' से ऊबकर लोग अब

---

[१] *Matter* is emotivity not aesthetically elaborated *i.e.* impression. *Form* is elaboration and expression. × × × × Sentiments or impressions pass by means of words from the obscure region of the soul into the clarity of the contemplative spirit.—'*Aesthetic.*'

[२] Wherever attempts at sheer newness in poetry were made, they merely ended in dead movements. × × × × Criticism became more dogmatic and unreal, poetry more eccentric and chastic.

—"*A Survey of Modernist Poetry*" by *Laura Riding and Robert Graves (1927)*.

फिर साफ हवा में आना चाहते हैं। किसी कविता के संबंध में किसी 'वाद' का नाम लेना अब फैशन के खिलाफ माना जाने लगा है। अब कोई वादी समझे जाने में कवि अपना मान नहीं समझते।[१]

[१] The modernist poet does not have to issue a programme declaring his intentions toward the reader or to issue an announcement of tactics. He does not have to call himself an individualist (as the Imagist poet did) or a mystic (as the poet of the Anglo-Irish dead movement did) or a naturalist (as the poet of the Georgian dead movement did).—" *A Survey of Modernist Poetry*" by *Laura Riding and Robert Graves (1927)*.

मृत्यु-जीवन

फूल फबीला झूम-झूमकर डाली पर इतराता था,
सौरभ-सुधा लुटा वसुधा पर फूला नहीं समाता था,
हरी-हरी पत्तियाँ प्रेम से, स्वागत कर सुख पाती थीं,
ओस-धूप दोनों हिलमिलकर भली भाँति नहलाती थीं,
क्रूर काल के कुटिल करों ने सुंदर सुमन मरोड़ दिया!
हरी पत्तियाँ हाय! सुखा दीं तरुवर का तन तोड़ दिया।
पर क्या दृश्य देखकर ऐसा, पुष्पों को कुछ त्रास हुआ?
सौरभ-सुषमा त्याग भला क्या कोई कभी उदास हुआ?
कर्मवीर के लिये मृत्यु का भय कब बाधक होता है?
कर्महीन ही कायरता से 'काल-काल' कह रोता है!
शैशव, यौवन और बुढ़ापा, देह-दशा-परिवर्त्तन है,
इसी प्रकार मृत्यु,जीवन का बस अचूक आवर्त्तन है।
मरने की परवाह नहीं है, मरनेवाला मरता है,
जीते-जी जीवित रह जग में कर्म विवेकी करता है।

हरिशंकर शर्मा

आग्रह के साथ कला की अनुभूति को ज्ञान या बोध-स्वरूप ही माना है। उन्होंने उसे स्वयंप्रकाश ज्ञान (Intuition)—प्रत्यक्ष ज्ञान तथा बुद्धि-व्यवसाय-सिद्ध या विचार-प्रसूत ज्ञान से भिन्न केवल कल्पना में आई हुई वस्तु-व्यापार-योजना का ज्ञान-मात्र माना है। वे इस ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान और विचार-प्रसूत ज्ञान दोनों से सर्वथा निरपेक्ष, स्वतंत्र और स्वतःपूर्ण मानकर चले हैं। वे इस निरपेक्षता को बहुत दूर तक घसीट ले गए हैं। भावों या मनोविकारों तक को उन्होंने काव्य की उक्ति का विधायक अवयव नहीं माना है। पर न चाहने पर भी अभिव्यंजना या उक्ति के अनभिव्यक्त पूर्व रूप में भावों की सत्ता उन्हें स्वीकार करनी पड़ी है। उससे अपना पीछा वे छुड़ा नहीं सके हैं।[१]

काव्य-समीक्षा के क्षेत्र में व्यक्ति की ऐसी दीवार खड़ी हुई, 'विशेष' के स्थान पर सामान्य या विचार-सिद्ध ज्ञान के आ घुसने का इतना डर समाया कि कहीं-कहीं आलोचना भी काव्य-रचना के ही रूप में होने लगी। कला की कृति की परीक्षा के लिये विवेचन-पद्धति का त्याग-सा होने लगा। हिंदी की मासिक पत्रिकाओं में समालोचना के नाम पर आज-कल जो अद्भुत और रमणीय शब्द-योजना-मात्र कभी-कभी देखने में आया करती है वह इसी पाश्चात्य प्रवृत्ति का अनुकरण है। पर यह भी समझ रखना चाहिए कि योरप में साहित्य-संबंधी आंदोलनों की आयु बहुत थोड़ी होती है। कोई आंदोलन दस-बारह वर्ष से ज्यादा नहीं चलता। ऐसे आंदोलनों के कारण वहाँ इस बीसवीं शताब्दी में आकर काव्यक्षेत्र के बीच बड़ी गहरी गड़बड़ी और अव्यवस्था फैली। काव्य की स्वाभाविक उमंग के स्थान पर नवीनता के लिये आकुलता-मात्र रह गई। कविता चाहे हो, चाहे न हो; कोई नवीन रूप या रंग-ढंग अवश्य खड़ा हो। पर कोरी नवीनता केवल मरे हुए आंदोलन का इतिहास छोड़ जाय तो छोड़ जाय, कविता नहीं खड़ी कर सकती। केवल नवीनता और मौलिकता की बढ़ी-चढ़ी सनक में सच्ची कविता की ओर ध्यान कहाँ तक रह सकता है? कुछ लोग तो नए-नए ढंग की उच्छृंखलता, वक्रता, असंबद्धता, अनर्गलता इत्यादि का ही प्रदर्शन करने में लगे। थोड़े-से ही सच्ची भावनावाले कवि प्रकृत मार्ग पर चलते दिखाई पड़ने लगे। समालोचना भी अधिकतर हवाई ढंग की होने लगी।[२]

योरप में इधर पचास वर्ष के भीतर 'रहस्यवाद', 'कलावाद', 'व्यक्तिवाद' इत्यादि जो अनेक 'वाद' चले थे वे अब वहाँ मरे हुए आंदोलन समझे जाते हैं। इन नाना 'वादों' से ऊबकर लोग अब

---

[१] *Matter* is emotivity not aesthetically elaborated *i.e.* impression. *Form* is elaboration and expression. × × × × Sentiments or impressions pass by means of words from the obscure region of the soul into the clarity of the contemplative spirit.—'*Aesthetic.*'

[२] Wherever attempts at sheer newness in poetry were made, they merely ended in dead movements. × × × × Criticism became more dogmatic and unreal, poetry more eccentric and chastic.

—"*A Survey of Modernist Poetry*" by *Laura Riding and Robert Graves (1927).*

फिर साफ हवा में आना चाहते हैं। किसी कविता के संबंध में किसी 'वाद' का नाम लेना अब फैशन के खिलाफ माना जाने लगा है। अब कोई वादी समझे जाने में कवि अपना मान नहीं समझते।[1]

---

[1] The modernist poet does not have to issue a programme declaring his intentions toward the reader or to issue an announcement of tactics. He does not have to call himself an individualist (as the Imagist poet did) or a mystic (as the poet of the Anglo-Irish dead movement did) or a naturalist (as the poet of the Georgian dead movement did).—"*A Survey of Modernist Poetry*" by *Laura Riding and Robert Graves* (*1927*).

मृत्यु-जीवन

फूल फबीला झूम-झूमकर डाली पर इतराता था,
सौरभ-सुधा लुटा वसुधा पर फूला नहीं समाता था,
हरी-हरी पत्तियाँ प्रेम से, स्वागत कर सुख पाती थीं,
ओस-धूप दोनों हिलमिलकर भली भाँति नहलाती थीं,
क्रूर काल के कुटिल करों ने सुंदर सुमन मरोड़ दिया!
हरी पत्तियाँ हाय! सुखा दीं तरुवर का तन तोड़ दिया।
पर क्या दृश्य देखकर ऐसा, पुष्पों को कुछ त्रास हुआ?
सौरभ-सुषमा त्याग भला क्या कोई कभी उदास हुआ?
कर्मवीर के लिये मृत्यु का भय कब बाधक होता है?
कर्महीन ही कायरता से 'काल-काल' कह रोता है!
शैशव, यौवन और बुढ़ापा, देह-दशा-परिवर्त्तन है,
इसी प्रकार मृत्यु,जीवन का बस अचूक आवर्त्तन है।
मरने की परवाह नहीं है, मरनेवाला मरता है,
जीते-जी जीवित रह जग में कर्म विवेकी करता है।

हरिशंकर शर्मा

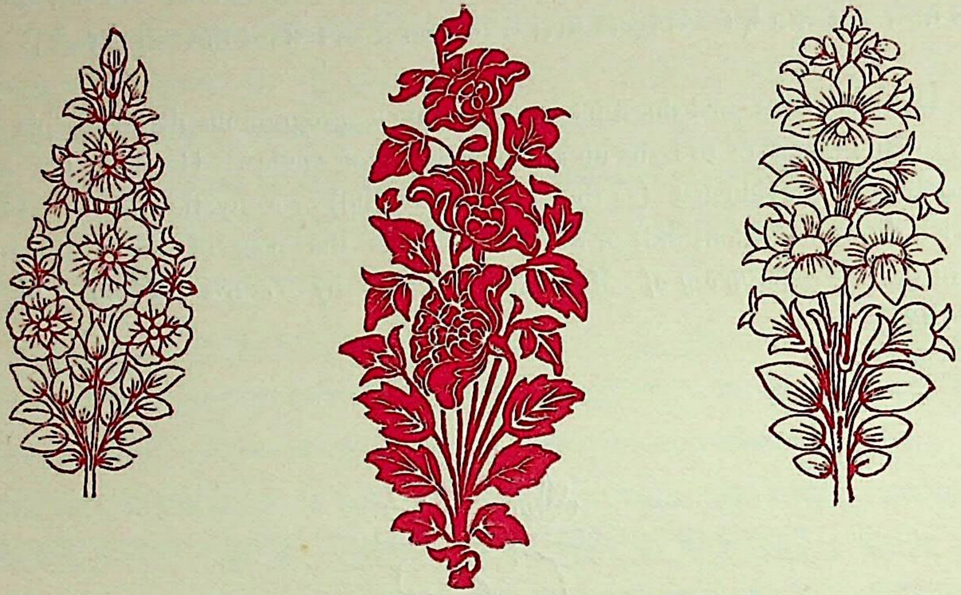

उद्यान

चौपदे

हरित तृण-राजि-विराजित भूमि, बनी रहती है बहु-छबिधाम।
बिहँस जिस पर प्रति दिवस प्रभात, बरस जाता है मुक्ता-दाम॥
पहन कमनीय कुसुम का हार, पवन से करती है कल केलि।
उड़े मंजुल दल-पुंज-दुकूल, बिलसती है अलबेली बेलि॥
छँटी मँहदी के छोटे पेड़, लगे रविशों के दोनों ओर।
मिले घन-जैसा श्याम शरीर, नचाते हैं जन-मानस-मोर॥
क्यारियों का पाकर प्रिय अंक, आप ही अपनी छबि पर भूल।
लुटाकर सौरभ का संभार, खिले हैं सुंदर-सुंदर फूल॥
खोल मुँह हँसता उनको देख, विलोके उनका तन सुकुमार।
प्यार करता है हो अति मुग्ध, दिवाकर कर कमनीय पसार॥
खड़े हैं पंक्ति बाँध तरु-वृंद, विविध दल से बन बहु अभिराम।
लोचनों को लेते हैं मोल, डालियों के फल-फूल ललाम॥
प्रकृति-कोमल-कर से बन कांत, लताओं का अति ललित वितान।
बुलाता है सब काल समीप, कलित कुंजों का छाया-दान॥
लाल दलवाले लघुतम पेड़, लालिमा से बन मंजु महान।
दृगों को कर देते हैं मत्त, छलकते छबि-प्याले कर दान॥

उद्यान

बहुत बलखाती कर कल नाद, नालियाँ बहती हैं जिस काल।
तब रसिक-जन-मानस के मध्य, सरस बन रस देती है ढाल॥
कहीं मधु पीकर हो मद-मत्त, अलि-अवलि करती है गुंजार।
कहीं पर दिखलाती है नृत्य, रँगीली तितली कर शृंगार॥
पढ़ाता है प्रिय रुचि का पाठ, कहीं पर पारावत हो प्रीत।
कहीं पर गाता है कलकंठ, प्रकृति-छबि का उन्मादक गीत॥
सुने पुलकित बनता है चित्त, पपीहे की उन्मत्त पुकार।
कहीं पर स्वर भरता है मोर, छेड़कर उर-तंत्री के तार॥
कहीं क्षिति बनती है छबि मान, लाभ कर बिलसे थल अरबिंद।
कहीं दिखलाते हैं दे मोद, विविध तरु पर बैठे शुक-वृंद॥
मंजु गति से आ मंद समीर, क्यारियों में कुंजों में घूम।
छबीली लतिकाओं को छोड़, कुसुम-कुल को लेता है चूम॥
करेगा किसको नहीं विमुग्ध, सरसता-बलित ललित तम-ओक।
न होगा विकसित मानस कौन, लसित कुसुमित उद्यान विलोक॥

'हरिऔध'

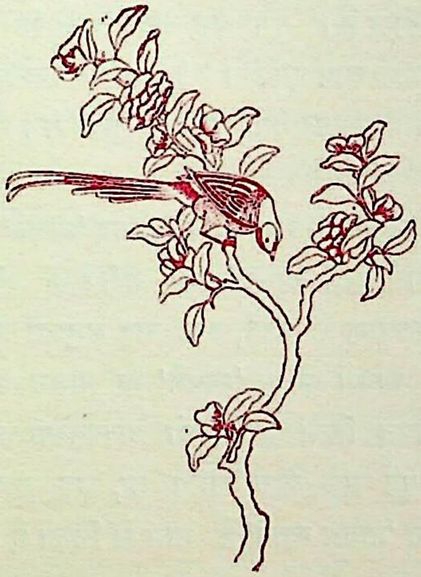

कौटलीय अर्थशास्त्र में राज्य द्वारा समाज का नियंत्रण

श्री सत्यकेतु विद्यालंकार

प्राचीन भारत में व्यक्ति और समाज के साथ संबंध रखनेवाले मामलों में राज्य के हस्तक्षेप की कोई सीमा न थी। राज्य 'कम से कम हस्तक्षेप' की नीति का अनुसरण नहीं करता था। फिर भी प्राचीन ग्रीक नगर-राज्यों की तरह भारत में भी समूह के संमुख व्यक्ति की कोई स्थिति नहीं समझी जाती थी। व्यक्ति का जीवन-समूह और राज्य के लिये माना जाता था। कौटलीय अर्थशास्त्र के अध्ययन से यह बात भली भाँति स्पष्ट हो जाती है। उससे व्यक्ति और समाज के प्रायः सभी विषयों में राज्य का हस्तक्षेप और नियंत्रण सूचित होता है। हम कह नहीं सकते कि आचार्य कौटल्य द्वारा प्रतिपादित ये नियम कहाँ तक क्रियात्मक रूप में आए हुए थे। पर इनके अध्ययन से यह तो ज्ञात हो ही जाएगा कि भारत के प्राचीन राजशास्त्री इस प्रश्न पर क्या विचार रखते थे। इस लेख में हम इसी विषय पर प्रकाश डालेंगे।

कौटलीय अर्थशास्त्र के अनुसार समाज का आधार 'स्वधर्म' या 'स्थिति' (Status) है। मनुष्य को अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करने का अधिकार नहीं है। जीवन में प्रत्येक व्यक्ति का 'स्वधर्म' निश्चित है। व्यक्ति के अपने कल्याण के लिये, तथा सब मनुष्यों के सामूहिक हित के लिये, आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति 'स्वधर्म' पर कायम रहे। 'स्वधर्म' का पालन स्वर्ग तथा अनंत सुख प्राप्त करने का हेतु है।[१] यदि स्वधर्म का उल्लंघन किया जाएगा तो अव्यवस्था मच जाएगी और जनता नष्ट हो जाएगी।[२] राज्य की उत्पत्ति से पूर्व एक ऐसा समय था, जब राजसंस्था की स्थापना नहीं हुई थी। इस अराजक दशा को कौटल्य ने 'मात्स्य न्याय' के नाम से लिखा है।[३] मात्स्य न्याय की दशा में कोई

---

[१] स्वधर्मस्स्वर्गायानन्त्याय च।—कौ० अर्थ० १।३

[२] तस्यातिक्रमे लोकस्सङ्करादुच्छिद्येत।—कौ० अर्थ० १।३

[३] अप्रमितो हि मात्स्यन्यायमुद्भावयति।—कौ० अर्थ० १।४

व्यक्ति 'स्वधर्म' का पालन नहीं करता था। उस समय सब मनुष्य स्वच्छंद थे। इसी कारण उस समय जनता नष्ट हो रही थी। अराजक दशा और समाज की व्यवस्थित दशा (राजसंस्था की दशा) में भेद ही यह है कि पहली अवस्था में मनुष्य 'स्वधर्म' का पालन नहीं करते, किंतु राजसंस्था के उत्पन्न होने पर 'स्वधर्म' पर स्थित रहते हैं।

परंतु लोग अपना-अपना कार्य करते रहें, 'स्वधर्म' पर स्थित रहें, इसके लिये राजशक्ति की आवश्यकता होती है—उसके बिना कार्य नहीं चल सकता। केवल उपदेश से, हमारा तथा समूह का हित 'स्वधर्म'-पालन से होगा—इस तथ्य को दृष्टि में रखकर जनता स्वयं 'स्वधर्म' का उल्लंघन न करेगी, यह नहीं हो सकता। इसके लिये दंड और राजशक्ति की आवश्यकता है ही। राजा को चाहिए कि अपनी राजशक्ति (कार्यानुशासन = Executive authority) से जनता को स्वधर्म में स्थित रक्खे।[१] राजा का कर्त्तव्य है कि मनुष्यों को स्वधर्म का उल्लंघन न करने दे। जनता को स्वधर्म में स्थित रखकर ही राजा इहलोक तथा परलोक में सुख प्राप्त कर सकता है।[२]

विविध लोगों के स्वधर्म क्या हैं, इसका भी आचार्य कौटल्य ने प्रदर्शन किया है। ब्राह्मण का 'स्वधर्म' अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन, दान और प्रतिग्रह है। इसी प्रकार क्षत्रिय और वैश्य के स्वधर्म गिनाए गए हैं।[३] मनुस्मृति और महाभारत में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के जो धर्म प्रतिपादित हैं, उनमें और कौटल्य द्वारा गिनाये गए 'स्वधर्मों' में कोई विशेष भेद नहीं है। परंतु कौटल्य के अनुसार शूद्र के 'स्वधर्म' मनु से सर्वथा भिन्न हैं। मनु के अनुसार शूद्रों का एकमात्र कर्म द्विजातियों (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) की सेवा करना है।[४] परंतु चाणक्य के अनुसार शूद्र का 'स्वधर्म' है द्विजातियों की सेवा, कृषि, पशुपालन, वाणिज्य, कारीगरी और तमाशा करनेवालों के काम।[५] इस प्रकार कौटल्य के अनुसार शूद्रों की स्थिति अधिक संमानास्पद तथा व्यापक है। चारों वर्णों के स्वधर्म का प्रतिपादन कर कौटल्य ने चारों आश्रमों के 'स्वधर्म' की भी व्यवस्था की है। गृहस्थ के धर्म बताते हुए वे 'स्वकर्मा जीव' (अपने निश्चित कर्म से ही आजीविका चलानेवाला) विशेषण का प्रयोग करते हैं। चारों वर्णों और आश्रमों के विविध मनुष्य अपने-अपने 'स्वधर्म' पर कायम रहें, यह उनकी इच्छा पर ही नहीं छोड़ दिया गया है। यह राज्य का काम है कि अपनी दंडशक्ति द्वारा उन्हें 'स्वधर्म'

---

१. कार्यानुशासनेन स्वधर्मस्थापनम्।—कौ० अर्थ० १।६

२. तस्मात् स्वधर्मं भूतानां राजा न व्यभिचारयेत्। स्वधर्मं संदधानो हि प्रेत्य चेह च नन्दति ॥
—कौ० अर्थ० १।३

३. कौ० अर्थ० १।३

४. एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्। सर्वेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनुसूयया ॥—मनुस्मृति १।६१

५. शूद्रस्य द्विजातिशुश्रूषा वार्ता कारुकुशीलव कर्म च।—कौ० अर्थ० १।३
(कृषिपशुपाल्ये वाणिज्या च वार्ता।—कौ० अर्थ० १।४)

पर स्थित रक्खे। "जब राजा चारों वर्णों और आश्रमों के 'स्वधर्म' का स्थापन कर आर्य-मर्यादा की व्यवस्था करता है तब यह संसार कभी कष्ट नहीं उठाता, अपितु सर्वदा उन्नति ही करता है।"[१] इसी प्रकार अन्यत्र लिखा है—"चारों वर्णों और आश्रमों से परिपूर्ण यह लोक जो अपने-अपने धर्म और कर्म में रत हुआ अपने मार्ग पर चल रहा है, उसका कारण यही है कि राजा दंडशक्ति से इसका पालन करता है।"[२]

जनता को 'स्वधर्म' में कायम रखने के लिये राजा किस प्रकार अपनी राजशक्ति का उपयोग करता था, इस विषय पर कौटलीय अर्थशास्त्र विशेष प्रकाश नहीं डालता। परंतु फिर भी कुछ ऐसे उपयोगी और मनोरंजक निर्देश हमें प्राप्त हो जाते हैं, जो इस तथ्य में किसी प्रकार का संदेह नहीं रहने देते। उदाहरण के लिये परिव्राजक और संन्यासी को लीजिए। कौटल्य के शासन-विधान में चाहे जो मनुष्य संन्यासी नहीं बन सकता था। संन्यासी बनने के लिये यह आवश्यक था कि अपने बच्चों और स्त्री का ठीक प्रकार से प्रबंध कर दिया जाए। जो मनुष्य इनका समुचित प्रबंध किए बिना संन्यास लेता था उसे 'पूर्व-साहस-दंड' मिलता था।[३] संन्यासी बनने के लिये धर्मस्थ (मजिस्ट्रेट) की अनुमति लेनी आवश्यक थी। धर्मस्थ, संन्यासी होने की अनुमति तभी देता था जब उसे विश्वास करा दिया जाता था कि संन्यासी होने के लिये इच्छुक मनुष्य की—संतानोत्पन्न करने की—शक्ति नष्ट हो गई है, अन्यथा वह निषेध कर देता था।[४] इसी प्रकार यह नियम था कि स्त्रियाँ संन्यास न ले सकें। यदि कोई मनुष्य किसी स्त्री को संन्यास दिलाता था तो उसे सजा मिलती थी।[५] आचार्य कौटल्य को यह अभीष्ट न था कि वानप्रस्थ-आश्रम में बाकायदा प्रविष्ट हुए बिना कोई मनुष्य सीधे संन्यासी हो जाय। जो लोग पहले तीनों आश्रमों के कर्त्तव्यों का यथाविधि पालन कर संन्यास-आश्रम में प्रवेश करना चाहते थे उन्हीं को इसके लिये अनुमति दी जाती थी।[६]

इसी प्रकार, गृहस्थ लोग अपने 'स्वधर्म' का ठीक-ठीक पालन करते रहें, इसके लिये राज्य की ओर से अनेक नियमों की व्यवस्था थी। यदि कोई गृहस्थ अपने बच्चों, पत्नी, माता-पिता, नाबालिग भाई, बहन तथा विधवा कन्या का—अपने में शक्ति रखते हुए भी—पालन न करे तो दंड पाता था।[७]

१. व्यवस्थितार्यमर्यादः कृतवर्णाश्रमस्थितिः। त्रय्या हि रचितो लोकः प्रसीदति न सीदति॥ —कौ० अर्थ० १।३

२. चतुर्वर्णाश्रमो लोको राज्ञा दण्डेन पालितः। स्वधर्मकर्माभिरतो वर्तते स्वेषु वर्त्मसु॥—कौ० अर्थ० १।४

३. पुत्रदारमप्रतिविधाय प्रव्रजतः पूर्वस्साहसदण्डः।—कौ० अर्थ० २।१

४. लुप्तव्यवायः प्रव्रजेत् आपृच्छ्य धर्मस्थात्। अन्यथा नियम्येत।—कौ० अर्थ० २।१

५. स्त्रियं च प्रव्राजयतः।—कौ० अर्थ० २।१

६. वानप्रस्थादन्यः प्रव्रजितभावः......नास्य जनपदमुपनिवेशेत।—कौ० अर्थ० २।१

७. अपत्यदारं मातापितरौ भ्रातॄन् अप्राप्तव्यवहारान् भगिनीः कन्या विधवाश्च अविभ्रतः शक्तिमतो द्वादशपणो दण्डः॥—कौ० अर्थ० २।१

विवाह के अनंतर पुरुष और स्त्री में किस प्रकार का संबंध रहे—वे एक दूसरे से किस प्रकार का व्यवहार करें, इस विषय में भी विस्तृत नियम बनाए गए थे। इन नियमों का उल्लंघन करने पर दंड की व्यवस्था भी आचार्य कौटल्य ने की है।[१] केवल स्त्री और पुरुष ही नहीं, गृहस्थ-आश्रम में अन्य संबंधियों को भी एक दूसरे के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करना जरूरी है। यदि पिता और पुत्र, पति और पत्नी, भाई और बहन, मामा और भानजा तथा आचार्य और शिष्य में से कोई एक अपने कर्त्तव्य की उपेक्षा कर दूसरे का परित्याग करना चाहे, तो उस पर बाक़ायदा मुकदमा चलाया जाता था और अपराध के साबित होने पर उसे 'पूर्व-साहस-दंड' दिया जाता था। पर यदि यह सिद्ध हो जाय कि इनमें से कोई 'पतित' हो गया था और 'पतित' होने के कारण दूसरे ने उसका परित्याग किया है तो दंड से उसका छुटकारा हो जाता था।[२]

समाज को नियंत्रित करने के विचार से आचार्य कौटल्य ने जो नियम बनाए हैं, उनकी समाप्ति केवल गृहस्थ-जीवन तक ही नहीं हो जाती। समाज के सामान्य जीवन में भी एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति के प्रति जो कर्त्तव्य है, उसे पूरा न करने पर दंड की व्यवस्था की गई है। आग लगने पर यदि कोई आदमी आग बुझाने में सहायता न देकर अपने कर्त्तव्य की उपेक्षा करे तो उस पर जुर्माना किया जाता था।[३] यदि कोई आदमी किसी दूसरे आदमी को अपने काम के लिये ले जाय और उसे बीच में ही छोड़ दे, तो भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में विविध दंडों की व्यवस्था की गई है।[४] यदि कोई यात्री एक साथ यात्रा के लिये चले और रास्ते में एक दूसरे को छोड़कर अलग हो जाय तो उसे सजा दी जाती थी।[५] यदि किसी मनुष्य की उपेक्षा के कारण दूसरे को चोट आ जाय तो उसे दंड मिलता था। इसी प्रकार के अन्य भी अनेक नियम आचार्य कौटल्य ने लिखे हैं।

सामाजिक जीवन में स्वामी अपने दासों के साथ किस प्रकार का व्यवहार करे, इसके लिये भी कौटलीय अर्थशास्त्र में नियम विद्यमान हैं। यदि कोई मालिक अपने दास को मारे-पीटे, गालियाँ दे या उसे जूठ खाने के लिये विवश करे तो उस पर जुर्माना किया जाता था। यदि कोई मनुष्य अपनी दासी, धाई, परिचारिका आदि पर बलात्कार करने का प्रयत्न करे तो उसके संबंध में कौटल्य ने एक ही व्यवस्था की है—वह यह कि वह स्त्री एकदम दासता से मुक्त होकर स्वतंत्र हो जाय।[६] दासों के अतिरिक्त अन्य मनुष्य जो अपनी इच्छा से नौकरी की शर्तें करके किसी के यहाँ नौकर बनें, उनके संबंध में राज्य का हस्तक्षेप और भी अधिक था। नौकरी के लिये जो शर्तें तय हुई हों उनका परिज्ञान

---

[१] कौ० अर्थ० ३।३

[२] पितापुत्रयोर्दम्पत्योर्भ्रातृभगिन्योर्मातुलभागिनेययोश्शिष्याचार्ययोर्वा परस्परमपतितं त्यजतः...... पूर्वसाहसदण्डः ॥—कौ० अर्थ० ३।२०

[३] प्रदीप्तमनभिधावतो गृहस्वामिनो द्वादशपणो दण्डः।—कौ० अर्थ० २।३६

[४] कौ० अर्थ० ३।२०

[५] सहप्रस्थायिष्वन्येषु अर्धदण्डः।—कौ० अर्थ० ३।२०

[६] धात्रीपरिचारिकार्धसीतिकोपचारिकाणां च मोक्षकरम्।—कौ० अर्थ० ३।१३

पड़ोसियों को अवश्य करा देना चाहिए। यदि किसी शर्त के संबंध में विवाद हो तो पड़ोसियों के साक्ष्य के अनुसार उसका निर्णय किया जाता था।[1] आचार्य कौटल्य की यह व्यवस्था ध्यान देने योग्य है कि यदि कोई स्वामी अपने दासों, नौकरों या मजदूरों के दावों को न सुने, उनकी उपेक्षा करे, तो उसके लिये राजशक्ति का प्रयोग कर उसे ठीक रास्ते पर लाना चाहिए।[2]

ब्राह्मण भी राज्य के हस्तक्षेप से न बचे थे। राजशक्ति द्वारा उनका भी नियंत्रण किया जाता था। यदि कोई पुरोहित किसी अयाज्य (अछूत) को पढ़ाने या उसका यज्ञ करान के लिये नियत किया जाय और वह ऐसा करने से इनकार करे तो उसे दंड दिया जाय।[3] ब्राह्मणों के संबंध में जो बहुत-सी व्यवस्थाएँ कौटलीय अर्थशास्त्र में उपलब्ध होती हैं, वे उनके क्रियात्मक जीवन पर अच्छा प्रकाश डालती हैं। कौटल्य ने अपनी व्यवस्थाओं का निर्माण करते हुए उन्हें राग-द्वेष और लोभ-मोह से शून्य लोकोत्तर मनुष्य नहीं माना है, अपितु अन्य मनुष्यों की तरह आजीविका उपार्जन करनेवाला ही समझा है। यज्ञ कराने के लिये जो विविध याज्ञिक ब्राह्मण नियुक्त हों वे दक्षिणा के धन को आपस में किस तरह बाँटें, इस संबंध में बहुत-से नियम अर्थशास्त्र में दिए गए हैं। यदि ब्राह्मण यज्ञ कराते हुए अपना कार्य ठीक तरह से न करें तो उनके लिये अनेक प्रकार के दंडों (शारीरिक और आर्थिक) की भी व्यवस्था की गई है।[4]

नगर में कौन लोग कहाँ बसें, इस संबंध में निश्चित नियम थे। शराब, जुआ, वेश्यावृत्ति आदि को नियंत्रित करने के लिये राज्य की ओर से निश्चित व्यवस्था थी। शराब बनाने और बेंचने का प्रबंध राज्य की ओर से होता था। शराब निश्चित शराबखानों में ही पी जा सकती थी; बाहर ले जाकर पीने की अनुमति नहीं मिलती थी। केवल वे ही लोग अपने घरों में शराब पी सकते थे जिनके आचार की पवित्रता सब जगह ज्ञात हो।[5] राज्य द्वारा शराब को नियंत्रित करने के लिये कौटल्य ने निम्नलिखित कारण दिए हैं—कहीं काम में लगे हुए श्रमी लोग आलसी न हो जाएँ, आर्य लोगों की मर्यादा भंग न हो जाए, और तीक्ष्ण प्रकृति के लोग अव्यवस्था न मचा दें।[6] जूआ,[7] वेश्यावृत्ति[8] आदि के संबंध में भी इसी प्रकार के नियम मिलते हैं। और तो और, तमाशे दिखानेवाले, नट, वादक, गायक आदि को भी नियंत्रित किया गया है। कौटल्य लिखते हैं—ये विविध तमाशे दिखाने-

---

[1] कर्मकस्य कर्मसम्बन्धमासन्ना विद्युः।—कौ० अर्थ० ३।१३

[2] दासाहितकबंधून श्रृण्वतो राजा विनयं ग्राहयेत्।—कौ० अर्थ० २।१

[3] पुरोहितमयाज्ययाजनाध्यापने नियुक्तममृष्यमाणं राजा अवक्षिपेत्।—कौ० अर्थ० १।१०

[4] कौ० अर्थ० ३।१४

[5] वेदितज्ञातशौचा निर्हरेयुः।—कौ० अर्थ० २।२५

[6] सुरायाः प्रमादभयात् कर्मसु निर्दिष्टानां, मर्यादातिक्रमभयादार्याणां, उत्साहभयाच्च तीक्ष्णानां...।
—कौ० अर्थ० २।२५

[7] कौ० अर्थ० ३।२०

[8] कौ० अर्थ० २।२७

वाले लोग किसानों और शिल्पियों के कार्य में विघ्न न करने पावें।[१] इन्हें तमाशा दिखाने के लिये लाइसेंस लेना पड़ता था। लाइसेंस के लिये इन्हें पाँच पण देने पड़ते थे।[२] कौटल्य इन तमाशाई लोगों को अपने राज्य में जरा भी प्रोत्साहित नहीं करना चाहते थे, इसी लिये उन्होंने इस प्रकार के तमाशों के निमित्त स्थिर शालाएँ बनाने का पूर्णतया निषेध कर दिया था।[३]

आर्थिक जीवन को नियंत्रित करने के लिये बहुत-से नियमों की व्यवस्था आचार्य कौटल्य ने की है। जमीन के ऊपर किसान का अधिकार अपने जीवन तक ही होता था।[४] यदि कोई किसान स्वयं खेती न करे तो उससे उसकी जमीन छीन ली जाती थी और दूसरे किसानों को दे दी जाती थी।[५] भूमि-संबंधी ये नियम विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं। इन नियमों के कारण भूमि पर किसी व्यक्ति का पूर्ण अधिकार स्थापित नहीं होने पाता था। व्यक्ति का जमीन पर किस हद तक अधिकार है, इसका नियंत्रण राज्य करता था। सूद की दर अधिक से अधिक कहाँ तक हो सके, इस विषय में भी राज्य के नियम थे। अधिक सूद लेने पर सजा दी जाती थी।[६] वस्तुओं का मूल्य भी निश्चित करने का प्रयत्न किया जाता था। किस पदार्थ पर कितना मुनाफा लिया जा सके, इसके लिये निश्चित व्यवस्था थी। वस्तुओं का मूल्य निश्चित करते समय उत्पत्ति के विविध खर्चों का परिगणन किया जाता था और उत्पत्ति-व्यय के साथ-साथ मार्ग के खर्च भी जोड़े जाते थे।[८] यदि कोई व्यापारी परस्पर मिलकर कृत्रिम रूप से वस्तुओं की कीमत बढ़ाने की कोशिश करें तो उन्हें दंड मिलता था।

आर्थिक विषयों का नियंत्रण राज्य द्वारा किस प्रकार किया जाता था, इस संबंध में कौटलीय अर्थशास्त्र से बहुत-सी बातें ज्ञात होती हैं। उन सबका उल्लेख कर सकना कठिन है। इस लेख के विषय को स्पष्ट करने के लिये उन सबकी आवश्यकता भी नहीं है।

प्राचीन भारतवर्ष में सामाजिक संगठन का आधार वर्णाश्रम-व्यवस्था थी। भारत के प्रायः सभी स्मृतिकारों तथा राजशास्त्रियों ने इस बात पर जोर दिया है कि राजा वर्णाश्रम-मर्यादा की स्थापना करे। यह स्पष्ट भी है कि केवल परंपरा से, राजशक्ति की सहायता के बिना, यह मर्यादा स्थिर नहीं

१. नटनर्तनगायनवादकवाग्जीवनकुशीलवा वा न कर्मविघ्नं कुर्युः।—कौ० अर्थ० २।१

२. तेषां तूर्यमागन्तुकं पञ्चपणं प्रेक्षावेतनं दद्युः।—कौ० अर्थ० २।१

३. न च तत्रारामविहारार्थाः शालास्स्युः।—कौ० अर्थ० २।१

४. करदेभ्यः कृतक्षेत्राण्यैकपुरुषिकाणि प्रयच्छेत्।—कौ० अर्थ० २।१

५. अकृपतामाच्छिद्यान्येभ्यः प्रयच्छेत्।—कौ० अर्थ० २।१

६. सपादपणा धर्म्या मासवृद्धिः पणशतस्य।......ततः परं कर्तुः कारयितुश्च पूर्वस्साहसदण्डः। श्रोतॄणामेकैकं प्रत्यर्धदण्डः।—कौ० अर्थ० ३।११

७. कौ० अर्थ० २।१६

८. वारिवन्ये च यानाभगकपथ्यदनपण्यप्रतिपण्यार्घप्रमाणयात्राकालभयप्रतीकं पण्यपत्तनचारित्राण्युपलभेन।—कौ० अर्थ० २।१६

रह सकती। राज्य इसके लिये किस प्रकार अपने नियमों द्वारा वर्णाश्रम-धर्म की स्थापना कर समाज का नियंत्रण करता था, इस संबंध में कौटलीय अर्थशास्त्र की ये व्यवस्थाएँ वस्तुतः बहुत महत्त्व रखती हैं।

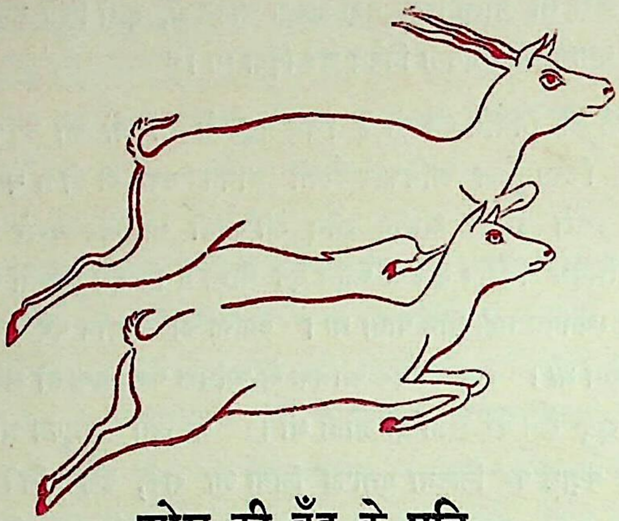

ओस की बूँद के प्रति

रम्य उषा के नव कलरव में
तू क्या करने आया?
मेरे सोते दृग-जल को क्या
है चाहता जगाया?
क्या मुझ-सा हो जोड़ रहा तू
तार स्वप्न का टूटा?
बता-बता, क्या तेरा भी घर
गया रात में लूटा?
निष्कलंक निष्पाप विमल तन!
किस अनिष्ट के डर से?
नव प्रभात में मूक रुदन यह
करने निकला घर से?
जीवन के तममय प्रदेश में
चलते-चलते थककर।
तुझ-सा मैं भी भूल रहा हूँ
आशा के पल्लव पर।
रंग-भरी तितली के दर्पण
जग के जीवित मोती!
प्राण हथेली पर हों जिसके
हार न उसकी होती!
लाख हवा का झोंका आए
अब न जरा घबराना।
दिव्य ज्योति वह दीख रही है
जिसमें है मिल जाना।

श्रीनाथसिंह

भविष्य का समाज

डॉक्टर बेनीप्रसाद, एम० ए०, पी-एच्० डी०, डी० एस्-सी०

यों तो इतिहास के बहुतेरे युगों में बड़े-बड़े परिवर्त्तन हुए हैं; पर यह कहना बेजा न होगा कि उन्नीसवीं ईसवी सदी में जैसी उथल-पुथल हुई—वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण जैसी क्रांति पैदा हुई, वैसी पहले कभी न हुई थी। रेल, तार और जहाज ने दुनिया को एक कर दिया। पुतली-घरों ने उद्योग, व्यापार, रहन-सहन—अथवा यों कहिए कि सारे आर्थिक जीवन—का काया-पलट कर दिया। छापे की कल ने अखबार और किताबें ऐसी बहुतायत से और इतनी सस्ती छापना शुरू किया कि सर्वसाधारण के लिये ज्ञान के मार्ग खुल गए। उधर योरप और अमेरिका में सरकारों ने पुरानी संकुचित नीति छोड़कर अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा, सफाई, स्वास्थ्य आदि की ओर ध्यान दिया और अपने-अपने देशों की उन्नति की। राज्य का भी रूप बदल गया। राष्ट्रीयता और जन-सत्ता ने अनेक देशों के शासन में युगांतर कर दिया। संसार के देशों के पारस्परिक संबंध भी बदल गए। शिक्षा, विज्ञान और संगठन के द्वारा अपनी शक्ति बढ़ाकर योरोपियन राष्ट्रों ने एशिया और अफ्रिका के देशों पर प्रभुता जमाई और उनको अपने पुतली-घरों के लिये कच्चे माल की मंडी और बनाए हुए पदार्थों के लिये बाजार समझ लिया। इस साम्राज्यवाद—और विशेषकर आर्थिक साम्राज्यवाद—से जो असंतोष अवश्यंभावी था, उसका आरंभ भी उन्नीसवीं सदी के अंत तक हो गया। जापान, चीन, हिंदुस्तान, फारस, मिस्र और तुर्की में नई राजनीतिक तरंगें नजर आईं और अफ्रिकन जातियों में भी कुछ ऐसे मंद-मंद स्वर सुनाई दिए जो पहले कान में न पड़ते थे। उधर योरप में भी मजदूरों ने अपनी गरीबी, कड़ी मिहनत, बेकारी या निरादर को दूर करने के लिये समितियाँ बनाकर आंदोलन, जलूस और हड़ताल के द्वारा पूँजीपतियों से गहरी छेड़छाड़ शुरू कर दी थी।

अस्तु, उन्नीसवीं सदी ने जहाँ पैदावार, उद्योग, व्यापार, विद्या और संगठन की अपूर्व वृद्धि की वहाँ सामाजिक और राजनीतिक विप्लवों के बीज भी बोए। बीसवीं ईसवी सदी में १९१४ से १९१८ तक महायुद्ध हुआ। योरप क्या, सारा संसार हिल गया। एक ओर आंदोलनों का वेग बढ़ गया और

दूसरी ओर उनके दबाने की चेष्टाएँ भी बहुत तीव्र हो गईं। आज यह घमासान संसारव्यापी हो रहा है। यह राजनीतिक भी है, आर्थिक भी है, सामाजिक भी है, और मानसिक भी है। आज परिस्थिति यह है कि संसार में संपत्ति तो बहुत है, संपत्ति बढ़ाने के साधन अपरिमित-से हैं, मशीनों के प्रयोग से मिहनत के घंटे घटाना और मानसिक एवं आध्यात्मिक प्रयासों के लिये सर्वसाधारण को यथेष्ट अवकाश देना सुगम हो गया है; पर जन-समुदायों के संबंध ऐसे पुराने ढंग के हैं कि थोड़े-से आदमी ही सुख के भोगी हैं और बाकी लोग तो जैसे-तैसे क्लेश से गुजारा करते हैं। बीसवीं सदी के सामने समस्या यह है कि यह संपत्ति-युग सुख-शांति के युग में कैसे परिणत किया जाय।

विज्ञान ने मनुष्य को इतनी शक्ति दे दी है कि वह लड़-भिड़कर सभ्यता का सत्यानास भी कर सकता है और मिलजुलकर इस लोक को स्वर्ग-लोक भी बना सकता है। मनुष्य के समाजों और संस्थाओं का विकास अब तक कुछ तो परिस्थिति के अनुसार और कुछ मानवी संकल्पों के अनुसार हुआ है। भविष्य में भी ऐसा ही होगा। पर वर्त्तमान युग और पिछले युगों में अंतर यह है कि अब विज्ञान और आविष्कार की कुंजी मनुष्य के हाथ में आ गई है, वह परिस्थिति का नियमन भी सुगमता से कर सकता है; और समाज का संगठन भी मनोविज्ञान और समाज-शास्त्र की कसौटी पर परखे हुए सिद्धांतों के आधार पर कर सकता है। भविष्य के समाज का पूरा-पूरा ब्योरेवार चित्र कोई नहीं खींच सकता; पर परिस्थिति के अनुसार उसके कई सिद्धांत स्पष्ट किए जा सकते हैं। पहली बात तो यह है कि रेल, तार, बे-तार, जहाज, विमान आदि से सब देश एक दूसरे के इतने निकट आ गए हैं—एक दूसरे पर ऐसा घोर प्रभाव डालते हैं कि संसार एक हो गया है। इसलिये भविष्य का संगठन अंतर्राष्ट्रीय होना चाहिए। मिहनत-मजदूरी के घंटे और वेतन, स्वास्थ्य के प्रयोग, अंतर्राष्ट्रीय यात्रा के नियम, जल-थल और हवा की सेनाओं के परिमाण इत्यादि बातें अंतर्राष्ट्रीय सभाओं के परामर्श से तय होनी चाहिए। इस प्रस्ताव के अनुसार प्रत्येक राष्ट्र अपने स्वत्वाधिकार का कुछ अंश अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं के सुपुर्द कर देगा।

यह बताने की आवश्यकता नहीं कि यह राजनीतिक परिवर्त्तन उस समय तक नहीं हो सकता जब तक वर्त्तमान परिस्थिति बदल न जाय। अंतर्राष्ट्रीय शासन विश्व-शांति पर निर्भर है। विश्व-शांति की स्थापना के लिये यह आवश्यक है कि मानव-संबंध अहिंसा के आधार पर स्थिर हो। जब तक एक वर्ग या देश दूसरे वर्गों या देशों से अपना मतलब निकालना चाहता है, जब तक पराधीनता और साम्राजिकता मौजूद है, तब तक न तो अधीन समुदाय चैन लेंगे और न स्वामि-समुदाय सुख की नींद सो सकेंगे, न तो निरस्त्रीकरण हो सकेगा और न शांति स्थापित हो सकेगी। अब तक मानवी संबंध कुछ तो संकुचित सहयोग के सिद्धांत पर और कुछ 'जिसकी लाठी उसकी भैंस'वाले सिद्धांत पर अवलंबित है। भविष्य में सहयोग विश्वव्यापी करना होगा और अंतर्वर्गीय या अंतर्राष्ट्रीय अत्याचार को मिटाकर सब जगह अहिंसा और न्याय की स्थापना करनी होगी। यह सिद्धांत भविष्य के समाज का दूसरा सिद्धांत है।

यह कोरा स्वप्न नहीं है। विश्वव्यापी शांति और अहिंसा अब तक अत्यंत कठिन या असंभव थीं; पर अब उनके लिये मार्ग बहुत-कुछ साफ़ हो गया है या हो रहा है। अब तक लड़ाइयाँ, मार-काट और

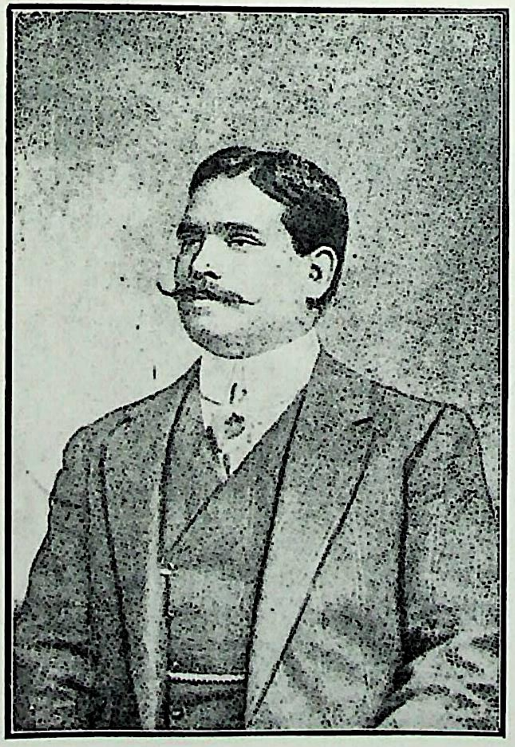

श्री काशीप्रसाद जायसवाल

पृष्ठ ३१

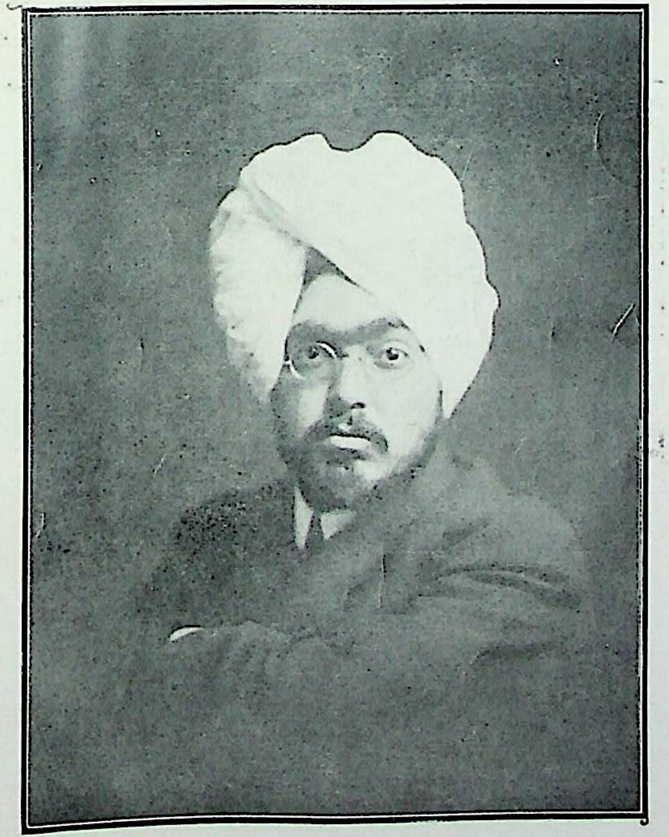

श्री संत निहालसिंह

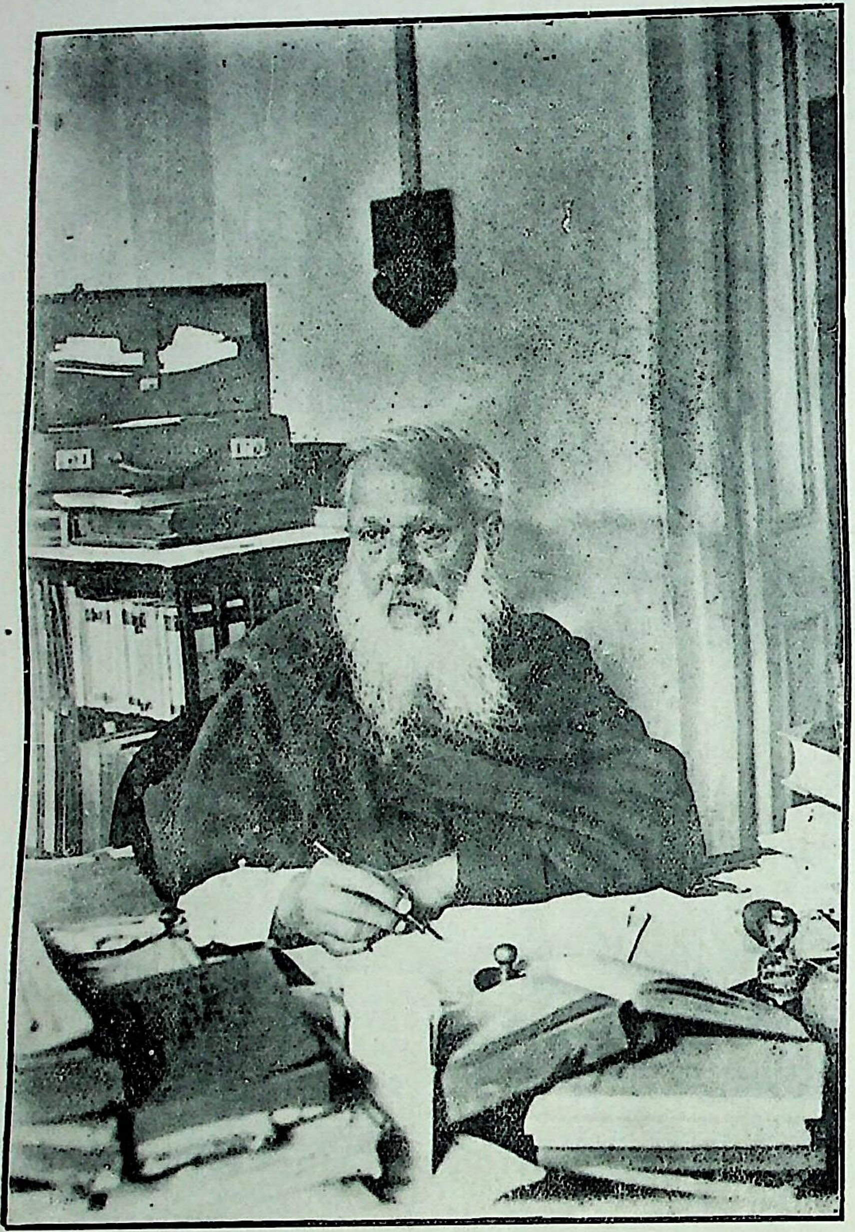

संपादकाचार्य श्रीरामानंद चट्टोपाध्याय

(इंडियन प्रेस और 'सरस्वती' के संस्थापक तथा स्वामी स्वर्गीय बाबू चिंतामणि घोष ने द्विवेदी जी के कार्य से संतुष्ट होकर एक बार कहा था—"हिंदुस्तानी संपादकों में मैंने वक्त के पाबंद और कर्त्तव्य-पालन के विषय में दृढ़प्रतिज्ञ दो ही आदमी देखे हैं—एक तो रामानंद बाबू, दूसरे आप।")

सीनाजोरी क्यों होती रही हैं ? मुख्य कारण यह है कि अब तक खाने-पहनने की और अन्य आवश्यकताएँ पूरी करने की सामग्री बहुत परिमित थी और बहुत परिश्रम से प्राप्त होती थी। इसलिये वर्ग एक दूसरे से लड़ने लगे, एक दूसरे की भूमि इत्यादि पर अधिकार जमाने लगे, अपनी मिहनत बचाने के लिये दूसरों को दास या सेवक बनाने लगे। समर का और प्रांत, वर्ग या वर्ण की पराधीनता का प्रधान कारण यही रहा है। समर में निर्भीकता, त्याग, शूरता आदि जो गुण प्रकट होते हैं उनके कारण समर का महत्त्व बढ़ गया है और इतिहास में बात-बात पर लड़ाई छिड़ती रही है। पर उसका मूल कारण सदा से यही रहा है कि जीवन के निर्वाह या सुख की सामग्री यथेष्ट नहीं थी। अब यह अवस्था बदल गई है। वैज्ञानिक आविष्कारों ने अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, रूस, जर्मनी आदि देशों में खेती की पैदावार कई-गुना बढ़ा दी है और मशीनों के द्वारा किसानों की मिहनत भी बहुत घटा दी है। हिंदुस्तान, चीन आदि देशों में भी यही हो सकता है। अब इतनी खाद्य-सामग्री आसानी से पैदा हो सकती है कि दुनिया भर में किसी को खाने-पीने की तकलीफ न रहे। दूसरी चीजें भी मशीनों के द्वारा इतनी बनाई जा सकती हैं कि किसी को कमी न रहे। पराधीनता और स्वामित्व का मूल कारण अब मिट गया है। पर पुराने विचार, विद्वेष और गर्व के पर्दे अभी आदमी की अक्ल पर पड़े हुए हैं। जैसे-जैसे लोग नई स्थिति के तत्त्व को समझते जाएँगे और पुरानी स्थिति से अनुचित लाभ उठानेवाले कुछ व्यक्तियों और वर्गों का प्रभाव कम होता जायगा तैसे-तैसे समाज स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व की ओर बढ़ता जायगा। इस नए समाज में कोई देश या वर्ग किसी दूसरे के अधीन न रहेगा, जन्म से कोई ऊँचा-नीचा न होगा। छुआछूत, जात-पाँत का लेश न रहेगा। जीवन-निर्वाह की सामग्री सबके पास रहेगी और अपने परिश्रम से विशेष सुख-ऐश्वर्य पाने का अवसर सबको रहेगा। अर्थात्, शिक्षा विश्वव्यापी होगी और स्कूल छोड़ने के बाद भी स्त्री-पुरुषों को अध्ययन के अवकाश रहेंगे। सामुदायिक मामले सबके परामर्श से, अर्थात जनसत्ता के सिद्धांत के अनुसार, तय होंगे।

इस आदर्श को व्यवहार में परिणत करने के लिये एक बात और आवश्यक होगी। पृथ्वी पर इस समय कोई एक अरब अस्सी करोड़ आदमी बसते हैं। विद्वानों ने हिसाब लगाया है कि पृथ्वी वैज्ञानिक आविष्कारों की सहायता से कोई पाँच अरब से नौ अरब आदमियों तक का पालन कर सकती है। पर, अगर जनसंख्या इसके भी आगे निकल जाय तो सामग्री की कमी पड़ जायगी।

ऊपर जिस भविष्य के समाज के सिद्धांत बताए हैं उसकी स्थिरता इस बात पर निर्भर रहेगी कि जनसंख्या बहुत ज्यादा न बढ़े। नहीं तो फिर पुरानी मार-काट और असमानता प्रकट हो जायगी। योरप और अमेरिका के पढ़े-लिखे वर्गों में अब बहुत ज्यादा बच्चे नहीं पैदा होते। जैसे-जैसे जीवन का धरातल ऊँचा होता जायगा, स्त्रियाँ पढ़-लिखकर निरे संतानोत्पादक यंत्र बनने से इनकार करती जाएँगी और वैज्ञानिक प्रयोगों से भी कुटुंब छोटा रखने में सहायता मिलती जायगी, तैसे-तैसे पाश्चात्य देशों के अन्य वर्गों में एवं संसार के और सब देशों में जनसंख्या परिमित होती जायगी।

कहावत है कि 'अभी दिल्ली दूर है'। इस तरह का समाज आज असंभव या दूरवर्त्ती भविष्य में छिपा मालूम होता है। पर याद रखना चाहिए कि भविष्य में जो परिवर्त्तन होंगे, वे भूत काल के

परिवर्त्तनों की अपेक्षा बहुत जल्द होंगे । विज्ञान, आविष्कार, संगठन और शिक्षा के कारण अब विचार और संस्थाओं में बड़ी तेजी से परिवर्त्तन होता है । कुछ भी हो, इस युग में हम सबका यह कर्त्तव्य अवश्य है कि नई शक्तियों के सहारे मानवी संबंधों को न्याय, स्वतंत्रता और सहानुभूति की ओर बढ़ाएँ, भविष्य के लिये विश्वव्यापी शांति और सुख के आदर्श की कल्पना करें, और कल्पना को प्रकृत रूप देने की भरसक चेष्टा भी करें ।

माली

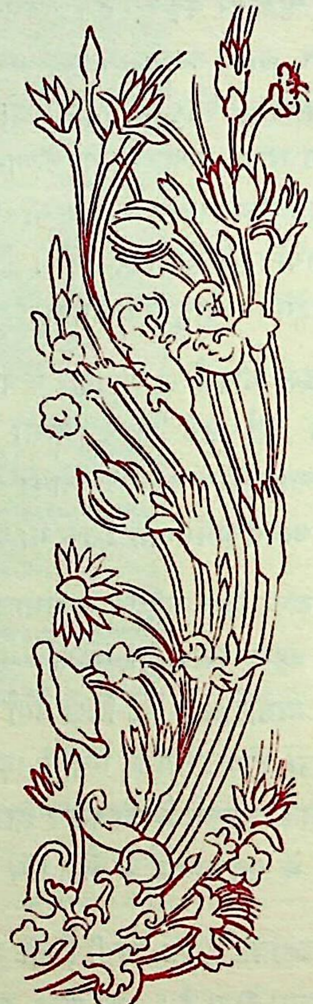

ओ उपवन के माली !
तेरे श्रम-सीकर-सिंचन से है इसकी हरियाली ।
बंजर भूमि तोड़कर तूने कर दी जोत-चहाली,
आई ईति-भीति जब जो भी, सो तुरंत सब टाली ।
चौरस किते, पट्टियाँ चौड़ी, रविशें निपट निराली,
ऋतु-ऋतु के अनुकूल रुपाई बीच-बीच विटपाली ।
कभी हाथ में खुरपी तेरे, कैंची कभी कुदाली,
तारतम्य में तत्परता की तूने हद कर डाली ।
काट झाड़-झंखाड़, झुकाए ऊँचे तरु बलशाली,
छाँट फूल-फलवाले पौधे, रुचि से की रखवाली ।
उनके प्रति पल्लव से प्रकटी तेरे रँग की लाली,
सु-फल फले, सत्वर झुक-झूली फूली डाली-डाली ।
'कु-ऊ' कूजने लगीं कोयलें हो मद से मतवाली,
मधुप गूँजने लगे मुदित हो, सुधा सुरभि ने ढाली ।
तब तूने सर्वस्व-सार से सज पूजा की थाली,
इष्ट देवता को अर्पण की फूल-फलों की डाली ।।

मुंशी अजमेरी

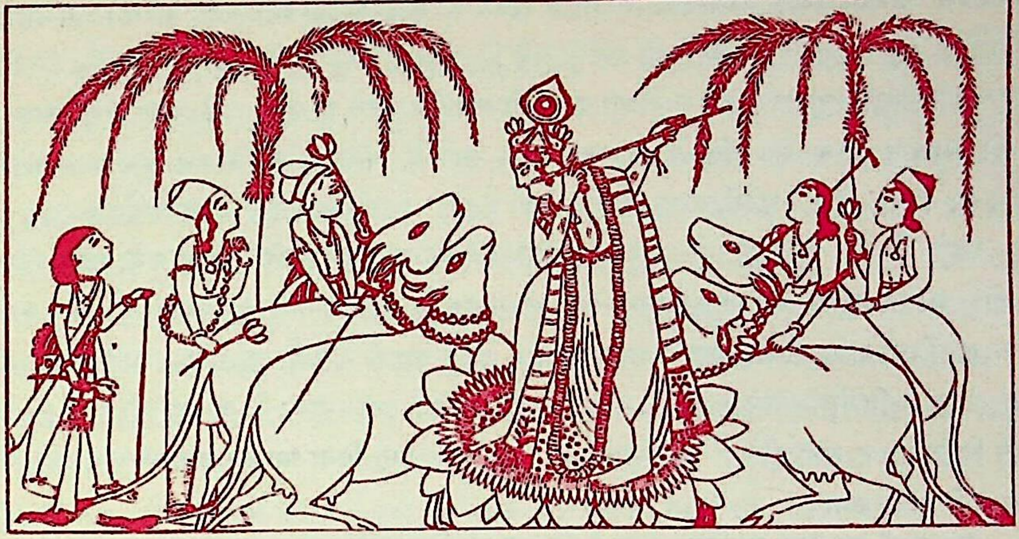

कुंडलिनी-तत्त्व

प्रिंसिपल गोपीनाथ कविराज, एम० ए०

१

बहुत दिनों से विद्वत्समाज में, विशेषकर भारतीय दर्शनशास्त्र की तुलनामूलक-समालोचना-प्रिय पंडित-मंडली में, एक संशय जागरूक अवस्था में वर्त्तमान है। अनेक ग्रंथों में अनेक प्रकार से आलोचनाएँ हुई हैं, किंतु बड़े खेद का विषय है कि उन सब आलोचनाओं से भी संशय की निवृत्ति नहीं होती। अपितु वह समस्या और भी जटिलता धारण कर लेती है। इस प्रबंध में उसी संशय को प्रदर्शित करके उसके समाधान के लिये प्रयत्न किया जायगा। यह विषय साधना-जगत् का एक गभीर रहस्य है। भाषा के साहाय्य से इस विषय की संपूर्ण आलोचना यद्यपि हो नहीं सकती, तथापि कुछ भी आलोचन न करना मानों भ्रांत धारणा के स्थायित्व को आश्रय देना है। अतएव यथाशक्ति स्पष्ट भाव से अपनी अनुभूति एवं श्री गुरुदेव के 'मौन व्याख्यान' का अनुसरण करते हुए, शास्त्र के तात्पर्यानुसार, हम इस निगूढ तत्त्व की समालोचना करने में प्रवृत्त होते हैं। सहस्र वत्सर के पूर्व काश्मीर देश की उपत्यका-भूमि में बोधचक्षु श्री तात्पर्याचार्य देव 'संविदेव हि भगवती वस्तूपगमे नः शरणम्' इत्यादि वाक्यों से जिसकी जय-घोषणा कर चुके हैं, वर्त्तमान क्षेत्र में भी वही भगवती संविद्देवी वस्तु-निर्देश के मार्ग की प्रदर्शिका हैं। जो अनुभव-रसिक विद्वान् हैं, वे इस प्रबंध में शब्दों के ऊपर ध्यान न देकर तत्त्वांश को ही अपना लक्ष्य बनावें, यही प्रार्थना है।

हमारे प्राचीन सब दार्शनिक विद्वानों ने एक वाक्य से मुक्तकंठ स्वीकार किया है कि धर्म, अर्थ, काम-रूपी तीन पुरुषार्थों के रहते हुए भी मुक्ति ही परम पुरुषार्थ है। वे तो मुक्ति की अपेक्षा अपर

अथवा निकृष्ट हैं। वे परम पुरुषार्थ कहलाने योग्य नहीं हैं। आपाततः हम प्रेम-लक्षणा भक्ति के स्वरूप-निर्वचन अथवा उसके पुरुषार्थत्व-निर्णय के संबंध में कोई आलोचना नहीं करेंगे। पंचम-पुरुषार्थ-वादी संप्रदाय बहुत प्राचीन काल से ही वर्त्तमान है। ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं हो सकती, इसको भक्ति-वादी भी अपने सिद्धांतानुसार किसी न किसी प्रकार से स्वीकार करते ही हैं। जो कुछ हो, ज्ञान अथवा भक्ति, जो साक्षात् भाव से मुक्ति के कारण माने जाते हैं, किस प्रकार स्वायत्त किए जा सकते हैं, यही यहाँ प्रश्न का विषय है। मत्स्येंद्रनाथ, गोरक्षनाथ प्रभृति हठयोग-प्रवर्त्तक नाथाचार्यगण एवं आगम-विद्गण कहते हैं कि मूलाधार में प्रसुप्त कुंडलिनी-शक्ति को उद्बुद्ध किए बिना कर्म, ज्ञान किंवा भक्ति आदि कोई साधन मुक्ति वा अनर्थ-निवृत्ति के उपाय-रूप में परिणत नहीं हो सकता। जो कर्म, ज्ञान वा भक्ति कुंडलिनी-शक्ति के जागरण में सहायता करें, वे ही यथार्थ में कर्म, ज्ञान और भक्ति, तथा कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग-पदवाच्य हैं। तद्भिन्न कर्मादि व्यर्थ प्रयास-मात्र के कारण होते हैं। वे किसी समय में सिद्धिदायक नहीं होते। कुंडलिनी की निद्रा भंग हुए बिना आत्मा अथवा परमात्मा में स्थिति का लाभ नहीं हो सकता।

अब यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यह कुंडलिनीवाद नवीन वादविशेष है वा यह प्राचीन काल से ही प्रचलित है। आपाततः मन में यही आता है कि भारतीय दर्शन-शास्त्र में कारणवश किसी काल-विशेष में इस तत्त्व की आलोचना प्रवृत्त हुई है। किंतु मूलतः यह वैदिक सिद्धांतानुसार नहीं है, तथा वेदानुकूल दर्शन-शास्त्रों में भी इसका ग्रहण नहीं हुआ है। अधिक क्या, पातंजल योगशास्त्र में कुंडलिनी अथवा षट्चक्रादिकों में से किसी एक का उल्लेख भी नहीं प्राप्त होता। बौद्ध तथा जैनादि ग्रंथों में भी स्पष्ट रूप से कुंडलिनी की कोई आलोचना नहीं है। किसी-किसी विद्वान् का मत है कि यह तंत्र-शास्त्र का अंतरंग विषय है। कुछ विद्वानों का मत है कि यह अथवा एतत्संपर्कीय वर्णोपासना-प्रणाली भारत के बहिर्देश—संभवतः 'मग' देश—से यहाँ आई है। भारतवर्ष में हठयोग एवं अक्षर-उपासना के विषय में जिस समय एक नवीन आंदोलन का सूत्रपात हुआ था, उसी समय में उसका प्राधान्य भी स्थापित हुआ। कोई यह कहते हैं कि कुंडलिनी-योग मुक्ति का उपाय-विशेष है। इस योग के अवलंबन बिना भी उपायांतर से मोक्षलाभ हो सकता है।

इसी प्रकार नाना रूप से संशय की अवतारणा होती है। यहाँ यह कहना पड़ता है कि उक्त सकल संशय का मूल कुंडलिनी-तत्त्व के संबंध में यथार्थ ज्ञानाभाव का फल-मात्र है।[1]

शुद्ध वैखरी वाग्रूप शब्दप्रवाह के ऊपर लक्ष्य करने तथा तत्प्रतिपाद्य अर्थ के अनुसंधान में उदासीन रहने से ही इस प्रकार का वृथा संदेह उदित होता है। हम सत्य मिथ्या नहीं जानते, किंतु हमारा

---

[1] 'The Six Centres and the Serpent Power' नामक ग्रंथ में Arthur Avalon कहते हैं – "But whereas the Jnana Yogi attains Svarupa Jnana by his mental efforts without rousing Kundali, the Hatha Yogi gets the Jnana through Kundalini Herself." (P. 201)—'ज्ञान-योगी' श्रवण, मननादि किसी भी उपाय का आश्रय करे, किंतु कुंडलिनी को जागृत किए बिना स्वरूप-ज्ञान को वह प्राप्त नहीं कर सकता, यह निर्विवाद सिद्ध है।

विश्वास है कि इसी प्रकार ग्रंथ-मूलक वैकल्पिक ज्ञान (अर्थानुसंधान-शून्य केवल शब्द-ज्ञान) से ही हमारे शास्त्रों में मत-वैषम्य का आविर्भाव होता है।

कुंडलिनी का प्रबोधन कोई नवीन वस्तु नहीं है। कुंडलिनी का स्वरूप क्या है, और उसका जागरण (चैतन्य-संपादन) क्या है, यह जाने विना तत्संबंधी कोई आलोचना फलप्रद नहीं हो सकती। कुंडलिनी का दूसरा नाम आधार-शक्ति है। यह शक्ति यावन्मात्र पदार्थों को आश्रय देती हुई संपूर्ण पदार्थों के मूल-सत्ता-रूप में वर्त्तमान रहती है। इसके चैतन्य-संपादन करने से यह निराधार (निरालंब) होकर शुद्ध चित्स्वरूप में स्थित हो जाती है, और जिस समय कुंडलिनी आधार-शून्य हो जाएगी उस समय संसार की सब वस्तुएँ भी निराधार हो जाएँगी; तथा कुंडलिनी जिस समय प्रबुद्ध होकर चिन्मयी होती है उस समय समस्त विश्व भी चैतन्यरूप धारण करता है। कुंडलिनी का जागरण और 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'—इस श्रुतिनिष्ठ सर्वत्र ब्रह्मसाक्षात्कार वा चैतन्यमयता के अनुभव की साधना सुतरां एक ही वस्तु है। यह जागरण क्रम से होता है। कर्म, ज्ञान, भक्ति प्रभृति कुंडलिनी के जागरण की ही भिन्न-भिन्न क्रमिक अवस्थाएँ हैं। जिस समय जागरण पूर्ण हो जाता है, अथवा निद्रा की लेशमात्र भी स्थिति अवशिष्ट नहीं रहती, उसी समय परिपूर्ण अद्वैत तत्त्व की सिद्धि होती है, इसके पूर्व द्वैत-स्फूर्त्ति अवश्यंभावी है। तंत्रशास्त्र में 'पूर्णाहंता' कहकर इसी का वर्णन किया गया है।

२

पारमार्थिक सत्ता आत्यंतिक साम्यावस्था-स्वरूप है। उपनिषद् ने भी इसके स्वरूप-निर्देश के प्रसंग में 'परमं साम्यम्' कहा है। इस मूल वस्तु में नाम-रूप की कल्पना नहीं होती, इसकी चिंता नहीं होती, इसकी वर्णना नहीं होती, यह अवाङ्मनसगोचर है। अथवा जितने नाम, रूप, चिंतन, वर्णन प्रभृति संसार में किए जाते हैं उन सबका मूल उपादान यही है। इसको तत्त्व पद से कह सकते हैं, तथा नहीं भी कह सकते। इसी लिये आगम शास्त्र में इसको तत्त्व वा तत्त्वातीत उभय रूप से ही कहा गया है। यह विश्वात्मक (immanent) होता हुआ भी विश्वातीत (transcendent) है और यही उपनिषदों में कही गई पूर्ण वस्तु (The Absolute) है। कोई कभी ऐसा न समझे कि पारमार्थिक सत्ता का यह विश्वात्मकता-अंश मिथ्या है और विश्वातीत भाव ही सत्य है। सत्य बात यह है कि लक्ष्य-भेद के अनुसार जीव परमार्थ की स्थिति को किसी अंश में प्राप्त कर सकता है; क्योंकि परमार्थ जब अभिन्न एवं स्वप्रकाश है तब इन दोनों अंशों में से किसी एक में भी जीव की स्थिति होने से वे दोनों ही अंश युगपत् प्रकाशित होते हैं, इसमें संदेह नहीं। यही विश्व के प्रादुर्भाव का द्वार है, यही 'अपर' साम्य है और महाबिंदु कहा जाता है। इसी अवस्था में शिव और शक्ति, ब्रह्म और माया, पुरुष और प्रकृति समरस-एकाकार रहते हैं। यह अवस्था नित्य वर्त्तमान रहती है। इसमें अनंत वैचित्र्य हैं, किंतु वह भी एकाकार-स्वरूप-से ही हैं।

जिस समय इस सामरस्य वा साम्य का भंग होता है, अर्थात् क्रमानुसार विश्व का प्रादुर्भाव होता है, उस समय यह बिंदु ही शक्ति-रूप में परिणत होता है, एवं शिवांश साक्षी-रूप में स्थित रहता है। साक्षी

अपरिणामी एवं एक है, किंतु शक्ति क्रमशः भिन्न-भिन्न स्तर में प्रसृत होती है। साक्षी केंद्रस्थ है, वैसे ही मूलशक्ति भी है—अर्थात् दोनों ही एकभावापन्न हैं। किंतु शक्ति की, प्रसार एवं संकोच, दोनों ही अवस्थाएँ होती हैं; और साक्षी की वे दोनों अवस्थाएँ नहीं होतीं—अर्थात् साक्षी सकल अवस्थाओं में निरपेक्ष, द्रष्टामात्र है। जिस प्रकार यह साक्षी केंद्रस्थ आत्मभावापन्न साम्यरूपा शक्ति का द्रष्टा है, उसी प्रकार प्रसारण और संकोच नामक शक्ति के अवस्था-द्वय को भी देखता है। यह विश्वातीत होने से सदा के लिये कालचक्र के ऊपर अवस्थित रहता है। किंतु कालचक्र के नाभि-स्वरूप भी हैं। शक्ति का प्रसार ही सृष्टि तथा उसका संकोच ही संहार कहा जाता है। प्रसार और संकोच—इन दोनों के प्रारंभ तथा अंत में साम्यावस्था रहती है। मध्य में इसका वैषम्य वा कालचक्र का आवर्त्तन रहता है। किंतु वैषम्य में भी साम्यावस्था अंतर्निहित रहती है। सृष्टि और संहार—अर्थात् प्रसार और संकोच—शक्ति का अनपायी स्वभाव वा स्वधर्म है। यह नियत रूप से बराबर होता ही रहता है। यह बहिर्गति और अंतर्गति, अधोगति एवं ऊर्ध्वगति, प्रवृत्ति और निवृत्ति, संमिलित भाव से वृत्ताकार धारण करती हुई 'कालचक्र' नाम से पुकारी जाती है। प्रदीप से जिस प्रकार प्रभा निर्गत होती है, जलाशय में पाषाण-निक्षेप करने से जिस प्रकार चारों तरफ़ जल का एक गोल मंडल रचित होता है, ठीक उसी प्रकार बिंदु भी उसी स्वरूप में प्रसृत होता है। यह प्रसार क्रम से बढ़ता रहता है, तथापि वह किसी अवस्था में अवश्य निरुद्ध होता है। कारण, सृष्टि का प्रसार अनंत नहीं हो सकता; क्योंकि यह सृष्टि का प्रसार प्रेरणा से होता है, और प्रेरणा अपरिच्छिन्न नहीं हो सकती।

हमने संकोच और प्रसार—इन दो धर्मों का उल्लेख कर दिया है। प्रसार-शक्ति के क्षीण होने पर संकोच-शक्ति पुष्ट होती है, तथा संकोच-शक्ति के क्षीण होने पर प्रसार-शक्ति पुष्ट होती है। संकोच-शक्ति और प्रसार-शक्ति क्रम से एक के अनंतर दूसरी प्रकटित होती हुई कालचक्र के नाम से पुकारी जाती है—अर्थात् ऊर्ध्वतम स्थान से सर्वनिम्नतम भूमि-पर्यंत समग्र विश्व इसी चक्र में घूम रहा है। बिंदु के केंद्रस्थल का आश्रय लेता हुआ यह कालचक्र भ्रमण करता है। इस प्रकार समस्त व्यक्त जगत् मध्यस्थ बिंदु की परिक्रमा कर रहा है[१]। इसमें बिंदु अपरिवर्त्तनशील, साक्षी और उदासीन है। जिस समय बिंदु-रूपा साम्यशक्ति विभक्त होती हुई व्याकृत रूप ग्रहण करती है, उस समय वह बिंदु अपना तीन स्वतंत्र रूप धारण करता है।

यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं कि तुरीय बिंदु उस समय में भी साक्षी से अभेद-भावापन्न एवं अव्यक्त अवस्था में ही वर्त्तमान रहती है। साम्यावस्था में चतुर्थ बिंदु के सहित अपर बिंदुत्रय

---

[१] इसी को 'सांख्य-दर्शन' में परिणाम (सदृश और विसदृश, अनुलोम और प्रतिलोम) कहते हैं। वैदिक साहित्य में इसी का नाम 'संवत्सरचक्र' है, और यही उत्तरायण और दक्षिणायन गति है। उत्तरायण वा ऊर्ध्वगति को 'देवयान' एवं दक्षिणायन वा अधोगति को 'पितृयान' कहते हैं। जिन्होंने तंत्र के षोडश नित्या का तत्त्व आलोचन किया है वे जानते हैं कि यह सृष्टि और संहार ही शुक्ल वा कृष्ण पक्षरूप से कल्पित मास-चक्र कहा जाता है, और चंद्रमा की अमृतरूपा षोडशी (सोलहवीं) कला ही इस कालचक्र की मध्य-बिंदु-स्वरूपा है।

का कोई भेद नहीं रहता, किंतु वैषम्य-काल में मूल विंदु—अर्थात् चतुर्थ विंदु—से ही विंदुत्रय पृथक् भाव से प्रकटित होता है। बिंदु के प्रकट होने से ही रेखा की सृष्टि होती है, यह रेखागणित का सिद्धांत है। बिंदु के कंपन अथवा स्पंदन से ही रेखा की उत्पत्ति होती है, तथा संकल्प ही स्पंदन का कारण है। यही संकल्प जिस समय विकल्प-रहित—अर्थात् संकल्पांतर-शून्य—होता है (जो शास्त्रीय भाषा में 'सत्य संकल्प' कहा जाता है), उस समय रेखा भी अखंड, अनवच्छिन्न एवं अबाधित रहती है। उस विंदु से सम भाव में चारों तरफ रेखाओं के उत्पन्न होने पर मंडलाकार से उनका प्रकाश होता है। इस प्रथम मंडल को ही शास्त्रकारों ने 'सहस्रार' नाम दिया है। यह विंदु ही ब्रह्मबिंदु वा आदिसूर्य, और इसकी सहस्र रेखा ही सहस्र अंशु—वा चारों तरफ प्रसारित सहस्र रश्मि—का रूप है। यही ज्योतिर्मय लोक, ब्रह्मलोक प्रभृति नाना नामों से, अपनी-अपनी भावना के भेद से विभिन्न भाव में, सब शास्त्रों में वर्णित हुआ है; और यही सत्त्वमय राज्य है। इस ज्योतिर्मंडल के बाहर द्वितीय बिंदु का मंडल है। हम इसको तटस्थ, मध्यस्थ एवं उदासीन मंडल के नाम से कह सकते हैं। इस द्वितीय मंडल का केंद्र 'रजः' नाम का द्वितीय बिंदु है। 'रजस्' शब्द का अर्थ 'कण' वा 'अणु' है। पूर्वोक्त प्रथम मंडल अखंड ज्योतिर्मय स्वरूप है। प्रसारण-शक्ति जिस समय इस मंडल की सीमा का—अर्थात् ज्योति-रेखा के अंत्य विंदु का—अतिक्रमण करके उसके बहिःप्रदेश को प्राप्त करती है, उस समय उसी शक्ति की प्रेरणा से ज्योतीराशि से स्फुलिंगवत् कणों का विक्षेप होता है। ये सब कण ज्योतिर्मय अखंड सत्त्व के अंश हैं। अखंड सत्त्व के समान ये सब खंड सत्त्व भी (सत्त्वांश भी) ज्योतिर्मय वा चिन्मय हैं, यह विशेष रूप से कहने की आवश्यकता नहीं। पंचरात्र गण तथा भागवत संप्रदाय ने इन्हीं सब कणों को 'चित्कण' नाम से व्यवहृत किया है,[1] और शैवाचार्यों की परिभाषा के अनुसार इनको ही 'विज्ञान-कल' कह सकते हैं। यही विशुद्ध जीव-भाव है। इसी के ऊपर से सहस्रार की प्रांत-भूमि-पर्यंत शिव-भाव वा ईश्वर-भाव का आरंभ होता है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी यही तटस्थ मंडल 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' वाक्य से 'सनातन जीवलोक' कहा गया है। ये सब नित्य जीव अनंत शून्य गर्भ में, रात्रि में निर्मल आकाश में चमकनेवाले उज्ज्वल नक्षत्र-मंडल के समान, विराजमान रहते हैं। इनमें कोई-कोई जीव अपनी उपाधि को निरुद्ध करके कैवल्य-पद में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। उनका स्वरूप मूल साक्षी से अभिन्न तथा उनकी उपाधि नित्य होती हुई भी अव्यक्त रहती है—अर्थात् दिव्य दृष्टि से भी सब कैवल्य-पद-प्राप्त जीव नहीं देखे जा सकते। पहले जिस प्रकार से कहा गया है उसी से जाना जाता है कि प्रथम मंडल के अनंतर ही महाशून्य है और उसी के मध्य में विशुद्ध जीवबिंदु की स्थिति है।

हम एक और आवश्यक बात यहाँ बतला देना चाहते हैं कि जो साक्षी की दृष्टि का क्षेत्र है वही आकाश-पदवाच्य है। यद्यपि साम्यावस्था अथवा महाप्रलय का आलोचन यहाँ नहीं करना है तथापि यह अवश्य कह देना है कि प्रथम बिंदु का प्रसार-क्षेत्र ही चिदाकाश है। यही किसी-किसी स्थान पर

---

[1] पांचरात्र-संप्रदाय के ग्रंथों में मुक्त पुरुषों की इस प्रकार वर्णना प्राप्त होती है
—"त्रसरेणु प्रमाणास्ते रश्मिकोटिविभूषिताः।"

'परव्योम' पद से भी कहा गया है। द्वितीय बिंदु के प्रसार-क्षेत्र को चित्ताकाश कहते हैं। इसके मध्य में खद्योत-माला के समान कोटि-कोटि ब्रह्मांड-श्रेणियाँ भासमान रहती हैं। इस द्वितीय मंडल के बाहर गाढांधकारमय तृतीय मंडल की सत्ता है। यह अखंड तमोमय एवं विभाग को प्राप्त हुए तृतीय बिंदु के प्रसारण से उत्पन्न होता है। इसको 'भूताकाश' भी कह सकते हैं। यही 'माया' वा 'आवरण' कहा जाता है। वैष्णवगण इसी भूमि को 'बहिरंग' कहते हैं। जिस प्रसारण-शक्ति से विशुद्ध जीव-भाव-पर्यंत सृष्टि का आविर्भाव होता है वह उस समय में भी क्रियाशील रहती है, और इसी के प्रभाव से जीवबिंदु प्रसृत होकर रश्मि-रूप से इसी अंधकारमय मंडल में प्रवेश करता है। यही भूतावरण पाँच प्रकार से विभक्त है। अतएव वैषम्य अवस्था में तटस्थ बिंदु से पाँच बिंदु विभक्त होकर आविर्भूत होते हैं और प्रसारण-शक्ति के कारण पंच-मंडल-रूपी परिणाम धारण करते हैं। ये पाँचों ही मंडल योगशास्त्र की परिभाषा के अनुसार विशुद्ध-अनाहत प्रभृति पाँच चक्र हैं। तटस्थ बिंदु से जिस मंडल का विकाश होता है उसी को 'आज्ञाचक्र' कहते हैं। इस आज्ञाचक्र की ऊर्ध्वभूमि में सहस्रारचक्र रहता है। मूलाधार वा सर्वनिम्न भूमि का चक्र ही घोर अंधकार का केंद्रस्थल है। मूलाधार बिंदु से बहिर्भूत होते ही जीव-कण वा सुषुम्नावाही जीवरश्मिगण स्थूल वा पंचीकृत भूतों के बंधन में पड़ते हैं। इस बाह्य प्रदेश में स्थूल जगत् के जीव बद्धावस्था में स्थित रहते हैं। समग्र ब्रह्मांड की—भूत-भविष्यत्-वर्त्तमान-कालीन संपूर्ण स्थूल वस्तुओं का बीज इस प्रदेश में सर्वदा वर्त्तमान रहता है। महाप्रलय के समय में यह पंचीकृत भूमि स्वभाव के नियम से अपंचीकृत अवस्था को धारण करती हुई पाँच भागों में विभक्त होकर विशुद्धादि पंचचक्रों में विलीन हो जाती है। इसमें अधिक कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रसार-शक्ति की क्रिया के समाप्त होने पर संकोच-शक्ति के उन्मेष के साथ ही इस अवस्था का उदय होता है। संकोच-शक्ति की क्रिया-वृद्धि के क्रम से पंचचक्र उपसंहृत होते हुए पंचबिंदु का रूप धारण करते हैं, पुनः संकोच-क्रम से वे पंचबिंदु आपस में संमिलित होते हुए एक बिंदु की आकृति में परिणत हो जाते हैं। आज्ञा-मंडल अथवा तटस्थ चित्परमाणुपुंज भी इसी प्रकार उपसंहृत होते हैं, तथा सहस्रार-मंडल भी मूल-सत्त्वबिंदु में आकुंचित होता है। तदनंतर सत्व, रजस् और तमस्—ये तीन बिंदु, अथवा मूल-त्रिकोण-रूपा महाशक्ति के तीन कोण, जिनका आविर्भाव सृष्टि के प्रारंभ में हुआ था, अपना वैषम्य-परित्याग कर अंतःस्थित महाबिंदु में साम्यभाव से अवस्थित रहते हैं। इसी महाबिंदु को वैष्णवगण 'महाविष्णु' तथा त्रिक-मतावलंबी शैवाचार्य वा शाक्तागमविद्गण 'सदाशिव' कहते हैं। वेदांत में यह 'तुरीय' नाम से व्यवहृत होता है। बस यही सामरस्यावस्था है। इस समय साक्षी और साम्यशक्ति एकाकार, अर्थात् अद्वैतभावापन्न, रहते हैं। इस अवस्था में न देश है, न काल है, न कला है, न मन की सत्ता है—अधिक क्या, उन्मनी शक्ति भी इस समय निष्क्रिय रूप धारण कर लेती है। इसके अनंतर भी एक अवस्था है जिसका कुछ विद्वान् 'तुर्यातीत' पद से व्यवहार करते हैं। शैव एवं शाक्तगण के शिव और शक्ति वा कामेश्वर-कामेश्वरी, तथा गौडीय वैष्णवों के राधा-कृष्ण, पूर्वोक्त महाबिंदु से ऊर्ध्वभूमि में अवस्थित रहते हैं।[1]

---

१. द्वारका, मथुरा एवं वृंदावन—ये तीनों धाम महाबिंदु की सीमा से अतीत हैं। (इसकी विस्तृत आलोचना हम 'नित्यलीलातत्त्व' की समालोचना के प्रसंग से समयांतर में करेंगे)। चिद्घन सदाशिवतत्त्व के

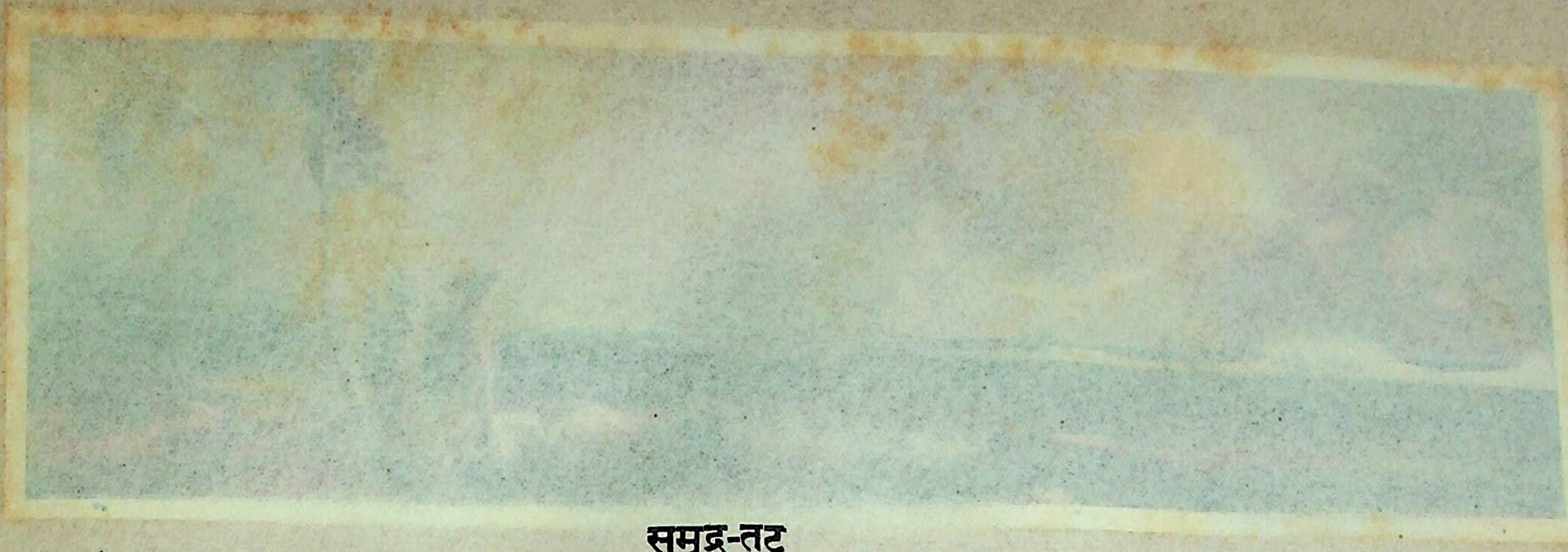

समुद्र-तट

चित्रकार—श्री० देवीप्रसाद राय-चौधुरी

(चित्रकार के सौजन्य से)

पंचीकरण अथवा स्थूल जगत् वा बीजसृष्टि के संबंध में हम यहाँ एक आवश्यक बात बतला देना चाहते हैं। विशुद्धादि पंच बिंदुओं से जो पाँच रश्मियाँ निर्गत होती हैं वे ही 'पंचतन्मात्राचक्र' कही जाती हैं। ये रश्मियाँ पृथक्-पृथक् निर्गत होती हुई भी परस्पर में मिश्रित हो जाती हैं। अर्थात् प्रथम बिंदु से निर्गत रश्मिजाल, द्वितीयादि अन्य चार बिंदुओं से निर्गत रश्मियों के साथ एकत्र होकर, मिश्रीभाव को प्राप्त होता है। इसी प्रकार शब्दतन्मात्रा, स्पर्शादि चतुर्विधतन्मात्रा से मिश्रित होती हुई, प्रथम चक्र को आकाश-मंडल-रूप में परिणत करती है। इसी आकाश को 'स्थूलाकाश' कहते हैं। इसमें शब्दांश का प्राधान्य होने पर भी स्पर्शादि तन्मात्राओं का अवश्य संमिश्रण है। इसी प्रकार द्वितीय बिंदु से विकीर्ण रश्मि, अन्यान्य बिंदुओं से निर्गत रश्मियों से मिश्रित होती हुई, स्थूल वायुमंडल की रचना करती है। यह द्वितीय अधस्तन बिंदु का चक्र (स्थूल वायुमंडल) आकाशमंडल के मध्य में अवस्थित रहता है। इसी प्रणाली से स्थूल तैजस्मंडल, जलमंडल एवं भूमंडल रचित होते हुए क्रमशः पूर्व-पूर्व भूतमंडलों के आभ्यंतर में स्थित रहते हैं। अतः स्थूलतम भूमंडल इन सब मंडलों के मध्य स्थल में, अर्थात् निम्नभाग में, अवस्थित है—यह सहज ही जाना जा सकता है। 'भूमंडल' कहने से केवल इसी पृथ्वी को न जानना चाहिए, किंतु यह पृथ्वी तथा असंख्य पृथिवियाँ, अथवा जो कुछ पार्थिव वा पृथ्वी-बहुल पंचीकृत वस्तु हैं, सभी को इस 'भूमंडल' वा भूलोक के अंतर्गत समझना चाहिए। अन्यान्य मंडल के संबंध में भी यही 'प्रकार' स्मरण रखना चाहिए। पंचीकरण के समय में पंचतन्मात्राओं के मिश्रण से, तारतम्य (न्यूनातिरेक) के कारण, अनंत प्रकार के स्थूल कण वा अणु—जिनका पहले 'बीज' नाम से उल्लेख किया गया है—उत्पन्न होते हैं। एक-एक मंडल में एक-एक भाव का प्राधान्य स्थित होने से परमाणु भी पाँच प्रकार से विभक्त किया जाता है।[१] किंतु यह अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि भूलोक में यद्यपि

भेद किए बिना (जाने बिना)—अर्थात् आचार्य शंकर-प्रदर्शित निर्गुण अद्वैत तत्त्व में प्रतिष्ठित हुए बिना—नित्य-लीला में प्रवेश नहीं हो सकता। श्री-संप्रदाय के वैष्णवगण (रामानुजीय) सत्त्वमंडल का अतिक्रमण न कर सके। यद्यपि उन्होंने विशुद्ध सत्त्व का स्वीकार किया है, और उसको प्राकृतिक सत्त्व से विलक्षण भी माना है, तथापि वे उसके जड स्वरूप का ही प्रतिपादन करते हैं। कोई-कोई रामानुजीय विद्वान् अवश्य इसको अजड कहते हैं, तथापि रामानुज-संप्रदाय के बहुत-से आचार्य इसका जडत्व वा अचित्त्व स्वीकार करते हैं। महायान-संप्रदाय के बौद्ध इसी को 'वज्रधातु' कहते हैं। उनकी सुखावती एवं अन्यान्य नित्य-धाम इसी उपादान से बने हैं। जो कुछ हो, वैष्णवाचार्यों में एकमात्र गौडीय संप्रदाय (चैतन्य संप्रदाय) ने ही इस सत्त्वमंडल का अतिक्रम किया है, अर्थात् सत्त्वमंडल के ऊपर भी तत्त्व स्वीकार किया है।

[१] नैयायिक और वैशेषिक विद्वान् आकाश के परमाणु नहीं मानते। अन्य दार्शनिक विद्वानों में कतिपय विद्वान् आकाश के परमाणु स्वीकार करते हैं तथा कतिपय स्वीकार नहीं करते। वास्तव में भूत के चार प्रकार हैं वा पाँच प्रकार, पाँच भी प्रकार मानने पर आकाश आणविक संघात-विशेष अथवा विभु पदार्थ है, यहाँ इस विषय की विस्तृत भाव से आलोचना करना असंबद्ध एवं असंभव है। केवल तत्त्व की तरफ ध्यान देने से जाना जाता है कि आपाततः प्रतीयमान मत-वैषम्य के मध्य में भी साम्यभाव वर्त्तमान है ही। योगवार्त्तिक (३, ४०) में 'विज्ञानभिक्षु' ने इसी लिये कारण और कार्य के भेद से आकाश के दो भेद माने हैं। विज्ञान-भिक्षु का कारणाकाश और हमारा पूर्ववर्णित तमोमंडल वा आवरण-शक्ति एक ही वस्तु हैं। विज्ञानभिक्षु-कृत महाभूताकाश की स्वीकृति से सिद्ध होता है कि वह अण्वात्मक आकाश का भी स्वीकार करता है। जो स्वरशोधन

सब परमाणु पार्थिव ही हैं, तथापि एक पृथ्वी-परमाणु अन्य पार्थिव परमाणु से अवश्य विलक्षण है। योगिगण विवेकज ज्ञान द्वारा उस परमाणुगत वैलक्षण्य का साक्षात्कार कर सकते हैं।[१] जिस प्रकार पार्थिव परमाणु में परस्पर स्वगत भेद है, ठीक उसी प्रकार अन्यान्य परमाणुओं में भी परस्पर स्वगत भेद है।

स्थूल भूमि की प्राप्ति होने पर प्रसारण-शक्ति प्रतिहत हो जाती है। यह स्थूल जगत् ही बाह्य जगत् कहा जाता है। बाह्य जगत् वा स्थूल देह में कालचक्र भ्रमण कर रहा है। इसी आवर्त्तन-मार्ग का एकांश (वाम भाग) ईडा, और अपरांश (दक्षिणी भाग) पिंगला, है। इन दोनों मार्गों में प्रत्येक की असंख्य शाखा-प्रशाखाओं ने मत्स्यजाल के समान समस्त देह को व्याप्त कर रक्खा है। यह तो पहले ही कहा गया है कि स्थूल भाव की प्राप्ति होने पर प्रसारण-शक्ति का निरोध हो जाता है। उस समय जीव भी स्थूल कोष में पड़ा रहता है, पूर्व स्मृति को भूल जाता है, तथा वैष्णवी माया से विमोहित होता हुआ ईडा-पिंगला-रूपी मार्ग से श्वास-प्रश्वास-रूप में संचरण करता रहता है। यही संचार 'संसार-गति' अथवा 'कालचक्र का परिभ्रमण' कहा जाता है; तथा जो शक्ति-प्रवाह पहले ज्योती-रूप से, ततःपर नाद-रूप से, प्रकटित हुआ था वही स्थूलभाव (स्थूल भूमिका) को प्राप्त होता हुआ प्राण-रूप से[२] प्रकाशित होता है। ज्ञानेंद्रिय, कर्मेंद्रिय, प्राणादि वायु प्रभृति सब इस प्राण-शक्ति का ही विकास है।

की प्रक्रिया से परिचित हैं वे ही आकाश के अणु देख सकते हैं। सर्वास्तिवादी बौद्धगण आकाश की असंस्कृत धर्मों के मध्य में गणना करते हुए इसको आवरणाभाव एवं अवकाशरूप मानते हैं। यह नित्य और विभु है, तथा अन्य पदार्थों का बाधक नहीं होता, एवं स्वयं अन्य पदार्थों से बाधित भी नहीं होता—अर्थात् इसका ह्रास वा इसकी वृद्धि नहीं होती। यह नीरूप स्वप्रकाश वस्तु है। 'वसुबंधु' ने कहा है कि आकाश यदि आवरणाभाव-स्वरूप न होता तो किसी भी वस्तु में क्रिया न होती। अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। यही हमारे पूर्ववर्णित साम्यशक्ति का स्वरूप है। स्थविरवादी बौद्धगण आकाश की, संस्कृत धर्म वा जन्य पदार्थों में, गणना करते हैं। 'विज्ञानभिक्षु' के कार्याकाश से हमारे विशुद्ध चक्र के साथ कुछ सादृश्य अवश्य है।

[१] वैशेषिकाचार्यगण प्रत्येक पार्थिव परमाणु में द्विविध विशेष स्वीकार करते हैं—एक पाकज विशेष और एक अंत्य विशेष। अंत्य विशेष अन्यान्य (वाय्वादि) परमाणुओं में भी रहता है। यह पाकज विशेष, जब तक पार्थिव परमाणु की सत्ता है, तभी तक वर्त्तमान रहता है; और अंत्य विशेष भी इसी प्रकार का है। अवांतर प्रलय में पाकज विशेष वर्त्तमान रहता है। सृष्टि के प्रारंभ में इसी पाकज विशेष के वश से द्व्यणुकादि क्रम से यावन्मात्र पदार्थों की उत्पत्ति होती है। वैशेषिक लोग परमाणु का विश्लेषण (विभाग) नहीं कर सकते, अतएव कहा जा सकता है कि वे विशेष का (अंत्य विशेष का) कोई अन्य मूल कारण (उपादान कारण) नहीं मानते, जैसा कि योगभाष्यकार ने 'अयुतसिद्धावयवसङ्घातः परमाणुः' वाक्य से स्पष्ट ही कहा है कि क्षुद्रतर अवयव की समष्टि का ही नाम 'परमाणु' है। इस अवयव-संनिवेश वा पंचीकरण के तारतम्य से ही परमाणुओं में परस्पर वैलक्षण्य होता है।

[२] यथासंभव हम पारिभाषिक शब्दों को प्रयोग में न लाने की चेष्टा करते हैं, तथापि उन शब्दों का कहीं-कहीं प्रयोग करना आवश्यक हो जाता है। यहाँ 'नाद' एवं 'ज्योतिः' के पर्याय-रूप से व्यवहृत 'प्राण' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'स्पंदन' वा 'कंपन' भी प्राणतत्व के ही रूपांतर हैं। ज्योतिः, नाद और तथोक्त प्राण—ये सब एक ही शक्ति के क्रमिक विकास-मात्र हैं, यह अवश्य जान लेना चाहिए।

जिस समय प्रसारण-शक्ति को बाधा प्राप्त हो जाती है उसी समय संकोच-शक्ति की क्रिया का आरंभ हो जाता है। समग्र ब्रह्मांड में सर्वत्र यही व्यवस्था है। ब्रह्मांड इसी संकोच-शक्ति के प्रभाव से स्वगत वैषम्य का परित्याग करके साम्यावस्था के अभिमुख होता है। पृथक्-पृथक् चेष्टा न करने पर भी प्रत्येक व्यक्ति ब्रह्मांड की मुक्ति के साथ महाप्रलय के समय में मोक्ष प्राप्त करता है। यदि पृथक् मोक्ष के लिये चेष्टा की जाय तो ब्रह्मांड के मोक्ष-काल (महाप्रलय) की अपेक्षा किंवा प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती।

जीव स्थूल तत्त्व के आवरण से आवृत होता हुआ ही सूक्ष्म सुषुम्ना के मार्ग में प्रविष्ट नहीं हो सकता। पूर्व संस्कार या वासना, अभिमान वा कर्तृत्वबोध, एवं फलाकांक्षा वा भोगाभिलाषा (जिसको कामना भी कहते हैं), इन्हीं तीन आवरणों के कारण जीव में स्थूलत्व संपन्न हुआ है। विषयेंद्रियादि रूप यही स्थूलावरण जीव को अपने धाम में वापस नहीं जाने देता। प्रत्येक जीव-मात्र ही ज्ञान चाहता है, आनंद चाहता है, अमरत्व चाहता है; अधिक क्या, ब्राह्मी स्थिति की स्पृहा करता है, और उसी प्रत्याशा से विषय-राज्य में परिभ्रमण करता है। वास्तव में विषयादि उसके प्रार्थनीय नहीं हैं, किंतु प्रार्थनीय है आनंद। आनंद की सिद्धि के लिये वह गौणसाधनरूप विषयादि की आकांक्षा करता रहता है। किंतु युग-युगांतर में, कल्प-कल्पांतर में, एवं लोक-लोकांतर में संचरण करता हुआ भी अपनी आकांक्षा की तृप्ति को नहीं प्राप्त करता। इसका एक-मात्र कारण यह है कि वह सभी स्थानों में अपनी वासना एवं कर्तृत्वादि अभिमान के साथ ही परिभ्रमण करता रहता है। जब तक वासना का उच्छेद, अंततः एक निमेष-पर्यंत भी, न होगा तब तक सुषुम्ना के प्रवेश का मार्ग नहीं मिल सकता। कारण, स्थूल वस्तु सूक्ष्म मार्ग में प्रवृष्ट नहीं हो सकती। भूत-शुद्धि, चित्त-शुद्धि प्रभृति क्रियाओं का भी तात्पर्य स्थूलता के विसर्जन को छोड़कर अन्यत्र नहीं है। पंचभूत जब शुद्ध हो जाएँगे तब पंचीकरण की स्थिति नहीं रह सकती। अधिक क्या, पंचबिंदु भी एकबिंदु के रूप में परिणत हो जाते हैं। उसके अनंतर चित्त-शुद्धि होती है। उसी एकबिंदु के निर्मल होने से ज्ञान-चक्षु अथवा तृतीय नेत्र का उन्मीलन होता है। यही जीव की विशुद्ध अवस्था है। इसके अनंतर जीव ईश्वर-तत्त्व के सांमुख्य को धारण करता हुआ क्रम से अग्रसर होता जाता है। बस इसी को दूसरे शब्दों में उपासना कह देते हैं। उपासना के समय में आज्ञा-चक्रस्थ बिंदु और सहस्रारस्थित महाबिंदु में भेद और अभेद दोनों ही रहते हैं। क्रमशः इसी भेदाभेद के मध्य का भेदांश विगलित होने पर अभेद की ही प्रतिष्ठा के कारण ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है। इसके अनंतर त्रिगुणातीत परम साम्यावस्था वा ब्रह्मत्व प्रतिष्ठित रहता है।

३

हमारे उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट भाव से प्रतीत होता है कि कुंडलिनी-शक्ति के उद्‌बोधन के बिना जीव की ऊर्ध्वगति नहीं हो सकती। अरणि-मंथन करने से जिस प्रकार अग्नि प्रज्ज्वलित की जाती है, अर्थात् अरणिस्थ सुप्त (Latent) अग्नि जिस प्रकार संघर्षण से उद्दीपित होती है, उसी प्रकार साधन-प्रणाली द्वारा प्रसुप्त कुंडलिनी को जगाना पड़ता है। अग्नि जिस प्रकार प्रकट होते ही ईंधन (काष्ठादि) को दग्ध करती है, उसी प्रकार कुंडलिनी चैतन्य होने पर साधना-विलुप्त हो जाती है। बाह्य साधना-मात्र—अर्थात् विचार, भक्ति वा हठ किंवा मंत्रयोगादि—यह संपूर्ण उपासना पुरुषकार सापेक्ष

अथवा कर्तृत्वाभिमान-जन्य है। यह कर्तृत्व-बोध क्रम से कुंडलिनी-चैतन्य के समय में लुप्त हो जाता है, और कर्तृत्व-बोध के लुप्त होने से कुंडलिनी अधिक जागृत होती है। जिस समय एक बार कुंडलिनी चेतन होने लगती है, उस समय स्वभाव के नियम से ही सब कार्य स्वयं ही होते जाते हैं। जिस प्रकार अनुकूल स्रोत में नौका छोड़ देने पर उसको समुद्र में पहुँचाने के अन्य प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार कुंडलिनी के जगाने से और उसके प्रवाह में प्राण वा मन को डाल देने से जीव को ब्रह्मावस्था प्राप्त करने के लिये पृथक् उपाय करने की आवश्यकता नहीं रहती।[१] संकोच-शक्ति अथवा ऊर्ध्वबिंदुस्थित आकर्षण-शक्ति के प्रभाव में अंतर्मुखगति क्रमशः वृद्धि को प्राप्त करती है, और अंत में साम्यावस्था में स्थिर हो जाती है।

कुंडलिनी जागरण के साथ ही साथ ईडा-पिंगला में प्रवहमान स्रोत सूक्ष्मता को प्राप्त करता हुआ सुषुम्ना के मार्ग में प्रवेश करता है, एवं सुषुम्ना के मार्ग से भी ऊर्ध्व उठता हुआ क्रम से और भी अधिकतर सूक्ष्मता को प्राप्त करता रहता है। इसी रूप में जीव की शक्ति को, वज्रा और चित्रिणी नाडी का भेद करके, अवशेष में ब्रह्मनाडी अथवा आनंदमय कोश में गमन करना पड़ता है। बस यही ऐश्वर्यावस्था है। जिस समय में आनंदमय कोष की तरफ ध्यान नहीं रहता, उस समय में गुणातीत परम साम्यावस्था की प्राप्ति होती है।

ऊर्ध्व सत्त्वबिंदु से अधःस्थ तमोबिंदु पर्यंत जानेवाली रेखा ही मेरु (Axis) कही जाती है। इसी रेखा का ऊर्ध्वबिंदु उत्तरमेरु एवं अधोबिंदु दक्षिणमेरु (North and South Poles) नाम से व्यवहृत होता है। इन दोनों बिंदुओं में आकर्षण-शक्ति विद्यमान रहती है। अधोबिंदु के आकर्षण का नाम माध्याकर्षण है, और यह भूमध्य से प्रसृत होता है। ऊर्ध्वबिंदु के आकर्षण का नाम संकर्षण कहा जाता है जिसका कृपा शब्द से भी व्यवहार होता है। यह कृपा ऊर्ध्वबिंदु अथवा आदिसूर्य वा ईश्वरोपाधि के केंद्र से ही चारों ओर प्रसृत होती है। आज्ञाचक्रस्थ विशुद्ध जीव वा कैवल्यप्राप्त पुरुष—ये दोनों आकर्षण के ठीक मध्यस्थल में तटस्थ भाव से वर्त्तमान रहते हैं। उनकी उपाधि निर्मल है; अतएव उनके प्रति माध्याकर्षण की क्रिया नहीं होती। इसी लिये ब्रह्मांड-भांड के मध्य में उनकी स्थिति भी नहीं रह सकती; तथा ऊर्ध्वदृष्टि न होने से उनके प्रति भगवान् की कृपा-शक्ति भी आकर्षण नहीं करती। शास्त्र में इनका वर्णन सांख्यज्ञानी कहकर किया गया है। ये जीव ईश्वर के शुद्ध सत्त्वात्मक धाम में स्थिति को नहीं प्राप्त करते। ये माया से अतीत होते हुए भी महामाया के अधीन रहते हैं। आगमशास्त्र इन्हीं जीवों को 'विज्ञानकला' कहता है।

---

१. प्राचीन बौद्धगण इसको 'स्रोत आपन्न' कहते हैं। बुद्धदेव शक्ति-संचारपूर्वक शिष्य को इसी ऊर्ध्वस्रोत में स्थापित करते थे। यह सुषुम्नावाही ऊर्ध्वस्रोत से भिन्न और कुछ नहीं है। इस स्रोत को प्राप्त किए हुए जीव को कदापि 'अपाय' में गिरने का भय नहीं रहता। कारण, उस समय में उसके सत्काय दृष्टि, विचिकित्सा एवं शीलव्रतपरामर्श नामक त्रिविध बंधन वा 'संयोजन' छिन्न हो जाते हैं। संचारित शक्ति की न्यूनाधिकता, एवं संचित वासनादिकों की गाढता के तारतम्य के कारण अवश्य 'स्रोत आपन्न' अवस्था नाना प्रकार की होती है।

इस स्थिति में क्रम अवश्य माना जाता है। जिस समय किसी अनिवचनीय कारण से यह तटस्थ बिंदु ऊर्ध्वमुख हो जाती है, उसी समय में अखंड सत्त्वबिंदु के साथ उसका सांमुख्य हो जाता है। इसी को ईश्वर-साक्षात्कार कहते हैं। इस समय यह बिंदु तटस्थ नहीं रहता, किंतु वह सहस्रार में प्रविष्ट होकर तथा अपनी रेखा के आलंबन से केंद्र के अभिमुख अग्रसर रहता है। यही भाव-साधना है। यह स्वयं स्वभाव से ही हो जाती है। तमोबिंदु जिस प्रकार पाँच प्रकार से विभक्त रहते हैं, उसी प्रकार शुद्ध सत्त्व के भी पाँच विभाग होते हैं। प्रत्येक विभाग में एकैक भाव का प्राधान्य रहता है। शांत से लेकर माधुर्यपर्यंत ये पाँच विभाग प्रसृत रहते हैं। अंतिम माधुर्य ही शुद्ध सत्त्वबिंदु का अंतरतम अथवा ऊर्ध्वतम भाव माना जाता है। जिस समय में इस माधुर्य-भाव को भी पुरुष अतिक्रांत करता है, उसी समय वह पूर्णावस्था को प्राप्त कर लेता है, इसके पूर्व नहीं। तमः, रजः, और सत्त्व—इन त्रिविध मंडल के अतिक्रमण से ही कुंडलिनी का चैतन्य पूर्ण होता है, यह कह सकते हैं। कुंडलिनी के पूर्ण जागरण से एकमात्र, अद्वितीय और पूर्ण वस्तु में ही स्थिति रहती है। समग्र जगत् निराधार होता हुआ ब्रह्मरूप में परिणत होता है, तथा आत्यंतिक और एकांतिक ब्राह्मी स्थिति एवं शाश्वत पद की प्राप्ति सुसिद्ध हो जाती है।

४

हमारे इस पूर्वोक्त कथन से यह अवश्य प्रतिपादित हो चुका कि कुंडलिनी-तत्त्व के साथ देह-तत्त्व का—केवल देहतत्त्व का ही नहीं, जगत् के यावन्मात्र तत्त्वों का—अवश्य घनिष्ठ संबंध विद्यमान है। जो मुक्ति-मार्ग के पथिक हैं वे जडतत्त्व, चित्तत्त्व एवं ईश्वरतत्त्व—अर्थात् सकल तत्त्वों का अतिक्रम करके अग्रसर होते हैं; क्योंकि यावन्मात्र तत्त्व वैषम्यावस्था के अंतर्गत हैं। साम्यावस्था ही तत्त्वातीत अवस्था है। ऐसी अवस्था में कहीं-कहीं जिनका तत्त्व कहकर वर्णन किया गया है वह केवल व्यवहार-सौंदर्य के अनुरोध से ही जानना चाहिए।

कुंडलिनी के किंचित् जाग्रत होने पर ही जीव ऊर्ध्वगति अथवा क्रममुक्ति के अनुकूल आरोहण करने लगता है। समाधि का क्रम-विकास अथवा कुंडलिनी की क्रमोन्नति, दोनों एक ही पदार्थ हैं। जितने समय तक चित्त एकाग्र भूमि में रहता है, उतने ही समय तक उसको अवलंबन प्राप्त रहता है। अवश्य यही स्थूल अवलंबन सूक्ष्म भाव को प्राप्त होता हुआ अवशेष में बिंदुरूप में परिणत होता है। प्रचलित पातंजल योग के मतानुसार इसी बिंदु को 'अस्मिता' कहते हैं। इसी लिये सास्मित समाधि संप्रज्ञात समाधि की चरम सीमा है। इसी भूमि में प्रज्ञा के उदित होने से चित्त निरालंबन होता हुआ परिपूर्ण शुद्धि को प्राप्त करता है। उस समय में उपायप्रत्ययात्मक असंप्रज्ञात समाधि का उदय होता है। इस अवस्था में क्लेश नहीं रहता, कर्माशय नहीं रहते, पूर्व संस्कार, कर्तृत्वबोध आदि कुछ भी नहीं रहते—अर्थात् चित्त सकल प्रकार के आवरणों से विमुक्त होता हुआ पूर्ण चंद्रमा के समान विमल, स्निग्ध ज्योति से समुद्भासित होता है। यह शुद्ध सत्त्व ही निर्माणचित्त और निर्माणकायादिक का उद्भव-स्थान है। यह शुद्ध सत्त्व

दो प्रकार से स्थित रहता है। संकोच-काल में इसके निरोधस पुरुष को कैवल्य-सिद्धि प्राप्त होती है तथा विकाश-काल में इसके आविर्भाव से जीवन्मुक्ति की प्राप्ति होती है[1]।

सांख्यशास्त्र का कैवल्य पूर्ण अवस्था नहीं कहा जा सकता। इस कथन की आवश्यकता नहीं, यह स्वयं ही विदित हो रहा है; क्योंकि वास्तव में चैतन्य स्वरूप पुरुष एक किंवा बहु हो ही नहीं सकता। उपाधि-विहीन शुद्ध चैतन्य में भेद-प्रतीति अथवा अभेद-प्रतीति कुछ भी संभव नहीं है। उपाधि के एक होने पर ही तदुपहित चैतन्य को भी एक कह सकते हैं। उसी प्रकार उपाधि के बाहुल्य के कारण ही तदुपहित चैतन्य में भी बहुत्व स्वीकार किया जा सकता है। सांख्य का पुरुष बहुत्व वस्तुतः बहुसत्त्व से परिच्छिन्न चैतन्यस्वरूप है। सत्त्व की खंडता के कारण ही सत्त्व का बाहुल्य उनको अवश्य मानना पड़ेगा। पूर्वोक्त एक अखंड सत्त्व ही खंडित (अथवा खंडितवत्) होता हुआ बहुरूप से प्रतिभासित होता है। एक से ही बहुत्व की उत्पत्ति, स्थिति और संहार होता है।

अतएव बहु पुरुष जब तक एक उत्तम पुरुष को नहीं प्राप्त कर लेते हैं तब तक यथार्थ साम्य-भाव की आशा करना दुराशा-मात्र है। एकाग्र-भूमि का आश्रय किए बिना निरोध-भूमि में पदार्पण नहीं होता। द्वैताद्वैत-रूपी उभय भाव से अतीत होने के लिये प्रथम द्वैत से अद्वैत में उपस्थित होना चाहिए। इसके अनंतर स्वाभाविक नियम से अद्वैत भूमि भी अतिक्रांत होती है, फिर विकल्पोपशमा वा साम्यावस्था की प्राप्ति अपने-आप ही हो जाती है। द्वैतभाव को अद्वैत भाव में परिणत किए बिना उसको निवृत्त करने से व्युत्थान अवश्य हो जाता है; क्योंकि जिस कारण से जलमग्न लघु वस्तु के उत्थान की तरह प्रकृति में लीन पुरुषों का पुनरुत्थान होता है, ठीक उसी कारण से सांख्य के कैवल्यपद को प्राप्त पुरुषों का भी पुनरुत्थान होना समझना चाहिए।

अतएव वैशेषिकों की मुक्ति तो दूर रही, सांख्यवालों की मुक्ति भी वास्तविक मुक्ति नहीं है, यह सुतरां सिद्ध होता है; क्योंकि उस समय में भी कुंडलिनी का संपूर्ण जागरण नहीं होता है। निरीश्वर सांख्य में ईश्वरतत्व नहीं माना गया। जिस नित्यमुक्त और नित्यैश्वर्यसंपन्न ईश्वर की उपाधि को योगभाष्यकार 'प्रकृष्ट सत्त्व' कह करके व्याख्यान करते हैं, एवं जिसको क्लेशादि विहीन परम गुरुदेव-रूप बतलाते हैं, उस 'कारण ईश्वर' को भी सांख्यदर्शन स्वीकार नहीं करता। सांख्य के मत में हिरण्यगर्भादि 'कार्येश्वर' ही ईश्वर हैं। साधना के परिपाक के कारण साधक पुरुष के चित्त में अणिमादि अष्टैश्वर्य का विकाश होना ही सांख्य-मत से ईश्वरत्व-लाभ करना है, यह कह सकते हैं। किंतु यह ऐश्वर्य अनित्य है; क्योंकि यह द्वैत-बोध से ही उत्पन्न होता है, इसलिए कैवल्यपद का परिपंथी है। तात्पर्य यह है

---

[1] जिस समय शक्ति रहती है, उसी समय संकोच-विकास के खेल होते हैं। सत्त्वादि गुणत्रय भी शक्ति का ही स्फुरण है। यह सांख्ययोग-शास्त्र में यद्यपि स्पष्ट भाव से नहीं उल्लिखित किया गया तथापि सर्वोच्च भूमि से लक्ष्य करने पर उक्त सिद्धांत सहज में जाना जा सकता है। मुक्ति का आदर्श विभिन्न प्रकार से माना गया है, इसलिये जीवन्मुक्ति भी अनेक प्रकार की है। जिस मत में, जिस अवस्था को मुक्ति माना है, उस मत में उस अवस्था का जीवद्दशा में प्रकाश होना ही जीवन्मुक्ति समझना चाहिए।

कि सांख्य-निर्दिष्ट साधना से जीव तटस्थ भाव को प्राप्त करके ऊर्ध्व उत्थित नहीं हो सकता। तटस्थ बिन्दु ऊर्ध्वबिंदु के आकर्षण की सीमा के बहिःप्रदेश में अवस्थित रहने के कारण सहस्रार के मार्ग को नहीं प्राप्त कर सकता। उस समय में उसका संपूर्ण आवरण तिरोहित नहीं होता, क्योंकि कुंडलिनी आंशिक रूप से प्रसुप्त रहती है। शैवागम के मत से यह एक 'विज्ञान-कल'-रूप अवस्था है। भक्ति (वैधी) एवं उपासना के बल से अखंडसत्त्व की धारा के साथ, अर्थात् आदिसूर्य की एक रश्मि के साथ, खंड-सत्त्व संयोग को प्राप्त होता है और क्रम से उसी रश्मि के आश्रय से केंद्र के निकटवर्त्ती होता रहता है। खंडसत्त्व में भाव के विकसित होने पर सहस्रदल कमल की नित्यविभूति का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। वह भाव धीरे-धीरे प्रगाढ़ होता हुआ विधि कोटि (वैधी भक्ति) को अतिक्रम करके रागरूप में परिणत होता है। राग का भी क्रमिक विकास है। ऐश्वर्यावस्था का अनुभव दास्यभावपर्यंत ही होता है, इसके अनंतर दास्यभाव के अतिक्रमण करने पर माधुर्यावस्था का विकास होता है। यह माधुर्यावस्था सख्य, वात्सल्य और कांत रूप से तीन प्रकार की होती है। इन तीनों में कांत-भाव में ही माधुर्य की पराकाष्ठा है। इसके अनंतर यह कांत-भाव क्रम से महाभाव रूप में परिणत होता है। यही महाभाव, विभाव और अनुभाव प्रभृति कारणों से शृंगार रस का रूप धारण करता है, और यही आदिरस कहा जाता है।[1]

इस प्रकार कुंडलिनी के क्रमिक जागरण से ऊर्ध्वबिंदुपर्यंत ही जीव उत्थित होता है, और केंद्र में प्रविष्ट होते ही लीलाभूमि के अपर प्रांत को अपने आयत्त कर लेता है। इस समय में साम्यभाव से स्थिति रहती है, और यही उपशम वा शांतावस्था है। किसी-किसी शास्त्र के परिभाषानुसार यही निर्वाण-पद कहा जा सकता है। अतएव शुद्ध सत्त्व के प्रकट होने पर शृंगार रस ही सब रसों का सार-भूत एवं आदिरस है, यह बिना प्रयास के ही सिद्ध होता है। गुणातीत अवस्था में इसका आस्वादन भी नहीं रहता।

हमने जो पूर्व में कहा था कि कुंडलिनी का पूर्ण-चैतन्य-संपादन करना तथा परमैश्वर्य-लाभ— ये दोनों एक ही बात हैं, यह इस लेख से स्पष्ट प्रतीत होता है।

---

[1] शांत और शृंगार—इन दोनों रसों में कौन आदिरस है, इस विषय में साधक-संप्रदाय में बड़ा मतभेद चलता है। जो लीलानुरागी है वह संप्रदाय शृंगार को ही आदिरस कहता है। गौडीय वैष्णवगण शांत रस को सर्वापेक्षा निम्न मानते हैं। मुख्य बात यह है कि शांत और शृंगार दोनों ही रसास्वादन की प्रांतावस्था है। काश्मीरीय शैवाचार्य यद्यपि शांत रस को प्रधान बतलाते हैं तथापि वे शिव-शक्ति के सामरस्य रूप में शृंगार का शांत के साथ समन्वय करते हैं। यहाँ तक कि चैतन्य महाप्रभु के रसतत्त्व की शिक्षा भी शृंगार रस की ही प्राधान्य-ख्यापिका है।

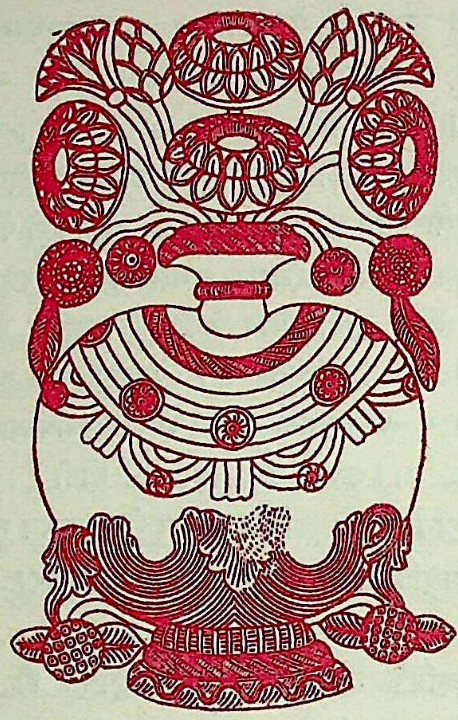

भावी भारत के पत्रकार

श्री रामानंद चट्टोपाध्याय

जिस समय अमेरिका के दासत्व-प्रथा-विरोधी सुधारक तथा वक्ता वेंडेल फिलिप्स ने ये शब्द कहे थे—"मुझे समाचारपत्र निकालने की शक्ति दे दो, फिर मैं इसकी परवा नहीं करता कि कौन कानून बनाता है अथवा कौन धर्म चलाता है," उस समय उनके मन में केवल उन्हीं आदर्श समाचारपत्रों का ध्यान रहा होगा, जो पर्याप्त नैतिक और बौद्धिक योग्यता रखनेवाले पत्रकारों द्वारा परिचालित होते हैं। मैं इस लेख में यह बताने की चेष्टा करूँगा कि भारतवर्ष की विशेष परिस्थिति को देखते हुए पत्रकारों में यह योग्यता किस प्रकार की होनी चाहिए।

औसत दर्जे का भारतीय पत्रकार, जो जीविका के लिये मेहनत करता है, एक उच्च ध्येय को लेकर इस पेशे में प्रवेश कर सकता है। परंतु उसकी सफलता उसके चरित्र, उसके अध्यवसाय, उसकी क्षमता तथा उसके अर्जित गुणों के अनुपात में ही होगी। उसका अध्यवसाय, उसकी क्षमता, अथवा उसके अर्जित गुण चाहे कैसे भी क्यों न हों, वह तब तक कभी जनता के लिये हितकारी सिद्ध नहीं हो सकता जब तक उसमें चरित्र-बल न हो। पत्रकार को इस योग्य होना भी जरूरी है कि वह नियमित रूप से कठोर परिश्रम कर सके। सब प्रकार के मद्य तथा अन्य नशीली वस्तुओं से दूर रहना, उसे इस परिश्रम के योग्य बनने में सहायता देगा। पत्रकार के लिये बिलकुल प्रतिभा-हीन होना आवश्यक नहीं। उसमें प्रतिभा

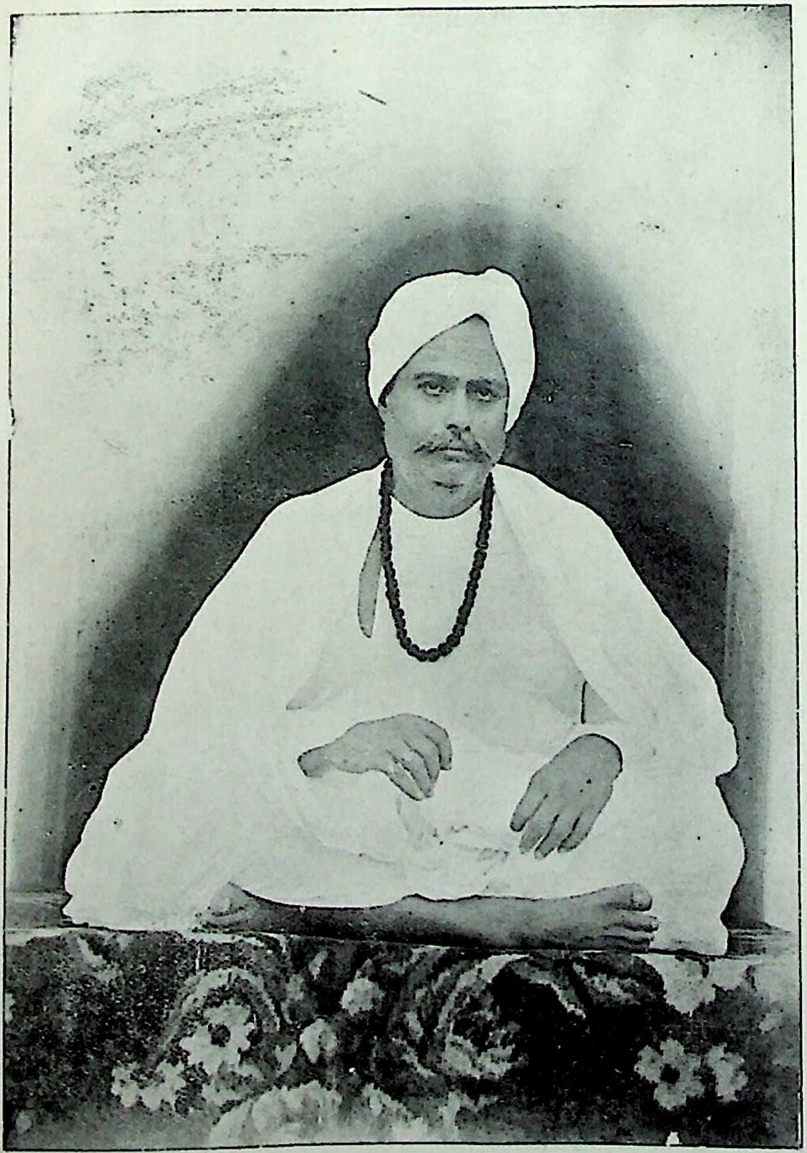

स्वर्गीय पंडित गोविंदनारायण मिश्र

स्वर्गीय पंडित बालकृष्ण भट्ट

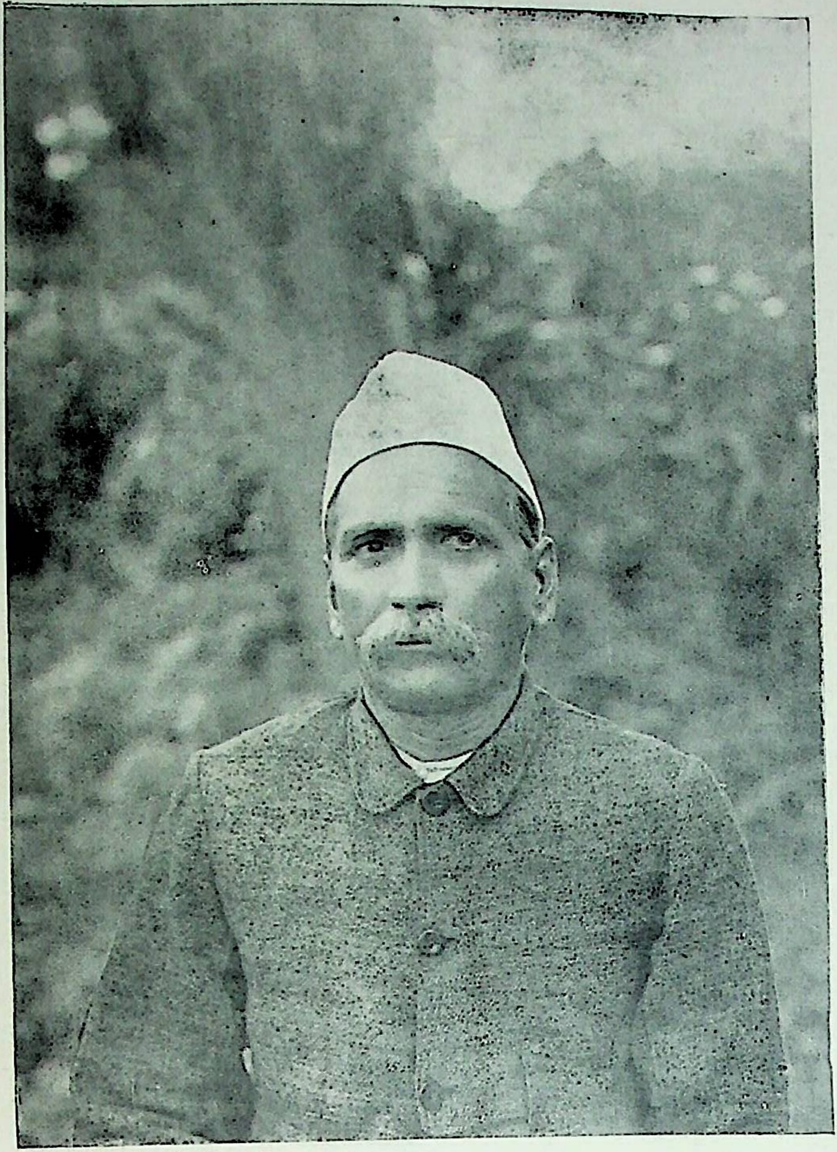

स्वर्गीय पंडित पद्मसिंह शर्मा

स्वर्गीय पंडित माधवराव सप्रे

होनी चाहिए; परंतु साथ ही यह बात भी याद रखनी चाहिए कि प्रत्येक पत्रकार को, चाहे वह कितना ही प्रतिभाशाली क्यों न हो, शुरू से ही अत्यंत कठोर, परिश्रमी जीवन के लिये—चक्की पीसने के लिये—तैयार रहना चाहिएं।

तत्परता एक ऐसा गुण है जो पत्रकार के लिये अत्यंत आवश्यक है। उसे हर समय अपने होश-हवास को दुरुस्त और विवेक-बुद्धि को तैयार रखना चाहिए। कोई भी पत्रकार तब तक अपने पेशे में सफल नहीं हो सकता, जब तक उसकी स्मरण-शक्ति बहुत विस्तृत और ग्रहण-शील न हो; क्योंकि हर समय और हर स्थान पर 'रिफरेंस' की पुस्तकों का पुस्तकालय नहीं मिल सकता। किंतु यह ध्यान रहे कि स्मरण-शक्ति का सहारा लेते हुए भी किसी बात की विशुद्धता में फर्क न आने देना चाहिए। इसके अतिरिक्त बहुत-सी बातें ऐसी होती हैं, जो किसी मुद्रित ग्रंथ में नहीं मिलतीं। उन्हें हम केवल अपनी आँखों और कानों को खुला रखकर ही सीखते हैं। यद्यपि प्रत्येक पत्रकार को हमेशा अपने पास नोटबुक और पेंसिल रखनी चाहिए, और बहुतेरे रखते भी हैं, फिर भी प्रत्येक वस्तु—जिसे हम देखते और सुनते हैं—नोटबुक में नहीं लिखी जा सकती। अतः पत्रकार के लिये अपनी स्मरण-शक्ति को विकसित करना और उससे काम लेना आवश्यक है।

पत्रकारों को इस बात की आदत डालनी चाहिए कि वे प्रत्येक बात को जितनी विभिन्न दृष्टियों से देखना और तोलना संभव हो उतनी दृष्टियों से देखें और तोलें, फिर उस पर पक्षपात-रहित होकर अपना न्याय-संगत, स्थिर और समतुल्य मत निर्धारित करें। भावोद्दीपक और उत्तेजनापूर्ण लेख बाद में लिखे जा सकते हैं। यह समझना भूल है कि कोई व्यक्ति बिना प्रयत्न के, बिना साधना के, अपने-आपको पक्षपात और विद्वेष से मुक्त कर सकता है। अतः पत्रकार को अपने मन से पक्षपात, विद्वेष, आसक्ति, स्वार्थपरता तथा दलबंदी के भावों को दूर करने का सतत प्रयत्न करते रहना चाहिए। किसी वीर पुरुष के लिये यह आवश्यक नहीं कि वह हर समय खतरे में पड़ता रहे और मौत का सामना करता रहे, और न किसी सैनिक के लिये ही यह आदर्श बात है कि वह हमेशा अनावश्यक जोखिम उठाता रहे; परंतु प्रत्येक आदर्श पत्रकार के लिये यह अत्यंत आवश्यक है कि वह सदा—प्रत्येक क्षण—एकदम निर्भय रहे।

पत्रकार के लिये यह बात सचमुच ही कही जा सकती है कि सब तरह की जानकारी में उसका दखल होना चाहिए। यह कहना बहुत कठिन है कि संसार में कौन-सी चीज ऐसी है जिसकी जानकारी पत्रकार के लिये बिलकुल अनुपयोगी या अनावश्यक है! संपादकों की सर्वज्ञता तो एक पुराना मजाक है। यह कहना तो व्यर्थ ही है कि अन्य साधारण मनुष्यों की भाँति बेचारा संपादक भी सर्वज्ञ नहीं हो सकता; परंतु इसमें संदेह नहीं कि किसी पत्रकार को जितने अधिक विषयों की—जितनी अधिक चीजों की जानकारी होगी, अपने काम के लिये वह उतना ही अधिक उपयुक्त और उतना ही अधिक योग्य सिद्ध होगा।

साधारणतः समाचारपत्रों में वाद-विवाद और आलोचना का मुख्य विषय राजनीति होता है। अतः पत्रकारों को चाहिए कि वे राजनीति का—उसके सार-रूप में तथा विभिन्न राष्ट्रों के इतिहासों, कानूनों और शासन-विधानों में उसके विस्तृत रूप में—भली भाँति अध्ययन करें।

हम लोग भारत में रहते हैं, अतः हमारे लिये केवल पाश्चात्य राजनीति का—अरस्तू और मैशेविली से लेकर अब तक की राजनीति का—अध्ययन करना ही पर्याप्त नहीं है। भारतीय पत्रकारों के लिये आवश्यक है कि वे शुक्रनीति को पढ़ें, कौटल्य के अर्थशास्त्र का अध्ययन करें, कामंदक के सूत्रों को समझें, महाभारत का शांतिपर्व देखें, और हाल में प्राचीन हिंदू राजनीति तथा भारत के पुरातन शासन-विधानों पर भारतीय विद्वानों के जो ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं उनका अच्छी तरह मनन करें। अप-टु-डेट पत्रकारों के लिये यह भी आवश्यक है कि वे संसार की नवीनतम लोकप्रिय शासन-पद्धतियों से परिचित हों। उदाहरण के लिये उन्हें यह ज्ञात होना चाहिए कि रूस का सोवियट शासन-विधान कैसा है, उसका लक्ष्य क्या है और उसे कहाँ तक सफलता मिली है।

भारतवर्ष जिस परिस्थिति में है, उसमें अपने इतिहास के पूर्ण अध्ययन के बिना हमारा काम नहीं चल सकता; क्योंकि राष्ट्रीय नैराश्य के लिये अपने इतिहास का अध्ययन ही एकमात्र रामबाण ओषधि है; राष्ट्रीय दुर्बलता मिटाने के लिये वह टॉनिक है। जो देश सभ्यता के शिखर पर चढ़कर गिरे थे, या जिनकी उन्नति रुक गई थी, और जो राष्ट्रों की दौड़ में पुनः अग्रसर हो रहे हैं, उनके—ऐसे देशों के—इतिहास का हमें विशेष रूप से अध्ययन करना चाहिए। यह अध्ययन निश्चय ही हममें नवीन आशा और नवीन जीवन का संचार करेगा। जापान, टर्की, ईरान, स्याम आदि देशों का इतिहास मनन करने योग्य है। भारतीय पत्रकारों के लिये अपने देश के इतिहास के विस्तृत अध्ययन की आवश्यकता है, ताकि वे यह जान सकें कि हम आज जिस अवस्था में हैं वह क्यों हुई, कैसे हुई और हमें जो होना चाहिए वह हम कैसे हो सकते हैं।

पिछले योरोपियन महायुद्ध और उसके परिणामों से समस्त सभ्य देशों के विचारशील व्यक्तियों का यह विश्वास हो गया है कि संसार की समस्त जातियों और समस्त राष्ट्रों का भाग्य एक दूसरे से ऐसा संबद्ध है जो पृथक् नहीं किया जा सकता। इससे अब यह आवश्यक हो गया है कि प्रत्येक सार्वजनिक नेता तथा प्रत्येक पत्रकार संसार के वर्त्तमान इतिहास और वर्त्तमान राजनीति से भली भाँति परिचित हो। सामयिक भारतीय समाचारपत्र प्रायः विदेशी राजनीति की आलोचना से मुँह चुराते हैं। इसका आंशिक कारण यह है कि विदेशी राजनीति के संबंध में हमारा ज्ञान बहुत कम है, परंतु मुख्य कारण यह है कि हम अपनी दुरवस्था, अपनी अक्षमता और अपनी शिकायतों में ही इतने ग्रस्त रहते हैं कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता। यह उत्तम होगा कि भारतीय पत्रकार अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में एकदम अजनबी की भाँति न हों, वे उसका कामचलाऊ ज्ञान प्राप्त करें। यद्यपि नियमानुसार सरकारी तौर पर संसार के अन्य देशों के साथ भारत का स्वतंत्र संबंध नहीं है, हमारे वैदेशिक संबंध ब्रिटिश सरकार के हाथ में हैं; तथापि हम लोग गैर सरकारी और निजी तरीके पर विदेशी राष्ट्रों को प्रभावित कर सकते हैं और उनसे प्रभावित हो सकते हैं। यद्यपि ब्रिटिश सरकार ने निर्णय किया है कि भारत का विदेशी विभाग उत्तरदायी मंत्रियों के हाथ में न रहकर गवर्नर-जनरल के हाथ में रहे, तथापि उसका यह निर्णय कोई ब्रह्मा की लीक तो है नहीं जिसमें परिवर्त्तन न हो सके। वैदेशिक विभाग को भी अंत में लोकप्रिय नियंत्रण में आना ही पड़ेगा, और वह हमारे हाथ में आएगा ही।

राजनीतिक स्वतंत्रता की अपेक्षा आर्थिक स्वतंत्रता कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। राष्ट्र की सुख-समृद्धि और योग्यता के लिये आर्थिक समस्याओं का—जिनमें औद्योगिक समस्या भी संमिलित है—पर्याप्त ज्ञान भी आवश्यक है। इसलिये हमारे पत्रकारों को अर्थशास्त्र का ज्ञान होना नितांत आवश्यक है। यह तो साधारण से साधारण मनुष्य भी—जो थोड़ा भी ज्ञान रखता और सोचता है—जानता है कि संसार के विभिन्न राष्ट्र राजनीतिक बातों की अपेक्षा व्यापार, उद्योग-धंधे, बैंकिंग, सर्राफी, रोजगार और आर्थिक बातों में एक दूसरे पर अधिक निर्भर करते हैं। अतः समाचारपत्रवालों को अर्थशास्त्र और तत्संबंधी संपूर्ण बातों और विषयों पर पूरा दखल रखना चाहिए।

२

मकानों, मशीनों और गाड़ियों आदि की भाँति हमारे सामाजिक संगठन और प्रणालियाँ भी समय पाकर जीर्ण-शीर्ण और अनुपयोगी हो जाती हैं। उस समय उनकी मरम्मत और पुनर्निर्माण करके उन्हें फिर जन-साधारण के लिये उपयोगी बनाना पड़ता है। यह काम वे ही कर सकते हैं, जो मानव-मनोवृत्ति, नीतिशास्त्र तथा समाजशास्त्र के सिद्धांतों को भली भाँति जानते हों। मानव-विज्ञान, पैतृक गुण-दोष-संबंधी नियम तथा जातीय अनुशीलन (Racial Culture) की कला और विज्ञान का समाजशास्त्र से घनिष्ट संबंध है, अतः उनकी ओर भी हमें ध्यान देना चाहिए।

बिना शिक्षा के किसी जाति के लिये उन्नति करना या अग्रसर होना असंभव है। शिक्षा-विज्ञान और शिक्षण कला के साथ-साथ शासन-तंत्र और शिक्षा का क्या संबंध होना चाहिए; साहित्य, विज्ञान, कला और धर्म का राष्ट्र के चरित्र पर क्या प्रभाव पड़ता है तथा ये चारों चीजें राष्ट्र के चरित्र से कितनी प्रभावित होती हैं—इन सब विषयों पर उन लोगों को गंभीरता से ध्यान देना चाहिए, जो सच्चे हृदय से अपने राष्ट्र की सेवा करना चाहते हैं। इसमें रत्ती-भर संदेह नहीं है कि बाल-मनोवृत्ति के संबंध में संसार में जो अज्ञान फैला है, उसके कारण बालकों को और उनके साथ सारी मानव-जाति को अनेक दुःख झेलने पड़े हैं। नारियों की क्षमता से अनभिज्ञ होने के कारण तथा उनके संबंध में बहुत-सी कल्पित धारणाएँ कर लेने के कारण भी हमारी कुछ कम हानि नहीं हुई। भारत के वर्त्तमान राष्ट्रीय आंदोलन में स्त्रियों ने जो भाग लिया है, उससे कम से कम ये धारणाएँ तो दूर हो जानी चाहिए। पत्रकारों के स्त्रियों का इतना अप-टु-डेट और काफी ज्ञान होना चाहिए कि वे उनके हितों के साथ पूरा न्याय कर सकें। फिर एक कवि के कथनानुसार स्त्रियों के हित केवल उन्हीं के हित नहीं हैं, वरन् वे पुरुषों के भी हित हैं।

अपराध, गिरफ़्तारी, मुकदमें, फैसले, जेल, जेलों का सुधार, फाँसी आदि के समाचार और उनकी आलोचना समाचारपत्रों का कोई तुच्छ अंश नहीं है। अतः पत्रकारों को कानून, अदालती विधान, व्यवस्था-पद्धति, अपराध-विज्ञान और दंडविधि आदि से भी परिचित होने की जरूरत है।

संपादकों को बहुधा ग्राम-सुधार और नगर सुधार की योजनाओं, ग्राम्य जीवन और नागरिक जीवन की आपेक्षित सुविधाओं-असुविधाओं, तथा नगरों और ग्रामों की सफाई आदि की आलोचना करनी

पड़ती है। इसलिये हम लोगों के साज-सामान में महामारियों का इतिहास तथा उनके कारण, सफाई, नगरों की बनावट आदि विषयों की जानकारी भी चाहिए।

समाज के अस्तित्व और उन्नति के लिये नागरिक तथा ग्रामीण उद्योग-धंधे, पेशे, कारबार, खेती आदि बातें आवश्यक हैं। प्रत्येक प्रकार के उत्पादन-कार्य में कोई न कोई असुविधा अवश्य होती है। इसलिये प्रकाशन-कार्य से संबंध रखनेवालों को इस योग्य होना चाहिए कि वे उन असुविधाओं के उपचार बता सकें, उनकी आलोचना कर सकें। इसके लिये इन उद्योग-धंधों, पेशों और रोजगारों का पर्याप्त ज्ञान आवश्यक है। जंगलात के कानून और खानों के नियम आदि इस प्रकार के होने चाहिए जिनसे देश की जनता में इन बातों के लिये अनुराग उत्पन्न हो सके और वे उनके लिये हितकर हों। इस प्रकार के हितों की रक्षा के लिये आवश्यक है कि हम इन कानूनों से परिचित हों; विशेषकर खानों के संबंध में तो हमें संसार के समस्त उन्नतिशील और जनतंत्रवादी देशों के कानूनों से परिचित होना चाहिए। भूतत्त्व और खनिज-विद्या का ज्ञान भी हमारे लिये अनुपयोगी न होगा।

खेतों, कारखानों और प्लैंटेशनों पर काम करनेवाले मजदूरों के संबंध के सब कानूनों और विधानों का हमें अच्छी तरह अध्ययन करना चाहिए। इन विषयों पर 'जेनेवा' के अंतर्राष्ट्रीय श्रमजीवि-कार्यालय द्वारा प्रकाशित पुस्तकों तथा डॉक्टर रजनीकांतदास-सरीखे भारतीय लेखकों की कृतियों से हमें बहुत सहायता मिल सकती है।

रेल, तार, टेलीफोन, रेडियो, सुदूर समुद्रों में और भारतीय समुद्र-तट पर चलनेवाले जहाजों, पहाड़ों पर जानेवाली मोटरों, आमद-रफ्त के साधनों, हवाई जहाजों, टर्मिनल टैक्स, चुंगी, आयात-निर्यात कर, डाकखाने, एक्सचेंज, करेंसी आदि बातों का खेती तथा उद्योग-धंधों से बड़ा घनिष्ठ—जीवन-मरण का—संबंध है। पाश्चात्य देशों तथा जापान में लाभदायक ढंग से इन विषयों के परिचालित करने में बड़ी उन्नति हुई है। हमें संसार के समस्त उन्नतिशील देशों में इन चीजों की अवस्था का ज्ञान रखना चाहिए। इन सब बातों के अध्ययन के लिये व्यापारिक भूगोल (Commercial Geography) का सर्वांगपूर्ण ज्ञान होना और उस पर अधिकार रखना आधार का काम देगा।

भूगोल के संबंध में निश्चित रूप से यह जानना बहुत उपयोगी होगा कि संसार के बड़े-बड़े स्वतंत्र देशों में—जैसे संयुक्तराज्य (अमेरिका) अथवा रूस में—कितनी जातियाँ बसती हैं, कितनी भाषाएँ बोली जाती हैं और कितने धर्मों के अनुयायी रहते हैं। यह जानना भी उपयोगी है कि धार्मिक और सांप्रदायिक झगड़े और खून-खराबे केवल अकेले भारत में ही नहीं होते, बल्कि संसार के अन्य स्वाधीन देशों में भी होते हैं और हुए हैं। इस ज्ञान से हमारे देश-भाई यह जान सकेंगे कि भारतीय स्वतंत्रता के विरोधी जो दलीलें दिया करते हैं, वे अकाट्य नहीं हैं।

आज-कल हम देखते हैं कि दिन-प्रति-दिन अधिकाधिक जनसमूह राजनीति, उद्योग-धंधों तथा ट्रांसपोर्ट (वहन-कार्य)-संबंधी कामों में भाग ले रहे हैं। इसलिये हमें भीड़ की तथा दलों की मनोवृत्ति (Crowd Psychology and Group Mind) का भी अध्ययन करना चाहिए।

पत्रकार का कर्त्तव्य है कि वह वर्त्तमान में जो कुछ सत्य, शिव और सुंदर है उसकी रक्षा करे; अतीत में जो सत्य, शिव और सुंदर था उसे पुनर्जीवित करने का प्रयत्न करे; सत्य, शिव और सुंदर की रक्षा में जहाँ-कहीं भी कदाचार आ गया हो उसे दूर करे तथा जन-साधारण के लाभ के लिये—'बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय'—नई बातें और नए विधानों को सुझाए तथा उन्हें परिचालित करने में सहायता दे।

जीवन के किसी एक क्षेत्र की उन्नति प्राय: अन्य सब क्षेत्रों की—सार्वजनीन—उन्नति पर निर्भर करती है। इसलिये प्रत्येक पत्रकार या संपादक को, जो वास्तव में सच्चे हृदय से जीवन के किसी क्षेत्र की उन्नति का आकांक्षी हो, चाहिए कि वह अन्य सब क्षेत्रों की उन्नति से सहानुभूति रक्खे तथा उनमें सहायता दे। परंतु जीवन के किसी एक क्षेत्र की उन्नति में अथवा सभी क्षेत्रों की उन्नति में हमें तभी विश्वास हो सकता है, जब हम ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से मानव-मात्र की उन्नति में निर्भ्रांत विश्वास रक्खें। यह विश्वास एक अन्य विश्वास पर स्थित है। वह अन्य विश्वास यह है कि इस ब्रह्मांड का परिचालन सत्य और पुण्य के द्वारा होता है तथा एक सर्वव्यापी और सर्वशक्तिमान् शक्ति इस विश्व की नियंता है, जिसकी इच्छा से ही मनुष्य का कल्याण होता है।

इसलिये जब वेंडल फिलिप ने पूर्वोक्त शब्द कहे थे, तब उनके मन में निश्चय ही उन आदर्श समाचारपत्रों का ध्यान था, जो ऐसे लोगों द्वारा परिचालित होते हैं जो राजनीतिज्ञ होने के साथ ही साथ उच्चचरित्र, परिपक्वबुद्धि, उच्चादर्श और महान् क्षमताशाली होते हैं—जिन्हें इस बात का विश्वास होता है कि मानव-संसार उन्नति करके संपूर्णता को प्राप्त करेगा—तथा जो उस पवित्र प्रकाश के सहारे अपना मार्ग खोजते हैं जिस प्रकाश से यह विश्व प्रकाशित है।

मैं ऊपर कह चुका हूँ कि पत्रकारों को अपने मन से पक्षपात, विद्वेष, किसी एक ओर को विशेष झुकाव तथा दलबंदी के भावों को दूर करने का सतत प्रयत्न करना चाहिए। भारतवर्ष में इस प्रकार का प्रयत्न अत्यंत आवश्यक है। यह हमारा बड़ा भारी सौभाग्य है कि हमारे देश में संसार के सभी प्रधान-प्रधान धर्मों के अनुयायी बसते हैं। सत्य अत्यंत व्यापक है, उसमें अगणित पहलू हैं। किसी एक व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के एक संप्रदाय के लिये यह संभव नहीं है कि वह सत्य के सभी पहलुओं को देख सके और ग्रहण कर सके। सत्य की समस्त दिशाओं को देखने के लिये अनेक सच्ची आत्माएँ चाहिए। परंतु कुछ संकीर्ण विचारवाले धर्मांधों की कट्टरता ने और उन लोगों ने, जो अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिये इस कट्टरता का दुरुपयोग करते हैं, भारत के इस वरदान को अभिशाप बना डाला है। प्रत्येक सद्विवेकी पत्रकार का यह लक्ष्य तथा कर्त्तव्य होना चाहिए कि वह इस प्रकार की धर्मांधता तथा उसके दुरुपयोग को मिटाने की चेष्टा करे। वह ऐसा तभी कर सकता है जब उसके मन में सभी धर्मों के प्रति श्रद्धा हो, और यह श्रद्धा तभी प्राप्त हो सकती है जब हम परिश्रम करके सब धर्मों के आंतरिक सत्यों तथा प्रत्येक धार्मिक संप्रदाय के सुकृत्यों से परिचित हों। यह भी हमारे पत्रकारों के अध्ययन-विषयों का एक अंग होना चाहिए।

३

यद्यपि कुछ अत्यंत प्रतिभाशाली व्यक्तियों ने पत्रकार का काम किया है, किंतु साधारण तौर पर पत्रकार के लिये तो बहुत उच्च कोटि की प्रतिभा आवश्यक नहीं है। उसके लिये तो केवल उसी प्रकार की योग्यता, क्षमता तथा अर्जित गुण चाहिए, जिनका वर्णन मैं ऊपर कर चुका हूँ। निस्संदेह कोई भी व्यक्ति सभी विषयों का ज्ञाता नहीं हो सकता, और न कोई चलता-फिरता विश्वकोष ही बन सकता है। अतः पत्रकारों को चाहिए कि वे उपरि-वर्णित अधिकांश आवश्यक विषयों का स्थूल ज्ञान प्राप्त करें, तथा एक या दो विषयों की पूरी विस्तृत जानकारी रक्खें। लेकिन हमारी योग्यता, क्षमता तथा कृतियाँ चाहे कितनी ही ऊँची क्यों न हों, यह न समझ लेना चाहिए कि उनके द्वारा कोई भी सफल पत्रकार अमर व्यक्तियों की गिनती में आ सकता है। बहुधा हम इस तथ्य को अच्छी तरह दृढ़तापूर्वक ग्रहण नहीं कर पाते हैं; क्योंकि हमारा काम ऐसा है कि हमें अकसर बड़े से बड़े कवियों, दार्शनिकों, कलाकारों, वैज्ञानिकों तथा राजनीतिज्ञों आदि का निर्णायक बनकर बैठना पड़ता है, और उनकी कृतियों पर अपना फैसला देना पड़ता है। अतः हमारे मन में यह भ्रमपूर्ण धारणा उत्पन्न हो जाना कुछ कठिन नहीं है कि हम उन लोगों की बराबरी के हैं, अथवा उनसे भी ऊँचे हैं जिन पर हम अपना निर्णय देते हैं या जिनकी हम आलोचना करते हैं।

चूँकि पत्रकार एक प्रकार से एक लोकप्रिय शिक्षक है, अतः उसका एक मुख्य कार्य यह है कि वह कठिन से कठिन और गूढ़ बातों को भी ऐसे मनोरंजक और सरल ढंग से पाठकों के सामने रक्खे, जिसे राहचलता आदमी भी आसानी से समझ ले। इसलिये पत्रकारों को चाहिए कि वे ज्ञान, सौंदर्य, समस्त उन्नतिशील प्रभावों तथा उन सब बातों को—जो मानव-हृदय में बल और प्रसन्नता का संचार करती हैं—सुंदर, और रोचक ढंग से—सनसनीदार ढंग से नहीं—जन-साधारण के द्वार-द्वार पहुँचावें।

पत्रकार का मुख्य कार्य है कि जो कुछ घटना घटे, उसकी रिपोर्ट दे और उसे प्रकाशित करे। ये घटनाएँ विभिन्न प्रकार की होती हैं—कुछ अच्छी, कुछ बुरी, कुछ सनसनीदार और कुछ ऊटपटाँग। जो घटनाएँ बुरी हैं उनके समाचार अच्छी घटनाओं के समाचारों की अपेक्षा कहीं अधिक छापे जाते हैं। संसार में अनेक भाँति के अगणित भले कार्य हो रहे हैं, उनको कोई नहीं पूछता। इसके विपरीत नाना प्रकार के अपराधों के समाचार तथा अदालतों की कार्रवाई अखबारों के लिये मनोरंजक मसाला समझा जाता है। केवल बड़े-बड़े भले कार्यों का ही समाचार यदा-कदा प्रकाशित किया जाता है, लेकिन यदि हम चाहें तो दयालुता और भलमनसी की अनेक छोटी-छोटी बातों को भी बड़े रोचक तथा प्रेरणोत्पादक ढंग से लिख सकते हैं। मैंने इस विषय की ओर विशेषकर इसलिये ध्यान आकृष्ट किया है कि दयालुता और भलमनसी की बातों के समाचार आम तौर पर नहीं छपते। हाँ, रूढ़ता और निर्दयता की बातें विस्तृत रूप से प्रकाशित की जाती हैं। इससे यह धारणा उत्पन्न हो सकती है कि संसार में दयालुता और भलमनसी की अपेक्षा रूढ़ता और निर्दयता ही बहुत अधिक है, लेकिन यह धारणा शायद सत्य नहीं है।

विभिन्न देशों, जातियों, राष्ट्रों और सरकारों के बीच में अनबन के छोटे से छोटे चिह्न, संदेह, संशयजनक कल्पनाएँ और आतंकोत्पादक बातें समाचारपत्रों में फौरन छप जाती हैं। परंतु जिन बातों से विभिन्न जातियों में मैत्री उत्पन्न हो, जो बातें स्वभावतः लोगों में सद्भाव पैदा करें, उनके प्रकाशन में यह तत्परता नहीं दिखाई जाती, बहुधा तो वे प्रकाशित ही नहीं की जातीं! इस प्रकार संसार की जनता को यह भ्रम उत्पन्न हो सकता है कि समस्त जातियाँ और राष्ट्र हमेशा इसी ताक में रहते हैं कि कब मौका मिले और वे एक दूसरे पर टूट पड़ें! वास्तव में यह बात नहीं है। मुझे बहुधा यह भासित होता है कि पृथ्वी की विभिन्न जातियों में मैत्री और सद्भाव उत्पन्न करने के लिये हम पत्रकारों को जो कुछ करना चाहिए, हम वह नहीं करते। यदि हम लोग विभिन्न जातियों के साहित्य, कला, मनुष्यता तथा उदारता की सुकृतियों आदि विषयों को समाचारपत्रों में अधिक स्थान देते तो आज विभिन्न जातियों में एक दूसरे के प्रति जितना प्रेम और संमान है उससे कहीं अधिक होता। इस प्रकार के कार्य औरों की अपेक्षा शक्तिशाली राष्ट्रों के समाचारपत्र अधिक अच्छी तरह कर सकते हैं; परंतु वे करते नहीं। यदि वे वास्तव में शांति के इच्छुक हैं तो उन्हें यह कार्य करना चाहिए।

हमारा कर्त्तव्य है कि संसार में जो कुछ हो रहा है उसका समाचार दें। हमें केवल नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों और अन्वेषणों की ही खबर न देनी चाहिए, बल्कि विभिन्न देशों के आधुनिक कवियों, कलाकारों और दार्शनिकों के नवीन भावों, विचारों, प्रेरणाओं और सौंदर्य पर भी ध्यान देना चाहिए। इसमें संदेह नहीं कि अन्य साधारण बातों की अपेक्षा, जिनके समाचार हम रोज छापते हैं, नवीन विचारों, नवीन सिद्धांतों तथा सौंदर्य की नवीन बातों को समझना और उन पर लिखना जरा टेढ़ा काम है। फिर भी यह न होना चाहिए कि बाह्य जगत् की स्थूल घटनाएँ ही, मनुष्यों के आंतरिक संसार की बातों को दूर रखकर, हमारे समूचे ध्यान पर एकाधिपत्य जमा लें।

प्रसन्नता की बात है कि अब देश, जाति, राष्ट्र, धर्म तथा भाषाओं की सीमा पार करनेवाले आंदोलनों और संस्थाओं की ओर हमारा ध्यान जाने लगा है। एक समय था जब कि इतिहास का अर्थ 'किसी राजवंश के राजाओं की सूची अथवा महत्त्वाकांक्षा के फेर में राजवंशों के युद्ध और उनकी जय-पराजय आदि' ही समझा जाता था। मगर अब कुछ समय से इतिहास का वास्तविक विस्तृत अर्थ समझा जाने लगा है। आजकल आदर्श इतिहास-ग्रंथ वे ही समझे जाते हैं, जिनमें किसी जाति का इतिहास, उसकी सभ्यता, संस्कृति, संस्थाओं, समाज, कला, साहित्य, व्यापार और उद्योग-धंधों का विकास और उनका एक दूसरे पर प्रभाव आदि बातें होती हैं। अब इतिहासकार यह भी देखते हैं कि किसी जाति ने किसी दूसरी जाति या देश पर राजनीतिक या आर्थिक आधिपत्य जमाए बिना किस प्रकार अपना सांस्कृतिक प्रभाव डाला है। प्राचीन काल में भारतवर्ष ने अनेक ऐसे देशों पर अपना गहरा प्रभाव डाला था, जिन पर उसने कभी विजय प्राप्त नहीं की। और आज भी—यद्यपि वह परतंत्र देश है—उसके दर्शनशास्त्र, उसका धर्म, उसका साहित्य और उसकी कला सारी मानव-जाति पर अपना प्रभाव डाल रही है।

इतिहास की धारणा में उपर्युक्त परिवर्त्तन हो जाने के कारण पत्रकारों के कर्त्तव्यों की धारणा में भी अंतर आ गया है; क्योंकि सामयिक तथा समाचारपत्र हमारे वर्त्तमान-कालीन इतिहास के एक अंश

ही तो हैं। पत्रकारों के पेशे के संबंध में मेरा यह विचार है कि हम लोगों को इस योग्य बनना चाहिए कि हम केवल अपने वर्त्तमान इतिहास के लेखक या आलोचक ही न बनें, बल्कि मनुष्यों के बाह्य तथा अंतरंग जीवन के इतिहास-निर्माता भी बनें।

४

यद्यपि भारत की जनसंख्या बहुत बड़ी है, तथापि भाषाओं की बहुलता और उसके साथ शिक्षा की कमी के कारण देशी भाषाओं के समाचारपत्रों के अधिक प्रचार में बड़ी बाधा पहुँचती है। समस्त भारतीय भाषाओं में हिंदी बोलनेवालों की संख्या सबसे अधिक, अर्थात् १२,१२,५४,८९८ है। परंतु दुर्भाग्यवश हिंदी-भाषा-भाषी प्रदेशों में ही सबसे अधिक निरक्षरता है। इसके अतिरिक्त हिंदी बोलनेवाला जनसमूह चार-पाँच विभिन्न प्रांतों में बँटा होने के कारण तथा दूरी और अन्यान्य कारणों से एक प्रांत में प्रकाशित होनेवाले पत्रों का अन्य प्रांतों में प्रचार नहीं होता। इस प्रकार वर्त्तमान परिस्थिति में हिंदी-पत्रों का अधिक प्रचार दुस्तर है। बँगला बोलनेवालों की संख्या प्रायः पाँच करोड़ से कुछ अधिक है, जो अधिकांश में बंगाल में ही रहते हैं। परंतु यहाँ भी निरक्षरता के कारण बँगला-पत्रों का अधिक प्रचार नहीं हो सकता। अन्य भारतीय भाषाओं में प्रत्येक के बोलनेवालों की संख्या ढाई करोड़ से भी कम है। कुछ की तो केवल कुछ लाख ही है। कुछ अँगरेजी के पत्रों का, विशेषकर उनका जिनके मालिक और संपादक अँगरेज हैं, एक से अधिक प्रांतों में प्रचार है। ये गोरे पत्र भारतीय पत्रों से अधिक संपन्न हैं, क्योंकि जो गोरे यहाँ पैसे कमाने के लिये आते हैं, वे सभी काफी पैसे कमाते हैं, और समाचारपत्र खरीद सकते हैं। फिर उनमें से प्रत्येक वयप्राप्त स्त्री-पुरुष साक्षर होता है। दूसरा कारण यह है कि भारत का व्यापार, कारबार, उद्योग-धंधे और ट्रांसपोर्ट आदि सभी चीजें अधिकांश में गोरों ही के हाथ में हैं इसलिये गोरे पत्रों को उनसे बहुत विज्ञापन मिलते हैं। हमारे भारतीय पत्र तब तक नहीं फूल-फल सकते जब तक हमारी संपूर्ण वयप्राप्त जनसंख्या साक्षर नहीं हो जाती, और जब तक देश के सारे रोजगार, उद्योग-धंधे आदि हमारे हाथ में नहीं आ जाते।

निरक्षरता तथा अन्यान्य कारणों के अलावा हमारे देश के पोस्टेज के ऊँचे रेट भी समाचार-पत्रों के प्रचार में बहुत बाधक हैं। जापान में पोस्टकार्ड साढ़े चार पाई में जाता है, हमारे यहाँ नौ पाई लगती हैं। जापान में अखबारों के लिये कम से कम पोस्टेज आधा सेन यानो डेढ़ पाई है, मगर भारत में तीन पाई से कम पोस्टेज नहीं। तुलना करने से यहाँ और जापान की अन्य बातों में भी अंतर मिलता है, मगर वह अंतर जापानियों के पक्ष में ही है। इस कारण से तथा कुछ अन्य कारणों से, जापान की आबादी भारत की आबादी से बहुत कम होते हुए भी, वहाँ के डाकखानों में साल-भर में जितनी चिट्ठियाँ, पोस्टकार्ड, पैकेट आदि जाते हैं, भारत के डाकखानों में उससे कम जाते हैं। यह बात नीचे के आँकड़ों से प्रत्यक्ष हो जायगी—

देश	आबादी	चिट्ठियों की संख्या	वर्ष
भारतवर्ष	३१,८९,४२,४८०	१,२४,४४,२५,२३५	१९२४-२५
जापान	६,१०,८१,९५४	३,८०,६१,२०,०००	१९२०-२१

टाइप-राइटर के आविष्कार से अँगरेजी में प्रेस के लिये सुपाठ्य 'कापी' तैयार करने में बड़ी आसानी होती है। मगर हमारी देशी भाषाओं को टाइप-राइटर से अभी तक कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। हमारी देशी भाषाओं की वर्णमाला और अक्षर भिन्न प्रकार के हैं, उनके लिये टाइप-राइटर बने भी नहीं, और जिनके लिये बने भी हैं वे वैसी सुविधा से और वैसा संतोषजनक काम नहीं देते जैसा रोमन लिपि में। बड़ी भारी असुविधा यह है कि संस्कृत-वर्णमाला में संयुक्त अक्षरों की बहुलता है, दूसरी बात यह है कि व्यंजनों से मिलकर स्वर एक नया ही रूप धारण कर लेते हैं। ये दोनों कठिनाइयाँ इस प्रकार दूर हो सकती हैं कि हम बिना हलंत चिह्न के ही यह मानने लगें कि प्रत्येक व्यंजन में स्वर 'अ' संमिलित नहीं है। अभी तक हम लोग संपूर्ण व्यंजनों में 'अ' की उपस्थिति मानते हैं। उदाहरण के लिये—'करके' शब्द इस प्रकार लिखा जाय 'कअरअकए' जो रोमन में Karake होगा, या 'भक्ति' शब्द यों लिखा जाय 'भअक्तइ' जो रोमन अक्षरों में Bhakti होगा।

टाइपराइटिंग मशीनों की कमी देशी भाषाओं के पत्रों के प्रचार में जितनी बाधक है उससे कहीं बढ़कर बाधक देशी भाषाओं के 'लिनोटाइप' 'मोनोटाइप' आदि टाइप ढालने की मशीनों का न होना है। जब तक इस प्रकार की मशीनें नहीं बनतीं तब तक देशी भाषाओं के दैनिक पत्र उतनी शीघ्रता से और उतनी ताजी खबरें पाठकों तक नहीं पहुँचा सकेंगे, जितनी अँगरेजी दैनिक पहुँचाते हैं। एक और बड़ी असुविधा यह है कि देशी और विदेशी समाचारों के तार अँगरेजी भाषा में आते हैं। अँगरेजी पत्र उन्हें सीधे प्रेस में कंपोजीटरों के पास भेज देते हैं, परंतु देशी भाषा के पत्रों को उनका अनुवाद करना पड़ता है। रिपोर्ट लेने में भी देशी भाषाओं में उतनी उन्नति नहीं हुई जितनी अँगरेजी में हुई है; अतः रिपोर्ट भी अँगरेजी में लेकर उसका अनुवाद करना पड़ता है। मैं इन बातों पर इसलिये विशेष जोर दे रहा हूँ कि अँगरेजी के पत्र भारत के जन-साधारण की समाचार-तृषा, मत-तृषा और ज्ञान-तृषा को कभी संतुष्ट नहीं कर सकते; क्योंकि भारत के सवा दो करोड़ साक्षर लोगों में अँगरेजी जाननेवालों की संख्या केवल ढाई लाख या एक-दशांश ही है। जब भारत में प्रारंभिक शिक्षा अनिवार्य हो जाएगी तब देशी भाषाओं के पढ़े-लिखों और अँगरेजी पढ़े-लिखों की संख्याओं का यह अंतर घटने के स्थान में कहीं अधिक बढ़ जायगा। अतएव भारत में पत्रकार-कला के विकास के लिये हमें देशी भाषाओं के पत्रों पर ही निर्भर करना पड़ेगा।

हिंदी-भाषा-भाषियों की संख्या देश में सबसे अधिक है, इस कारण से भविष्य में पत्रकारों के लिये सबसे बड़ा क्षेत्र हिंदी ही में है।

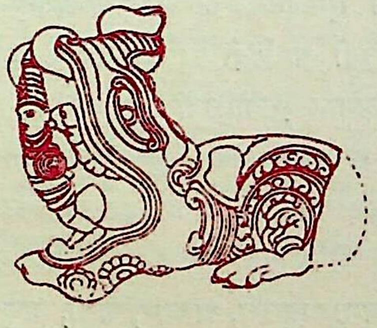

हिंदुस्तानी का सबसे प्राचीन व्याकरण

डॉक्टर सुनीतिकुमार चट्टोपाध्याय, एम० ए० (कलकत्ता), डी० लिट्० (लंडन)

देश-भाषा का व्याकरण लिखना भारतवर्ष में कुछ नई बात नहीं। ऋषि पाणिनि ने जब संस्कृत का व्याकरण बनाया तब उन्होंने संस्कृत को देश-भाषा में ही लिया था। अष्टाध्यायी में संस्कृत का नाम 'लौकिक' ही बताया गया है। इसके परवर्त्ती काल में प्राकृतों के कई व्याकरण रचे गए, अपभ्रंश की भी आलोचना हुई; इधर संस्कृत ने प्राचीन होने के कारण 'लौकिक' पदवी से 'देव-भाषा' की पदवी पाई, उधर संस्कृत के सिवा और भाषाओं को ही देश-भाषा या चालू बोली समझकर लोगों ने व्याकरणों का सहारा लेकर इनकी चर्चा की। पर प्राकृतोत्तर युग में पंडितों में देश-भाषा का आदर कम होता गया, यहाँ तक कि विद्वत्समाज में देश-भाषा की चर्चा करने की आवश्यकता भी किसी को प्रतीत नहीं हुई। मुसलमानों के आक्रमण से प्राचीन विद्या के संरक्षण में ही पंडित लोग इतने व्यस्त थे कि देश की चालू बोलियों पर नजर डालने का किसी को अवसर ही न था। संस्कृत और कहीं-कहीं प्राकृत के पठन-पाठन के लिये नए व्याकरण लिखे गए, सैकड़ों टीका-टिप्पणियाँ बनीं; पर किसी विद्वान् ने पूर्वी, व्रज, डिंगल, गुजराती, मराठी, मैथिल, बँगला, ओड़िया आदि भाषाएँ सिखाने का प्रयत्न नहीं किया—मातृभाषा के विषय में अपने सहज तथा साधारण ज्ञान को ही मातृभाषा में कवितादि रचना के लिये लोग काफी समझते थे।

मुसलमान-युग में भारतवर्ष की चालू बोलियों पर विदेशी लोगों ने सर्वप्रथम दृष्टि डाली। तुर्की और फारसी बोलनेवाले विदेशी मुसलमानों को आहिस्ता-आहिस्ता हिंदुस्तानी बनना पड़ना, उत्तर-भारत में इन्हें दो-तीन पीढ़ियों में ही हिंदवी या हिंदी को मातृभाषा के रूप में स्वीकृत करना पड़ा। तुर्की या फ़ारसी भाषा बोलनेवाले विजेता मुसलमान देशवासियों से मिलने लगे। उनकी औलादों की नसों में हिंदुओं का खून बहा। बहुत-से हिंदू मुसलमान बने। मुसलमान होते हुए भी उनके रोम-रोम में हिंदूपन विराजमान था। इन मिश्रित मुसलमानों में जो शिक्षित तथा कौतूहलप्रिय थे और जिनमें इस्लामी कट्टरपन नहीं था, वे फ़ारसी और अरबी की तालीम खतम करके अपने वतन की हिंदू-संस्कृति से आकृष्ट हुए। ऐसे ही विदेशी खानदानों में अमीर ख़ुसरो, अकबर, फैजी, अबुल फ़जल, खानखाना अब्दुर्रहीम

और दारा शेकोह की पैदाइश हुई। भारतीय मुसलमान भी अपनी जातीय संस्कृति से विच्युत नहीं हुए। इन दोनों किस्म के आदमियों में भाषा-साहित्य का आदर हुआ, भाषा सीखने का आग्रह दिखाई दिया, और इन्हीं की चेष्टा तथा इन्हीं के उत्साह से मुगल-युग में भारतीय देश-भाषा के दो-एक व्याकरण बने। मेरे मित्र, शांतिनिकेतन-विश्वभारती के फारसी तथा उर्दू के अध्यापक, मौलवी जियाउद्दीन साहब को किसी भारतीय मुसलमान विद्वान् ने फारसी में लिखे हुए व्रजभाषा के एक व्याकरण तथा व्रजभाषा-काव्य एवं अलंकार-विषयक ग्रंथ का पता बताया, जो औरंगजेब बादशाह के शासन-काल में रचा गया था। आप इस समय इस पुस्तक को प्रकाशित करने का प्रबंध कर रहे हैं। पुस्तक निकलने से हमें ईसा की सत्रहवीं सदी के अंतिम भाग के फारसी-दाँ मुसलमानों के व्यवहार के लिये लिखी हुई भाषा-विज्ञान की एक अच्छी पुस्तक मिलेगी, जिसमें दिए हुए व्रजभाषा के व्याकरण को हम हिंदी के एक विशिष्ट रूप का सबसे प्राचीन व्याकरण कह सकते हैं।

व्रजभाषा तथा साहित्य-विषयक फारसी में लिखी हुई इस पुस्तक का रचना-काल हम नहीं जानते हैं। लेखक ने अपनी किताब में सिर्फ इतना ही कहा है कि औरंगजेब बादशाह के जमाने में यह पुस्तक रची गई। समय शायद सत्रहवीं शताब्दी का अंतिम चरण होगा। पर इसी समय के एक योरोपियन की लिखी हुई हिंदुस्तानी—खड़ी बोली—के व्याकरण की एक पुस्तक हमारे समक्ष है, जो हिंदुस्तानी का सबसे प्राचीन व्याकरण है। ऐसी पुस्तक का विवेचन हिंदी-संसार के लिये कौतूहलोद्दीपक होगा।

सन् १८९५ के जनवरी महीने में इटली के रोम नगर की Reale Accademia dei Lincei सभा में इटली-देशीय पंडित 'सिञोर एमिल्यो तेत्सा' (Signor Emilio Teza) ने इस व्याकरण पर आधुनिक विद्वन्मंडली का ध्यान आकृष्ट किया था। भारतीय भाषातत्त्व के आलोचकों के अग्रणी सर जार्ज अब्रहम ग्रियर्सन ने तदनंतर भारतवर्ष में इस पुस्तक की बात सुनाई। अपने विराट् ग्रंथ 'Linguistic Survey of India' के हिंदी-विषयक खंड में ग्रियर्सन साहब ने इस व्याकरण का एक छोटा-सा वर्णन और इसके लेखक का कुछ परिचय भी दिया है (L. S. I., Vol. IX, Part I, पृष्ठ ६-८)।

उपर्युक्त वर्णन पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि सिञोर-तेत्सा और ग्रियर्सन साहब—इन दोनों महोदयों—ने मूल पुस्तक का अवलोकन नहीं किया। पुस्तक तो 'जोहन जोशुआ केटेलेर' (Johan Joshua Ketelaer) की लिखी हुई थी; पर प्रकाशित की गई थी हालैंड के लाइडन (Leyden) नगर से सन् १७४३ ईसवी में 'दावीद मिल् वा मिल्लिउस्' (David Mill या Millius) नामक एक पंडित द्वारा। 'केटेलेर' हालैंड की ईस्ट इंडियन कंपनी के एलची थे और उन्हें सूरत से दिल्ली, आगरा और लाहौर आना पड़ा था। ग्रियर्सन साहब का अनुमान है कि सन् १७१५ ईसवी के करीब केटेलेर ने अपना व्याकरण रचा होगा।

इँगलैंड में अवस्थान करते समय दावीद मिल् या मिल्लिउस् द्वारा प्रकाशित केटेलेर की इस दुष्प्राप्य व्याकरण-पुस्तक की एक प्रति मेरे हाथ आई। मैंने उसे एक पुरानी पुस्तकों की दूकान से खरीदा। यह पुस्तक लैटिन में है और इसमें इस्लाम तथा यहूदी धर्मों के विषय में कई प्रबंधों के साथ-साथ लैटिन में केटेलेर का हिंदुस्तानी व्याकरण, फारसी व्याकरण, लैटिन-हिंदुस्तानी-फारसी-धातुपाठ, लैटिन-हिंदुस्तानी-फारसी-अरबी-शब्दकोष, तथा हिंदुस्तानी के समोच्चारणयुक्त कुछ शब्दों

का संग्रह आदि बातें दी हुई हैं। पुस्तक-प्रकाशक मिल् ने अपनी भूमिका में लिखा है कि केटेलेर की पुस्तकें हालैंड की भाषा—डच—में थीं, जिनका स्वयं उन्होंने (मिल् ने) लैटिन में अनुवाद किया। मिल् अरबी, हिब्रू आदि प्राच्य भाषाओं के पंडित थे, और हालैंड की उत्रेख्त् (Utrecht) नगरी के विश्वविद्यालय में प्राच्य भाषाओं के अध्यापक थे।

हालैंड के लाइडन नगर में 'कर्न इंस्टीट्यूट (Kern Institute) नामक एक नवीन सभा है। वह भारत तथा बृहत्तर भारत की संस्कृति की आलोचना के लिये स्थापित की गई है। उसके मुख्य अधिष्ठाता स्वनामधन्य पंडित 'डाक्टर फोगल' (Dr. J. Ph. Vogel) ने अपने औदार्य से स्वयं हमें एक पत्र लिखकर केटेलेर के व्याकरण के विषय में बहुत-कुछ तथ्य बताए हैं। उनसे पता चलता है कि केटेलेर ने हिंदुस्तानी और फारसी दोनों भाषाओं के व्याकरण डच भाषा में लिखे थे और इस मूल डच पुस्तक की एक नकल 'इसाक फान दर् हूफे' (Isaac van der Hoeve) नामक एक हालैंडीय ने सन् १६९८ ईसवी में लखनऊ में की थी। यह नकल आज-कल हालैंड के हेग (Hague) नगर के पुराने राजकीय पत्रों के संग्रहालय में संरक्षित है, और मिल् ने शायद इसी प्रति से अपना लैटिन उल्था किया था।

अब मैं इस पुस्तक का कुछ परिचय दूँगा। यह व्याकरण सचमुच एक छोटी पुस्तक है। हिंदुस्तानी पदसाधन के कुछ सूत्रमात्र उदाहरण के साथ इसमें दिए गए हैं। ४५५ पृष्ठ से ४८८ पृष्ठ तक, इन बत्तीस पन्नों में ही, कुल व्याकरण आ गया है। आज-कल इतनी छोटी पुस्तक काफी नहीं समझी जाएगी।

पुस्तक आद्यंत रोमन लिपि में छपी है—हिंदुस्तानी शब्द रोमन ही में दिए गए हैं। केटेलेर की मातृभाषा जर्मन थी; पर उसने यह पुस्तक डच भाषा में—विशेषतया डच लोगों के लिये ही—लिखी थी; इसलिये रोमन वर्णों के मुख्यत: डच उच्चारण ही इसमें व्यवहृत हुए हैं। डच भाषा में हमारे परिचित रोमन अक्षरों के उच्चारण में कुछ विशेषता आ जाती है। पुस्तक के प्रथम पैराग्राफ में ग्रंथकार ने Akàr Nágari या नागराक्षर के संबंध में कुछ विचार किया है। ग्रंथकार का कहना है कि ब्राह्मणों में एक प्रकार की पवित्र वर्णमाला का व्यवहार है जो विशेषतया Bhanaras (बनारस) या Kascha (काशी) के विद्यालय में पाई जाती है। साधारण अ-मुसलमान हिंदुस्तानियों में एक दूसरे प्रकार की वर्णमाला का प्रचलन है जो Akàr Nágari 'अक्षर नागरी' कहलाती है। इस उक्ति से ज्ञात होता है कि केटेलेर साहब ने गलती से संस्कृत को भाषा न समझकर लिपि-रूप से ही उस पर विचार किया था। ब्राह्मणों में व्यवहृत प्राचीनतम लिपि का नाम उन्होंने 'देवनागर' बताया है। उन्होंने यह भी लिखा है कि महाराष्ट्रीय ब्राह्मणों में देवनागरी अक्षर 'बालबंधु' नाम से प्रचलित हैं। तंगुती या प्राचीन तथा आधुनिक तिब्बती और मंगोल-जाति की वर्णमालाओं के साथ हिंदुस्तान के हिंदुओं की वर्णमाला बराबरी रखती है। मुसलमानों में फारसी अक्षर प्रचलित हैं। उनका कथन है कि हिंदुस्तानी भाषा दो प्रकार की है—एक Padtanica (पटनाई), जो Patthana (पटना) शहर के नाम से विदित है, और दूसरी Daknica (दखनी) अर्थात् 'Dhakon', 'Dhakan' या दखन (दक्षिण ?) प्रदेश की।

पुस्तक में वर्णमाला के पाँच चित्र दिए गए हैं—प्रथम में नागरी अक्षर (Akàr Nágari) नाम से और द्वितीय में 'देवनागरम्' (Devanagaram) और 'बालबंधु' (Balabandu) नाम से। ऐसे ही तीन

दफे नागरी वर्णमाला दी गई है। तृतीय चित्र में प्राचीन और नवीन तिब्बती अक्षर तथा मंगोल अक्षर हैं। इन तीनों चित्रों के अक्षर बहुत खराब हैं। चतुर्थ चित्र में 'ब्राह्मण वर्णमाला' (Alphabetum Brahm) नाम से फिर देवनागर-वर्णमाला, और पंचम चित्र में बँगला-वर्णमाला हैं। इन दोनों चित्रों को लिपियाँ बड़ो ही सुंदर हैं। ये अंतिम दोनों चित्र बंगाल से मिले हैं; क्योंकि इनमें वर्णों के साथ-साथ रोमन अक्षरों में जो उच्चारण दिए गए हैं वे बंगालियों के उच्चारण के अनुसार हैं (जैसे 'ङ' वर्ण का नाम दिया है oua—बँगला नाम 'उवाँ'; 'ञ' = iha—अर्थात् ia, बँगला नाम 'इयाँ'; 'ण' = ana = बँगला 'आनो'; 'श, ष, स' = sha, sa, sa; यदि हिंदी के अनुसार होता तो sha, kha, sa लिखा जाता; 'क्ष' = kha, बँगला 'ख्य')। प्रथम चित्र में अक्षरों के नीचे संख्या-चिह्न दिए हैं, और इन संख्याओं के अनुसार पुस्तक में अक्षरों के उच्चारण छपे हैं। द्वितीय चित्र में 'देवनागरी' और 'बालबंधु' अक्षरों के साथ-साथ रोमन अक्षरों में उच्चारण लिखे हैं। प्रथम और द्वितीय चित्र में जो तीन दफे देवनागरी अक्षर लिखे हैं, उनके रोमन प्रत्यक्षरीकरण (Roman transliteration) में बहुत-कुछ अंतर है। इससे प्रकट होता है कि ग्रंथकार या प्रकाशक ने विभिन्न स्थानों से सोच्चारण नागरी लिपि संग्रह की है।

पुस्तक में नागरी अक्षरों के प्रत्यक्षर इस प्रकार दिए हैं—अं = ang, अः = gha; क = ka, ष (= ख) ka, ग = ka, घ = dgja, ङ = nia; च = tgja, छ = tscha, ज = dhea, झ = dgja, ञ = nia; ट = tha, ठ = tscha, ड = dha, ढ = dhgja, ण = nrha; त = ta, थ = tha, द = dha, ध = dh, न = na, प = pa, फ = p'ha, ब = ba, भ = bham, म = ma; य = ja, र = ra, ल = la, व = wa, श = sjang, ष = k'cho (अर्थात् 'ख'), स = ssa, ह = ha, ल = lang, क्ष = k'cha.।

आज से ढाई सौ साल पहले जिन बेचारे योरोपीय लोगों ने नागरी अक्षरों की आवाज कान से सुनकर उन्हें अपनी लिपि में प्रकट करने की चेष्टा की थी, वे कैसी आफत में फँसे, यह ऊपर के तीन-चार प्रत्यक्षरीकरण से प्रकट होती है। सौभाग्य से लेखक ने हिंदी-शब्दों का इस प्रकार का 'स्पेलिंग' केवल आरंभ में अक्षरों में ही व्यवहृत किया है। व्याकरण में सरल रोमन स्पेलिंग ही काम में लाया गया है, नहीं तो व्याकरण के हिंदी-शब्दों को पढ़ना लोहे के चने चबाना हो जाता। अस्तु, हिंदुस्तानी उच्चारण के विषय में पुस्तक में कुछ उपदेश नहीं दिया गया है। शब्द-रूप इस प्रकार दिए गए हैं—

Beetha बेटा शब्द

Nominativus—beetha बेटा—beethe बेटे
Genitivus—beetha ka बेटा का—beethon ka बेटों का
Dativus—beetha kon—बेटा कों—beethon kon बेटों कों
Accusativus—beetha kon—"—"—"—"—"
Vocativus—E beetha ऐ बेटा—E beethe ऐ बेटे
Ablativus—beetha se बेटा से—beethe se बेटे से

Boedia बुढ़िया शब्द

N. boedia बुढ़िया—boedien बुढ़ियें
G. boedia ka बुढ़िया का—boedion ka बुढ़ियों का
D. boedia kon बुढ़िया कें—boedion kon बुढ़ियों कें
Acc. boedia kon—"— —"— —"—
Voc. E boedia ए बुढ़िया—E boedien ए बुढ़ियें
Abl. boedia se बुढ़िया से—boedion se बुढ़ियों से

Admi आदमी शब्द

admi आदमी—admion आदमीओं (आदमियों ?)
admi ka, ke आदमी का, के—admion ka आदमीओं का
admi kon आदमी कें—admion kon आदमीओं कें
e admi ए आदमी—e admion ए आदमीओं
admi se आदमी से—admion se आदमीओं से

और शब्द—beethi बेटी, बहुवचन में beetia बेटिया (बेटियाँ ?); aandhoe आँडू (बैल), बहुवचन में aandhoeon आँडूओं; dsjoeroe जोरू, बहुवचन dsjoeroeon जोरूओं; baab बाप, बहुवचन baabe बापे; ank आँख, बहुवचन anke आँखे (आँखें ?)—इत्यादि।

शब्द-रूप में कर्त्तृकारक और कर्त्तृकारक के सिवा अन्य कारकों के प्रातिपदिक में पार्थक्य नहीं दिखाया गया है। 'का, के, की' का भेद कुछ नहीं बताया है। सर्वनाम शब्दों के रूप इस प्रकार दिखाए गए हैं—

N. me मैं—ham हम
G. meere मेरे—apre अपरे (=अपणे ? अपने)
D. mukon मुकों, मोकों—hamkon हमकें
Ac. meera मेरा—hammare हमारे
V. e me ऐ मैं—e ham ऐ हम
Ab. mese मैंसे (मोसे, मुझसे)—hamse हमसे

N. toe तू—tom तोम्=तुम
G. teera तेरें—tommare तोम्मारे=तुम्हारे
D. teere kon तेरे कें—tomkon तुमकें
Ac. teera तेरा—tommare=तुम्हारे
V. e toe ऐ तू—e tom ऐ तुम
Ab. toese तू से—tomse तुमसे।

सर्वनाम के उत्तम और मध्यम पुरुष के कर्म-कारक के रूप 'मुझे' और 'तुझे' कर्मवाच्य क्रियापद के विवेचन में लाए गए हैं।

N. whe वह—inne इन (इन्हें ?)
G. isseka इसका—inneke इनके
D. issekon इसकों—innekon इनकों
Ac. whe वह—inneka इनका
V. e whe ऐ वह—e inne ऐ इन
Ab. isse इससे—innese इनसे

प्रश्नसूचक सर्वनाम भी दिए गए हैं। kja क्या; kjon, kon क्यों, कौन—ये दोनों व्यक्तिवाचक बताए गए हैं। प्रश्नसूचक सर्वनाम के प्रयोग इस प्रकार हैं—

kon he कौन है
kon he oeder कौन है उधर
kon dourte कौन दौड़ता
kon bolte कौन बोलता
kja ghabber क्या खबर

kja tsjeyte क्या चाहता
kjon ney क्यों नहीं
kis waste किस वास्ते
kjon क्यों (=कैसे)
kitte कित्ता (=कितना)

सर्वनाम षष्ठी विभक्ति से संबद्ध पद स्त्रीलिंग होने से षष्ठी विभक्ति में जो 'ई' प्रत्यय आता है उसका यह उदाहरण दिया है—Meera baab मेरा बाप, teere baab तेरे (=तेरा) बाप; meeri maa मेरी माँ, teeri maa तेरी माँ; hammare bhay हमारा भाई; tommari bhen तुम्हारी बहन; apre gorra अपणे घोड़ा; apre maal अपणे माल।

उत्तम और मध्यम पुरुष के सर्वनामों में 'गौरवे बहुवचनम्' सूत्र के अनुसार, अर्थात् आदर प्रदर्शित करने के लिये, जो एकवचन के स्थान में बहुवचन का व्यवहार किया जाता है, उसके रूप इस प्रकार दिए गए हैं—ham हम = nos etiam ego 'हम तथा मैं' दोनों अर्थ में; तद्वत् tom तुम = एकवचन (आदरे) तथा बहुवचन; तैसे ही hammare, tommare—एकवचन तथा बहुवचन में। पुनः Toe, Tom 'तू, तुम' का पार्थक्य इस प्रकार बताया है—Tom saheb hai तुम साहब है, tom meera saheb he तुम मेरा साहब है; Toe tsjaker he तू चाकर है; Toe meera goelam he तू मेरा गुलाम है।

नव्यर्थक अनुज्ञा में क्रियापद के साथ mat 'मत' अव्यय का प्रयोग दिखाया है—mat dsjauw मत् जाओ; mat kauw मत् खाओ; doure mat दौड़े मत्; koo mat कहो मत्; sooè mat सोए मत्।

इस प्रकार सर्वनाम-पर्व समाप्त करके, ग्रंथकार ने ie, je 'ई' तद्धित के संयोग से विशेषण शब्द किस रीति से भाववाचक विशेष्य बन जाते हैं उसके उदाहरण दिए हैं—

Ghoeb खूब—Ghoebje खूबी
Gosse गुस्सह—Gossie गुस्सी
Duwanna दिवाना—Duwannie दिवानी

Sorauwer जोरावर—Sorauwerien जोरावरी
Tsjenga चंगा—Tsjengäie चंगाई
Sacht सख्त—Sachtie सख्ती

Alla अल्लाह—Allahie अल्लाही

इसके बाद विशेषण-पर्याय है। पहले ही तारतम्य का विचार लिखा है—issoe 'इससू' (=इससों, इससे); और sabsoe 'सबसू' प्रयोग द्वारा कैसे हिंदुस्तानी का काम चलता, यह दिखाया है—

kalla काला, issoe kalla इससू काला;
karwa कड़ुवा, issoe karwa इससू कड़ुवा;

gerra गहरा, issoe gerra इससू गहरा;
moetha, issoe moetha मोटा, इससू मोटा;

Sabsoe ghoeb सबसू खूब, sabsoe kerwa सबसू कड़ुवा; इत्यादि।

तदनंतर *daar, gaar,* tsje, wala, daas अर्थात् 'दार, गार, ची, वाला, दाज' प्रत्ययों के योग से कर्त्तृवाचक विशेष्य बनाने की रीति उदाहरणों द्वारा दिखाई है—

Carres, carresdaar कर्ज, कर्जदार;
Darrie, darriedaar दाढ़ी, दाढ़ीदार;
Tsjockje, tsjockjedaar चौकी, चौकीदार;
Kesmet, kesmetdaar खेजमत् (खिदमत), खेजमददार;
Toop, Tooptsje तोप, तोपची;
Banduch, Banduchtsje बंदूक, बंदूकची;
Lackri, Lackriwalla लकड़ी, लकड़ीवाला;
Patter, Patterwalla पत्थर, पत्थरवाला;
Tier, Tierendaas तीर, तीरंदाज; Degge, Deggedaas दिक्क, दिक्कदाज।

और, Nischan—Nischanberdar निशान, निशानबरदार; तथा Sonna—Sonnaar सोना, सोनार—ये दो शब्द गलती से 'दार'-प्रत्ययांत शब्दों में शामिल किए गए हैं।

कई 'I' 'ई'कारांत शब्दों के उत्तर स्त्रीलिंग में en 'इन' प्रत्यय होता है, उसके उदाहरण ये हैं—Dhoobi—dhooben धोबी, धोबिन; Gharadi—gharaden गरेड़ी (गड़ेरी ?), गरेड़िन; Malie—Malen माली, मालिन; Mootsje—Moetsjen मोची, मोचिन।

आदरार्थे dsjieve 'जीव' (जी) शब्द का व्यवहार बताया है—

Baab dsjieve बाप जीव; Saheb dsjieve साहब जीव; Bhen dsjieve बहन जीव; Doost dsjieve दोस्त जीव; Doostru (शायद मुद्रण-प्रमाद से doostni हो गया होगा) dsjieve दोस्तनी जीव।

'अमुक' अर्थ में Fallaan 'फलाँ' शब्द हिंदुस्तानी में व्यवहृत होता है, यह भी बताया है।

तदनंतर soe 'सू' और se 'से' post position या अनुसर्ग से कैसे तारतम्य प्रदर्शित होता है, उसके दो उदाहरण देकर विशेषण-पर्याय समाप्त किया गया है—Admi gora soe ghoeb ha आदमी घोड़ा सू खूब है; Hatti bhel se barra he हाथी बैल से बड़ा है।

इसके बाद, क्रियापद की आलोचना की गई है। अस्ति-वाचक 'हो' धातु का रूप सबसे पहले दिया गया है। इस धातुरूप में बहुत-कुछ ऐसी विशेषताएँ दिखाई गई हैं जो आज-कल की बोली में नहीं दिखाई देतीं। संभव है कि वहुत-से प्रयोग या उदाहरण लेखक ने गलती से दिए हों।

[१] Præsens (वर्त्तमान)	[२] Imperfectum (अतीत)
Me he मैं है (=हूँ)—Hom hoe हम हू	Me hoea मैं हुआ—Ham hoee हम हुए
Toe he तू है—Tom hoe तुम हू	Toe hoea तू हुआ—Tom hoee तुम हुए
Whe he वह है—Inne hoe इने हू	Whe hoea वह हुआ—Inne hoee इने हुए

[३] Perfectum (अनद्यतन अतीत)	[४] Plusquam Perfectum (समाप्त अतीत)
Me, Toe, whe hoee tha मैं, तू, वह हुए था	Me, Toe, whe hougea हो गया
Ham, Tom, Inne hoee the हुए थे	Ham, Tom, Inne hougee होगे (=गए)

[५] Futurum (भविष्यत्)	[६] Futurum Secundum (द्वितीय प्रकार का भविष्यत्)
एकवचन (तीनों पुरुषों में) hunga हूँगा	एकवचन (तीन पुरुष) hoonga होवोंगा
बहुवचन——"——hunge हूँगे	बहुवचन (") hoonge होवोंगे (=होऊँगा, होवेंगे)

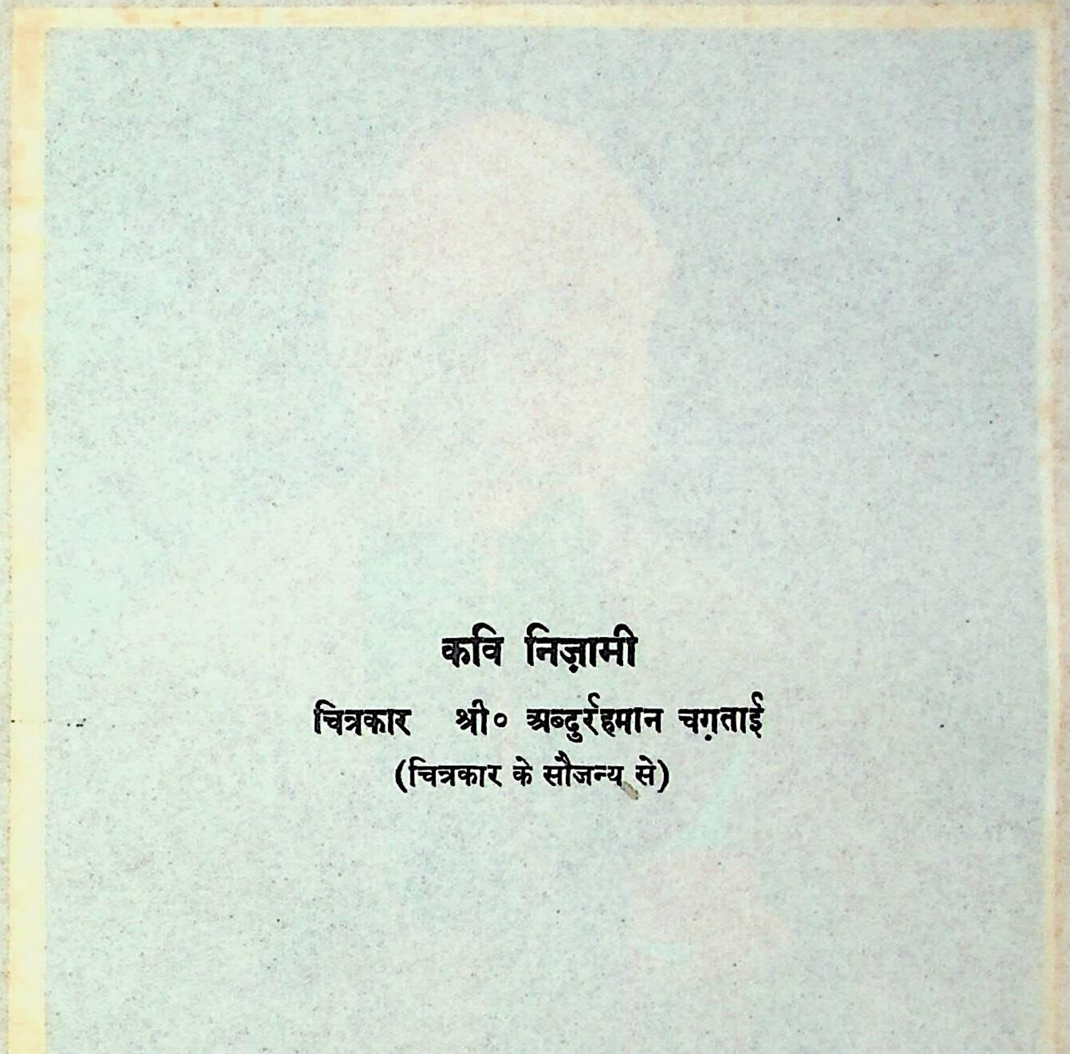

कवि निज़ामी

चित्रकार श्री० अब्दुर्रहमान चग़ताई

(चित्रकार के सौजन्य से)

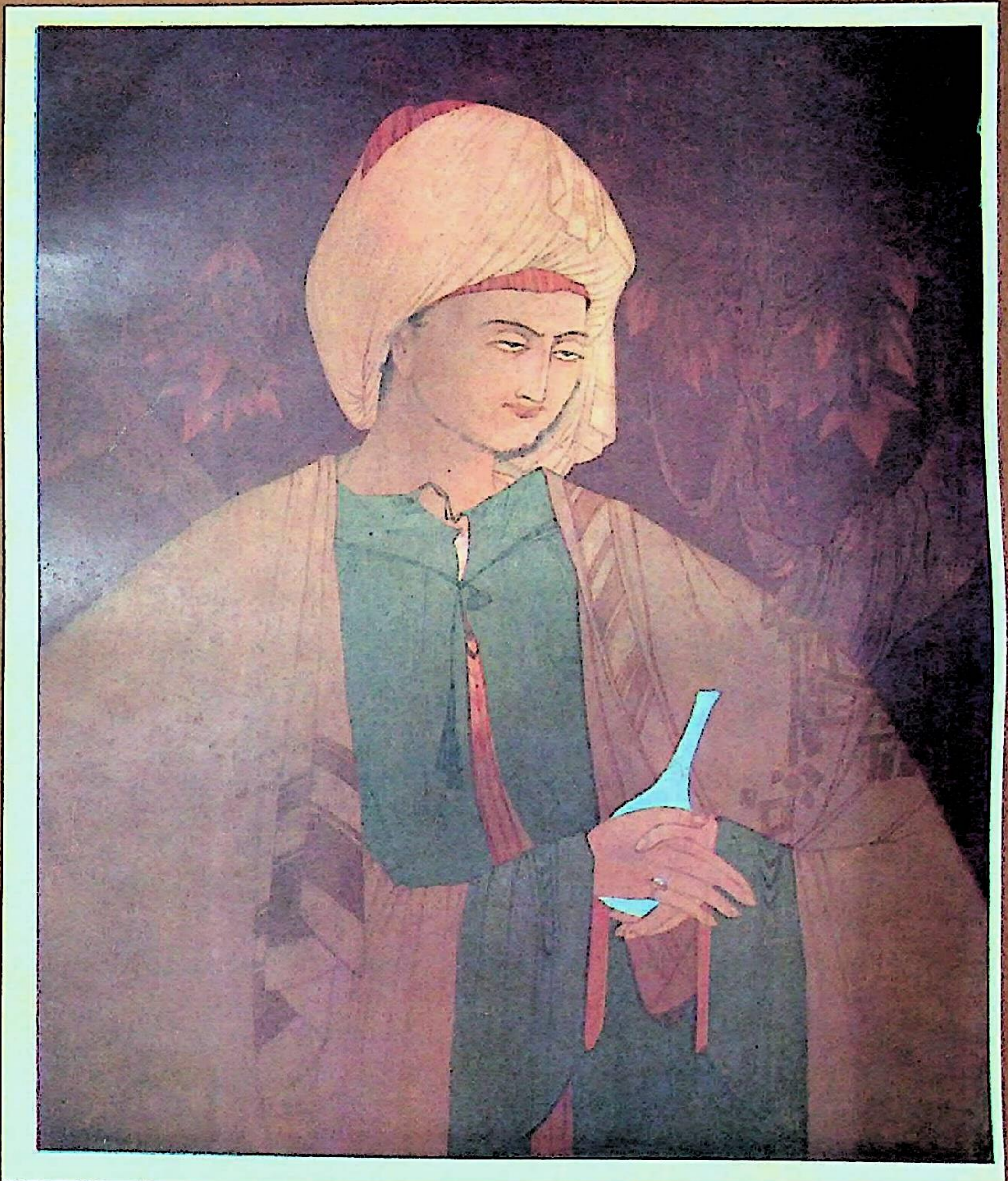

[७] Imperativus (अनुज्ञा)

Toe ro तू रह, Tom roe तुम रहो (?)

[८] Infinitivus (असमापिका क्रिया)

Hoea हुआ, Hoee होइ(=हो ? हुए ?)

इसी प्रकार karna 'करना' धातु के संपूर्ण रूप दिए हैं—

Præsens (वर्त्तमान)—Kartæ करता, बहुवचन karte करते;

Imperfectum—Karta tha करता था, karte the करते थे;

Perfectum—Kar tsjoekæ कर चुका, kar tsjoeke कर चुके;

Perfectum Secundum—Kia किया, बहुवचन में kie किए (कर्त्तरि प्रयोग माना गया है, अर्थात् क्रियापद कर्त्ता के अनुसार बदलता है, कर्म के अनुसार नहीं)।

Plusquam Perfectum— kia tha किया था, kie the किए थे।

Futurum—karonga करूँगा, karonge करूँगे।

Futurum Secundum—karrega करेगा, karrige करीगे।

(ये दोनों प्रकार के भविष्यत् काल कैसे दिए गए हैं, इसका पता नहीं चलता—संभवतः लेखक की भूल से ऐसा हुआ है)।

Imperativus—Toe karro तू करो, Tom karre तुम करें।

Infinitivus—karre करे, अथवा karne करने।

ऐसे ही और पाँच धातुओं के रूप भी प्रदर्शित किए गए हैं। यथा—

[१] खा धातु—kghattæ खाता, kghatte खाते; kghatta tha खाता था, kghatte the खाते थे; khoeya खूया=खाया, khoeye खूए=खाए। दो प्रकार के भविष्यत्—Khaoungæ खाऊँगा, Khaounge खाऊँगे; तथा khavigæ खाविगा, khavigé खाविगे। अनुज्ञा—Toe, Tom kau तू, तुम खाओ।

[२] पी धातु—piethæ पीता, piethe पीते; piee thæ पिए था, pie the पिए थे (गलती से ऐसा छपा है, असल में—pieta tha पीता था, piete the पीते थे—होना चाहिए।) piea पिया, piee पिए; piee tha पिए था=पिया था, pie the पिए थे; भविष्यत् pieonga पीऊँगा, pieonge पीऊँगे। (इस धातु में तथा इसके बाद 'गा' धातु तथा 'हँस' धातु के रूपों में भविष्यत् एक ही प्रकार का माना गया है)।

[३] गाना धातु—(gauna गावना धातु)=gauta गावता, gaija गाइया (गाया), Me gauta tha tsjoeka मैं गावता था चुका; gauonga गावोंगा; Toe gau तू गाव; gauwena गावना—इत्यादि।

[४] 'हँस' धातु—haste हँसते; hasta tha हँसता था; hassæ, hasse हँसा, हँसे; hassonga हँसोंगा (हँसूँगा); इत्यादि।

इसके बाद पृष्ठ ४७४ पृष्ठ ४८५ तक क्रियापदों के अनेक प्रकार के रूप और प्रयोग दिखाए गए हैं। दृष्टांत-स्वरूप कुछ प्रयोग उद्धृत किए जाते हैं—Tad me kay tsjoeke तद मैं खाय चुका; Me nimaas kar tjoekke मैं नमाज कर चुका; Me somsjoenge मैं समझाऊँगा; Me dsjievong मैं जीऊँगा; Me tsjets bol tsjoekkha tha मैं सच बोल चुका था; Me lerreghe=मैं लड़ेगा; Me kut kaye मैं कट

खाया (अतीत कर्त्तरि); Me dsjawaab dia tha मैं जवाब दिया था; Me lechte मैं लिखता; Me tsjop reonga मैं चुप रहूँगा; इत्यादि ।

कर्मवाच्य की क्रिया की आलोचना में सर्वनाम misjæ 'मुझे' और toesjæ 'तुझे' का प्रयोग दिखलाया गया है । यथा—

Misjæ peaar karte मुझे प्यार करते; Toesjæ pakkertaja तुझे पकड़ता है; तथा—Ikkon poslaute एक कों फुसलावते; Hamkon deelassa deete हमकों दिलासा देते; Tomkon dsjellaia तुमकों जलाया; Innekon doente इन्हेकों ढूँढ़ते; Sjad me kappra penne hœæ जद मैं कपड़ा पहने हुआ; Sjad me mœae hœae जद मैं मूआ हुआ; Sjad toe cerre hœae जद तू सड़ा हुआ; Sjad whe bea karre hœae जद वह ब्याह करा हुआ; Sjad ham pokkare hœae जद हम पुकारे हुए; इत्यादि ।

ईसाई धर्म के कुछ उपदेश और विनय देकर (लैटिन मूल और हिंदुस्तानी अनुवाद, दोनों में) पुस्तक समाप्त की गई है । इन उपदेशों की भाषा भी देखने योग्य है—

Dsjoemmaka din tom jaet oor saaf racke, tsjæ din tom kam oor tommare gesmet karro, wasteke Saatme din he Godda saheb tommare allaka, tad tom mat kam karro, tom oor tommare beetha, oor tommare beethi, oor tommare londi, oor tommare dsjanauwer, oor tommare moessaffer, we tommare derwaesjæ me he, waste tsjæ din me Godda asmaan, oor sjimien benaie, derriauw oor sabke ender he, oor sustaie Saatme din, is waste Saheb saffa rackte, oor inne saat karte.

जुम्मा का दिन तुम याद और साफ राखे, छे दिन तुम काम और तुम्हारे खेजमत करो, वास्ते कि सातमी दिन है खुदा साहब तुम्हारे अल्लाह का, तद तुम मत काम करो, तुम और तुम्हारे बेटा, और तुम्हारी बेटी, और तुम्हारी लौंडी, और तुम्हारे जनावर, और तुम्हारे मुसाफर, वह तुम्हारे दरवाजा में है; वास्ते छे दिन में खुदा आसमान औ जमीं बनाया, दर्या और सबके अंदर है; और सुस्ताई सातमी दिन, इस वास्ते साहब साफा रखते, और इन्हें साथ करते ।

इस पुस्तक में दिया हुआ ईसा-मसीह की विख्यात प्रार्थना (Lord's Prayer) का अनुवाद इससे पहले ग्रियर्सन साहब की पुस्तक में प्रकाशित हो चुका है ।

केटेलेर का हिंदुस्तानी व्याकरण यहीं पर समाप्त होता है । व्याकरण के सूत्र नितांत संक्षिप्त हैं, पर थोड़ा-सा भाषाज्ञान प्राप्त कराने के लिये काफी हैं । जो हिंदुस्तानी केटेलेर ने सीखी थी और जिसे उन्होंने दूसरों को सिखाने की कोशिश की थी, उदाहरण और अनुवाद से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह शुद्ध खड़ी बोली नहीं, बाजारू बोली है—और विशेषतया बंबई, सूरत आदि दक्षिणी भू-भाग के ढंग की बाजारू हिंदुस्तानी है । थोड़ी सूक्ष्मता के साथ विचार करने से ही यह बात मालूम हो जाएगी । इसकी भाषा चाहे जैसी हो; परंतु खड़ी बोली के इतिहास की चर्चा करते समय इस व्याकरण की उपयोगिता को सभी विद्वान् स्वीकार करेंगे ।

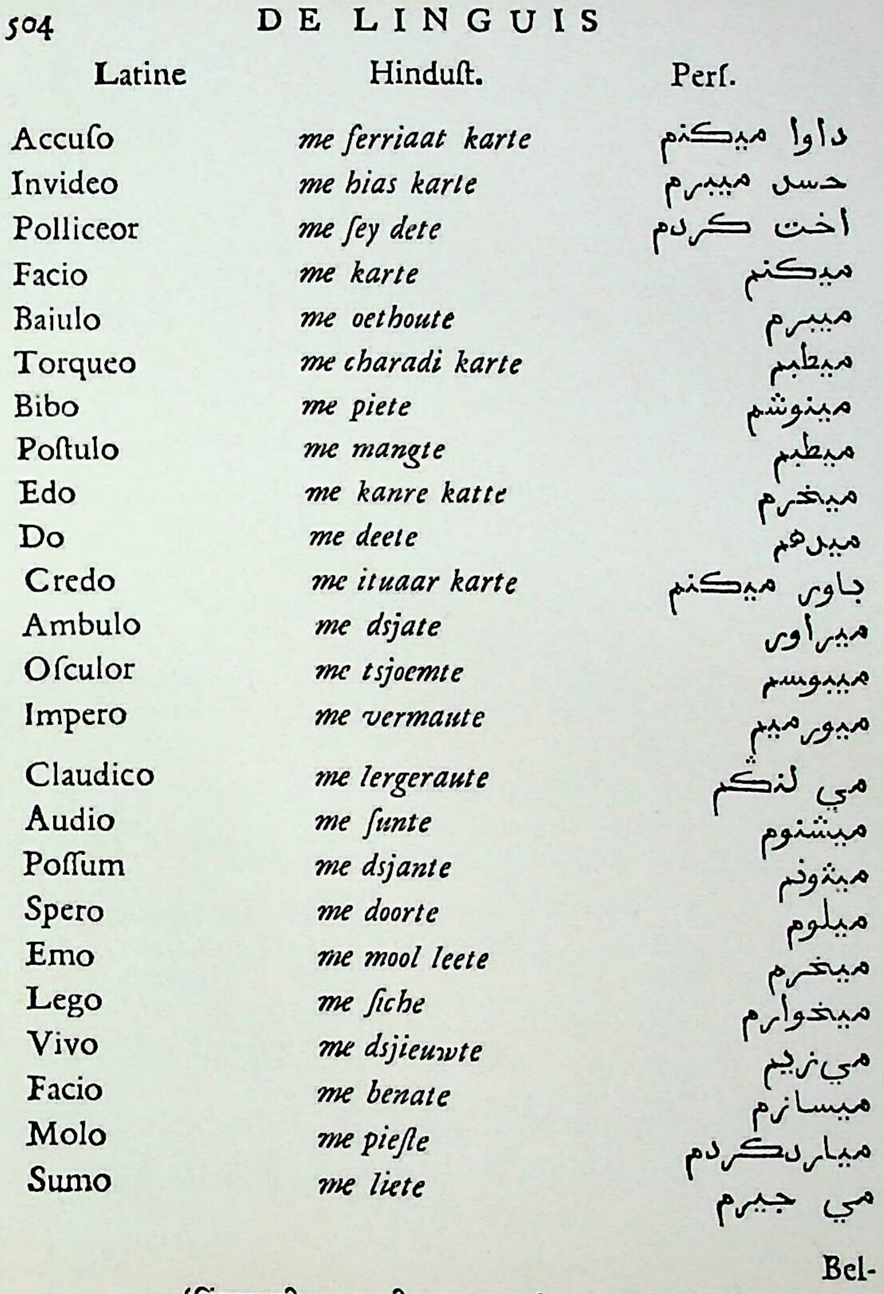

504 DE LINGUIS

Latine	Hinduſt.	Perſ.
Accuſo	*me ferriaat karte*	داوا میکنم
Invideo	*me hias karte*	حسں میبرم
Polliceor	*me ſey dete*	اخت کردم
Facio	*me karte*	میکنم
Baiulo	*me oethoute*	میبرم
Torqueo	*me charadi karte*	میطلبم
Bibo	*me piete*	مینوشم
Poſtulo	*me mangte*	میطلبم
Edo	*me kanre katte*	میخرم
Do	*me deete*	میدهم
Credo	*me ituaar karte*	باور میکنم
Ambulo	*me dsjate*	میراور
Oſculor	*me tsjoemte*	میبوسم
Impero	*me vermaute*	میورمیم
Claudico	*me lergeraute*	مي لنگم
Audio	*me ſunte*	میشنوم
Poſſum	*me dsjante*	میثونم
Spero	*me doorte*	میلوم
Emo	*me mool leete*	میخرم
Lego	*me ſiche*	میخوارم
Vivo	*me dsjieuwte*	مي زيم
Facio	*me benate*	میسازم
Molo	*me pieſte*	میارںکردم
Sumo	*me liete*	مي جيرم

Bel-

'हिंदुस्तानी का प्राचीन व्याकरण' का एक पृष्ठ

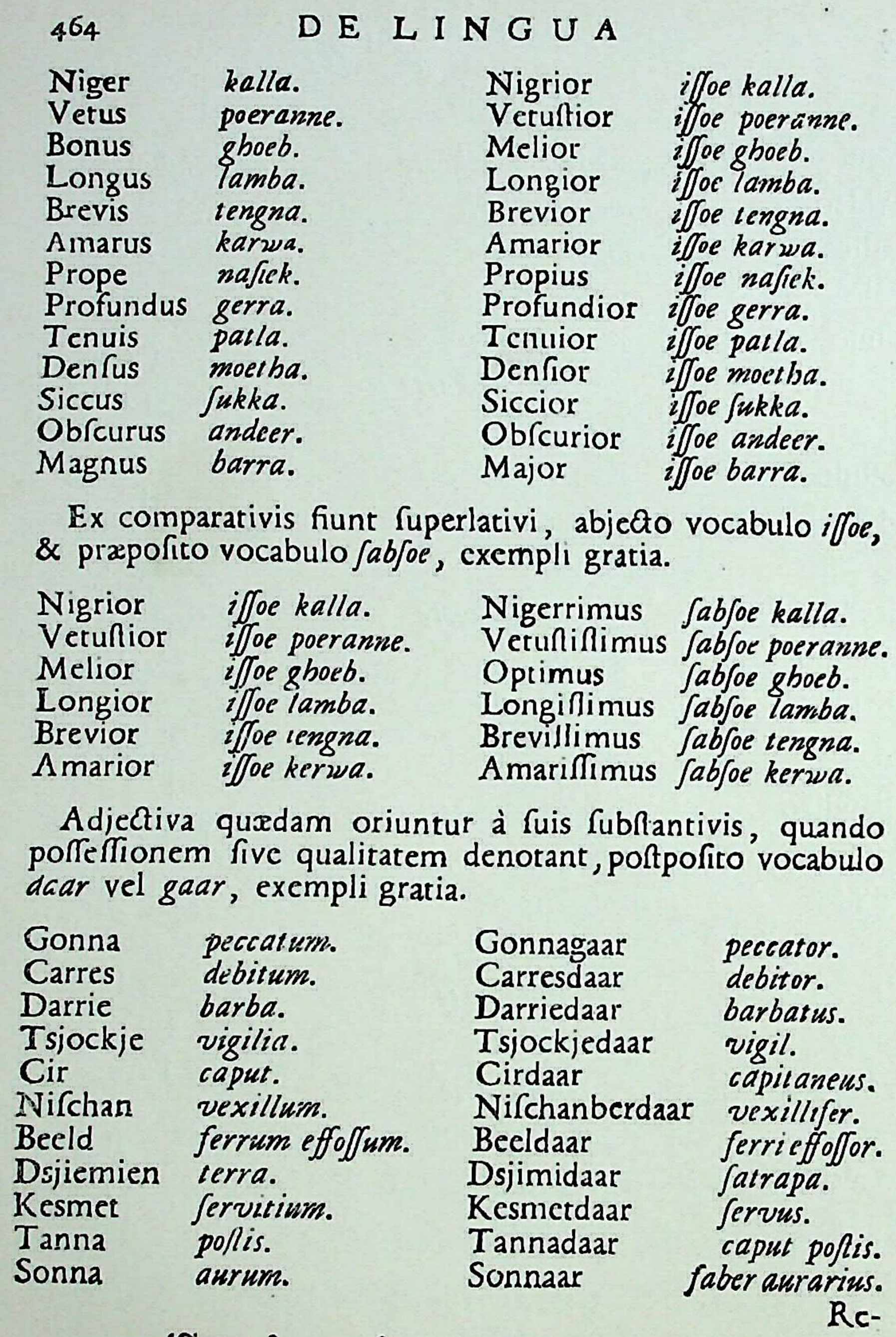

464 DE LINGUA

Niger	*kalla.*	Nigrior	*iſſoe kalla.*
Vetus	*poeranne.*	Vetuſtior	*iſſoe poeranne.*
Bonus	*ghoeb.*	Melior	*iſſoe ghoeb.*
Longus	*lamba.*	Longior	*iſſoe lamba.*
Brevis	*tengna.*	Brevior	*iſſoe tengna.*
Amarus	*karwa.*	Amarior	*iſſoe karwa.*
Prope	*naſiek.*	Propius	*iſſoe naſiek.*
Profundus	*gerra.*	Profundior	*iſſoe gerra.*
Tenuis	*patla.*	Tenuior	*iſſoe patla.*
Denſus	*moetha.*	Denſior	*iſſoe moetha.*
Siccus	*ſukka.*	Siccior	*iſſoe ſukka.*
Obſcurus	*andeer.*	Obſcurior	*iſſoe andeer.*
Magnus	*barra.*	Major	*iſſoe barra.*

Ex comparativis fiunt ſuperlativi, abjecto vocabulo *iſſoe*, & præpoſito vocabulo *ſabſoe*, exempli gratia.

Nigrior	*iſſoe kalla.*	Nigerrimus	*ſabſoe kalla.*
Vetuſtior	*iſſoe poeranne.*	Vetuſtiſſimus	*ſabſoe poeranne.*
Melior	*iſſoe ghoeb.*	Optimus	*ſabſoe ghoeb.*
Longior	*iſſoe lamba.*	Longiſſimus	*ſabſoe lamba.*
Brevior	*iſſoe tengna.*	Breviſſimus	*ſabſoe tengna.*
Amarior	*iſſoe kerwa.*	Amariſſimus	*ſabſoe kerwa.*

Adjectiva quædam oriuntur à ſuis ſubſtantivis, quando poſſeſſionem ſive qualitatem denotant, poſtpoſito vocabulo *daar* vel *gaar*, exempli gratia.

Gonna	*peccatum.*	Gonnagaar	*peccator.*
Carres	*debitum.*	Carresdaar	*debitor.*
Darrie	*barba.*	Darriedaar	*barbatus.*
Tsjockje	*vigilia.*	Tsjockjedaar	*vigil.*
Cir	*caput.*	Cirdaar	*capitaneus.*
Niſchan	*vexillum.*	Niſchanberdaar	*vexillifer.*
Beeld	*ferrum effoſſum.*	Beeldaar	*ferri effoſſor.*
Dsjiemien	*terra.*	Dsjimidaar	*ſatrapa.*
Kesmet	*ſervitium.*	Kesmetdaar	*ſervus.*
Tanna	*poſtis.*	Tannadaar	*caput poſtis.*
Sonna	*aurum.*	Sonnaar	*faber aurarius.*

Re-

'हिंदुस्तानी का प्राचीन व्याकरण' का एक पृष्ठ

हिंदुस्तानी व्याकरण के पीछे केटेलेर का फारसी व्याकरण मुद्रित है (पृष्ठ ४८९ से पृष्ठ ५०३ तक)। यह हिंदुस्तानी व्याकरण से भी संक्षिप्त है, और इसमें फारसी शब्द सिर्फ फारसी हरफों में ही दिए गए हैं, रोमन में नहीं। तदनंतर फारसी व्याकरण के शेषांश में लैटिन, हिंदुस्तानी और फारसी के १३९ क्रियापद लिखे हैं। जैसे—

Amo.—me piaar karte (मैं प्यार करता) دوست دارم
Decipio.—me deggabasi karte (मैं दगाबाजी करता) گول زدن
Bajulo.—me oethoute (मैं उठावता) میبرم
Audio.—me sunte (मैं सुनता) میشنوم
Facio.—me benate (मैं बनाता) میسازم
Gusto.—me tsakte (मैं चखता) میچشم
Pugno.—me koesti karte (मैं कुश्ती करता) جدل داشتم
Prodo.—me tsjogglie karte (मैं चुगली करता) خیانت میکنم
Mentior.—me djoet bolte (मैं झूठ बोलता) دروغ میگودن
Laetor.—me ghossjaal he (मैं खुशहाल है) شاد شدم

फिर लैटिन-हिंदुस्तानी-फारसी-अरबी का एक छोटा-सा शब्दकोष दिया है, जिसमें करीब ६२५ शब्द हैं (पृष्ठ ५१० से पृष्ठ ५९८ तक)। इस शब्दकोष के अरबी शब्दों पर कुछ टिप्पणियाँ दी गई हैं—पन्नों का आधे से अधिक भाग इसी में लग गया है—अरबी शब्दों के धातुओं के विभिन्न वजन के शब्द और अरबी बाइबिल में इन शब्दों का अवस्थान तथा हिब्रू प्रतिशब्द बताए गए हैं। इस शब्दकोष के हिंदुस्तानी शब्द अलग छपाने के लायक हैं।

अंतिम तीन पृष्ठों में कुछ ऐसे हिंदुस्तानी शब्द दिए गए हैं जिनके उच्चारणों का अंतर बेचारे जर्मन और डच भाषी ग्रंथकार के कान पहचान न सके। जैसे—Baagh (बाग), Bhagh (बाघ), Bag (भाग), Kham (खाम, खंभा), Kaam (काम), Kam (कम), bhaar (बार=दरवाजा), baare (बारह); haser (हाजिर), hazaar (हजार), aazaar (आजार), hizar (इजार), doo (दे), dhooe (धोय), hoea (हुआ), Koea (कूवा), noen (नून=नमक), oen (ऊन), Sjoor (जोर), soor (शोर), gullaab (गुलाब), Sjullab (जुलाब); इत्यादि।

मैं कृतज्ञता के साथ स्वीकार करता हूँ कि मेरे मित्र श्रीयुत ब्रजमोहनजी वर्मा (सहकारी संपादक 'विशाल भारत') ने इस प्रबंध की भाषा-संबंधी त्रुटियाँ संशोधित कर मुझे अनुगृहीत किया है।

An Englishman's Stray Thoughts on Hindi Literature

Rev. Edwin Greaves

A foreigner's views of a literature may be of little value but may possibly not be altogether devoid of interest.

One is naturally tempted to turn one's mind to a comparison of English and Hindi literature but it is wise to resist the temptation, because the Englishman regards the two literatures from different standpoints. When I read English it is almost entirely for the sake of the *matter*, in reading Hindi my thought is largely engrossed in the *language*. Of course in neither case is the attention given exclusively to either the language or the matter but on one or other lies the main stress.

Other considerations also bear directly on the question. One's reading in English is, comparatively, wide, in Hindi it is very limited. Again, in English probably ninety-nine per cent of the books read are in prose, where practically no difficulty arises through the language, in studying Hindi literature the outstanding works are in poetry and demand no small labour on the part of the foreigner in his endeavour to thoroughly understand the meaning.

This opens up a question of general interest. Is it to the Englishman alone that the reading of the great Hindi works involves difficulty ? The Ramayan of Tulsidas is widely known and widely read, even among the illiterate, but how far is each verse fully understood ? Do the moderately educated always understand the exact meaning of each word and sentence ? The fact of so many commentaries and paraphrases being published indicates a fairly clear answer to this question. Bihari Lal's *Satsai* is given a very exalted position in Hindi Literature but how many well educated Indians could give an exact paraphrase of each couplet ? I have frequently been greatly surprised at the ineffective attempts of men who may be rightly regarded as Hindi scholars to elucidate the meaning of some of the dohas. The same may be said of much that Kabir has written. As a matter of fact many thoroughly educated Indians experience as much difficulty in understanding the exact meaning of each sentence in the great Hindi classics as Englishmen do in explaining the exact meaning and bearing of every sentence in Shakespeare or Browning.

In Hindi Literature there is much that is difficult by reason of the archaic language and involved construction (or want of construction) of the sentences, and in more modern literature on account of the lavish use of Sanskrit words.

In discussing Hindi Literature no severely restricted use of the word *literature* should be adopted. As the word *poetry* is allowed to cover all versification, much of which is certainly not true poetry, so Literature must be taken to cover all written compositions,—ancient and modern, prose and verse, history, biography, fiction, essays, dissertations on every subject,—whether they be so written as to justify a claim to be included in Literature, as connoiseurs would define the term, or are simply written or printed productions, however loose they may be as regards their grammar, syntax or style. In this broad sense articles in magazines and journalism must be granted a place. We must also include not only the writings which are in more or less pure Hindi, but bilingual productions which might more precisely be spoken of as Hindustani.

Adopting this broad meaning of Hindi Literature we find a vast field, from such works as Prithvi Raj Raso and Padamavata to the innumerable magazines and journals and papers and books which issue from the presses year by year.

No foreigner,—certainly not he who writes this,—can be so omniverous (should Sir George Grierson be excluded from this statement ?) as to venture on generalisations covering the whole range of Hindi Literature. All the writer can do is to give some of the impressions that have come to him in his limited Hindi reading.

Prithvi Raj Raso must be accepted as a work worthy of a hard tussel but I confess its archaic language and style are beyond me and I have not attempted more than just to dip into it. Padamavata is undoubtedly a great book but the matter does not appeal greatly to me and in its language and style presents difficulties not easily surmounted. My enjoyment of its perusal was consequently *subdued.* The writer who has above any other appealed to me is Goswami Tulsidas, especially in his Ramcharitmanas or Ramayan. Some have given a higher place to Binaya Patrika. It may be an abler book from a purely literary standpoint but it lacks the freshness and *abandon* of the Ramayan. Here the dear saint revels in his subject. He settles down to tell out the whole story, leisurely, wholeheartedly, he wanders aside to deal with anything in any way related to his theme. He will not be hurried, there is no impatience as he deals with any matter which arises on the way, he maunders along as happy as a child gathering flowers from the hedges of a country lane. He responds to each detail which invites his attention and his mood and style conform to each. Does the sun shine brightly? His verses glitter and gleam; are there lowering clouds? You feel the weight of the atmosphere in his lines. What a wealth and rush of words and what ringing stanzas as he sweeps along to describe the battles. What tenderness and gentleness as he dwells on the sweet loyalties of Sita. What transport as he enlarges on the excellences of Ram and the devotion of Lakshman and Bharat. How deeply reverent and resplendent are his paeans of praise of God. What humour he manifests as he recounts the meeting with Parashuram. Has any Hindi poet ever reached the range and heights which we find in Tulsidas? You recognize that he is completely possessed by his subject and with a complete mastery of language and metre flows gloriously along his way; now the gentle ripple of a sylvan stream, now the stately sweep of a broad river, now the roar of a Niagara, now the mighty torrent rushes along sweeping everything before it. His canvas is covered with great figures, the details are filled in with delicate tracery. The picture is rich in colour, here beauty and grace, there uproar and horror. My own feeling is that not only does Tulsidas take the foremost place in Hindi Literature but that he stands head and shoulders above all other writers.

I am not in a position to write much about Surdas, but my feeling is something like what Carlyle once observed about an English writer,—"Flow on thou shining river." The verses may be smooth and melodious but lack the *bite* and *nip* which are necessary to make works stand out as really great.

The writer has never been able to share the appreciation of Bihari Lal which so many Indians manifest. He may be a magician with words but has so little matter that is worth while. He is a remarkably clever manipulator of words but having said this you have said about all. Literature demands more than dexterity in the handling and arrangement of words. One is reminded of Sartor Resartus, you may admire the clothes but what about the man?

One of the hindrances to a fuller development of Hindi Literature in the past was the tendency for it to drift into grooves. At certain times and certain places certain lines of composition prevailed, it might be bardic or erotic, or become largely concentrated on the rules of literary composition. Sometimes it developed in rendering service to the Bhakti movement. Frequently translations and adaptations from Sanskrit works rather than original productions enlisted the energies of writers.

While verse practically monopolized the field it was inevitable that the bounds of literature should be restricted. Until the days of Lalluji Lal prose was not even in its infancy, a prose book was simply a *sport.* From his days, however, prose entered upon its career and its spread has greatly enlarged the field in many and outstanding ways. Literature is no longer a mere accessory and adornment of life, it is a means of imparting and disseminating knowledge, a veritable part of life. At the same time the instrument is not wholly subordinated to the ends for which it is used; it is very evident that beauty and power of language are not confined to poetry but play a distinctly important part in prose.

Raja Shiva Prasad, Bharatendu Harischandra and Raja Lakshman Sinha are outstanding figures at a very important stage of the development and are largely accountable for it. Pundit Mahabir Prasad Dvivedi also deserves very honourable mention. Not only did he contribute many works to literature but as Editor of the Saraswati he exercised a wide influence on other writers and gave a helpful impulse to the cause of literature. By the adoption of prose, Literature became capable of fulfilling its proper functions, not merely gratifying literary tastes but enlarging the domain of knowledge, developing the mind, and quickening many important impulses which make for a larger life.

The question of style as affected by language cannot be enlarged on. Two tendencies have had a long and severe struggle and it cannot be said that the conflict is absolutely over. On the one side there was a desire to preserve the purity of Hindi, and the adoption of many Sanskrit words (in their tatsama or tadbhava form). On the other a readiness to accept many Urdu words. Pundit Mahamahopadhyaya

Sudhakar *Dvivedi* took a brave stand during the discussion of this much vexed question. He advocated simplicity as the supreme end. Purism must go, it must be sacrificed to clearness of meaning for ordinary readers. Let the conveyance of the author's meaning be the dominant factor in the situation and the words selected which are most widely known and used regardless of their origin. Sanskrit words may be accepted but in limited measure and in their tadbhava forms; Urdu words and even English are not to be excluded but discriminately enlisted. The writer ventures to suggest that many modern authors would do wisely to follow these lines and not load their sentences with so many Sanskrit words which many of the ordinary readers do not understand.

Much has been done during recent years to settle many grammatical difficulties. It was necessary and is bearing fruit. The observance of the rules of Grammar, attention to Idiom and Syntax make for clearness and beauty. Slovenliness in these matters should be severely deprecated.

What is to be the future of *khari boli* verse? The demand for verses free from dialectical peculiarities seems reasonable but can the demand be met without sacrificing one of poetry's chief charms? It is perfectly evident that many specimens of *khari boli* verses that have been published have exhibited more loss than gain. It may be true that they have gained much in simplicity and clearness but what has happened to the music? Have not the poetry and melody suffered greatly? Without attempting to explain the reasons does not the fact stand out clearly that such verses are not to be compared for beauty with those of writers like Tulsidas and Surdas? *Khari boli* poetry is only in an experimental stage and its success is by no means assured.

The work of the Nagari Pracharini Sabha deserves special notice and in its history Babu Shyamsunderdas holds a foremost place. His zeal, his ability and untiring industry have been very pervasive. The scope of the Sabha's activities has been very wide. The publication of the Dictionary and Grammar, the collating and editing of many valuable Hindi works, the encouragement of authorship, the search for Hindi manuscripts, the Conferences and other enterprises have been highly important auxiliaries in the development of Hindi Literature.

Such presses as the Indian Press have greatly furthered the movement, It would be invidious to omit any word of appreciation of men who have written so ably and fully on Hindi Literature. The three volumes on the History of Hindi Literature by the three brothers, Pundits Ganesh, Shyama and Shukdeva Bihari Mishra is a book of great value and Shri Jagannath Prasad Sharma has given us a very useful work on the development of Hindi Prose. Babu Shyamsundardas in his numerous writings, especially in *Bhasha Vigyan* and *Sahityalochan*, and Pandit Mahabir Prasad Dvivedi in his many writings and others have rendered invaluable service to the cause.

The writer recognizes his limitations in writing on so large a subject, but he can claim a keen interest in it and associations with it extending over fifty years. He lived for many years in Benares and was an active member of the Nagari Pracharini Sabha. He enjoyed the acquaintance, and in some cases the friendship of leaders such as Babu Shyamsundardas, Pundit Ramnarayan Mishra, Pundit Mahamahopadhyaya Sudhakar, Pundit Shyambihari Mishra, Babu Radha Krishna Das, Shri Jagannath Das (Ratnakar), Lala Sita Ram and others. There have been great changes during the last fifty years and very substantial progress. The scope has been extended and advances made in many directions. Hindi Literature has an honourable past, is full of vitality to-day, and a future rich in promise and opportunity.

May its course be one of patient endeavour and glorious success.

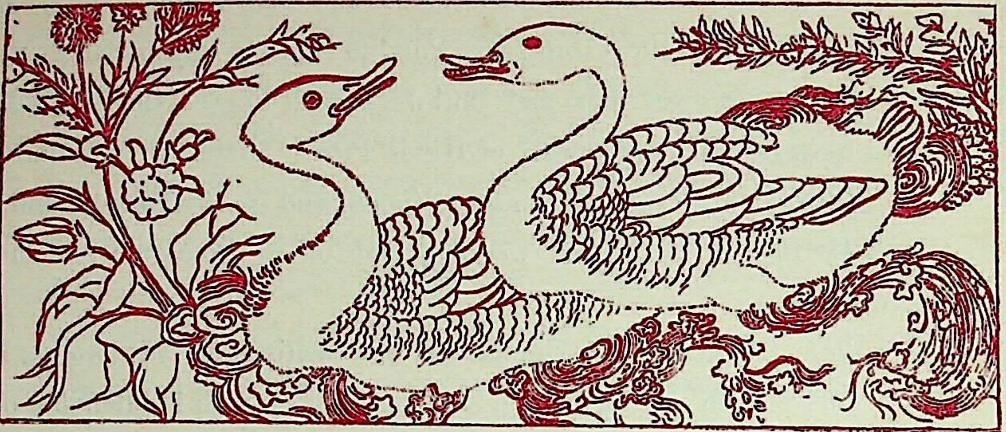

प्राचीन अरबी कविता

प्रोफेसर मुंशी महेशप्रसाद मौलवी आलिम फाजिल

अरब के लोग वर्त्तमान काल में भी लूट-मार कुछ कम नहीं किया करते। प्राचीन काल में तो वे लूट-खसूट और मार-काट के ऐसे प्रेमी थे कि उसके लिये कहा ही क्या जाय; पर उसी काल में इस बात के साथ ही साथ जो वस्तु सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण उनसे संबंध रखनेवाली थी, वह है उनकी कविता जिसकी बदौलत अरब का प्राचीन इतिहास बहुत-कुछ सुरक्षित है; क्योंकि कविताओं के सिवा अन्य ऐसी सामग्री बहुत ही कम है जिससे प्राचीन अरब के इतिहास पर रोशनी पड़ सकती है। अन्य भाषाओं के जिन कवियों ने किसी युद्ध का वर्णन किया है उनमें बहुत ही कम ऐसे हुए हैं जिन्होंने स्वयं युद्ध में वास्तविक भाग लिया है। पर अरबी भाषा में ऐसे कवियों की संख्या बहुत ही ज्यादा है जिन्होंने किसी युद्ध की जो चर्चा की है वह उनकी आप-बीती है। यही कारण है कि उनकी कविता मनुष्यों के जंगल में शेर की गूँज है।

अनेक इतिहासवेत्ता इस बात से सहमत हैं कि हजरत मुहम्मद के जन्म से पूर्व अरब में ‘उमर बिन हिंद’ नाम का एक बड़ा बादशाह हुआ है। कहा जाता है कि एक दिन उसने अपने दरबारियों से पूछा—“क्या अरब में अब कोई ऐसा है जो मेरा लोहा न मानता हो और जिसकी माता को मेरी माता की आज्ञा का पालन करना स्वीकार न हो ?” उत्तर मिला—“केवल ‘उमर बिन कलसूम’ है जो तगलब-समुदाय का एक कवि है।” बादशाह ने कहा—“अच्छा, इस बात की परीक्षा की जाय।” कविवर उमर और उनकी माता आदर-पूर्वक निमंत्रित होकर आए। उनका बड़ा स्वागत हुआ। कविवर दरबार में रहे। उनकी माता और साथ की अन्य स्त्रियाँ महल में पहुँचीं। इधर-उधर की बातें हो रही थीं। इतने में बादशाह की माता ने कविवर की माता से, किसी वस्तु की ओर संकेत करके, कहा—“मुझे वह चीज उठाकर

दे दो।" कविवर की माता ने उत्तर दिया—"मनुष्य को अपना कार्य स्वयं करना चाहिए।" ऐसा सुनकर भी बादशाह की माता ने फिर उस वस्तु को उठाकर देने के लियें कहा। इस पर कविवर की माता ने चीख मारकर कहा—"हाय! मेरे तगलब-समुदाय का अपमान!" कविवर की माता के ये शब्द गूँजते हुए दरबार तक पहुँचे। कविवर ने निश्चित रूप से समझ लिया कि मेरी माता के साथ अवश्य कोई अपमान-जनक व्यवहार हुआ है। ऐसा विश्वास हो जाने पर कविवर ने उसी दम बादशाह का सर उड़ा दिया, और स्वयं बचकर निकल आए। इसके पश्चात् बड़ा घोर युद्ध हुआ, जिसका वर्णन कविवर ने बड़े जोरों के साथ किया है। यहाँ उस कविता के कुछ पद्यों का अनुवाद दिया जाता है—"(१) ऐ हमारे संबोधित व्यक्ति अबू हिंद! तू जल्दी न कर और हमें अवकाश दे कि तुझे सच्ची घटना बतावें। (२) हम अपने नेजों को शत्रुओं की छाती में उतारते हैं। वे नेजे उस समय सफेद होते हैं; पर जब वे लाल रंग के हो जाते हैं तब हम उन्हें निकालते हैं। (३) जब हम अपनी चक्की किसी जाति की ओर ले जाते हैं तब वह जाति युद्ध के समय उस चक्की का आटा बन जाती है। (४) जब तक शत्रु हमसे दूर रहते हैं, हम नेजा मारते हैं। जब हम पर शत्रु आकर टूटते हैं तब हम तलवार चलाते हैं। (५) वीरों की खोपड़ियाँ युद्धस्थल में ऐसी प्रतीत होती हैं मानों ऊँटों के बोझ कँकरीली भूमि में गिरे हुए हैं। (६) हम शत्रुओं के सरों को तलवारों से चीरते हैं और गर्दनों को काटते हैं—यहाँ तक कि वे कट जाती हैं। (७) कोई हमारे साथ उजड्डपन न करे; क्योंकि हम उजड्ड के साथ बहुत ज्यादा उजड्डपन करते हैं। (८) हमारा नेजा शत्रुओं ने पहले भी लचाया, पर वह लचा नहीं। (९) हम जिसको चाहते हैं, रोक देते हैं और जहाँ चाहते हैं, डेरा डाल देते हैं।"

कविवर की जिस कविता के ये पद्य हैं, वह पूरी कविता अरब में एक उत्तम कविता मानी गई थी। उसको सुनहरे अक्षरों में लिखकर मक्का में काबा (मंदिर) की दीवार पर लटकाया गया था। बहुत-से लोगों ने तो उसे जबानी याद कर लिया था। पर कविवर के समुदाय के लोग तो उसे बहुत दिनों तक विशेष रूप से याद करते और गौरव के साथ अनेक अवसरों पर पढ़ते रहे।

अरब का सुप्रसिद्ध कवि 'अंतरः' दासी-पुत्र था; पर उसका पिता और स्वामी बड़ा कुलीन था—वह 'अंतरः' को पहले अपना पुत्र कहते लजाता था। एक बार जब 'अंतरः' ने अपने बुद्धि और बल का विशेष परिचय दिया तब पिता ने बहुत स्नेह प्रकट किया। बात यह हुई कि अरब के कई समुदायों ने मिलकर 'अबस'-समुदायवालों पर आक्रमण किया, जिसमें 'अंतरः' का पिता भी था। आक्रमण करनेवालों ने अबसियों में से बहुतों को खूब मारा-पीटा और उनके ऊँट लूट ले चले। इस पर अबसियों ने कुछ तैयारी करके आक्रमण करनेवालों का पीछा किया और मार्ग में उनको जा पकड़ा। 'अंतरः' भी अपने पिता के संग पीछा करनेवालों के साथ ही गया था। लड़ाई के अवसर पर पिता ने 'अंतरः' से कहा—"अंतरः, खूब लड़।" पुत्र ने उत्तर दिया—"दास को लड़ाई-भिड़ाई से क्या मतलब? मैं तो दास हूँ, पशुओं को चराना और उनका दूध दुहना मेरा धर्म है।" बाप ने कहा—"तू अब दास न रहा। मैं तुझे स्वतंत्र करता हूँ।" यह सुनते ही 'अंतरः' ने ऐसे शौर्य का परिचय दिया कि अबसी भी दंग रह गए और आक्रमण करनेवाले भी लूट का माल छोड़ जान बचाकर भागे। 'अंतरः' के इस प्रशंसनीय कार्य

से अबस-समुदायवालों को जब जीत हुई तब बाप की प्रसन्नता का कुछ ठिकाना ही न रहा। उसके हृदय में अपने शूर-वीर दासी-पुत्र के लिये इतना स्थान हो गया कि उसने 'अंतरः' को अपनी सारी संपत्ति का उत्तराधिकारी बना दिया।

इस घटना के पश्चात् भी 'अंतरः' ने अपने बुद्धि और पराक्रम का अपूर्व परिचय दिया। अरब में घुड़दौड़ की एक लड़ाई चालीस वर्षों तक चली थी। उसमें भी 'अंतरः' ने अद्वितीय कीर्त्ति प्राप्त की थी। इस युद्धप्रिय कवि ने क्या खूब कहा है—"(१) मैं खूब तेज तलवार से मार-काट करने को बहुत पसंद करता हूँ और सर फोड़ देनेवाले नेजों को हृदय से चाहता हूँ। (२) जिस समय मेरे सर पर आपदाओं के बाण बरस रहे हों उस समय यदि मान-मर्यादा के साथ मरना पड़े तो मेरा हृदय मृत्यु के प्यालों को ही प्रसन्नता-पूर्वक पीना पसंद करेगा। (३) जब नेजे आपस में टकराते हैं तब सेनाओं की मुठभेड़ और योद्धाओं को मृत्यु की ओर हाँकना मुझे बहुत ही भाता है। (४) घोड़ों की टापों से जो धूल रात्रि के समान आकाश-मंडल में छा जाती है, जिसके अंधकार में लोगों के सर उड़े फिरते हैं[१]—यहाँ तक कि जगमगाते तारों के समान टूटे पड़ते हैं, और जिसमें उज्ज्वल तलवारें घनघोर काली घटा में बिजली के समान चमकती हैं, उस धूल की छत्रच्छाया-तले तलवार चलाना और नेजाबाजी करना मुझे अति प्रिय है। (५) तेरे जान की सौगंद! श्रेष्ठता, बड़प्पन, आदरणीय स्थान, कामनाओं की पूर्त्ति और उच्च पदों की प्राप्ति उस व्यक्ति के निमित्त हैं जो तलवारों की खटाखटी के समय शूर-सामंतों से हार्दिक धैर्य के साथ मुठभेड़ करता है और जो तलवार की धार से ऊँचे आकाश पर तारों से भी ऊपर स्थायी श्रेष्ठता की नींव डालता है। (६) जिस समय गंदुमी रंग के नेजे और तेज तलवारें परस्पर गुत्थमगुत्था हों उस समय जो मनुष्य अपने नेजे को शत्रुओं के रक्त से नहीं सींचता—खत्ती[२] नेजे को यथोचित प्रयोग में नहीं लाता—तलवार की धार से गर्दन को नहीं उड़ाता, वह अपमानयुक्त निकृष्ट अवस्था में जीवन व्यतीत करेगा और यदि मरेगा तो कोई रोनेवाली स्त्री उसके निमित्त आँसू न बहाएगी। (७) साहस के ये गुण किसी नीच के हिस्से में नहीं आते, और विद्वत्ता के रहस्य किसी जड़ के संमुख प्रकट नहीं किए जाते। (८) जिस समय सेनाओं की धूल के सिवा कोई और सूरमा आँखों के लिये पर्याप्त न था, उस समय भी मैं इन्हीं गुणों के सहारे प्रत्येक आपत्ति में सफल रहा। यह संभव है कि आकाश की बिजली चमके, पर वर्षा न हो; किंतु यह नहीं हो सकता कि मेरी तलवार की बिजली चमके और खून न बरसावे।"

अब 'अंतरः' की उस सुप्रसिद्ध कविता के कुछ पद्यों का अनुवाद नीचे दिया जाता है, जो अपनी उत्तमता के कारण मक्का में काबा (मंदिर) की दीवार पर सुनहरे अक्षरों में लिखकर लटकाई गई थी। पूरी कविता में कई बातें हैं; पर यहाँ केवल शौर्य और शत्रु-वध से संबंध रखनेवाली बातें ही दी जा रही

---

[१] लड़नेवाले वीर सर पर 'खोद' (लोहे की सफेद टोपी) पहने रहते थे, इस कारण सर अवश्य ही पृथ्वी पर टूटकर गिरते हुए तारों के समान प्रतीत होंगे।

[२] 'खत्ती' का संकेत अरब के 'खत्त' नगर की ओर है, जहाँ के नेजे बहुत अच्छे होते थे।

हैं—"मैंने अनेक ऐसे बाँके-तिरछे जवानों को मार गिराया है जिनकी स्त्रियाँ अति सौंदर्य[1] के कारण बनाव-सिंगार की आवश्यकता नहीं रखती थीं। ऐसे रण-बाँकुरे जब मेरे भाले से घायल होकर गिरे तब उनके शरीर से रक्त निकलने की ध्वनि वैसी हो थी जैसी होठ कटे हुए व्यक्ति के साँस लेने से पैदा होती है!"

लड़ाई की कई किस्में हैं। बाण-विद्या की लड़ाई दूर से हुआ करती है। इसलिये कम से कम अरबों की दृष्टि में यह लड़ाई अधिक महत्त्व की नहीं मानी गई; बल्कि घोड़े पर चढ़कर नेजे और तलवार से लड़ना अधिक महत्त्व का युद्ध माना गया; क्योंकि इसमें शत्रुओं के आगे अथवा निकट होकर लड़ना पड़ता है—चोट खाने या मरने का अधिक भय हुआ करता है। अस्तु, एक कवि कहता है—"लोग युद्ध में सबसे आगे रहा करते हैं और भयभीत स्थान में अपने पग को 'यमन' की बनी हुई दुधारी तलवार से मिलाते हैं—अर्थात् जहाँ यमन की बनी हुई दुधारी तलवारों से मार-काट हो रही हो वहाँ भी उन्हें भय नहीं होता।" इसी प्रकार एक अन्य कवि का कथन है—"(१) जब हमारे शत्रु ओले बरसानेवाले बादलों के समान आए तो हम भी बाढ़ के समान चल निकले, और हम दोनों अपना-अपना बंदोबस्त करते थे[2]। (२) उन्होंने जब हमें देखा तब अपने सहायकों को पुकारा और हमने अपने सहायकों को नेजा और तलवार ठीक करने के लिये कहा। (३) जब हम कुछ निकट पहुँचे तब अपने ऊँट बैठा दिए और बाण चलाने लगे। (४) जब हमारे पास धनुष और बाण बाकी न रहे तब हम अपने शत्रुओं की ओर बढ़े और वे हमारी ओर बढ़े। (५) अंत में वे लोग टूटे हुए नेजे लेकर लौटे और हम ऐसी तलवारें लेकर लौटे जो गोठिल हो गई थीं। (६) उन लोगों ने 'सईद' नामक स्थान में प्यासे रहकर रात बिताई और हम घायलों के कारण वहीं (युद्धस्थल में) पड़े रहे।" यहाँ नेजा के टूटने अथवा तलवार के गोठिल हो जाने से घोर युद्ध की ओर संकेत है। फिर एक और कवि ने भी कहा है—"हमारी तलवारों के विषय में यह बात समस्त पूर्व और पश्चिम में विख्यात है कि कवचधारी रणधीरों पर चलने के कारण वे गोठिल हो गई हैं।" अरब लोग किस प्रकार युद्ध में मरना अच्छा समझते थे और अपने मृतक का बदला लेना क्योंकर प्रशंसनीय कार्य समझते थे, इन बातों का अंदाजा बहुत-कुछ निम्नलिखित भावों से हो सकता है—"(१) हमारा कोई सरदार बिछौने पर पड़ा हुआ नहीं मरता, और हमारा कोई मनुष्य ऐसा नहीं है जो मारा गया हो और हमने उसका बदला न लिया हो। (२) हमारा रक्त तलवारों की धार पर बहता है, तलवारों की धारों को छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं।"

'साबित बिन जाबिर' नामक सुप्रसिद्ध अरबी कवि प्रायः 'ताबत शर' के नाम से विख्यात है। उसको शत्रुओं ने मार डाला। इस पर उसके भानजे ने शत्रुओं से बदला चुकाने की शपथ ली। इस्लाम धर्म के जन्म से पहले अरब लोग खूब मदिरा[3] पिया करते थे। निदान ऐसा प्रतीत

---

[1] अरब के कुलीन लोग बड़े सुंदर होते हैं, अतः सौंदर्य से कुलीनता का परिचय मिलता है।

[2] अरबी कविता में शत्रु को कहीं बोदा, कमजोर या हीन दशावाला कदापि नहीं दिखाया गया; क्योंकि यदि कोई इस प्रकार के शत्रु से युद्ध करके विजयी हुआ तो क्या हुआ!

[3] मदिरा की प्रशंसा में बहुत-से अरबी पद्य मिलते हैं।

होता है कि कविवर के भानजे ने मदिरा-पान न करने की शपथ ली थी। इसी कारण उसने प्रतिशोध के विषय में जो कुछ कहा है उसमें मदिरा की चर्चा पहले है। देखिए—"(१) शपथ के कारण मेरे लिये मदिरा-पान वर्जित हो गया था। वह अब अवर्जित हो गया है। वास्तव में बहुत दिनों के बाद मदिरा अब अवर्जित रूप में मेरे निकट आई है। (२) हे उमर के पुत्र स्वाद! तू मुझे मदिरा पिला; क्योंकि मेरा शरीर मेरे मामा के पश्चात् दुर्बल हो गया है। (३) मेरे शत्रु 'हजैल' के मृतों पर 'बिज्जू' हँसता है और तू वहाँ पर भेड़ियों को शोर मचाते हुए देखेगा। (४) मुरदार खानेवाले पक्षी प्रातःकाल ही इतना भोजन कर लेते हैं कि वे उनकी (मेरे मारे हुए शत्रुओं की) लाशों के चारों ओर पग से ही फिरते हैं, उड़ नहीं सकते।" अरब में अपने सैन्य के एक मृतक के बदले में शत्रु-दल के बहुत-से आदमियों को मारना अत्युत्तम समझा जाता था; पर मृतक के घर-घरानेवालों अथवा संबंधियों को कुछ देकर संतुष्ट कर देना भी गौरव की बात मानी जाती थी। इससे घातक-समुदाय को अपूर्व शक्ति का लोहा माना जाता था। एक कवि ने कहा है—"हमारे सर सफेद हैं, हमारी नसों में बराबर जोश रहता है, और हम उन घावों का इलाज स्वयं अपनी संपत्ति से किया करते हैं, जो हमारे हाथों की बदौलत हुआ करते हैं।" आवश्यकता पड़ने पर अत्याचार से पीड़ित लोगों की सहायता भी अरब लोगों में वीरता या गौरव की बात समझी जाती थी। एक ऐसे ही उदार समुदाय की प्रशंसा में एक कवि ने कहा है—"जब उनसे सहायता माँगी जाती है तब वे बुलानेवाले से कभी यह नहीं पूछा करते कि किस युद्ध अथवा स्थान के लिये वे बुलाए जा रहे हैं—अर्थात् वे तुरंत सहायक होते हैं।"

मनुष्य के हृदय पर जो चीजें अधिक प्रभाव डालनेवाली हुआ करती हैं, उन्हीं में शोकात्मक बातें भी हैं। निदान करुण रस की अरबी कविताएँ भी कुछ कम प्रभावशालिनी नहीं हैं। 'मुहल्हल' नामी कवि ने—जिसको अरबी-साहित्य में वही पद प्राप्त है जो संस्कृत में आदिकवि वाल्मीकि को है—अपने भाई 'कुलैब' के शोक में कहा है, जिसे शत्रुओं ने मारा था—"(१) ऐ मेरे भाई कुलैब! मुझे समाचार मिला कि तेरी मृत्यु के पश्चात् वह (युद्ध की) अग्नि प्रज्वलित की गई और तेरे बाद सभा में वाद-विवाद भी हुआ। (२) प्रत्येक बड़े मामले में लोगों ने वार्त्तालाप किया। यदि तू उपस्थित होता तो लोग कदापि न बोल सकते। (३) यदि तू चाहे तो उन स्त्रियों को देख सकता है जो शोक का वस्त्र धारण किए हुई हैं और सर खोले हुए तेरे शोक में छाती और मुँह पीट रही हैं। (४) प्रत्येक रोनेवाली तुझ पर रोती है। कुलीन स्त्रियाँ जो तेरे शोक में रो रही हैं, मैं उनको रोक नहीं सकता; मजबूर हूँ।"

करुणामयी बातों के लिये स्त्रियों का हृदय कैसा बना है, कहने की आवश्यकता नहीं। यही कारण है कि स्त्रियों के कहे हुए शोकोद्गारपूर्ण पद्य बड़े मर्मस्पर्शी हैं। स्त्री-मंडल के कविता-क्षेत्र में सबसे अधिक प्रसिद्धि 'तुमाजिर' नामक स्त्री की है, जो प्रायः 'खन्सा' के नाम से विख्यात है। यह प्राचीन काल की कवयित्रियों में सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। इसकी कविताओं का एक संग्रह छप चुका है। अनेक लोगों ने इसकी कवित्व-शक्ति की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। निदान इसने अपने दोनों भाइयों—'माविया' और 'सखर'—की स्मृति में बड़े ही भावपूर्ण शोकसूचक पद्य कहे हैं। दो-चार देखिए—(१) "मैं प्रति दिन सूर्योदय तथा सूर्यास्त के समय अपने भाई 'सखर' का स्मरण करके रोती हूँ। (२) यदि मेरे साथ

और भी स्त्रियाँ विलाप करनेवाली न होतीं तो निस्संदेह मैं अपने-आपको मार डाले होती।" एक अन्य शोक-सूचक पद्य में उसी ने इस प्रकार कहा है—"(१) ऐ मेरे भाई सखर! मैं अब तेरे लिये रोती हूँ। वास्तव में तेरे कारण मुझे बहुत दिनों तक आराम मिल चुका है। (२) केवल मैं ही नहीं रोती, बल्कि कुटुंब की अन्य स्त्रियाँ भी रोती हैं; पर जो दुःख मुझ पर पड़ा है वह किसी अन्य पर नहीं। (३) जब तू जीवित था तब तेरी बदौलत मैंने बहुत-सी बड़ी-बड़ी आपत्तियाँ दूर की थीं; अब भला तेरे बिना असह्य आपत्तियों को कौन दूर करेगा। (४) किसी समाज में जब कि शोक-विलाप बुरा समझा जाय, तब भी—उस दशा में भी—तेरे लिये रोना-धोना मैं अच्छा ही समझती हूँ।"

'साबित बिन जाबिर'—अर्थात् कविवर 'ताबत शर'—का उल्लेख ऊपर हो चुका है। वह लूट-मार के विचार से बाहर गया था; पर शत्रुओं के हाथ से मारा गया। वह लौटकर घर न आ सका। उसकी माता के विलाप-कलाप इस भाव को दरसाते हैं। देखिए कुछ पद्यों का आशय--"(१) वह (मेरा पुत्र) इस विचार से बाहर गया था कि लूट-मारकर कुछ लाए; पर वह स्वयं मृत्यु का आखेट हो गया। (२) मैं नहीं जानती कि उसको किसने मृत्यु का आखेट बनाया! क्या ही अच्छा होता यदि मुझे यह बात ठीक-ठीक ज्ञात हो जाती। (३) ऐ मेरे पुत्र! क्या तू बीमार पड़ गया है? अथवा किसी के हथकंडे में फँस गया है? (४) मनुष्य चाहे जहाँ जाय, मृत्यु सदा उसकी घात में लगी रहती है। (५) कोई ऐसा गुण नहीं जो मेरे पुत्र में न रहा हो। (६) निस्संदेह कोई भीषण आपत्ति-जनक बात है जिसने तुझको रोक रक्खा है और तू मेरी बात का उत्तर तक नहीं देता। (७) अब मैं धैर्य ही धारण करूँगी; क्योंकि तू मेरे प्रश्नों का उत्तर भी नहीं दे रहा है।"

यह बात निर्विवाद रूप से सिद्ध है कि प्राचीन-कालीन अरब में शिक्षा-प्रचार नहीं था। फिर भी वहाँ के लोगों में दैवी कवित्व-शक्ति थी। इसी कारण पुरुषों के सिवा अनेक स्त्रियाँ भी कवि हुई हैं। उन स्त्री-कवियों की कविताएँ केवल करुण-रसात्मक ही नहीं, बल्कि अन्य काव्य-रसों से भी युक्त हैं। इतिहासकार इस बात से सहमत हैं कि अरबी भाषा के कवि-सम्राट् 'इमरूल कैस' और अन्य कवियों के बीच में एक कविता-संबंधी वाद-विवाद हुआ था, जिसे एक स्त्री ने ही बड़ी योग्यता के साथ निपटाया था। इतना ही नहीं, प्राचीन अरब में आत्म-संमान, कुलीनता, क्रियात्मक जीवन और कार्य-कुशलता आदि बातों का बड़ा उच्च स्थान था। इसी लिये उनकी अनेक कविताओं में इस प्रकार की बातों की झलक है। जिन लोगों में कोई प्रशंसनीय गुण नहीं होता उनकी प्रशंसा करना अधिकांश कवि अपना कर्त्तव्य न समझते थे—चाहे वह शक्तिशाली या धनवान् व्यक्ति ही क्यों न हो। एक बार अरब के एक बादशाह ने किसी कवि से कहा कि तुम मेरी प्रशंसा में पद्य कहो। इस पर कवि ने उत्तर दिया कि पहले कुछ करके दिखाओ तो मैं कहूँ। इन बातों से ऐसा प्रतीत होता है कि यह गुण अनेक अरबी कवियों में, प्राचीन काल के बाद भी, बहुत दिनों तक रहा। मुसलमानों के समय में 'फरजदक' नामी एक कवि हुआ है। अब्दुल मलिक के पुत्र सुलेमान बादशाह ने उक्त कवि से कुछ प्रशंसात्मक पद्य पढ़ने के लिये कहा। स्वाधीनचेता कवि ने सुलेमान के बदले अपने कुटुंबियों की प्रशंसा में पद्य पढ़ दिए!

हजरत मुहम्मद साहब सन् ५७० ई० में पैदा हुए थे। सन् ६२० ई० में इस्लाम धर्म का प्रकाश उदित हुआ था। सन् ६२० ई० से पहले का समय अरबी में 'अय्याम जाहिलियत'—अर्थात् 'अज्ञानता का युग'--माना जाता है। ऊपर जो कुछ बातें कविता-संबंधी कही गई हैं, सब उसी 'अज्ञान-युग' की हैं। पर बड़े महत्त्व की बात यह है कि उस 'अज्ञान-युग' की कविताओं में भी ज्ञान-युक्त बातों की कुछ मात्रा पाई जाती है। उसी काल के 'मुतलम्मिस' नामक कवि ने क्या खूब कहा है—"क्या तू नहीं देखता कि मनुष्य वास्तव में मृत्यु के हाथ गिरवी रक्खा गया है! मनुष्य वास्तव में मुरदार खानेवाले पक्षियों के निमित्त है अथवा कुछ काल के बाद कब्र में गाड़े जाने के लिये।" इसी तरह 'मुतलम्मिस' के समकालीन 'तुरफा' नामक एक महाकवि ने बड़े महत्त्व की बातें कही हैं—"(१) जिस मनुष्य ने अपने-आपको वास्तविक सुख पहुँचाया है वह यदि कल मरेगा तो आनंद के साथ ही मरेगा। (२) जिसने समस्त सुख-साधन के होते हुए भी दरिद्रता और कंजूसी से काम लिया है, वह मृत्यु के समय तृष्णा और दुःख से ग्रस्त होकर मरेगा।" पुनः 'जुहैर बिन अबी सलमा' नामक कवि ने भी अच्छा कहा है— "युवा (पुरुष) का आधा अंग तो उसकी जिह्वा है और आधा अंग उसका दिल है। इन दोनों के सिवा जो कुछ है वह मांस और रक्त है।"

प्राचीन अरबी कविता में बनावट नहीं है। वह सीधी-सादी है, क्योंकि कवियों ने जो कुछ जैसा देखा उसको वैसा ही चित्रित किया है। इस कारण अरबी कविता में नाना प्रकार को अनोखी उपमाएँ या रूपक आदि नहीं हैं। अतः प्राचीन अरबी कविता विलक्षण अलंकारों से शून्य है। एक कवि ने कहा है—"(१) जब हमने शत्रुओं पर भाले मारे तब उनके शरीर से वैसे ही रक्त बहा जैसे भरी हुई मशक के मुँह खोल देने से पानी बह निकलता है। (२) तू उसके आँगन में सफेद हरिनियों की मींगनियों को गोल-मिर्च के दानों के समान देखेगा। (३) हम मेघ के जल के समान शुद्ध हैं, हमारे कुटुंब में कोई दोष नहीं है और न हममें कोई कंजूस ही है।"

प्राचीन अरब-निवासी पूर्ण स्वतंत्र थे। जल के अभाव से वे एक ही स्थान पर बहुत दिनों तक नहीं रह सकते थे। अपनी जीविका के लिये उन्हें लूट-मार की आवश्यकता पड़ती थी। इसके लिये, अथवा अपने बचाव के लिये, उन्हें परिश्रमी भी बनना पड़ता था। उनका जीवन बड़ा सादा था। उनकी कविताओं से जहाँ उनकी अपूर्व कवित्व-शक्ति का पता चलता है, वहाँ उनके आचार-विचार और घरेलू जीवन आदि का साक्षात् परिचय भी मिल जाता है। इसी कारण प्राचीन अरबी पद्य, जो हजारों और लाखों की संख्या में हैं, 'अरब का दफ़्तर' कहे गए हैं।

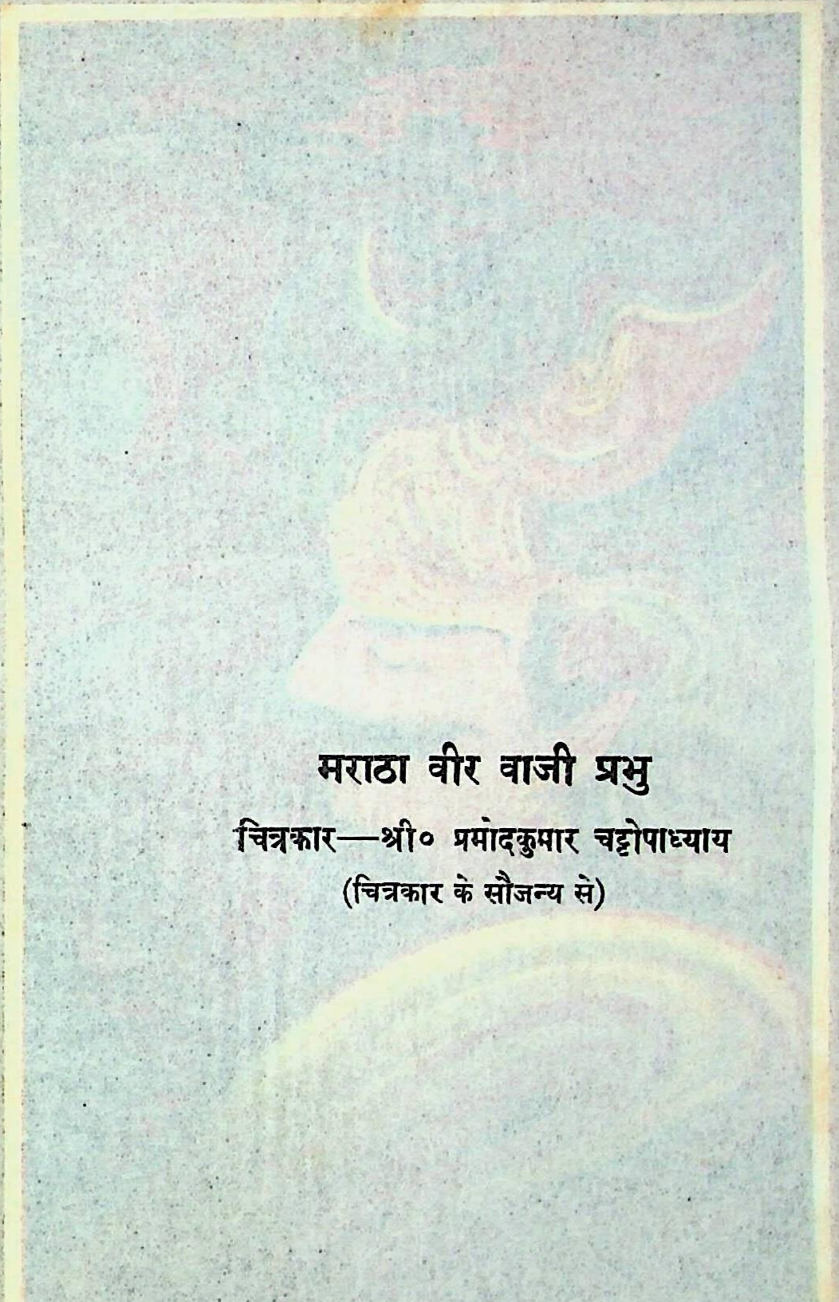

मराठा वीर वाजी प्रभु

चित्रकार—श्री० प्रमोदकुमार चट्टोपाध्याय

(चित्रकार के सौजन्य से)

हजरत मुहम्मद साहब सन् ५७० ई० में पैदा हुए थे। सन् ६२० ई० में इस्लाम धर्म का प्रकाश उदित हुआ था। सन् ६२० ई० से पहले का समय अरबी में 'अय्यामुल जाहिलियत'—अर्थात् 'अज्ञानता का युग'—माना जाता है। ऊपर जो कुछ बातें कवित्व-संबंधी कही गई हैं, सब उसी 'अज्ञान-युग' की हैं। पर बड़े महत्त्व की बात यह है कि उस 'अज्ञान-युग' की कविताओं में भी ज्ञान-युक्त बातों की कुछ मात्रा पाई जाती है। उसी काल के 'मुतलम्मिस' नामक कवि ने क्या खूब कहा है—"क्या ये नहीं देखता कि मनुष्य वास्तव में मृत्यु के हाथ गिरवी रक्खा गया है! मनुष्य वास्तव में मुरदार खानेवाले [illegible] के निमित्त है अथवा कुछ काल के बाद कब्र में गाड़े जाने के लिये।" इसी तरह 'मुतलम्मिस' के समकालीन 'तुरफा' नामक एक महाकवि ने बड़े महत्त्व की बातें कही हैं—"(१) जिस मनुष्य ने अपने-आपको आत्मिक सुख पहुँचाया है वह यदि कल मरेगा तो आनंद के साथ ही मरेगा। (२) जिसने समस्त सुख-साधन के होते हुए भी दरिद्रता और कंजूसी से काम लिया है, वह मृत्यु के समय लज्जा और दुःख से ग्रस्त होकर मरेगा।" पुनः 'जुहैर बिन अबी सलमा' नामक कवि ने भी अच्छा कहा है— 'पुरुष (पुरुष) का आधा अंग तो उसकी जिह्वा है और आधा अंग उसका दिल है। इन दोनों के सिवा जो कुछ है वह मांस और रक्त है।"

प्राचीन अरबी कविता में बनावट नहीं है। वह सीधी-सादी है, क्योंकि कवियों ने जो कुछ जैसा देखा उसको वैसा ही चित्रित किया है। इस कारण अरबी कविता में नाना प्रकार की अनोखी उपमाओं का [illegible] नहीं है। अतः प्राचीन अरबी कविता बिलकुल अलंकारों से शून्य है। एक कवि ने कहा है, [illegible] शरीर के [illegible] जैसे भरी हुई मशक के मुँह [illegible] (२) [illegible] के गोल-मिर्च [illegible] हमारे कुटुंब में कोई दोष नहीं है और न हममें कोई कंजूस ही है।"

प्राचीन अरब-निवासी पूर्ण स्वतंत्र थे। [illegible] वे एक ही स्थान पर बहुत दिनों [illegible] रह सकते थे। अपनी जीविका के लिये उन्हें [illegible] की आवश्यकता पड़ती थी। इसके [illegible] अपने बचाव के लिये, उन्हें परिश्रमी भी बनना पड़ता था। उनका जीवन बड़ा सादा था। [illegible] से जहाँ उनकी अपूर्व कवित्व-शक्ति का पता चलता है, वहाँ उनके आचार-विचार और [illegible] आदि का साक्षात् परिचय भी मिल जाता है। इसी कारण प्राचीन अरबी पद्य, जो हजारों [illegible] की संख्या में हैं, 'अरब का दफ्तर' कहे गए हैं।

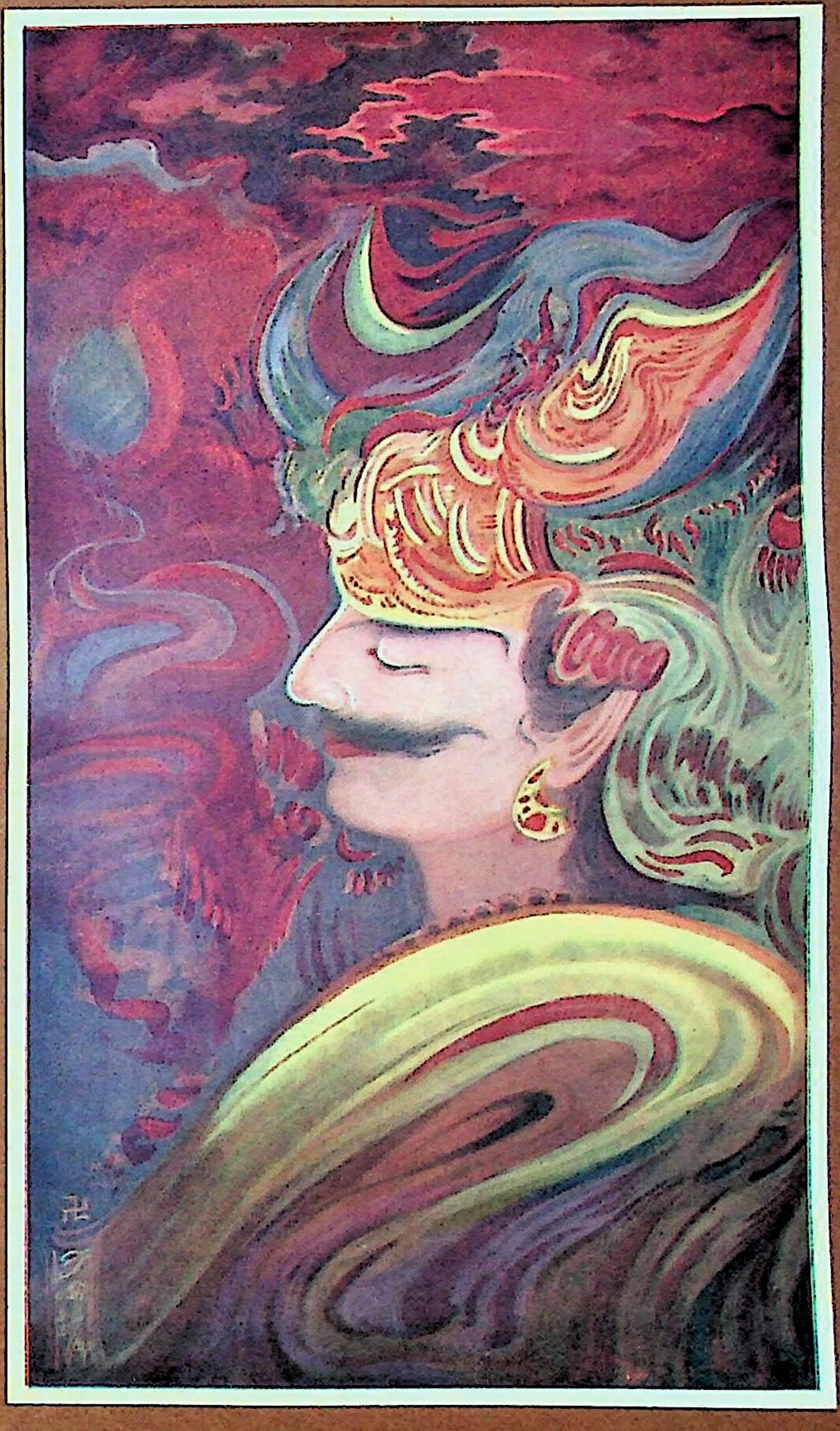

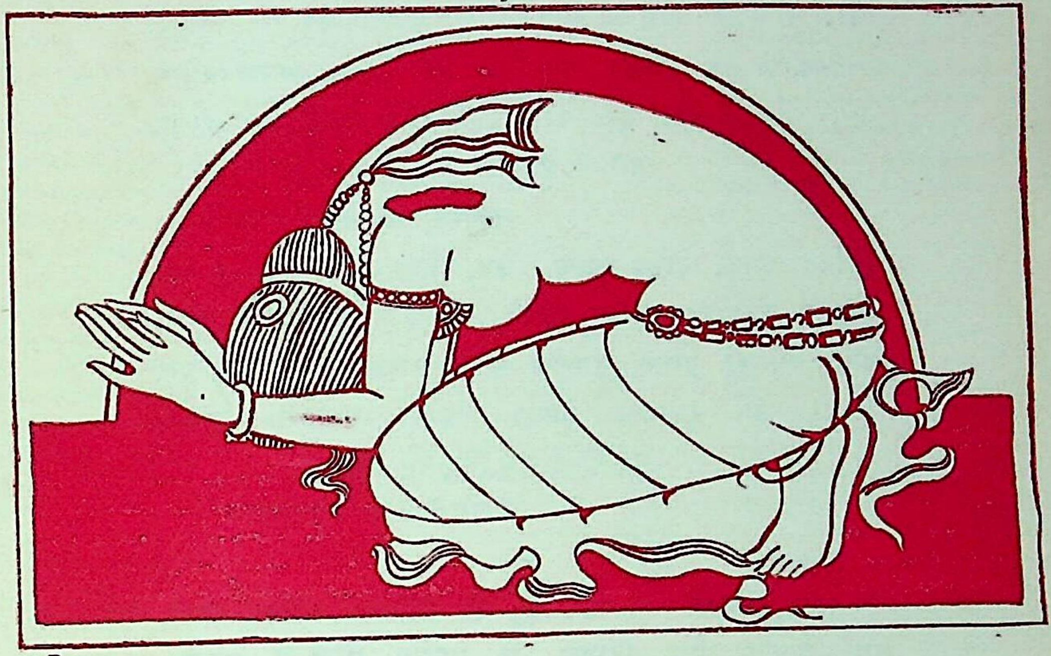

गुरुता से लघुता की ओर

१

घन के प्रथम स्नेह-कण से जो पाता है अभिनव अभिषेक,
पर, जीवन से जिसे पृथक् कर देता वैभव का अविवेक,
जिसे अरुण की प्रथम किरण से मिलता है पहला आलोक,
पर, जग का सुख, दुख अनुभव कर जिसे न होता हर्ष, न शोक,
हम न बनें वह गर्वोन्नत गिरि,
हम न विजन में बनें महान्।
संध्या को गृहिणी की आशा जिस पर पलक बिछाती है,
प्रातःकाल सरल श्रमिकों की टोली गाती जाती है,
हास, अश्रु पथिकों के जिसको अस्थिर रखते हैं दिन-रात,
उस पथ में घुल-मिल जो जीवन काट दिया करता अज्ञात,
चलो बनें हम वह लघु रज-कण,
सुख, दुख से कर लें पहचान।

२

चपल तरंगों का कोलाहल जिसकी महिमा गाता है,
पर, न मधुर जल का कण जिससे कभी तृषित जग पाता है,
चंद्र-किरण के चुंबन पर जो हो उठता आनंद-विभोर,
पर, जग के सुख, दुख पर जिसके उर में उठती नहीं हिलोर,
हम न बनें 'अपने ही में रत',
मुखरित, वह विस्तृत सागर।
चिंतित कृषक, तृषित चातक, जब, वंचित मीन, भग्न-उर मोर,
जग के अगणित नयन ताकते अपलक सूने नभ की ओर,
अंबर से, हो द्रवित, उमड़ता सदय सजल जो श्यामल घन,
उसको जो चुपचाप सौंपता अपना नन्हा-सा जीवन,
वह नीरव लघु बिंदु बनें हम,
हों जग-हित पर न्योछावर।

३

घन-गर्जन जिसकी जय-ध्वनि है, है साम्राज्य अखिल अंबर,
भय, आतंक और विस्मय से स्वागत होता है घर-घर,
छिप जाती आकर्षित जग का पल-भर जो करके उपहास,
जिसे न जग अनुभव कर पाता, 'अपनी' कहकर, अपने पास,
हम न बनें वह अस्थिर विद्युत्,
हृदयहीन सुख की मुसकान। -
पल-पल तिल-तिल जल-जल भरता कुटिया में जो मधुर प्रकाश,
जलन छिपी जिसके अंतर् में, अधरों पर अक्षय मृदु हास,
जिसे देख भूले-भटकों को मिल जाता पथ का संधान,
बलिदानों का ध्यान न जिसको, मूक त्याग का जिसे न भान,
चलो बनें हम वह लघु दीपक,
'कुटिया में सीमित', अनजान।

जगन्नाथप्रसाद 'मिलिंद'

जावा के प्राचीन संस्कृत-शिलालेख

श्री बहादुरचंद्र शास्त्री, हिंदी-प्रभाकर, एम० ए०, डी० लिट्०

भारतवर्ष की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति का प्रभाव देशांतरों और द्वीपांतरों में किस तरह फैला, यह आज-कल इतिहास-प्रिय विद्वानों का एक रोचक विषय है। इसी प्रभाव की एक धारा पूर्व की ओर बही और जावा, सुमात्रा, बाल आदि द्वीप-समूह में जा फैली; और वह, जैसा कि वहाँ के लोगों के आचार-व्यवहार और रीति-रवाज से स्पष्ट है, आज-कल भी किसी न किसी—घटे-बढ़े या अदले-बदले—रूप में प्रचलित है। इसका शृंखलाबद्ध इतिहास खोजना एक कर्त्तव्य है जिसकी पूर्त्ति के लिये भारत के विद्वान् थोड़ी संख्या में और योरप के विद्वान् अधिक संख्या में तत्पर हैं। हाँ, यह सच है कि भारत के विद्वानों का ध्यान यदि इस ओर एक बार विशेष रूप से आकृष्ट हुआ तो सभी ग्रंथियाँ आप से आप खुल जाएँगी और विदेशी विद्वानों की मेहनत बच जायगी।

जैसे भारत अँगरेजों के अधीन है, वैसे ही जावा डच लोगों के। भारत के इतिहास-संबंधी ग्रंथ प्राय: अँगरेजी भाषा में मिलते हैं, वैसे ही जावा के डच भाषा में। भारत और जावा आदि द्वीपों में सभ्यता और संस्कृति के विषय में जो घनिष्ठ संबंध है उसकी दृष्टि से दोनों के इतिहास की तुलनात्मक खोज होनी चाहिए। जावा आदि द्वीपों से कई ऐसी बातों का पता चलता है जो भारत के इतिहास पर विशेष प्रकाश डालती हैं, और भारत में जावा के इतिहास के निर्माण के लिये बहुत-सी सामग्री ऐसी है जिसका उपयोग अभी तक नहीं किया गया। इस तुलनात्मक खोज के क्षेत्र में कर्न (Kern), ब्रांडस (Brandes), फोखल (Vogel) आदि डच विद्वानों के उद्योग प्रशंसनीय हैं। किंतु अपेक्षा-बुद्धि से अभी बहुत-सा क्षेत्र अक्षुण्ण ही पड़ा है। टूटे-फूटे मंदिर, विहार, चैत्य, साहित्य में विविध उल्लेख, विदेशी यात्रियों की नोट-बुकें इत्यादि प्रचुर सामग्री है जिससे आज-कल भारत एवं विशाल भारत का इतिहास-निर्माण हो रहा है। ऐसी हालत में शिलालेखों की कीमत और कदर कितनी ऊँची है, यह किसी से छिपा नहीं। शिलालेख इतिहास के प्रौढतम प्रमाण और जीवित साक्षी हैं। विशेषकर भारत और विशाल भारत के इतिहास के विषय में तो वे अँधेरे में देदीप्यमान किरणें हैं। प्रस्तुत लेख में जावा-द्वीप से प्राप्त सात संस्कृत-लेखों का वर्णन किया गया है। ये वहाँ के आज तक के उपलब्ध लेखों में प्राचीनतम गिने जाते हैं।

इतिहास की दृष्टि से ये कितने महत्त्व के हैं, यह पढ़ते ही पता लग जाएगा। इस लेख का उद्देश्य भारत के विद्वानों का ध्यान विशाल भारत के इतिहास की ओर आकृष्ट करना और इस विषय में उनकी रुचि पैदा करना है, इस कारण से शिलालेखों के वर्णन में लंबी-चौड़ी नुक्ताचीनी नहीं की गई, न आज तक उन पर दी हुई विद्वानों की विविध सम्मतियों पर समालोचना की गई है। जिज्ञासुओं के लिये अंत में मुख्य-मुख्य आर्टिकलों (Articles) की सूची भी दी गई है।

पहले चार—'चि-अरुतन्, जंबु, कबोन् कोपि और तुगु'वाले—लेख 'पूर्णवर्मा' से संबंध रखते हैं। इनमें संवत् आदि न होने से इसके काल का निर्णय न हो सका। हाँ, लेखों की लिपि के प्रकार से—ग्रंथ-लिपि से—अनुमान किया जाता है कि पाँचवीं शताब्दी के होंगे। पूर्णवर्मा की वंशावली भी नहीं दी गई, किंतु नाम वर्मांत होने से दक्षिणी भारत का मालूम होता है। लेखों के साथ जो पूर्णवर्मा के पद-चिह्न भी अंकित हैं और एक लेख के साथ उसके हाथी के पैर चिह्नित हैं, इनका क्या अभिप्राय और प्रयोजन था, सो अभी तक पता नहीं लगा। और भी कई प्रश्न खुले पड़े हैं, जिनका जिक्र प्रसंगवश किया गया है। पाँचवाँ लेख 'चंगल' से है। इसके संबंध में भी आगे लिखा जायगा। यह, और आगे के दोनों लेख भी, संवत् तिथि आदि से युक्त हैं। छठा लेख 'दिनय' और सातवाँ 'कलस्सन्' से है। इनका भी वर्णन यथास्थान किया जायगा। चि-अरुतन्, जंबु, कबोन् कोपि और तुगु—ये चारों स्थान पश्चिम जावा में, चंगल और कलस्सन् मध्य जावा में और दिनय पूर्व जावा में है।

यह लेख कई डच विद्वानों के लेखों से संगृहीत किया गया है। इसलिये मैं उनका हृदय से कृतज्ञ हूँ। मेरे अध्यापक, और 'लयिदन्'-विश्वविद्यालय के संस्कृत एवं भारतीय पुरातत्त्वेतिहास के प्रोफ़ेसर, डॉक्टर फोखल (Dr. Vogel) का, और नेदरलाँद पुरातत्त्व-विभाग के प्रधान (Director) डॉक्टर बॅास (Dr. Bosch) का नाम यहाँ विशेष उल्लेखनीय है। इन्हीं के लेखों से मैंने बहुत-सी सामग्री ली है।

१—चि-अरुतन् का शिलालेख [The Ci-aruton Rock-Inscription]

जिस पत्थर पर यह लेख खुदा हुआ है, वह चि-अरुतन् नामी नाले के मध्य में पड़ा था। बरसात में बाढ़ आने से लेख को क्षति न पहुँचे, इस दृष्टि से अब यह भारी पत्थर ज्यों-त्यों करके किनारे तक लाया गया है। वह स्थान, जहाँ यह पत्थर पड़ा है, 'चंपेय' (Tjampea) नामक रियासत के अंतर्गत है और समीपवर्त्ती गाँव का नाम 'कंपङ् ग्रदक्' (Kampong Gradak) है। लेख में विष्णु का उल्लेख होने से प्लेय्यट महोदय (Mr. Pleyte) ने यह तात्पर्य निकाला था कि पूर्णवर्मा के राज्य में वैष्णव धर्म का प्राधान्य था और पूर्णवर्मा स्वयं विष्णु का अवतार समझा जाता था। पर प्रोफ़ेसर कर्न (Kern) ने इसका निराकरण किया है और स्वयं एक मार्मिक नुक्ता यह निकाला है कि इस लेख के सर्वप्रथम अर्थात् 'विक्रांत' शब्द से विष्णु के त्रिविक्रम अर्थात् वामन-अवतार का स्मरण होता है, और फलतः श्लोक-गत उपमा इस बात को व्यक्त करती है कि पूर्णवर्मा के चरण ऐसे पूज्य हैं जैसे वामन-अवतार के, जिसने

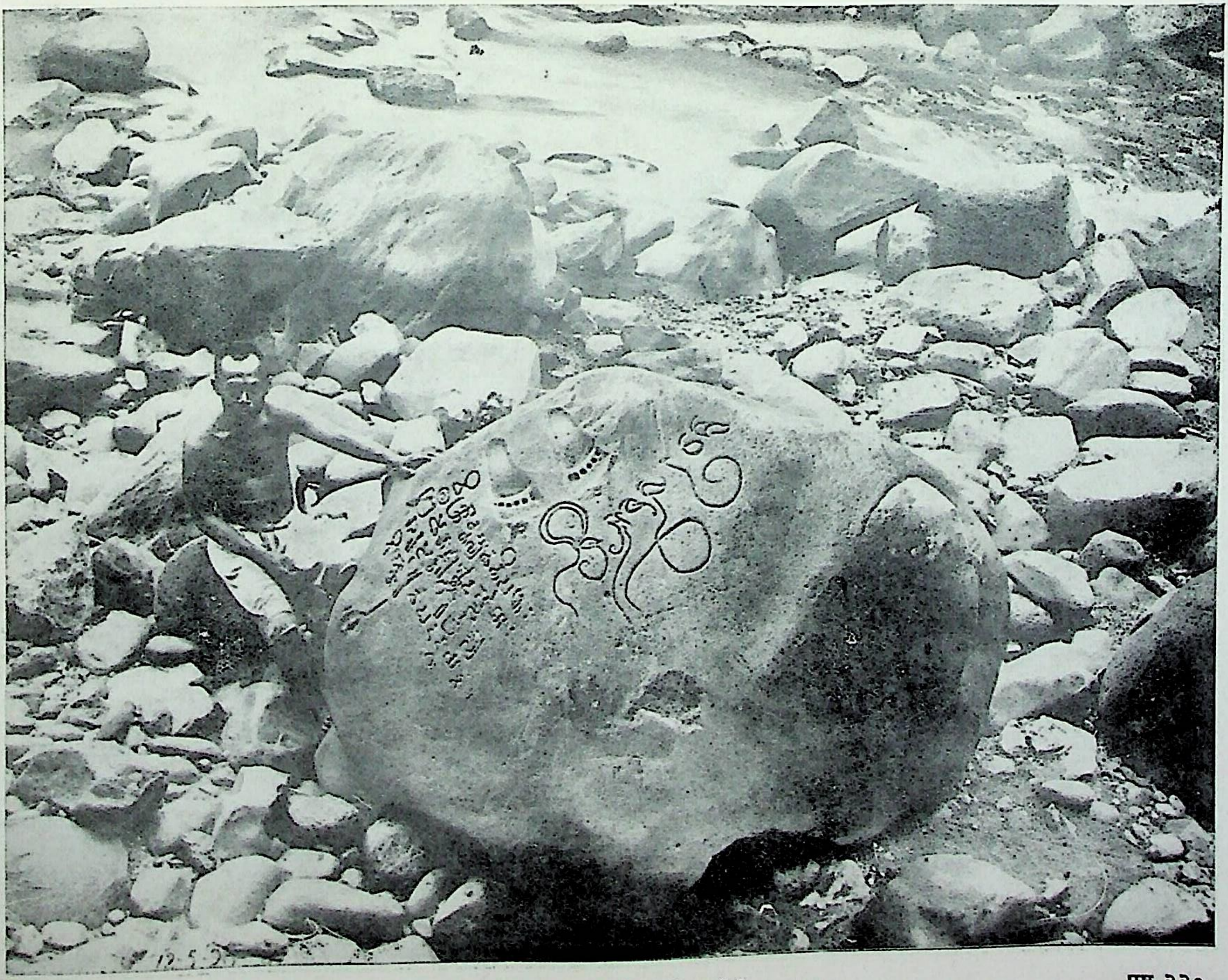

चि-अरुतन् का शिलालेख (१)

पृष्ठ २२०

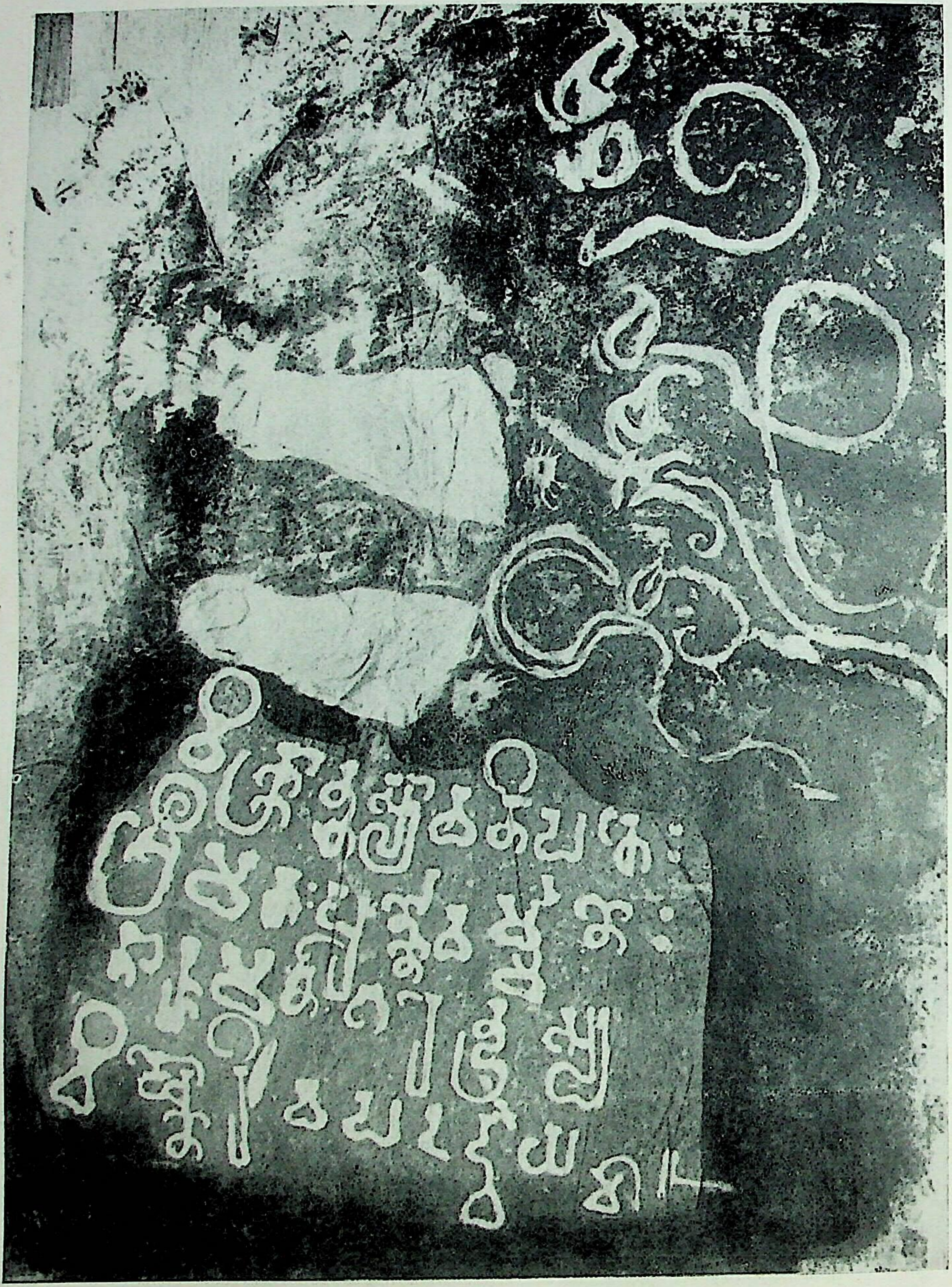

चि-अरुतन् का शिलालेख (२)

पृष्ठ २२०

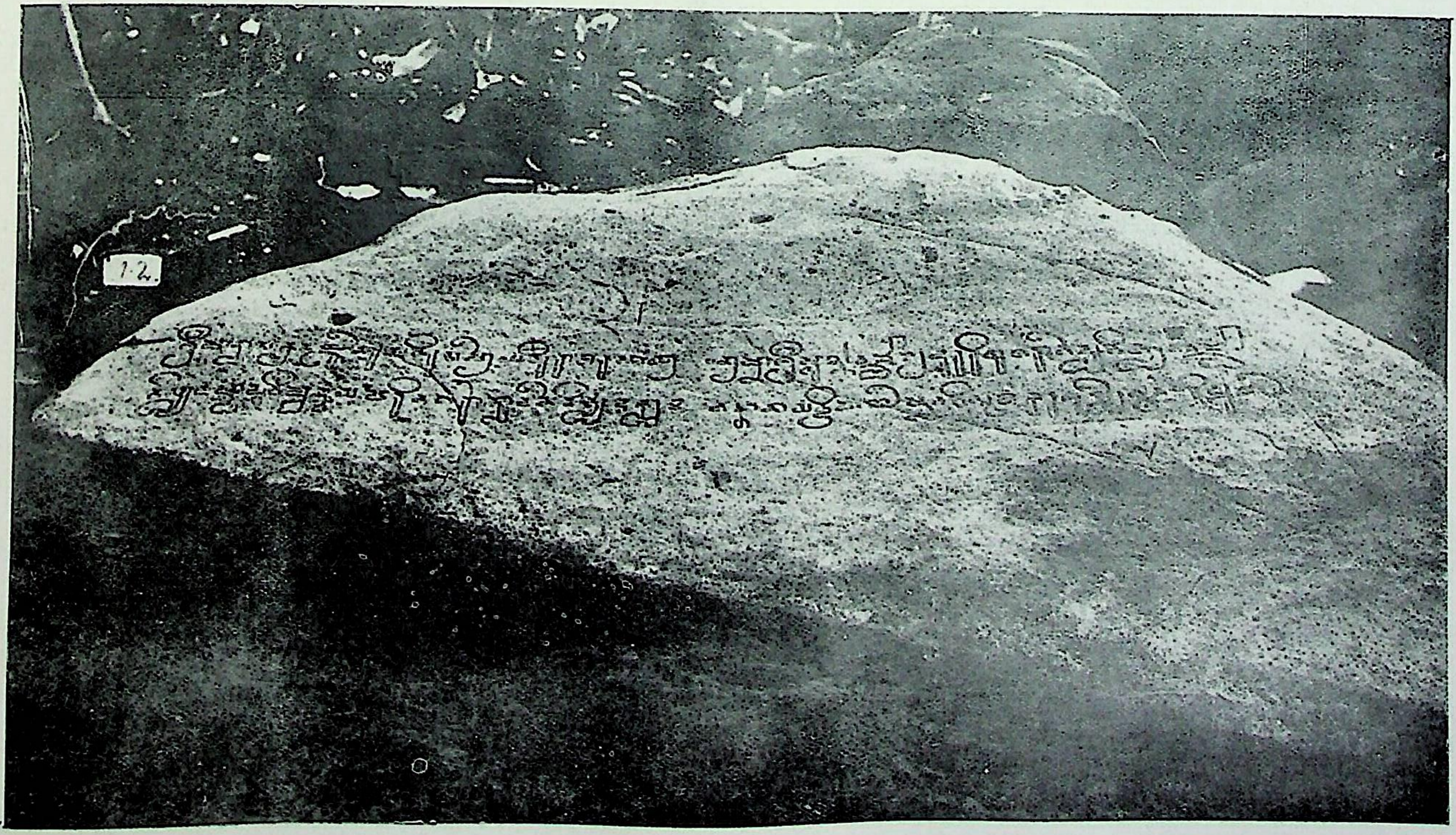

जंतु का शिलालेख (१)

पृष्ठ २२१

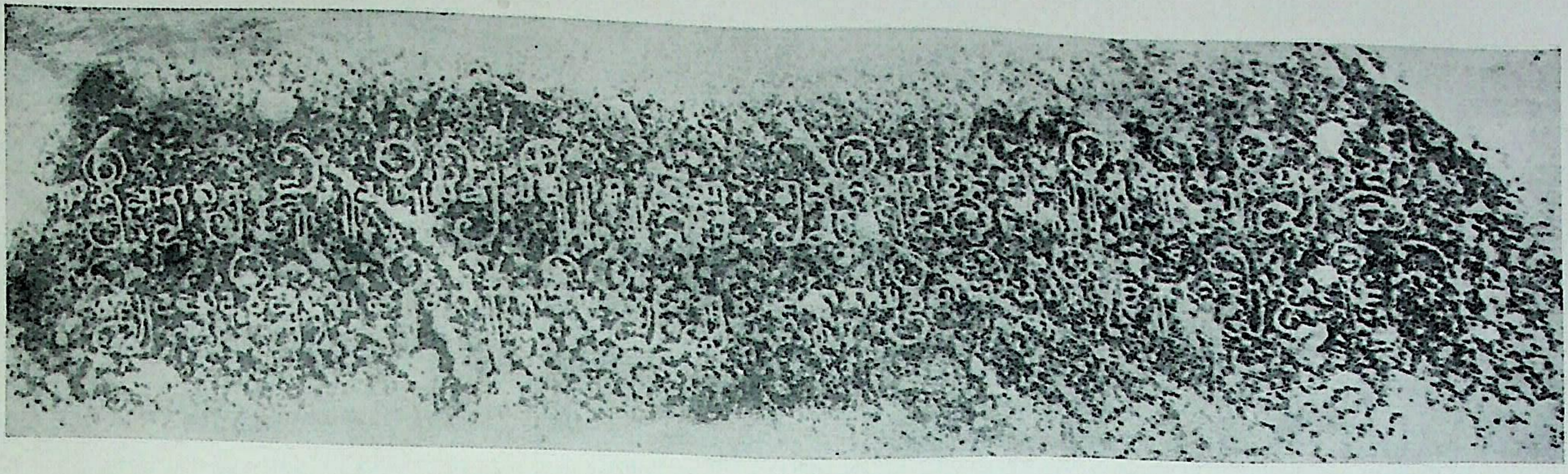

जंबु का शिलालेख (२)

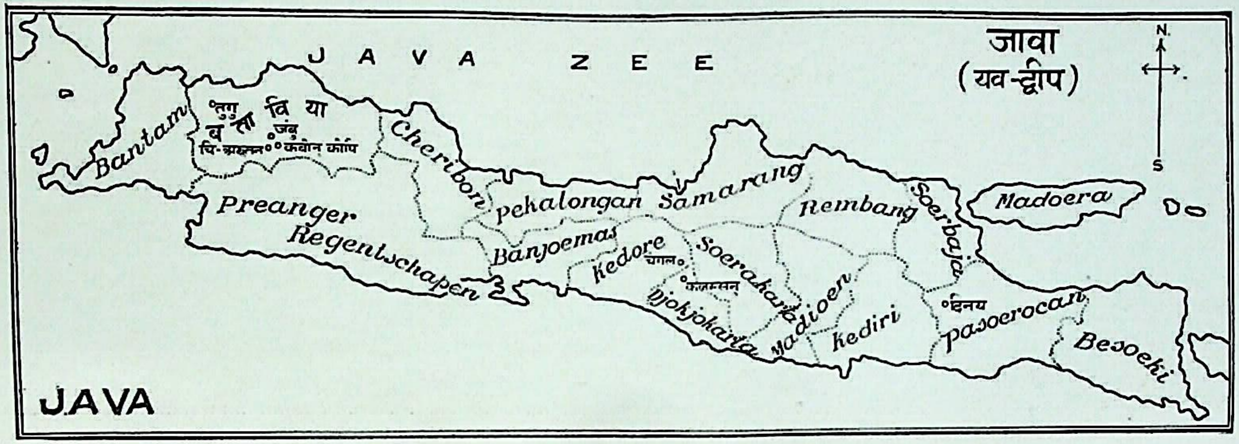

JAVA ZEE
जावा
(यव-द्वीप)
N.
S
तुगु
व ता वि या
जंबु
चि-अरुतन
कबोन कोपि
Bantam
Cheribon
Preanger
Regentschapen
Pekalongan
Samarang
Banjoemas
Kedore
चंगल
Soerakarta
कलस्सन
Djokjokarta
Madioen
Rembang
Soerbaja
Kediri
दिनय
Pasoerocan
Besoeki
Madoera
JAVA

चि-अरुतन्, जंबु, कबोन् कोपि, तुगु, चंगल, दिनय और कलस्सन् का स्थान-निर्देश
(२२०, २२१, २२२, २२३, २२५, २२६ और २३१ पृष्ठों में परिचय है)

त्रिलोक को तीन पादक्रमों से व्याप्त कर लिया था। लेख सरल, स्पष्ट और संपूर्ण है। उसकी प्रतिलिपि यह है—

(१) विक्क्रान्तस्यावनिपतेः (३) तारुमनगरेन्द्रस्य
(२) श्रीमतः पूर्ण्णवर्म्मणः (४) विष्णोरिव पदद्वयम्

अनुवाद—विष्णु के-से ये चरण-युगल तारुम नगर के अधिपति विक्रमशाली भूपति श्रीमान् पूर्णवर्मा के हैं।

समीक्षा—छंद यहाँ अनुष्टुप् है। एक-एक रेखा में छंद का एक-एक चरण है। ऐसा विन्यास पल्लववंशी राजा महेंद्रवर्मा प्रथम के महेंद्रवाड़ी और दालवाणूर आदि स्थानों से प्राप्त कई लेखों में भी पाया जाता है। इस पत्थर पर उक्त लेख और पैरों की छाप के अतिरिक्त कुछ ऐसे चिह्न और अक्षर भी उत्कीर्ण हैं जिनका अर्थ अभी तक नहीं खुला। धागे द्वारा दोनों पैरों के अँगूठों से दो छल्ले-से बँधे हुए हैं। इनका आकार मकड़ी का-सा होने से विद्वान् लोग इनको अभी तक प्रायः 'दो मकड़ियाँ' (Two Spiders) कहते चले आते हैं। इन पर कई कल्पनाएँ की गई हैं; पर अभी तक कोई अर्थ निर्धारित नहीं हुआ। इन दो मकड़ियों के आगे कुछ अक्षर लिखे हुए हैं। ये भी अभी तक पूरी तरह नहीं पढ़े गए। इन मकड़ियों और अक्षरों पर विद्वानों ने क्या-क्या दलीलें दे रक्खी हैं, उनका उल्लेख इस लेख में नहीं हो सकता। स्वतंत्र रूप से सोचने पर संभवतः पाठकों में से किसी को वास्तविक अर्थ स्फुरित हो उठे! हाँ, यह बात ध्यान देने योग्य है कि एक तो इन अपठित अक्षरों के लिखने का ढंग, प्रधान लेख के लिपि-प्रकार से, बिलकुल निराला है। और दूसरे, जम्बुवाले लेख का विषय भी चरण-युगल ही है; पर वहाँ न मकड़ियाँ हैं, न निराले अक्षर! इससे जान पड़ता है कि चि-अरुतन् के पत्थर पर ये मकड़ियाँ और अक्षर (अथवा केवल अक्षर) किसी ने बाद को जोड़ दिए हैं। कुछ भी हो, यह सारी समस्या यहाँ अपूर्ण ही छोड़नी पड़ती है।

२—जंबु का शिलालेख [The Jambu Rock-Inscription]

यह शिलालेख जंबु रियासत के अंतर्गत 'पसिर् कोलयंकक् (Pasir Koleangkak)' नामक पहाड़ी की चोटी पर है। चि-अरुतन् शिलालेख के समान इस लेख का विषय भी पूर्णवर्मा के चरण-युगल ही है। एक-आध स्थल पर कुछ अक्षर अस्पष्ट हो गए हैं, अन्यथा लेख संपूर्ण सुरक्षित है। उसकी प्रतिलिपि यहाँ दी जाती है—

(१) श्रीमान् दाता कृतज्ञो नरपतिरसमो य⁀पुरा तारुमायान्नाम्ना श्रीपूर्ण्णवर्म्मा प्रचुररिपुशराभेद्यविख्यातवर्म्मा
(२) तस्येदम्पादविम्बद्वयमरिनगरोत्सादने नित्यदक्षम् भक्तानां यन्द्रिपाणाम्भवति सुखकरं शल्यभूतं रिपूणाम्

अनुवाद—श्री पूर्णवर्मा नामक तारुम नगर का जो ऐश्वर्यसंपन्न, दानी, भृत्यवत्सल और असामान्य राजा है—जिसका कवच शत्रुओं के असंख्य बाणों से भी न टूटने के कारण विख्यात है—उसके

पद-युगल की यह छाप है, जो शत्रुओं के नगरों का विध्वंस करने में सदा समर्थ तथा मित्रभूत राजाओं के लिये सुखकर और शत्रुभूत राजाओं के लिये शल्यभूत हैं।

समीक्षा—स्रग्धरा छंद है। आधा पहली रेखा में और शेषार्द्ध दूसरी रेखा में। 'य≍पुरा' में उपध्मानीय का प्रयोग किया गया है। इस 'पुरा' शब्द के आधार पर प्रोफेसर फोखल (Vogel) ने अनुमान किया है कि यह लेख पूर्णवर्मा की मृत्यु के बाद का है। किंतु मेरी समझ में यह 'पुरा' शब्द भूतकालार्थद्योतक अव्यय न होकर 'पुर्' अथवा 'पुरी' शब्द का कोई रूप है, और इसका अन्वय आगे के 'तारुमा' शब्द के साथ है। यदि 'तारुमा' शब्द यहाँ अधिकरण अर्थात् सप्तमी में है तो उसे 'पुरि' 'पुर्याम्' बनना चाहिए; किंतु इन दोनों हालतों में छंदोभंग होता है। इसी तरह षष्ठी भी असंभव है। 'पुर्याः' के लिये तो यहाँ जगह ही नहीं, 'पुरः' कहें तो संधि द्वारा 'पुरस्तारुमायाः' होगा और लेख में '-स्ता-' का कोई चिह्न नहीं दिखाई देता, प्रत्युत -'रा'- अर्थात् दीर्घ अकारयुक्त रेफ स्पष्ट दिखाई दे रहा है। 'पुरा' शब्द ही लें और इसे तृतीया का एकवचन मान लें, तो भी काम नहीं चलता; क्योंकि उस दशा में 'तारुमा' को भी 'तारुमया' होना पड़ेगा जिससे फिर वही छंदोभंग आ पड़ेगा। यदि कहें कि यह शब्द 'पुरी' है और 'तारुमा' शब्द के साथ समस्त है, एवं छंदोनुरोध से 'तारुमापुर्याम्' न लिखकर 'पुरीतारुमायाम्' लिखा गया है, तो किसी तरह गुजारा हो सकता है; मगर ठीक यह भी नहीं जँचता। एक तो 'पुरीतारुमायाम्' प्रयोग अप्रसिद्ध-सा है, दूसरे, लेख में 'पुरा' स्पष्ट दिखाई दे रहा है, दीर्घ ईकार की कोई संभावना नहीं। तो फिर क्यों न प्रोफेसर फोखल का मत ही स्वीकार कर लें? कर तो लें, पर उसमें भी एक आपत्ति यह है कि सारे लेख में भूतकाल-द्योतक कोई भी क्रियापद नहीं। 'अस्तिभवत्योरध्याहारः' ठीक है; किंतु यह अध्याहार वर्त्तमान काल में ही होता है; और केवल 'पुरा' शब्द इतनी सामर्थ्य नहीं रखता। केवल 'नरपतिः पुरा तारुमायाम्' कहने पर 'किमकरोत्?' की आकांक्षा बनी ही रहती है। दूसरे, चि-अरुतन्वाले लेख में प्रयुक्त 'तारुमनगर—' और तुगुवाले लेख में प्रयुक्त केवल 'पुरी' शब्द यहाँ भी 'तारुमा' के साथ 'नगर' या 'पुरी' आदि शब्द का प्रयोग होना संभव बता रहे हैं। चौथे चरण में 'यन्द्रपाणां' लिखा है। यह लिपिकार का प्रमाद ही प्रतीत होता है। पाठ निस्संदेह 'यन्नृपाणां' ही ठीक है।

३—कबोन् कोपि का शिलालेख [The Kebon Kopi Rock-Inscription]

यह लेख एक बड़ी भारी शिला पर खुदा हुआ है। वह शिला चि-सदने (Ci-Sadane) और चि-अरुतन् नामक दो नदियों के अंतरालवर्त्ती जंगल में पड़ी हुई है। पिछली शताब्दी में उस जंगल की कटाई कराई गई। वहाँ काफी की खेती होने लगी। इसी लिये अब यह स्थान 'कबोन् कोपि' अर्थात् 'काफी का बाग' कहा जाता है। कहते हैं कि इस पत्थर पर भैंसें पीठ रगड़ा करती थीं। यह उसी का परिणाम है कि लेख के कई अक्षर तो बिलकुल गायब हो गए हैं और कई मंद पड़ गए हैं। तथापि, जो कुछ बचा है उसे प्रोफेसर फोखल ने यथावत् पढ़ लिया है और श्लोक का पूरा भाव पा लिया

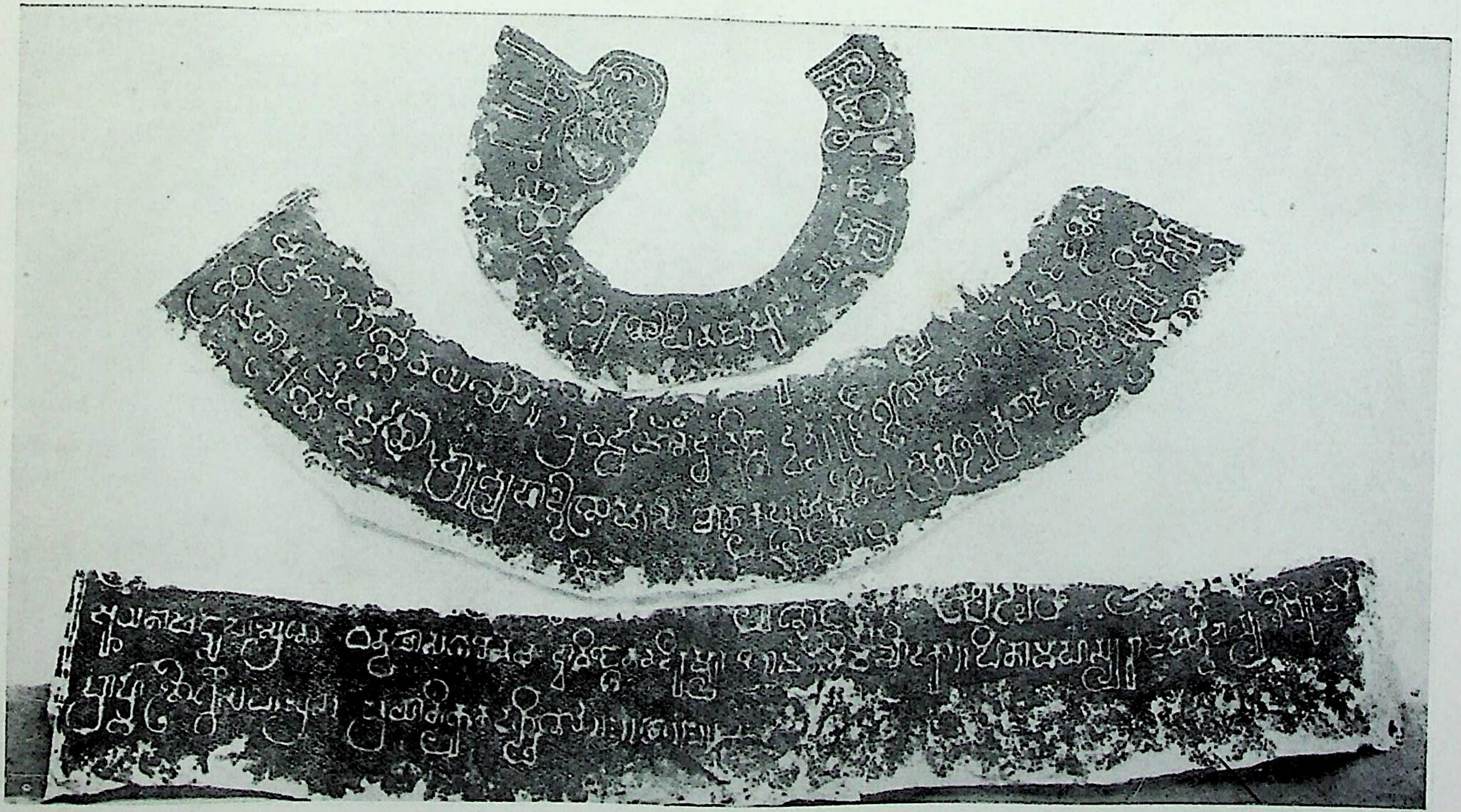

तुगु (बकस्सि) का शिलालेख

पृष्ठ २२३

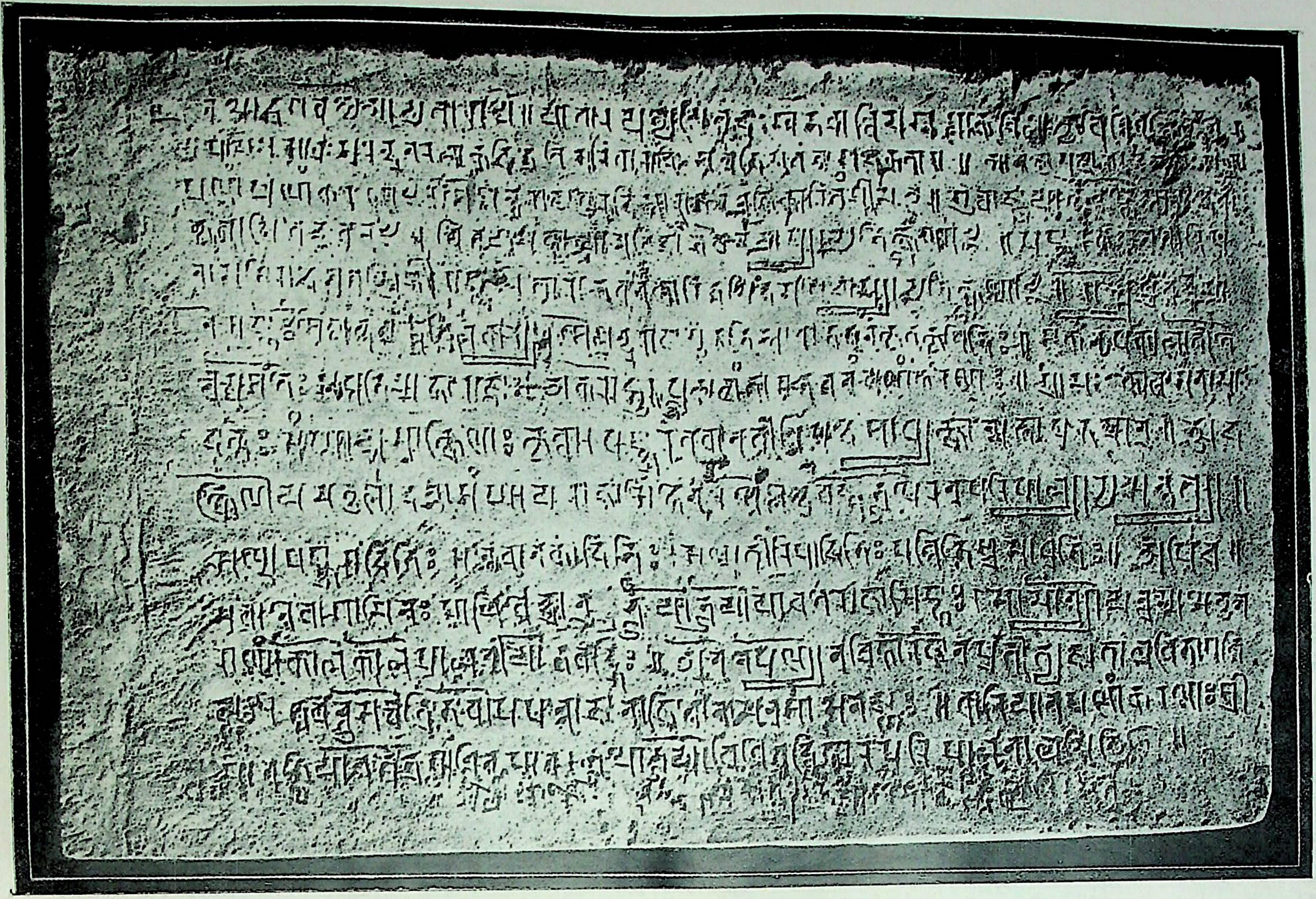

कलस्सन का शिलालेख

पृष्ठ २२१

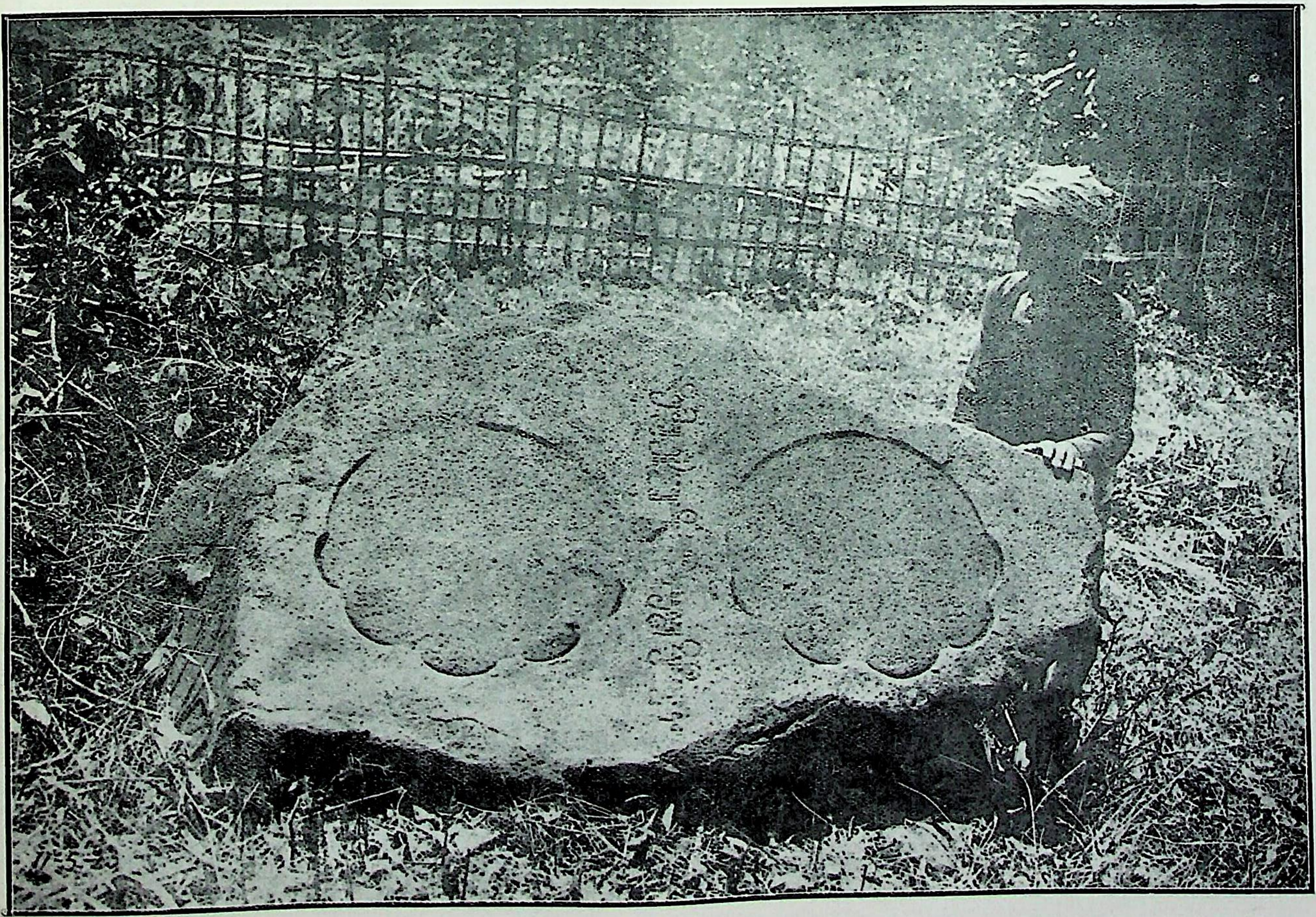

कवोन् कोंपि का शिलालेख (१)

पृष्ठ २२२

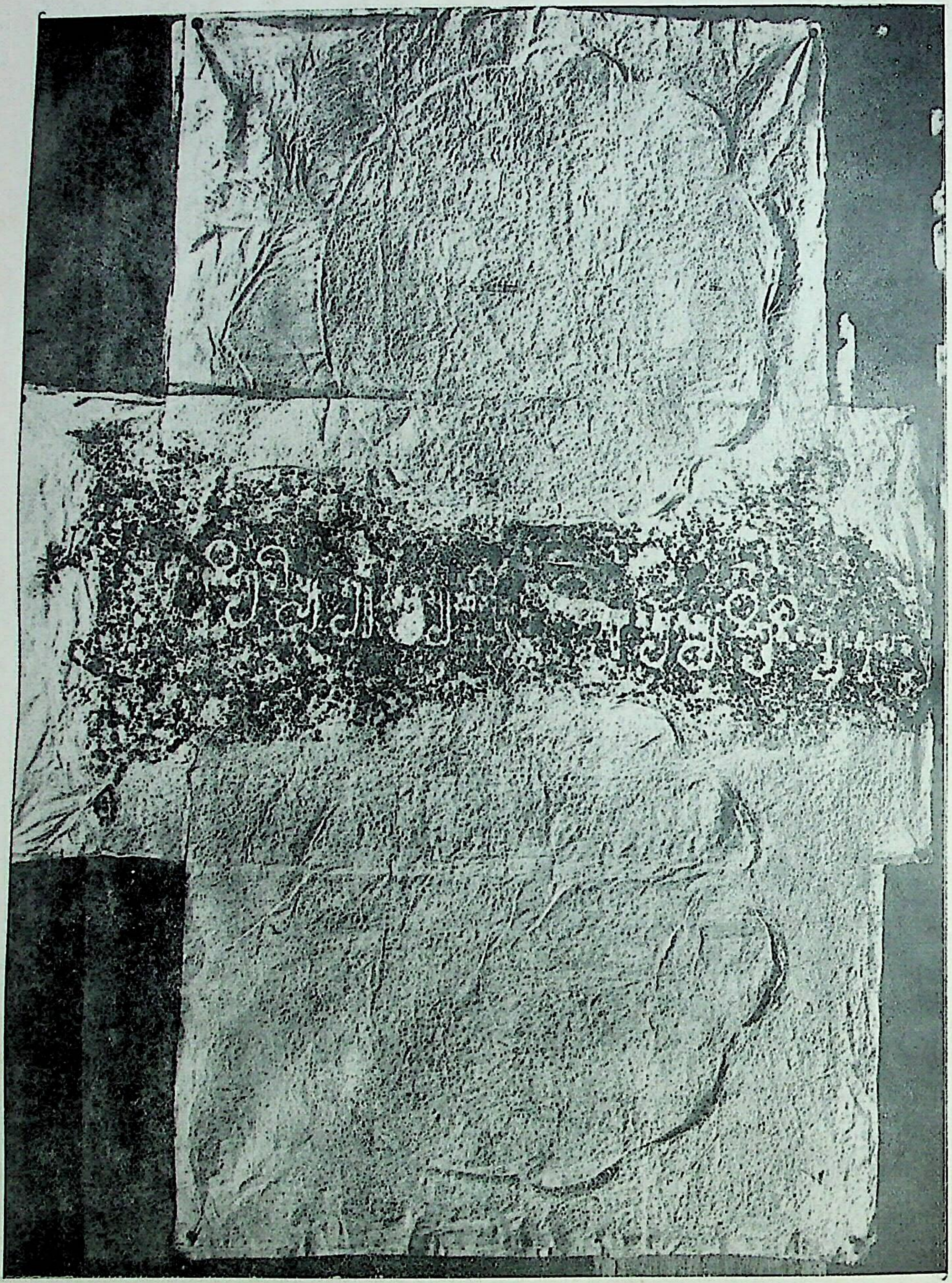

कवोन् कोपि का शिलालेख (२) पृष्ठ २२३

है। इस लेख का विषय पूर्णवर्मा के हाथी का पदद्वय है। भाषा और रीति के संबंध में पूर्व के दो लेखों के साथ इस लेख का कितना घनिष्ठ संबंध है, यह पढ़ते ही स्पष्ट हो जाता है। प्रतिलिपि देखिए—

(१)...जयविशालस्य तारुमे[न्द्र]स्य हर्[स्त]नः
...[ऐरा]वताभस्य विभातीदम्पदद्वयम्

अनुवाद—विजयशाली तारुमाधिपति के ऐरावतोपम हाथी के ये पदद्वय शोभा दे रहे हैं।

समीक्षा—छंद यहाँ भी अनुष्टुप् है, और सारा एक ही सतर में लिखा गया है। हाथी के पाँवों की छाप ने बहुत जगह घेर ली है, अन्यथा यहाँ भी एक सतर में एक चरणवाला विन्यास होता, जैसा चि-अरुतन्वाले शिलालेख में है। प्रथम और तृतीय चरण के पहले दो-दो अक्षर बिलकुल गायब हैं। दूसरे चरण में 'न्द्र' और 'स्त' बहुत धुँधले हैं। तीसरे चरण के तीसरे और चौथे अक्षरों की मात्राएँ ही दिखाई देती हैं, तो भी '—आभस्य' कहने से यह स्पष्ट ही है कि हाथी को कोई उपमा दी गई है, और 'तारुमा' के 'इंद्र' के हाथी की उपमा देवराज इंद्र के ऐरावत नामक हाथी से न दी जाय तो और किससे दी जाय! इस तरह ये लुप्त अक्षर भी ढूँढ़ लिए गए, और यह सारा श्रेय प्रोफ़ेसर फोखल को है।

४—तुगु (बकस्सि) का शिलालेख [The Tugu (Bekasih) Rock-Inscription]

यह शिला सन् १९११ तक 'बकस्सि' जिले के अंतर्गत 'तुगु' नामक गाँव में पड़ी थी। बाद को बताविया (Batavia) के म्यूज़ियम में लाई गई। इसकी शकल मंदिर के शिखर की तरह है, और लेख उसके इर्द-गिर्द इस तरह लिखा हुआ है कि हर-एक रेखा के आद्य और अंत्य अक्षर आमने-सामने आ जाते हैं। इस स्थान पर नीचे से ऊपर तक एक द्विगुण रेखा खींची हुई है ताकि पढ़नेवाला भ्रम में न पड़ जाय कि लेख की रेखाओं का आरंभ कहाँ से होता है और समाप्ति कहाँ पर होती है। इस दंडायमान द्विगुण रेखा के सिरे पर फूल, दीवट, अथवा त्रिशूल का-सा एक निशान बना है। इसके भी कोई विशेष अर्थ हैं या यह एक सजावट मात्र ही है, इस बात का अभी तक कोई निर्णय नहीं हुआ। लेख में पाँच अनुष्टुप् छंद हैं और पाँच ही सतरें हैं। पत्थर को जहाँ-तहाँ क्षति पहुँची है, तो भी लेख प्रायः सारा सुपठ है। प्रतिलिपि उसकी यह है—

(१) पुरा राजाधिराजेन गुरुणा पीनबाहुना
खाता ख्यातां पुरीं प्राप्य

(२) चन्द्रभागार्णवं ययौ ॥
प्रवर्द्धमानद्वाविङ्शद्वत्सर (रे) श्रीगुणौजसा
नरेन्द्रध्वजभूनेन (भूतेन)

(३) श्रीमता पूर्णवर्म्मणा ॥
प्रारभ्य फाल्गुणे (ने) मासे खाता कृष्णाष्टमी तिथौ
चैत्रशुक्लत्रयोदश्याम् दिनैस्सिद्धैकविङ्शकै [:]

(४) आयता षट्सहस्रेण धनुषा [-̇] सशतेन च
द्वाविङ्शेन नदी रम्या गोमती निर्मलोदका ॥
पितामहस्य राजर्षेर्व्विदार्य्य शिबिरावनिं
(५) ब्राह्मणैर्ग्गोसहस्रेना (ण) प्रयाति कृतदक्षिणा ॥

अनुवाद—पहले राजाधिराज पीनबाहु गुरु द्वारा खुदाई हुई चंद्रभागा, प्रसिद्ध नगरी से होती हुई, समुद्र में बही। बढ़ते हुए बाईसवें वर्ष में, ऐश्वर्यवान्, गुणशाली, तेजस्वी एवं राजाओं में श्रेष्ठ श्रीपूर्णवर्मा द्वारा, फागुन महीने के अँधेरे पक्ष की अष्टमी तिथि से आरंभ कर और चैत महीने के शुक्ल पक्ष की त्रयोदशी तिथि को—अर्थात् इक्कीस दिनों में—समाप्त कर, खुदाई हुई छः हजार एक सौ बाईस धनुष लंबी स्वच्छ जलवाली सुंदर गोमती नदी, पितामह राजर्षि की छावनी को चीरती हुई, ब्राह्मणों को हजारों गौएँ दान दिलाकर, बह रही है।

समीक्षा—लेख की रचना सरल है, किंतु भाव पूर्णतया स्पष्ट नहीं। पहले के तीन लेखा की तरह विषय यहाँ चरण-युगल नहीं, बल्कि एक नहर की खुदाई है। जावा में बरसात के दिनों में नदियों में बाढ़ बहुत आती है और बहुत नुकसान पहुँचाती है। इससे वहाँ प्रायः नहरें खुदवाई जाती थीं, जिनके द्वारा बाढ़ का पानी समुद्र में बहाया जाता था। अथवा, नदियों के किनारों पर ऊँचे-ऊँचे बाँध बँधवाए जाते थे, और इस प्रकार पानी के चढ़ाव से गाँव आदि की रक्षा की जाती थी। इस विषय का जिक्र जावा के बाद के लेखों में, जो जावा की ही भाषा में हैं, बहुत बार आता है। प्रस्तुत लेख में चंद्रभागा और गोमती, ये दो नाम उल्लेखनीय हैं। चंद्रभागा पंजाब-प्रांत की पाँच मुख्य नदियों में एक है, जिसे आज-कल 'चनाब' कहते हैं। 'गोमती' युक्तप्रांत में गंगा की एक शाखा-नदी है, जिसके किनारे पर लखनऊ आबाद है। ये दोनों नाम जावा में किस तरह गए, यह भी एक रुचिकर विषय है। स्मरण रहे कि जावा में बहुत-से नगर, गाँव, पहाड़, नदी आदि भारतीय नगरादिकों के नामों से प्रसिद्ध हैं। उदाहरणार्थ—सुमेरु, सरयू इत्यादि। अस्तु, यह एक स्वतंत्र लेख का विषय है।

लेख के पहले श्लोक में पड़ा हुआ 'गुरु' शब्द और पाँचवें श्लोक में 'पितामह राजर्षि' शब्द संभवतः एक ही व्यक्ति के बोधक हैं। 'पीनबाहु' विशेषण मात्र है अथवा विशेष संज्ञा है, इसका निर्णायक कोई प्रमाण नहीं। 'ख्याता पुरी' से तारुमा पुरी समझी जाय या और कोई, यह भी संदेहास्पद है। चारों लेखों में से इसी एक लेख में वर्ष आदि का उल्लेख हुआ है; किंतु उसका संबंध केवल शासन-काल से ही है। शक आदि संवत् का उल्लेख न होने से पूर्णवर्मा के काल-निर्णय पर कोई प्रकाश नहीं पड़ा। फाल्गुन-कृष्ण अष्टमी से लेकर चैत्र-शुक्ल त्रयोदशी तक इक्कीस दिन गिने गए हैं, इससे स्पष्ट है कि महीना शुक्ल पक्ष से शुरू होता है, अर्थात् यहाँ अमांत रीति का अनुसरण किया गया है, पूर्णिमांत का नहीं। छः हजार एक सौ बाईस धनुष लंबी गोमती केवल इक्कीस दिनों में खोदी गई, यह कुछ असंभव-सा जान पड़ता है। 'धनुष' का परिमाण चार हाथ का है। इस हिसाब से छः हजार एक सौ बाईस धनुष का विस्तार लगभग सात मील होता है। पूर्णवर्मा ने आखिर कितने मजदूर लगवाए होंगे? 'शिबिरावनि' का अनुवाद 'छावनी' कर दिया है, किंतु इससे क्या

समझा जाय, यह स्पष्ट नहीं। क्या गोमती उस स्थल से होकर बही जहाँ सेना के तंबू लगा करते थे? अथवा, तंबू लगे हुए थे और बरसात में उमड़ती हुई गोमती उन्हें बहा ले गई? अथवा कोई और ही अर्थ है? जब तक प्रमाणांतर नहीं मिलता, यह प्रश्न भी खुला पड़ा है। हाँ, अंत में पड़े हुए 'दक्षिणा' शब्द से एक ध्वनि उठती है जिससे इस बात की पुष्टि होती है कि गोमती वस्तुतः 'शिबिर' को बहा ले गई, और नदी का फिर ऐसा प्रकोप न हो—इस उद्देश्य से उसके निमित्त गोदान आदि किया गया। व्याकरण की दृष्टि से तो लेख की रचना में कई त्रुटियाँ हैं, किंतु वे अभिप्रेत अर्थ में बाधक नहीं हैं। फिर भी वह अभिप्रेत अर्थ इतना संकुचित है कि पढ़नेवाला पूछता ही रह जाता है—'गुरु' ने 'चंद्रभागा' कब खुदाई थी? क्यों खुदाई थी? 'पुरी' कौन-सी थी? 'प्रवर्धमान'-'वत्सर' पूर्णवर्मा के अपने राज्य का ही है न? गोमती लंबी तो उतनी थी, चौड़ी और गहरी कितनी थी? इत्यादि।

५—चंगल का शिलालेख, शक-संवत् ६५४ [The Changal Inscription]

चंगल, जहाँ से यह शिलालेख मिला है, कलस्सन् से उत्तर की ओर थोड़ी ही दूर है। यह शिलालेख भी आज-कल बताविया के म्यूजियम में पड़ा है। शिलापट्ट एक सौ दस सेंटीमीटर ऊँचा और अठहत्तर सेंटीमीटर चौड़ा है। लेख में पचीस सतरें हैं और बारह पद्य। उनमें से पहला, दूसरा, चौथा, पाँचवाँ, छठा, सातवाँ और बारहवाँ शार्दूलविक्रीडित है। तीसरा, आठवाँ और ग्यारहवाँ स्रग्धरा है। नवाँ वसंततिलका और दसवाँ पृथ्वी है। संवत, मिति आदि से युक्त लेखों में यह प्राचीनतम है। शक-संवत् ६५४ में यह लिखा गया था। भाषा इसकी प्रौढ़ और कवित्वपूर्ण है।

शब्द-संधियों के विषय में यह लेख 'दिनय' के लेख का बिलकुल प्रतिरूप है। शिव, ब्रह्मा और विष्णु को क्रमशः नमस्कार कर लेखक ने जावा-द्वीप का कुछ वर्णन किया है और (संभवतः) दक्षिणी भारत से आए हुए एक राजवंश का वहाँ आधिपत्य वर्णित किया है। पहले राजा का नाम 'सन्न' अथवा 'सन्नाह' था। अनंतर उसका लड़का 'संजय' राज करता था। प्रस्तुत लेख 'संजय' के ही राज्यकाल में लिखा गया है। उक्त राजवंश और राजाओं के विशेष इतिहास पर अभी बहुत कुछ जानने की अपेक्षा है। कहीं-कहीं शब्द स्पष्ट नहीं, और एकाध जगह पर अक्षर बिलकुल गायब हैं, अन्यथा सारा लेख सुरक्षित दशा में है। प्रतिलिपि से यह बात स्पष्ट हो जाएगी—

(१) शाकेन्द्रेतिगते श्रुतीन्द्रियरसैरङ्गीकृते वत्सरे
वारेन्दौ धवलत्रयोदशि तिथौ भद्रोत्तरे कार्त्तिके

(२) लग्ने कुम्भमये स्थिराङ्गविदिते प्रातिष्ठिपत्पर्व्वते
लिङ्गं लक्षणलक्षितन्नरपतिश्श्रीसञ्जयश्शान्तये ॥

(३) गङ्गोत्तुङ्गतरङ्गरञ्जितजटामौलीन्दुचूड़ामणि
र्भास्वत्यंतिविभूतिदेहविकसन्नागेन्द्रहारद्युतिः

(४) श्रीमत्स्वाञ्जलिकोशकोमलकरैर्देवैस्तु य स्तूयते
स श्रेयो भवतां भवो भवतमस्सूर्य्यो ददात्वद्भुतम्
(५) भक्तिप्रह्वैर्मुनीन्द्रैरभिनुतमसकृत् स्वर्ग्गनिर्व्वाणहेतो
र्देवैर्लेखर्षभाद्यैरवनतमकुटैश्चुम्बितं ष
(६) ट्पदाभैः
अङ्गुल्याताम्रपत्रन्नखकिरणलसत्केसरारञ्जितान्तं
देयात् शं शाश्वतम्वस्त्रिनयनचर
(७) णानिन्दिताम्भोजयुग्म ॥
ऐश्वर्य्यातिशयोद्भवात्सुमहतामप्यद्भुतानान्निधि
स्त्यागैकान्तरतस्तनोति
(८) सततं यो विस्मयं योगिनाम्
योष्टाभिस्तनुभिर्जगत्करुणया पुष्णाति न स्वार्थतो
भूतेशश्शशिखण्डभू
(९) षितजटस्स त्र्यम्बकः पातु वः ॥
विभ्रद्धेमवपुस्स्वदोषदहनज्वाला इवोद्यज्जटा
वेदस्तम्भसुव
(१०) द्धलोकसमयो धर्म्मार्थकामोद्भवः
देवैर्व्वन्दितपादपङ्कजयुगो योगीश्वरो योगिनां
मान्यो लोक
(११) गुरुर्द्ददातु भवतां सिद्धिं स्वयम्भूर्व्विभुः ॥
नागेन्द्रोत्फणरत्नभित्तिपतितां दृष्ट्वात्मनिम्वश्रियं
सभ्रू
(१२) भङ्गकटाक्षया कुपितया दूरं श्रिया वीक्षितः
यो योगारुणलोचनोत्पलदलश्शेतेम्वुशय्यात
(१३) ले
त्राणार्थन्त्रिदशैस्स्तुतस्य भवतान्देयात् श्रियं श्रीपतिः ॥
आसीद्द्वीपवरं यवाख्यमतुलं धान्या
(१४) दिवीजाधिकं
सम्पन्नं कनकाकरैस्तदमरै... ...दिनोपार्जितम्
श्रीमत्कुञ्जरकुञ्जदेशनिहितव
(१५) ङ्शादितीवाधृतं

स्थानन्दिव्यतमं शिवाय जगतश्शम्भोस्तु यत्राद्भुतम् ॥
तस्मिन्द्वीपे यवाख्ये पुरुषपद
(१६) महालक्ष्मभूते प्रशस्ते
राजोग्रोदग्रजन्मा प्रथितपृथुयशस्सामदानेन सम्यक्
शास्ता सर्व्वंप्र
(१७) जानाञ्जनक इव शिशोर्जन्मतो वत्सलत्वा
त्सन्नाख्यस्सन्नतारिर्म्मनुरिव सुचिरम्पाति धर्म्मेण पृथ्वीम्
(१८) एवङ्गते समनुशासति राज्यलक्ष्मीं सन्नाह्वयेन्वयविधौ समतीतकाले
स्वर्ग्गे सुखं फलकुलो
(१९) पचितम्प्रयाते भिन्नञ्जगद्भ्रमति शोकवशादनाथम् ॥
ज्वलज्ज्वलनविद्रवत्कनकगौरवर्णः......
म
(२०) हद्भुजनितम्वतुङ्गतममूर्द्ध श्रृङ्गोन्नतः
भुवि स्थितकुलाचलांक्षितिधरोच्चपादोच्छ्रयः
प्रभूत
(२१) गुणसम्पदोद्भवति यस्ततो मेरुवत् ॥
श्रीमान् यो माननीयो वुधजननिकरैश्शास्त्रसूक्ष्मार्थवेदी
रा
(२२) जा शौर्य्यादिगुणैयो रघुरिव विजितानेकसामन्तचक्रः
राजा श्रीसञ्जयाख्यो रविरिव यशसा दि
(२३) ग्विदिक्ख्यातलक्ष्मी
स्सूनुस्सन्नाहनाम्नस्स्वसुर......न्यायतः शास्ति राज्यम् ॥
यस्मिञ्छासतिसाग
(२४) रोर्म्मिरशनां शैलस्तनीम्मेदिनीं
शेते राजपथे जनो न चकितश्चौरैर्न चान्यैर्भयैः
कीर्त्त्याढ्यैरलम
(२५) र्ज्जिताश्च सततन्धर्म्मार्थकामा नरैः
नूनं रोदिति रोदिति स कलिर्नास्त्यङ्शशेषो यतः ॥

अनुवाद—[१—२] शक राजा के बाद छः सौ चौवनवें बरस में, सोमवार, कार्त्तिक की भद्रोत्तरा त्रयोदशी के दिन, स्थिरांग कुंभलग्न में, श्रीमान् संजय नामक राजा ने, 'राज्य में शांति रहे'—इस उद्देश्य से, पर्वत पर सर्वलक्षण-संपन्न शिवलिंग की स्थापना कराई। [३—४] जिनके—गंगा की उमड़ती हुई तरंगों से शबलित जटाओंवाले—सिर पर चूड़ामणि के समान चंद्रमा विराजमान है, जिसकी

चमकीली पवित्र (?) भस्म से रमी हुई देह पर कलोलें करते हुए साँप हारों की-सी शोभा दे रहे हैं, तथा देवता लोग अपने सुंदर कर-कमलों को मुकुलित कर प्रणाम करते हुए जिसकी स्तुति करते हैं, वह—जन्ममरणादि दुःख-रूप अंधकार के विनाश करने में सूर्य-रूप—महादेव आपको श्रेयः प्रदान करे। [५—६] स्वर्गप्राप्ति एवं मोक्ष की कामना से मुनिगण श्रद्धा-भक्ति से झुककर सदा जिनको प्रणाम करते हैं, लेख ऋषभ आदि देववृंद सिर झुकाकर अपने मुकुटों से भ्रमरवत् जिनका चुंबन करते हैं, वे—गुलाबी अंगुलियों की पँखड़ियोंवाले, नखों की किरणों से सुशोभित सुंदर किंजल्कोंवाले—भगवान् महादेव के स्वच्छ चरणारबिंद सदा आपका कल्याण करें। [७—८] अनंत ऐश्वर्य की खान होने से जो बड़ी से बड़ी आश्चर्यजनक वस्तुओं का खजाना है, जो निरंतर केवल त्याग में निरत रहते हुए योगियों को (भी) आश्चर्य में डालता है, जो दया और निःस्वार्थ भाव से (पृथ्वी, जल, तेज आदि) आठ मूर्त्तियों में (साक्षात् हो) जगत् का पालन करता है, वह—भूतपति, अर्धचंद्र से सुशोभित जटाओंवाला—त्रिलोचन महादेव आपकी रक्षा करे। [९—११] जिसका शरीर सुवर्ण के समान उज्ज्वल है; जो जटाएँ क्या, अग्नि की लपटें धारण किए हुए है—वह अग्नि जो उसने रागद्वेषादि दोषों को भस्मसात् करने के लिये जला रक्खी है; जिसने लोक को वेदों के अनुसार वैसे ही मर्यादाबद्ध कर रक्खा है जैसे कोई किसी को स्तंभ से बाँध देता है; जो त्रिवर्ग—धर्म, अर्थ, काम—की खान है; देवगण जिसके चरण-कमलों की वंदना करते हैं और जो योगियों का योगीश्वर है; वह सर्वमान्य जगद्गुरु स्वयंभू विधाता—ब्रह्मा—आपको सिद्धि प्रदान करे। [११—१३] ऊपर उठी हुई अनंत नाग की फटाओं में स्थित रत्नों के फलक पर पड़े हुए अपने ही प्रतिबिंब को देखकर कुपित हुई—भवें चढ़ाती और कटाक्ष मारती हुई—लक्ष्मी से देखा जाता हुआ, योग-समाधि में अपने नेत्र-रूपी कमल-दल लाल किए, समुद्र में जो शयन कर रहा है, वह—रक्षा के निमित्त देवताओं द्वारा स्तुत—भगवान् विष्णु आपको श्रीसंपन्न करे। [१३—१५] 'यव' (जावा) एक अनुपम द्वीप है, जहाँ सर्व प्रकार के धान्य बहुतायत से हैं, जो सोने की खानों से संपन्न है, जिसे अमरों ने ......(?) से उपार्जित किया है, वहाँ जगत् के कल्याणार्थ महादेव का एक अतिमनोज्ञ दिव्य स्थान है, जो कुंजरकुंज देश के वंशजों के अधीन है। [१५—१७] उस पुरुष (पुरुषोत्तम—विष्णु—त्रिविक्रम—वामन ?) के चरणों की विशाल छाप के शकलवाले प्रशस्य 'यव' नामक द्वीप में 'सन्न' नामक प्रतापी और कुलीन राजा है, जिसका विपुल यश (चारों ओर) फैला हुआ है, जो साम-दानादि उपायों से यथोचित शासन करता है, जो जन्म से ही मृदुस्वभाव होने के कारण प्रजा के लिये वैसा ही है जैसा बच्चे के लिये बाप, जो शत्रुओं पर विजय प्राप्त किए हुए है, और जो मनु के समान बहुत काल से धर्मनीति से राज कर रहा है। [१८—१९] इस प्रकार राज्य-शासन करते हुए काल-क्रम से कुलीन 'सन्न' नामक राजा के अपने गुणों से अर्जित सुख का उपभोग करने के लिये स्वर्गारोहण करने पर, शोक से विह्वल हो, सारा संसार अनाथ की भाँति व्यामोह में पड़ गया। [१९—२०] धधकती आग में पिघलते हुए सोने के समान भड़कीली कांतिवाला, पीन भुजाओं और नितंबों तथा सबसे ऊँचे उठे हुए सिर से उन्नत शिखरवाला, संसार भर के राजवंशों में उच्चतम स्थान रखने से अन्य भूधरों की अपेक्षा अधिक उँचाईवाला, और अपने गुण-माहात्म्य से जो उनमें से उन्नततम होकर अवस्थित है—[२१—२३]

जो श्रीसंपन्न है, जो विद्वानों का माननीय है, जो शास्त्रों का विशेषज्ञ है, जो शूरता आदि गुणों में राजा रघु के समान है, जिसने अनेक रजवाड़े वश में कर रक्खे हैं, जो यश में सूर्य के समान है, जिसकी शोभा चारों ओर फैली हुई है, वह—'सन्नाह' (राजा) का लड़का श्रीमान् 'संजय'—न्यायपूर्वक राज कर रहा है। [२३—२५] जिसके—समुद्र की लहरों से कांचीवाली, पर्वतों से कुचशालिनी पृथ्वी (रूपी रमणी) पर—शासन करते समय लोग चोरों अथवा अन्य प्रकार के भय से निःशंक हो सरे बाजार सोते हैं, कीर्त्तिसंपन्न हैं और निरंतर धर्म-अर्थ-काम का अर्जन करते हैं; ऐसा मालूम होता है कि कलियुग ढाढ़ें मार-मारकर रो रहा है, क्योंकि उसका अंश-मात्र भी शेष न रहा।

समीक्षा—पहले पद्य के 'त्रयोदशितिथौ' में 'शी' को छंदोनुरोध से ह्रस्व कर दिया है, जैसे 'दिनय' वाले लेख में 'परि' को 'परी' किया है। फिर छठे पद्य में भ्रांतिमान् अलंकार अच्छा बाँधा है। किंतु 'दृष्ट्वा......श्रियं......कुपितया...श्रिया वीक्षितः......देयात् श्रियं श्रीपतिः' में बार-बार 'श्री' शब्द के प्रयोग से अनवीकृत दोष है या नहीं, यह तो जुदा रहा; 'श्री के पति अपनी श्री को आप लोगों के हवाले कर दें—कुपित होने का जरा वह भी मजा चख लें—'इस अनभिमत अर्थ की प्रतीति हुए बिना नहीं रहती। शेष रचना में कोई ऐसी शिकायत नहीं।

६—दिनय का शिलालेख, शक-संवत् ६८२ [The Dinaya Inscription]

'दिनय' नामक स्थान से प्राप्त होने के कारण यह शिलालेख उपर्युक्त नाम से प्रसिद्ध है। यह शिलापट्ट तीन टुकड़ों में टूटा पड़ा था। .पहले केवल मध्य का टुकड़ा ही मिला था; पर भाग्य से कुछ साल बाद शेष दो टुकड़े भी मिल गए। लेख, संवत् मिति आदि से संपूर्ण है; परंतु किस राजवंश का जिक्र है—यह अभी तक मालूम नहीं हुआ। संवत् ६८२ शक है। लकड़ी की अगस्त्य-मूर्त्ति टूटी देख लिंब (?) राजा ने प्रस्तरमयी मूर्त्ति बनवाई और बड़ी धूमधाम से मूर्त्ति की प्रतिष्ठापना कराई, दान-पुण्य किया—इत्यादि इस लेख का विषय है। कई स्थलों पर इसके अक्षर मिटे हुए हैं, और कई स्थानों पर अर्थ भी अस्पष्ट हैं। प्रतिलिपि इस प्रकार है—

(१) स्वस्ति शकवर्षातीत ६८२
(२) आसीत् नरपतिः धीमान् देवसिंहः प्र
(३) तापवान् येन गुप्त (ः) परीभाति पूतिकेश्व
(४) र पाविता ॥ लिम्वः अपि तनयः तस्य गजयानः
(५) इति स्मृतः ररक्ष स्वर्गगे ताते सुतान् पुरुषान् मह—
(६) ॥ लिम्वस्य दुहिता जज्ञे प्रदपुत्रस्य भूपतेः उत्तेज
(७) ना इति महिषी जननी यस्य धीमतः ॥ अ...ननः कलश
(८) जे भगवति अगस्त्ये भक्तः द्विजातिहितकृद् गजयानना (मा)
(९) मौनैः सनायकगणैः समकारयत् तद् रम्यम् मह (र्)
(१०) षिभवनम् वलहाजिरिभ्यः ॥ पूर्वैः कृताम् तु सुरदारुमयीं

(११) समीक्ष्य कीर्त्तिप्रियः तलगतप्रतिमां मनस्वि आज्ञा
(१२) प्य शिल्पिनम् अरम् सः...दीर्घदर्श्शी कृष्णाद्भुतोपलम
(१३) यीम् नृपतिः चकार ॥ राज्ञागस्त्यः शकाब्दे नयनवसु
(१४) रसे मार्ग्गशीर्षे च मासे आर्द्रर्थ्थे शुक्रवारे प्रतिप
(१५) ददिवसे पक्षसन्धौ ध्रुवे...ऋत्विग्भिः वेदविद्भिः यतिवर
(१६) सहितैः स्थापकाद्यै(:) समैनैः कर्मज्ञैः कुम्भलग्ने सुदृढ
(१७) मतिमता स्थापितः कुम्भयोनिः ॥ क्षेत्रं गावः सपुष्पाः महिष
(१८) गणयुताः दासदासीपुरोगाः दत्ता राज्ञा महर्षिप्रवरचरुह
(१९) विस्स्नानसम्वर्धनादि व्यापारार्थम् द्विजानाम् भवनम् अपि गृहम
(२०) उत्तरम् च अद्भुतम् च विस्रम्भाय अतिथीनाम् यवयवि
(२१) कशयाच्छादनैः सुप्रयुक्तम् ॥ ये बान्धवाः नृपसुताः च
(२२) सुमन्त्रिमुख्याः दत्तौ नृपस्य यदि ते प्रतिकूलचित्ताः नास्ति
(२३) क्यदोषकुटिलाः नरके पतेयुः न अमुत्र च नेह च गतिम्
(२४) ······लभन्ते ॥ वंश्याः नृपस्य रुधिताः यदि दत्तिवृद्धौ आस्तिक्य
(२५) शुद्धमतय(:)·········पूजाः दानाद्यपुण्ययजनाद्ध्ययना
(२६) दिशीलाः रक्षन्तु राज्यम्······नृपतिर् यथैवम्

अनुवाद—[१] स्वस्ति शक-संवत् के छः सौ बयासी वर्ष व्यतीत होने पर [२—४] देवसिंह (नामक) बुद्धिमान् और प्रतापशाली एक राजा हुआ, जिसके द्वारा सुरक्षित पूतिकेश्वर पविता (?) शोभायमान है। [४—५] उसका भी 'लिंब' नामक एक लड़का था, जो 'गजयान' उपनाम से प्रसिद्ध था। पिता के स्वर्गारोहण के बाद उसने प्रजा की पुत्रवत् रक्षा की। [६—७] लिंब के 'उत्तेजना' नामक पुत्री हुई, जो बुद्धिमान् प्रदपुत्र जननीय (?) राजा की रानी बनी। [७—१०] कुंभयोनि महर्षि अगस्त्य के भक्त एवं द्विजों के हितैषी 'गजयान' नामक (राजा) ने मुनिगण और नायक-वृंद की सहायता से वलहाजिरियों (?) के लिये यह रमणीय महर्षि-(अगस्त्य का)-भवन बनवाया। [१०—१३] पूर्वजों द्वारा चंदन के लकड़ी की बनवाई हुई मूर्त्ति को (टूटकर) भूमि पर पड़ी देख, उस बुद्धिमान् दूरदर्शी कीर्त्तिप्रिय राजा ने, 'अर' (नामक ?) कारीगर को आज्ञा देकर काले पत्थर की (एक) अति सुंदर (मूर्त्ति) बनवाई। [१३—१७] शक-संवत् ६८२ के अगहन महीने में; शुक्रवार प्रतिपदा तिथि को; पक्षसंधि में ध्रुव के आने पर; कुंभ लग्न में; आर्द्रर्थ्थ (वृष्ट्यर्थ ?); वेदविद् याज्ञिकों, यतियों, मुनियों और मेमार आदि कारीगरों की सहायता से; बुद्धिमान् राजा ने कुंभयोनि अगस्त्य (ऋषि की मूर्त्ति) की स्थापना की। [१७—२१] (इस अवसर पर) राजा ने भूमि, पुष्पमालाओं से सुशोभित गौओं और भैंसों का समूह, दास-दासियाँ, महर्षियों को स्नानादि याज्ञिक कर्मों की अभिवृद्धि के उद्देश्य से चरु-हवि आदि सामग्री, ब्राह्मणों को निवासस्थान, और अतिथियों के आराम के लिये भोजनाच्छादनादि से युक्त उत्तम तथा रम्य भवन दान किया। [२१—२४] राजा के पुत्र, पौत्र, मुख्यामात्य तथा और भी जो संबंधी हैं उन्होंने यदि राजा के इस दान में

कुछ हस्तक्षेप करना चाहा, तो वे नास्तिकता के दोष के भागी होंगे, कपटी समझे जाएँगे, नरक में पड़ेंगे, और न इस लोक में सुख पाएँगे न परलोक में। [२४—२६] (इसके विपरीत) राजा के वंशज यदि इस दान की वृद्धि में तत्पर रहे, तो वे आस्तिक·········पूजा के भागी होंगे, और इस राजा की भाँति दानादि पुण्य, यजन, अध्ययन आदि कर्मों में रुचि रखते हुए राज्य की रक्षा करेंगे।

समीक्षा—'स्वस्ति शकवर्षातीत ६८२' को छोड़ बाकी लेख पद्यमय है। नौ पद्य हैं। पहले के तीन अनुष्टुप्, आगे के दो वसंततिलका, फिर दो स्रग्धरा और अंतिम दो फिर वसंततिलका। शब्दों में संधि नहीं की गई, किंतु छंदों के प्रमाण से स्पष्ट है कि लेखक ने सुखबोध के लिये ऐसा किया है। प्रथम पद्य के 'परीभाति' में मालूम होता है कि लेखक ने 'परि' को दीर्घ करते हुए 'अपि माषं मषं कुर्याच्छन्दोभङ्गं न कारयेत्' का अनुसरण किया है। 'पूतिकेश्वर पाविता' अस्पष्ट है। डा० बॉस्स (Dr. F. D. K. Bosch) ने इसका अर्थ 'अग्नि' लिया है। दूसरे पद्य में 'लिम्व' संज्ञा-पद और 'गजयान' उपाधि है, किंतु विशिष्टार्थ क्या है, सो अभी तक पता नहीं। 'सुतान् पुरुषान्...'—ऐसा पढ़ने से छंद ठीक नहीं बैठता। तीसरे पद्य में भी, किसकी लड़की, किसका पुत्र, किसकी महारानी इत्यादि यहाँ सुस्पष्ट नहीं है। 'जननीयस्य धीमतः' पढ़ें या 'जननी यस्य धीमतः'? चौथे पद्य में 'गजयान नामा' है। यहाँ '-नामा' कहने से 'गजयान' संज्ञा-पद प्रतीत होता है। परंतु 'कलस्सन्' वाले लेख के 'करियान' और ऊपर के 'गजयान इतिस्मृतः' से पता लगता है कि यह नाम नहीं, उपनाम है। ये 'वलहाजिरि' कौन हैं? पुनः पाँचवें पद्य के 'सुरदारु' और देवदारु से जावा, बाली आदि द्वीपों में 'चंदन की लकड़ी' का अर्थ लिया जाता है, देवदारु नहीं। 'अरम्'—यह 'अर' उस शिल्पी का नाम है या कुछ और? 'दीर्घदर्शी' के पहले कौन-सा अक्षर है? 'अ'? छठे पद्य के 'आर्द्रर्ध्थे' का क्या मतलब? अथवा यह कोई और ही शब्द है? आठवें पद्य में 'न अमुत्र' के आगे का 'च' भ्रम से लिखा हुआ प्रतीत होता है, छंद उसे नहीं चाहता।

७—कलस्सन् का शिलालेख, शक-संवत् ७०० [The Kalasan Inscription]

यह लेख सतसठ सेंटीमीटर लंबे और छियालीस सेंटीमीटर चौड़े शिलापट्ट पर खुदा हुआ है। यह शिलापट्ट कलस्सन् और परंबनन् के बीच रेलवे लाइन के समीप मिला था। आज-कल यह 'योग्यकर्त्ता' में पड़ा हुआ है। यह लेख चौदह सतरों में, नागरी लिपि में, लिखा हुआ है। संवत् ७०० शक दिया हुआ है। इस समय के उत्तरी भारत के लेख भी ऐसी ही नागरी लिपि में लिखे मिलते हैं। उदाहरणार्थ, महेंद्रपाल की प्रशस्ति (A. D. 761, in Indian Antiquary, XV, 112) शैलेंद्रवंश के महाराज 'द्याः पंचपण पणंकरण' ने अपने गुरुओं अथवा गुरु के कथनानुसार तारादेवी की प्रतिमा बनवाई—उसका मंदिर बनवाया और महायानिक बौद्ध भिक्षुओं के लिये विहार बनवाया तथा (उनके भोजनाच्छादनादि के निमित्त) 'कालस' नामक गाँव दान दिया। यही इस लेख का विषय है। 'पंचपण पणंकरण' राजा का पूरा परिचय अभी तक नहीं मिला। लेख में कुछ शब्द यव-द्वीपीय भाषा के भी हैं। 'नमो भगवत्यै—'

इत्यादि को छोड़कर बाकी सारा लेख पद्यमय है। दो-चार शब्द विवादास्पद हैं, अन्यथा सब सुपठ हैं। उसकी प्रतिलिपि नीचे दी जाती है—

(१) नमो भगवत्यै आर्यतारायै ॥
या तारयत्यमितदुःखभवाब्धिमग्नं
लोकं विलोक्य विधिवन्त्रिविधैरु
(२) पायैः ।
सा वः सुरेन्द्रनरलोकविभूतिसारं
तारा दिशत्वभिमतं जगदेकतारा ॥ [१]
आवर्ज महाराजं द्याः पञ्च
(३) पणं पणंकरणम् ।
शैलेन्द्रराजगुरुभिस्ताराभवनं हि कारितं श्रीमत् ॥ [२]
गुर्वाज्ञया कृतज्ञैस्तारादेवो
(४) कृतापि तद्भवनम् ।
विनयमहायानविदां भवनं चाप्यार्यभिक्षूणाम् ॥ [३]
पङ्कुरतवानतीरिप
(५) नामभिरादेशशस्त्रिभी राज्ञः ।
ताराभवनं कारितमिदमपि चाप्यार्यभिक्षूणाम् ॥
राज्ये प्रवर्द्धमा
(६) ने राज्ञः शैलेन्द्रवङ्शतिलकस्य ।
शैलेन्द्रराजगुरुभिस्ताराभवनं कृतं कृतिभिः ॥
शकनृपकालातीतै
(७) र्वर्षशतैः सप्तभिर्म्महाराजः ।
अकरोद्गुरुपूजार्थं ताराभवनं पणंकरणः ॥
ग्रामः कालसनामा
(८) दत्तः संघाय साक्षिणः कृत्वा ।
पङ्कुर तवान तीरिप देशाध्यक्षान्महापुरुषान ॥
भुर्द
(९) क्षिणेयमतुला दत्ता संघाय राजसिंहेन ।
शैलेन्द्रवङ्शभूपैरनुपरिपाल्यार्यसन्तत्या ॥
(१०) सङ् पङ्करादिभिः सन्तवानकादिभिः ।
सङ् तीरिपादिभिः पत्तिभिश्च साधुभिः ॥ अपि च ॥

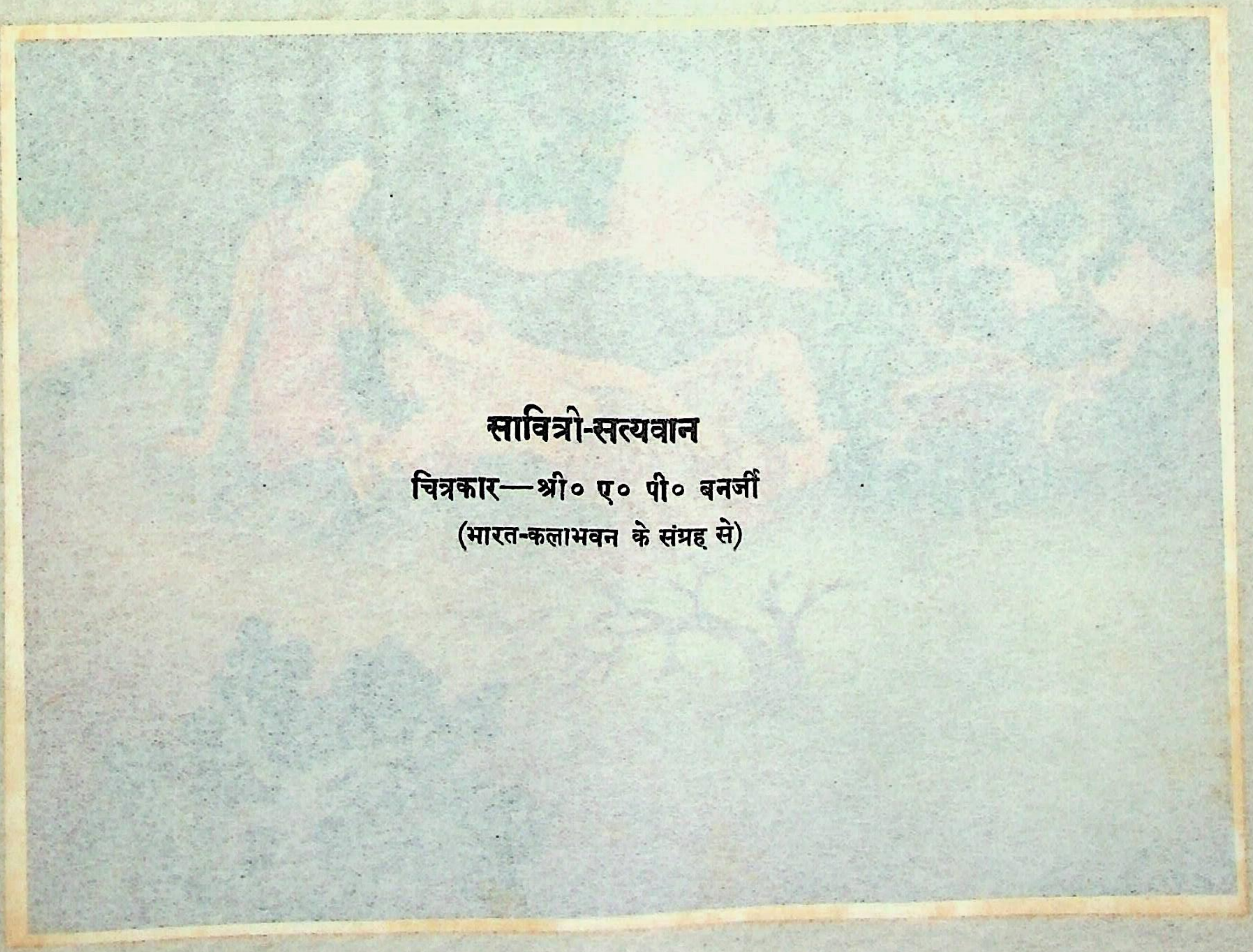

सावित्री-सत्यवान

चित्रकार—श्री० ए० पी० बनर्जी

(भारत-कलाभवन के संग्रह से)

इत्यादि के छोड़कर बाकी सारा लेख पद्यमय है। दो-चार शब्द विवादास्पद हैं, अन्यथा सब सुगम है। उसकी प्रतिलिपि नीचे दी जाती है—

(१) नमो भगवत्यै आर्यतारायै ॥
या तारयत्यमितदुःखभवाब्धिमग्नं
लोकं विलोक्य विधिवन्त्रिविधैरु
(२) पायैः।
सा वः सुरेन्द्रनरलोकविभूतिसारं
तारा दिशत्वभिमतं जगदेकतारा ॥ [१]
आवर्ज्य महाराजं द्याः पञ्च
(३) पणं पणंकरणम् ।
शैलेन्द्रराजगुरुभिस्तारभवनं हि कारितं श्रीमत् ॥ [२]
गुर्वाज्ञया कृतज्ञैस्तारादेवी
(४) कृतापि तद्भवनम् ।
विनयमहायानविदां भवनं चाप्यार्यभिक्षूणाम् ॥ [३]
पङ्कुरतवानतीरिप
(५) नामभिरादेशशास्त्रिभी राज्ञः
तारभवनं कारितमिदमपि चाप्यार्यभिक्षूणाम्
राज्ये प्रवर्द्धमा
(६) ने राज्ञः शैलेन्द्रवंशतिलकस्य ।
शैलेन्द्रराजगुरुभिस्तारभवनं कृतं कृतिभिः ॥
शकनृपकालातीतै
(७) र्वर्षशतैः सप्तभिर्महाराजः ।
अकरोद्गुरुपूजार्थं तारभवनं पणंकरणः ॥
ग्रामः कालसनामा
(८) दत्तः संघाय साक्षिणः कृत्वा ।
पङ्कुर तवान तीरिप देशाध्यक्षान्महापुरुषान् ॥
भूय
(९) [illegible] कृपा संघाय राजसिंहेन ।
शैलेन्द्रवंशभूपैरनुपरिपाल्या [illegible] ॥
(१०) पङ्कुरादिभिः [illegible] ।
तथ् तीरिपादिभिः पश्चिमैश्च साधुभिः ॥ अपि च ॥

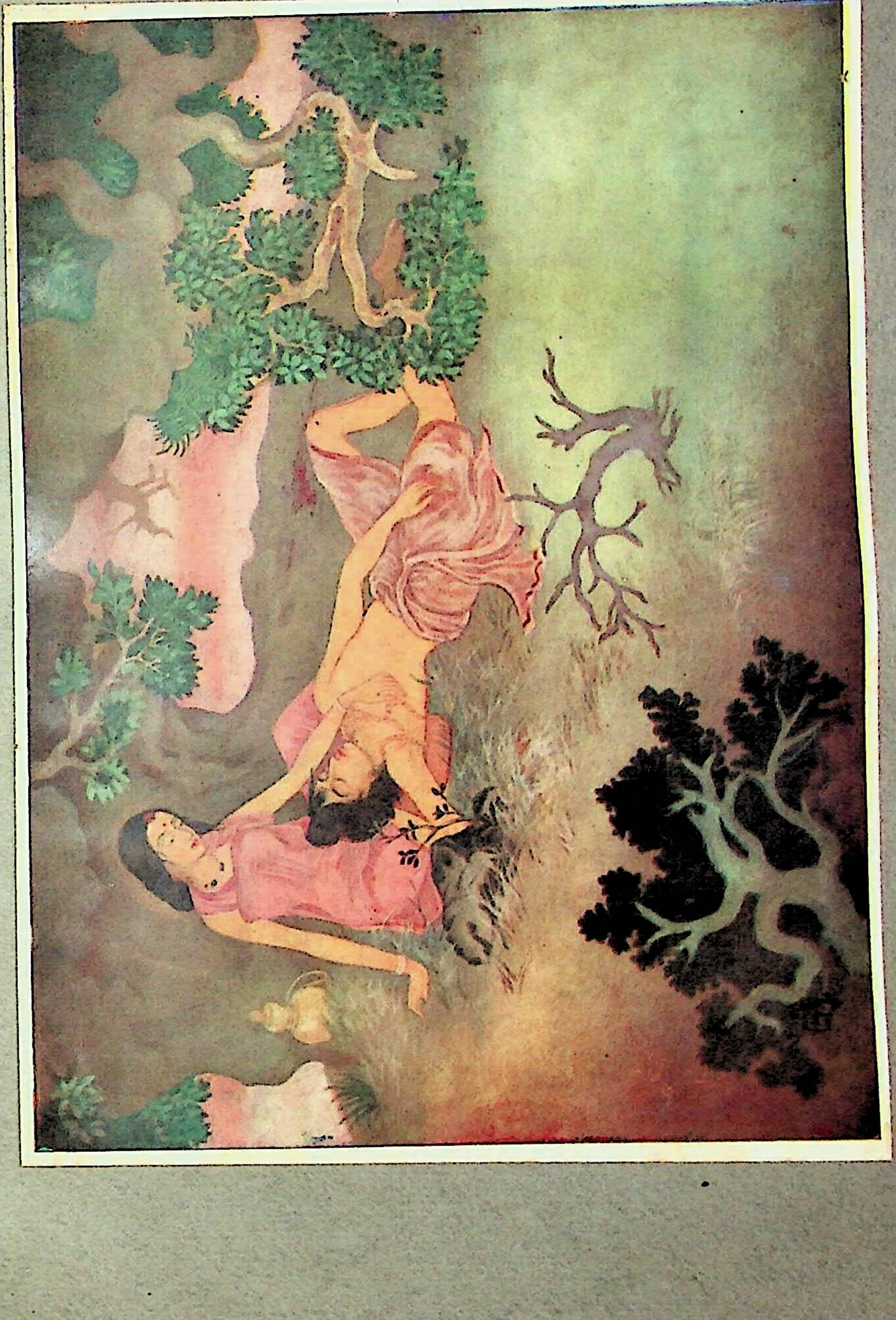

(११) सर्वानेवागामिनः पार्थिवेन्द्रान् भूयो भूयो याचते राजसिङ्हः ।
सामान्यो यन्धर्म्मसेतुर्न
(१२) राणां काले काले पालनोयो भवद्भिः ॥
अनेन पुण्येन विहारजेन प्रतीत्य जातार्थविभागवि
(१३) ज्ञाः ।
भवन्तु सर्वे त्रिभवोपपन्ना जना जिनानामनुशासनज्ञाः ॥
करियानपणंकरणः श्री
(१४) मानभियाचतेत्र भाविनृपान् ।
भूयो भूयो विधिवद्विहारपरिपालनार्थमिति ॥

अनुवाद—[१—२] भगवती आर्य तारा के प्रति नमस्कार ! दुःखमय अपार संसार-सागर में डूबे हुए लोगों को देखकर जो (उन्हें वहाँ से) यथावत् तीन उपायों द्वारा उबारती है वह—जगत् की एकमात्र निस्तारिणी, देवलोक और मर्त्यलोक के वैभव की सारभूता—तारादेवी आपको अभीष्ट फल दे। [२—३] शैलेंद्रराज (वंश) के गुरुवर्ग ने महाराज 'द्याः (?) पंचपण पणंकरण' को प्रेरित कर तारादेवी का सुंदर मंदिर बनवाया। [३—४] गुरुवर्ग की आज्ञा से कारीगरों ने तारादेवी (की मूर्त्ति) रची, उसका मंदिर भी (बनाया), और विनयपिटक (एवं अन्य) महायान शास्त्रों के विद्वान् आर्यभिक्षुओं के लिये विहार भी बनाया। [४—५] राजा के 'पंकुर', 'तवान' और 'तीरिप' नामधारी अधिकारियों ने तारा का मंदिर और आर्यभिक्षुओं का यह भवन भी बनवाया। [५—६] शैलेंद्रवंश के तिलक-भूत राजा वृद्धिशाली ने राज्य में, शैलेंद्रराज (वंश) के भाग्यवान् गुरुवर्ग ने, तारा का मंदिर बनवाया। [६—७] शक राजा के समय से लेकर सात सौ बरस बीतने पर महाराज पणंकरण ने गुरुओं के गौरवार्थ तारा-भवन बनवाया। [७—८] (और) पंकुर-तवान-तीरिप-उपाधिधारी प्रतिष्ठित देशाध्यक्षों को साक्षी बनाकर संघ को 'कालस' नामक गाँव प्रदान किया। [८—९] राजश्रेष्ठ ने संघ को यह अतुल भू-दक्षिणा दी। आर्यसंतान, अर्थात् शैलेंद्र-वंश के (आगामी) राजा लोग, इसे सुरक्षित रक्खें। [१०] (और) पंकुर, तवान, तीरिप तथा उनके अधीनस्थ अधिकारिवर्ग और सुशील पदातिगण (उक्त भू-दक्षिणा को सुरक्षित रक्खें)। [११—१२] राजश्रेष्ठ सभी आगामी राजाओं से बार-बार यह अभ्यर्थना करता है कि यह (भू-दान) सर्वसाधारण के लिये एक धर्मसेतु है, (इसलिये) समय-समय पर आप (इसका अनुमोदन कर) इसे सुरक्षित रक्खें। [१२—१३] (राजश्रेष्ठ आशा करता है कि) सभी लोग विहार-प्रतिष्ठापन के इस पुण्यकर्म से प्रसन्न, सर्वविध ज्ञान में विशेषज्ञ और वैभवसंपन्न हों तथा बोधिसत्त्वों के उपदेश (के सार) को समझनेवाले हों। [१३—१४] यहाँ (इस शिलालेख में) श्रीमान् करियान-पणंकरण आगामी राजाओं से (इस) विहार को यथावत् सुरक्षित रखने के लिये बार-बार प्रार्थना करता है।

समीक्षा—'नमो भगवत्यै आर्यतारायै' के अतिरिक्त यहाँ बारह पद्य हैं, जिनमें पहला वसंततिलका, दूसरा आर्या का उद्गीति-भेद, तीसरे से आठवें तक आर्या, दसवाँ शालिनी, ग्यारहवाँ उपेंद्रवज्रा और बारहवाँ फिर आर्या है। नवाँ पद्य कोई प्रसिद्ध छंद नहीं, अथवा इसके पद्य होने में

भी संदेह है। यदि यह पद्य है तो पहले और तीसरे पाद में छः-छः अक्षर हैं एवं दूसरे और चौथे में सात-सात। गणों अथवा मात्राओं का क्रम भी विषम-विषम और सम-सम है! आगे के 'अपि च' शब्द भी गद्य के भाग हैं। लेख में पुनरुक्ति उद्वेजक है। प्रथम पद्य का 'त्रिविधैरुपायैः' अस्पष्ट-सा है। साम, दान, भेद, दंड—ये चार उपाय हैं। संभव है, त्रिविध उपाय त्रिविध ताप के—मानसिक, वाचिक और कायिक ताप के—प्रतिरूप हों। यह भी संभव है कि 'त्रिविधैरुपायैः' की जगह 'विविधैरुपायैः' पाठ हो। दूसरे पद्य में भी 'आवर्जे' के स्थान पर संभवतः 'आवर्ज्य' पाठ हो। 'द्याः' भी कल्पना-मात्र है। 'पंचपण' भी जावा-निवासियों में किसी उपनाम अथवा उपाधि के रूप में प्रसिद्ध है। 'पणंकरण' तो राजा की विशेष संज्ञा, अर्थात् राजा का अपना नाम, है। 'गुरुभिः' का अनुवाद 'गुरुवर्ग' किया है, किंतु संभवतः यहाँ बहुवचन आदर-सूचक है और केवल एक ही व्यक्ति का बोधक है; ऐसी हालत में 'गुरुवर्ग' के स्थान पर केवल 'गुरु' ही अर्थ लेना चाहिए। 'तारा' से यह 'दुर्गा' न समझिए; क्योंकि यह लेख बौद्ध मत का है। बौद्धों में भी बाद में कई देवी-देवता माने गए हैं। प्रस्तुत तारा 'अमोघसिद्ध' नामक ध्यानी बुद्ध की पत्नी मानी गई है। विशेष वर्णन अन्यत्र देखिए। तीसरे पद्य में 'कृतज्ञैः' का अर्थ 'कारीगर' किया है। दिनयवाले लेख में 'स्थापकाद्यैः समौनैः कर्मज्ञैः' इत्यादि पाठ है। वहाँ के 'कर्मज्ञैः' और यहाँ के 'कृतज्ञैः' संभवतः समानार्थक ही हैं, छंदोनुरोध से 'कर्म' की जगह 'कृत' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'भवनं चापि आर्यभिक्षूणाम्' से अंतिम पद्य में पड़ा हुआ 'विहार' ही अभिप्रेत है। चौथे पद्य के 'पंकुर, तवान और तीरिप' भी यवद्वीपीय भाषा में अध्यक्ष-विशेषों के नाम हैं। इनका पूर्ण परिचय अभी तक नहीं मिला। '—शस्त्रिभिः' पद अभी तक संदिग्ध ही है। पाँचवें पद्य का 'शैलेन्द्रवंश-तिलक' और ऊपर आए हुए 'पणंकरण' एक ही व्यक्ति हैं या नहीं, इस विषय में विद्वान् लोग अभी संदेह में ही पड़े हुए हैं। 'पणंकरण' को कोई-कोई 'शैलेंद्रवंशतिलक' का वायसराय कहते हैं; क्योंकि शैलेंद्रवंश और उनका 'श्रीविजय' तथा 'कटाह' नामक देश सुमात्रा में था। सातवें पद्य में जो 'ग्रामः कालसनामा' है, वह 'कालस' गाँव आज-कल का 'कलस्सन्' ही प्रतीत होता है। आठवें पद्य में 'भुर्दक्षिणा' लिखा है; पर मतलब 'भूर्दक्षिणा' से ही है। बारहवें पद्य में 'करियान' है—अर्थात् 'जिसका वाहन हाथी है'। दिनयवाले लेख में 'गजयान' शब्द आया है। उसका भी अर्थ वही है। इन शब्दों का पूरा-पूरा तात्पर्य अभी तक नहीं खुला।

लेखांतर-सूची—[१] "The Earliest Sanskrit Inscriptions of Java" by Dr. J. Ph. Vogel. in "Publicaties van den Oudheidkundigen Dienst in Nederlandsche-Indië" Deel I—1925. यह लेख अँगरेजी में है और साथ में शिलालेखों के डबल फोटोग्राफ दिए गए हैं। 'पूर्णवर्मा' के चारों लेखों का यहाँ वर्णन है, और उन पर जिन-जिन विद्वानों ने आज तक जो कुछ लिखा है उसकी समालोचना की गई है। [२] "De Sanskrit-inscriptie van Canggal (Kĕdu), uit 654 Çāka" नामक लेख 'चंगल' के शिलालेख पर है और प्रोफेसर कर्न के लेख-संग्रह की सातवीं जिल्द में है, जहाँ और भी बहुत-से शिलालेखों पर लिखा हुआ है—Prof. H. Kern "Verspreide Geschriften, Deel VII," यह लेख डच भाषा में है। साथ में शिलालेख का चित्र,

फोटोग्राफ, नहीं दिया हुआ है। [३] "De Sanskrit-inscriptie op den Steen van Dinaja. (682 Caka)" door Dr. F. D. K. Bosch, in Het Tijdschrift van het Bataviaasch Genootschap van kunsten in Wetenschappen (deel LVII. afleevering 5) और Het Lingga-Heiligdom van Dinaja". इसी लेखक द्वारा, इसी पत्रिका में (अर्थात् Het Tijdschrift इत्यादि), परंतु Deel LXIV में, है। यह लेख 'दिनय' के शिलालेख के संबंध में है और डच भाषा में ही है। [४] "Een Nāgarī-opschrift gevonden tusschen Kalasan en Prambanan" door J. Brandes. उपर्युक्त पत्रिका के अप्रैल (१८८६) नंबर में यह लेख 'कलस्सन्'वाले शिलालेख पर है। लेखक के पास शिलालेख का अच्छा फोटोग्राफ न होने से शिलालेख के पढ़ने में बहुत-सी अशुद्धियाँ रह गई हैं, जिन्हें डाक्टर बॅास्स ने इस शिलालेख को पुनः प्रकाशित कर दूर कर दिया है। यह डॉक्टर बॅास्स का लेख उक्त पत्रिका में ही १९२९—अर्थात् Deel LXVIII—में छपा है।

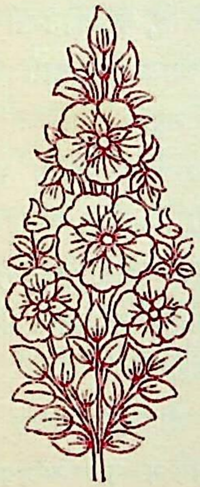

एक

वही एक हम हैं अनेक में
उसी एक में व्याप्त अनेक,
तुझमें मुझमें इसमें उसमें
सबमें वही झलकता एक।
भाँति-भाँति के रंग-रूप हैं
अलग-अलग सबकी अनुभूति,
भिन्न-भिन्न हैं भाव पदों के
वही एक है लय की टेक।

मदनमोहन मिहिर

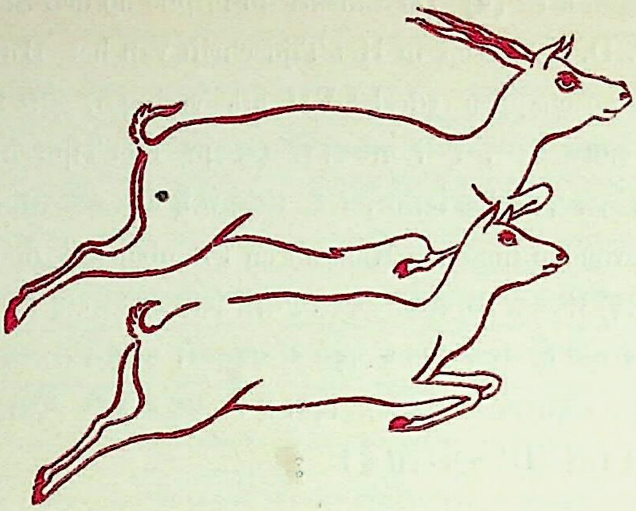

दुखी जीवन

श्री प्रेमचंद

हिंदू दर्शन दुःखवाद है, बौद्ध दर्शन दुःखवाद है और ईसाई दर्शन भी दुःखवाद है! मनुष्य सुख की खोज में आदि-काल से रहा है और इसी की प्राप्ति उसके जीवन का सदैव मुख्य उद्देश्य रही है। दुख से वह इतना घबराता है कि इस जीवन में ही नहीं, आनेवाले जीवन के लिये भी ऐसी व्यवस्था करना चाहता है कि वहाँ भी सुख का उपभोग कर सके। जन्नत और स्वर्ग, मोक्ष और निर्वाण, सब उसी आकांक्षा की रचनाएँ हैं। सुख की प्राप्ति के लिये ही हमने जीवन को निस्सार और संसार को अनित्य कहकर अपने मन को शांत करने की चेष्टा की। जब जीवन में कोई सार ही नहीं, और संसार अनित्य ही है, तो फिर क्यों न इनसे मुँह मोड़कर बैठें? लेकिन हम क्यों दुखी होते हैं, वह कौन-सी मनोवृत्ति है जो हमें दुख की ओर ले जाती है, इस पर हमने विचार नहीं किया। आज हम इसी प्रश्न की मीमांसा करेंगे और देखेंगे कि इस अंधकार में कहीं प्रकाश भी मिल सकता है या नहीं।

दुख के दो बड़े कारण हैं—एक तो वे रूढ़ियाँ जिनमें हमने अपने को और समाज को जकड़ रक्खा है, दूसरा वे व्यक्तिगत मनोवृत्तियाँ हैं जो हमारे मन को संकुचित रखती हैं और उसमें बाहर की वायु और प्रकाश नहीं जाने देतीं। रूढ़ियों से तो हम इस समय बहस नहीं करना चाहते; क्योंकि उनका सुधार हमारे बस की बात नहीं, वह समष्टि की जागृति पर निर्भर है; लेकिन व्यक्तिगत मनोवृत्तियों का संस्कार हमारे बस की बात है, और हम अपना विचार यहीं तक परिमित रक्खेंगे।

अक्सर ऐसे लोग बहुत दुखी देखे जाते हैं जो असंयम के कारण अपना स्वास्थ्य खो बैठे हैं, या जिन पर लक्ष्मी की अकृपा है। लेकिन वास्तव में सुख के लिये न धन अनिवार्य है न स्वास्थ्य। कितने ही धनी आदमी दुखी हैं, कितने ही रोगी सुखी हैं। सुखी जीवन के लिये मन का स्वस्थ होना अत्यंत आवश्यक है। लेकिन फिर भी सुखी जीवन के लिये नीरोग शरीर लाजिमी चीज है

सभी तो ऋषि नहीं होते। बलवान् और स्वस्थ मन, बलवान् और स्वस्थ देह में ही, रह सकता है। साधना और तप इस नियम में अपवाद उत्पन्न कर सकते हैं; लेकिन साधारणतः स्वस्थ देह और स्वस्थ मन में कारण और कार्य का संबंध है। यद्यपि वर्त्तमान रहन-सहन ने इसे दुस्तर बना दिया है, तथापि सामान्य मनुष्य अगर बुद्धि से काम ले और प्राकृतिक जीवन के आदर्श की तरफ से आँखें न बंद कर ले, तो वह अपनी देह को नीरोग रख सकता है। देह तो एक मशीन है। इसे जिस तरह कोयले-पानी की जरूरत है उसी तरह इससे काम लेने की जरूरत है। अगर हम इस मशीन से काम न लें तो बहुत थोड़े दिनों में इसके पुर्जों में मोरचा लग जायगा। मजदूरों के लिये यह प्रश्न ही नहीं उठता। यह प्रश्न तो केवल उन लोगों के लिये है जो गद्दी या कुर्सी पर बैठकर काम करते हैं। उन्हें कोई न कोई कसरत जरूर ही करनी चाहिए। क्रिकेट और टेनिस के लिये हमारे पास साधन नहीं है तो क्या, हम अपने घर में सौ-पचास डंड-बैठक भी नहीं लगा सकते? अगर हम स्वास्थ्य के लिये एक घंटा भी समय नहीं दे सकते तो इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि हम सुख को ठोकरों से मारकर अपने द्वार से भगाते हैं।

भोजन का प्रश्न भी कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। क्या चीज किस तरह और कितनी खाई जाय, इस विषय में मूर्खों से अधिक शिक्षित लोग गलती करते हैं। अधिकतर तो ऐसे आदमी मिलेंगे जो इस विषय में कुछ जानते ही नहीं। जिंदगी का सबसे बड़ा काम है भोजन। इसी धुरी पर संसार का सारा चक्र चलता है, और उसी के विषय में हम कुछ नहीं जानते! बच्चों में शील और विनय का, तथा बड़ों में संयम का, पहला पाठ भोजन से आरंभ होता है। यह हास्यास्पद-सी बात है; पर वास्तव में आत्मोन्नति का पहला मंत्र भोजन में पथ्यापथ्य का विचार है।

दुख का एक बड़ा कारण है अपने-ही-आपमें डूबे रहना, हमेशा अपने ही विषय में सोचते रहना। हम यों करते तो यों होते, वकालत पास करके अपना मिट्टी खराब की, इससे कहीं अच्छा होता कि नौकरी कर ली होती। अगर नौकर हैं तो यह पछतावा है कि वकालत क्यों न कर ली। लड़के नहीं हैं तो यह फिक्र मारे डालती है कि लड़के कब होंगे। लड़के हैं तो रो रहे हैं कि ये क्यों हुए, ये कच्चे-बच्चे न होते तो कितने आराम से जिंदगी कटती। कितने ही ऐसे हैं जो अपने वैवाहिक जीवन से असंतुष्ट हैं। कोई माँ-बाप को कोसता है जिन्होंने उसके गले में जबरदस्ती जुआ डाल दिया—कोई मामा या फूफा को जिन्होंने विवाह पक्का किया! अब उनकी सूरत भी उसे पसंद नहीं। बीवी से आए दिन ठनी रहती है—वह सलीका नहीं रखती, मैली है, फूहड़ है, मुर्दा है, या मुहर्रमी है। जब देखो, मुँह लटकाए बैठी रहती है। यह नहीं कि पति महोदय दिन-भर के बाद घर में आए हैं तो लपक कर उनके गले से लिपट जाय! इस श्रेणी में अधिकतर लेखक-समाज और नवशिक्षित युवक हैं। ये दूसरों की बीवियों को देखकर अपनी किस्मत ठोकते हैं—वह कितनी सुघड़ है, कितनी हँसमुख, कितनी सुरुचि रखनेवाली! दिन-रात बेचारे इसी डाह में जला करते हैं। कुछ ऐसे लोग भी हैं जो चाहते हैं कि सारी दुनिया उनकी प्रशंसा करती रहे। खुद जब मौका पाते हैं, अपनी तारीफ शुरू कर देते हैं। वे खुद किसी के प्रशंसक नहीं बनते, किसी से प्रेम नहीं करते। लेकिन इच्छुक हैं कि दुनिया

उनके आगे नतमस्तक खड़ी रहे, उनका गुण-गान करती रहे। दुनिया उनकी कद्र नहीं करती, इस फ़िक्र में घुले जाते हैं, इससे उनके स्वभाव और व्यवहार में कटुता आ जाती है। और, ऐसे लोग तो घर-घर मिलेंगे जो निन्नानबे के फेर में पड़कर जीवन को भार बना लेते हैं। संचय, संचय, लगातार संचय! इसी में उनके प्राण बसते हैं। ऐसा आदमी केवल उन्हीं से प्रसन्न रहता है जो संचय में उसके सहायक होते हैं। और किसी से उसे सरोकार नहीं। बीबी से हँसने-बोलने का उसके पास समय नहीं, लड़कों को प्यार करने और दुलारने का उसे बिलकुल अवकाश नहीं। घर में किसी से धेले का नुकसान भी हो गया तो उसके सिर हो जाता है। बीबी ने अगर एक आने की जगह पाँच पैसे की तरकारी मँगवा ली तो पति को रात-भर झींकने का मसाला मिल गया—तुम घर लुटा दोगी, तुम्हें क्या खबर पैसे कैसे आते हैं, आज मर जाऊँ तो भीख माँगती फिरो। ऐसी-ऐसी दिल जलानेवाली बातें करके आप रोता है और दूसरों को रुलाता है। लड़के से कोई चिमनी टूट गई, तो कुछ न पूछो, बेचारे निरपराध बालक की शामत आ गई। मारते-मारते उसकी खाल उधेड़ डाली। माना, लड़के से नुकसान हुआ; तुम गरीब हो और तुम्हारे लिये दो-चार आने का नुकसान भी कठिन है। लेकिन लड़के को पीटकर तुमने क्या पाया? चिमनी तो जुड़ नहीं गई! हाँ, स्नेह का बंधन जरूर टूटने-टूटने हो गया। यह सब अपने-आपमें डूबे रहनेवालों का हाल है। उनके लिये केवल यही औषध है कि अपने विषय में इतनी चिंता न करें, दूसरों में भी दिलचस्पी लेना सीखें—चिड़िया पालना, फूल-पौधे लगाना, गाना-बजाना, गपशप करना, किसी आंदोलन में भाग लेना। गरज मन को अपनी ओर से हटाकर बाहर की ओर ले जाना ही ऐसे चिंताशील प्रकृतिवालों के लिये दुःखनिवारक हो सकता है।

उदासीन प्रकृतिवाले भी अक्सर दुखी रहते हैं। संसार में इनके लिये कोई सार वस्तु नहीं। यह मरज अधिकतर उच्च कोटि के विद्वानों को होता है। उन्होंने संसार के तत्त्व को पहचान लिया है और जीवन में अब ऐसी उन्हें कोई वस्तु नहीं मिलती जिसके लिये वे जिएँ! संसार रसातल की ओर जा रहा है, लोगों से प्रेम उठ गया, सहानुभूति का कहीं नाम नहीं, साहित्य का डोंगा डूब गया, जिससे प्रेम करो वही बेवफाई करता है, संसार में विश्वास किस पर किया जाय?—यह चीज तो उठ गई, अब लखन-से भाई और हनुमान-से सेवक कहाँ? यह उदासीनता अधिकतर उन्हीं लोगों में होती है जो संपन्न हैं, जिन्हें जीविका के लिये कोई काम नहीं करना पड़ता। मजे से खाते हैं और सोते हैं। क्रियाशीलता का उनमें अभाव होता है। वे दुनिया में केवल रोने के लिये आए हैं, किसी का उनकी जात से उपकार नहीं होता। हर-एक चीज में ऐब निकालना, हर-एक चीज से असंतुष्ट रहना, यही उनका उद्यम है। ऐसे लोगों का इलाज यही है कि तुरंत किसी काम में लग जायँ। और कुछ न हो सके तो ताश खेलना ही शुरू कर दें। कोई भी व्यसन उस रोने से अच्छा है। संसार कब रसातल की ओर नहीं जा रहा था? जब कौरवों ने द्रौपदी को भरी सभा में नंगा करना चाहा और पांडव बैठे टुकुर-टुकुर देखते रहे, क्या तब संसार रसातल को नहीं जा रहा था? किस युग में भाई ने भाई का गला नहीं काटा, मित्रों ने विश्वासघात नहीं किया, व्यभिचार नहीं हुआ, शराब के दौर नहीं चले, लड़ाइयाँ नहीं हुईं, अधर्म नहीं हुआ? मगर पृथ्वी आज भी वहीं है जहाँ दस हजार बरस पहले थी! न रसातल गई

न पाताल! और इसी तरह अनंत काल तक रहेगी। संदेह जीवन का तत्त्व है। स्वस्थ मन में सदैव संदेह उठते हैं और संसार में जो कुछ उन्नति है उसमें संदेह का बहुत हाथ है। लेकिन संदेह क्रियाशील होना चाहिए, जो नित नए आविष्कार करता है, जो साहित्य और दर्शन की सृष्टि करता है। संसार अनित्य है तो आपको इसकी क्या चिंता है? विश्वास मानिए, आपके जीवन में प्रलय न होगा। और अगर प्रलय भी हो जाय तो आपके चिंता करने की वजह? जो सबकी गति होगी वही आपकी भी होगी। घर से बाहर निकलकर देखिए--मैदान में कितनी मनोहर हरियाली है, वृक्षों पर पक्षियों का कितना मीठा गाना हो रहा है, नदी में चाँद कैसा थिरक रहा है। क्या इन दृश्यों से आपको जरा भी आनंद नहीं आता? किसी झोपड़ी में जाकर देखिए। माता फाके कर रही है; पर कितने प्रेम से बालक को अपने सूखे स्तन से चिमटाए हुए है! पत्नी अपने बीमार पति के सिरहाने बैठी मोती बरसा रही है और ईश्वर से मनाती है कि पति की जगह वह खुद बीमार हो जाय। विश्वास कीजिए, आप सेवा और त्याग तथा विश्वास के ऐसे-ऐसे कृत्य देखेंगे कि आपकी आँखें खुल जाएँगी। हो सके तो उनकी कुछ मदद कीजिए, प्रेम करना सीखिए। उस उदासीनता की, उस मानसिक व्यभिचार की, यही दवा है।

आज-कल दुख की एक नई टकसाल खुल गई है और वह है—जीवन-संग्राम! जीवन-संग्राम! जिधर देखिए, यही आवाज सुनाई देती है! इस संग्राम में आप किसी से सहानुभूति की, क्षमा की, प्रोत्साहन की, आशा नहीं कर सकते। सभी अपने-अपने नख और दंत निकाले शिकार की ताक में बैठे हैं। उनकी क्षुधा प्रशांत-महासागर से भी गहरी है; किसी तरह शांत नहीं होती। काश! यह दिन चौबीस घंटों की जगह अड़तालीस घंटों का होता! इधर सूर्य निकला और उधर मशीन चली। फिर वह दो बजे रात से पहले नहीं बंद हो सकती--एक मिनट के लिये भी नहीं। नाश्ता खड़े-खड़े कीजिए, खाना दौड़ते-दौड़ते खाइए, मित्रों से मिलने का समय नहीं, फालतू बातें सुनने की फुर्सत नहीं। मतलब की बात कहिए साहब, चटपट! समय का एक-एक मिनट अशरफी है, मोती है; उसे व्यर्थ नहीं खो सकते। यह संग्राम की मनोवृत्ति पच्छिम से आई है और बड़े वेग से भारत में फैल रही है। बड़े-बड़े शहरों पर तो उसका अधिकार हो चुका। अब छोटे-छोटे शहरों और कस्बों में भी उसकी अमलदारी होती जाती है। मंदी, तेजी, बाजार के चढ़ाव-उतार, हिस्सों का घटना-बढ़ना—यही जीवन है। नींद में भी यही मंदी-तेजी का स्वप्न देखते हैं! पुस्तकें पढ़ने की किसे फुर्सत, सिनेमा देख लेंगे। उपन्यास कौन पढ़े, छोटी कहानियों से मनोरंजन कर लेते हैं। लेकिन यह खब्त भी है कि हम किसी क्षेत्र में भी किसी से पीछे न रहें। साहित्य और दर्शन और राजनीति, हर विषय में नई से नई बातें भी हमसे बचने न पावें। सुरुचि और सर्वज्ञता के प्रदर्शन के लिये नई से नई पुस्तकें तो मेज पर होनी ही चाहिएँ। किसी तरह उनका खुलासा मिल जाय तो क्या कहना, दस मिनट में किताब का लुब्बे-लबाब मालूम हो जाय। आलोचना पढ़कर भी तो काम चल सकता है। इसी लिये लोग आलोचनाएँ बड़े शौक से पढ़ते हैं। अब हम उन ग्रंथों पर अपनी राय देने के अधिकारी हैं! सभ्य समाज में कोई हमें मूर्ख नहीं कह सकता। इस भाग-दौड़ के जीवन में आनंद के लिये कहाँ स्थान हो सकता है? जीवन में सफलता अवश्य आनंद का एक अंग है, और बहुत ही महत्त्वपूर्ण अंग; लेकिन हमें उस तेज घोड़े को अपनी रानों के नीचे रखना

चाहिए। यह नहीं कि वह हमें जिधर चाहे लिए दौड़ता फिरे। जीवन को संग्राम समझना—यह समझना कि यह केवल पहलवानों का अखाड़ा है और हम केवल अपने प्रतिद्वंद्वियों को पछाड़ने के लिये ही संसार में आए हैं, उन्माद है। इसका परिणाम यह होता है कि हमारी इच्छा तो बलवान् हो जाती है, लेकिन विचार और विवेक का सर्वनाश हो जाता है। इसका इलाज केवल यह है कि हम संतोष और शांति का मूल्य समझें। जीवन का आनंद खोकर जो सफलता मिले वह वैसी ही है जैसे अंधी आँखों के सामने कोई तमाशा। सफलता का उद्देश्य है आनंद। अगर सफलता से दुख बढ़े, अशांति बढ़े, तो वह वास्तविक सफलता नहीं।

भविष्य की चिंता दुख का कारण ही नहीं, प्रधान कारण है। कल कहीं चल बसे तो क्या होगा! घर का कुछ भी इंतजाम न कर सके। मकान न बनवा सके। पोते का विवाह भी न देखा। इधर हमने आँखें बंद कीं और उधर सारी गृहस्थी तीन-तेरह हुई! लड़का उड़ाऊ है, पैसे की कद्र नहीं करता, न जमाने का रुख देखता है। इस चिंता में अक्सर रात को नींद नहीं आती, जिसका स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ता है। ऐसी मनोवृत्ति नई-नई शंकाओं की सृष्टि करने में निपुण होती है। दो-चार दिन खाँसी आई तो तुरंत तपेदिक की शंका होने लगी। दो-चार दिन हल्का ज्वर आ गया तो शंका हुई, जीर्ण-ज्वर है! अगर जवानी में आँखें बहक गई हैं तो अब पाप की भावना हृदय को दबाए हुए है। यही शंका लगी हुई है कि उस अपराध के दंड-स्वरूप न जाने क्या आफत आनेवाली है। लड़का बीमार हुआ और मान-मनौती होने लगी। बस वही दंड है। किसी बड़े मुकदमे में हारे और वही शंका सिर पर सवार हुई। बस यह सब उसी का फल है। इतना बोझ लेकर वैतरणी कैसे पार होगी! नरक की भीषण कल्पना खाना-पीना हराम किए देती है। इसका इलाज यही है कि आदमी हर-एक विषय पर ठंडे मन से विचार करे, यहाँ तक कि उस पर उसके सारे पहलू रोशन हो जायँ। तुम क्यों समझते हो कि तुम्हारे लड़के तुमसे ज्यादा नालायक होंगे? इसी तरह तुम्हारे बाप ने भी तो तुम्हें नालायक समझा था! पर तुम तो लायक हो गए और आज गृहस्थी की देख-भाल मजे से कर रहे हो। तुम्हारे बाद इसी तरह तुम्हारा लड़का भी घर सँभाल लेगा। मुमकिन है, वह तुमसे ज्यादा चतुर निकले। और पाप तो केवल पंथों का ढकोसला है। हमारे समुदाय में कोई शराबी नहीं, हमने पी ली तो पाप किया। क्यों पाप किया? करोड़ों आदमी रोज पीते हैं, खुले-खजाने पीते हैं। वे इसे पाप नहीं समझते, बल्कि उनकी निगाह में जो शराब न पिए वही पापी है। हमारे कुल में मांस खाना वर्जित है; हमने खा लिया तो कोई पाप नहीं किया। सारी दुनिया खाती है, फिर हमारे लिये ही क्यों मांस खाना पाप है? पाप वही है जिससे अपना या दूसरों का अहित होता हो। अगर शराब पीने से तुम्हारे सिर में दर्द होने लगता है या तुम बहककर गालियाँ बकने लगते हो, तो बेशक तुम्हारे लिये शराब पीना पाप है। अगर तुम शराब के पीछे बाल-बच्चों को खाने-पीने का कष्ट देते हो, तो बेशक शराब पीना तुम्हारे लिये पाप है; उसे तुरन्त छोड़ दो। इसी तरह मांस खाने से अगर तुम्हारे पेट में दर्द होने लगे तो वह तुम्हारे लिये वर्जित है। मांस ही क्यों, दूध पीने से तुम्हारी पाचनक्रिया बिगड़ जाय तो दूध भी तुम्हारे लिये वर्जित है। धर्म-अधर्म के मिथ्या विचारों में पड़कर, दैवी दंड की कल्पनाएँ

करके, क्यों अपने के दुखी करते हो ? बाबा-वाक्य की गुलामी—केवल इसलिये कि बाबा-वाक्य है—चाहे कट्टरपंथियों में तुम्हारा सम्मान बढ़ा दे; पर है मूर्खता। स्वयं विचार करो कि वास्तव में दुष्कर्म क्या है। अपने कारोबार में काइयाँपन, नौकरों से कटु व्यवहार, बाल-बच्चों पर अत्याचार, अपने सहवर्गियों से ईर्ष्या और द्वेष, प्रतिद्वंद्वियों पर मिथ्या आरोप, बुरी नीयत, दगा-फरेब—ये सब वास्तव में दुष्कर्म हैं जिनकी कानून में भी सजा नहीं, लेकिन जिनसे मानव-समाज का सर्वनाश हो रहा है। मन में पाप की कल्पना का बैठ जाना हमारे आत्म-सम्मान के मिटा देता है और जब आत्म-सम्मान चला गया तब समझ लो कि बहुत-कुछ चला गया। पापाक्रांत मन सदैव ईर्ष्या से जला करता है, सदैव दूसरों के ऐब देखता रहता है, सदैव धर्म का ढोंग रचा करता है। जब तक वह दूसरों के पाप का पर्दा न खोल दे और अपनी धर्म-परायणता प्रमाणित न कर दे, उसको शांति नहीं !

हमारे दो-एक मित्र ऐसे हैं जिन्हें हमेशा यह फिक्र सताया करती है कि लोग उनसे जलते हैं, उनके लेखों की कोई प्रशंसा नहीं करता, उनकी पुस्तकों की बुरी आलोचनाएँ ही होती हैं। अवश्य ही कुछ लोगों ने एक गुट बनाकर उनका अनादर करना ही अपना ध्येय बना लिया है। ऐसे आदमी सदैव दूसरों से इस तरह सशंक रहते हैं मानों वे खुफिया पुलिस हों। बस, जिसने उनकी प्रशंसा न की उसे अपना दुश्मन समझ लिया। इसका कारण इसके सिवा और क्या है कि वे अपने के उससे कहीं बड़ा आदमी समझते हैं जितने वे हैं। संसार के क्या गरज पड़ी है कि उनके पीछे हाथ धोकर पड़ जाय। हम अपनी रचना के अमूल्य समझें, इसका हमें अधिकार है; लेकिन दूसरे तो उसे तभी अमूल्य समझेंगे जब वह अमूल्य होगी। यह मनोवृत्ति जब बहुत बढ़ जाती है तब आदमी अपने लड़कों के ही अपना बैरी समझने लगता है। वह कदाचित् आशा करता है कि उसके लड़के अपने लड़कों से ज्यादा उसका खयाल रक्खें। यह अस्वाभाविक है। किसी के यह अधिकार नहीं कि वह किसी दूसरे के, चाहे वह उसका लड़का ही क्यों न हो, उसके स्वाभाविक मार्ग से हटाकर अपनी राह पर लगाए।

भूमि की 'पादावर्त्त' नामक प्राचीन माप

महामहोपाध्याय रायबहादुर गौरीशंकर-हीराचंद ओझा

कौटलीय अर्थशास्त्र तथा प्राचीन ताम्रपत्रादि में कई संस्कृत-शब्द ऐसे मिलते हैं, जिनका ठीक अर्थ संस्कृत-कोषों में नहीं मिलता। ऐसे ही दुर्बोध शब्दों में एक 'पादावर्त्त' भी है। 'पादावर्त्त' भूमि की एक नाप भी था, जिसका ठीक मान अज्ञात है। 'वाचस्पत्यबृहदभिधान' में प्रसिद्ध जैन विद्वान् हेमचंद्र के आधार पर उसका अर्थ 'कुएँ आदि से जल निकालने का 'यंत्र'[1]—अर्थात् 'अरहट' (रहँट)—दिया है। 'शब्दकल्पद्रुम' में हेमचंद्र के उसी हवाले से वही अर्थ दिया है और हिंदी में 'रहट्' अर्थ[2] बतलाया है। 'शब्दार्थचिंतामणि'-कोष का कर्त्ता भी वही अर्थ देकर भाषा में 'रहट' अर्थ बतलाता है[3]। परंतु कई ताम्रपत्रों से उसका दूसरा अर्थ 'भूमि की एक नाप' होना भी पाया जाता है, जिसके कुछ उदाहरण नीचे उद्धृत किए जाते हैं—

[१] लगभग दो वर्ष पूर्व काठियावाड़ के प्रसिद्ध और प्राचीन नगर 'वलभी' (वळा) में खुदाई करते समय दस पत्रों पर खुदे हुए पाँच बड़े-बड़े ताम्रपत्र मिले, जो मेरे पास पढ़ने के लिये लाए गए थे। उनमें से एक गारुलक-वंशी महाराज वराहदास (दूसरे) का (गुप्त) संवत् २३० (ईसवी सन् ५४९) का था। उसमें लिखा है—"श्रीमहाराज ध्रुवसेन के दिए हुए वलभी के निकटवर्ती 'भट्टिपद्रक' (गाँव) में दग्धक कुटुंबी (कुनबी) के पास (अधिकार) की सौ 'पादावर्त्त' भूमि (वहाँ के) विहार में रहनेवाली भिक्षुणियों के वस्त्र, भोजन तथा भगवान् (बुद्ध) के धूप, दीप, तैल आदि के निमित्त मैंने (वराहदास ने) अपने माता-पिता और निज के उभय लोक के सुख एवं यश के हेतु—जब तक सूर्य, चंद्र, समुद्र और पृथ्वी रहें तब तक के लिये—प्रदान की[4]।"

---

[1] कूपादितो जलोद्धारणे यन्त्रभेदे। अरघट्टे। हेमचंद्र (वाचस्पत्य, जिल्द ४, पृष्ठ ४३०४)

[2] अरघट्टकः—इति हेमचन्द्रः, ४, १५६। रहट् इति हिन्दीभाषा।
(शब्दकल्पद्रुम, तृतीय कांड, पृष्ठ १११)

[3] अरघट्टके। रहँट्—इति भाषा। (शब्दार्थचिंतामणि, तृतीय भाग, पृष्ठ १२१)

[4] श्रीमहासामन्तमहाराजवराहदासः कुशली......यथास्मिन्नेव वलभीसंनिकृष्टे श्रीमहाराजध्रुवसेन-प्रसादीकृतभट्टीपद्रग्रामे दग्धककुटुम्बिप्रत्ययक्षेत्रपादावर्त्तशतं......विहारभिक्षुणीनां चीवरपिण्डपात भगवत्पादानां

[२] वलभी (वळा) के राजा ध्रुवसेन (दूसरे) के (गुप्त) संवत् ३१३ (ई० सन् ६३२) के दानपत्र में लिखा है—"मैंने (ध्रुवसेन ने) माता-पिता के पुण्यनिमित्त ब्राह्मण शर्म के पुत्र ब्राह्मण देवकुल, तथा उसके भ्रातृव्य (भतीजे) ब्राह्मण दत्तिल के पुत्र ब्राह्मण भादा—इन दोनों—को सौराष्ट्र देश के वटपल्लिका-विभाग के अंतर्गत 'बहुमूल' गाँव में तीन विभागोंवाला सौ 'पादावर्त्त' नाप का क्षेत्र दान किया[१]।"

[३] बड़ौदा-राज्य के दामनगर ताल्लुके (जिले) के गणेशगढ़ गाँव से मिले हुए वलभी (वळा) के राजा ध्रुवसेन (प्रथम) के (गुप्त) सं० २०७ (ई० स० ५२६–२७) के ताम्रपत्र में लिखा है—"उसने हस्तवप्र-आहरणी (जिले) के अक्षसरक-विभाग के 'हरियानक' गाँव में, पश्चिमोत्तर सीमा के चार क्षेत्र-खंड और पूर्वोत्तर सीमा के चार क्षेत्र-खंड—अर्थात् आठ क्षेत्र-खंड—तीन सौ पादावर्त्त नाप के, तथा उसी गाँव की पश्चिमोत्तर सीमा पर चालीस पादावर्त्त भूमि-सहित बावड़ी, और एक दूसरी बावड़ी जिसके साथ बीस पादावर्त्त भूमि है, इस प्रकार तीन सौ साठ पादावर्त्त भूमि, वहीं के रहनेवाले दर्भगोत्री वाजसनेय शाखावाले ब्रह्मचारी ब्राह्मण धम्मिल को, माता-पिता के तथा अपने इहलोक एवं परलोक में पुण्य-प्राप्ति के निमित्त—जब तक सूर्य, चंद्र, समुद्र, पृथ्वी, नदी और पर्वत बने रहें तब तक के लिये—उदक-पूर्वक दान की[२]।"

[४] जूनागढ़-राज्य के मालिया जिले के मुख्य स्थान 'मालिया' से मिले हुए वलभी (वळा) के राजा धरसेन (दूसरे) के (गुप्त) सं० २५२ (ई० स० ५७१—७२) के ताम्रपत्र में लिखा है—"मैंने (धरसेन ने) 'शिव पद्रक' (गाँव) में सौ पादावर्त्त भूमि जो वीरसेन दंतिल के पास है, तथा इससे पश्चिम की पंद्रह पादावर्त्त भूमि, एवं पश्चिमी सीमा पर एक सौ बीस पादावर्त्त भूमि जो स्कंभसेन के पास है, और पूर्वी सीमा पर दस पादावर्त्त भूमि, इसी तरह 'डंभी' गाँव की पूर्वी

च धूपदीपतैलाद्युपपादितं मया मातापित्र्यो(त्रो)रात्मनश्चोभयलोकसुखयशसे आचन्द्रार्क्कार्ण्णवक्षितिस्थितिसमकालीनं समनुज्ञातं......।—(गारुलक महाराज वराहदास के अप्रकाशित दानपत्र से)

१. परमेश्वरः श्रीध्रुवसेन ≍ कुशली......समाज्ञापयत्यस्तु वस्संविदितं यथा मया मातापित्रोः पुण्याप्यायनाय व(वे)लापद्रविनिर्ग्गत...ब्राह्मणशर्म्मपुत्रब्राह्मणदेवकुलतथैतद्भ्रातृव्यब्राह्मणदत्तिलपुत्रब्राह्मणभादाभ्यां सुराष्ट्रेषु वटपल्लिकास्थल्यान्तर्गतबहुमूलग्रामे त्रिखण्डावस्थितपादावर्त्तशतपरिमाणं क्षेत्रं......उदकातिसर्ग्गेण धर्म्मदायो निसृष्टः......... ।—(बंबई की एशियाटिक् सोसाइटी का जर्नल, न्यू सीरीज, जिल्द १, पृष्ठ ५५-५७; ई० सन् १६२५)

२. महाराजध्रुवसेनः कुशली......समाज्ञापयत्यस्तु वस्संविदितं यथा हस्तवप्राहरण्यां अक्षसरकप्रापीयहरियानकग्रामे अपरोत्तरसीम्नि क्षेत्रखण्डचतुष्टयं पूर्व्वोत्तरसीम्नि क्षेत्रखण्डचतुष्टयं एवं क्षेत्रखण्डान्यष्टौ यत्र पादावर्त्तशतत्रयं पा ३०० अस्मिने(न्ने)व ग्रामे अपरोत्तरसीम्नि ज(य)मलवापि(पी) चत्वारिंशत् पादावर्त्तपरिसरा द्वितीया वापि(पी) विंशत्पादावर्त्तपरिसरा एवमेकत्र सर्व्वम् पादावर्त्तशतत्रयं षष्ट्यधिकं अत्रैव वास्तव्यब्राह्मणधम्मिलाय दर्भसगोत्राय वाजसनय (वाजसनेय) सब्रह्मचारिणे मातापित्रोः पुण्याप्यायनायात्मनश्चैहिकामुष्मिकयथाभिलषितफलावाप्त(प्ति)निमित्तमाचन्द्रार्क्कार्ण्णवक्षितिस्थितिसरित्पर्व्वतसमकालि (ली) नं...... उदकातिसर्ग्गेण ब्रह्मदायोतिसृष्टः......। —(एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द ३, पृष्ठ ३२०-२१)

सीमा पर नब्बे पादावर्त्त भूमि जो वर्द्धकी के पास है, और 'वज्रक' गाँव में पश्चिमी सीमा पर सौ पादावर्त्त भूमि जो महत्तर-वीकिदिन्न के पास में है, तथा एक बावड़ी जिसके साथ अठाइस पादावर्त्त भूमि है, ऐसे ही सौ पादावर्त्त भूमि जो 'भूंभस' गाँव के कुटुंबी (कुनबी) बोटक के पास है, और एक अन्य बावड़ी; (यह सब भूमि) बलि, चरु, वैश्वदेव, अग्निहोत्र तथा अतिथि—इन पाँच यज्ञों के निर्वाह के निमित्त उनके करनेवाले 'उन्नत' गाँव के निवासी वाजसनेयी कण्व-शाखा के वत्सगोत्री ब्राह्मण 'रुद्रभूति' को, अपने माता-पिता के और अपने इहलोक तथा परलोक में पुण्य-प्राप्ति के लिये, दान की[१]।"

पादावर्त्त नाप के ऐसे अनेक अवतरण मिलते हैं, परंतु उन सबको उद्धृत कर लेख का कलेवर बढ़ाने की आवश्यकता नहीं है। ऊपर उद्धृत किए गए चार अवतरणों से ही ज्ञात हो जाएगा कि 'पादावर्त्त' अवश्य भूमि की नाप भी था, जिसका स्पष्टीकरण इस देश के किसी प्राचीन कोषकार ने नहीं किया—उन्होंने तो उसका अर्थ 'कुएँ से जल निकालने का यंत्र' अथवा 'रहँट' किया है, जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है। हाँ, प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् 'बॉथलिंग और राँथ (Böhtlingk and Rŏth)' के 'संस्कृत वॉर्टेबुक (Sanskrit Wörterbüch)' नामक सुप्रसिद्ध बृहत् संस्कृत-जर्मन-कोष में इस शब्द का अर्थ 'अरहट' के अतिरिक्त, कात्यायन के श्रौतसूत्र की टीका के आधार पर, 'एक वर्गफीट' भी दिया है[२]। उसी कोष के आधार पर, प्रसिद्ध संस्कृतज्ञ मोनियर विलियम्स ने भी, अपने संस्कृत-अँगरेजी-कोष में, उसका अर्थ 'अरहट' और 'एक वर्गफीट' भूमि ही दिया है[३]। परंतु ताम्रपत्रों के देखने से प्रतीत होता है कि यह शब्द 'एक वर्गफीट भूमि' का सूचक नहीं, किंतु भूमि की किसी बड़ी नाप का सूचक है। उपर्युक्त योरोपियन विद्वानों के कथनानुसार यदि 'पादावर्त्त' केवल एक ही वर्गफीट भूमि का सूचक माना जाय, तो सौ पादावर्त्त भूमि केवल दस फीट लंबी और उतनी ही चौड़ी होती है। इतना छोटा कोई क्षेत्र नहीं होता और न ऐसे तुच्छ दान के लिये लंबे-चौड़े दानपत्र अंकित कराने की आवश्यकता जान पड़ती है। यही आपत्ति देखकर डॉक्टर फ्लीट ने उपर्युक्त 'मालिया' के दानपत्र का संपादन करते समय सौ पादावर्त्त भूमि का आशय 'सौ फीट लंबी और उतनी ही चौड़ी भूमि' बताया है[४]—यह आध बीघे से कुछ ही अधिक होती है। उस समय जमीन की पैदावार का केवल

---

[१] महाराज श्री धरसेनः कुशली.........समाज्ञापयत्यस्तु वः संविदितं यथा मया मातापित्रोः पुण्याप्यायनायात्मनश्चैहिकामुष्मिकयथाभिलषितफलावाप्तये अन्तरत्रायां शिवकपद्रके वीरसेनदन्तिकप्रत्ययपादावर्त्तशतं एतस्मादपरतः पादावर्त्तपञ्चदश तथा अपरसीम्नि स्कंभसेनप्रत्ययपादावर्त्तशतं विंशाधिकं पूर्वसीम्नि पादावर्त्ता दश डंभिग्रामे पूर्व्वसीम्नि वर्द्धकिप्रत्यय पादावर्त्ता नवतिः वज्रग्रामेपरसीम्नि ग्रामशिखरपादावर्त्तशतं वीकिदिन्नमहत्तरप्रत्यया अष्टाविंशतिपादावर्त्तपरिसरा वापी। भुम्भुसपद्रके कुटुम्बिबोटकप्रत्ययपादावर्त्तशतं वापी च। एतत्.......... उन्नतनिवासिवाजसनेयिकण्ववत्ससगोत्रब्राह्मणरुद्रभूतये बलिचरुवैश्वदेवाग्निहोत्रातिथिपंचमहायाज्ञिकानां क्रियाणां समुत्सर्प्पणार्थमाचन्द्रार्क्कार्ण्णवसरित्क्षितिस्थितिसमकालीनं पुत्रपौत्रान्वयभोग्यं उदकसर्गेण निसृष्टं...........।

— ('फ्लीट'—गुप्त इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ १६६-६७)

[२] देखिए—एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द ३, पृष्ठ ३२३, टिप्पण ३

[३] पृष्ठ ६१८

[४] फ्लीट—गुप्त इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ १७०

छठा हिस्सा ही स्वामी को मिलता था। ऐसी दशा में यदि डॉक्टर फ्लीट का अनुमान स्वीकार किया जाय तो करीब आध बीघा भूमि की आय से, प्रथम अवतरण में कहे हुए विहार में रहनेवाली भिक्षुणियों के भोजनाच्छादन तथा भगवान् बुद्ध के धूप-दीपादि का खर्च निकलना, किस प्रकार संभव हो सकता है ? हाँ, यदि यहाँ सौ पादावर्त्त भूमि को सौ बीघा माना जाय तो दान का उद्देश्य सफल हो सकता है।

ऊपर के दूसरे अवतरण में सौ पादावर्त्त भूमि के तीन विभाग (टुकड़े) बतलाए हैं, और वे दो व्यक्तियों को दान किए गए हैं। यदि पादावर्त्त को 'एक वर्गफीट भूमि' मानें तो प्रत्येक के हिस्से में करीब सात फीट लंबी और उतनी ही चौड़ी भूमि होनी चाहिए। डॉक्टर फ्लीट के कथनानुसार सौ फीट लंबी और सौ फीट चौड़ी भूमि करीब तैंतीस गज लंबी और उतनी ही चौड़ी—अर्थात् आध बीघे से कुछ ही अधिक—होती है। इस हिसाब से प्रत्येक व्यक्ति के भाग में पाव बीघे के लगभग भूमि आती है ! प्राचीन काल के दानी राजा इतना अल्प भूमि-दान कभी नहीं करते थे। यदि यहाँ भी 'पादावर्त्त' को एक बीघा मान लें, तो प्रत्येक के भाग में पचास बीघा भूमि हो सकती है, जिसका दान युक्ति-संगत कहा जा सकता है।

तीसरे अवतरण में भी एक बावड़ी के साथ चालीस और दूसरी बावड़ी के साथ बीस पादावर्त्त भूमि देने का उल्लेख है। 'बॉथलिंग' और 'मोनियर विलियम्स' के कथनानुसार 'चालीस पादावर्त्त (चालीस वर्गफीट) भूमि' करीब सवा दो गज लंबी और उतनी ही चौड़ी, तथा डॉक्टर फ्लीट के मतानुसार करीब तेरह गज लंबी और उतनी ही चौड़ी, होती है। ऐसे छोटे परिमाण के भूमि-खंड की सिंचाई के लिये ही कोई व्यक्ति बावड़ी (कुआँ) नहीं बनवाता, और कम से कम इतनी जमीन तो बावड़ी के बनाने में ही खप जाती है ! यदि यहाँ भी 'पादावर्त्त' का अर्थ 'बीघा' मान लिया जाय तो इन बावड़ियों से बीस या चालीस बीघे जमीन की सिंचाई होना संभव है।

चौथे अवतरण में दी हुई सारी भूमि का योग 'पाँच सौ तिरसठ पादावर्त्त' है, जिसमें एक क्षेत्र तो केवल दस पादावर्त्त का ही है—जिसे बॉथलिंग आदि के कथनानुसार करीब एक गज लंबा और उतना ही चौड़ा, तथा फ्लीट के मतानुसार करीब सवा तीन गज लंबा और उतना ही चौड़ा, मानना पड़ता है। इतने छोटे भूमि-भाग को खेत नहीं कह सकते। इसी तरह बॉथलिंग आदि के कहने के मुताबिक 'पाँच सौ तिरसठ पादावर्त्त भूमि' चौबीस फीट लंबी और चौबीस फीट चौड़ी (आठ गज लंबी और आठ गज चौड़ी), और फ्लीट के कथनानुसार लगभग एक सौ नब्बे गज लंबी और उतनी ही चौड़ी (अर्थात् उन्नीस बीघे से भी कम) भूमि, होती है। इतनी थोड़ी भूमि की आय से अग्निहोत्र आदि प्रतिदिन के पंच-महायज्ञों का व्यय निकलना कदापि संभव नहीं। हाँ, यदि यहाँ भी 'पाँच सौ तिरसठ पादावर्त्त' को उतने ही बीघे मान लें, तो दान का उद्देश्य सार्थक हो सकता है।

'मालिया' के उक्त दानपत्र के संपादन के अनंतर कई ऐसे दानपत्र मिले हैं, जिनमें दान में दी हुई भूमि का परिमाण 'पादावर्त्त' में ही दिया हुआ है; परंतु उनके विद्वान् संपादकों में से किसी ने 'पादावर्त्त' के ठीक मान का पता लगाने का कष्ट नहीं उठाया, और जहाँ-जहाँ 'पादावर्त्त' शब्द आया है

वहाँ-वहाँ 'पादावर्त्त' का ही ज्यों का त्यों प्रयोग किया है। संभव तो यही है कि 'पादावर्त्त' बीघे का सूचक होना चाहिए, जैसा हमने ऊपर अनुमान किया है। कौटल्य के अर्थशास्त्र में 'पादावर्त्त' शब्द का उल्लेख तो नहीं है, किंतु उसमें भूमि की नाप का परिमाण अवश्य दिया हुआ है। उससे ज्ञात होता है कि कौटल्य के समय (पूर्वी प्रदेशों में) दान में दी जानेवाली भूमि का मान इस प्रकार था—

८ अंगुल की १ धनुर्मुष्टि या कंस, ६ कंसों का १ दंड (दो हाथ)।

१० दंड का १ रज्जु (बीस हाथ), ३ रज्जु का १ निवर्त्तन (साठ हाथ)[1]।

विक्रम की तेरहवीं शताब्दी में ज्योतिष के अपूर्व विद्वान् भास्कराचार्य ने 'लीलावती' नामक गणित-विषयक ग्रंथ की रचना की। उसमें चौबीस अंगुल का एक हाथ, दस हाथ का एक बाँस और बीस बाँस (दो सौ हाथ) का 'एक निवर्त्तन' लिखा है,[2] जो दक्षिण-भारत की नाप होनी चाहिए। जिन ताम्रपत्रों में 'पादावर्त्त' नाप का उल्लेख है वे सब गुजरात और काठियावाड़ से संबंध रखते हैं। वहाँ सौ हाथ लंबी और उतनी ही चौड़ी जमीन को 'एक बीघा' कहते हैं[3]। गुजरातवालों का यह 'बीघा' कौटल्य के 'निवर्त्तन' से ड्योढ़े से कुछ अधिक और भास्कराचार्य के 'निवर्त्तन' से आधा है। प्राचीन काल से आज तक, नाप-तौल में, देश-भेद से भिन्नता चली आती है। 'पादावर्त्त' शब्द संस्कृत भाषा का है और उसका प्रयोग गुजरात के प्राचीन दानपत्रों में ही मिलता है। अतएव संभव है कि 'पादावर्त्त' गुजरात का बीघा हो।

मेरा यह अनुमान कहाँ तक ठीक है, इसका निर्णय विद्वानों पर ही निर्भर है।

---

[1] कौटलीयं अर्थशास्त्रम्, (माइसोर संस्करण) पृष्ठ १०६–७

[2] लीलावती, परिभाषाप्रकरणम्, पृष्ठ ४। —[हरिप्रसाद भगीरथ (बंबई) के यहाँ का, विक्रम-संवत् १९६३ का, मुद्रित संस्करण]।

[3] लालशंकर उमीआशंकर त्रवाडी—अंकगणित (गुजराती), पृष्ठ २४ का टिप्पण।

महिम्न-स्तोत्र की प्राचीनता और उसका मूल पाठ

प्रोफेसर रामेश्वर-गौरीशंकर ओझा, एम० ए०

'महिम्नो नापरा स्तुतिः'

भारतवर्ष धर्म-प्रधान देश है। इस देश का धार्मिक साहित्य अत्यंत प्राचीन है। इस साहित्य में समय की आवश्यकता के अनुसार यदा-कदा यथेष्ट परिवर्त्तन होते रहे हैं। पौराणिक काल से स्तोत्र अथवा स्तव-संबंधी साहित्य का विशेष प्रचार होने लगा। अधिकांश प्राचीन स्तोत्रों की रचना संस्कृत भाषा में हुई। देवी-देवताओं के सैकड़ों स्तव आज भी उपलब्ध हैं। स्तोत्र-मालिका में शिव, विष्णु और देवी से संबंध रखनेवाले स्तोत्रों [1] की प्रधानता है। शिवस्तोत्रों में 'शिवमहिम्नस्तोत्र' की बहुत अधिक प्रसिद्धि है।[2] यजुर्वेद के रुद्राध्याय के समान इस पवित्र स्तोत्र में भी धर्मप्राण हिंदू-समाज की बहुत अधिक श्रद्धा है। भगवान् शंकर के अभिषेक में इस पवित्र स्तव का प्रायः पाठ हुआ करता है। इस स्तोत्र की भाषा बहुत सुंदर है। साथ ही, छोटा होने से इसे कंठाग्र करने में कठिनाई नहीं होती। इसी लिये अनेक शिवभक्त इस भक्तिरस-पूर्ण स्तोत्र को प्रायः कंठ कर लेते हैं।

[1] स्तोत्र-साहित्य के संबंध में विशेष परिचय के लिये देखिए—दि इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली (जिल्द १, पृष्ठ ३४०-६०)

[2] 'धार'-राज्य (मध्यभारत) के इतिहास-कार्यालय के अध्यक्ष श्रीयुत काशिनाथ लेले महोदय ने मुझे अमरेश्वर-मंदिर से मिले हुए इस महिम्नस्तव पर लिखने के लिये प्रोत्साहित किया और इस संबंध में मुझे उनसे कुछ परामर्श भी मिला है।

मध्यभारत के 'इंदौर' नगर से करीब पचास मील दक्षिण-पश्चिम में, मध्यप्रदेश के 'नीमाड़' जिले में, 'ओंकारेश्वर' नामक बहुत पुराना कस्बा है। भारत के प्रमुख तीर्थस्थानों में इसकी गणना होती है। सुप्रसिद्ध द्वादश ज्योतिर्लिंगों में एक की स्थिति इसी कस्बे में बतलाई जाती है। इसके प्राचीन महत्त्व का स्मरण कर एक अर्से से मैं 'ओंकारेश्वर' जाना चाहता था। सन् १९३० ई० के दिसंबर में वह सुअवसर प्राप्त हुआ। एक दिन इंदौर के सुप्रसिद्ध हिंदी-प्रेमी रायबहादुर डॉक्टर सरयूप्रसादजी ने मुझसे कहा कि ओंकारेश्वर में 'ममलेश्वर' नामक शिवालय की दीवार पर कुछ लेख खुदे हुए हैं जो अक्षरों की प्राचीनता के कारण ठीक-ठीक पढ़े नहीं जाते। डॉक्टर साहब ने मुझे वहाँ जाकर उन्हें देखने को प्रोत्साहित किया। डॉक्टर साहब से 'ममलेश्वर' नाम सुनकर मुझे ज्योतिर्लिंगों की गणना का यह प्राचीन श्लोक याद आ गया—

सौराष्ट्रे सोमनाथञ्च श्रीशैले मल्लिकार्जुनम् ।
उज्जयिन्यां महाकालमोंकारममलेश्वरम् ॥

इस श्लोक में 'ममलेश्वर' का नाम-निर्देश होने से मुझे अनुमान हुआ कि आज-कल वहाँ जो शिव-मंदिर 'ममलेश्वर' कहा जाता है, वह अवश्यमेव कोई प्राचीन देवालय है। 'ओंकारममलेश्वरम्' पद का संधि-विच्छेद करने से 'ओंकारम् + अमलेश्वरम्' बनता है। इससे सहज ही अनुमान हो सकता है कि 'ममलेश्वर' का शुद्ध रूप 'अमलेश्वर' अथवा 'अमरेश्वर' (रलयोरभेदात्) होना चाहिए। इसके साथ ही यह शंका भी उत्पन्न हुई कि ज्योतिर्लिंग की वास्तविक स्थिति ओंकारेश्वर के देवालय में है अथवा ममलेश्वर में। सोचा, ओंकारेश्वर जाने पर ही शंका निवृत्त हो सकेगी। अस्तु, तारीख ९ अप्रेल सन् १९३१ को मैं इंदौर से ओंकारेश्वर पहुँचा। दूसरे दिन वहाँ के बहुत-से देवालय देखे। ओंकारेश्वर का मंदिर नर्मदा के उत्तरी तीर पर और ममलेश्वर दक्षिणी तट पर है। ओंकारेश्वर जाने के लिये नाव से नर्मदा पार करनी होती है। ओंकारेश्वर के मंदिर की अपेक्षा मुझे ममलेश्वर का देवालय कहीं पुराना प्रतीत हुआ। इस मंदिर में लगे हुए शिलालेखों में, देवालय में अवस्थित शिवलिंग का, 'अमरेश्वर' नाम देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई। अमरेश्वर-मंदिर का शिल्प और उसकी वर्त्तमान स्थिति उसकी विशेष प्राचीनता के प्रमाण हैं। उस दिन उक्त शिवालय को देखकर मुझे तो यही जान पड़ा कि वस्तुतः ज्योतिर्लिंग की स्थिति अमरेश्वर-मंदिर में होनी चाहिए, न कि ओंकारेश्वर के देवालय में—जहाँ अगणित हिंदू भाई प्रति वर्ष ज्योतिर्लिंग का माहात्म्य समझते हुए 'कर' चुकाकर भी दूर-दूर से दर्शन करने जाते हैं। अमरेश्वर में इंदौर-राज्य की ओर से प्रति दिन लिंगार्चन होता है।

अमरेश्वर-मंदिर के सभामंडप और गर्भगृह के बीच एक कमरा बना हुआ है, जिसमें प्रायः घना अँधेरा बना रहता है। वहाँ जाकर पूछताछ करने पर मालूम हुआ कि उसमें दाहिनी और बाईं ओर की दीवारों पर अनेक छोटे-बड़े लेख खुदे हुए हैं। उन लेखों की जाँच-पड़ताल करने के लिये उस कमरे में गैस की बत्ती का प्रबंध कर जब उन्हें देखना आरंभ किया, तब जान पड़ा कि दीवारों पर की गई मिट्टी की पुताई के भीतर उनका अधिकांश ढँका हुआ है! इसलिये कोई तीन घंटे के परिश्रम से बरसों की जमी हुई मिट्टी को बार-बार धोकर उस भाग को भली भाँति साफ़ किया! तत्पश्चात् ध्यानपूर्वक

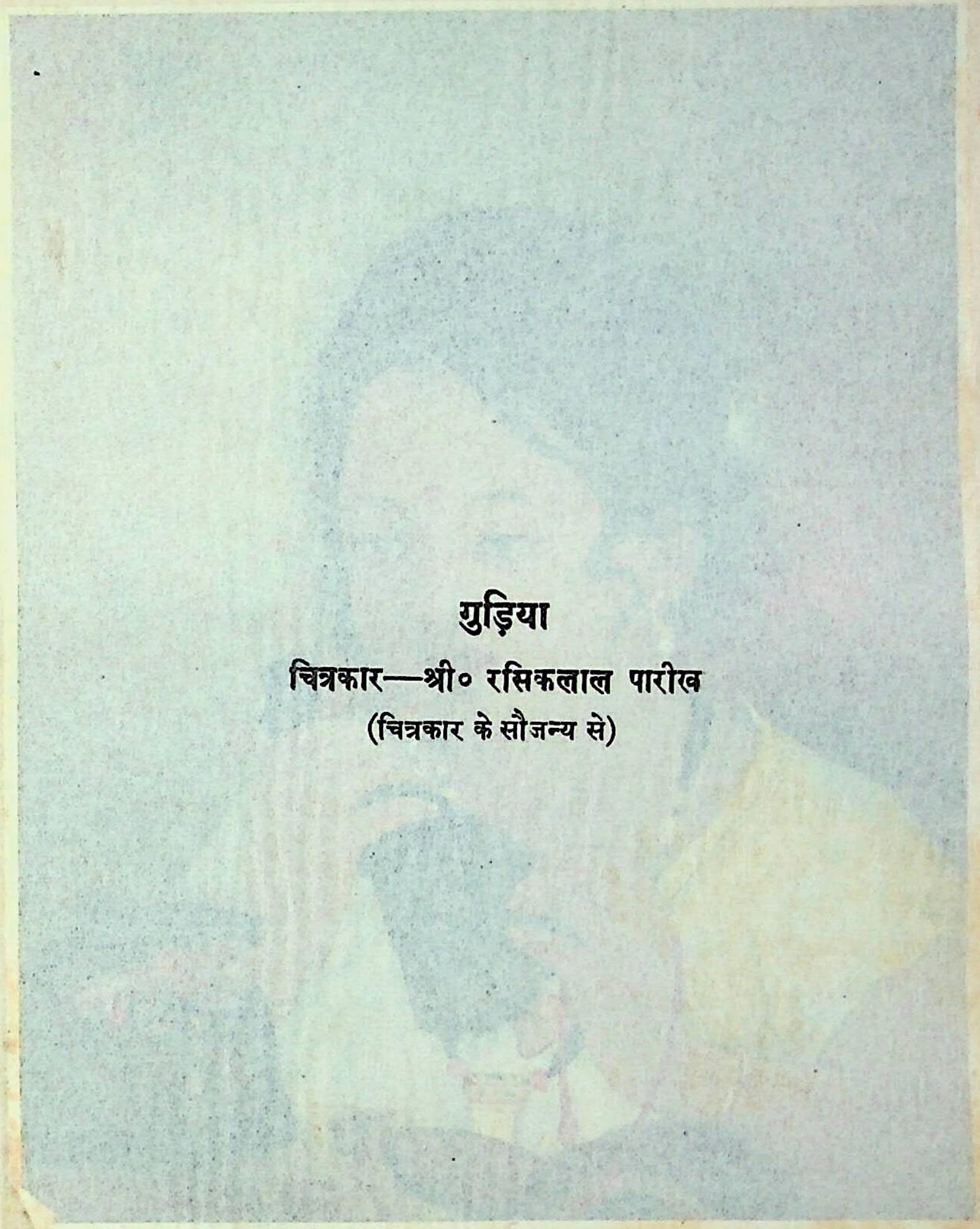

गुड़िया

चित्रकार—श्री० रसिकलाल पारीख

(चित्रकार के सौजन्य से)

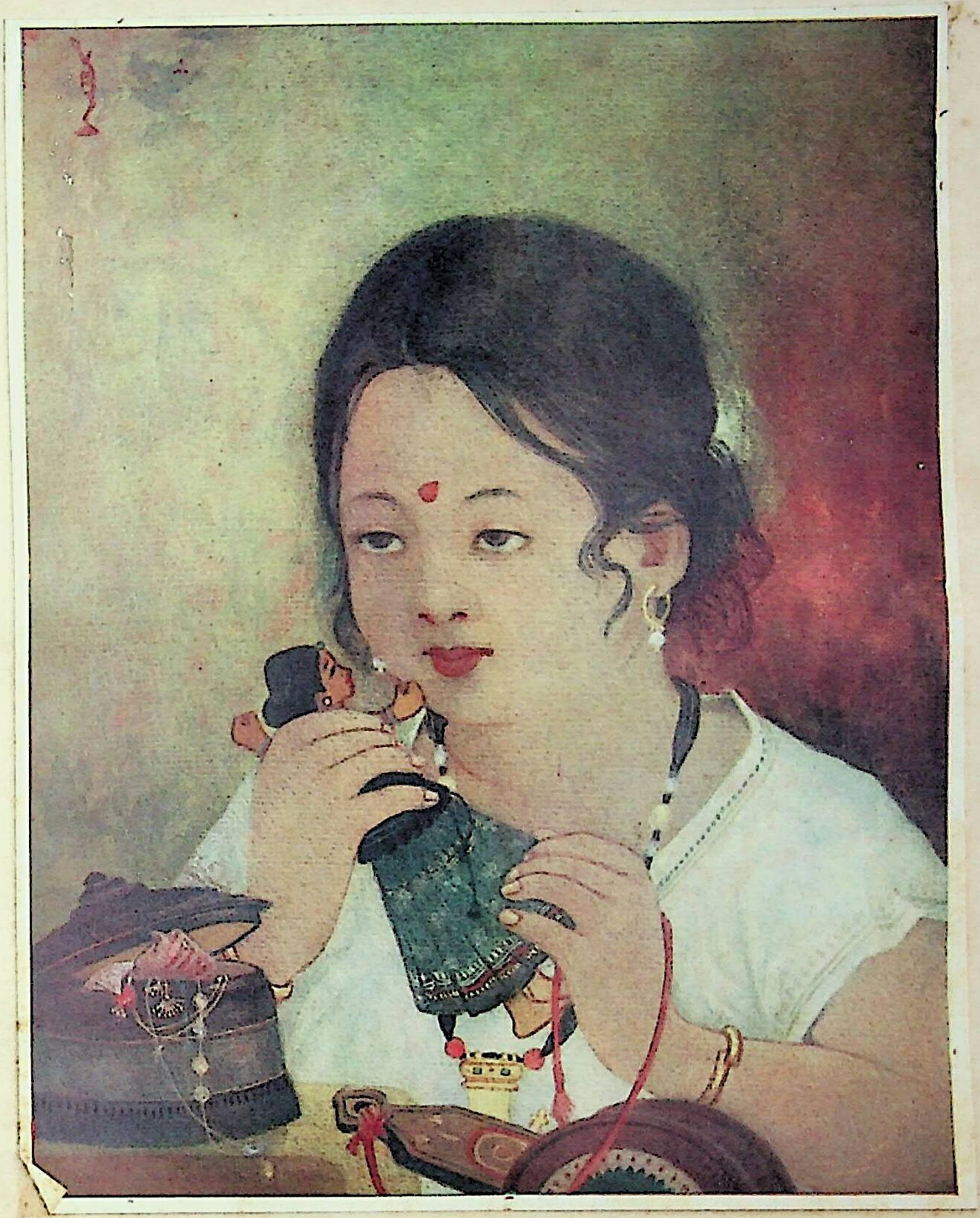

देखने से ज्ञात हुआ कि उस कमरे के अनेक लेखों में से, विक्रम-संवत् ११२० (ईसवी सन् १०६३) में खुदे हुए, चार संस्कृत-स्तोत्र महत्त्वपूर्ण हैं। ये स्तोत्र मालवा के परमार-वंशी राजा उदयादित्य (सन् १०५९—८१ ई०) के राजत्वकाल में खोदे गए थे। इनमें से दो—क्रमशः नर्मदा और अमरेश्वर महादेव के संबंध के—अष्टक हैं जिनकी रचना 'देवप्रसाद' नामक किसी विद्वान् ने की थी। तीसरा तिरसठ श्लोकों का एक शिव-स्तोत्र है जिसका रचयिता बंगाल के राढ़ा-प्रांत के नवग्राम (नौगाँव) से आया हुआ 'हलायुध' नामक पंडित था। चौथा उल्लेखनीय स्तोत्र, जो बाईं ओर की दीवार के नीचे के भाग में खुदा हुआ है, शिवमहिम्नस्तव[1] है। यह पवित्र स्तोत्र तीन फीट दस इंच लंबे और एक फुट तीन इंच चौड़े स्थान में बीस पंक्तियों में खुदा हुआ है। इसकी लिपि देवनागरी और अक्षर सुडौल हैं। कहीं-कहीं पत्थर टूट जाने से कुछ अक्षर नष्ट हो गए हैं। यहाँ यह भी विचारणीय है कि महिम्नस्तव खोदे जाने से पूर्व पत्थर का कुछ हिस्सा टूट गया था और उस पर (अठारहवीं-उन्नीसवीं पंक्ति के आरंभ में) किसी ने बड़े-बड़े अक्षरों में 'पप्रणमती सदा' और उसके नीचे छोटे अक्षरों में '॥ॐ॥ॐ॥ॐ॥ॐ॥ॐ॥ ॥ॐ॥ॐ॥' खोदा था, जिससे यह स्तव टूटे हुए स्थान एवं इन अक्षरों को छोड़कर खोदा गया है। इसका भी समय विक्रम-संवत् ११२० (ई० सन् १०६३) है और इसे शिवभक्त 'भट्टारक गंधध्वज' ने सावधानी के साथ लिखा था। शुद्ध लेखन की दृष्टि से जान पड़ता है कि इसमें 'ब' के स्थान में 'व' का प्रचुर प्रयोग हुआ है। जैसे—'व्रह्मादीनां' (पंक्ति १), 'व्रह्मन्' (पंक्ति २), 'व्रह्मांड' (पं० ८) एवं 'वत' (पं०१४) आदि। इसी प्रकार 'श' के स्थान में कहीं-कहीं 'स' प्रयुक्त हुआ है। यथा—सिरसि (पं० ७), परवसान् (पं० ७) एवं सश्वदृद्धिः (पं० १९) संयुक्त वर्ण में 'र्' पूर्व-वर्ण रहते हुए भी उत्तर वर्ण को विकल्प से एक और द्वित्व लिखा गया है, किंतु द्वित्व-प्रयोग प्रायः देख पड़ता है। जैसे—'अतर्क्यैश्वर्यै' (पं० ३), 'सर्व्वः' (पं०१), 'त्वर्व्वाचीने' (पं० २), 'कुतर्क्कोयं' (पं० ३), 'शर्व्वो' (पं० १६), 'चंद्रार्क्कौ' (पं० ११) आदि। पदांत का हलंत वर्ण उसके पश्चात् लिखे जानेवाले वर्ण से प्रायः मिला दिया गया है जो कुछ अखरता है। यथा—'व्रह्मन्कि' (पं० १४) तथा 'स्तुवन्जिह्रेमि' (पं० ६)। लेखक को पर-सवर्ण की अपेक्षा अनुस्वार अधिक पसंद था, जैसा 'सांख्ये' (पं० ४), 'खट्वांगं' (पं० ५), 'निवर्त्तते' (पं० ९) आदि शब्दों में देख पड़ता है। विसर्ग का एक उल्लेखनीय प्रयोग बारहवीं-तेरहवीं पंक्ति में हुआ है। बारहवीं पंक्ति के अंत में 'कर्त्तुः' शब्द का विसर्ग तेरहवीं के आरंभ में लिखा गया है! इससे लेखक की असावधानी प्रकट होती है। जो हो, इस स्तोत्र की लिपि बारहवीं शताब्दी में मालवा में प्रचलित देवनागरी है। यह मालवा के परमारों के शिलालेखों की लिपि से मिलती-जुलती है। इसमें यत्र-तत्र पृष्ठमात्राओं का प्रयोग हुआ है। 'इ', 'भ', 'ध', 'श' आदि अक्षरों में प्राचीन रूप देख पड़ते हैं। 'व' और 'ध' परस्पर बहुत मिलते-जुलते-से हैं। इसी तरह 'प'

---

[1] यह निर्विवाद जान पड़ता है कि अमरेश्वर-मंदिर में ये स्तोत्र, धार्मिक भाव से प्रेरित होकर ही, खोदे गए थे। प्राचीन काल में इस देवालय का, धार्मिक दृष्टि से, विशेष महत्त्व होगा। इसी लिये विक्रम-संवत् ११२० में ये चार सुंदर स्तोत्र इसकी दीवारों पर खोदे गए। इससे भी इस मंदिर में ज्योतिर्लिंग की स्थिति का अनुमान पुष्ट होता है।

और 'ष' में भी कोई अंतर नहीं देख पड़ता। इस संबंध में 'वपुषः' (पं० ६) तथा '०मोच्चैरपि' का उल्लेख किया जा सकता है। यहाँ पंक्ति की संख्या 'अमरेश्वर के पाठ की प्रतिलिपि' के अनुसार है, जो अंत में दी गई है।

अमरेश्वर-देवालय से मुझे महिम्नस्तव[1] की जो प्रस्तरांकित प्रति मिली है, उसमें केवल इकतीस श्लोक हैं। इकतीसवें श्लोक के पश्चात लिखा है कि 'इति महिम्नस्तवं समाप्तमिति'। इससे जान पड़ता है कि आज से करीब आठ सौ सत्तर वर्ष पूर्व—जब यह स्तोत्र वहाँ खोदा गया था—महिम्नस्तव में आज-कल की प्रतियों में मिलनेवाले चालीस, इकतालीस, बयालीस या तैंतालीस श्लोकों के स्थान में केवल इकतीस ही श्लोक प्रचलित थे। इससे यह अनुमान हो सकता है कि इकतीस से आगे के श्लोक पीछे से जोड़ दिए गए हैं। आज-कल की प्रतियों में इकतीसवें श्लोक के पश्चात् निम्नलिखित विशेष श्लोक (क्रम-भेद के साथ) पाए जाते हैं—

[2]असितगिरिसमं स्यात्कज्जलं सिन्धुपात्रे सुरतरुवरशाखालेखनी पत्रमुर्वी।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं तदपि तव गुणानामीश पारं न याति ॥३२॥
असुरसुरमुनीन्द्रैरर्चितस्येन्दुमौलेर्ग्रथितगुणमहिम्नो निर्गुणस्येश्वरस्य।
[3]सकलगणवरिष्ठः पुष्पदन्ताभिधानो रुचिरमलघुवृत्तैः स्तोत्रमेतच्चकार ॥३३॥
अहरहरनवद्यं धूर्जटेः स्तोत्रमेतत्पठति परमभक्त्या शुद्धचित्तः पुमान्यः।
स भवति शिवलोके [4]रुद्रतुल्यस्तथाऽत्र प्रचुरतरधनायुः पुत्रवान्कीर्त्तिमांश्च ॥३४॥

---

१. महिम्नस्तव के पाठ आदि के संबंध में मैंने निम्नलिखित पुस्तकों का उपयोग किया है—[क] निर्णयसागर प्रेस (बंबई) से प्रकाशित "बृहत्स्तोत्ररत्नाकरः" (गुटका साइज), ईसवी सन् १९२६ का छपा हुआ, महिम्नस्तोत्र की श्लोकसंख्या ४०। [ख] निर्णयसागर प्रेस (बं०) से प्र० 'शिवमहिम्नस्तोत्रम्' (मूलपाठ), ई० सन् १९२८ (श्लो० ४३)। [ग] निर्णयसागर प्रेस (बं०) से प्र० 'महिम्नस्तोत्रम्' (मधुसूदन-सरस्वती-प्रणीत शिव और विष्णु दोनों के अर्थ को प्रकट करनेवाली संस्कृत-टीका से युक्त, छठा संस्करण, ई० सन् १९३० (३६ श्लोक)। [घ] हरिप्रसादभगीरथजी (बं०) द्वारा प्रकाशित 'बृहत्स्तोत्ररत्नाकरः' (गुटका साइज), विक्रम-संवत् १९७३, (४० श्लोक)। [ङ] गुजराती प्रेस (बं०) द्वारा प्र० 'बृहत्स्तोत्रमुक्ताहारः' (द्वितीयावृत्ति), वि० सं० १९७९ (श्लो० ४०)। [च] गंगाविष्णु-श्रीकृष्णदास (बं०) द्वारा प्र० 'शाक्तप्रमोद' का शिवतंत्र, वि० सं० १९६८ (श्लो० ४०)। [छ] वेंकटेश्वर प्रेस (बं०) से प्र० 'शिवमहिम्नस्तोत्र-वेदांतसारशिवस्तोत्र,' वि० सं० १९८२ (श्लो० ४०) [ज] श्रीधर शिवलाल (बं०) द्वारा प्र० 'महिम्नचंद्रशेखरशिवरामाष्टकानि,' संवत् १९७२ (श्लो० ४१)। [झ] पुरंदरे आणि कंपनी (बं०) द्वारा प्र० 'शिवमहिम्नस्तोत्रम्', ई० सन् १९१५ (श्लो० ४२)। [ट] खेमराज-श्रीकृष्णदास (बं०) द्वारा प्र० 'शिवमहिम्नस्तोत्रम्,' वि० सं० १९७७ (श्लो० ४०)। [ठ] भार्गव-पुस्तकालय (बनारस) से प्र० 'शिवमहिम्नस्तोत्रम्', हिंदी-अनुवाद-सहित, (श्लो० ४२)। [ड] उदयपुर-निवासी पंडित श्यामसुंदर द्विवेदी के पास, अनुमानतः सौ वर्ष पूर्व की, 'महिम्नस्तोत्रम्' की हस्तलिखित प्रति (श्लो० ४०)।

२. इन श्लोकों का यह पाठ 'ख' पुस्तक के अनुसार दिया गया है।

३. 'ट' में 'सकलगुणवरिष्ठः' पाठ मिलता है!

४, 'ट' में 'रुद्रतुल्यः सदात्मा' पाठ है।

महेशान्नापरो देवो महिम्नो नापरा स्तुतिः। अघोरान्नापरो मंत्रो नास्ति तत्त्वं गुरोः परम्[1] ॥३५॥
दीक्षादानं[2] तपस्तीर्थं ज्ञानं यागादिकाः[3] क्रियाः। महिम्नस्तवपाठस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्[4] ॥३६॥

कुसुमदशननामा सर्वगन्धर्वराजः शिशुशशिधरमौले[5]र्देवदेवस्य दासः।
स खलु निजमहिम्नो भ्रष्ट एवास्य रोषात्स्तवनमिदमकार्षीद्दिव्यदिव्यं महिम्नः[6] ॥३७॥
सुरवरमुनिपूज्यं[7] स्वर्गमोक्षैकहेतुं पठति यदि मनुष्यः प्राञ्जलिर्नान्यचेताः।
व्रजति शिवसमीपं किन्नरैः स्तूयमानः स्तवनमिदममोघं पुष्पदन्तप्रणीतम् ॥३८॥

[8]आसमाप्तमिदं[9] स्तोत्रं पुण्यं गन्धर्वभाषितम्[10]। अनौपम्यं[11] मनोहारि शिवमीश्वर[12] वर्णनम्[13] ॥३९॥
इत्येषा[14] वाङ्मयी पूजा श्रीमच्छङ्करपादयोः। अर्पिता तेन देवेशः प्रीयतां मे सदाशिवः[15] ॥४०॥
तव[16] तत्त्वं[17] न जानामि कीदृशोऽसि महेश्वरः। यादृशोऽसि महादेव तादृशाय नमो नमः[18] ॥४१॥
एककालं[19] द्विकालं वा त्रिकालं यः पठेन्नरः[20]। सर्वपापविनिर्मुक्तः[21] शिवलोके[22] महीयते[23] ॥४२॥

१. 'ज', 'ट', 'ठ' और 'ड' पुस्तकों में यह सैंतीसवाँ श्लोक है।
२. 'ज' में 'दानं दीक्षा' पाठ मिलता है।
३. 'ट' में 'होमयज्ञादिकाः' पाठ है।
४. 'ज' 'ट' और 'ठ' में यह पैंतीसवाँ श्लोक है।
५. 'ग' के सिवा अन्य पुस्तकों में 'शशिधरवरमौलेः' पाठ मिलता है।
६. 'च', 'ज', 'ट', 'ठ' और 'ड' में यह अड़तीसवाँ श्लोक है।
७. 'च', 'ट', 'ठ' एवं 'ड' में यह उनतालीसवाँ श्लोक है।
८. 'क', 'घ', 'ङ' और 'छ' में यह श्लोक नहीं मिलता !
९. 'ट' और 'ठ' में क्रमशः 'समाप्तं तदिदं' एवं 'समाप्तिमगमत्' पाठ है।
१०. 'ट' एवं 'ड' में इस श्लोक का दूसरा चरण 'सर्वमीश्वरवर्णनम्' और 'ठ' में 'पुष्पगन्धर्वभाषितम्' मिलता है।
११. 'ट', 'ठ' एवं 'ड' में 'अनूपमं' पाठ मिलता है।
१२. 'ट' एवं 'ड' में चौथा चरण 'पुण्यं गन्धर्वभाषितम्' और 'ठ' में 'पुण्यमीश्वरवर्णनम्' मिलता है।
१३. यह 'ज', 'ट', 'ठ' तथा 'ड' में छत्तीसवाँ, 'च' में सैंतीसवाँ और 'झ' में इकतालीसवाँ श्लोक है।
१४. 'च', 'ट' और 'ड' में यह श्लोक नहीं है !
१५. 'ज' में यह इकतालीसवाँ और 'झ' तथा 'ठ' में बयालीसवाँ श्लोक है।
१६. 'क', 'घ', 'ङ', 'च', 'छ', 'ज', 'ट', 'ठ' और 'ड' में यह श्लोक नहीं मिलता !
१७. 'झ' में 'शिवतत्त्वं' पाठ है।
१८. 'ख' तथा 'ग' में यह इकतालीसवाँ और 'झ' में चालीसवाँ श्लोक है।
१९. 'ख', 'ग' एवं 'ठ' के सिवा अन्य पुस्तकों में यह श्लोक नहीं मिलता !
२०. 'ठ' में 'पठेत्सदा' पाठ मिलता है।
२१. 'ठ' में 'भवपाश०' पाठ है।
२२. 'ठ' में 'शिवलोकं' पाठ है।
२३. 'ठ' में 'स गच्छति' पाठ मिलता है।

श्रीपुष्पदन्तमुखपङ्कज[1]निर्गतेन स्तोत्रेण किल्बिषहरेण हरप्रियेण ।
कण्ठस्थितेन पठितेन समाहितेन सुप्रीणितो भवति भूतपतिर्महेशः ॥४३॥

इस स्तोत्र के प्रणेता के संबंध में यह एक कथा प्रचलित है—कोई गंधर्व राजा किसी राजा के उपवन से प्रति दिन पुष्प चुन लिया करता था। इसकी सूचना पाकर उस राजा ने सोचा, यदि उक्त गंधर्व शिव-निर्माल्य को लाँघ जायगा तो उस पुष्पचौर की—अंतर्धान होने की—सब शक्ति नष्ट हो जाएगी। राजा के उपाय से अपरिचित होने के कारण उस उपवन में प्रवेश करते ही गंधर्वराज शक्तिहीन हो गया। जब उसे प्रणिधान द्वारा शिव-निर्माल्य के लाँघने से अपनी शक्ति के ह्रास का पता चला, तब उसने शिवजी की महिमा और अपनी भक्ति को व्यक्त करने के लिये इस पवित्र स्तोत्र की रचना की[2]।

ऊपर के सैंतीसवें श्लोक से भी जान पड़ता है कि 'कुसुमदशन' (अथवा 'पुष्पदंत') नामक गंधर्वराज भगवान् शंकर का सेवक था। वह उनके (अर्थात् अपने स्वामी के) क्रोध के कारण अपने स्थान से पतित हो गया। तब उसने (शिवजी को प्रसन्न करने के लिये) इस परम दिव्य महिम्नस्तव की रचना की।

इक्कीसवें से आगे के श्लोकों में स्तोत्र-प्रणेता 'पुष्पदंत' का चार बार नामोल्लेख हुआ है। कुछ प्रचलित प्रतियों के आरंभ एवं अंत में क्रमशः 'पुष्पदन्त उवाच' तथा 'श्रीपुष्पदन्तविरचितं शिवमहिम्नस्तोत्रं सम्पूर्णम्' लिखा मिलता है। किंतु अमरेश्वर में मिली हुई इस प्राचीन प्रति में कहीं भी 'पुष्पदंत' का नाम नहीं देख पड़ता। इसलिये मैं नहीं कह सकता कि वस्तुतः 'शिवमहिम्नस्तव' का रचयिता कौन था—गंधर्वराज पुष्पदंत अथवा कोई अन्य संस्कृतज्ञ विद्वान्।

उदयपुर के राजघराने में करजाली के परम योगी (स्वर्गवासी) महाराज चतुरसिंहजी ने मेवाड़ी भाषा में इस पवित्र स्तव का समश्लोकी अनुवाद किया है। उसकी भूमिका में उन्होंने इस स्तोत्र की—ताड़पत्र पर लिखी हुई—किसी बहुत प्राचीन प्रति का उल्लेख-मात्र किया है[3]। किंतु उसका समय नहीं बतलाया है। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि वह इस प्रति से—जो मुझे मिली है—अधिक प्राचीन है अथवा नहीं। अमरेश्वर की प्रति से स्तोत्र-प्रणेता का तनिक भी पता नहीं चलता; इसलिये विज्ञ पाठक ही इस प्रश्न को हल करें कि इसका वास्तविक रचयिता कौन था। फिर भी यह अनुमान असंगत प्रतीत नहीं होता कि प्राचीन किंवदंतियों के अनुसार पीछे से पंडितों ने फलश्रुति के श्लोक लिखते हुए पुष्पदंत का नामोल्लेख किया हो।

अमरेश्वर-मंदिर से प्राप्त इस प्रति में केवल इकतीस ही श्लोक हैं, जो अनेक मुद्रित एवं हस्तलिखित प्रतियों में इसी क्रम से मिलते हैं। इनसे आगे के श्लोकों में न्यूनाधिक्य एवं क्रम-भेद पाया जाता है; अतएव यह अनुमान असंगत न होगा कि इस स्तोत्र के मूल पाठ में इकतीस श्लोक ही

---

[1] 'क', 'घ', 'ङ', 'छ' और 'झ' में यह उनतालीसवाँ श्लोक है। 'च', 'ज', 'ट', 'ठ' एवं 'ड' में यह चालीसवाँ और 'ख—ग' में तैंतालीसवाँ श्लोक है।

[2] पुस्तक 'ग', पृष्ठ १.

[3] मेवाड़ी बोली में समश्लोकी महिम्नस्तोत्र, पृष्ठ (क)

होने चाहिएँ। इकतीसवें श्लोक के अंत में "इति चकितममन्दीकृत्य मां भक्तिराधाद्वरद चरणयोस्ते वाक्यपुष्पोपहारम्" लिखा होने से अनुमान हो सकता है कि उसके कर्त्ता ने इस वाक्य के साथ स्तोत्र की इतिश्री करते हुए भगवान् शंकर के चरणों में अपने वाक्य-रूपी पुष्प चढ़ाए हैं। मधुसूदन सरस्वती ने भी इन्हीं इकतीस श्लोकों पर अपनी द्व्यर्थी टीका लिखी है—इससे भी हमारे इस अनुमान की पुष्टि होती है।

यहाँ इकतीस से आगे के श्लोकों की रचना पर यत्किंचित् प्रकाश डालना आवश्यक जान पड़ता है। यदि प्रचलित स्तोत्र को ध्यानपूर्वक पढ़ा जाय, तो इकतीसवें से आगे के श्लोकों में अर्थ की सरलता और पहले के श्लोकों की भाषा से स्पष्ट अंतर देख पड़ता है। इस अंतर से भी अनुमान हो सकता है कि ये श्लोक पीछे से जोड़े गए होंगे। यदि पुष्पदंत ही इस स्तोत्र का रचयिता माना जाय और इसकी समाप्ति के लिये पुष्पिका की आवश्यकता का अनुभव किया जाय, तो तैंतीसवें श्लोक के साथ ही प्रणेता द्वारा यह स्तोत्र समाप्त हो जाना चाहिए था। किंतु अन्य श्लोकों को देखकर अनुमान होता है कि कालांतर में किसी शिवभक्त पंडित ने स्तोत्र-पाठ से प्राप्य फल का महत्त्व प्रकट करने के लिये चौंतीस से छत्तीस तक श्लोक बनाकर जोड़ दिए होंगे। प्राचीन काल में मुद्रण-यंत्र के अभाव में भारत-जैसे विशाल देश के भिन्न-भिन्न भागों में निवास करनेवाले पंडितों के संग्रहों के ग्रंथों में पाठ-भेद मिलना युक्तिसंगत है। यह तो निर्विवाद है कि महिम्नस्तव का मूल पाठ सब पंडितों के पास होगा। किसी विद्वान् ने अपनी 'महिम्नस्तव' की पोथी में गंधवराज पुष्पदंत की कथा के उल्लेख और फलश्रुति की महिमा को आवश्यक समझकर श्लोक-संख्या ३७—४० या ४२ की रचना की होगी। संभव है, किसी अन्य पंडित ने 'महिम्नस्तव' के मूल पाठ की अपनी प्रति में केवल तैंतालीसवाँ श्लोक ही बनाकर जोड़ दिया होगा; क्योंकि उसमें—पुष्पदंत का नामोल्लेख और फलश्रुति—दोनों का समावेश है। मेरा तो अनुमान है कि भिन्न-भिन्न समय में भिन्न-भिन्न विद्वानों ने मूल पाठ के श्लोकों में स्वेच्छानुसार जनश्रुति के प्रणेता के नाम एवं फलश्रुति के श्लोक बनाकर जोड़ दिए होंगे; क्योंकि यदि इकतीस से आगे के सभी श्लोकों की रचना एक ही पंडित ने की होती, तो उसके लिये पुष्पदंत का चार बार नामोल्लेख करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। इस पवित्र स्तव की जिन मुद्रित प्रतियों का आज-कल प्रचार है, उन्हें छापते समय उनके संपादकों ने आठ-दस अथवा इससे अधिक हस्तलिखित प्रतियों से अपना पाठ तैयार किया होगा। मूल पाठ के सिवा उन्हें जिस-जिस हस्तलिखित प्रति में जो-जो श्लोक अधिक मिले, उन सबका उन्होंने अपने-अपने संस्करण में समावेश कर दिया। यही कारण है कि इस स्तव की मुद्रित प्रतियों में ४०, ४१, ४२ अथवा ४३ नंबर के श्लोक पाए जाते हैं। इसके सिवा पीछे से जोड़े गए श्लोकों के क्रम में भी अंतर देख पड़ता है।

महिम्नस्तव के प्रसिद्ध टीकाकार मधुसूदन सरस्वती[1] ने इस पर—शिव और विष्णु—दोनों के अर्थ को बतलानेवाली टीका लिखी जिसे बंबई के निर्णयसागर प्रेस ने प्रकाशित किया है। संभव है,

---

[1] मधुसूदन सरस्वती—परमहंस श्रीविश्वेश्वर सरस्वती, श्रीधर सरस्वती एवं माधव सरस्वती के शिष्य तथा पुरुषोत्तम सरस्वती के गुरु थे। वे संस्कृत भाषा के प्रकांड पंडित थे। उन्होंने अनेक संस्कृत-ग्रंथ एवं टीकाएँ

वह अन्यत्र भी मुद्रित हुई है। इसमें केवल छत्तीस श्लोक दिए गए हैं। उनमें भी मधुसूदन सरस्वती ने केवल इकतीस पर ही अपनी विशद व्याख्या लिखी है और शेष पाँच को सुगम जानकर छोड़ दिया है। उस संस्करण के संपादक (वासुदेव लक्ष्मण पणशीकर) ने पाद-टिप्पणी में लिखा है—"मधुसूदन सरस्वती ने केवल इकतीस श्लोकों पर अपनी टीका लिखी और आगे के पाँच को सरल जानकर छोड़ दिया, तो भी लोकपाठ का अनुसरण कर हमने यहाँ इनसे आगे के श्लोक भी दे दिए हैं।[1]" मधुसूदन एवं अमरेश्वर के पाठ का मिलान करने पर जान पड़ता है कि दोनों एक दूसरे से बहुत मिलते-जुलते हैं। इससे पता चलता है कि मधुसूदन सरस्वती के समय तक स्तोत्र के प्राचीन पाठ में कोई विशेष अंतर नहीं पड़ा था। पहले के इकतीस श्लोक प्रधान माने जाते थे और उनके आगे के पाँच गौण। समय बीतने पर कुछ और श्लोक जोड़े गए, जिससे धीरे-धीरे स्तोत्र चालीस और फिर तैंतालीस श्लोकों का बन गया।

महिम्नस्तव बहुत प्राचीन एवं पवित्र स्तोत्र[2] है। मुझे इसकी आठ सौ सत्तर वर्ष की एक पुरानी प्रति मिली है, जिससे इसके प्राचीन एवं मूल पाठ का पता चल सकता है। इसलिये यहाँ अमरेश्वर की प्रति के अनुसार पंक्ति-क्रम से इस स्तव का पाठ देना आवश्यक प्रतीत होता है। उसकी प्रतिलिपि रहने से पाठकों को विशेष सुविधा होगी। वर्त्तमान प्रतियों तथा इस प्रति के पाठ में जहाँ अंतर देख पड़ता है, वह टिप्पणों में दिखलाया गया है। इसके सिवा लेखन-संबंधी दोष भी ठीक किए गए हैं। आशा है, इस पाठ के मुद्रित होने के पश्चात्, महिम्नस्तव अथवा स्तोत्र-संग्रहों के विद्वान् संपादक, भविष्य में प्रकाशित होनेवाले संस्करणों में, पहले इस पवित्र स्तोत्र के मूल पाठ को छापकर उसके बाद स्तोत्र-प्रणेता एवं माहात्म्य-संबंधी श्लोकों को उससे पृथक् स्थान देंगे, ताकि पाठकों को मूल एवं क्षेपक का भेद भली भाँति मालूम हो जाय। यहाँ स्पष्ट शब्दों में यह प्रकट कर देना आवश्यक है कि मुझे यह हठधर्मी कदापि

लिखीं जिनके नाम यहाँ अकारादि-क्रम से पाठकों के परिचय के लिये दिए जाते हैं—(१) अद्वैतब्रह्मसिद्धि, (२) अद्वैतरत्नरक्षण, (३) आत्मबोधटीका, (४) आनंदमंदाकिनी, (५) ऋग्वेदजटाद्यष्टविकृतिविवरण, (६) कृष्णकुतूहल नाटक, (७) प्रस्थानभेद, (८) भक्तिसामान्यनिरूपण, (९) भगवद्गीतागूढ़ार्थदीपिका, (१०) भगवद्गीतातात्पर्यकारिका, (११) भगवद्भक्तिरसायन, (१२) भागवतपुराणप्रथमश्लोकव्याख्या, (१३) भागवतपुराणाद्यश्लोकत्रयव्याख्या, (१४) महिम्नस्तोत्रटीका, (१५) राज्ञां प्रतिबोधः, (१६) वेदस्तुतिटीका, (१७) वेदांतकल्पलतिका, (१८) शांडिल्यसूत्रटीका, (१९) शास्त्रसिद्धांतलेशटीका, (२०) संक्षेपशारीरकसारसंग्रह, (२१) सर्वविद्यासिद्धांतवर्णन, (२२) सिद्धांततत्त्वबिंदु, और (२३) हरलीलाव्याख्या।—ऑफ्रेक्ट; कॅटॅलॉगस् कॅटॅलॉगरम्, जिल्द १, पृष्ठ ४२७; जि० २, पृ० ९२

[1] पुस्तक 'ग', पृष्ठ ६३

[2] शिवमहिम्नस्तव का महत्त्व इसी से प्रकट है कि अब तक अनेक विद्वानों ने इस पर टीकाएँ लिखी हैं। यहाँ कतिपय टीकाकारों एवं कुछ की टीकाओं का नाम-निर्देश किया जाता है—अमरकंठ, अहोबल, उपदेव, कृष्णनृप, कैवल्यानंद, गोपालभट्ट (स्तुतिचंद्रिका), गोविंदराम (प्रकाश), गोविंदानंद (कौमुदी), जगदीशपंचानन (रहस्यप्रकाश), देचयात्मा, परमानंद चक्रवर्ती, भगीरथ मिश्र, मधुसूदन सरस्वती, रामजीवन तर्कवागीश, रामदेव, रामानंदतीर्थ, विश्वेश्वर सरस्वती, वोपदेव (पंजिकाद्वयर्थी), शंकर, श्रीकृष्ण तर्कालंकार, श्रीधर स्वामी (शिवविष्णुपक्षोभयार्थिका महिम्नस्तवटीका), और हरगोविंदशर्मन् (वैष्णवी)।—ऑफ्रैक्ट; कॅटॅलॉगस् कॅटॅलॉगरम्, जिल्द १, पृष्ठ ४४४; जिल्द २, पृष्ठ १०२ और जिल्द ३, पृष्ठ ९९

अभीष्ट नहीं है कि मेरा ही पाठ भविष्य के लिये मूल पाठ माना जाय। गुजरात, राजपूताना के कुछ राज्यों, तंजोर, पूना, काशी, कलकत्ता, नेपाल-राज्य तथा योरप और अमेरिका के बड़े-बड़े पुस्तकालयों में हस्तलिखित संस्कृत-ग्रंथों के अनेक बृहत् संग्रह विद्यमान हैं। संभव है, उनमें अथवा किन्हीं विद्वान् पंडितों के निजी संग्रहों में अमरेश्वर की इस प्रति से भी प्राचीन प्रतियाँ हों। साथ ही साथ यह भी विचारणीय है कि भट्टारक गंधध्वज ने विक्रम-संवत् ११२० में अमरेश्वर-मंदिर की दीवार पर इस स्तोत्र को खुदवाकर अपनी शिव-भक्ति का परिचय दिया था। इससे यह अनुमान युक्तियुक्त प्रतीत होता है कि उस समय से कई शताब्दियाँ पूर्व इस पवित्र स्तव की रचना हुई होगी और उस समय तक यह बहुत-कुछ प्रसिद्धि पा चुका होगा। इसलिये अमरेश्वर की प्रति से प्राचीनतर प्रति मिलना असंभव नहीं है।

हमारा काम तो केवल इस दिशा में कुछ चर्चा छेड़ देना ही है। आशा है, विद्वान् पाठक इस विषय पर नवीन प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

अमरेश्वर के पाठ की प्रतिलिपि

पंक्ति १. ॐ नमः शिवाय ॥ महिम्नः[१] पारं ते परमविदुषो यद्यसदृशी
स्तुतिर्ब्रह्मादीनामपि [२] तदवसन्नास्त्वयि गिरः।
अथावाच्यः सर्व्वः स्वमतिपरिणामावधि गृण-
न्ममाप्येष स्तोत्रे हर निरपवादः परिकरः ॥१॥

अतीतः पंथानं तव च महिमा वाङ्मनसयो-
रतद्व्यावृत्या[३] यं चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि।
स क-
२. -स्य स्तोतव्यः कतिविधगुणः कस्य विषयः
पदे त्वर्व्वाचीने पतति न मनः कस्य न वचः ॥२॥

मधुस्फीता वाचः परमममृतं वि (नि) र्मितवत-
स्तव ब्रह्मन्किं [४] वागपि सुरगुरोर्व्विस्मयपदं (दम्)।
मम त्वेतां वाणीं गुणकथनपुण्येन भवतः
पुनामीत्यर्थेस्मिन्पुरमथन बुद्धिर्व्यवसिता[५] ॥३॥

---

[१] श्लोक १-२९ में शिखरिणी वृत्त है।

[२] 'ब्रह्मादीनां०' पढ़ना चाहिए।

[३] 'रतद्व्यावृत्त्या' होना चाहिए।

[४] 'ब्रह्मन् किं' पढ़ना चाहिए।

[५] 'बुद्धिर्व्यवसिता' चाहिए।

तवैश्वर्यं यत्तज्जगदुदयरक्षा प्रलयकृ-
त्त्रयी-
३. वस्तु व्यस्तं तिसृषु गुणभिन्नासु तनुषु ।
अभव्यानामस्मिन्वरद रमणीयामरमणीं
विहतुं[1] व्याक्रोशीं विदधत इहैके जडधियः ॥४॥

किमीहः किं कायः स खलु किमुपायस्त्रिभुवनं
किमाधारो धाता सृजति किमुपादान इति च ।
अतर्क्यैश्वर्यै[2] त्वय्यनवसरदुस्थो[3] हतधियः
कुतर्क्कोयं कांश्चिन्मुखरयति मोहाय जगतः ॥५॥

४. अजन्मानो लोकाः किमवयववन्तोपि जगता-
मधिष्ठातारं किं भवविधिरनादृत्य भवति ।
अनीशो वा कुर्याद्भुवनजनने कः परिकरो
यतो मंदास्त्वां प्रत्यमरवर संशेरत इमे ॥६॥

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च ।
रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
५. नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥७॥

महोक्षः खट्वांगं परशुरजिनं भस्म फणिनः
कपालं चेतीयत्तव वरद तन्त्रोपकरणं (णम्) ।
सुरास्तां तामृद्धिं दधति तु भवद्भूप्रणिहितां
न हि स्वात्मारामं विषयमृगतृष्णा भ्रमयति ॥८॥

ध्रुवं कश्चित्सर्व्वं सकलमपरस्त्वध्रुवमिदं
परो ध्रौव्याध्रौव्ये जगति गदति व्यस्तविषये ।
समस्तेप्येतस्मि-
६. न्पुरमथन तैर्व्विस्मित इव
स्तुवन्जिह्वेमि त्वां न खलु ननु धृष्टा मुखरता ॥९॥

---

१. 'विहन्तु' होना चाहिए।
२. 'अतर्क्यैश्वर्ये' पढ़ना चाहिए।
३. 'दुःस्थो' चाहिए।

तवैश्वर्यं यत्नाद्यदुपरि विरिंचो हरिरधः
परिच्छेतुं[१] जाता[२]वनिल[३]मनलस्कंधवपुषः
ततो भक्तिश्रद्धाभरगुरुगृणद्भ्यां गिरिश [य] त्
स्वयं त [स्थे ता] भ्यां तव किमनुवृत्तिर्न्न फलति ॥१०॥
अयत्नादापाद्य त्रिभुवनमवैरव्यतिकरं
दशास्यो यद्बाहू—
७. नभृत रणकंडूपरवसा(शा)न् ।
शिरः पद्मश्रेणीरचितचरणांभोरुहबलेः
स्थिरायास्त्वद्भक्तेस्त्रिपुरहर विस्फूर्ज्जितमिदं(दम्) ॥११॥
अमुष्य त्वत्सेवासमधिगतसारं भुजवनं
बला[४]त्कैलासेपि त्वदधिवसतौ विक्रमयतः ।
अलभ्या पातालेप्यलसचलितांगुष्ठसि(शि)रसि
प्रतिष्ठा त्वय्यासीद्ध्रुवमुपचितो मुह्यति खलः ॥१२॥
यदृद्धिं
८ सुत्राम्णो वरद परमोच्चैरपि स [ती-
म] धश्चक्रे बाणः परिजनविधेयत्रिभुवनः ।
न तच्चित्रं तस्मिन्वरिवसतरि[५] त्वच्चरणयो-
र्न कस्या उन्नत्यै[६] भवति शिरसस्त्वय्यनवतिः[७] ॥१३॥
अकांड ब्रह्मांड[८]क्षयचकितदेवासुरकृपा-
विधेयस्यासीद्यस्त्रिनयन विषं संहृतवतः ।
स कल्माषः कंठे तव न कुरुते न श्रियमहो
विकारोपि श्ला-
९ घ्यो भुवनभयभंगव्यसनिनः ॥१४॥

[१] 'परिच्छेत्तुं' होना चाहिए ।

[२] 'यातौ' चाहिए । आज-कल की प्रतियों में यही पाठ मिलता है और अर्थ की दृष्टि से भी यही उत्तम जान पड़ता है ।

[३] 'अनल०' पढ़ना चाहिए । अर्थ-संगति न होने से 'अनिल०' पाठ ठीक प्रतीत नहीं होता । प्रचलित 'अनल०' पाठ ही युक्तियुक्त है ।

[४] 'बलात्कैलासे०' होना चाहिए ।

[५] '०वसितरि' चाहिए ।

[६] कुछ प्रचलित प्रतियों में 'कस्याप्युन्नत्यै' पाठ मिलता है ।

[७] '०य्यवनतिः' होना चाहिए; यही पाठ ठीक जान पड़ता है ।

[८] '०कांडब्रह्मांड०' पढ़ना चाहिए ।

असिद्धार्था नैव क्वचिदपि सदेवासुरनरे
निवर्त्तंते नित्यं जगति जयिनो यस्य विशिखाः ।
स पश्यन्नीश त्वामितरसुरसाधारणमभू-
त्स्मरः स्मर्त्तव्यात्मा न हि वशिषु पथ्यः परिभवः ॥१५॥

महीपादाघाताद्व्रजसि[1] सहसा संशयपदं
पदं विष्णोर्भ्राम्यद्भुजपरिघरुग्णग्रहग्र
१०. णं (णम्) ।
मुहुर्द्यौर्दौस्थ्यं यात्यनिभृतजटाताडिततटा
जगद्रक्षायै त्वं नटसि ननु वामैव विभुता ॥१६॥

वियद्व्यापी तारागणगुणितफनोद्गमरुचिः
प्रवाहो वारां यः पृषतलघुदृष्टः शिरसि तं[2] ।
जगद्द्वीपाकारं जलधिवलयं तेनकृतमि-
त्यनेनैवोन्नेयं धृतमहिम दिव्यं तव वपुः ॥१७॥

रथः क्षोणी यंता शतधृतिरगेंद्रो धनुर-
११. थो
रथांगे चंद्रार्क्कौ रथचरणपाणिः शर इति ।
दिधक्षोस्ते कोयं त्रिपुरतृणमाडंवरविधि[3]–
र्विधेयैः क्रीडंत्यो न खलु परतंत्राः प्रभुधियः ॥१८॥

हरिस्ते साहस्रं कमलवलि[4]माधाय पदयो-
र्यदेकोने तस्मिन्निजमुदहरन्नेत्रकमलं(लम्) ।
गतो भक्त्युद्रेकः परिणतिमसौ चक्रवपुषा
त्रयाणां रक्षायै त्रिपुरहर जागर्त्ति जगतां (ताम्) ॥१९॥

१२. क्रतौ सुप्ते जाग्रत्त्वमसि फलयोगे क्रतुमतां
क्व कर्म प्रध्वस्तं फलति पुरुषाराधनमृते ।
अतस्त्वां संप्रेक्ष्य क्रतुषु फलदानप्रतिभुवं
श्रुतौ श्रद्धां बध्वा कृतपरिकरः कर्मसु जनः ॥२०॥

क्रियादक्षो दक्षः क्रतुपतिरधीशस्तनुभृता-
मृषीणामार्त्विज्यं शरणद सदस्याः सुरगणाः ।

---

[1] '०द्व्रजति' चाहिए ।
[2] 'तं' की अपेक्षा 'ते' ठीक है, क्योंकि उससे युक्तिसंगत अर्थ निकलता है ।
[3] 'माडंबरविधि०' पढ़ना चाहिए ।
[4] 'कमलबलि०' चाहिए ।

क्रतुभ्रेषस्त्वत्तः क्रतुफलविधानव्यसनिना
ध्रुवं कर्तु-
१३. ःश्रद्धाविधुरमभिचाराय हि मखाः ॥२१॥
प्रजानाथं नाथ प्रसभमभिकं स्वा दुहितरं
गतं रोहिद्भूतां रिरमयिषुमृष्यस्य वपुषा ।
धनुःपाणेर्यातं दिवमपि सपत्राकृतममुं
त्रसंतं तेद्यापि त्यजति न मृगव्याधरभसः ॥२२॥
स्वलावण्याशंसाधृतधनुषमह्नाय तृणव
त्पुरः प्लुष्टं दृष्ट्वा पुरमथन पुष्पायुधमपि ।
१४. यदि स्त्रैणं देवी य-
मनिरत देहार्द्धघटना-
दवेति[1] त्वामद्धा वत[2] वरद मुग्धा युवतयः ॥२३॥
श्मशानेष्वाक्रीडा स्मरहर पिशाचाः सहचरा-
श्चिताभस्मालेपः स्रगपि नृकरोडी[3]परिकरः ।
अमंगल्यं शीलं तव भवतु मामैवमखिलं[4]
तथापि स्मर्तृणां वरद परमं मंगलमसि ॥२४॥
मनः प्रत्यक्चित्ते सविधमवधायात्तमरुतः
१५. प्रहृष्यद्रोमाणः प्रमदसलिलोत्संगितदृशः ।
यदालोक्याह्लादं ह्रद इव निमज्ज्यामृतमये
दधत्यन्तस्तत्त्वं किमपि यमिनस्तत्किल भवान् ॥२५॥
त्वमर्कस्त्वं सोमस्त्वमसि पवनस्त्वं हुतवह -
स्त्वमापस्त्वं व्योम त्वमु धरणिरात्मा त्वमिति च ।
परिच्छिन्नामेवं त्वयि परिणता बिभ्रति[5] गिरं
न विद्मस्तत्तत्त्वं वय-
१६. मिह यत्त्वं न भवसि ॥२६॥
त्रयीं तिस्रो वृत्तीस्त्रिभुवनमथो त्रीनपि सुरा-
नकाराद्यैर्वर्णैस्त्रिभिरभिदधत्तीर्णं विकृति ।

---

[1] '०दवैति' होना चाहिए ।
[2]. 'बत' पढ़ना चाहिए ।
[3]. '०करोटी०' पढ़ना चाहिए ।
[4]. 'नामैव०' होना चाहिए ।
[5]. 'बिभ्रति' चाहिए । 'ख' और 'ग' में 'बिभ्रतु' पाठ मिलता है ।

तुरीयन्ते धाम ध्वनिभिरवरुन्धान[1]मणुभिः
समस्तं व्यस्तं[2] त्वां शरणद गृणात्योमिति पदं(दम्) ॥२७॥
भवः शर्व्वो रुद्रः पशुपतिरथोग्रः सहमहां -
स्तथा भीमे -
१७. [शा] नाविति यदभिधानाष्टकमिदं(दम्) ।
अमुष्मिन्प्रत्येकं प्रविचरति देव श्रुतिरपि
प्रियायास्मै धाम्ने प्रविहि [तनम-]
१८. स्योऽस्मि भवते ॥२८॥
नमो नेदिष्ठाय प्रियदव दविष्ठाय च नमो
नमः क्षोदिष्ठाय स्मरहर महिष्ठाय च नमः ।
न बर्हिष्ठाय[3] त्रिनयन यविष्ठाय च नमो
नमः सर्व्वस्मै ते तदिदमिति शर्व्वाय[4] च नमः ॥२९॥
बहुलरजसे[5] विश्वोत्पत्तौ भवाय नमो नमः
प्रबलतमसे
१९. तत्संहारे हराय नमो नमः ।
जनसुखकृते सत्त्वोत्पत्तौ[6] मृडाय नमो नमः
प्रमहसि पदे निस्त्रैगुण्ये शिवाय नमो नमः[7] ॥३०॥
[8]कृशपरिणति चेतः क्लेशवश्यं क चेदं
क च तव गुणसीमोल्लंघिनी स(श)श्वदृद्धिः ।
इति चकितममंदीकृत्य मां भक्तिराधा -
द्वरद चरणयोस्ते वाक्यपुष्पोपहा-
२०. रं (रम्) ॥३१

---

[1] '०विरुन्धान०' पाठ भी कुछ प्रतियों में मिलता है

[2] 'ठ' में 'समस्तव्यस्तं' पाठ मिलता है, जो ठीक है ।

[3] प्रचलित प्रतियों में मिलनेवाला 'वर्षिष्ठाय' पाठ अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है; क्योंकि 'यविष्ठाय' के साथ 'वर्षिष्ठाय' का जोड़ा ठीक जँचता है । 'बर्हिष्ठाय' व्याकरण के अनुसार ठीक नहीं जान पड़ता ।

[4] कुछ प्रचलित प्रतियों में 'सर्वाय' मिलता है ।

[5] 'बहुलरजसे' होना चाहिए । प्रचलित प्रतियों में 'बहलरजसे' पाठ मिलता है ।

[6] प्रचलित प्रतियों में 'सत्त्वोद्रिक्तौ' पाठ है ।

[7] इस श्लोक में हरिणी वृत्त है ।

[8] मालिनी वृत्त ।

इति महिम्नस्तवं समाप्तमिति ॥ॐ॥ श्रीअमरेश्वरदेवाग्रतः शिवभक्तभट्टारकगन्धध्वजः परमभक्त्या स्तुतिरियं स्वयमालिखत् ॥ संवत् ११२० मङ्गलं महाश्रीः ॥ इति शुभं ॥ यमनियमस्वाध्यायाभिरत-जगद्विख्यातकीर्त्तिः………

२१. ……………अमरेश्वरदेवपादाब्जं भक्त्या प्रणमति ॥ भट्टारकश्रीअङ्गदास……… पाशुपतदर्शनविधानाभिरतश्री अमरेश्वरदेवपादाब्जं नित्यं प्रणमति ॥ ………भट्टारक [सुशील] पंडित-ज्ञानराशिः परमभक्त्या निःशेषसुरासुराधिपश्रीअमरेश्वरदेवपादान् सदा नित्यं प्रणमति[1] ॥

२२. ……………श्रीअमरदेवं भक्त्या नित्यं प्रणमति ॥

---

[1] इन पंक्तियों से ज्ञात होता है कि भट्टारक गंधध्वज के साथ रहनेवाले अन्य भट्टारक तथा पंडितों आदि ने शिव-भक्ति से प्रेरित होकर अमरेश्वर-मंदिर में इस स्तोत्र के अंत में अपने-अपने नाम खुदवाए हैं।

कौन था ?

दूर हँसते तारकों से रूठकर, कंटकों को सेज पर सपने बिछा;
मंद मारुत के करुण संगीत से, सो गई मैं एक अलस गुलाब-सी;
आँसुओं का ताज तब पहना गया,
जो मुझे चुपचाप वह अलि कौन था ?
शून्य निशि में श्रांत झंझावात से, चौंकता जब विश्व निद्रित बाल-सा;
बन पपीहे के हृदय की 'पी कहाँ', मैं भटकती थी गगन पथहीन में;
तब खड़ा था जो घनों की ओट में,
दीप विद्युत् का लिए, वह कौन था ?
काल के जब कूलहीन प्रवाह में, बह चला निःसार जीवन सीप-सा;
अश्रु इसमें एक जिसका टूटकर, वेदना का मंजु मोती बन गया;
आज भी है तृषित जग जिसके लिये,
वह सुनहला मेघ जाने कौन था !

महादेवी वर्मा

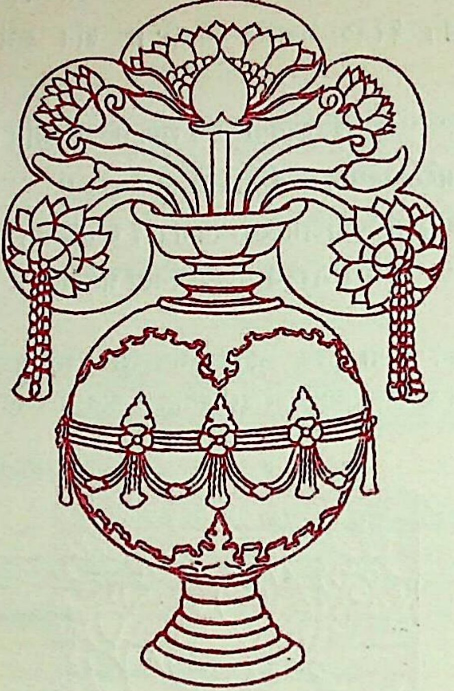

अलंकार

·····सेठ कन्हैयालाल पोद्दार

काव्य में अलंकार क्या पदार्थ है, इस विषय में संक्षेप में यही कहना पर्याप्त होगा कि जिस प्रकार लौकिक व्यवहार में सुवर्ण और रत्नों द्वारा निर्मित आभूषण शरीर को अलंकृत करने के कारण 'अलंकार' कहे जाते हैं, उसी प्रकार शब्दार्थमय काव्य को अलंकृत करनेवाली शब्दार्थ-रचना को काव्य में 'अलंकार' कहते हैं। अग्निपुराण (३४२,१७) में कहा है—'काव्यशोभाकरान्धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते'। काव्य, शब्द और अर्थ उभयात्मक है, अतः अलंकार भी दो वर्गों में विभक्त है—शब्द और अर्थ। शब्द-रचना के वैचित्र्य द्वारा जो काव्य को सुशोभित करते हैं वे 'शब्दालंकार', और अर्थ-वैचित्र्य द्वारा जो काव्य को सुशोभित करते हैं वे 'अर्थालंकार'—एवं शब्द तथा अर्थ दोनों के वैचित्र्य द्वारा जो काव्य को चमत्कृत करते हैं, वे उभयालंकार कहे जाते हैं। शब्द-रचना की विचित्रता प्रायः वर्णों और शब्दों की पुनरावृत्ति पर अवलंबित है, जैसे अनुप्रास और यमकादि में; एवं अर्थ की विचित्रता विभिन्न प्रकार के अर्थ-वैचित्र्य पर निर्भर है। विचित्रता कहते हैं 'लोकोत्तर शैली'—अर्थात् साधारण बोलचाल से भिन्न शैली द्वारा अतिशय चमत्कारक वर्णन—को। अभिनवगुप्ताचार्य ने कहा है—'लोकोत्तरेण चैवातिशय... अनया अतिशयोक्त्या......विचित्रतया भाव्यते[1]। जैसे—"(१) बनगाय गैया के जैसी है, (२) क्या यह

---

[1] 'ध्वन्यालोक'-व्याख्या, पृष्ठ २०८

बनगाय है अथवा गैया ? (३) यह बनगाय नहीं, किंतु गैया है, (४) बनगाय को मैं गैया समझता हूँ।" ये वाक्य साधारण बोलचाल में कहे गए हैं। इनमें उक्ति-वैचित्र्य नहीं जो कहने और सुनने में कुछ चमत्कारक हों; अतएव इनमें अलंकार की स्थिति नहीं—यद्यपि इनमें क्रमशः उपमा, संदेह, अपह्नुति और उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों के लक्षणों का समन्वय हो सकता है। किंतु, यदि इन वाक्यों के स्थान पर—"(१) मुख चंद्रमा के समान है, (२) यह मुख है या चंद्रमा, (३) यह मुख नहीं किंतु चंद्रमा है, (४) मुख मानों चंद्रमा है"—इस प्रकार कहा जाय तो इनमें क्रमशः उपमा, संदेह, अपह्नुति और उत्प्रेक्षा अलंकारों की स्थिति हो जाती है; क्योंकि इनमें उक्ति-वैचित्र्य का चमत्कार है। इस प्रकार का उक्ति-वैचित्र्य ही काव्य को सुशोभित करता है। आचार्य भामह ने कहा है—

"सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते। यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना ॥[1]"

यहाँ 'वक्रोक्ति' शब्द का प्रयोग सामान्यतया व्यापक अर्थ में किया गया है—'वक्रा वैचित्र्याधायिका लोकातिशायिनी उक्तिः कथनम्[2]'। निष्कर्ष यह कि उक्तिवैचित्र्य ही अलंकार है। वह उक्ति-वैचित्र्य भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। उस उक्ति-वैचित्र्य की विभिन्नता के आधार पर ही महान् काव्याचार्यों द्वारा अलंकारों के भिन्न-भिन्न नाम निर्दिष्ट किए गए हैं। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि 'जब विभिन्न उक्ति-वैचित्र्य के आधार पर अलंकारों के नाम निर्दिष्ट किए गए हैं तब अलंकार के नाम के द्वारा ही उसका स्वरूप एवं अन्य अलंकार से पार्थक्य प्रकट हो जाता है, फिर अलंकारों के पृथक्-पृथक् लक्षण निर्मित करके प्राचीनाचार्यों ने क्यों व्यर्थ विस्तार किया ?' यह प्रश्न साधारणतया सारगर्भित प्रतीत हो सकता है; किंतु बात यह है कि जिस अलंकार में जैसी उक्ति का वैचित्र्य अथवा चमत्कार है उसको लक्ष्य में रखकर उस चमत्कार का संकेत मात्र अलंकार के नाम द्वारा सूचित किया गया है। किंतु जब तक उसका स्वरूप लक्षण द्वारा स्पष्ट न समझाया जाय, उसके स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नाम मात्र के संकेत से नहीं हो सकता; क्योंकि अलंकार-विषय अत्यंत जटिल है। प्रायः बहुत-से अलंकार ऐसे हैं जिनका दूसरे—उनके सजातीय—अलंकार से पार्थक्य करने में बहुत ही मार्मिक विचार किया जाना परमावश्यक है। अतएव प्राचीनाचार्यों ने लक्षण द्वारा उसका यथार्थ स्वरूप समझाने की कृपा की है। कहने का अभिप्राय यह है कि लक्षण-निर्माण किया जाना अत्यंत उपयोगी एवं परमावश्यक है। किंतु प्राचीन साहित्याचार्यों के लक्षण-निर्माण को, स्वर्गीय कविराजा मुरारिदान जी ने, व्यर्थ बतलाकर उन पर बड़ा क्रूर आक्षेप किया है। उनके इस मत पर कुछ प्रकाश डालने के पहले उनका यहाँ कुछ परिचय दिया जाना आवश्यक है; क्योंकि वे साधारण कवि न थे। वे जोधपुर के सुप्रसिद्ध स्वर्गीय महाराजा जसवंतसिंह बहादुर के चारणकुलावतंस राजकवि थे। उन्होंने हिंदीभाषा में 'जसवंतजसोभूषन' नामक एक बड़ा महत्त्वपूर्ण बृहत्काय ग्रंथ रचा है। उन्होंने श्री सुब्रह्मण्य शास्त्री-जैसे उत्कट विद्वान् द्वारा साहित्यिक शिक्षा प्राप्त की थी। शास्त्री जी को उदयपुराधीश स्वनामधन्य स्वर्गीय महाराणा फतहसिंह बहादुर ने

---

१. 'काव्यालंकार'—२,८५

२. 'काव्यप्रकाश' (वामनाचार्य-टीका), पृष्ठ ६०६

इसी लिये जोधपुर भेजा था। कविराजा मुरारिदान जी स्वयं ही बड़े मार्मिक साहित्यज्ञ थे, फिर उक्त ग्रंथ की रचना में शास्त्री जी की सहायता का सुयोग भी प्राप्त था। यही नहीं, शास्त्री जी का किया हुआ 'जसवंतजसोभूषन' का संस्कृतानुवाद (यशवंतयशोभूषण) भी मुद्रित हुआ है[१]। वस्तुतः ये दोनों ग्रंथ अत्यंत विद्वत्ता-पूर्ण और मार्मिक आलोचनात्मक हैं। निस्संदेह ये साहित्य-संसार में कविराजा की कीर्त्ति के रत्न-स्तंभ हैं। अस्तु। कविराजा मुरारिदान जी ने इस ग्रंथ में अत्यंत गर्व के साथ यह घोषणा की है कि अलंकारों के नामों में ही लक्षण हैं। आज तक किसी प्राचीन आचार्य ने यह रहस्य नहीं समझा। खेद है कि कविराजा ने साहित्य के आद्याचार्य भरत मुनि और भगवान् वेदव्यास को भी इस रहस्य से अनभिज्ञ बतलाकर उन महानुभावों का अपमान करने का दुस्साहस किया है। कविराजा की विद्वत्ता प्रशंसनीय होने पर भी उनकी यह गर्वोक्ति निर्मूल होने के कारण सर्वथा मिथ्यालाप है; क्योंकि न तो इस रहस्य से प्राचीनाचार्य अनभिज्ञ ही थे, न सभी अलंकारों के नामार्थ में लक्षण ही है और न अपने इस भ्रांत मत को कविराजा निर्भ्रांत सिद्ध ही कर सके हैं। अतएव इस रहस्य पर सर्वप्रथम प्रकाश डालने के गौरव के अधिकारी कविराजा कदापि नहीं हो सकते। उन्होंने अपने इस मिथ्यालाप की पुष्टि में एक विभ्राट् प्रमाण उपस्थित किया है। वे कहते हैं—"कवि जयदेव-प्रणीत 'चंद्रालोक' की 'स्यात्स्मृतिभ्रान्तिसन्देहै-स्तदङ्कालङ्कृतित्रयम्' इस कारिका द्वारा सिद्ध होता है कि जयदेव के मत में भी इन तीन अलंकारों के अतिरिक्त अलंकारों के नाम ही लक्षण नहीं[२]।" किंतु इस कारिका द्वारा कविराजा महाशय के कथन का किसी अंश में भी समर्थन नहीं हो सकता। इस कारिका के कहने का अभिप्राय तो केवल यही है कि स्मृति, भ्रांति और संदेह—ये तीन अलंकार स्पष्ट हैं; इन तीनों में लोक-प्रसिद्ध वैचित्र्य है, इनके लक्षण समझाना अनावश्यक है। किंतु सारे अलंकार ऐसे सरल नहीं जिनके यथार्थ स्वरूप नाम मात्र के द्वारा ही ज्ञात हो जायँ; क्योंकि अलंकारों के नाम में केवल उनके चमत्कार का संकेत मात्र ही सूचित है। और, यही बात प्राचीनाचार्यों को स्वीकृत थी, अतएव 'नाम ही लक्षण' वाली बात वे अवश्य नहीं मानते थे; क्योंकि अलंकार के नाम मात्र में उसका लक्षण नहीं हो सकता, जैसा आगे दिखाया जायगा। यदि प्राचीनाचार्यों को यह ज्ञात न होता कि अलंकारों के नाम उनके चमत्कार के संकेत-सूचक हैं, तो काव्यप्रकाशादि में अलंकारों के नामार्थ की व्युत्पत्ति किस प्रकार दिखाई जा सकती थी। देखिए, 'काव्यप्रकाश' में अलंकारों के नामार्थ इस प्रकार व्युत्पत्ति द्वारा समझाए गए हैं—(१) 'उपमेयोपमा'—उपमेयेन उपमा उपमेयोपमा, (२) 'समासोक्ति'—समासेन संक्षेपेणार्थद्वयकथनं समासोक्तिः, (३) 'निदर्शना'—निदर्शनं दृष्टान्तकरणम्, (४) 'दृष्टान्त'—दृष्टोऽन्तः निश्चयो यत्र स दृष्टान्तः, (५) 'दीपक'—एकस्यैव समस्तवाक्यदीपनात् दीपकम्। यह दिग्दर्शन मात्र है। कविराजा जी द्वारा भी अलंकारों के नामार्थ की स्पष्टता

---

१. ये दोनों ग्रंथ जोधपुर (मारवाड़) के स्टेट प्रेस में, राजसंस्करण-रूप में, मुद्रित हुए हैं। जोधपुर-नरेश के आज्ञानुसार कविराजा जी साहित्यिक विद्वानों को यह ग्रंथ अ-मूल्य वितरण करते थे। हमको भी साहित्यिक संबंध से ही कविराजा जी ने एक प्रति प्रेषित की थी।

२. जसवंतजसोभूषन, पृष्ठ ३

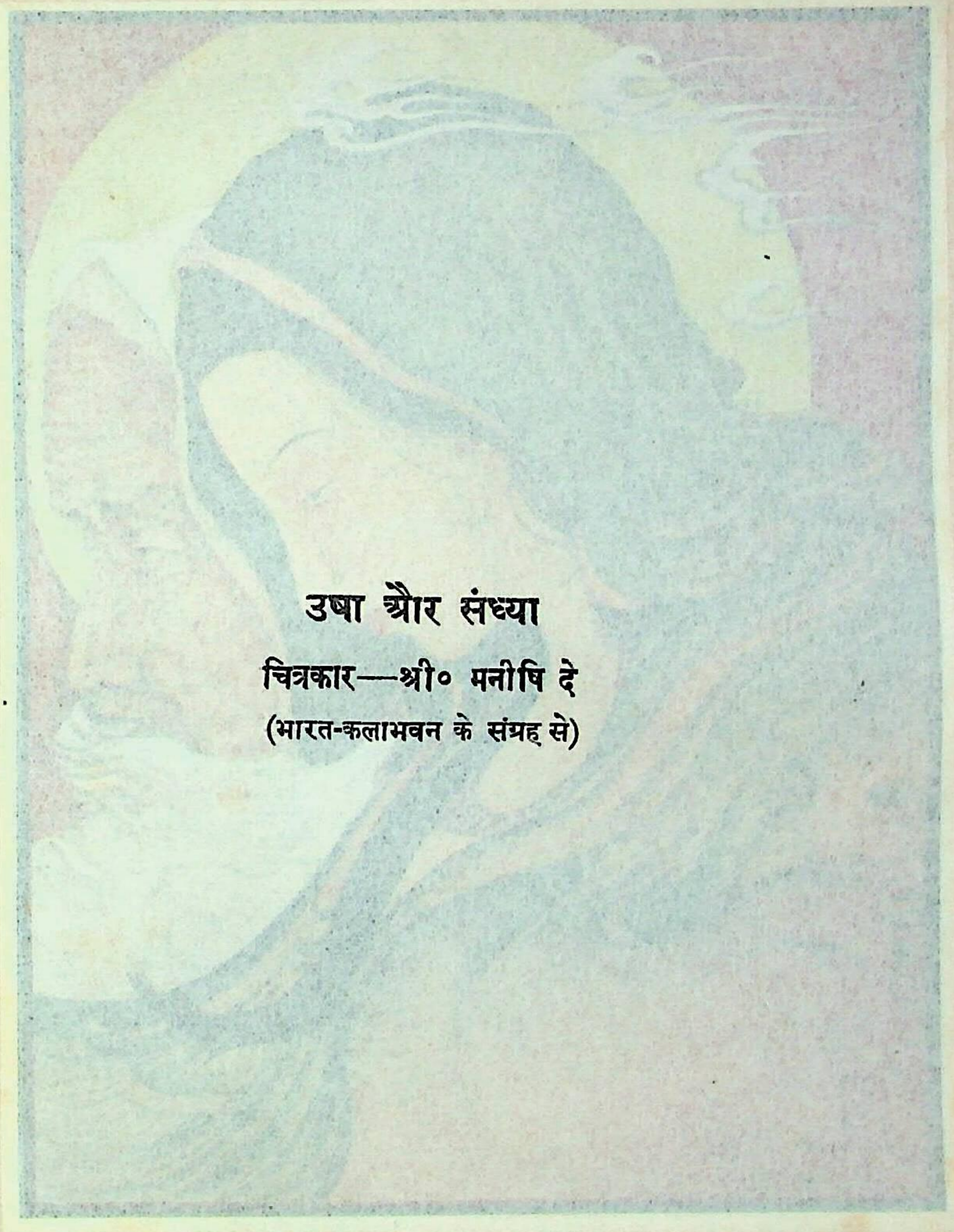

उषा और संध्या

चित्रकार—श्री० मनीषि दे

(भारत-कलाभवन के संग्रह से)

इसी लिये जोधपुर भेजा था। कविराजा मुरारिदान जी स्वयं ही बड़े मार्मिक [illegible] थे, [illegible] की रचना में शास्त्री जी की सहायता का सुयोग भी प्राप्त था। [illegible] 'जसवंतजसोभूषण' का संस्कृतानुवाद (यशवंतयशोभूषण) भी मुद्रित हुआ है[1]। [illegible] विवेचनापूर्ण और मार्मिक आलोचनात्मक हैं। निस्संदेह ये साहित्य-संसार में [illegible] के रत्न-स्वरूप हैं। अस्तु। कविराजा मुरारिदान जी ने इस ग्रंथ में अत्यंत [illegible] के साथ यह [illegible] है कि अलंकारों के [illegible] ही [illegible] हैं। आज तक किसी प्राचीन आचार्य ने यह रहस्य नहीं [illegible] है कि कविराजा ने [illegible] भगवान् वेदव्यास को भी इस रहस्य से [illegible] [illegible] किया है। कविराजा की विद्वत्ता प्रशंसनीय होने पर भी [illegible] है; क्योंकि न तो इस रहस्य से प्राचीनाचार्य अनभिज्ञ ही थे, [illegible] के नामार्थ के [illegible] भी है और न आपने इस [illegible] मत को कविराजा निर्भ्रांत सिद्ध ही कर [illegible] अतएव इस रहस्य पर सर्वप्रथम प्रकाश डालने के गौरव के अधिकारी कविराजा कदापि नहीं हो [illegible] उन्होंने अपने इस सिद्धान्त की पुष्टि में [illegible] प्रमाण उपस्थित किया है। वे कहते हैं—[illegible] 'चंद्रालोक' की '[illegible] [illegible]' इस कारिका द्वारा [illegible] इन तीन अलंकारों के [illegible] आचार्य के कथन [illegible] नहीं है [illegible] सूचित है। [illegible] प्राचीनाचार्यों को स्वीकृत थी, अतएव 'नाम ही [illegible]' नहीं मानते थे; क्योंकि अलंकार के नाम मात्र में उसका लक्षण नहीं हो सकता, [illegible] यदि प्राचीनाचार्यों को यह ज्ञात न होता कि अलंकारों के नाम उनके चमत्कार के संकेत-सूचक हैं, [illegible] ग्रंथों में अलंकारों के नामार्थ की व्युत्पत्ति किस प्रकार दिखाई जा सकती थी। देखिए, '[illegible]' में अलंकारों के नामार्थ इस प्रकार व्युत्पत्ति द्वारा समझाए गए हैं—(१) 'उपमेयोपमा'—उपमेयेन [illegible] उपमेयोपमा, (२) 'समासोक्ति'—समासेन संक्षेपेणार्थद्वयकथनं समासोक्तिः, (३) 'निदर्शना'—[illegible] दृष्टान्तकरणम्, (४) 'दृष्टान्त'—दृष्टोऽन्तः निश्चयो यत्र स दृष्टान्तः, (५) 'दीपक'—एकस्थैव समस्तवाक्य-दीपनात् दीपकम्। यह दिग्दर्शन मात्र है। कविराजा जी द्वारा भी अलंकारों के नामार्थ की [illegible]

---

[1] ये दोनों ग्रंथ जोधपुर (मारवाड़) के [illegible] प्रेस में, [illegible]-रूप में, मुद्रित हुए हैं। जोधपुर-नरेश के आज्ञानुसार कविराजा जी साहित्यिक विद्वानों को यह ग्रंथ अ-मूल्य वितरण करते थे। इसको भी [illegible] ही कविराजा जी ने एक प्रति भेजित की थी।

[2] [illegible]भूषण, पृष्ठ ३

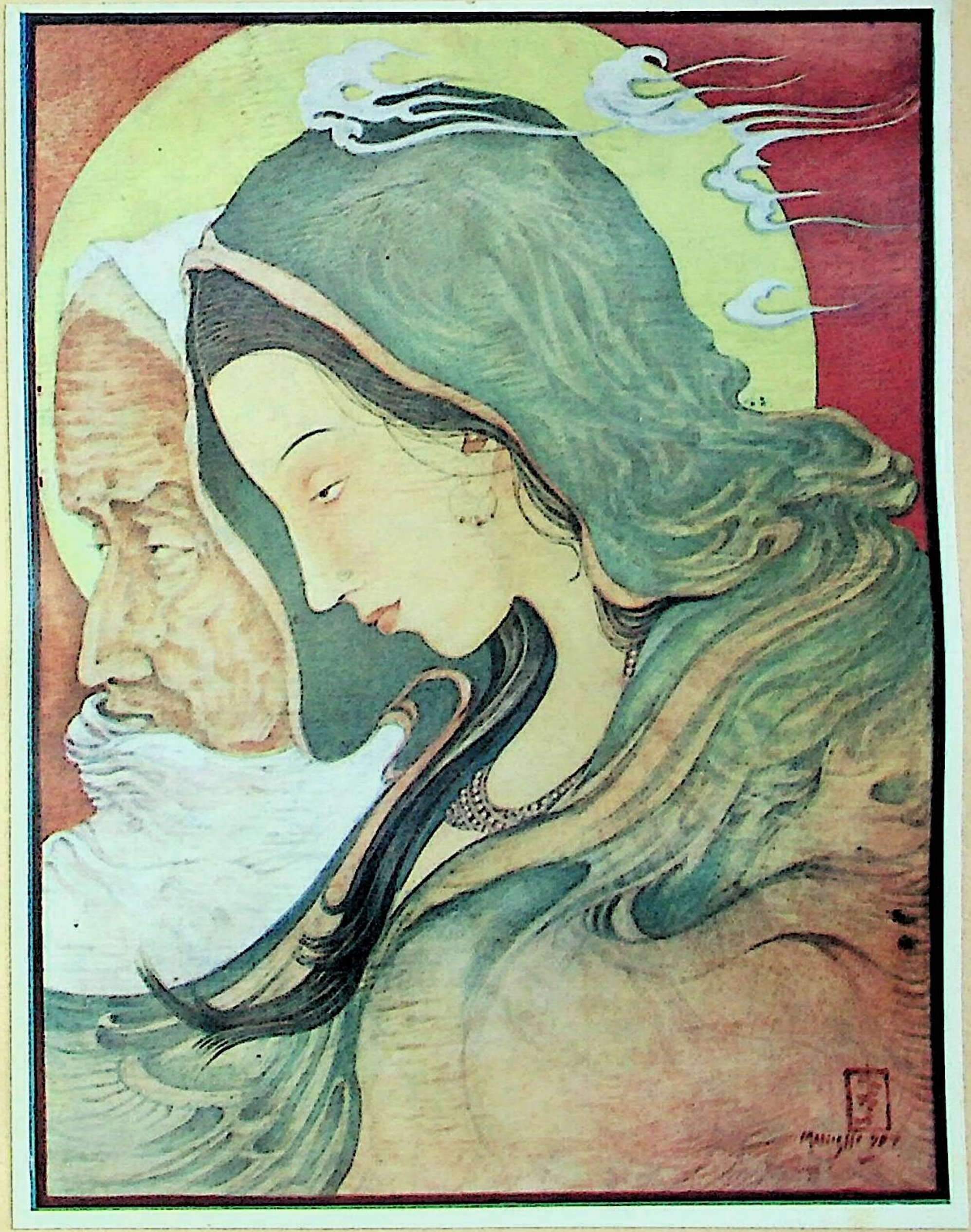

प्रायः इसी प्रकार है। देखिए, उपर्युक्त अलंकारों का नामार्थ उन्होंने इस प्रकार स्पष्ट किया है—(१) 'उपमेयोपमा'—उपमेयेन उपमा; (२) 'समासोक्ति'—थोरे करके बहुत कहने रूप उक्ति—समास, संक्षेप, ये सब पर्याय हैं; (३) 'निदर्शना'—कर दिखाना; (४) 'दृष्टांत'—दृष्टःऽन्तः निश्चयो यत्र स दृष्टान्तः; (५) 'दीपक'—दीपयतीति दीपकम्। इन अवतरणों द्वारा स्पष्ट है कि कविराजा ने नामार्थ स्पष्ट करने में प्रायः 'काव्यप्रकाश' का अनुसरण ही किया है। फिर भी वे उपमा का नामार्थ स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—"यहाँ 'उप' उपसर्ग का अर्थ है 'समीपता'। कहा है 'चिंतामणि'-कोषकार ने—'उप सामीप्ये'। 'माङ्' धातु से 'मा' शब्द बना है। 'माङ्' धातु 'मान'-अर्थ में है। कहा है 'धातुपाठ' में—माङ् माने; उप सामीप्याद् मा मानं उपमा—समीपता करके किया हुआ मान—अर्थात् विशेष ज्ञान। यह 'उपमा' का अक्षरार्थ है। यह उपमा के नाम का साक्षात् अर्थ प्राचीनों के ध्यान में नहीं आया। आया होता तो यह व्युत्पत्ति क्यों नहीं लिखते।" [१]

खेद है कि कविराजा-जैसे सहृदय काव्यमर्मज्ञ विद्वान् की लेखनी द्वारा ऐसे अनौचित्यपूर्ण वाक्य लिखे गए, जब कि उपमा का नामार्थ 'काव्यप्रकाश' में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—"उपमेति। उप सामीप्ये मीयते परिच्छिद्यते (उपमानेन कर्त्रा उपमेयं कर्म) अनयेत्युपमा। उप पूर्वात् 'माङ् माने' इति जैहोत्यादिकान्माधातोः आतश्चोपसर्गे (३, ३, १०६) इति पाणिनिसूत्रेण करणे अङ् प्रत्ययः, तत्र 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' ।...पङ्कजादिवत् योगरूढमिदमुपमापदम्[२]।" कहना अनावश्यक है कि संस्कृत में ('काव्यप्रकाश' में) 'उपमा' के नामार्थ की व्याख्या में जो कुछ कहा गया है, कविराजा जी ने उसी का संक्षिप्त भावार्थ हिंदी में रख दिया है। हाँ, चिंतामणि-कोष और 'धातुपाठ' का नामोल्लेख उन्होंने अवश्य बढ़ा दिया है। अतएव, उनकी इस गर्वोक्ति—'अलंकारों के नामार्थ का ज्ञान प्राचीनाचार्यों को न था'—को अकांडतांडव के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है!

अब रहा उनका दूसरा यह आक्षेप कि 'प्राचीनाचार्यों को नामार्थ का ज्ञान होता तो वे लक्षण क्यों निर्माण करते'। इसका संक्षेप में यही उत्तर है कि अलंकारों के नाम-मात्र में लक्षण हो ही नहीं सकते। अलंकार के नाम में केवल चमत्कार-सूचक संकेत-मात्र है, जैसा हम पहले कह चुके हैं। इस सिद्धांत को स्थापित करने में कविराजा भी कृतकार्य न हो सके हैं। उदाहरणार्थ 'प्रथमे ग्रासे मक्षिकापात' की लोकोक्ति को चरितार्थ करनेवाला 'वक्रोक्ति' अलंकार ही लीजिए। इस अलंकार में वक्र-उक्ति में चमत्कार होता है, इसलिये इसके चमत्कार का संकेत-सूचक 'वक्रोक्ति' नाम है। किंतु किस प्रकार की वक्रोक्ति के चमत्कार में अलंकार होता है, यह बात इसके नामार्थ से नहीं स्पष्ट हो सकती; इसलिये 'काव्यप्रकाश' में इस अलंकार का यह लक्षण बतलाया गया है—

> यदुक्तमन्यथा वाक्यमन्यथाऽन्येन योज्यते।
> श्लेषेण काका वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा॥

---

[१] जसवंतजसोभूषन, पृष्ठ १७२

[२] 'काव्य-प्रकाश', वामनाचार्य-संस्करण, पृष्ठ ६५८—५९

अर्थात् 'अन्य अभिप्राय से कहे हुए वाक्य को दूसरे द्वारा श्लेष अथवा काकु से अन्यथा—वक्ता के अभिप्राय के अतिरिक्त दूसरा अभिप्राय—कल्पित किया जाय।' निष्कर्ष यह कि जहाँ वक्ता के वाक्य का दूसरे व्यक्ति द्वारा अन्य अर्थ कल्पित किया जाय वहीं वक्रोक्ति अलंकार हो सकता है। वह अन्यार्थ-कल्पना, श्लेष अथवा काकु उक्ति द्वारा होती है। किंतु वक्रोक्ति के नामार्थ में यह बात स्पष्ट नहीं हो सकती, इसलिये लक्षण-निर्माण किया जाना अनिवार्य है।

अच्छा, अब 'नाम में ही लक्षण' बतलानेवाले कविराजा जी ने वक्रोक्ति अलंकार के नामार्थ की स्पष्टता किस प्रकार की है, वह भी देखिए—"वक्र शब्द का अर्थ है 'कुटिल'। इसका पर्याय है बाँका, टेढ़ा इत्यादि। 'वक्रोक्ति' नाम की व्युत्पत्ति है—वक्रीकृत उक्ति—बाँकी की हुई उक्ति। उक्ति का बाँका करना तो पर की उक्ति का ही होता है।......वक्रोक्ति में कहीं श्लेष होता है, परंतु वह गौण रहता है।" बस, इतना लिखकर वे फिर 'जसवंतजसोभूषन' में ही कहते हैं—

"वक्र करन पर उक्ति को नृप वक्रोक्ति निहार।
स्वर विकार श्लेषादि सौं होत जु बहुत प्रकार।"

विज्ञ पाठकवृंद! ध्यान दीजिए। कविराजा ने 'वक्रोक्ति' नाम का अर्थ करते हुए जो यह लिखा है कि 'उक्ति का बाँका करना तो पर की उक्ति का ही होता है', तो यह अर्थ 'वक्रोक्ति' के अर्थ में कहाँ से निकल सकता है? इसके अतिरिक्त 'स्वर-विकार' और 'श्लेषादि' का अर्थ भी वक्रोक्ति शब्द से कहाँ निकल सकता है? उनका यह कहना कहाँ तक प्रामाणिक है कि 'वक्रोक्ति पर की उक्ति ही की हो सकती है'? यह कथन तो सर्वथा प्रमाद है; क्योंकि 'वक्रोक्ति' स्वयं वक्ता अपनी उक्ति में भी कर सकता है। देखिए—

मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपाद् दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः।
संचूर्णयामि गदया न सुयोधनोरुं संधिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन॥

—'वेणीसंहार' (नाटक)

इसमें सहदेव के प्रति स्वयं वक्ता भीमसेन की वक्रोक्ति है। किंतु इसमें वक्रोक्ति अलंकार नहीं; क्योंकि प्राचीनाचार्यों ने वक्रोक्ति अलंकार को—वक्ता की उक्ति को किसी अन्य द्वारा अयथार्थ कल्पित किए जाने में ही—सीमाबद्ध कर दिया है। अतएव जहाँ स्वयं वक्ता की वक्रोक्ति होती है वहाँ अलंकार नहीं, किंतु काकाक्षिप्त गुणीभूत व्यंग्य अथवा अवस्था-विशेष में काकु ध्वनिकाव्य होता है। किंतु 'वक्रोक्ति' के नामार्थ के अनुसार तो पर-उक्ति और वक्ता की स्व-उक्ति दोनों ही ग्रहण की जा सकती हैं। इसी लिये अगत्या कविराजा जी को भी वक्रोक्ति के नामार्थ की स्पष्टता में—'वक्रोक्ति' के अर्थ में संभव न होने पर भी—'पर की उक्ति' नामक वाक्य ऊपर से अधिक कहना ही पड़ा है। 'नामार्थ ही लक्षण' है, यह सिद्धांत तो तभी सिद्ध हो सकता था जब वे ऊपर से कुछ न कहकर केवल अलंकार के नाम-मात्र के अक्षरार्थ ही में अलंकार का सर्वांग लक्षण स्पष्ट करके दिखलाने में कृतकार्य हो सकते। अतएव, कविराजा जी के 'नाम ही लक्षण'वाले सिद्धांत में अतिव्याप्तिदोष अनिवार्य-रूपेण उपस्थित हो जाता है। ऐसी अवस्था में उनका यह कहना कि "हमारे 'नाम ही लक्षण' वाले सिद्धांत में अव्याप्ति एवं अतिव्याप्ति दोष नहीं हो सकता"

मनोमोदक का आस्वाद-मात्र है। महान् आश्चर्य तो यह है कि जिस लक्षण-निर्माण के विषय में कविराजा जी ने केवल प्राचीन मान्य साहित्याचार्य भरत मुनि आदि महानुभावों पर ही नहीं, किंतु भगवान् वेदव्यास पर भी घोर आक्षेप किया है, उसी लक्षण-निर्माण के मार्ग का स्वयं भी अनुसरण किया है! यहाँ तक कि अलंकारों के लक्षण के लिये उन्होंने जो भाषा-छंद लिखे हैं, वे प्रायः संस्कृत के अनुवाद-मात्र हैं! यह बात वक्रोक्ति की स्पष्टता के लिये निर्मित उनके उपर्युक्त दोहे से विदित हो जाती है। वह दोहा ऊपर उद्धृत की गई काव्यप्रकाशोक्त कारिका का अनुवाद-मात्र है!

सत्य तो यह है कि अलंकारों के स्वरूप समझाने के लिये महानुभाव प्राचीन साहित्याचार्यों ने जो बात लक्षणात्मक कारिका या सूत्र द्वारा संक्षेप में कह दी है, उसी को समझाने के लिये, कोषादि के अनेक प्रमाणों द्वारा, अत्यंत विस्तार के साथ, बड़ी कष्ट-कल्पना एवं अनुपयुक्त खैंचातानी करके भी, कविराजा अपने सिद्धांत की स्थापना करने में सर्वथा सफल न हो सके! अंततो गत्वा उन्हें प्राचीनों का ही अनुसरण करना पड़ा। ऐसी अवस्था में उनकी इस गर्वोक्ति का मूल्य ही क्या हो सकता है!—

"भोज समय निकली नहीं भरतादिक की भूल।
सो निकसी जसवँत-समय भए भाग्य अनुकूल॥"

परम श्रद्धेय पूज्यपाद द्विवेदी जी जैसे प्राचीन संस्कृत-साहित्य के मर्मज्ञ एवं सत्य के पक्षपाती महानुभाव की सेवा में इस क्षुद्र सेवक की यह श्रद्धांजलि सादर समर्पित है।

उर्दू-शायर और शेख जी

श्री व्रजमोहन वर्मा

उर्दू-काव्य-साहित्य में—और शायद संसार के साहित्य में—सबसे निरीह, सबसे असहाय, सबसे गरीब, सबसे लांछित और सबसे अधिक उत्पीड़ित यदि कोई व्यक्ति है, तो वह बेचारा 'शेख' है। उर्दू-शायर उस गरीब पर वक्त-बेवक्त, जा-बेजा, उचित-अनुचित और अंधाधुंध हमले किया करते हैं। शेख या उनका कोई अन्य रूप—जैसे वायज, नासेह, जाहिद आदि—उर्दू-कवियों की जिंदादिली के लिये 'गेंद-धड़ल्ले' के मैदान हैं, मजाक के तख्तए-मश्क हैं। यदि आप उर्दू-शायर हैं और किसी की खिल्ली उड़ाना चाहते हैं तो 'जनाबे शेख' मौजूद हैं; किसी को खरी-खोटी सुनाने के इच्छुक हैं तो 'नासेह' को आड़े हाथों लीजिए; यदि किसी को उल्लू बनाने के लिये तबीयत मचल रही है तो 'हजरते जाहिद' पर हाथ साफ कीजिए। 'सरशार' कहते हैं—"बदमस्त हो पीके एक चुल्लू, जाहिद को बनाएँ खूब उल्लू!" गरज यह कि उर्दू-शायर अपने व्यंगों की अनी और कटाक्षों की छुरियाँ इसी बेचारे पर पैनाते हैं। उसका मजाक उड़ाना, उस पर फब्तियाँ कसना मानों शायरों का पुश्तैनी हक है। केवल कुछ ऐरे-गैरे टुटपुँजिए शायरों ने ही शेख जी की पवित्र शान में यह धृष्टता दिखलाई हो, सो बात नहीं। उर्दू के दिग्गज महारथियों— सौदा-से उस्ताद, मीर-से रुदनशील, गालिब-से गूढ़ और दार्शनिक,

जौक-से राजगुरु, आतिश और नासिख सरीखे सर्वमान्य, हाली-से सदाचारी, अकबर-से जिंदादिल और इकबाल-सरीखे प्रकृति-प्रेमी से लेकर दो मिसरों की चूल बैठा लेनेवाले तुक्कड़, नाई-हज्जाम और लौंडी-दासियों तक ने बेचारे शेख की पगड़ी उतारने में रत्ती भर हिचक या दया नहीं दिखलाई है। इसी पर मौलवी मुहम्मद इस्माइल ने जलकर उर्दू-शायरों को शीतला-वाहन बनाते हुए लिखा है—"गरीब शेख पर हरदम दुलत्तियाँ झाड़ें, करें मसजिदो काबा से दुम दबा के फरार।" ऐसी हालत में स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि आखिर यह शेख या जाहिद है कौन? किस देश का रहनेवाला है? किस तरह का जीव है? क्या करता है? उससे उर्दू-शायरों को इतना द्वेष—यह जन्मजात घृणा—क्यों है? इस 'बुग्जलिल्लाही' का कारण क्या है? शेख ने किस शायर की लुटिया चुराई है, या किस शायर का बाप मारा है जो सबके सब उस पर टूटे पड़ते हैं?

'शेख' अरबी भाषा में बुजुर्ग, संभ्रांत और बड़े विद्वान् को कहते हैं। 'जाहिद' का अर्थ ईश्वर-भक्त और तपस्वी है। 'वायज' और 'नासेह' धार्मिक उपदेश देनेवाले और नसीहत करनेवाले को कहते हैं। परंतु उर्दू-शायरी में ये सब शब्द रूढ़ बनकर एक-दूसरे के पर्यायवाची बन गए हैं। शेख, जाहिद, वायज और नासेह शब्दों से, मोटे अर्थ में, ऐसे व्यक्ति का बोध होता है जो भावुकता-हीन, कट्टर, संकीर्ण धार्मिक विचारों का हो और स्वच्छंद प्रकृतिवाले तथा धर्म के बँधे ढर्रे पर न चलनेवाले व्यक्तियों को सदा उपदेश, लेक्चरबाजी, डाँट-डपट और समझा-बुझाकर कट्टर पंथ की ओर ले जाने की चेष्टा करता हो। अधिकांश शेख 'पर-उपदेश-कुशल' माने जाते हैं। शेख यद्यपि धार्मिकता का दम भरता है तथापि वह धर्म की गंभीरता, उदारता और आंतरिक तत्त्व से सर्वथा अनभिज्ञ होता है, और केवल धर्म के बाह्याचारों पर ही जान देता नजर आता है। 'चकबस्त' कहते हैं—"जनाबे शेख को यह मश्क है यादे इलाही की, खबर होती नहीं दिल को जबाँ से याद करते हैं।" अर्थात् शेख जी को ईश्वर की याद का इतना अभ्यास है कि मुँह से तो वे बराबर खुदा को याद करते रहते हैं, मगर उनके दिल को खबर भी नहीं होती कि वे क्या रटते हैं!

इस्लाम के धर्म-याजकों के विरुद्ध उर्दू-शायरों का इतना द्वेष, इतना लांछन आश्चर्य की बात होनी चाहिए, जब हम यह देखते हैं कि लगभग नब्बे फी सदी उर्दू-शायर स्वयं भी इस्लाम के अनुयायी हैं। वास्तव में यदि देखा जाय तो उर्दू-शायरों को शेख से इस कदर खार खाने का कोई उचित कारण नहीं है। यह उनका सरासर अन्याय है, और है अंधाधुंध नकल का परिणाम। उर्दू के कवि नक्काली के फन में अपना सानी नहीं रखते। उर्दू की कविता—कम से कम उसका बहुत बड़ा भाग—फारसी कविता की नकल है, वास्तविकता-हीन प्रतिबिंब है। उर्दू-शायरी का विकास फारसी-शायरी के ढंग पर—उसी साँचे में ढलकर—हुआ है। उर्दू-शायरों ने अपनी कल्पना के दर्पण में फारसी कविता की शैली, गठन, सजावट, मुहाविरे, गुण-दोष, अच्छाई-बुराई—प्रत्येक वस्तु का हू-बहू अक्स उतारकर धर दिया है। कहीं-कहीं यह अक्स इतना चटक हो गया है कि उसके सामने असली मूल भी फीका जँचने लगता है। फारसी कविता में हजरते शेख पर जा-बजा फब्तियाँ चुस्त की गई हैं। बस, उर्दू के नक्काल शायर इसी बात को ले उड़े और बेचारे शेख पर वह-वह हाथ जमाए कि खुदा की पनाह!

फारसी कविता में शेख साहब की लेव-देव क्यों की गई है, इसका उत्तर ढूँढ़ने के लिये हमें ईरान के इतिहास पर एक दृष्टि डालनी पड़ेगी। ईरानी लोग आर्य जाति के हैं, और उनकी सभ्यता भारतीय सभ्यता के समान ही पुरानी है। जिस प्रकार भारत में बसनेवाले आर्यों के धर्म और सभ्यता ने विकसित होकर वैदिक धर्म और वैदिक सभ्यता का रूप ग्रहण किया, उसी प्रकार ईरानी आर्यों के विकास ने पारसी धर्म और ईरानी सभ्यता का आकार ग्रहण किया। किसी समय समस्त पश्चिमी एशिया में ईरानी साम्राज्य और ईरानी सभ्यता का बोलबाला था। ईरानियों ने बलूचिस्तान से लेकर यूनान तक अपना राज्य स्थापित किया था। उनकी विजय-वाहिनी ने कई रोमन सम्राटों के दाँत खट्टे करके योरप में डैन्यूब और वाल्गा नदियों तक अपना झंडा फहराया था। पार्सिपोलिस, नक्श-ए-शापुर और नक्श-ए-रुस्तम के बचे-खुचे भग्नावशेष आज भी अपनी मूक वाणी में उस महान् ईरानी सभ्यता के भूले हुए अस्पष्ट गान गा रहे हैं। जिस प्रकार कुछ फलों के पूर्ण परिपक्व हो जाने पर उनमें कीड़े लगकर उन्हें नष्ट कर देते हैं, इसी प्रकार प्रत्येक सभ्यता के चरमोत्कर्ष पर पहुँचते ही उसमें विलासिता के कीटाणु घुसकर उसका नाश कर देते हैं। ईरान में भी यही हुआ। जिस समय अरब में इस्लाम का जन्म हुआ, उस समय ये कीटाणु ईरानी सभ्यता में दूर तक प्रवेश कर चुके थे। तत्कालीन शाशानीय शासक विलासिता में इतने डूबे थे कि उन्हें प्रजा के सुख-दुख का कुछ ध्यान न था। प्रजा दुखी थी। फल यह हुआ कि नए धार्मिक जोश से भरे हुए अरबों के पहले ही हमले में कादसिया के युद्ध (सन् ६३७ ई०) में ईरानी साम्राज्य का पतन हो गया, और जिस प्रकार अँगरेजों ने बिना अधिक प्रयास के भारतवर्ष के एक के बाद दूसरे प्रांत पर अधिकार जमाया, उसी प्रकार ईरान के विभिन्न प्रांत भी—एक के बाद एक—बढ़ते हुए अरबों के आगे झुकते गए।

अरबों की राजनीतिक विजय के साथ ही साथ ईरान में इस्लाम धर्म का प्रचार भी होता गया। कहते हैं कि इस्लाम तलवार के जोर और पाशविक बल के बूते पर फैला, मगर ईरान के संबंध में यह कथन ठीक नहीं है। वहाँ के लोगों ने तलवार के डर के मारे इस्लाम ग्रहण नहीं किया, बल्कि एक दूसरी मार के डर से—जो तलवार से कहीं अधिक भयंकर थी—इस्लाम को अपनाया। वह मार थी आर्थिक मार, पेट की ज्वाला! विजयी अरबों ने मुसलमानों को सब प्रकार के टैक्सों से मुक्त रक्खा और गैर-मुसलिमों पर 'जजिया कर' लगा दिया। हर-एक आदमी को चार दीनार (दस रुपए) प्रति वर्ष 'जजिया' के देने पड़ते थे[1]। यदि किसी परिवार में छः व्यक्ति हुए तो उसे साठ रुपए सालाना का दंड लग गया! यह पहले ही कहा जा चुका है कि तत्कालीन शाशानीय शासकों की विलासिता के कारण ईरानी प्रजा दुखी और गरीब थी, अतः वह इस भारी-भरकम टैक्स का भार न उठा सकी। देश में ऐसी कोई शक्ति न थी, जो उन्हें इस भयंकर 'कर' से बचाती; मजबूर होकर वे मुसलमान हो गए! थोड़े-से व्यक्ति—जो इस 'कर' से तथा विदेशी शासकों की अन्य कठोरताओं से बचना भी चाहते थे,

---

[1] शिबली—'अलफारूक', दूसरा भाग, पृष्ठ १६८

साथ ही अपना धर्म भी नहीं छोड़ना चाहते थे—अपनी मातृभूमि से सदा के लिये बिदा होकर भारत-माता की शरण आए। भारत के मौजूदा पारसी उन्हीं प्रवासी ईरानियों की संतान हैं।

यद्यपि अरबों को ईरान पर आधिपत्य जमाने और इस्लाम को जरथुश्त्रि धर्म पर विजय प्राप्त करने में बहुत अधिक प्रयास और लड़ाई-झगड़े की आवश्यकता नहीं पड़ी थी—दोनों ही बातें आसानी से हो गई थीं, तथापि वास्तविक संघर्ष इन दोनों प्रकार की विजयों के बाद आरंभ हुआ, और किसी हद तक आज भी जारी है। यह संघर्ष तिहरा संघर्ष था—राष्ट्रीय, सांस्कृतिक और धार्मिक। यद्यपि अरबों ने ईरान पर राजनीतिक विजय पाई, तथापि वे ईरानियों की राष्ट्रीय भावना को न कुचल सके। ईरानी राष्ट्रीयता रह-रहकर अरबों के विरुद्ध विद्रोह करती रही, और ईरानियों की राष्ट्रीय भावना की बदौलत ही उम्मायद खलीफों का पतन हुआ[1]। आज भी ईरानी राष्ट्रीयता अरबों के विरुद्ध विद्रोह कर रही है, जिसके फल-स्वरूप नई पौध के ईरानी अरबी अक्षरों का बहिष्कार कर रहे हैं और अरबी नामों के बदले इस्लाम के आगमन के पहले के ईरानी नामों को अपना रहे हैं। ईरान के मौजूदा शासक रजाशाह की 'पहलवी' उपाधि इसका प्रमाण है।

अरबों की अपनी कोई प्राचीन, उन्नत और गर्व करने योग्य संस्कृति न थी। इसके विरुद्ध ईरानी संस्कृति इतनी प्राचीन और आगे बढ़ी हुई थी, जिस पर कोई भी देश गर्व कर सकता था। फल यह हुआ कि विजेता अरबों की रेगिस्तानी संस्कृति और विजित ईरानियों की प्राचीन परिमार्जित संस्कृति में संघर्ष आरंभ हुआ। यद्यपि सुदीर्घकालीन राजनीतिक शक्ति और धार्मिक प्रभाव के कारण ईरानी संस्कृति में अनेक परिवर्त्तन हुए—उसे बहुत-से समझौते करने पड़े, तथापि अंत में विजय ईरानी संस्कृति की ही हुई। चूँकि अधिकांश ईरानियों ने आंतरिक विश्वास के कारण नहीं, वरन् 'जजिया' से बचने के लिये ही अरबों का धर्म ग्रहण किया था, इसलिये उनका इस्लाम नाम-मात्र का इस्लाम था, वे उसका अक्षरशः पालन न करते थे। कादसिया की हार के बाद हजरत अली के पुत्र हजरत हुसेन ने, चंद्रगुप्त मौर्य की भाँति, हारे हुए ईरानी सम्राट् 'यज्दगर्द' की लड़की से विवाह कर लिया। एक तो हजरत अली पैगंबर के दामाद थे, दूसरे इस वैवाहिक संबंध से ईरानियों की राष्ट्रीय भावना ने उनके वंशधरों के साथ अधिक आत्मीयता का अनुभव किया। फल-स्वरूप ईरानियों ने 'सहाबा' के स्वत्वों से इनकार करके अली और उनके वंशधरों का समर्थन किया, और अरबी मुसलमानों से पृथक् अपना एक नया फिरका बनाया। आज भी जब संसार के अन्य भागों के मुसलमान 'सुन्नी' हैं, ईरानी मुसलमान 'शिया' संप्रदाय के हैं।

अरबी विजेताओं ने इन तीनों प्रकार के—राष्ट्रीय, सांस्कृतिक और धार्मिक—प्रतिरोधों को काबू में लाने के लिये, नाम-मात्र के मुसलमानों को पक्का कट्टर मुसलमान बनाने के लिये, प्रचार तथा उपदेश और नसीहत से काम लिया[2]। प्रारंभ में इस्लामी शासक और उपदेशक प्रायः सभी अरब थे,

---

[1] इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, चौदहवाँ संस्करण, सत्रहवाँ भाग, पृष्ठ ५८६

[2] शिबली—'अलफारूक', दूसरा भाग, पृष्ठ १५६

जो वंशपरम्परा, उपाधि अथवा सम्मान के लिये 'शेख' कहलाते थे। ईरानी उनके विरोधी थे, बस शेख के प्रति द्वेष के कीटाणु यहीं से पैदा हुए।

इस संबंध में ईरान की प्राकृतिक अवस्था को भी ध्यान में रखना आवश्यक है। ईरान का एक काफी बड़ा भाग ऊसर, पेड़-पत्तो से हीन और निचाट बियाबान है। वहाँ आबादी भी कम है। इसके विपरीत अन्य भाग, विशेष कर पहाड़ों और नदियों की घाटियाँ खूब हरी-भरी, सरसब्ज और लहलही हैं। वहाँ अनेक प्रकार के फूल फूलते हैं। गुलाब इतनी इफ़रात से शायद ही कहीं होता हो। बाग-बगीचों की भरमार है। फलों के उत्पन्न करने में प्रकृति ने दरियादिली से काम लिया है। सेब, नासपाती, अनार, आड़, सरदा, खूबानी आदि के साथ अंगूर भी बहुतायत से होता है। जब अंगूर बहुतायत से हो तब भला यह कैसे संभव है कि अंगूर की बेटी (दुख्तरे-रज) मदिरा न हो! ईरान में बोतल की परी का दौर अतीत काल से चला आता था और आज भी चलता है। शीराज की 'शीराजी' तो संसार-प्रसिद्ध है। धनी तथा मध्यश्रेणी के ईरानी सदा से अंगूर की दुहिता (मदिरा) के प्रेमी रहे हैं। इस्लाम में शराब हराम है। मुसलमान प्रचारकों ने अपने उपदेशों में मदिरा-प्रेमियों की खबर ली, फारसी कवियों में भी मदिरा-प्रेमियों की कमी न होगी। बस, विरोध के लिये एक काफी बड़ा अखाड़ा मिल गया और मद्यपान का विषय लेकर इस्लाम धर्मयाजकों—शेखों—पर कवियों की लेखनी के भाले चलने लगे।

प्रत्येक धर्म के संस्थापक अत्यंत उदार, दूरदर्शी और महान् व्यक्ति होने के साथ-साथ बड़े व्यावहारिक हुआ करते हैं। वे अपने अनुयायियों की भौतिक, आध्यात्मिक, नैतिक तथा मानसिक योग्यता और आवश्यकता को देखकर नित्य-प्रति के जीवन-संबंधी आचार-व्यवहार बनाते हैं, और समय-समय पर उनमें आवश्यक परिवर्त्तन भी करते रहते हैं। इस्लाम के संस्थापक हजरत मुहम्मद में भी ये गुण प्रचुर मात्रा में मौजूद थे। इस दूरदर्शी महापुरुष को मद्यपान की हानियाँ ज्ञात हो गई थीं, इसी लिये उन्होंने अपने धर्म में शराब को हराम बनाया। मगर उन्हें काम पड़ा रेगिस्तान के खानाबदोश, जाहिल, अर्ध-सभ्य अरबों और बद्दुओं से—जिनकी अपनी कोई परिमार्जित संस्कृति या सभ्यता न थी। अतः उन्हें अपनी बातों को ऐसा जामा पहनाना पड़ा जो उन अशिक्षित अरबों को आसानी से अपील करे। उन्होंने बताया कि सत्कर्म करनेवालों को जन्नत मिलेगी जहाँ दूध, शहद और शराब की नदियाँ बहती हैं; प्रत्येक व्यक्ति को हूरें (अप्सराएँ) मिलेंगी। प्यासे रेगिस्तान के भूखे जंगली अरबों के लिये इससे अधिक मधुर कल्पना और क्या हो सकती थी[१]? जन्नत का यह आकर्षण तथा जहन्नुम की यंत्रणाओं का डर अशिक्षित अरबों को सत्पथ पर रखने के लिये पर्याप्त था। मगर ईरानियों-जैसी सुसभ्य जाति के लिये कुछ अधिक युक्ति और बुद्धि-संगत दलीलों की आवश्यकता थी। यह निश्चय है कि यदि हजरत मुहम्मद ईरान में पैदा होते अथवा उनके सामने ही ईरान में इस्लाम का प्रचार होता, तो उनकी युक्तियाँ और दलीलें बिलकुल ही दूसरे प्रकार की होतीं। मगर ईरान में इस्लाम पहुँचा हजरत उमर की खिलाफत में। हजरत उमर स्वयं

---

[१]. जस्टिस अमीर अली—"स्पिरिट आफ इस्लाम," पृष्ठ १९८

बड़े बुद्धिमान् और दूरदर्शी थे; लेकिन उनकी खिलाफत बहुत थोड़े ही समय में समाप्त हो गई। प्रत्येक धर्म के संस्थापक के बाद उसके जो अनुयायी उत्तराधिकारी होते हैं वे अपने संस्थापक के समान उच्च, दूरदर्शी, उदार और व्यावहारिक न होकर प्राय: कट्टर, तअस्सुबी और संकीर्ण विचारों के हुआ करते हैं। ईसाई, बौद्ध, हिंदू—सभी धर्मों में यह बात दिखलाई देती है। इस्लाम में भी यही हुआ। इस्लामी प्रचारकों ने पैगंबर के धर्म की अंतरात्मा को न लेकर उसके शाब्दिक अर्थ की दुहाई देनी शुरू की। जिन दलीलों से उन्होंने अपढ़ अरबों को समझाया था, उन्हीं दलीलों से वे सुसभ्य ईरानियों को हाँकने लगे। अत: पढ़े-लिखे ईरानियों ने उनका मजाक उड़ाना आरंभ किया। मद्यपान-निषेध के लिये मद्य से होनेवाली शारीरिक हानियों और नैतिक अध:पतन पर जोर न देकर बहिश्त का लालच और जहन्नुम का डर दिखाया जाने लगा। मद्य-प्रेमियों की तीव्र भर्त्सना की गई। कवि स्वभाव से ही स्वतंत्रता-प्रेमी होते हैं, अत: उनकी आत्मा विद्रोही हो उठी और उन्होंने शेख जी को उन्हीं के सिक्कों में बदला देना अपना हक बना लिया। दुर्भाग्यवश धर्मोपदेशकों में दो-चार ऐसे भी लोग आ गए थे जो बाहर तो धर्म का उपदेश करते थे, परंतु भीतर-भीतर अनेक धर्म-वर्जित कार्य किया करते थे, जैसे खलीफा उस्मान के मुताही भाई वालिद[1]। ऐसे रँगे महात्माओं को पाकर कवियों को शेख पर फब्तियाँ कसने का और भी अनमोल मौका मिल गया, और उसमें उन्होंने कोई कसर भी न उठा रक्खी। शेख के विरुद्ध व्यंगोक्तियों में कवियों ने केवल बेचारे शेख जी तक ही संतोष न किया, बल्कि उनकी लपेट में उनके धार्मिक उपदेश, कर्मकांड और नसीहतों से लेकर जन्नत और फरिश्तों तक की खबर ली है, और खूब खबर ली है। अच्छा, अब जरा यह देखिए कि उर्दू-शायरों ने शेख जी और उनके विश्वासों तथा उपदेशों पर क्या-क्या कहा है—

फिरे है शेख यह कहता कि मैं दुनिया से मुँह मोड़ा,
इलाही इसने दाढ़ी के सिवा किस चीज को छोड़ा ? (सौदा)

शेख अपने त्याग की डींग हाँकता हुआ कहता फिरता है कि उसने संसार से मुख मोड़ लिया है। सौदा कहते हैं, या खुदा ! इसने दाढ़ी के सिवा कौन-सी चीज छोड़ी है ?

होते हैं मैकदे के जवाँ शेख जी बुरे,
फिर दरगुजर ये करते नहीं गो कि पीर हो। (मीर)

शेख जी मैकदे (शराबखाने) में जाकर मद्य-प्रेमियों को कुछ बुरा-भला कहने लगे। मीर साहब उन्हें सावधान करके कहते हैं—अजी शेख जी, शराबखाने के जवान बड़े बेढब होते हैं, जब ये बिगड़ते हैं तब बुजुर्गों को भी नहीं बख्शते। इसलिये जरा सँभलकर !

जन्नत पाने के लिये शेख जी का उपदेश है कि शराब मत पियो, पाँच वक्त नमाज पढ़ो, रमजान भर रोजा रखो; यह करो, वह करो। मीर साहब इन प्रतिबंधों से ऊबकर फरमाते हैं—

“जाय है जी नजात के गम में, ऐसी जन्नत गई जहन्नुम में।” (मीर)

---

[1] अमीर अली—“स्पिरिट आफ इस्लाम,” पृष्ठ २९५

मुक्ति-प्राप्ति की—जन्नत में जाने की—चिंता में जी निकलता है, ऐसी जन्नत जहन्नुम में जाय ! हम उससे दरगुजरे।

कवि के सिवा शायद अल्लाह मियाँ भी जन्नत को जहन्नुम में भेजने की शक्ति न रखते होंगे !

"तरदामनी पर शेख हमारी न जाइयो, दामन निचोड़ दूँ तो फरिश्ते वजू करें।" (मीर दर्द)

शेख जी ने कवि के दामन को शराब से तर देखकर नाक-भौंह सिकोड़ी, इस पर कवि कहता है—शेख जी ! मेरे भीगे दामन पर नाक-भौंह न चढ़ाइए, यदि मैं अपना दामन निचोड़ दूँ तो स्वर्ग के देवदूत भी इस पवित्र रस से वजू—नमाज के पूर्व का प्रक्षालन—करने के लिये लालायित होंगे।

"मजलिसे-वाज तो तादेर रहेगी 'कायम', यह है मैखाना अभी पी के चले आते हैं।" (कायम)

शेख जी मद्यप्रेमी को समझा-बुझाकर एक उपदेश की सभा में ले गए। सोचा था कि उपदेश सुनकर यह मद्यपान छोड़ देगा, तोबा कर लेगा। मद्यप्रेमी थोड़ी देर तक तो उपदेश सुनता रहा, फिर शेख जी से बोला—आपकी उपदेश-सभा तो देर तक कायम रहेगी, (हाथ के इशारे से) यह पास ही में शराबखाना है, थोड़ी-सी पीकर अभी आता हूँ !

शेर में कवि ने अपने उपनाम का प्रयोग किस सुंदरता से किया है !

"कब हक-परस्त जाहिदे जन्नत-परस्त है ? हूरों पै मर रहा है यह शहवत-परस्त है !" (जौक)

अपने को ईश्वर-भक्त कहनेवाला जाहिद ईश्वर-पूजक कहाँ है ? यह तो जन्नत का इच्छुक है, जन्नत का पुजारी है। जन्नत में हूरें मिलती हैं। यह उन्हीं हूरों पर मर रहा है। अतः यह तो इंद्रिय-लोलुप है—वासना का पुजारी है।

"जाहिद ! शराब पीने से काफिर बना मैं क्यों ? क्या डेढ़ चुल्लू पानी में ईमान बह गया !" (जौक)

इस्लाम में शराब हराम और शराबी काफिर—धर्मद्रोही—है। जौक साहब फरमाते हैं—हजरते जाहिद ! शराब पीने से मैं काफिर कैसे बन गया ? क्या ईमान (धर्म) ऐसी चीज है जो सिर्फ डेढ़ चुल्लू पानी में बह जाय ?

'जनाबे शेख बस अपनी तो इतनी बादह नोशी है, नशीली अँखड़ियों को देखना मखमूर हो जाना।' (अज्ञात)

किसी को मस्ती से झूमता-झामता देखकर शेख जी ने समझा कि यह शराब में चूर है, अतः लगे उसकी लानत-मलामत करने। उसने उत्तर में कहा—जनाबे शेख ! यह न समझिए कि मैं शराब के नशे में चूर हूँ। मेरा मद्यपान तो केवल इतना ही है कि नशीली अँखड़ियों को देखा और मस्त हो गया—खुमार छा गया !

"ये कहाँ की दोस्ती है कि बने हैं दोस्त नासह, कोई चारहसाज होता कोई गमगुसार होता।" (गालिब)

किसी प्रेम-पीड़ा या विरह-वेदना से व्यथित व्यक्ति के पास हजरते नासह, सहानुभूति प्रदर्शित करने और समझाने-बुझाने के लिये, पहुँचे। वह कहता है—यह कहाँ की दोस्ती है जो नीरस धार्मिक उपदेश देनेवाले उपदेशक महाशय दोस्त बने हैं ! दोस्ती के लिये कोई कुछ तदवीर करनेवाला हमदर्द होता, कोई गम बटानेवाला होता, न कि हृदय-हीन सूखा उपदेशक।

"वायज, न खुद पियो न किसी को पिला सको, क्या बात है तुम्हारी शराबे तहूर की !" (गालिब)

उर्दू-शायर और शेख जी

शेख जी लोगों को समझाते हैं कि यहाँ शराब न पियो तो तुम्हें जन्नत में स्वर्गीय शराब 'तहूरा' मिलेगी। इस पर कवि ताना देकर कहता है—जनाबे वायज! न तो तुम स्वयं पीते हो और न किसी को पिला सकते हो, वल्लाह! तुम्हारी शराबे तहूर की भी क्या बात है!

"हिर्स से जाहिद यह कहता है जो गिर जाएँगे दाँत,
क्या कुशादह बहरे रिज़्क अपना दहाँ हो जाएगा! (नासिख)

लोलुप जाहिद कहता है—यदि दाँत गिर जाएँगे तो पेट-पूजा के लिये भोजन का मार्ग कैसा प्रशस्त हो जायगा! सब कुछ हड़पने के लिये कोई रुकावट ही न रहेगी!

"मस्जिद में बुलाता है हमें जाहिदे नाफ़ह्म, होता अगर कुछ होश तो मैखाने न जाते।" (अमीर)

बुद्धिहीन जाहिद हमें मसजिद में बुलाता है! भला उससे पूछो कि यदि हमें कहीं जाने-आने का ही होश होता तो शराबखाने न जाते!

"लुत्फ़ मैं तुझसे क्या कहूँ जाहिद, हाय कम्बख्त तू ने पी ही नहीं!" (दाग)

जाहिद! मैं तुझसे मधुपान का आनंद क्या कहूँ, हाय रे अभागे! तू ने पी ही नहीं!

उर्दू-शायरों का काल्पनिक शेख लंबी दाढ़ी वाला हुआ करता है, और अक्सर खिजाब लगाया करता है। कवियों ने उसकी दाढ़ी पर भी जा-बजा फब्तियाँ कसी हैं—

"बाकी है दिल में शेख के हसरत गुनाह की, काला करेगा मुँह भी जो दाढ़ी सियाह की।" (जौक)

अभी शेख जी के हृदय में पाप करने की लालसा बाकी है। उन्होंने जो अपनी दाढ़ी काली की है तो मुँह भी काला करेंगे!

'हर दिन की बाँधबूँध से वायज, नजात हो;
हरताल आप क्यों न मिला लें खिजाब में।' (सरपट बदायूनी)

हजरते वायज! आप अक्सर खिजाब लगाने में दाढ़ी बाँधा करते हैं। इस आए दिन की बाँध-बूँध से छुट्टी पाने के लिये खिजाब में थोड़ी-सी हरताल क्यों नहीं मिला लेते?

क्या नायाब नुस्खा है! हरताल बालसफा होती है!

शायर लोग शेख जी की काल्पनिक लड़ाई में सिर्फ तू-तू मैं-मैं पर ही नहीं रुकते, बल्कि हाथापाई पर भी उतर आते हैं—

"ऐ शेख, जो बताएं मए-इश्क को हराम, ऐसे को दो लगाए भिगोकर शराब में।" (दाग)

ऐ शेख जी, जो प्रेम-मदिरा को हराम बताए, ऐसे व्यक्ति के तो शराब में भिगोकर दो (!!) रसीद करना चाहिए।

'इक टीप मारी जोर से जाहिद के ऐ 'रियाज'; अब हाथ मल रहे हैं कि अच्छी पड़ी नहीं!" (रियाज)

रियाज साहब ने हजरते जाहिद के सिर-मुबारक पर पहले तो एक जोर की चपत लगाई, फिर हाथ मलकर पछताने लगे कि अफसोस, अच्छी नहीं पड़ी!

"कल कस्द है जो नासह तशरीफ आवरी का,
पिसवा के थोड़ी हल्दी रख आइएगा घर में।" (अहमक फफूँदी)

नासह साहब ! कल आप जो हम लोगों में तशरीफ लाने का विचार रखते हैं, तो घर में थोड़ी हल्दी पिसवाकर रख आइएगा। (क्योंकि यहाँ पर आपकी ऐसी करारी खातिर की जायगी कि घर लौटकर चोट पर हल्दी-चूना चढ़ाने की जरूरत होगी !!)

"उतर गई सरे बाजार शेख की पगड़ी, गिरह में दाम न होंगे उधार पी होगी।" (रियाज)

बीच बाजार में शेख जी की पगड़ी उतर गई ! मालूम होता है, उधार पी होगी, इसी कारण कलवार ने पैसे वसूलने के लिये उनकी खबर ली है !

"समझा कि सर पर रख के मेरा चाक ले चले, दौड़ा कुम्हार शेख की दस्तार देखकर।" (अज्ञात)

शेख जी की लंबी-चौड़ी पगड़ी को दूर से देखकर कुम्हार ने समझा कि मेरा चाक चुराए लिए जाता है, अतः वह उनके पीछे लपका !

आज-कल नए जमाने में शायरों को व्यंगोक्तियों के लिये एक नई चीज मिल गई है—हर बात में योरोपियनों की नकल करनेवाले फैशनेबिल हिंदोस्तानी ! अतः अब शेख जी व्यंग तथा कटूक्तियों के पात्र न होकर दया के पात्र बनते जान पड़ते हैं—

"साथ उनके मेरा शेख तो चल ही नहीं सकता, बंदर की तरह ऊँट उछल ही नहीं सकता।" (अकबर)

नए फैशन के बंदरों के साथ पुरानी चाल के ऊँटों के लिये उछलना-कूदना दरअस्ल असंभव है !

'शेख साहब चल बसे, कालिज के लोग उभरे हैं अब; ऊँट रुखसत हो गए, पोलो के घोड़े रह गए।' (अकबर)

आज-कल शेख जी की प्रधानता का जमाना चला गया, अब तो कालेजवाले (नई अँगरेजी शिक्षा पाए हुए) उभर रहे हैं; उन्हीं का दौर-दौरा है। ऊँट बेचारे चल बसे, अब तो पोलो के घोड़े ही बाकी हैं !

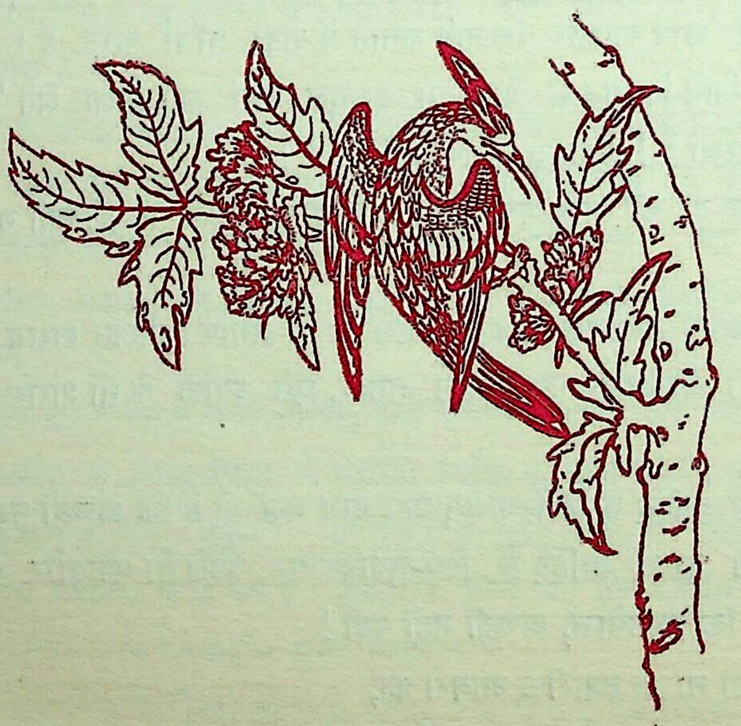

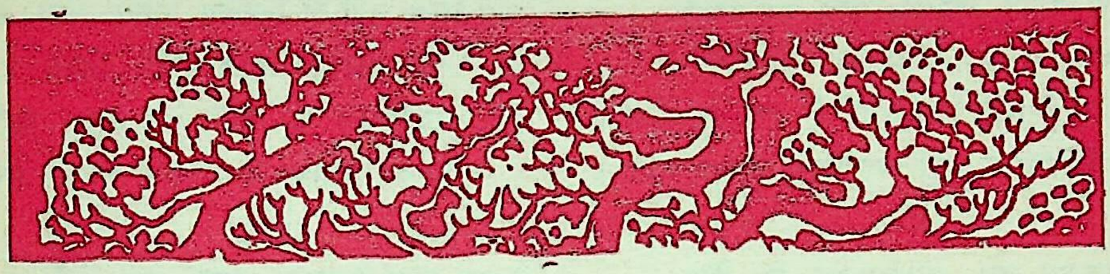

कुछ क्षण

१

कुछ क्षण, जीवन के कुछ छोटे-से क्षण ये!
अस्तित्व-ज्ञान के कुछ बिखरे-से कण ये!
जिनमें कुरूपता जग की, अपनेपन की
प्रतिबिंबित है, वे क्षत-विक्षत दर्पण ये!
लेकर निज उर में आग, नयन में पानी,
कहने बैठा हूँ उनकी आज कहानी।

२

यह जीवन क्या है? केवल एक पहेली;
यह यौवन क्या है? विस्मृति से रँगरेली;
यह आत्म-ज्ञान तो भ्रम है! भ्रम है! भ्रम है!
ममता रहती है निशि-दिन यहाँ अकेली।
जी भरकर मिल लो आज, ठिकाना कल का?
युग का वियोग, संयोग एक ही पल का!

३

जग क्या है? उसको जान नहीं पाता हूँ,
मैं निज को ही पहचान नहीं पाता हूँ,
जग है तो मैं हूँ, मैं हूँ तो यह जग है,
जग मुझमें, मैं भी जग में मिल जाता हूँ!
यह एक समस्या कठिन जिसे सुलझाना,
सुलझानेवाला हाय बना दीवाना!

४

दीवानापन है पाप?—नहीं जीवन है!
ज्ञानी का केवल ज्ञान व्यर्थ क्रंदन है।
ममता पर प्रति पल हँस-हँसकर, घुल-घुलकर,
मरनेवाले का यहाँ मृत्यु ही धन है!
कामना कसक है, और तृप्ति सूनापन!
हँसना ही तो है मृत्यु, रुदन है जीवन।

५

उसने जाना है निशि-दिन सुख से सोना,
जिसने जाना है रात-रात-भर रोना!
जो रो न सका वह नहीं जानता हँसना,
सुख में दुख, दुख में सुख, यह जग का टोना!
वह पा न सका है, पा न सकेगा सुख को,
जो जान सका है नहीं अभी तक दुख को!

६

वैभव-सागर का बूँद-बूँद उत्पीड़न,
आहों के जग का प्रति कण पुलकित स्पंदन,
नादान विश्व क्या समझ सकेगा इसको?
मर मिटने में ही अरे यहाँ है जीवन!
चातक से सीखो तड़प-तड़प मर जाना।
सीखो पतंग से निज अस्तित्व मिटाना।

७

मधुकर क्या जाने प्रेम ? प्रेम है पीड़ा !
पीड़ा है अविकल त्याग, सौख्य की व्रीड़ा ।
कलिका का ले सर्वस्व, नष्ट कर उसको
उड़ जाने में ही है मधुकर की क्रीड़ा ।
रस में मिल जाना ही है रस का पीना ।
जो मिट न सका वह नहीं जानता जीना ।

८

लेना पल-भर का, युग-युग-भर का देना;
निज का देना ही है जीवन का लेना;
बाजार उठ रहा और दूर जाना है,
जितना बन पावे कर लो लेना-देना !
उर की लाली से मुख की कालिख धो लो ।
सर आज हथेली पर है बोली बोलो !

९

यह खेल नहीं है, प्राणों का विक्रय है !
जीवन पर मिट-मिट जाओ ! किसका भय है ?
यदि आज नहीं तो निश्चय जानो कल ही
ले लेगा तुमको काल बड़ा निर्दय है !
मिटनेवाले को मरने से क्या डरना ?
जिसमें ममता है उसको ही है मरना !

१०

है एक सत्य विश्वास, चलो खुल खेलो ।
निर्भय हो जग के कठिन वार को झेलो ।
हैं 'अविश्वास, भय' पाप ! छोड़कर इनको
यश-अपयश जो कुछ मिले उसे ही ले लो ।
हैं अमर यहाँ पर खुलकर करनेवाले—
पग-पग पर मरते रहते डरनेवाले !

११

मस्ती से हस्ती भरी हुई गाफिल की;
मत बात चलाना अरे अभी मंजिल की ।
चलना है हमको, बरबस जाना होगा—
फिर क्यों रह जाने पावे दिल में दिल की ?
मैं समय-सिंधु में डुबा चुका अपनापन !
कल एक कल्पना और आज है जीवन !

भगवतीचरण वर्मा

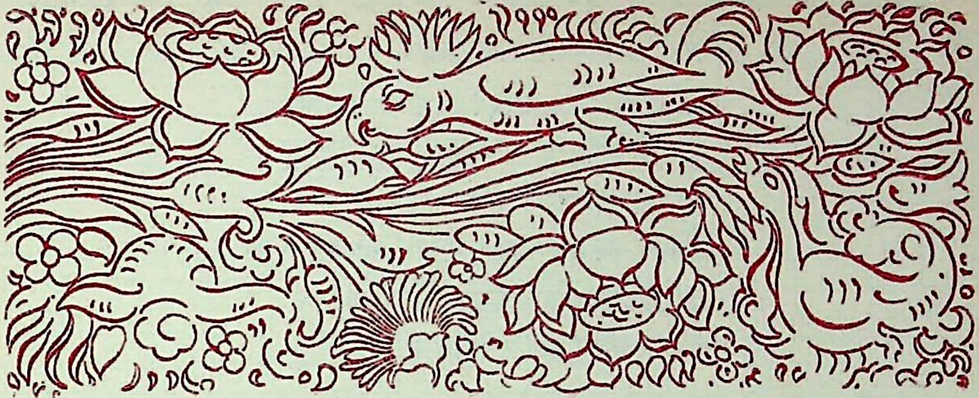

चित्र-मीमांसा

श्री न्हानालाल चमनलाल मेहता, आइ० सी० एस्०

रूपभेदाः प्रमाणानि भावलावण्ययोजनम् ।
सादृश्यं वर्णिकाभङ्ग इति चित्रषडङ्गकम् ॥

चित्रों के विषय में आधुनिक जनता एवं शिक्षित जन कुछ ऐसे उदासीन हैं कि कला के इतिहास में चित्र का क्या स्थान है, उसकी गुण-परीक्षा किस प्रकार की जाती है, और साहित्य एवं कला में जिसे रस कहते हैं वह क्या है—आदि बातों पर ध्यान ही नहीं देते। अतएव इन विषयों की विवेचना यहाँ अप्रासंगिक न होगी। वैसे तो भरत मुनि के नाट्यशास्त्र के समय से हमारे आचार्यों ने सदियों तक इस त्रिषय पर विचार किया कि 'कविता क्या वस्तु है'। सच पूछिए तो 'कविता' कला का एक अंग है। उसके विषय में हमारे 'प्राचीन साहित्यकारों ने जो कुछ चिंतन किया है, उसका संबंध अन्य कलाओं से भी है। खास चित्रकला के संबंध में भी कई प्राचीन ग्रंथों में उल्लेख मिलते हैं। उनमें सबसे सुविस्तृत और सरस उल्लेख विष्णुधर्मोत्तर-पुराण के प्रसिद्ध अध्याय 'चित्रसूत्र' में है। डॉक्टर स्टेला-क्रामरिश ने इसका अँगरेजी-अनुवाद किया है। इससे अच्छा अनुवाद डॉक्टर आनंदकुमार स्वामी अभी हाल में प्रकाशित कर रहे हैं। शिल्प, नृत्य और चित्र का रहस्य समझने के लिये 'चित्रसूत्र' इतना महत्त्वपूर्ण निबंध है कि उसका प्रामाणिक अनुवाद हिंदी में तुरंत होना चाहिए। ग्रंथ के प्रारंभ में ही मार्कंडेय मुनि कहते हैं—"विना तु नृत्यशास्त्रेण चित्रसूत्रं सुदुर्विदम्'—अर्थात् नृत्यशास्त्र के अभ्यास के बिना चित्रसूत्र समझना कठिन है।" वास्तव में चित्रकार का काम खिलवाड़ नहीं है। वह एक अति गंभीर और पवित्र कार्य है। लिखा है—चित्रकार को अपने इष्ट देवताओं का अभिवादन करके ही आलेखन आरंभ करना चाहिए—

ब्राह्मणान्पूजयित्वा तु स्वस्तिवाच्य प्रणम्य च ।
तद्विदश्च यथान्यायं गुरूँश्च गुरुवत्सलः ॥—(अध्याय ४०, श्लोक १२)

इकतालीसवें अध्याय में इन चार प्रकार के चित्रों का वर्णन किया गया है—सत्य, वैणिक, नागर और मिश्र। उसी अध्याय के निम्नलिखित श्लोकों में इन चित्रों की विशेषता भी वर्णित है—

यत्किञ्चिल्लोकसादृश्यं चित्रं तत्सत्यमुच्यते।
दीर्घाङ्गे सप्रमाणं च सुकुमारं सुभूमिकम्॥
चतुरस्रं सुसम्पूर्णं दीर्घं च नोल्वणाकृतिम्।
प्रमाणं स्थानलम्भाढ्यं वैणिकं तन्निगद्यते॥
दृढोपचितसर्वाङ्गं वर्त्तुलं नन्ध्यनुल्वणम्।
चित्रं तन्नागरं ज्ञेयं स्वल्पमाल्यविभूषणम्॥

रेखा-सौंदर्य्य पर एशिया-भर की चित्रकला का दारमदार है। यहाँ तक कि यह कहना भी अनुचित न होगा कि प्राच्य चित्र केवल रंगीन रेखा-चित्र हैं। आलेख्य वस्तु का रेखांकण करके ही रंग-विधान किया जाता है। आधुनिक चित्रकारी की भाषा में इसे 'टिपाई' (टीपना) कहते हैं; फिर उसमें रंग भरा जाता है, जिसे 'गदकारी' कहते हैं। गदकारी करके पुनः रेखाओं से ही चित्र के सारे ब्योरों को व्यक्त करते हैं—इस प्रक्रिया को 'खोलाई' कहते हैं। संस्कृत में इस प्रक्रिया को 'उन्मीलन'[1] कहते थे। बताने की आवश्यकता नहीं कि आधुनिक भारतीय चित्रकारी का उक्त 'खोलाई' शब्द 'उन्मीलन' का ठीक अनुवाद है; अतः यह भारतीय चित्रकारी की परंपरा की अक्षुण्णता सिद्ध करता है। 'खोलाई' की रेखाओं को 'सरहद' कहते हैं—यह भी संस्कृत की 'पर्य्यंतरेखा'[2] का पर्याय है—अर्थात् यह प्रक्रिया भी पारंपरीण है। मुगल सम्राट् अकबर के जमाने के महाभारत के फारसी अनुवाद 'रज्मनामा' के अतीव सुंदर चित्र दो-दो तीन-तीन चित्रकारों के हाथ से बने हुए हैं। एक ने रेखा खींची है, जिसे उस समय के चित्रकारों की भाषा में 'तरह करना' कहते हैं। दूसरे ने रंग भरा है, जिसे 'रँगरेज' कहते हैं। एक चित्र में कभी-कभी तरह के, रंग के, हाशिए के, बिलकुल अलग-अलग कारीगर हुआ करते थे। सत्रहवीं, अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी के अनेक चित्र बिना रंग के भी मिलते हैं—इन्हें 'स्याहकलम' कहते हैं। तैयार चित्रों की रेखाओं से ही झिल्ली पर खाका उतार लेते थे। पुराने चित्रों के इन खाकों को एक प्रकार का 'स्याहकलम' कहना चाहिए, जो चित्रकारों के वंशजों के लिये बड़े ही उपयोगी और मूल्यवान् साबित हुए; क्योंकि बीसवीं सदी में उनसे, अमेरिका और योरप के श्रीमंत जनों के लिये, हजारों की संख्या में चित्र बने और बिके।

भारतीय चित्रकला में सादृश्य को बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। चित्रसूत्रकार ने यहाँ तक कहा है कि 'चित्रे सादृश्यकरणं प्रधानं परिकीर्त्तितम्'[3]—चित्र में सादृश्य लाना ही उसकी विशेषता

---

[1] उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रम्.........।—'कुमार-संभव'

[2] पर्यन्तरेखांऽगविभागहीनं चित्रम्............।—'शिवलीलार्णव'

[3], अध्याय ४२, श्लोक ४८

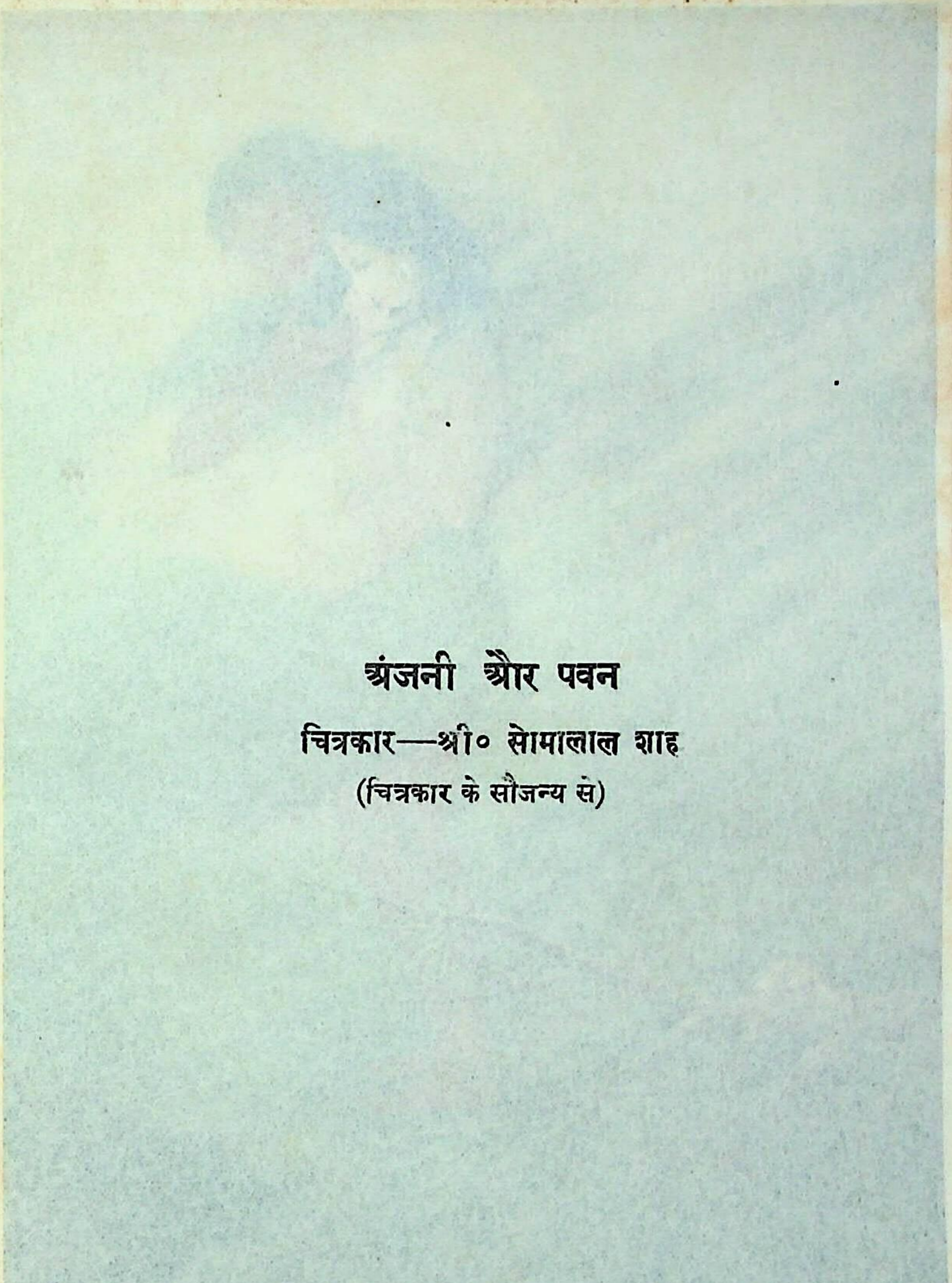

अंजनी और पवन

चित्रकार—श्री० सोमालाल शाह

(चित्रकार के सौजन्य से)

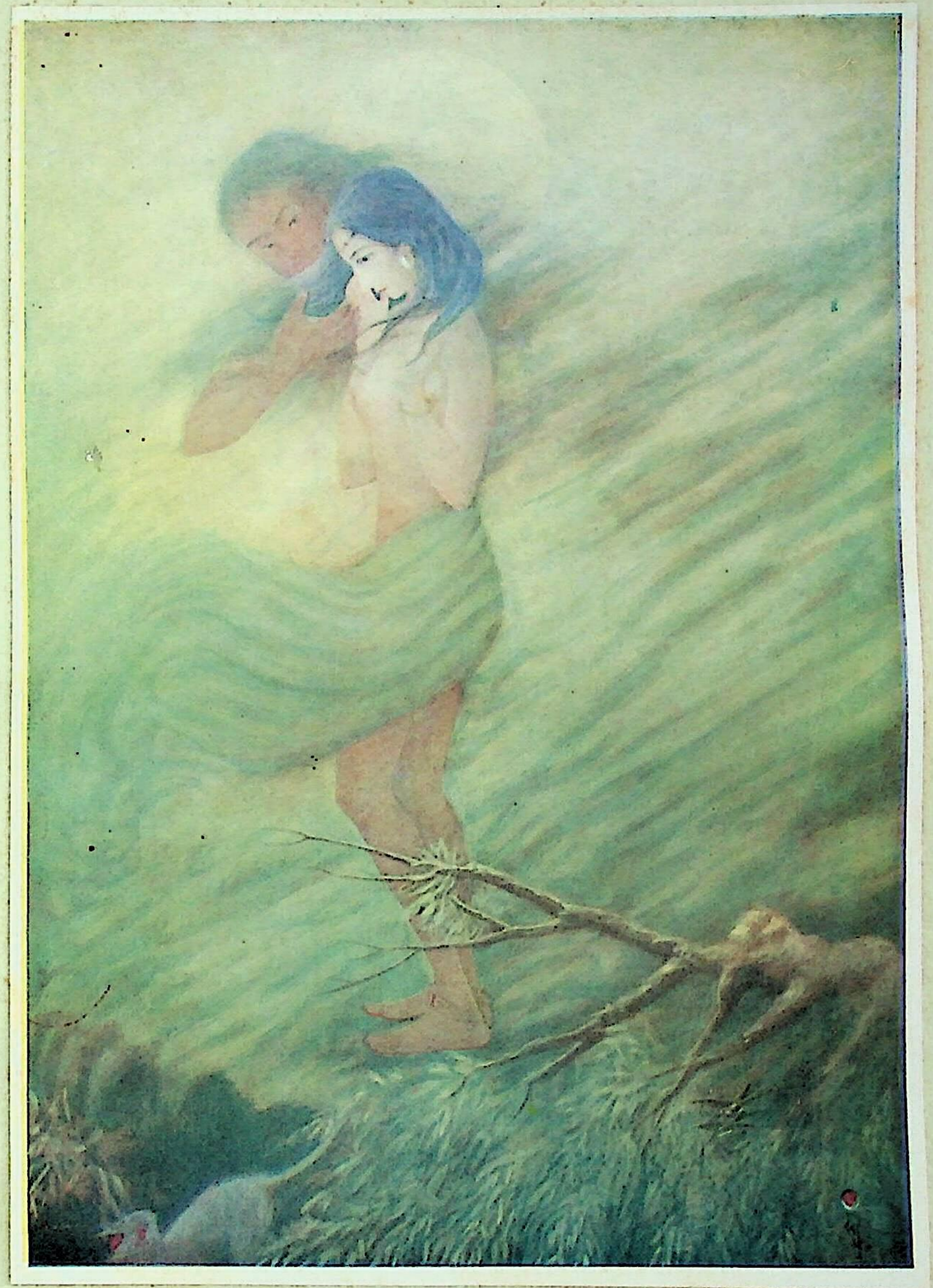

है। परंतु इस सादृश्य से केमरा (Camera) का यांत्रिक प्रतिकृति न समझना चाहिए। कला के और यंत्र के नियम बिलकुल पृथक् हैं। एक का संबंध सजीव कल्पना से है, दूसरे का निर्जीव अनुकृति से। कल्पना की प्रेरणा के बिना कला-सृष्टि होना ही असंभव है—फिर चाहे उसका वाहन कविता हो, चाहे मूर्त्ति एवं स्थापत्य, चित्र वा अन्य शिल्प।

चित्रसूत्रकार ने बहुत ही सुंदर ढंग से इसका वर्णन किया है कि नाना विषयों में किस तरह चित्रकला का उपयोग करना चाहिए। नदियों को वाहनों पर दिखाना चाहिए, देवताओं को अपनी पत्नियों के साथ माल्यालंकारधारी बनाना चाहिए; ब्राह्मणों को शुक्लांबरधर, ऋषियों को जटाजूटोप-शोभित, प्रजाजन को शुभवस्त्र-विभूषित और गायक तथा नर्त्तकगण को बाँकी पोशाक में। आकाश को तारागण से विभूषित, विवर्ण और पक्षियों से भरा हुआ बनाना चाहिए। पर्वतों को उत्तुंग शिखरों के साथ अनेक वृक्षों से सुशोभित, निर्झरों को जल-बिंदुओं से छहराता हुआ, वनों को नाना प्रकार के वृक्ष और विहंग तथा पशुओं से युक्त, जलाशयों को अनेक मत्स्य-कच्छप आदि से भरा हुआ और नगरों को अनेक सुंदर राजमार्गों और उद्यानों से सुशोभित बनाना चाहिए। ऋतु-चित्र बनाने की भी नियमावली दी गई है—

दर्शयेत्सरजस्यां च शय्यां वर्णोत्करावृताम्। सद्वृत्तमानवप्रायां वृष्टिं वृष्ट्यां प्रदर्शयेत्॥ ७२॥
प्राणिनां क्लेशतप्तानामादित्येन निदर्शनम्। वृक्षैर्वसन्तजैः फुल्लैः कोकिलामधुपोत्कटैः॥ ७३॥
प्रहृष्टनरनारीकं वसन्तं च प्रदर्शयेत्। क्लान्तैः कार्यं नरैर्ग्रीष्मं मृगैश्छायागतैस्तथा॥ ७४॥
महिषैः पङ्कमलिनैस्तथा शुष्कजलाशयम्। विहङ्गैर्द्रुमसंलीनैः सिंहव्याघ्रैर्गुहागतैः॥ ७५॥
तोयनम्रघनैर्युक्तं सेन्द्रचापविभूषणैः। विद्युद्विद्योतनैर्युक्तां प्रावृषं दर्शयेत्तथा॥ ७६॥
सफलद्रुमसंयुक्तां पक्वसस्यां वसुन्धराम्। सहंसपद्मसलिलां शरदं तु तथा लिखेत्॥ ७७॥
सवाष्पसलिलस्थानं तप्यालूनवसुन्धरम्। सनीहारदिगन्तं च हेमन्तं दर्शयेद्बुधः॥ ७८॥
हृष्टवायसमातङ्गं शीतार्त्तजनसंकुलम्। शिशिरं तु लिखेद्विद्वान्हिमच्छन्नदिगन्तरम्॥ ७९॥
वृक्षाणां पुष्पफलतः प्राणिनां मदतस्तथा। ऋतूनां दर्शनं कार्यं लोकान्दृष्ट्वा नराधिप॥ ८०॥

इसी भाँति, संध्या और उषा के चित्र-विधान के भी उपयुक्त नियम दिए गए हैं।

कुछ श्रेणी के चित्र कई स्थानों के लिये निषिद्ध गिने गए हैं। युद्ध के, श्मशान के तथा करुणात्मक और अमंगलसूचक चित्र कभी आवास में न बनाना चाहिए। राजसभा और देवमंदिरों में सब प्रकार के चित्र रह सकते हैं; परंतु साधारण निवासस्थान में केवल शृंगार, हास्य और शांत रस के ही चित्र होने चाहिए। चित्रकार को अपने मकान में चित्र बनाने का निषेध क्यों किया गया है,[१] इसका कारण यही

---

[१] "चित्रकर्म न कर्तव्यमात्मना स्वगृहे नृप"—(अध्याय ४३, श्लोक १७)। अच्छे चित्रों के विषय में लिखा है—

लसतीव च भूलम्बो बिभ्यतीव (?) तथा नृप। हसतीव च माधुर्यं सजीव इव दृश्यते॥२१॥
सश्वास इव यच्चित्रं तच्चित्रं शुभलक्षणम्। (अध्याय ४३)

जान पड़ता है कि चित्रकार यदि अपने ही घर में काम करता रहेगा तो वह अन्य चित्रकारों के संघर्ष में, प्रतिद्वंद्विता में, न आवेगा और उसकी कला जहाँ की तहाँ रह जाएगी।

सुंदर चित्र की व्याख्या यही है कि उसमें माधुर्य, ओज और सजीवता हो। जीवित प्राणी की भाँति चित्र में भी एक प्रकार की चेतना होनी चाहिए। बाकी तो जैसे चित्रसूत्रकार कहते हैं—"अशक्यो विस्तराद्वक्तुं बहुवर्षशतैरपि[1]"—यह विषय ऐसा है कि विस्तार से सैकड़ों वर्ष में भी नहीं समझाया जा सकता। फिर मार्कंडेय मुनि कहते हैं—'कलानां प्रवरं चित्रं धर्मकामार्थमोक्षदम्, मङ्गल्यं प्रथमं चैतद्गृहे यत्र प्रतिष्ठितम्[2]।' करीब-करीब उन्हीं शब्दों में, सात शताब्दियों के बाद अबुलफजल ने अकबर के विचार भी प्रकट किए हैं। अकबर के विचारानुसार 'चित्र-कला' मुक्ति और ईश्वर-सान्निध्य प्राप्त करने का एक मुख्य साधन है।

'चित्रसूत्र' बड़ी सुंदर और सरल भाषा में लिखा गया है। हमारी प्राचीन कला का रहस्य समझने के लिये वह परम आवश्यक ग्रंथ है। चित्र-सूत्रकार ने चित्र और नृत्य का जो विशेष साम्य बताया है, वह थोड़ा-सा विचार करने से समीचीन प्रतीत होता है। नृत्य और चित्र का प्राण, अभिनय और मुद्रा में है। नेत्र, अंगुलि, चरण तथा अन्य अंगों की भावमयी चेष्टाओं और भंगियों को 'नृत्य' कहते हैं। शिल्पकार और चित्रकार का प्रधान कार्य भी इन्हीं चेष्टाओं को उपयुक्त स्वरूप में परिणत करना है। इसी कारण चित्रसूत्रकार ने भी उन्हीं रसों का वर्णन किया है, जो भरत के नाट्यशास्त्र और उनके पीछे के सैकड़ों अलंकार-ग्रंथों में वर्णित हैं। शृंगार, हास्य, करुण, वीर, रौद्र, भयानक, बीभत्स, अद्भुत और शांत—यही नौ चित्ररस भी गिनाए गए हैं। संगीत, नृत्य, शिल्प, चित्र और कविता का घनिष्ठ संबंध प्राचीन काल से हो लोगों को मालूम है। इसी कारण जिस कसौटी से कवि-प्रतिभा की परीक्षा होती है, उसी से चित्र, शिल्प और नृत्य की भी होनी चाहिए। फिर भी चित्र और शिल्प का स्थान कविता से ऊँचा है। जो वस्तु इनके द्वारा व्यक्त की जा सकती है, वह शब्द द्वारा पूर्णतः कभी व्यक्त नहीं हो सकती। किंतु 'चित्र' रेखा-बद्ध कविता तो जरूर है। चित्र को कविता कहने से संभवतः कुछ लोगों को संतोष न होगा। इसी कारण, रस के विषय में, शताब्दियों से हमारे यहाँ जो चर्चा होती आई है, उसका निर्देश करना जरूरी है। संस्कृत-साहित्य में 'रस'-जैसा शायद ही कोई ऐसा विषय हो जिसका इतने दिनों तक विवेचन होता रहा और अभी तक पूर्ण अर्थ निश्चित नहीं हुआ। 'रस' शब्द का मूल अर्थ तो रसनेंद्रिय द्वारा जो स्वाद उत्पन्न होता है वह है। मूल अर्थ से रस का साहित्यिक प्रयोग बहुत-कुछ भिन्न है और माया तथा ब्रह्म की तरह दर्शन का एक गहन विषय हो गया है। नाट्यशास्त्र के छठे अध्याय में भरत मुनि स्वयं ही प्रश्न पूछते हैं—"रस इति कः पदार्थः? आस्वाद्यत्वात्। कथमास्वाद्यते रसः? यथा हि नानाव्यञ्जनसंस्कृतमन्नं भुञ्जाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषा हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति"—अर्थात् रस क्या वस्तु है? कहा जाता है कि आस्वादन से रस की प्रतीति

---

[1] अध्याय ४३, श्लोक ३६

[2] अध्याय ४३, श्लोक ३८

होती है। जैसे विविध व्यंजनों के उपयोग से आस्वादन की प्रतीति होती है, वैसे ही विविध भाँति के हृदय-गत भावों के अनुभव से रस उत्पन्न होता है। भरत मुनि इनकी कुल संख्या तैंतीस बताते हैं। इनमें से आठ स्थायीभाव माने गए हैं—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा और विस्मय। इन्हीं भावों का अनुसरण करके आठ रस बताए गए हैं। भरत तो मूल में चार ही रस मानते हैं—शृंगार, रौद्र, वीर और बीभत्स। शृंगार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत, बीभत्स से भयानक रस की उत्पत्ति दिखाई गई है। भरत कहते हैं—"रसादृते नहि कश्चिदथः प्रवर्त्तते—रस बिना अथ का उद्भव ही नहीं होता।" और, इसके पश्चात् भरत के प्रख्यात सूत्र 'तत्र विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' के अर्थ के विषय पर प्राचीन पंडितों ने शताब्दियों तक विचार किया। इस सब दोहन का तात्पर्य इतना ही है कि रस का पूरा आस्वादन, उसका पूरा उपभोग, रसज्ञ जन ही कर सकते हैं। इस 'रसज्ञ' की व्याख्या आचार्य अभिनवगुप्त, जो काश्मीर में दसवीं शताब्दी के धुरंधर साहित्यकार हुए, इस तरह करते हैं—"अधिकारी चात्र विमलप्रतिभानशालिहृदयः"—विमल प्रतिभा जिसके हृदय में है, वही रसास्वादन का अधिकारी है। और, यह गुण भी पुण्यवान् व्यक्तियों को ही प्राप्त होता है। उनकी तुलना योगियों के साथ की गई है, और फिर अभिनवगुप्ताचार्य विस्तार से उनका इस प्रकार वर्णन करते हैं—"येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद्विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते हृदयसंवादभाजः सहृदयाः—अर्थात् यह रसज्ञता अनुशीलन और अभ्यास से प्राप्त होती है।" स्मरण रखना चाहिए कि यह रसज्ञता किसी भाव में तन्मय होने की—लीन होने की—शक्ति है। इस शक्ति का यदि अभाव हो तो रस की प्रतीति असंभव है, जैसे बधिर संगीत के आस्वादन में अशक्य है। संक्षेप में प्राचीन साहित्यकारों का, विशेष करके अभिनवगुप्ताचार्य और उनके बाद के आचार्यों का, मंतव्य है कि 'रसास्वादन' एक सहृदय व्यक्ति का विशेष गुण अथवा ईश्वरदत्त एक विशेष प्रतिभा है। रसानुभव से जो आनंद प्राप्त होता है, उसकी तुलना प्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचंद्र सूरि अपने 'काव्यानुशासन' के दूसरे अध्याय में परब्रह्मास्वाद के साथ करते हैं—'परब्रह्मास्वादसोदरो निमीलितनयनैः कविसहृदयैरस्यमानः स्वसंवेदनसिद्धो रसः।' यही रसास्वादन की परिसीमा है।

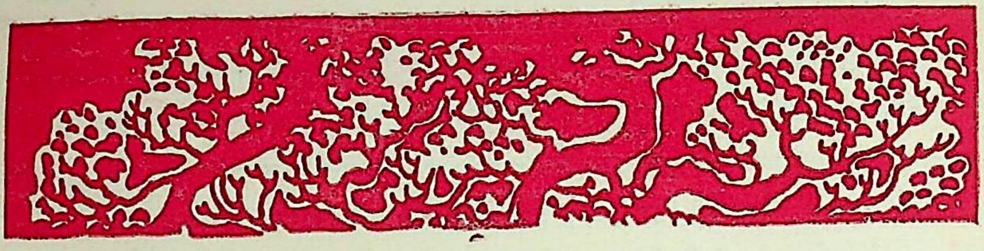

श्रीहर्षवर्धन का विद्यानुराग और कवित्व-शक्ति

डॉक्टर रमाशंकर त्रिपाठी, एम० ए०, पी-एच० डी० (लंडन)

श्रीहर्षवर्धन प्राचीन भारतवर्ष के एक प्रतिभाशाली एवं शक्तिसंपन्न नरेश थे। उनके राजत्वकाल में, जो ६०६ से ६४७ ईसवी तक माना जाता है, कन्नौज सर्वथा उन्नति के शिखर पर पहुँचा। उस समय पाटलिपुत्र का, जो बौद्धकाल से लेकर गुप्त-शासन-पर्यंत राजनीतिक तथा धार्मिक ज्ञान का केंद्र माना जाता था, सूर्य अस्त हो चुका था। इसलिये, कन्नौज का कोई प्रतिद्वंद्वी न होने के कारण, वही नगर उत्तरीय भारत में सर्वश्रेष्ठ तथा सुरम्य माना जाने लगा। किंतु हर्ष के शासन का महत्त्व केवल इतना ही नहीं कि उन्होंने कन्नौज-राज्य को चतुर्दिक् विस्तृत किया और बौद्धधर्म में पुनः जागृति उत्पन्न की; इतिहास में उनकी ख्याति का एक मुख्य कारण यह भी है कि उनकी नीति बहुत ही उदार और हितकारी थी—उन्होंने विद्वानों का संमान बढ़ाया, अपनी प्रजा में शिक्षा का प्रचार किया। प्रसिद्ध चीनी यात्री 'ह्वानच्वाँग' के अनुसार हर्ष भूमि-कर का चतुर्थांश तत्कालीन उच्च कोटि के विद्वानों, ग्रंथकर्त्ताओं तथा धार्मिक नेताओं को पुरस्कृत करने के लिये पृथक् रखते थे[१]। इस प्रकार राजा से प्रतिष्ठा पाकर उन लोगों के उत्साह की वृद्धि होती थी—वे दत्तचित्त होकर पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने ही में अपना कालक्षेप करते थे, जिसका उल्लेख स्वयं ह्वानच्वाँग ने ही अन्यत्र किया है[२]। 'हुइली'-(Hwui-li)-रचित ह्वानच्वाँग के जीवनचरित से यह भी विदित होता है कि हर्ष ने 'जयसेन' के पांडित्य से प्रसन्न होकर उसको उड़ीसा के अस्सी नगरों का कर प्रदान किया था। किंतु धन्य है जयसेन का आत्मत्याग कि उसने इस प्रचुर

---

[१] देखिए "ह्वानच्वाँग का वृत्तांत"—वाटर्स का अँगरेजी अनुवाद, जिल्द १, पृष्ठ १७६

[२] देखिए उसी ग्रंथ का पृष्ठ १६१

संपत्ति को भी अस्वीकृत कर दिया। उस समय जयसेन की कीर्त्तिपताका, उसकी विद्वत्ता और धर्मनिष्ठा के कारण, समस्त बौद्ध संसार में फहरा रही थी[1]।

'हर्ष' प्रसिद्ध नालंदा-विश्वविद्यालय के भी संरक्षक थे। वहाँ पर उन्होंने एक सुंदर मंदिर का निर्माण कराया, जो पीतल की चादरों से आच्छादित था[2]। नालंदा-विश्वविद्यालय उस समय सब विद्याओं का केंद्र था। उसकी मर्यादा इतनी बढ़ी-चढ़ी थी कि उसके प्रति उदारता प्रदर्शित करने के हेतु राजाओं में प्रायः प्रतिस्पर्द्धा हुआ करती थी। ह्वानच्वाँग का जीवनचरित हमें यह बताता है कि उसके भव्य भवनों के निर्माण का श्रेय एक के बाद दूसरे—इस प्रकार छः—नृपों को प्राप्त है[3]। देश के अधीश्वर (हर्ष) ने उसके लिये एक सौ ग्रामों का 'कर' प्रदान किया था[4]। ह्वानच्वाँग ने उसके विशाल एवं कई मंजिलोंवाले भवनों की अत्यधिक प्रशंसा की है। उन भवनों के शिखर बहुमूल्य रत्नों से जटित और ऊपरी प्रकोष्ठ गगनचुंबी थे[5]। नालंदा-विश्वभारती में कई सहस्र छात्र विद्योपार्जन करते थे। उनमें से बहुतेरे छात्र तो अपनी ज्ञानपिपासा को तृप्त करने तथा अज्ञानजनित अंधकार को दूर करने के लिये विदेशों से आते थे[6]। वे अपने संघ के आचार और नियमों के पालन में बड़े कट्टर होते थे, इसलिये अखिल भारतवर्ष में आदर्श माने जाते थे। अध्ययन एवं शास्त्रार्थ में वे इतना व्यस्त रहते थे कि दिन कब बीत गया—इसका उन्हें ज्ञान तक न होता था। अहर्निश शास्त्रचर्चा से उनकी ज्ञानक्षुधा उत्तेजित हुआ करती थी। उच्च तथा निम्न श्रेणी के 'भ्रातृगण' परस्पर के सहयोग से विद्या प्राप्त करने में सर्वथा सफल होते थे[7]। वे महायान तथा अष्टादश बौद्ध संप्रदायों के ग्रंथों का भी अध्ययन करते थे। यही नहीं, किंतु साधारण पुस्तकों, वेदादि, हेतुविद्या, शब्दविद्या, चिकित्साविद्या, इंद्रजालविद्या, अथर्ववेद तथा सांख्यादि के अतिरिक्त वे 'अन्यान्य ग्रंथों' का भी अवलोकन तथा पाठ करते थे[8]। इससे यह स्पष्ट है कि नालंदा-विद्यापीठ का उद्देश्य विद्यार्थियों को केवल प्राचीन रूढ़ियों एवं परंपराओं की शिक्षा देना न था, किंतु विशेषकर उसका लक्ष्य छात्रों में बौद्धिक और आत्मिक ज्ञान-ज्योति को जागरित करना था। उसकी सफलता का परिचय उसके कुछ स्नातकों के नामोल्लेख ही से भली भाँति मिल सकता है। उन स्नातकों में धर्मपाल, गुणमति, स्थिरमति, चंद्रपालादि ऐसे प्रगाढ़ पंडित थे कि इनकी बुद्धि के चमत्कार तथा सदाचार से समस्त बौद्धसंसार गौरवान्वित था। नालंदा की कीर्त्ति यहाँ तक चतुर्दिक् फैल गई थी कि जो कोई अपने को इसका स्नातक बताता, वह सर्वत्र संमानास्पद समझा जाता था[9]।

[1] 'लाइफ'—बील का अँगरेजी अनुवाद, पृष्ठ १२४

[2] वही, पृष्ठ १२६; वाटर्स, दूसरी जिल्द, पृष्ठ १७१

[3] 'लाइफ'—बील का अनुवाद, पृष्ठ १११

[4] वही, पृष्ठ ११२

[5] वही, पृष्ठ १११

[6] वाटर्स, दूसरी जिल्द, पृष्ठ १६५

[7] वाटर्स, जिल्द २, पृष्ठ १६५

[8] 'लाइफ'—पृष्ठ ११२

[9] वाटर्स—जिल्द २, पृष्ठ १६५

हर्षवर्धन स्वयं कई प्रख्यात विद्वानों के संरक्षक थे। इस बात से भी हम जान सकते हैं कि साहित्य में उनकी कितनी अधिक अभिरुचि थी। उनको सभा के मार्त्तंड 'बाणभट्ट' थे, जिन्होंने अपने संरक्षक की प्रशस्ति में 'हर्षचरित' नामक ग्रंथ लिखा है। बाणभट्ट-रचित और भी कई ग्रंथ हैं—चंडीशतक, कादंबरी और पार्वतीपरिणय[1]। आश्चर्य की बात है कि 'कादंबरी' तथा 'हर्षचरित' दोनों कथाओं को बाणभट्ट अपूर्ण ही छोड़ गए। पश्चात् बाण के पुत्र भूषणभट्ट ने—जहाँ कादंबरी के शोक का वर्णन है वहाँ से लेकर अंत तक—इस कथा की समाप्ति की। भाग्यवश भूषणभट्ट भी एक उद्भट विद्वान् था, इसलिये उत्तरार्द्ध की शैली और भाषा पूर्वार्द्ध ही के अनुरूप है। वस्तुतः अनुकरण इतना उत्तम है कि दोनों एक ही लेखक के लिखे मालूम होते हैं।

हर्ष के साहित्य-दल का दूसरा सदस्य 'मयूर' कवि था। तत्कालीन साहित्य-भांडार में 'सूर्यशतक' उसकी प्रधान कृति है। इसके पूर्व उसने 'मयूरशतक' लिखा था। इन दोनों के क्रमसंबंध में एक जनोक्ति प्रसिद्ध है कि 'मयूरशतक' की रचना के पश्चात् कवि को कुष्ठ-व्याधि हो गई थी, और जब उसने 'सूर्यशतक' बनाया तब रोग शांत हो गया[2]। मयूर कवि हर्ष ही का सभासद् था, इसकी पुष्टि 'सारंगधरपद्धति' तथा 'सूक्तिमुक्तावलि' के इस पद्य से भी होती है—"अहो प्रभावो वाग्देव्या यन् मातङ्ग-दिवाकरः, श्रीहर्षस्याभवत् सभ्यः समो बाणमयूरयोः—अर्थात् श्री सरस्वतीदेवी की महिमा इतनी है कि दिवाकर नाम का अछूत भी बाण और मयूर के समान श्रीहर्ष की सभा का सभासद् हुआ[3]।" इस प्रसिद्ध श्लोक में 'मातंग-दिवाकर' नाम के एक और कवि का भी उल्लेख है। खेद है कि इस विद्वान् के संबंध में अभी तक कोई प्रकाश नहीं डाला गया, किंतु साहित्य-गगन में इसकी ज्योति का इसी से पता लग सकता है कि इसको हर्ष द्वारा पर्याप्त संमान और आदर प्राप्त हुआ[4] था।

हर्ष केवल विद्वानों के तटस्थ संरक्षक ही न थे। वे जैसे शूरवीर थे वैसे ही कदाचित् प्रकांड पंडित भी। रत्नावली, प्रियदर्शिका और नागानंद नामक तीनों नाटक हर्षदेव नामक एक राजा की कृति कहे जाते हैं। ऐसा अनुमान है कि ये वही हर्ष हैं जिनकी राजधानी कन्नौज थी, क्योंकि इस नाम का अन्य कोई नरेश कसौटी पर खरा नहीं उतरता। प्राचीन भारतवर्ष के इतिहास में कन्नौज के अधिपति शीलादित्य के अतिरिक्त तीन और नृपों का नाम 'हर्ष' था। प्रथम—काश्मीर का वह अत्याचारी राजा

---

[1] यह एक नाटक है, किंतु इसके रचयिता 'बाण' ही थे—इसमें कुछ संशय है।

[2] कुछ लोगों का मत है कि 'मयूरशतक' और 'सूर्यशतक' दो भिन्न ग्रंथ नहीं, प्रत्युत एक ही ग्रंथ के दो नाम हैं। मयूर कवि के जीवन तथा उसके ग्रंथों के लिये देखिए—क्वैकनबास (Quackenbos) द्वारा संपादित "मयूर की संस्कृत कविता" नामक ग्रंथ (कोलंबिया-विश्वविद्यालय का संस्करण, जिल्द ९)।

[3] देखिए पिटर्सन द्वारा संपादित 'सारंगधरपद्धति' (बंबई, १८८८), श्लोक १८९; और 'सुभाषितरत्न-भांडागार,' पृष्ठ २४, श्लोक ३६

[4] डॉक्टर कीथ कहते हैं कि इस कवि के कुछ पद्य मिलते हैं ("क्लासिकल संस्कृतसाहित्य," पृष्ठ १२०)

जिसका शासन-काल 'राजतरंगिणी' के अनुसार १०८९—११०१ ईसवी तक था[1]। द्वितीय—वह 'हर्ष' जो धारानगरी के प्रसिद्ध राजा भोज का पितामह था; इसने लगभग ९७२-९८७ ईसवी तक राज किया। तृतीय—उज्जैन का महाराज हर्ष-विक्रमादित्य[2] जिसका दूसरा नाम डॉक्टर हर्नले (Hoernle) के मतानुसार 'यशोधर्मन्' था[3]। इनमें से दो तो कालभेद के कारण सुगमता से हटाए जा सकते हैं; क्योंकि तीनों नाटकों के नाम कुछ ऐसे लेखकों ने अपने ग्रंथों में लिखे हैं जो इन राजाओं के कई शताब्दी पूर्व जीवित थे। यथा—दामोदरगुप्त, जो काश्मीर के राजा जयापीड़ (७७९-८१३ ईसवी) का राजानक था, अपनी 'कुट्टनीमत' नामक पुस्तक में रत्नावली की कथा को उद्धृत करता है और यह भी बताता है कि यह किसी राजा की कृति थी। डॉक्टर कीथ का भी मत है कि महाकवि माघ, जिनका काल प्रायः ७०० ईसवी है, 'शिशुपालवध' में नागानंद का उल्लेख करते हैं[4]। हाँ, उपर्युक्त तृतीय हर्ष के संबंध में, 'कल्हण' के आधार पर, हम जानते हैं कि हर्ष केवल उसका दूसरा नाम था, और विक्रमादित्य उसकी उपाधि थी। इसलिये, यदि वह हर्ष नाटकों का रचयिता है, तो यह बात समझ में नहीं आती कि उसने प्रस्तावना में 'अपनी आदरणीय एवं श्रेष्ठ उपाधि 'विक्रमादित्य' का विवरण क्यों नहीं दिया। इसके अतिरिक्त वह बौद्धधर्मावलंबी नहीं था, इसलिये शुद्ध बौद्धधर्म-संबंधी 'नागानंद' नाटक का रचयिता वह कैसे माना जा सकता है। सच तो यह है कि कन्नौज के हर्ष के अतिरिक्त, इतिहास किसी अन्य हर्ष को—जो इस नाटक का कर्त्ता माना जाय—जानता ही नहीं[5]। फिर भी, अंतरंग प्रमाणों से भी, इन रचनाओं के लेखक यही 'हर्ष' कहे जा सकते हैं। प्रथमतः ये निस्संदेह एक ही कवि के लिखे हैं; क्योंकि इनमें केवल समान भाव ही नहीं प्रतिबिंबित होते, बल्कि इनकी विचारधारा, भाषा और लेखनशैली में भी बहुत-कुछ सादृश्य पाया जाता है। कहीं-कहीं इनमें उक्ति तथा चरणों की तो बिलकुल समानता है[6]। पुनः इन तीनों नाटकों में यत्र-तत्र हर्ष के जीवन की घटनाओं और उनके आदर्शों तथा कार्यों का भी दिग्दर्शन होता है[7]। किंतु केवल ऐसे ही तर्कों के आधार पर किसी सिद्धांत को मान बैठना हम ठीक नहीं समझते। यह तो प्रायः सभी समालोचक स्वीकार करेंगे—अथवा करते हैं—कि ये तीनों नाटक एक ही कवि के लिखे हुए हैं। किंतु ऐसा कहा जा सकता है—

---

[1] 'राजतरंगिणी'—स्टाइन का अँगरेजी अनुवाद, सातवाँ भाग, पृष्ठ ३३३ आदि।

[2] वही, भाग तीसरा, श्लोक १२५, पृष्ठ ८३

[3] जर्नल रॉयल एशियाटिक सोसाइटी (J. R. A. S), १९०९, पृष्ठ ४४६ आदि।

[4] 'क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर'—पृष्ठ ५४

[5] देखिए—कीथ-लिखित—'संस्कृत ड्रामा' (१९२४), पृष्ठ १७०-१८१

[6] देखिए—नाटकों में समानता के लिये नॉरीमन, जैक्सन और ओग्डन द्वारा संपादित 'प्रियदर्शिका' (कोलंबिया-विश्वविद्यालय-ग्रंथमाला, भाग ६, पृष्ठ ७७-८७)। इस पुस्तक से मुझे इस लेख में कुछ सहायता भी मिली है।

[7] देखिए—मुकुर्जी-लिखित 'हर्ष' (रूलर्स आफ इंडिया सीरीज), पृष्ठ १५३-१५६

और निस्संदेह यह अभियोग लगाया भी गया है, जैसा हम नीचे लिखेंगे—कि कदाचित् इनकी रचना हर्ष की विद्वन्मंडली के किसी सभासद् ने की है, जो अपने स्वामी के धार्मिक भावों तथा जीवन की घटनाओं का पूर्ण ज्ञान रखता था। संभव है कि ये नाटक कन्नौज की प्रजा के मनोरंजनार्थ लिखे गए हों, और कवि ने राजा हर्ष का—जो अत्यंत आत्मवैभवाभिलाषी थे—मान बढ़ाने के लिये, अथवा प्रचुर पुरस्कार पाने पर राजा के प्रति अपनी कृतज्ञता और भक्ति प्रकट करने के लिये, इस ग्रंथ को राजा के ही नाम से प्रकाशित कराया हो। किंतु इन शंकाओं के विपरीत हम कुछ ऐसे बहिरंग प्रमाण देंगे जिनसे यह सिद्ध होता है कि हर्ष अवश्यमेव साहित्यिक महारथी थे। हर्ष की प्रशंसा करते हुए बाणभट्ट लिखते हैं--'काव्यकथास्वपीतममृतमुद्वमन्तम्'—अर्थात् 'काव्यचर्चा में वे उन अमृतमय वाक्यों की वर्षा करते थे, जो उसने किसी अन्य से नहीं सीखा था[1]। दूसरे स्थान पर 'बाण' फिर लिखते हैं--"अपि चास्य...कवित्वस्य वाचः...न पर्याप्तो विषयः—अर्थात् उनकी काव्यशक्ति के लिये वाक्य पर्याप्त नहीं थे[2]।" किंतु बाण के वचनों को प्रमाण-स्वरूप दिखाते हुए यह स्मरण रखना आवश्यक है कि उन्होंने हर्ष के संबंध में कहीं-कहीं अतिशयोक्ति की है। इसलिये उनकी बातों पर अंधविश्वास कर लेना उचित नहीं। फिर भी ग्यारहवीं ईसवी सदी का प्रसिद्ध लेखक 'सोड्ढल' अपने ग्रंथ 'उदयसुंदरी-कथा' में हर्ष को साहित्य का संरक्षक एवं कविभूप बताता है जिनको काव्यरचना में बड़ा आनंद मिलता था। यथा—

श्रीहर्ष इत्यवनिवर्तिषु पार्थिवेषु नाम्नैव केवलमजायत वस्तुतस्तु।
गीर्हर्ष एष निजसंसदि येन राज्ञा सम्पूजितः कनककोटिशतेन बाणः[3] ॥

संस्कृत के मनोहर कवि 'जयदेव' ने—जिनका जीवन-काल बारहवीं ईसवी सदी है—हर्ष का उल्लेख 'भास' तथा 'कालिदास' के साथ किया है। इसी संबंध में उन्होंने अपने प्रिय कवि 'बाण', 'मयूर' तथा 'चोर' का भी नाम लिखा है। यथा—

यस्याश्चोरश्चिकुरनिकरः कर्णपूरो मयूरो, भासो हासः कविकुलगुरुः कालिदासो विलासः।
हर्षो हर्षो हृदयवसतिः पञ्चबाणश्च बाणः, केषां नैषा कथय कविताकामिनी कौतुकाय[4] ॥

'सुभाषितरत्नभांडागार' में जहाँ धुरंधर कवियों की नामावलि है वहाँ हर्ष की गणना उन पंडितों में की गई है जो अपनी कृतियों से संसार को आह्लादित करते हैं। यथा—

'माघश्चोरो मयूरो मुररिपुरपरो भारविः सारविद्यः
श्रीहर्षः कालिदासः कविरथभवभूत्याह्वयो भोजराजः।
श्रीदण्डी डिण्डिमाख्यः श्रुतिमुकुटगुरुर्भल्लटो भट्टबाणः
ख्यातश्चान्ये सुबन्ध्वादय इह कृतिभिर्विश्वमाह्लादयन्ति[5] ॥

---

[1] 'हर्षचरित'—कावेल तथा टॉमस का अँगरेजी अनुवाद, पृष्ठ ५८। [2] उसी ग्रंथ का पृष्ठ ६५

[3] 'उदयसुंदरी-कथा'—सी० डी० दलाल तथा कृष्णमाचार्य द्वारा संपादित, पृष्ठ २ (बड़ौदा, १९२०)

[4] देखिए—क्वैकनबास के 'मयूर'वाले ग्रंथ का पृष्ठ ५४-५५

[5] देखिए—परब द्वारा संपादित, तृतीय संस्करण, श्लोक ७०, पृष्ठ ५६ (बंबई, १८९१)

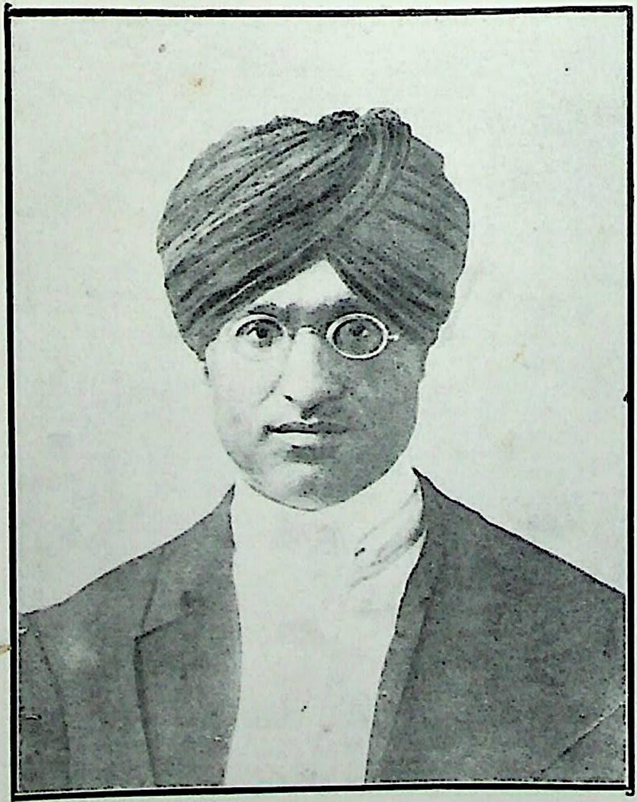

स्वामी सत्यदेव परिव्राजक

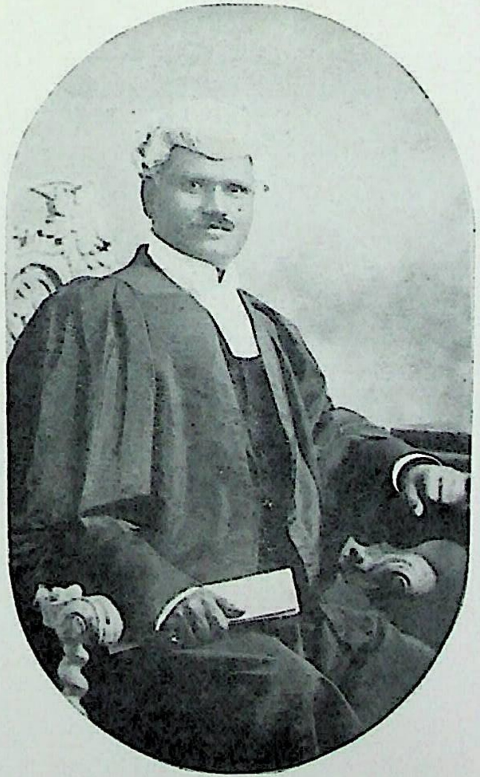

श्री प्यारेलाल मिश्र, बारिस्टर

पंडित वेंकटेशनारायण त्रिपाठी, एम० ए०

पंडित लोचनप्रसाद पांडेय

श्रीहर्षवर्धन का विद्यानुराग और कवित्व-शक्ति

पुनश्च, डॉक्टर "ब्यूलर का कथन है कि सत्रहवीं शताब्दी की मधुसूदन-कृत 'भावबोधिनी' में निम्नांकित पाठ है—"मालवराजस्योज्जयिनीराजधानीकस्य कविजनमूर्द्धन्यस्य रत्नावल्याख्यनाटिकाकर्त्तुर्महाराजश्रीहर्षस्य......अर्थात् कविकुलचूड़ामणि महाराज श्रीहर्ष का, जिन्होंने 'रत्नावली' नाम की नाटिका बनाई थी, और मालवाधिपति होने के कारण जिनकी राजधानी उज्जयिनी थी[1]......।" मधुसूदन की यह उक्ति, जो हर्ष के सहस्र वर्ष पश्चात् लिखी गई थी और जिसको उसने कदाचित् वृद्धों ही के मुख से सुनी होगी, बहुत अंशों में भ्रमात्मक है; क्योंकि इसमें हर्ष का संबंध मालवा तथा उज्जयिनी से जोड़ा गया है, तथापि इसमें इतनी सत्यता तो अवश्यमेव प्रतीत होती है कि हर्ष स्वयं कवि थे, और वे बाण तथा मयूर के समकालीन भी थे, जैसा इसी अवतरण से मालूम होता है।

अंत में हम इत्सिंग (I-tsing) नामक चीनी यात्री के आधार पर यह जानते हैं कि राजा शीलादित्य (हर्ष) साहित्य के बड़े प्रेमी थे, और उत्तम पद्यों के संग्रह कराने के अतिरिक्त उन्होंने स्वयं बोधिसत्व जीमूतवाहन की कथा पर—जिसने नाग के हेतु आत्मसमर्पण किया—एक नाटक की रचना की। तत्पश्चात् एक मंडली ने नृत्य तथा गान के साथ इसका अभिनय किया। इस प्रकार हर्ष ने अपने जीवन-काल ही में जनसमूह में इस रचना की प्रसिद्धि कराई[2]। हर्ष की साहित्यिक योग्यता तथा रचना के संबंध में मुझे 'इत्सिंग' का यह कथन अत्यंत प्रामाणिक तथा विश्वसनीय मालूम पड़ता है, क्योंकि यह चीनी यात्री हर्ष की मृत्यु के केवल पचीस वर्ष उपरांत भारत में आया था, और लगभग समकालीन तथा विदेशी होने के कारण तटस्थता के साथ उसके तथ्यातथ्य जानने की विशेष संभावना थी।[3] इन सब प्रमाणों के होने पर भी प्राचीन काल ही से संस्कृत-ग्रंथकारों में तीनों नाटकों के रचयिता के संबंध में संशय रहा। सर्वप्रथम, ग्यारहवीं शताब्दी के एक काश्मीरी लेखक 'मम्मट' ने कुछ शंका की थी। वह अपने ग्रंथ 'काव्यप्रकाश' में लिखता है कि काव्य से यश और धन दोनों ही पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं—'काव्यं यशसेऽर्थकृते'। इसकी व्याख्या करते हुए वह आगे लिखता है—'कालिदासादीनामिव यशः श्रीहर्षादेर्धावकादीनामिव धनम्'—अर्थात 'काव्यरचना से कालिदासादि के समान यश प्राप्त होता

[1] 'इंडियन एंटिक्वैरी'—जिल्द २, पृष्ठ १२७-१२८

[2] 'भारत तथा मलयद्वीपों में बौद्धधर्म का हाल'—जे० टकाकुसु द्वारा अनुवादित, पृष्ठ १६२-१६४ (ऑक्सफर्ड, १८९६)

[3] (क) 'सुप्रभास्तोत्र' की पुष्पिका से यह मालूम पड़ता है कि उसकी भी रचना हर्ष ही ने की थी (देखिए—जे० आर० ए० एस०, १९०३; पृष्ठ ७०३—२२)

(ख) डॉक्टर ब्यूलर के मतानुसार मधुवन-शिलालेख की कुछ पंक्तियों को हर्ष ने लिखा था। (देखिए—एपिग्रैफिया इंडिका, जिल्द १, पृष्ठ ७१)

(ग) ह्वानच्वाँग तो 'अष्टमहाश्रीचैत्यसंस्कृतस्तोत्र' को राजा शीलादित्य की रचना बताता है। यह उपाधि श्रीहर्ष की थी, इसलिये इस पुस्तक को हम इन्हीं की लिखी मान सकते हैं। (देखिए डॉक्टर कीथ का लिखा 'संस्कृत-साहित्य का इतिहास' (१९२८)

है, और श्रीहर्ष तथा अन्य नृपों से धावक आदि के समान कवियों को धन मिलता है[1] ।' अतः मम्मट के मतानुसार धावक कवि को श्रीहर्ष से कदाचित् इन्हीं नाटकों के कारण बहुत धन मिला था। किंतु डॉक्टर ब्यूलर कहते हैं कि काश्मीरी 'काव्यप्रकाश' की कुछ हस्तलिखित प्रतियों में 'धावक' के स्थान में 'बाण' का नाम मिलता है। मेरी बुद्धि में तो बाणभट्ट कदापि इन नाटकों का रचयिता नहीं कहा जा सकता; क्योंकि उसकी कृतियों—कादंबरी और हर्षचरित—की शैली बहुत ही क्लिष्ट और गूढ़ है, और इन नाटकों की भाषा बहुत ही सरल तथा साधारण है, और वे अलंकार तथा अस्वाभाविकता से सर्वथा रहित हैं। ये नाटक किसी रूप में उच्च कोटि के नहीं कहे जा सकते, और बाण-सरीखे उद्भट विद्वान् की लेखनी के अयोग्य भी हैं। सत्रहवीं ईसवी के भी अनेक ग्रंथकारों को इन नाटकों के रचयिता के बारे में बहुत-कुछ संशय था। उनका यह विश्वास था कि हर्ष के नाम से धावक ही ने उपर्युक्त नाटकों की रचना की। यथा—नागोजी ने अपने 'काव्यप्रदीपोद्योत' में लिखा है—'धावकः कविः स हि श्रीहर्षनाम्ना रत्नावलीं कृत्वा बहु धनं लब्धवान् इति प्रसिद्धम्'—अर्थात् 'धावक कवि ने हर्ष के नाम से रत्नावली नाटिका लिखकर बहुत धन पाया, ऐसी उक्ति प्रसिद्ध है'[2] । इसी प्रकार 'परमानंद' नामक एक दूसरे विद्वान् भी इस संबंध में एक कथा लिखते हैं कि प्राचीन काल में धावक कवि ने अपनी 'रत्नावली' नाम की कृति को राजा हर्ष के हाथ बेंचकर बहुत धन पाया। यथा—'धावक नाम कविः स्वकृतिं रत्नावलीं नाम नाटिकां विक्रीय श्रीहर्षनाम्नो राज्ञः सकाशाद् बहुधनमवापेति पुरावृत्तम्' [3] ।

अब स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि क्या ये सब निर्मूल दंतकथाएँ हैं, अथवा सत्य की भित्ति पर अवलंबित हैं। बिना किसी निश्चित प्रमाण के कोई उत्तर दे देना कल्पना-मात्र ही होगा। किंतु इन वाक्यों पर विश्वास करने के मार्ग में कुछ कठिनाइयाँ अवश्य हैं। एक तो संस्कृत-साहित्य में धावक कवि का कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं हुआ, और यहाँ तक कि 'सुभाषितावलि' में भी इसका कोई पद उद्धृत नहीं किया गया है। दूसरे, संशय रखनेवाले अधिकतर विद्वान् सोलहवीं अथवा सत्रहवीं ख्रीष्ट शताब्दी के हैं, और हर्ष-काल से इतना अंतर होने के कारण इनकी प्रामाणिकता सहसा मान बैठना ठीक नहीं मालूम होता। तीसरे, मम्मट के—जो संभवतः इन सब लेखकों के कथन के आधार हैं—वाक्य से यह स्पष्ट नहीं होता कि श्रीहर्ष अपनी विद्वत्परिषद् के सभासदों को एक संरक्षक के नाते पुरस्कार-रूप में धन देते थे अथवा उनके ग्रंथकर्तृत्व को मोल लेने के कारण। सत्य बात तो यह है कि इन तीनों नाटकों के रचयिता 'हर्ष' को मान लेने में हमें कोई विशेष आपत्ति नहीं दीखती। इतिहास में साहित्यप्रेमी राजाओं

---

[1] 'काव्यप्रकाश'—बी॰ वी॰ झलकीकर द्वारा संपादित, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ८-९ (बंबई, १९०१); काव्यप्रकाश, गंगानाथ झा द्वारा संपादित, पृष्ठ १-२ (१९२५)

[2] डी॰ चंदोर्कर द्वारा संपादित, पृष्ठ ५ (पूना १८९८)

[3] देखिए—भंडारकर, १८८२ की हस्तलिखित-संस्कृत पुस्तकों की रिपोर्ट; तथा नॉरीमन, जैक्सन आदि की 'प्रियदर्शिका' पृष्ठ ४७।

के अनेक उदाहरण मिलते हैं। यथा—समुद्रगुप्त, पल्लवराज महेंद्रविक्रमवर्मन्[1], बाबर, जहाँगीर आदि। किंतु इतना संभव है कि हर्ष के आश्रित विद्वानों में से किसी ने इन नाटकों के पद-लालित्य तथा अर्थ-गौरव को कुछ अंश में अपनी लेखनी से बढ़ाया हो, जैसी एक कहावत है कि राजलेखक केवल अधूरे ही ग्रंथकर्त्ता होते हैं।

---

[1] देखिए—डॉक्टर एल० डी० बार्नेट का लेख जो स्कूल आफ ओरियंटल स्टडीज की बुलेटिन (१९२०, पृष्ठ ३७-३८) में छपा है।

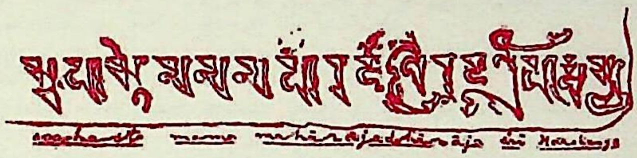

उसी ओर

पगली! मंदिर का यह उत्तुंग स्वर्ण-शिखर, मसजिद का यह धवल गोल गुंबद और गिरजाघर की यह गगनचुंबी मीनार, सब उसी ओर संकेत कर रहे हैं जहाँ तेरा कृष्ण बाँसुरी बजाकर ग्वाल-बाल के साथ नृत्य किया करता है—जहाँ तेरा मुहम्मद फटे-चिथड़े लपेटे दुनिया के दरिद्रों को अपनी छाती से लगाया करता है—जहाँ तेरा ईसा काँटों का मुकुट पहने हुए शांति और अहिंसा का उपदेश दिया करता है।

पगली! इस श्रमित कृषक की देह से टपकती हुई पसीने की बूँदें, इस भिखारिन के सूखे गालों पर ढुलकते हुए आँसू और इस वृद्ध बैल के घावों से टपकते हुए रक्त-बिंदु उसी ओर संकेत कर रहे हैं—जहाँ तेरा कृष्ण गाएँ चराते-चराते थककर चूर हो गया है—जहाँ तेरे मुहम्मद की आँखों में दुनिया के पीड़ित प्राणियों का दुख देखकर आँसू छलछला आए हैं—जहाँ तेरा ईसा संसार के कल्याण के लिये क्रॉस पर लटक रहा है।

पगली! तू किसकी प्रतीक्षा कर रही है? इस मंदिर की स्वच्छ सीढ़ियाँ, इस मसजिद का खुला हुआ द्वार और इस गिरजाघर का भव्य फाटक उसी ओर संकेत कर रहा है—जहाँ तेरा कृष्ण—तेरा मुहम्मद—तेरा ईसा—तेरा प्रियतम स्वयं तेरी ही प्रतीक्षा में बड़ी देर से बैठा हुआ है।

—तेजनारायण काक 'क्रांति'

दिल्ली की पठान-कालीन मुस्लिम वास्तु-कला

प्रोफेसर परमात्माशरण, एम० ए०

सन् ६२२ ईसवी की पंद्रहवीं जुलाई (बृहस्पतिवार) की रात को इस्लाम-मत के प्रवर्त्तक हजरत मुहम्मद, अपने साथियों के साथ, मक्के की जनता के विरोध से तंग आकर, वहाँ से हिजरत करके (भाग कर), 'यथरीब (मदीने)' पहुँचे। यथरीब में उनके अनुयायी बड़े प्रभावशाली थे। इसी समय से उनको अपने मत की रक्षा एवं उसके विस्तार के लिये सैन्य-बल की आवश्यकता जान पड़ी। इस जद्दोजहद का फल यह हुआ कि उनकी मृत्यु तक—अर्थात् दस वर्ष के अंदर ही—एक ईश-सत्तात्मक साम्राज्य (Theocratic Empire) की नींव पड़ गई। परिस्थिति अनुकूल पाकर यह साम्राज्य एक शताब्दी में ही, पश्चिम की ओर उत्तरी अफ्रिका और स्पेन तक—तथा पूरब में समस्त अरब, सीरिया और ईरान तक—फैल गया। इसी युग में अरबों ने, आठवीं शताब्दी के शुरू में, भारतीय प्रांत 'सिंध' को बड़े प्रयत्न से जीता और उस पर अपना राज्य स्थापित किया। यह थोड़े ही दिनों में खिलाफत को लात मारकर स्वतंत्र हो गया। नवीं शताब्दी तक 'खिलाफत' एशिया की उत्कृष्ट सभ्यता और विद्योन्नति का केंद्र रही। बगदाद के खलीफों ने हजारों संस्कृतग्रंथों के अनुवाद, भारत के पंडितों को बुला-बुलाकर, अरबी भाषा में कराए। इसी प्रकार यूनान से भी इस्लाम ने एक नया चोला पहना। परंतु अरबी सभ्यता ने किसी मौलिक विद्या अथवा कला की सृष्टि नहीं की। कला की उन्नति का तो उन्होंने कोई परिचय ही नहीं दिया। यदि अरब-साम्राज्यांतर्गत किसी देश में किसी कला की उन्नति हुई तो वह पराजित या पड़ोसी

जाति के द्वारा—जैसे स्पेन और सीरिया में स्थानीय अथवा रूमी कलाकारों के द्वारा। किंतु दसवीं शताब्दी में 'खिलाफत' की शक्ति छिन्न-भिन्न हो गई। उसके स्थान पर छोटे-छोटे राज्य स्थापित हो गए। इस राजनीतिक क्रांति का प्रभाव यह हुआ कि फारस (ईरान) को पुरातन संस्कृति—जो लुप्तप्राय हो गई थी—फिर से सजग हो गई। उसके चमत्कार में इस्लाम को फिर से एक नया चोला बदलना पड़ा। ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दी ईरानी संस्कृति के उत्कर्ष का युग थी। इस समय इस्लाम मध्य-एशिया की जातियों में भी फैल चुका था। परंतु आंतरिक कलह के कारण फारस-साम्राज्य का पतन हो रहा था। फारस के राजा इतने निर्बल हो गए थे कि उन्हें आत्मरक्षा के लिये मध्य-एशियाई तुर्की सैनिकों का सहारा लेना पड़ा। इन लोगों के हाथ में शक्ति आते ही एक नया सैलाब उठा, जिसका स्रोत 'बल्ख' और 'बुखारा' के हरे-भरे दोआब में था। इस सैलाब के शिकार पहले फारस और पच्छिम-एशिया के अन्य देश हुए। अंत को सोलहवीं शताब्दी में कुस्तुंतुनिया से लेकर उत्तर-पच्छिम एशिया के प्रायः सब देशों और लगभग सारे भारतवर्ष तक पर तुर्क-राज्य कायम हो गया। जब ग्यारहवीं शताब्दी में फारस में तुर्कों का राजनीतिक प्रभुत्व बढ़ा तब वे फारस की उत्कृष्ट सभ्यता और संस्कृति से प्रभावित हुए बिना न रह सके। इसी समय महमूद गजनवी ने भारत पर चढ़ाइयाँ शुरू कीं। मथुरा और कन्नौज के गगनस्पर्शी भवनों को देखकर वह विस्मय-सागर में डूब गया। वह अपने हृदय में न केवल यह आकांक्षा ही ले गया कि गजनी को भी वह वैसे ही विशाल भवनों से मंडित करे, बल्कि इस काम की पूर्त्ति के लिये भारत से हजारों कलाकार, प्रवीण शिल्पी, मैमार आदि भी बंदी करके ले गया। इस प्रकार तुर्क-सुलतानों का साम्राज्य भारतीय, ईरानी और तुर्क—इन तीन—सभ्यताओं के सम्मेलन का केंद्र बन गया, जिससे एक नई सभ्यता का जन्म हुआ। सेमिटिक (अरब) जाति ने तो किसी प्रकार की कला की उन्नति ही नहीं की; परंतु तुर्कों ने इसके विपरीत प्रत्येक देश में बड़े विशाल भवनों की सृष्टि की। वास्तु-कला में उनकी रुचि भी थी और बुद्धि भी। उनका एक बड़ा प्रशंसनीय गुण यह था कि वे जिस देश में जाते, वहाँ की कला और संस्कृति को अपनाकर अपनी कृतियों को ऐसा स्वाभाविक रूप दे देते कि जिसमें फिर कोई असमानता ही न रह जाती।

महमूद गजनवी ने पंजाब को अपने साम्राज्य का पूर्वी सीमाप्रांत बनाया; परंतु उसके मरते ही उसके वंश का ह्रास शुरू हो गया। इसके बाद बारहवीं शताब्दी के अंत में, मुहम्मद गोरी और उसके सैनिकों ने, थोड़े ही दिनों में, समस्त उत्तरी भारत को जीतकर एक स्थायी राज्य की नींव डाल दी। उसी दिन से मुसलमान शासकों ने बड़े-बड़े भवन बनवाने शुरू किए। वे लोग वास्तु-कला से अनभिज्ञ न थे, वरन् उनको इसका काफी अनुभव था, जिसका परिचय उन्होंने भारतवर्ष में खूब दिया[१]। पूरे पाँच

---

[१] पहले-पहल क़ुरान की शिक्षा के कारण, जिसके अनुसार किसी प्रकार की चित्रकारी कुफ्र (नास्तिकता) मानी जाती थी, तुर्क और अफगान सुलतानों के समय में चित्र-कला का अभाव-सा रहा। हाँ, गायन-कला की पर्याप्त उन्नति हुई। परंतु मुगल-बादशाहों ने अधिक स्वतंत्रता दिखाई। उनके प्रोत्साहन से चित्र-कला की बड़ी अनुपम उन्नति हुई।

सौ वर्षों तक मुसलमान-बादशाहों ने भारतवर्ष पर राज किया। इतने समय में भारत के सामाजिक, नैतिक और मानसिक जीवन पर इस्लाम का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। मुस्लिम सभ्यता का सबसे बहुमूल्य स्मारक आज हमें उनके विशाल भवनों के रूप में देख पड़ता है।

तुर्कों की संयोज्यशक्ति (adaptability) इतनी उत्तम थी कि उन्होंने प्रत्येक प्रांत में एक नई शैली का विकास किया, जो अन्य सब शैलियों से निराली और स्थानीय परिस्थिति के अनुकूल थी। फर्गुसन, मार्शल आदि पुरातत्त्ववेत्ताओं का मत है कि भारत में मुस्लिम वास्तु-कला की दस-बारह भिन्न-भिन्न शैलियाँ पाई जाती हैं, जो अपने रूपरेखा और अन्य स्थानीय लक्षणों में एक दूसरे से अलहदा हैं। उन सबमें मौलिक लक्षण प्रायः सामान्य होते हुए भी उनका व्यक्तित्व सर्वथा स्वतंत्र है। अन्य सब कलाओं की भाँति भारत के पुरातन वास्तु-कला की शैलियों पर भी नस्लों का, धर्म और सामाजिक आवश्यकताओं का, जलवायु और भौगोलिक अवस्था का, प्रभाव देख पड़ता है। किसी शैली का रूप-रंग और ढाँचा चाहे जिन कारणों से विकसित हुआ हो; परंतु यह स्पष्ट है कि प्रत्येक का विकास—स्थानीय धार्मिक और सामाजिक आवश्यकताओं के अनुकूल—एक प्रकार की अंतःप्रेरणा और स्वेच्छावृत्ति से हुआ है। मुस्लिम वास्तु-कला इन पुरातन शैलियों का ही परिवर्त्तित रूप है। पुराने हिंदूभवन—प्रायः मंदिर—अथवा उनके ढाँचे इस प्रकार परिवर्त्तित एवं परिवर्द्धित किए गए कि जिससे वे इस्लाम के आदर्शों और सिद्धांतों के अनुकूल हो सकें। इस परिवर्त्तन में कहीं हिंदू-प्रभाव बहुत अधिक मात्रा में पाया जाता है, कहीं कम। तथापि, यह मानना पड़ेगा कि हिंदू-कला के ढाँचे ही नहीं, वरन् प्रायः सभी भाव और कल्पनाएँ (ideas and concepts) मुसलमानी कला में इस प्रकार लीन हो गईं कि शायद ही कोई हिंदू आदर्शचित्र (motif) या रूप (form) ऐसा हो, जिसको मुसलमानों ने न अपनाया हो। परंतु इन सब पार्थिव वस्तुओं का जो ऋण मुस्लिम कला पर है, उससे भी कहीं भारी ऋण हिंदू-कला के दो अद्वितीय गुणों—दृढ़ता और सौंदर्य—का है। सर जॉन मार्शल का मत है कि सौंदर्य और दृढ़ता का जैसा उत्तम संयोग भारतीय वास्तु में पाया जाता है वैसा अन्यत्र कहीं नहीं। ये दो गुण इस देश की विशेषता हैं और वास्तु-कला के अन्य समस्त गुणों में उत्कृष्ट हैं।[१]

प्राचीन आर्य वास्तु-कला में राजप्रासादों और मंदिरों का विशेष स्थान था।[२] बौद्ध काल में स्तूपों और विहारों का विशेष विकास हुआ। ये विहार प्राचीन आर्य-आवास के नमूने पर ही बनते थे। इसके बाद जैन और हिंदू मंदिरों का विकास भी उसी पद्धति पर हुआ। फिर मुस्लिम कला में हिंदू (राजपूत) राजाओं ने जो अपने महल बनवाए, वे उसी प्राचीन मर्यादा के अनुकूल थे। 'दतिया' और 'डीग' के राजमहलों के देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। मुसलमानों के महल इनका किसी तरह

---

[१] कैंब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया, खंड ३, अध्याय २३, पृष्ठ ५७१ (सन् १९२८ ई० का संस्करण)

[२] यद्यपि प्राचीन राजप्रासाद अद्यावधि विद्यमान नहीं रह सके हैं तथापि 'मानसार', 'शुक्रनीति' आदि अनेक ग्रंथों से ज्ञात होता है कि उस समय वास्तु-कला की कितनी उन्नति थी।

भी मुकाबला नहीं कर सकते (देखिए चित्र नंबर १ और २)। इनकी विशेषता मसजिदों और मकबरों में पाई जाती है। इनकी रचना एवं अलंकरण में उन्होंने (हिंदू राजाओं ने) अनुपम उन्नति की।

जिस समय मुसलमानों ने मसजिद और मकबरे बनाने शुरू किए, हमारा देश हिंदू और जैन मंदिरों से भरपूर था। इन्हीं को या तो तोड़फोड़कर या परिवर्त्तित करके मुसलमानों ने सर्व-प्रथम इमारतें बनाईं। दोनों वर्ग की इमारतों के देखने से ज्ञात होता है कि इनमें कितना भेद है। हिंदू-मंदिरों के देवालय (shrine) छोटे और तंग होते थे; परंतु मसजिद की नमाजगाह बहुत खुली और विशाल। देवालय अँधेरा और गुह्य होता था, मसजिद हवादार। हिंदुओं की छत और डाट, प्रायः सीधे तोरण या पट्टे को सतून के ऊपर रखकर, (trabeate) बनी हुई हैं, और मुसलमान प्रायः कमानी का प्रयोग करते थे। मंदिरों पर प्रायः लंबे-पतले शिखर बनाए जाते थे और मसजिदों पर फैले हुए गुंबद (स्तूपी)। इस्लाम-धर्म के अनुसार किसी जीवधारो का चित्र या प्रतिमा बनाना घोर पाप था, इसके विपरीत हिंदू-धर्म के सांसारिक रूप में व्यक्त करने के लिये देवताओं की मूर्त्तियाँ ही एकमात्र उपाय थीं। इसलिये मंदिर मूर्त्तियों से भरपूर थे। वाहरी अलंकरण (सजावट) में हिंदू लोग नैसर्गिक, नम्य आकृतियाँ (plastic modelling) बनाना पंसद करते थे, जिसमें कोई रूढिबद्ध (conventional) नमूने नहीं होते थे। उनकी सजावट बहुत घनी होती थी। मुसलमानों ने इसके स्थान पर सीधी रेखा के चित्र और चिपटी खुदाई और जड़ाई की सजावट का विकास किया। यह सजावट रूढिबद्ध अरबी फूल-बेल या भूमितिक नमूनों की शकल की होती थी। इसके अलावा वे कुरान की आयतों को भी खुदाई में लिखवाते थे। इसके उदाहरण हमें दिल्ली के कुवतुलइस्लाम मसजिद की टट्टी की खुदाई में मिलते हैं—जैसा पाठक आगे भी देखेंगे। (देखिए चित्र नंबर ७ और ११)। इस प्रकार की अनेक भिन्नताएँ हिंदू और मुस्लिम शैलियों में विद्यमान हैं। कारण यह कि दोनों के ध्येय और प्रयोजन ही भिन्न थे। ऐसी दशा में जिस चतुराई से मुसलमान विजेताओं ने हिंदू और जैन मंदिरों को घटा-बढ़ाकर मसजिदों के रूप में परिवर्त्तित कर लिया और जिस बुद्धिमत्ता से हिंदू कलाकारों द्वारा उनकी सजावट कराई, वह बड़ी विलक्षण थी। इससे यह अवश्य विदित होता है कि वे लोग गुणग्राही थे। हाँ, कुछ ऐसे चिह्न भी थे जो दोनों कलाओं में समान रूप से मिलते थे। जैसे—चौक (सहन), उसके चारों ओर दालान, दुवारी (द्वारी), निकेतन (niche), अलंकरण (ornamentation) इत्यादि।[१] इन समानताओं के कारण मुसलमानों को इन दोनों शैलियों के संयोजन में अवश्य ही बड़ी सुविधा हुई होगी।

त्रिज्याकार डाट और डाटदार छत तथा गुंबद का मुसलमानों ने विशेष संवर्द्धन किया। यह न कहना होगा कि हिंदुओं को डाट और गुंबद का ज्ञान नहीं था। वे चूने का प्रयोग कम करते थे, इस

---

[१] दालान और सहन तो प्राचीन भारतीय भवनों के मुख्य भाग थे और यहीं से मुसलमानों ने सीखे थे। सजावट उन्होंने प्रायः रूम (टर्की) से ली थी। देखिए—'हेवेल्' की "हैंडबुक आफ इंडियन आर्ट" नामक पुस्तक (संस्करण सन् १९२०), पृष्ठ १०५-६। कैंब्रिज हि० इं०-खंड ३, पृष्ठ ४७१

कारण गोल गुंबद या बड़ी-बड़ी डाटें कम बनाते थे। मुसलमान भी अक्सर चौरस पाट की छतें बनाते थे। इसके अतिरिक्त उन्होंने लंबी-पतली मीनारों, प्रालंब (pendentive)[१], कोनिहाई डाट (squinch arch)[२], अर्द्धगोलाच्छादित, मधुमक्खी के छत्ते के समान लटकती छतवाले दोहरे द्वार (खिड़कीदार द्वार) और बड़े सुंदर परिष्कृत अलंकरणों की बड़ी उन्नति की। इसके अतिरिक्त उन्होंने सजावट में रंगों का भी बहुत प्रयोग किया, जिसके लिये फारस के चीनी की टाइल (tile), रंगों और फिर बहुमूल्य पत्थरों का प्रयोग किया। कीमती पत्थरों की जड़ाई का काम, जो मुगलों के काल में हुआ, pietra dura work कहलाता है। इन सब चीजों का संयोग ऐसी दक्षता से किया गया कि—मुस्लिम वास्तु का प्रत्येक भाग भारत से उधार लिया हुआ होने पर भी—कुल इमारत का रूप-रंग और ढाँचा एक निराले ढंग का देख पड़ता है। प्रत्येक मुस्लिम शैली की प्रशंसनीय विशेषता यह है कि उसके स्वरूप और रचना में अपने रचयिता के चरित्र एवं इतिहास का सजीव प्रतिबिंब है। जेम्स बर्जेस्स ने कहा है—"यदि यह कहना ठीक हो कि किसी देश का इतिहास उसकी वास्तु-कला पर अंकित होता है तो भारत के इतिहास पर उससे जितना प्रखर, अनवरत और विविध पहलुओं पर प्रकाश पड़ता है उतना अन्यत्र कहीं नहीं।" यह कथन मुस्लिम वास्तु-कला के संबंध में भी पूर्णतया लागू है। किसी बादशाह के चरित्र को समझने के लिये उसके भवनों को देख लेना पर्याप्त है।

यहाँ की मुस्लिम कला के उद्गम के बारे में अभी विद्वानों में बड़ा मतभेद है। इस पर शीघ्र ही कोई एक-मत हो जाने की विशेष आशा भी नहीं। इसका एक मुख्य कारण यह है कि कतिपय पाश्चात्य विद्वानों का दृष्टिकोण ही इतना वक्र और संकीर्ण है कि यदि किसी प्राच्य जाति की सभ्यता में कोई अत्यंत उत्कृष्टता का चिह्न देख पड़े, तो उनका हृदय तुरंत इस भय से दहलने लगता है कि इस प्रकार के उदाहरणों से उनकी इस प्रिय धारणा और सिद्धांत की जड़ें हिल जाएँगी कि 'प्राच्य जातियों में सभ्यता के किसी अंग का भी विकास उतनी ऊँचाई को पहुँचा ही नहीं जितना पाश्चात्य देशों में'। उनको यह विश्वास ही नहीं हो सकता कि प्राच्य जातियाँ भी इतनी ऊँची सभ्यता का निर्माण कर सकती थीं! विवश होकर ऐसी परिस्थिति में वे तुरंत यह टटोलने लगते हैं कि इसका स्रोत अवश्य किसी पाश्चात्य जाति में मिलेगा! इस प्रवृत्ति के मनुष्य—जहाँ उन्हें कोई नाम-मात्र को भी सहारा देख पड़ा, तुरंत उससे चिपट जाते हैं, और फिर बड़े गर्व के साथ यह समझते हैं कि उनकी अद्भुत खोज ने उनके प्रिय सिद्धांत की रक्षा कर ली और पाश्चात्य सभ्यता को नीचा देखने से भी बचा लिया! इस वर्ग के लोगों में स्वर्गीय डॉक्टर विंसेंट स्मिथ का नाम अग्रगण्य है! जिस प्रकार उनको यह कहकर बड़ा संतोष होता है कि सिकंदरे-आजम के पाश्चात्य सैनिक-बुद्धिबल के सामने प्राच्य देशों की सेनाएँ ठहर ही नहीं सकती थीं—यद्यपि इस सिद्धांत की वास्तविकता विद्वानों से छिपी नहीं है—उसी प्रकार उनको केवल इतना ही पता चल जाने में बड़ा संतोष होता है कि 'ताजमहल'-जैसी

१. देखिए चित्र नंबर ३
२. देखिए चित्र नंबर ४

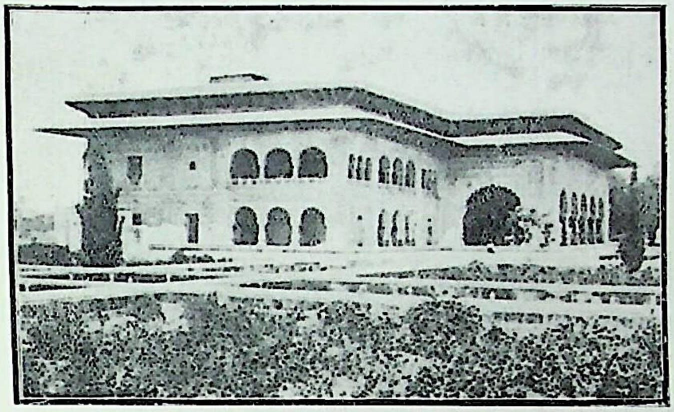

नं० १ —जाट राजाओं के समय का राजप्रासाद, दीग। (पृष्ठ २६५)

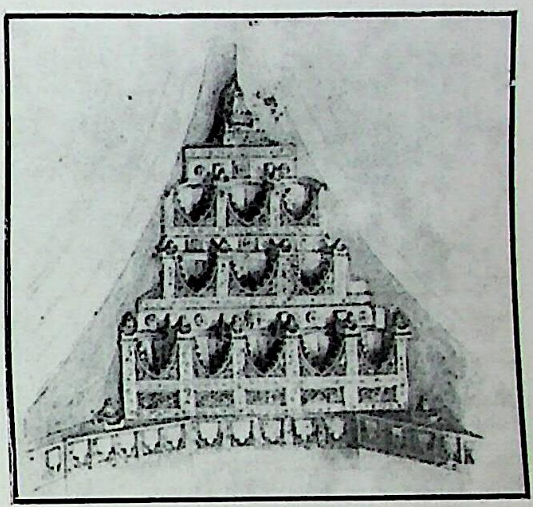

नं० ३ —प्रालंब (Pendentive)। (पृष्ठ २६६)

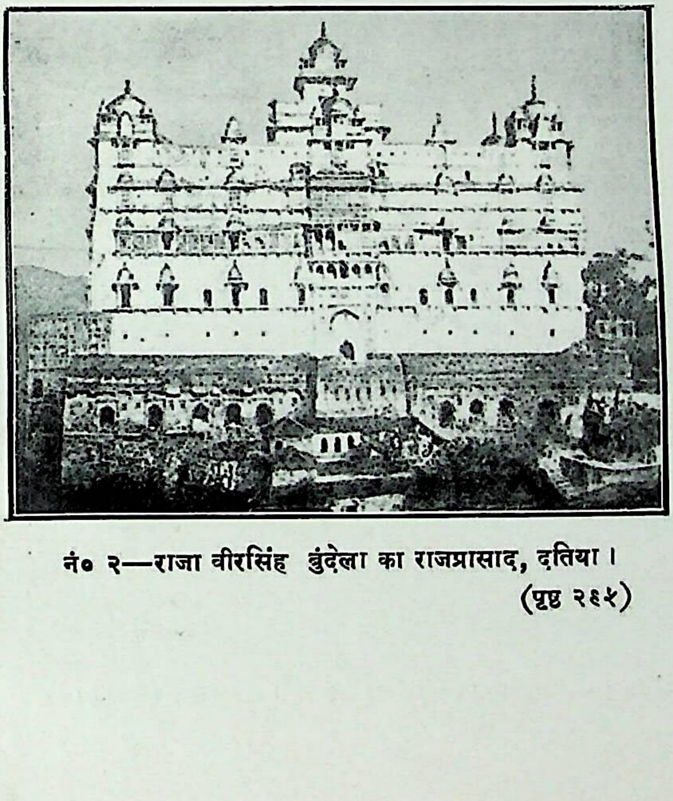

नं० २—राजा वीरसिंह बुंदेला का राजप्रासाद, दतिया। (पृष्ठ २६५)

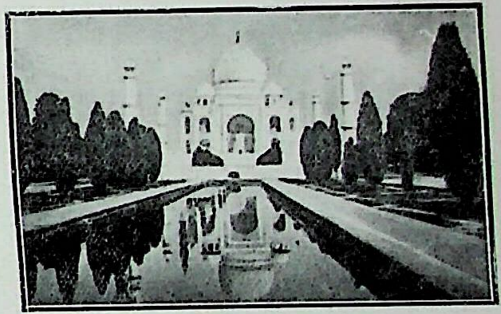

नं० ५ —ताजमह्ल, आगरा। (पृष्ठ २६७)

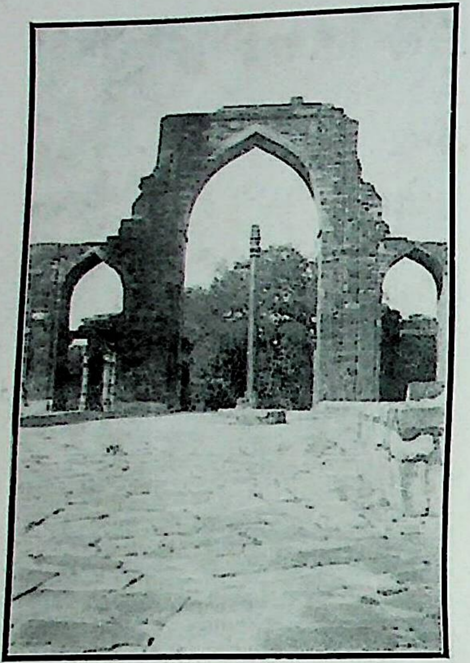

नं० ९— कुवतुल इसलाम मसजिद के सामने की टट्टी का वह भाग जिसे 'ईबक' ने बनवाया था। इसके पीछे नमाज के कमरे के पतले छोटे सतून और छत तथा सामने प्राचीन लोहे की लाट स्पष्ट देख पड़ती है। इसकी रचना प्राचीन नियम के अनुसार, अर्थात् टेंडों के आधार पर (corbelled), है—यह भी साफ देख पड़ता है। (पृष्ठ २९८)

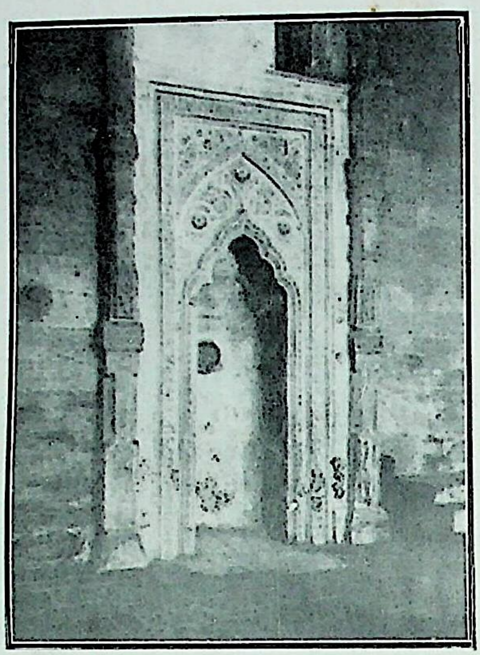

नं० १० —'ढाई दिन का झोपड़ा' के सफेद पत्थर की मेहराब, अजमेर। (पृष्ठ २९९)

◆ ◆ ◆

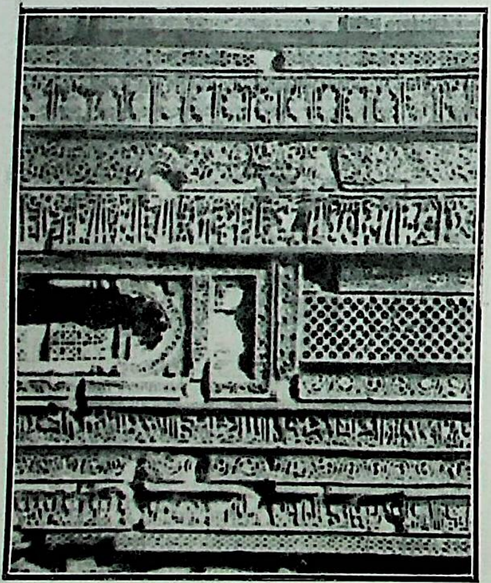

नं० ११—चपटी, रेखाबद्ध, निरूढ़ खुदाई का एक नमूना। (पृष्ठ २९५)

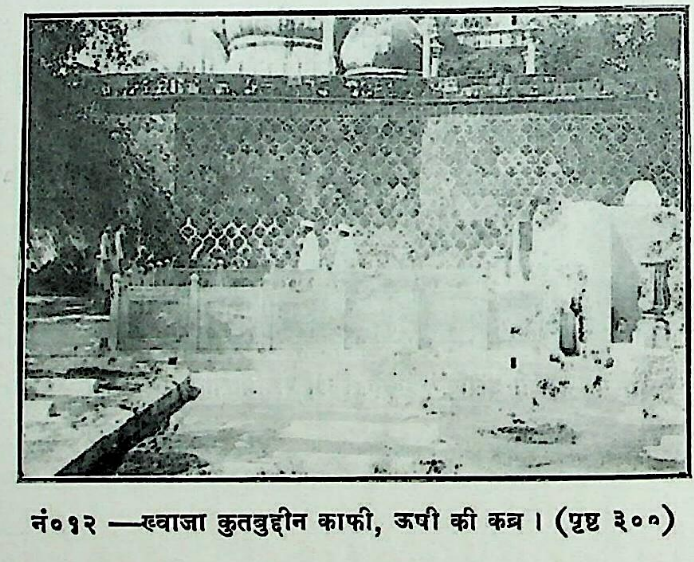

नं०१२ —ख्वाजा कुतबुद्दीन काफी, ऊषी की कब्र। (पृष्ठ ३०७)

अलौकिकसौंदर्य-मंडित इमारत के मुख्य शिल्पी योरोपीय टर्की के निवासी थे और उसका परिलेखक (designer) एक इटेलियन था! इस सिद्धांत की ऐतिहासिक नींव कितनी पोली है, सो यहाँ बतलाने का न अवकाश है न आवश्यकता। इसकी असलियत समझने के लिये वास्तु-कला के मोटे-मोटे चिह्नों के जाननेवाले के लिये भी 'ताज' को एक बार देख लेना काफी है। उसमें पाश्चात्य कला का चिह्न ही नहीं है—उसका आदर्श, उद्देश्य और कल्पना सर्वथा भारतीय हैं (देखिए चित्र नंबर ५)। 'ताज' अपने रचयिताओं के बारे में स्वयं अपना साक्षी है। परंतु इस संबंध में मुख्य प्रश्न यह नहीं है कि अमुक भवन के रचयिताओं में कोई पाश्चात्य भी थे या नहीं, वरन् यह है कि भारत की मुस्लिम कला का क्या कोई अंग अथवा उसके उद्देश्य और आदर्श बाहरी हैं? इस प्रश्न पर किसी निष्पक्ष विद्वान् के दो मत नहीं हो सकते; क्योंकि यहाँ भी मुसलमानों ने वही काम किया जो वे अन्य सब देशों में करते आए थे--अर्थात् उन्होंने स्थानीय वास्तु-कला को अपनी आवश्यकता और सिद्धांतों के अनुकूल बदल डाला। 'फर्गुसन'-जैसे विद्वान् ने भी यह समझने में भूल की है कि पठान-सुलतानों ने एक नई शैली का आविष्कार किया। वास्तव में न तो पठानों की कोई नई शैली थी, न तुर्कों या मुगलों की। वे सब पुरातन कला के रूपांतर थे। हिंदू-घरों और मंदिरों तथा बौद्ध विहारों के चौक और दालान मसजिदों के नमाज-गाह बन गए! देवालय (niches) मेहराब के रूप में मसजिदों में मक्के की तरफ बनाए जाने लगे; क्योंकि वे वहाँ भी खुदा का स्थान माने जाते हैं, केवल वहाँ कोई प्रतिमा नहीं होती। भारतीय जयस्तंभों को देखकर महमूद गजनवी ने यहीं के कारीगरों से गजनी में मीनारें बनवाईं। उसी की नकल करके मसजिदों के ऊपर, और अलग जयस्तंभ-रूप में भी, मीनारें यहाँ बनाई गईं। सतून, वेदिका (railing), छज्जे (eaves), टोड़े (bracket), अलिंद (balcony), कानस (cornice), तोरण (lintel), प्रस्तर (entablature) इत्यादि अनेक वस्तुएँ बिलकुल भारतीय ही मुस्लिम वास्तु में पाई जाती हैं। सजावट या खुदाई में भी बहुत-से भारतीय आदर्श चित्रों (नमूने, motifs) का प्रयोग हुआ; परंतु इसमें बहुत-सी बाहरी मिलावट भी हुई। गुंबद और अर्धस्तूपी डाट (semi-dome arch) के उद्गम के प्रश्न पर बड़ा मत-भेद है; परंतु इतना निश्चय है कि इन दोनों का विकास भी भारतीय कला के मूल तत्त्वों के आधार पर ही हुआ है। इस प्रकार अपनी वास्तु-कला के प्रायः सभी अवयव मुसलमानों ने भारतीय कला से लिए; परंतु केवल इतने ही से कला के नए रंग-रूप में लालित्य और अन्य आवश्यक लक्षण आ जायँ, यह आवश्यक नहीं। इसके लिये उन अवयवों के समुचित संयोग की परम आवश्यकता है। मुसलमानों की प्रतिभा का प्रमाण इसी में है कि उन्होंने इस सामग्री का ऐसी उत्तम रीति से प्रयोग किया कि उसमें से एक सर्व-गुण-संपन्न नवीन कला अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व लिए हुए उद्भासित हो उठी।[१]

मुस्लिम वास्तु-कला में सर्वोपरि महत्त्व दिल्ली का है। यहाँ की शैली को प्रांतीय शैलियों की अपेक्षा से हम केंद्रीय शैली कहेंगे। यहीं पर पहले-पहल मुसलमानों ने मसजिदें आदि बनाईं,

---

[१] इस विषय की विस्तृत विवेचना करने का यहाँ अवकाश नहीं। इसलिये अति संक्षेप में ही उसके मुख्य अंगों के दिग्दर्शन कराने का प्रयास किया गया है।

जो कला की दृष्टि से अत्युत्तम कोटि की इमारतें हैं। यहाँ पर उनके आदर्श उदाहरणों का वर्णन करना ही पर्याप्त होगा। सन् ११९१ ई० में महाराजा पृथ्वीराज को हराकर, उसकी राजधानी पर अधिकार करते ही, मुहम्मद गोरी के सेनापति कुतबुद्दीन ईबक ने सैकड़ों मंदिरों को तोड़कर कई इमारतें 'लालकोट' नामी किले के अंदर बनवाईं। इनमें सबसे पहली और उत्तम 'कुवतुल् इस्लाम मसजिद' है। यह साधारण मसजिदों के आसन (ground plan) पर ही बनी है। चार तरफ दालान, बीच में बड़ा सहन और पच्छिम तरफ का दालान पूजागृह (जाए-नमाज) है। बाकी तीन तरफ बीच में दरवाजे हैं। इसे देखने से साफ पता लग जाता है कि उसी स्थान पर पहले कोई हिंदू-मंदिर था, जिसका आसन (plinth) अब तक विद्यमान है। इसमें सिर्फ पच्छिम के दीवार की पाँच मेहराबों (niches) को छोड़कर, जो नए प्रकार की हैं, शेष सब चीजें हिंदू-प्रकार की हैं। इसके स्तंभ, तोरण, छत आदि तो ज्यों के त्यों मंदिरों से लाकर लगा दिए गए हैं, केवल उनके ऊपर की मूर्त्तियाँ तोड़ दी गई हैं। सन् ११९८ ई० में पूजा-गृह (नमाज के कमरे) के सामने तीन सादी डाटों की टट्टी बनवाई गई, जिसमें बीच की डाट तिरपन फोट ऊँची है और बाकी दो छोटी हैं जो पहले दुमंजिला थीं। (देखिए चित्र नंबर ६)। इनको, त्रिकोणाकार होने के कारण, फर्गुसन ने 'घोड़े की नाल के आकार की डाट' (horse-shoe arch) नाम दिया है; परंतु हेवेल् 'पद्मपत्राकार डाट' (lotus-leaf arch) कहता है। इन डाटों के अग्रभाग (facade) की खुदाई बड़ी अद्भुत है। नम्य फूल-पत्तियाँ और नैसर्गिक बेलों की सजीव पट्टी पर पट्टी और तुगरा-लिपि में क़ुरानी आयतें बड़ी अद्वितीय दक्षता से खोदी गई हैं। (देखिए चित्र नंबर ७)। यह डाट भी पुरातन रचना-नियम (principle of construction) के अनुसार,

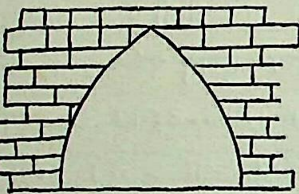

रेखा-चित्र नं० १

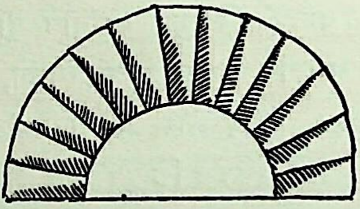

रेखा-चित्र नं० २

अर्थात् टोड़ों (corbels) पर बनी है (रेखा-चित्र नं० १), त्रिज्याकार (radiating principle) पर नहीं (रेखा-चित्र नं० २)। यह टट्टी वैसे तो बड़ी उत्तम है; परंतु इतनी भारी और दीर्घकाय है कि पीछे के पूजागृह और उसके पतले-पतले सतूनों के साथ बड़ी ही बे-जोड़ प्रतीत होती है। पुरातन लोहे की लाट, जिसे कदाचित् अनंगपाल सन् १०५२ ई० में मथुरा से लाया हो, इसी टट्टी के सामने खड़ी है। यह मसजिद मुसलमानों की सबसे पहली इमारत है। फिर सन् १२०० ई० में महाराज पृथ्वीराज के पितामह विग्रहपाल—या बीसलदेव—के बनवाए हुए संस्कृत-विद्यालय को तुड़वाकर कुतबुद्दीन ने एक वैसी ही मसजिद अजमेर में बनवाई। यह 'ढाई दिन का झोपड़ा' नाम से मशहूर है (देखिए चित्र नंबर ८)। इस नाम के बारे में कई दंतकथाएँ प्रचलित हैं। कोई कहता है, यह ढाई दिन में बनी

थी। कोई कहता है, यहाँ ढाई दिन तक मरहठों का एक मेला लगा करता था। इन सबमें यही कथा सबसे अधिक संभाव्य मालूम होती है कि इसमें प्रति वर्ष कलंदर[1] लोग ढाई दिन के लिये एकत्र हुआ करते थे; और चूँकि वे अपने रहने के स्थान को 'झोपड़ा' ही कहते हैं (अर्थात् महलों में रहना पसंद नहीं करते), इसलिये इसे भी झोपड़ा ही कहते थे। इस मसजिद का क्षेत्र अपनी दिल्ली की बहन से दुगुना बड़ा है और अधिक शानदार भी है। इसका नमाज-घर उससे बड़ा और छतें भी ऊँची हैं। सतून भी अधिक अच्छे ढंग पर लगाए गए हैं। (देखिए चित्र नंबर ६)। बाकी तीन दालान अधिक चौड़े और बजाय कई स्तंभ-पंक्तियों के (colonnades) एक ही पंक्ति पर पटे हैं। दिल्ली में कई पंक्ति और छत नीची होने से दालान काफी खुला नहीं है। पिछला दालान, जो जाए-नमाज है, बड़ा सुंदर और निर्दोष है। उसके पीठ की दीवार के बीचोबीच सफेद पत्थर की मिहराब (चित्र नं० १०), जिस पर अत्युत्तम खुदाई का काम है, लाल पत्थर में एक रत्न-सी प्रतीत होती है। पूरब की दीवार के कोनों पर दो बड़े-बड़े गोल 'वप्र' (bastions) हैं, जो दिल्ली में नहीं हैं। यहाँ भी अल्तमिश ने नमाज-घर के सामने एक टट्टी खड़ी करवाई। परंतु यह उतनी सुंदर नहीं है। रचना-नियम और दृढ़ता में तो यह ठीक है; परंतु बहुत ही भारी और असंगत है। इसकी बाहरी खुदाई और सजावट भी उतनी अच्छी नहीं है। बीच की डाट के ऊपर दो मीनारें एकदम व्यर्थ रख दी गई हैं। डाट के कोनों में कमल बहुत छोटे और निर्जीव हैं। इसी प्रकार के कई दोष इस टट्टी में हैं। सन् १२३० ई० में अल्तमिश ने दिल्ली के मसजिद की टट्टी के दोनों तरफ मिहराबें बढ़ाकर और सहन को नए दालान बनाकर इतना बढ़ा दिया कि उसका क्षेत्र-फल दुगुना हो गया और कुतुबमीनार भी इसके अंदर आ गई। नए दालानों के सतून आदि सब नए पत्थरों के बनवाए गए; परंतु फिर भी सब हिंदू-प्रकार के ही हैं। टट्टी की डाटें भी टोड़ों के नियम पर ही हैं। हाँ, इसकी खुदाई में विशेष परिवर्त्तन किया गया। पहली डाटों की खुदाई में तुगरा-लेखों को छोड़कर और सब कुछ हिंदू-प्रकार का काम है, परंतु नई डाटों में वह निर्जीव, चपटी, रेखाबद्ध और निरूढ़ है। (चित्र नं० १२)। उसके प्रतिरूप (models) अन्य मुस्लिम देशों के समान हैं। इस कारण यह पहली टट्टी-जैसी सुंदर और सजीव तो नहीं है; पर एक मुस्लिम इमारत में सुसंगत है। इसके बाद अलाउद्दीन खिलजी ने मसजिद का तीसरा सहन बनवाया जो बहुत ही बड़ा है।

कुतुबमीनार—इसके विषय में अभी कोई मत स्थिर नहीं है कि यह विशुद्ध मुस्लिम इमारत है या कोई हिंदू-जयस्तंभ, जिसको बदलकर मुसलमानों ने अपनी फतह की यादगार बना ली हो। मार्शल कहते हैं—'ऐसा जान पड़ता है कि यह कुतुबी मसजिद का मुअज्जिना (जहाँ से अजाँ दी जाती है) है।' किंतु उनका यह मत बिलकुल निराधार है। इन दोनों को देखते ही पता चल जाता है कि इसका मसजिद से कोई संबंध ही नहीं है। इसकी थली मसजिद के आसन से बहुत नीची है। फारसी और अरबी लिखावट इसमें पीछे खोदी गई जान पड़ती है। अतएव संभव है कि बीसलदेव ने दिल्ली-विजय करने पर इस

[1] वे फकीर जो शरीयत के पाबंद न हों।

जयस्तंभ को बनवाना शुरू किया हो। आंतरिक प्रमाणों से जान पड़ता है कि 'ईबक' के समय में इसकी एक ही मंजिल थी और शेष अल्तमिश ने बनवाई। फीरोज तुगलक और सिकंदर लोदी ने भी इसकी मरम्मत कराई। इसकी ऊँचाई लगभग ढाई सौ फीट है। नीचे की तीन मंजिलें अंदर तो हरे चट्टानी पत्थर की हैं और बाहरी आवरण लाल पत्थर का है। ऊपर की दो मंजिलें अंदर लाल पत्थर की हैं और उनका बाहरी आवरण अधिकतर सफेद पत्थर का है। यह मीनार इतनी गंभीर और दिग्गज है कि इसके पास जाते ही इसका रोब मन को प्रभावित कर लेता है। परंतु इसमें वह भव्यता और गुह्य सौंदर्य नहीं है जो राणा कुंभ के चित्तौरगढ़वाले जयस्तंभ में है। इसका नाम एक सूफी ख्वाजा कुतबुद्दीन काकी, उष-नगर-निवासी, की स्मृति में रक्खा गया था। इस सूफी को कब्र थोड़ी ही दूर पर 'महरोली' (मेहरेवली) गाँव में है। (चित्र नं० १२)

इस प्रकार मुस्लिम वास्तु-कला का एक पद (stage) समाप्त हुआ। यहाँ तक कि इमारतें प्रायः संपूर्णतया हिंदू-प्रकार की थीं। इसके बाद इसमें उत्तरोत्तर परिवर्त्तन शुरू हुआ। सबसे पहले हिंदू-प्रभाव से बचने का यत्न अल्तमिश की कब्र में, जो मसजिद के उत्तर-पश्चिम में है, किया गया। परंतु यह प्रयत्न असफल रहा—इमारत की रचना-शैली न इधर की रही न उधर की, बहुत भद्दी हो गई। फिर भी इसमें खुदाई और तुगरा-लेख अत्युत्तम हैं। इसकी छत पर एक चपटा-सा गुंबद रहा होगा, ऐसा जान पड़ता है। इसके बाद खिल्जी-काल तक कोई उल्लेखनीय इमारत न बनी। जो कुछ कब्रें आदि बनीं भी, उनमें 'बलबन' के समय तक रचना-शैली भी वही रही। बलबन के समय में एक विशेष महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन यह हुआ कि डाटें पहले-पहल त्रिज्याकार (radiating) नियम पर बनीं। हिंदू-रचना-शैली के विरुद्ध प्रतिकार का यह बड़ा आवश्यक चिह्न था। इसी प्रकार धीरे-धीरे पुरातन शैली को बदलते हुए, खिल्जी-काल तक, मुस्लिम रचना-शैली के सिद्धांत और उसकी परंपराएँ स्थिर एवं परिपक्व हो गईं। इस परिवर्त्तन में दो बातें मुख्य थीं—(१) निर्माण-विधि (method of construction) में परिवर्त्तन, और (२) अलंकरण-(सजावट)-विधि में परिवर्त्तन। हिंदू अलंकरण एक सर्वथा स्वतंत्र और भिन्न विषय है। जैसे हरे फूल-पत्तों के तोरण, बंदनवार आदि मंडपों के अलंकरण के लिये लगाए जाते हैं वैसे ही पत्थर के फूल-बेल उन्हीं के अनुरूप मानों सजीव ही होते हैं। इसके प्रतिकूल मुसलमानों ने अपने अलंकरण के विषयों को वास्तु का एक अभिन्न भाग बना लिया। इस परिवर्त्तन का प्रभाव खिल्जी इमारतों में स्पष्ट दीखता है। इनमें दो इमारतें उल्लेखनीय हैं—(१) अलाई-दरवाजा, और (२) जमाअतखाना मसजिद।

अलाई-दरवाजा—(चित्र नंबर १३) हम ऊपर कह आए हैं कि अलाउद्दीन ने कुवतुल इस्लाम मसजिद के सहन को बहुत बढ़वाया था। उसके दक्खिन की ओर यह दरवाजा बनाया गया था। इसका कुछ भाग गिर भी गया है। यह चौकोर इमारत है जिसकी चारों दीवारों के बीच में द्वार, उनके इधर-उधर जालीदार खिड़कियाँ और छत एक चपटे गुंबद की है। यह द्वार सर्वांगसुंदर और निर्दोष है। इसमें खुदाई और संगमरमर की जड़ाई का काम इतना घना और सुंदर है कि जिसकी उपमा

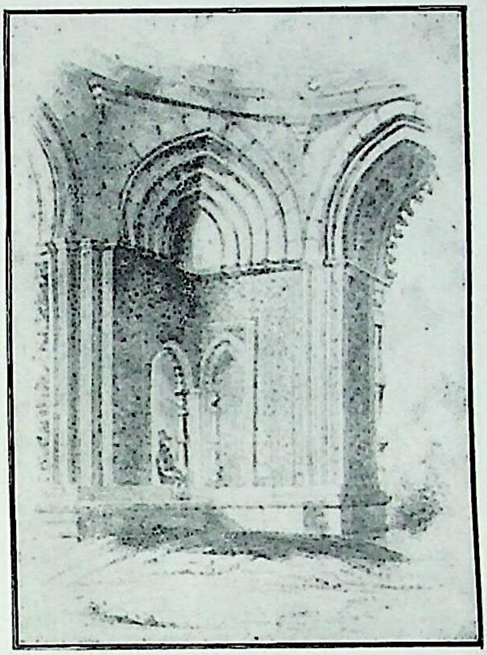

नं० ४ —कोनिहाई डाट (कमानी, squinch arch) । (पृष्ठ २९६)

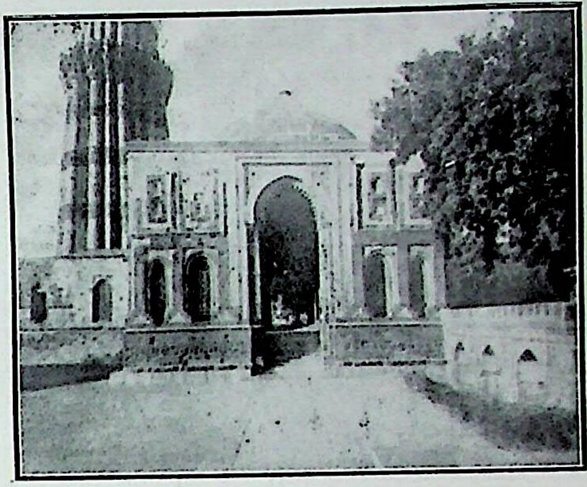

नं० १३ —अलाई-दरवाजा, दिल्ली । (पृष्ठ ३००)

◆

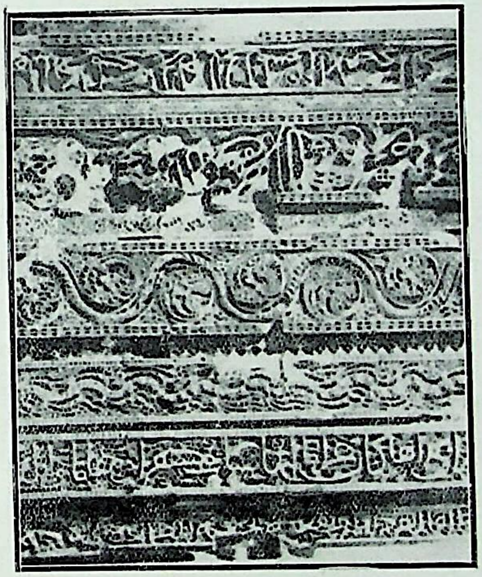

नं० ७ —कुवतुल इसलाम मसजिद की टट्टी के 'ईबक'-रचित भाग के सामने की खुदाई, जिसमें फूल-वेल नैसर्गिक और सर्वथा हिंदू-प्रकार के हैं । (पृष्ठ २९८)

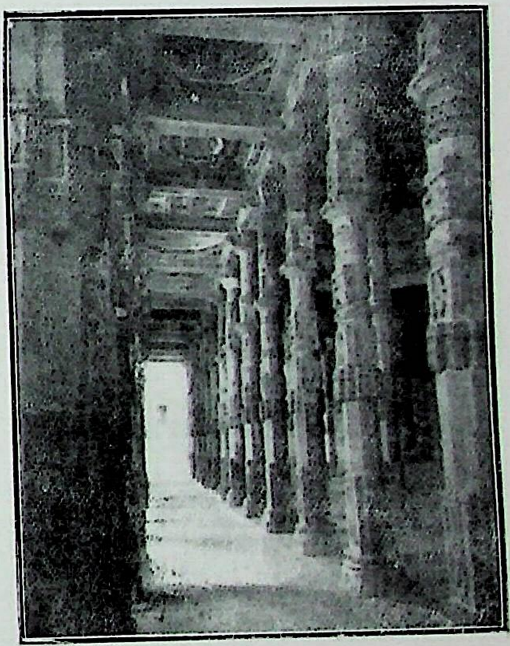

नं० ९—'ढाई दिन का झोपड़ा' के नमाज के दालान का एक भाग, अजमेर । (पृष्ठ २९९)

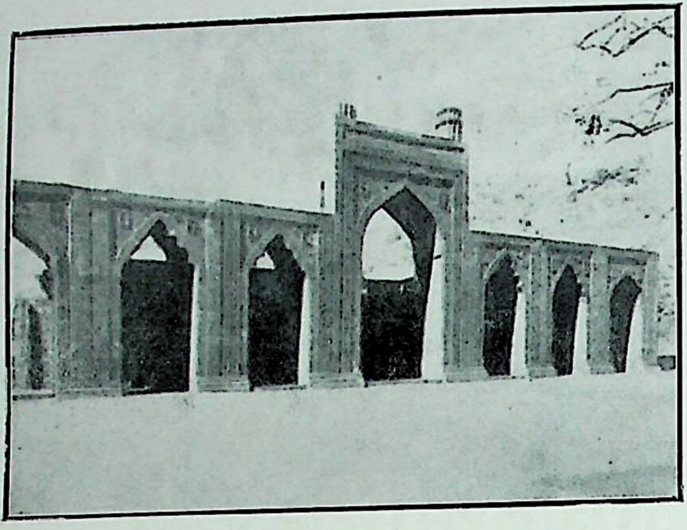

नं० ८—'ढाई दिन का झोपड़ा,' अजमेर । (पृष्ठ २९८)

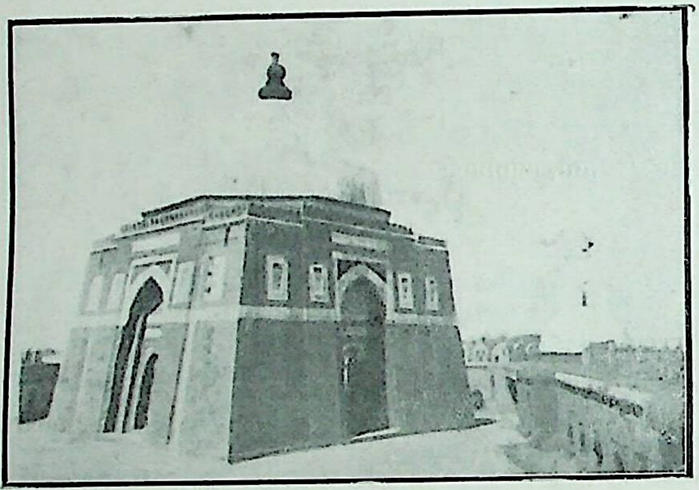

नं० १५—गयासुद्दीन तुगलक (तुगलकशाह) की कब्र । (पृष्ठ ३०३)

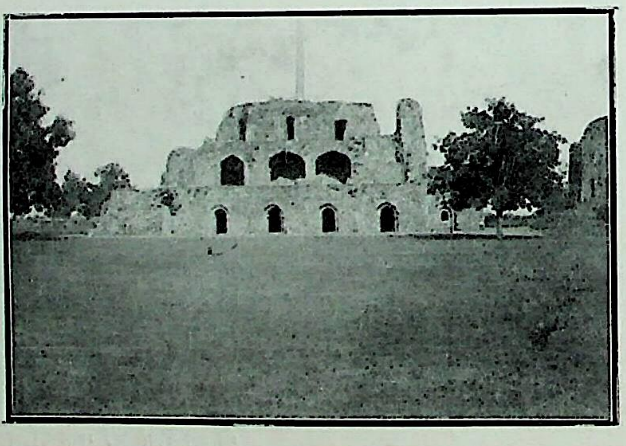

नं० १६—फीरोज तुगलक के किले में अशोक-स्तंभ ।
(पृष्ठ ३०५)

मिलना कठिन है। द्वारों की डाटों के अंदर (interados पर) एक पुष्प-माला की झालर अत्यंत सुंदरता से लगाई है। लाल पत्थर के अंदर सफेद पत्थर की जड़ाई इसकी विशेषता है। दीवारों पर रेखाबद्ध प्रतिरूप (geometrical patterns), अरबी रेखा-चित्र और तुगरा-लेख बड़ी सुंदरता से खुदे हैं। समस्त सजावट अत्यंत सुव्यवस्थित और सुसंगत है। दरवाजे के अंदर उसके बाहरी सौंदर्य के स्थान पर एक गांभीर्य का दृश्य प्रतीत होता है। इसका संपूर्ण समत्व इसकी विशेषता है।

जमाअतखाना मसजिद—यह लगभग सर्वांग मुस्लिम शैली पर बनी हुई पहली मसजिद है। (चित्र नं० १४)। यह कुतुब से कोई छः मील उत्तर-पूर्व की तरफ, निजामुद्दीन औलिया की दरगाह में, स्थित है। इसमें तीन कमरे हैं—बीच का चौकोर और दो आयताकार (oblong); तीनों में बड़े-बड़े डाटदार द्वार हैं। यह ध्यान देने की बात है कि इन डाटों के कोनों (spendrils) में पद्म-मुद्रा (lotus) विद्यमान है, जो हिंदू-कला का मूलाधार और सर्वव्यापक अलंकरण है। मुसलमानों ने उसके तत्त्व को शायद कभी समझा ही नहीं; परंतु बहुत उपयुक्त पाकर सदैव उसका उपयोग करते रहे। कहा जाता है कि पहले तो अलाउद्दीन के बेटे 'खिज्र खाँ' ने इस मसजिद का बीचवाला कमरा निजामुद्दीन की कब्र के लिये बनवाया था; फिर शेरशाह ने बाकी दो कमरे बनवाए। परंतु ये दोनों इतनी उत्तमता से पहले की दीवारों में मिला दिए गए हैं कि सारी इमारत एक साथ ही बनी जान पड़ती है। बीच के कमरे पर एक गुंबद कोनिहाई डाटों (squinch arches) पर बना है। दोनों तरफ के कमरों पर दो-दो छोटे गुंबद त्रिकोण प्रालंबों (pendentives) पर टिके हुए हैं।

अब यहाँ पर संक्षेप में इस बात की व्याख्या कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि कोनिहाई डाट, प्रालंब आदि का विकास क्यों और किस प्रकार हुआ तथा छतों के बनाने में इनसे किस प्रकार सहायता ली गई। पहले से ही इस विषय में दो मुख्य समस्याएँ थीं—(१) किसी इतने बड़े मंडप का आच्छादन (roof) बनाना जिसके लिये काफी बड़ी गोपानक (beam) या पत्थर की पट्टी न मिले, (२) इसमें कला के नियमों का उल्लंघन न करना। ये दोनों प्रयोजन बड़ी उत्तमता से सिद्ध किए गए।

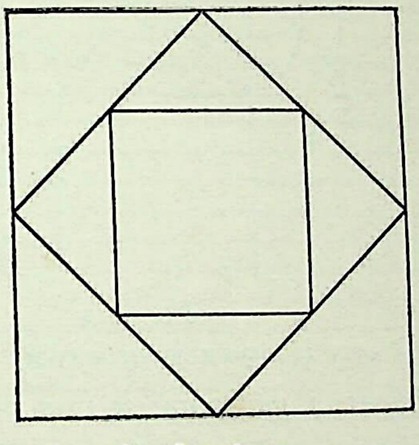

रेखा-चित्र नं० ३

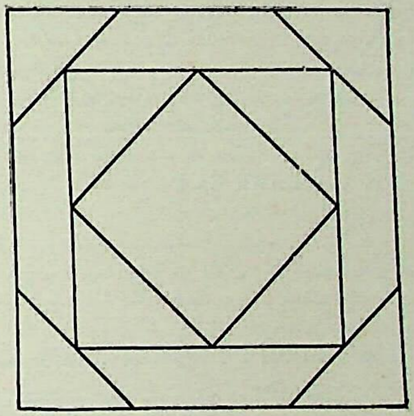

रेखा-चित्र नं० ४

बड़े मंडप को आच्छादित करने की एक रीति तो यह थी कि दीवारों के ऊपर चारों कोनों पर तिकोनी पट्टियाँ रखकर खुली जगह को धीरे-धीरे कम कर देते थे और फिर बीच में एक चौरस पट्टा रख दिया जाता था। (देखिए रेखा-चित्र नं० ३ और ४)। छत बनाने की यह रीति मुस्लिम काल में बहुत प्रचलित रही, विशेषतया अकबर की इमारतों में। यदि चौरस छत के स्थान पर गुंबद (स्तूपी) बनाना हो, तो पहले यह आवश्यक है कि उसका आधार (basement) गोल होना चाहिए और इतना मजबूत भी कि गुंबद का बोझ सँभाल सके। इस समस्या को हल करने के लिये पहले पटाव के स्थान के कोनों पर कोनिहाई डाट या प्रालंब (squinch arch or pendentive) इस प्रकार बनाया जाता है कि लब्ध आकार अष्टभुजा हो जाय। फिर इस अष्टभुजा को सीधी पट्टियाँ रखकर षोडशभुजा-रूप दे दिया जाता है, जो लगभग वृत्ताकार (circular) ही होवा है। इस पर यदि आवश्यकता हो तो एक छोटी वृत्ताकार ग्रीवा भी बना दी जाती है और तब उसके ऊपर स्तूपी बनाया जाता है। (देखिए रेखा-चित्र नं० ५)। पहले तो इसके ऊपर ही गुंबद उठा दिया जाता था, परंतु बाद में ग्रीवा को लंबा बनाने की आवश्यकता हुई, जिसकी व्याख्या आगे की जाएगी। इस प्रकार, कोई मंडप चाहे बाहर से अष्टभुज हो या चतुर्भुज, उसके ऊपर गुंबद बनाने में दृढ़ता और सुंदरता का संयोग बड़ी विलक्षणता एवं उत्तमता से किया गया। आगे चलकर गुंबद की रचना में बहुत बड़ा विकास हुआ। पठान-काल में प्रायः सभी गुंबद बैठे हुए और अर्द्धगोलाकार बनते थे, उनका आधार किसी उठी हुई ग्रीवा (neck) पर नहीं होता था। वे चपटे और गैंठे देख पड़ते हैं। लोदियों के समय तक उनके चारों ओर छोटी-छोटी छतरियाँ और दीवारों के ऊपर कँगूरे बनाने की रीति भी प्रचलित हो गई। इनके कारण गुंबद पीछे पड़ जाता और ढँक जाता।

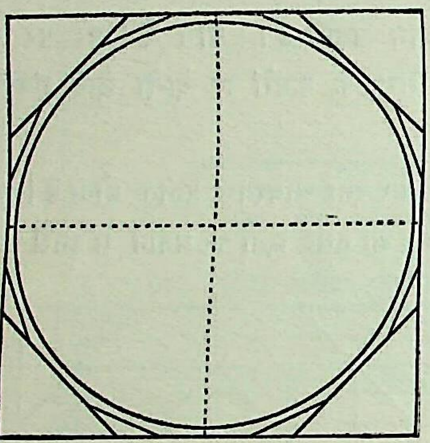

रेखा-चित्र नं० ५

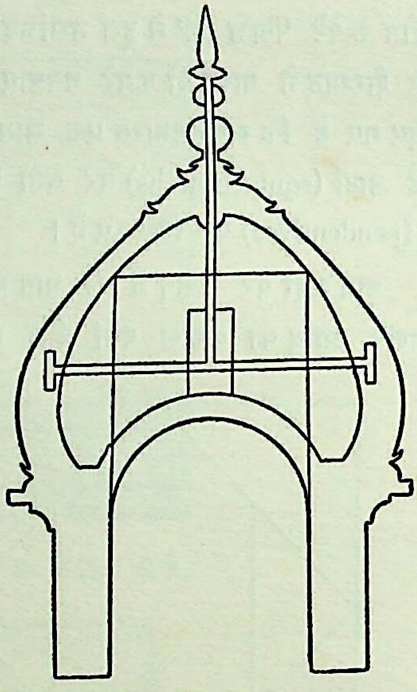

रेखा-चित्र नं० ६

अतएव उसे ऊँची ग्रीवा के ऊपर बनाना शुरू किया और साथ ही स्वयं उसका रूप भी पूर्ण गोलाकार—अर्थात् कुछ लंबा—हो गया। परंतु ग्रीवा और गुंबद दोनों के ऊँचा हो जाने से अंदर की ऊँचाई बेडौल दीखने लगी। इसे सुडौल और परिमित करने के लिये दोहरे गुंबद (double-dome) की रचना हुई। (देखिए रेखा-चित्र नं० ६)। इस गुंबद के बारे में कतिपय पाश्चात्य लेखकों का मत है कि यह फारस के द्वारा बगदाद से यहाँ लाया गया। परंतु हेवेल् एवं अन्य कई पुरातत्त्वज्ञों का मत यह है—"यदि तत्कालीन हिंदू-मंदिरों के मंडप के छत की ऊपरी खुदाई और सजावट को छील दिया जाय तो उसका वही आकार निकल आवेगा जो पठानी गुंबदों का है। हिंदू कारीगरों ने जैसी आवश्यकता देखी वैसा परिवर्त्तन करके उसे बना दिया; क्योंकि इस्लाम में मूर्त्तियों का बनाना निषिद्ध था।"[1] तथापि प्रत्येक गुंबद के ऊपर 'आमलक' (पद्म-फल)—जो बौद्ध और हिंदू चिह्न है—अवश्य मिलता है; क्योंकि मुसलमानों को यह पता ही न लगा कि इसका संबंध विष्णु-पूजा से है! उक्त महाशय के मतानुसार अर्द्धस्तूपाकार दोहरी डाट (semi-dome, recessed arch) फारस की मुस्लिम इमारतों से ली गई; परंतु वहाँ भी वह बौद्ध स्थविरों के देवालयों के निकेतन (Niched Shrine) का ही रूपांतर थी।

खिलजी-वंश की कला के संबंध में केवल एक बात और उल्लेखनीय है। दिल्ली बहुत बार बसाई गई। कम से कम दिल्ली के सात पृथक्-पृथक् नगरों के खँड़हर तो अब तक मिलते हैं। उनमें से दूसरी दिल्ली अलाउद्दीन की थी, जो 'सिरी' के नाम से विख्यात है। इसके भग्नावशेषों से उस समय की सामरिक वास्तु-कला का पता लगता है। चहारदीवारी में अंदर की तरफ एक चौड़ी ऊँची पटरी (berm) डाटों पर बनी हुई है। बाहर की तरफ पटरी के सामने दीवार ऊँची उठी हुई है और कँगूरेदार है, जिसमें निशाना लगाने के छिद्रों की एक पंक्ति है।

तुगलक-कालीन शैली—इस काल में वास्तु-कला में बड़ा गहरा परिवर्त्तन हुआ। एक तो खिलजी-सुलतानों की फजूलखर्ची और अत्याचारों से जनता में बड़ा असंतोष था। दूसरे, तुगलकशाह स्वयं सादे चरित्र का था। इसका प्रभाव उसकी कब्र पर पूरी तरह देख पड़ता है (चित्र नं० १५)। इसे 'गयासुद्दीन' ने स्वयं अपने लिये बनवाया था। इसमें खिलजी-इमारतों की-सी सजावट, तड़क-भड़क और प्रतिभा नहीं है; बल्कि इसकी आकृति से शाल और गांभीर्य टपकता है। धीरे-धीरे यह गांभीर्य इतना बढ़ा कि इसने कठोर सादगी का रूप धारण कर लिया। इस शैली पर उस घटना का भी बहुत प्रभाव पड़ा होगा—जब मुहम्मद तुगलक दिल्ली से राजधानी उठाकर देवगिरि ले गया तब दिल्ली ऊजड़ हो गई और वहाँ कोई प्रवीण कारीगर न रहा! परंतु ऐसा प्रतीत होता है कि सबसे गहरा प्रभाव तत्कालीन सामरिक परिस्थिति का पड़ा है। उस समय स्थानीय वायुमंडल में भी बहुत विद्रोह-विष भरा हुआ था और मुगलों के बड़े भयानक आक्रमण हो रहे थे। गयास का बनवाया हुआ 'तुगलकाबाद' (तीसरी दिल्ली) एक बड़ा बीहड़ और भयावह किला है। इसकी दीवारें और 'वप्र' (bastions) बड़े डरावने मालूम होते हैं। इसके द्वार बड़े ढालू, तंग और खुरदरे चट्टानों के बने हुए हैं। दीवारों में

---

[1] "हैंडबुक आफ इंडियन आर्ट"—(संस्करण १९२०) पृष्ठ ११२

निशाना लगाने के छिद्रों (loop-holes) की कई पंक्तियाँ ऊपर-नीचे हैं। इससे स्पष्ट है कि यह किला किसी बड़े भय के समय जल्दी में बनाया गया था। तथापि गयासुद्दीन की कब्र, उतनी ही गंभीर होने पर भी, इतनी भयानक नहीं है। उसकी मोटी-मोटी ढालू दीवारों को देखकर मिस्र के सूची (pyramids) याद आ जाते हैं। इस गहरे गांभीर्य को कुछ हल्का करने के लिये दीवार के उत्तरार्द्ध में सफेद पत्थर का जड़ाव है और गुंबद सारा का सारा सफेद पत्थर का है। परंतु इसका शिल्प-संपादन पर्याप्त रूप से परिष्कृत नहीं हुआ है।

मुहम्मद तुगलक की कुछ उल्लेखनीय इमारतें ये हैं—(१) 'आदिलाबाद', जो तुगलकाबाद का परिशिष्ट मात्र है। (२) 'जहाँपनाह', जो चौथी दिल्ली है—पुरानी दिल्ली (पृथ्वीराज की) और 'सिरी' के बीच में जो अरक्षित भाग था वह उन दोनों शहरों की दीवारों को दो तरफ से जोड़कर रक्षित कर दिया गया—ये नई दीवारें बारह गज चौड़ी और बिना कटे पत्थरों (rubble) की बनी हैं। (३) 'विजय-मंडल', जो एक मीनारनुमा महल है और जिसकी विशेषता यह है कि इसमें पद्म-पत्राकार डाटें खिलजी की-सी हैं और चौपड़नुमा डाटदार छत का दालान है; यह दालान तुगलक-इमारतों का एक विशेष चिह्न था। (४) 'एक अज्ञात कब्र', जिसकी खिड़कीदार ग्रीवा और उस पर एक बैठा हुआ गुंबद है; यह तुगलक-शैली की इमारतों में अत्यंत सुंदर है। (५) 'एक दुमंजिला पुल', जिसके द्वारा एक झील से पानी उठाकर शहर के अंदर पहुँचाया जाता था। ध्यान रहे कि तुगलक-इमारतों में प्रायः लाल पत्थर की जगह स्थानीय पहाड़ी अनगढ़ चट्टानों का उपयोग किया गया है।

कहा जाता है कि फीरोज तुगलक ने बहुत-से किले, शहर, महल, नहरें, कब्रें, मसजिदें, मदरसे, सराय, पुश्ते इत्यादि बनवाए थे। उसकी सभी इमारतें स्थानीय पत्थर के अनगढ़ टुकड़ों की बनी हैं। इसकी आवश्यकता इसी लिये पड़ी कि इतनी अनगिनत इमारतों को बनाने के लिये न तो आसानी से बढ़िया पत्थर ही काफी मिल सकता था, न रुपया ही। इन इमारतों पर सफेद पलस्तर था, जो अब गिर गया है। फीरोज की इमारतों में सादगी और सरलता के साथ दृढ़ता और नीरस उपयोगिता का बड़ा विलक्षण संयोग है। उदाहरण के लिये कह सकते हैं कि इसकी छतें छोटे-छोटे गुंबदों की हैं, सतून छोटे और मोटे तथा मजबूत हैं; परंतु उनको आभूषित करके आकर्षक बनाने का यत्न नहीं किया गया है। 'मार्शल' की राय है कि इन इमारतों में हिंदू कारीगरों से काम नहीं लिया गया, यह स्पष्ट है, अन्यथा वे उनमें अवश्य सजीवता का मंत्र फूँक देते। देखने में इनका रंग-रूप बहुत-कुछ मुसलमानी ढंग का हो गया है, तो भी हिंदू आदर्श-चित्रों (motifs) का बहुत अधिक प्रयोग किया है। पद्म-पत्राकार डाट की जगह सीधा तोरण, सतून, टोड़े (brackets), ताजनुमा खिड़कियाँ (balconied windows), वेदिका (railing) इत्यादि अनेक हिंदू वास्तुओं का प्रयोग हुआ है। इसका कारण यह है कि इन इमारतों के रचयिता भले ही मुसलमान थे; परंतु भारतीय ही थे और यहीं की शिक्षा पाए हुए थे। इनके चित्रीकरण (designing) की जड़ में हिंदू आदर्श ही काम कर रहे थे। यदि इनके बनाने में भी हिंदू कारीगर लगाए जाते, तो वे इनको अवश्य बहुत ही सुंदर बना देते।

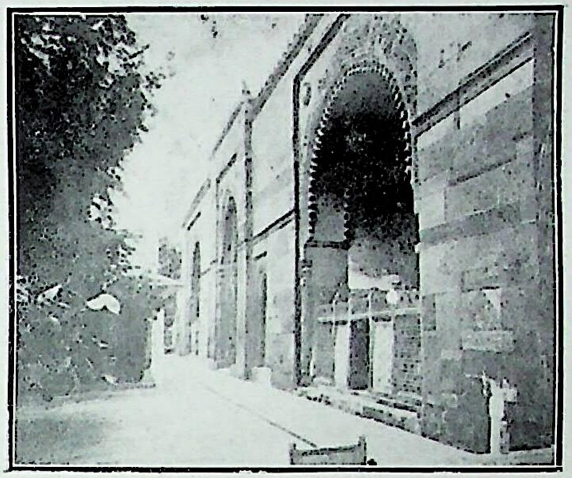

नं० १४ —जमाअतखाना मसजिद, दिल्ली। (पृष्ठ ३०१)

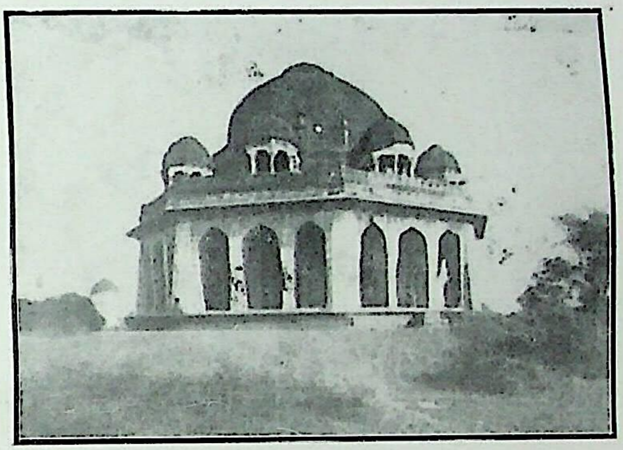

नं० १८ —मुबारकशाह सैयद की कब्र। (पृष्ठ ३०६)

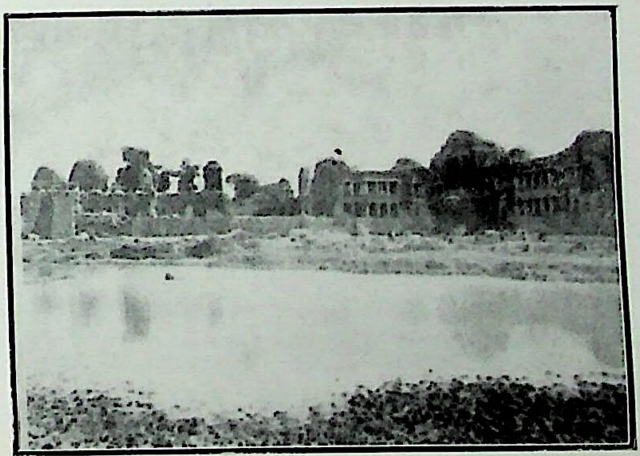

नं० १७ —फीरोज तुगलक की कब्र और कालेज। (पृष्ठ ३०५)

फीरोजशाह ने अपनी नई दिल्ली भी बनवाई थी। इसका विस्तार, 'आफिफ' के कथनानुसार, शाहजहानाबाद से दुगुना था। फीरोज की मुख्य इमारतों में पहली इमारत है 'फीरोज कोटला या किला', जिसकी दीवारों में एक नई बात यह है कि निशाना लगाने के छिद्रों तक पहुँचने के लिये कोई पटरी (berm) नहीं है। फिर कैसे काम चलता होगा? इसका उत्तर यही जान पड़ता है कि शायद लकड़ी की पटरी बनाने का विचार रहा हो। परंतु इसकी जगह एक बाहर को निकली हुई मुँड़ेर (machicolation या machiconlis) है, जिसमें शत्रु के ऊपर पिघली और जलती हुई धातुएँ डालने के छिद्र बने हैं। इस मुँड़ेर के बनाने का रिवाज नया ही था। किले के अंदर एक सूच्याकार (pyramidal) तिमंजिला इमारत है, (चित्र नं० १६)। जिसके ऊपर एक अशोक-स्तंभ खड़ा है—जिसे फीरोज अंबाला-प्रांत से लाया था। फीरोज की दूसरी इमारत 'जामा मस्जिद' है, जो उक्त पहली इमारत के पास ही है। किले के अतिरिक्त अलाई-हौज के पास फीरोज की कब्र और उसका बनाया हुआ कॉलेज है (चित्र नं० १७)। ये दोनों इमारतें सजावट में उसकी सब इमारतों से बढ़कर हैं। पुनः इसी काल की एक और कब्र बड़े महत्त्व की है। यह कब्र फीरोज के वजीर 'खाँजहाँ तिलंगानी' की है और निजामुद्दीन-औलिया की दरगाह के पास बनी हुई है। इसे खाँजहाँ के पुत्र 'जूनाशाह' ने बनवाया था। इसके चारों ओर किलानुमा चहारदीवारी है। इसमें नवीनता यह है कि चौकोर होने के बजाय यह अष्टभुजी है। ऊपर एक गुंबद और चारों ओर एक नीचा डाटदार बरामदा है। इस नमूने की यह पहली इमारत होने से इसमें कई दोष रह गए हैं—जैसे, बहुत बैठा हुआ गुंबद, नीचा बरामदा इत्यादि। इसी के नमूने पर भविष्य में सैयद और अफगान सुलतानों ने अपनी इमारतें बनवाईं और धीरे-धीरे इसके सब दोष भी निकाल दिए गए। अंत में यही शैली इतनी विलक्षण उत्तमता को पहुँची कि इसका परम उत्कृष्ट उदाहरण हम शेरशाह के मकबरे में पाते हैं। जूनाशाह ने इसी के पास एक मसजिद बनवाई। इसमें भी उसने एक नई बात यह बढ़ाई कि सहन के आरपार चौपड़ के रूप में दो डाटदार अलिंद (galleries) बनवाईं। यह नमूना एक-दो और मसजिदों को छोड़कर अन्यत्र कहीं प्रचलित न हुआ।

तुगलक-काल की एक और इमारत—अर्थात् कबीरुद्दीन औलिया की कब्र—उल्लेखनीय है। यह कुतुबमीनार से कोई आध मील उत्तर-पूरब की तरफ स्थित है, और 'लाल गुंबद' के नाम से विख्यात है। यह कब्र तुगलक-काल के अंतिम दिनों की जान पड़ती है। देखने में यह तुगलकशाह के कब्र की नकल है। इसमें खिल्जी-काल की-सी सजावट और चमक-दमक फिर से शुरू हो जाती है, जिसका तुगलक-शैली में सर्वथा अभाव है।

सैयद और लोदी-काल में फिर से एक उदार और उत्पादक शक्ति को प्रोत्साहन मिला। परंतु खिल्जी वास्तु-कला में जो काव्यरस था—जिस अनर्गलता से हिंदू और फारसी आदर्शों का संयोग करके एक सौंदर्य की सृष्टि उसमें की गई थी—वह अत्यंत प्रयत्न करने पर भी मुस्लिम वास्तु में पुनर्जीवित न हो सका। कारण यह कि तुगलक-काल से वह शैली इतनी रूढ़ि-बद्ध हो गई थी कि उसका प्रभाव सदा ही बना रहा—उसके बंधन फिर कभी न टूट सके।

सैयद सुलतानों के समय में सलतनत बहुत संकुचित एवं निर्धन हो चुकी थी। फलतः वे कोई विशाल भवन न बना सके। उनकी प्रायः सब कब्रें तिलंगानी के नमूने पर हैं। इनमें क्रमशः उन्नति होती गई है। इस वर्ग में सबसे पहली मुबारकशाह सैयद की कब्र 'मुबारकपुर' नामक ग्राम में है। इसमें ये विशेषताएँ हैं—ग्रीवा (drum) के कोनों पर गुलदस्ते, गुंबद पहले की अपेक्षा लंबोतरा, उसकी चोटी पर एक डाटदार दीपक, बरामदा काफी ऊँचा और खुला, और आठ छोटे गुंबदों के स्थान पर सतूनदार अठपहलू छतरियाँ। इसके बाद की कब्रों में गुंबद और छतरियाँ और भी ऊँची होती गई हैं। बरामदे के कोनों पर भी गुलदस्ते लगा दिए गए हैं। इनमें पद्म आदि कई हिंदू-प्रतिरूपों के अतिरिक्त चीनी की टाइल का भी प्रयोग शुरू हो जाता है, जो आगे चलकर बहुत बढ़ा। इसके बाद दोहरा गुंबद (double-dome)—जिसको हम ऊपर व्याख्या कर आए हैं—सबसे पहले शिहाबुद्दीन ताजखाँ की कब्र में और फिर सिकंदर लोदी की कब्र में बनना शुरू हुआ।

शाही मकबरों के अलावा दरबारियों के कब्रों की रचना का एक अलग ही नमूना था। एक चौकोर कमरे पर कोनिहाई डाटें, उनके ऊपर गुंबद, और चारों कोने पर अठपहलू छतरियाँ। इनकी विशेषता यह थी कि बीच का सामनेवाला द्वार, दीवार से कुछ आगे बढ़ाकर, एक डाट से आच्छादित बनाया जाता था। इन सबका यही सामान्य नमूना है।

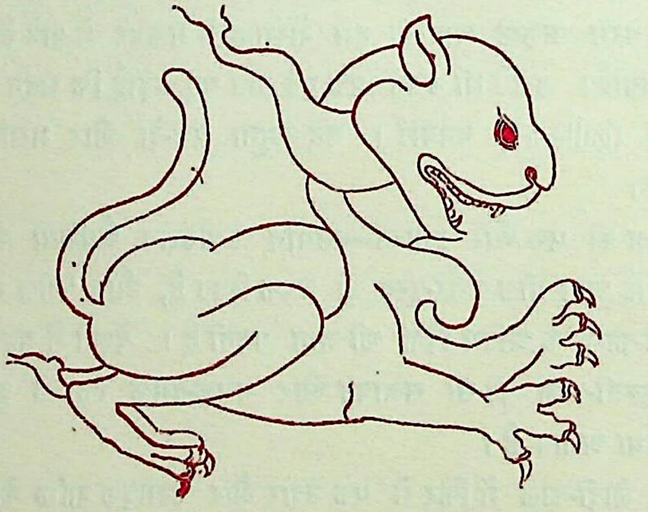

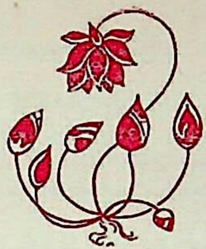

रूप-राशि

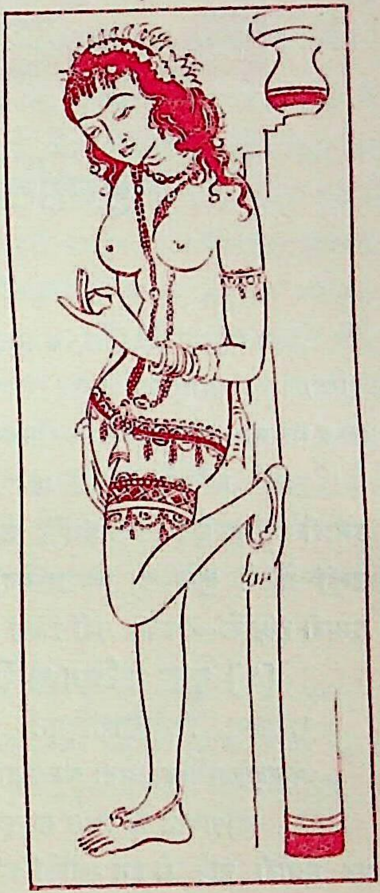

ये प्रसून हैं—यौवन के सुख-क्षण बिखरे सुकुमार;
मृदु ऋतुराज-साज है इस जीवन का सुखमय सार,
इन सुमनों को—जो मदिरा के हैं कोमल अवतार;
अधर-नीड़ में छिपी कोकिला सुख से रही पुकार,
धूममयी-सी संध्या जो है;
उदय अस्त से हीन,
उसके अविदित धुँधलेपन से,
है यह विश्व मलीन।
पथ-विहीन जल-राशि-सदृश है यह भविष्य का भार;
कितनी आकांक्षा है! पर दिन हैं केवल दो-चार,
छोटे क्षण!—पर वे हैं विस्तृत आशाओं के द्वार;
जीवन का है तत्त्व—एक मुस्कान—एक चीत्कार,
परिवर्त्तन ही जीवन है,
अथवा जीवन का नाम;
केवल रात्रि-दिवस ही में है,
वर्षों का विश्राम!
एक किरण जो प्राची में लाती है उषा नवीन;
संध्या के चंचल क्षण में होती है वही विलीन,
जीवन ही क्रीड़ा है, प्रेयसि! देखो उसके रूप;
हम तुम हैं दो बिंदु—परस्पर है प्रतिबिंब अनूप,
जीवन-उपवन में मिल जावें,
हम हों एकाकार;
ये प्रसून हैं—यौवन के सुख—
क्षण बिखरे सुकुमार।

रामकुमार वर्मा

मनुस्मृति के संबंध में कुछ नए अनुसंधान

डॉक्टर मंगलदेव शास्त्री, एम० ए०, डि० फिल्० (ऑक्सन्)

मनुस्मृति का महत्त्व संस्कृत-साहित्य में कई दृष्टियों से अत्यधिक है। हिंदुओं के बड़े लंबे इतिहास के आधुनिक कल्प के धर्मशास्त्र का शिलान्यास इसी ग्रंथ से हुआ है। अन्य इतिहासों की तरह भारतीय इतिहास में भी समय-समय पर धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक क्रांतियाँ होती रही हैं। उन्हीं क्रांतियों में से एक क्रांति के परिणाम-स्वरूप इस 'मनुस्मृति' का निर्माण हुआ था—ऐसी हमारी धारणा है। इस ग्रंथ के अध्ययन तथा अनुशीलन से कुछ नई बातें हमारी बुद्धि में आई हैं, उन्हीं में से कुछ का विचार यहाँ करना चाहते हैं। जहाँ तक हमें स्मरण है; अभी तक इन बातों पर—हमारी दृष्टि से—विचार नहीं किया गया है।

[१] कुछ क्षत्रिय-जातियाँ—मनुस्मृति के दसवें अध्याय में निम्नलिखित श्लोक हैं—

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः। वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ॥ ४३ ॥
पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडः कम्बोजा यवनाः शकाः। पारदाः पह्लवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः ॥ ४४ ॥

आपाततः ये वचन महत्त्व के नहीं प्रतीत होते। कोई-कोई इनको प्रक्षिप्त भी कह देते हैं। पर हमारी दृष्टि से इन श्लोकों का बड़ा महत्त्व है। इनका अर्थ यही है कि "शनैः शनैः आर्य या वैदिक सदाचार को छोड़ देने से और ब्राह्मणों के अदर्शन से कंबोज, यवन, शक आदि जातियाँ—जो पहले क्षत्रिय थीं—वृषलता (या शूद्रता) को प्राप्त हो गईं।" इससे स्पष्ट है कि एक ऐसा समय था, जब उक्त जातियाँ क्षत्रिय समझी जाती थीं। यद्यपि उक्त श्लोकों में अनेक जातियों का वर्णन है तथापि इस प्रसंग में हमारे विचार का संबंध प्राधान्येन कंबोज, यवन और शक जातियों से ही है। अब देखना यह है कि इन जातियों का क्षत्रियत्वेन व्यवहार भी किसी ग्रंथ में किया गया है या नहीं। पाणिनि मुनि की अष्टाध्यायी के चतुर्थ अध्याय के प्रथम पाद में 'जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ्' (सूत्र १६८) इत्यादि सूत्रों का एक प्रकरण है। इस प्रकरण में 'पंचाल', 'विदेह' आदि ऐसे शब्दों से अपत्यार्थ में प्रत्ययों का विधान

है जो देशवाची होने के साथ-साथ क्षत्रिय-जाति-विशेषों के भी द्योतक समझे जाते थे। इसी प्रकरण में पाणिनि के 'कम्बोजाल्लुक्' (सूत्र १७५) सूत्र पर कात्यायन मुनि का 'कम्बोजादिभ्यो लुग्वचनं चोलाद्यर्थम्' यह वार्त्तिक है। इस वार्त्तिक के उदाहरणों में 'कम्बोजः', 'यवनः' और 'शकः' शब्द जयादित्य (काशिकाकार) आदि टीकाकारों ने दिए हैं। परंतु महाभाष्य में इसकी व्याख्या में 'शक', 'यवन' को छोड़कर और-और शब्दों के साथ 'कंबोज' शब्द भी दिया है। इन बातों से यह तो स्पष्ट है कि कम से कम पाणिनि मुनि के समय में तो अवश्य ही कंबोज आदि जातियाँ क्षत्रिय समझी जाती थीं। कात्यायन मुनि के समय में भी यही दशा रही। नहीं तो वे अपने वार्त्तिक में उक्त व्यवहार का प्रतिषेध करते। पतंजलि मुनि के समय में (ईसा से लगभग डेढ़ सौ वर्ष पूर्व) भी, कम से कम, 'कंबोज' क्षत्रिय ही समझे जाते थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि महाभाष्यकार पतंजलि मुनि के समय में, पाणिनि और कात्यायन के समय के सदृश ही, 'कंबोज' तो क्षत्रिय ही समझे जाते थे; पर 'शक' और 'यवन' शूद्र माने जाने लगे थे। तभी तो पाणिनि के 'शूद्राणामनिर्वसितानाम्' (२, ४, १०) के महाभाष्य में शक और यवनों को शूद्र माना है। इससे स्पष्ट है कि धीरे-धीरे ही आरंभ में क्षत्रिय मानी जानेवाली कंबोजादि जातियों की गणना शूद्रों में होने लगी होगी। मनुस्मृति का उक्त वचन भी उक्त जातियों के शूद्रत्वेन व्यवहार का विधायक नहीं है; किंतु विद्यमान व्यवहार का अनुवादक या परिचायक ही है, और यह व्यवहार धीरे-धीरे ही प्रचलित हुआ होगा। इस व्यवहार में परिवर्त्तन का क्या कारण था, इस विषय पर मनुस्मृति का उक्त वचन ही कुछ प्रकाश डालता है। मनुस्मृति का कहना है—'क्रियालोपात्' और 'ब्राह्मणादर्शनेन च'—अर्थात् आर्य-सदाचार के छोड़ देने से और ब्राह्मणों के अदर्शन से। ऐसा प्रतीत होता है कि पश्चिमी सीमा पर बौद्ध धर्म के फैल जाने तथा और दूसरे कारणों (जैसे, विदेशीय सभ्यता के प्रचार) से अनेक जातियाँ—जो पहले क्षत्रिय समझी जाती थीं—अब शूद्र समझी जाने लगीं। इस व्यवहार-परिवर्त्तन के और भी कारण हो सकते हैं।[१]

यह स्पष्ट है कि उक्त विचार से मनुस्मृति के निर्माणकाल पर बड़ा प्रकाश पड़ता है। स्पष्टतया मनुस्मृति का निर्माण पाणिनि और कात्यायन के समय के पश्चात् हुआ; और यह भी प्रायः स्पष्ट ही है कि यह पतंजलि के समय के बाद ही बनाई गई। नीचे के लेख से तो इस बात की और भी पुष्टि हो जाती है।

[२] आर्यावर्त्त की परिभाषा—पाणिनि मुनि के सूत्र "शूद्राणामनिर्वसितानाम्" (२, ४, १०) के ऊपर महाभाष्य में एक बड़े महत्त्व का विचार है जिससे प्राचीन भारतवर्ष की सामाजिक अवस्था पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। इसी संदर्भ में—"कः पुनरार्यावर्त्तः प्रागादर्शात्प्रत्यक्कालकवनाद् दक्षिणेन हिमवन्तमुत्तरेण पारियात्रम्"—इन शब्दों में भाष्यकार ने आर्यावर्त्त की परिभाषा दी है। यह

---

१. कुछ कारणों का वर्णन हमने अपने "जातिभेद और वर्णभेद का परस्पर संबंध" शीर्षक एक अन्य लेख में किया है।

परिभाषा बड़े महत्त्व की है; और इससे मनुस्मृति के निर्माण-काल पर, एक नई दृष्टि से, काफी प्रकाश पड़ता है। इस परिभाषा के अर्थ पर विचार करने से पहले यह जानना आवश्यक है कि यह परिभाषा महाभाष्यकार की अपनी ही है या उन्होंने इसे किसी प्राचीन ग्रंथ से उद्धृत किया है। यह एक स्वतंत्र विचार है कि महाभाष्य में प्राचीन ग्रंथों से उद्धरण करने का क्या प्रकार है। परंतु इस परिभाषा के विषय में तो कोई संदेह ही नहीं कि यह उद्धृत है। इसमें एक प्रमाण तो यही है कि महाभाष्य में ही, एक दूसरे स्थान पर भी, ठीक इन्हीं शब्दों में यह परिभाषा दुहराई गई है। देखिए—'वृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' (६, ३, १०९) सूत्र का महाभाष्य। हमारे खयाल में एक ही आनुपूर्वी में इसका दो जगह आना यह सिद्ध करता है कि यह किसी दूसरे ग्रंथ से उद्धृत है। दूसरा प्रमाण आर्यावर्त्त की लगभग इसी तरह की परिभाषा का कई धर्मसूत्रों में पाया जाता है। कई बार (देखिए १, १, ४७ और ५, १, ११९) महाभाष्यकार ने धर्मसूत्रकारों का उल्लेख किया है; अतएव इसमें संदेह नहीं हो सकता कि धर्मसूत्रों का साहित्य महाभाष्य से पहले का है। 'वासिष्ठ धर्मसूत्र' (१, ८) में "आर्यावर्त्तः प्रागादर्शात्[1] प्रत्यक्कालकवनाद् उदक् पारियात्राद् दक्षिणेन हिमवतः"—इन शब्दों में, और 'बौधायन धर्मसूत्र' (१, १, २५) में "प्रागदर्शनात्[2] प्रत्यक्कालकवनात् दक्षिणेन हिमवन्तमुदक्पारियात्रमेतदार्यावर्त्तम्"—इस प्रकार, आर्यावर्त्त की परिभाषा दी हुई है। अभी तक हमको आर्यावर्त्त की यह परिभाषा इन्हीं दो प्राचीन ग्रंथों में मिली है। यह तो स्पष्ट ही है कि धर्मसूत्रों की इन दो परिषाभाओं के साथ महाभाष्य की परिभाषा लगभग शब्दशः मिलती है। इन परिभाषाओं की, मनुस्मृति के आर्यावर्त्त[3] और मध्यदेश[4] की परिभाषाओं के साथ, तुलना करने से यही प्रतीत होता है कि मनुस्मृति का 'मध्यदेश' और महाभाष्यादि का 'आर्यावर्त्त' एक ही हैं। साथ ही, मनुस्मृति का आर्यावर्त्त महाभाष्यादि के आर्यावर्त्त से कहीं अधिक विस्तृत है। मनुस्मृति के 'विनशन' और बौधायन धर्मसूत्र के 'अदर्शन' का एक ही अर्थ प्रतीत होता है। मनुस्मृति के 'विनशन' शब्द का अर्थ टीकाकारों ने 'विनशनं सरस्वत्या अंतर्धानदेशः' (मेधातिथि) या 'विनशनात् कुरुक्षेत्रात्' (राघवानंद) किया है। 'आदर्श'[5] शब्द भी वास्तव में 'विनशन' के समानार्थक 'अदर्शन' से ही संबंध रखनेवाला प्रतीत होता है।

ऊपर महाभाष्यादि में आर्यावर्त्त की पूर्वीय सीमा 'कालक वन' तक बतलाई है। यह स्पष्ट नहीं कि 'कालक वन' से क्या अभिप्राय है। तो भी यह देखते हुए कि मनुस्मृति के 'मध्यदेश' की शेष तीनों

---

[1] कुछ हस्तलिखित पोथियों में 'प्रागादर्शनात्' पाठ है। ब्युलर महाशय ने 'प्रागदर्शनात्' पाठ माना है।

[2] कहीं-कहीं 'प्राग्विनशनात्' पाठ है।

[3] आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्त्तं विदुर्बुधाः॥ (२, २२)

[4] 'हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विनशनादपि।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्त्तितः॥ (२, २१)

[5] देखिए 'बृहत्संहिता' (१४,२५)

सीमाएँ महाभाष्यादि के 'आर्यावर्त्त' को उन तीनों सीमाओं के समान हैं, यही प्रतीत होता है कि मनुस्मृति की चौथी सीमा 'प्रयाग' का और महाभाष्यादि के 'कालक वन' का लगभग एक ही अभिप्राय है। वाल्मीकि-रामायण के अयोध्याकांड के चौवन-पचपन सर्ग देखने से प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में प्रयाग के समीप में ही एक बहुत बड़ा जंगल था। चौवनवें सर्ग के द्वितीय श्लोक ('यत्र भागीरथीं गङ्गा यमुनाभिप्रवर्त्तते, जग्मुस्तं देशमुद्दिश्य विगाह्य सुमहद्वनम्') में एक 'सुमहद्वनं' का—और पचपनवें सर्ग के अष्टम श्लोक ('क्रोशमात्रं ततो गत्वा नीलं दृदृयथ काननम्, पलाशबदरीमिश्रं रम्यं वंशैश्च यामुनैः) में 'नील कानन' का—वर्णन है। प्रतीत होता है कि यह 'सुमहद्वन' और 'नील कानन' तथा 'कालक वन' लगभग एक ही वन के नाम हैं, जो किसी समय प्रयाग के समीप था। वासिष्ठ धर्मसूत्र (१,१२) और बौधायन धर्मसूत्र (१,१,२६) की--'गंगा और यमुना के बीच के देश को आर्यावर्त्त कहते हैं, एतदर्थक आर्यावर्त्त की—दूसरी परिभाषा से भी यही प्रतीत होता है कि उपर्युक्त परिभाषाओं में आर्यावर्त्त की पश्चिमीय और पूर्वीय सीमाएँ गंगा-यमुना के दोआब से अधिक दूर न थीं।[1] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि महाभाष्य का 'आर्यावर्त्त' और मनुस्मृति का 'मध्यदेश' दोनों एक ही हैं। बौधायन धर्मसूत्र में इसी प्रकरण के—"आवन्तयोऽङ्गमगधाः सुराष्ट्रा दक्षिणापथाः। उपावृत्सिन्धुसौवीरा एते संकीर्णयोनयः॥ आरट्टान् कारस्करान् पुण्ड्रान् सौवीरान् वङ्गान् कलिङ्गान् प्रानूनानिति च गत्वा पुनस्तोमेन यजेत सर्वपृष्ठया वा।" (१,१,२९-३०) इत्यादि—सूत्रों से यह स्पष्ट है कि उस समय पूर्व में अंग, वंग, कलिंग आदि और पश्चिम में सिंधु, सौवीर आदि कई देश आर्यावर्त्त से बाहर माने जाते थे। जहाँ तक हम कह सकते हैं, लगभग दो सहस्र वर्षों से आर्यावर्त्त की परिभाषा मनुस्मृति के अनुसार ही मानी जाती रही है। इससे प्रतीत होता है कि बहुत करके यह परिभाषा मनुस्मृतिकार ने ही प्रथम बार चलाई होगी। धर्मसूत्रों में अंग आदि देशों को आर्यावर्त्त से बाहर का कहने से आर्यावर्त्त की उक्त संकुचित परिभाषा मनुस्मृति से पूर्व की ही प्रतीत होती है। ऐसी दशा में महाभाष्य में इस प्राचीन परिभाषा का दो बार उद्धरण-रूप से देना, हमारी सम्मति में, स्पष्टतया इस बात को सिद्ध करता है कि वर्त्तमान मनुस्मृति का निर्माण महाभाष्य के निर्माण से पीछे का है।

---

[1] देखिए—कनिंघम-कृत "Ancient Geography of India"--सुरेंद्रनाथ मजुमदार शास्त्री द्वारा संपादित, (संस्करण सन् १९२४) भूमिका, पृष्ठ ४१

परदे में

हैं परदे में बालाएँ,
मृदु मंजुल मणि-मालाएँ।
सुरराज-सदन-सी सुंदर,
हैं सजी रंगशालाएँ॥
ज्योतियाँ रुचिर रत्नों की,
हैं जगमग-जगमग जगतीं।
परदे के भीतर प्रति दिन,
हैं इंद्र-सभाएँ लगतीं॥
शशि की कल कोमल किरणें,
हैं कभी न बाहर आतीं।
परदे के भीतर ही वे,
हैं सुधा-सलिल बरसातीं॥
परदे में सुख का घर है,
संपदा स्वयं है चेरी।
पर दुःख-शोक भी हरदम,
हैं वहाँ लगाते फेरी॥
जीवन, जीवन के सुख को,
अपने ही से खोता है।
मृदुता का कठोरता से,
दुख-मूल मिलन होता है॥

कितनी ही कोमल कलियाँ,
मुँह को भी खोल न पातीं।
हो दलित कठोर करों से,
मुरझाकर हैं झड़ जातीं॥
शुचि ज्ञान-भानु उर में ही,
है सदा छिपा रह जाता।
उसका प्रकाश अवनी में,
है कभी न होने पाता॥
गंगा-यमुना की धारा,
बहती सूने सदनों में।
परदे के भीतर सागर,
लहराता है नयनों में॥
कोयलें कैद पिंजर में,
सिर धुन-धुनकर हैं रोतीं।
सुमनों की सुख-शय्या पर,
हैं विरह-व्यथाएँ सोतीं॥
परदे के भीतर कोई,
है कभी न जाने पाता।
तो भी ईर्षानल जाकर,
है कोमल हृदय जलाता॥

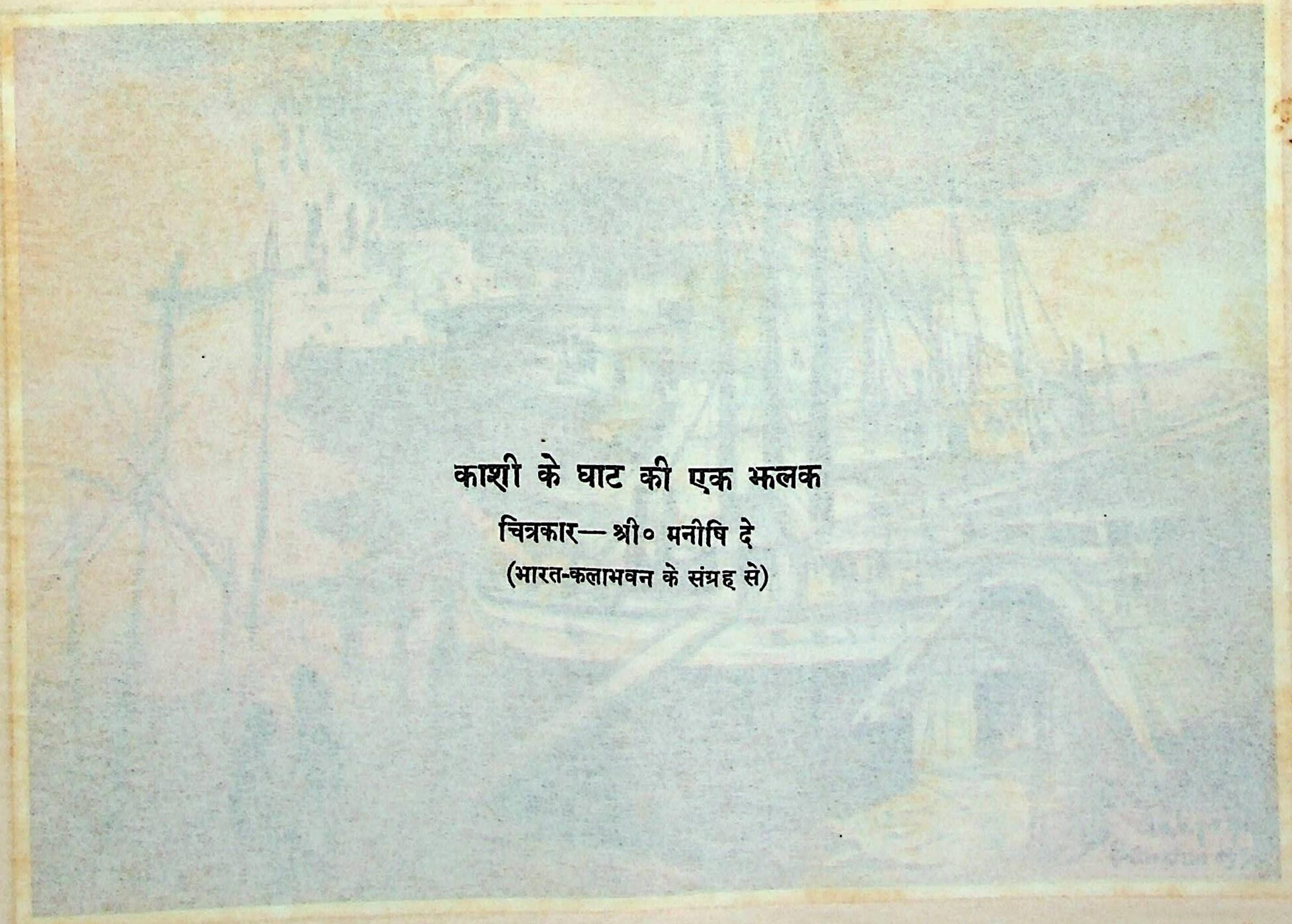

काशी के घाट की एक झलक

चित्रकार—श्री० मनीषि दे

(भारत-कलाभवन के संग्रह से)

परदे में

है परदे में भावनाएँ,
  मृदु मंजुल मणि-मालाएँ।
सुरराज-धनुष-सी सुंदर,
  हैं कभी रंगशालाएँ।
ज्योतियाँ अमित रजनी की,
  हैं जगमग-जगमग जगतीं।
परदे के भीतर प्रति दिन,
  हैं इंद्र-सभाएँ लगतीं।
शशि की कल कोमल किरणें,
  हैं कभी न बाहर आतीं।
परदे के भीतर ही वे,
  हैं सुधा-सलिल बरसातीं॥
परदे में सुख का घर है,
  संपदा मग्न है सोती।
पर दुःख-शोक भी हरदम,
  हैं यहीं जमाते जोती॥
जीवन, जीवन के सुख को,
  अपने ही से खोता है।
मनुज का कठोरता से,
  दुःख-मूल विलय होता है॥

खिलती ही कोमल कलियाँ,
  मुँह को भी खोल न पातीं।
वो दलित कठोर करों से,
  मुरझाकर हैं मर जातीं॥
शुचि ज्ञान-भानु उर में ही,
  है सदा छिपा रह जाता।
उसका प्रकाश भवनों में,
  है कभी न होने पाता॥
गंगा-यमुना की धारा,
  बहती सूने सदनों में।
परदे के भीतर सागर,
  लहराता है नयनों में॥
कितने कैद पिंजर में,
  सिर धुन-धुनकर हैं रोतीं।
सुमनों की सुख-शय्या पर,
  हैं विरह-व्यथाएँ सोतीं॥
परदे के भीतर कोई,
  है कभी न जाने पाता।
वो भी ईर्षानल जाकर,
  है कोमल हृदय जलाता॥

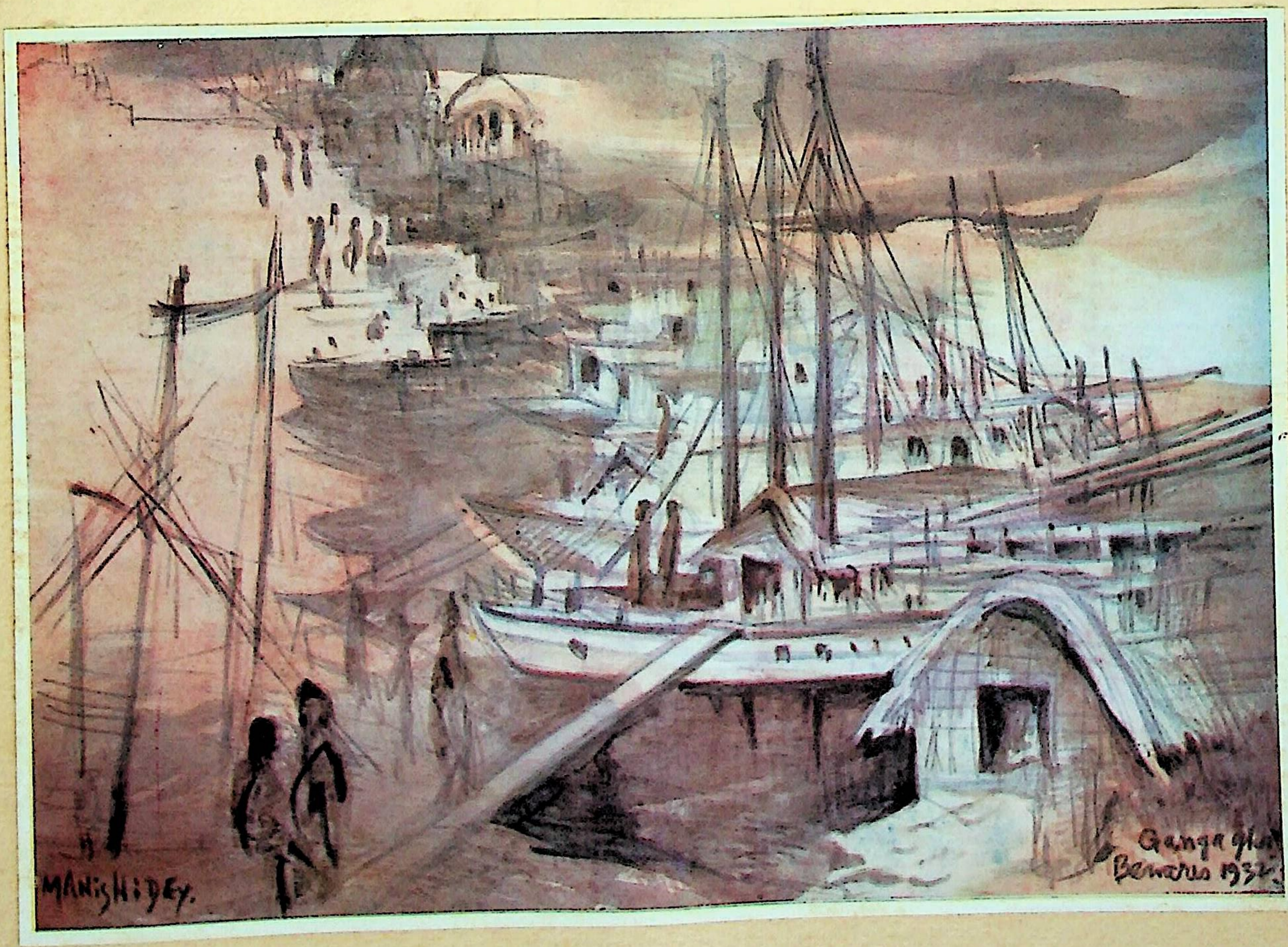
MANISHI DEY.
Ganga ghat
Benares 1934.

परदे में

लोनी-लोनी लतिकाएँ,
दुख के तुषार की मारी।
हैं नित्य सूखती जातीं,
भोली-भाली बेचारी॥
हैं गूँज रही परदे में,
कितनी ही क्लेश-कथाएँ।
महलों के भीतर छिपकर,
रहती हैं विविध व्यथाएँ॥
साथ ही साथ रहती हैं,
अबलाएँ और बलाएँ।
शशि की संपूर्ण कलाएँ,
घन की भी घोर घटाएँ॥
कहती हैं करुण कहानी,
रोकर आँखें बेचारी।
उत्तर उनको मिलता है,
लाचारी है लाचारी॥
लज्जा का निठुर करों से,
है गला दबाया जाता।
सुख से वंचित बेचारा,
है प्यार ठोकरें खाता॥
करुणा की करुण पुकारें,
दीवारों से टकरातीं।
मन की सब अभिलाषाएँ,
मन में ही हैं रह जातीं॥
हैं झूम रही मस्ती से,
मस्ती की ही तसवीरें।
परदे में सिर धुनती हैं,
कितनी फूटी तकदीरें॥
काजल के काले-काले,
गिरते हैं आँसू-मोती।
घर के भीतर कोनों में,
हैं दीप-शिखाएँ रोतीं॥
उर-तंत्री के तारों को
है बारंबार बजाती।
अंतर्वेदना व्यथा के
है नीरव गाने गाती॥
रजनी में दिन रहता है,
दिन में रजनी है काली।
परदे में छिपी हुई है
दुनिया ही एक निराली!!

—गोपालशरणसिंह

नालंदा-विश्वविद्यालय

साहित्याचार्य प्रोफेसर विश्वनाथप्रसाद, एम० ए०, साहित्यरत्न

उदय, अस्त और पुनर्दर्शन

गुप्त-काल भारतवर्ष का स्वर्ण-युग कहा जाता है। नालंदा-विश्वविद्यालय का पूर्ण विकास उसी स्वर्ण-युग में हुआ था। तब से लगातार सात सौ वर्ष तक क्रमशः गुप्त, वर्धन और पाल वंशों के राजाओं के संरक्षण में यह विद्यालय ज्ञान का केंद्र बना रहा। यहीं से ज्ञान की वह ललकार उठी थी—वह "शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः" की उत्साह-वर्द्धक पुकार! इस विश्वविद्यालय के अंतर्राष्ट्रीय स्वरूप का अनुमान हम इसी बात से कर सकते हैं कि चीन, तिब्बत, तुर्किस्तान, सिंहल आदि सुदूर देशों के विद्यार्थी यहाँ ज्ञानार्जन करने के लिये आते थे। इसके इतिहास में भारतवर्ष का लगभग सात सौ वर्षों का इतिहास छिपा हुआ है। आज भी संसार के विरले ही विश्वविद्यालय इतने दीर्घकालीन जीवन का दावा कर सकते हैं। यह सब केवल नालंदा के तेजस्वी भिक्षुकों के आत्मत्याग का प्रभाव था। विक्रम की तेरहवीं शताब्दी में, देश के दुर्दिन में, इस महाविद्यालय का अंतिम संहार हुआ था। पर इसकी उज्ज्वल कीर्त्ति का प्रकाश छिपनेवाली चीज न थी। फिर बीसवीं विक्रमीय शताब्दी के प्रारंभिक काल में इसके कुछ प्राचीन चिह्नों के दर्शन हुए। ज्योंही प्रसिद्ध चीनी यात्री हुएनसाँग की यात्राओं का विवरण प्रकाशित हुआ, त्योंही विद्वानों को इसके महत्त्व का अनुभव हुआ। विक्रम-संवत् १९१८-१९ में, महानुभाव कनिंघम की खोज के प्रभाव से, मालूम हुआ कि जहाँ इस समय पटना जिले का 'बड़गाँव' नामक ग्राम है वहीं प्राचीन 'नालंदा' बसा हुआ था। फिर क्या, वहाँ चीन, जापान, तिब्बत, बर्मा, सिंहल आदि देशों के तीर्थयात्री आने लगे। इसके बाद ही लंडन की 'रॉयल एशियाटिक सोसाइटी' ने हिंदुस्तान के पुरातत्त्व-विभाग द्वारा 'बड़गाँव' में खुदाई का प्रबंध कराया और प्रांतीय संग्रहालय (Museum)

में वहाँ से प्राप्त हुई सभी चीजों को सुरक्षित रखने की अनुमति दी।[१] संवत् १९७२ में यहाँ खुदाई शुरू करने के लिये प्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ डॉक्टर स्पूनर भेजे गए।[२] तब से आज तक खुदाई का काम जारी है, और अभी इसके पूरा होने में कई साल लगेंगे। इस खुदाई से यहाँ की इमारतों की भव्यता प्रकट होती है। कई बहुमूल्य चीजें मिलती जा रही हैं। इस प्रकार भारतवर्ष के बौद्ध-कालीन इतिहास को पूर्ण करने की बहुत-सी चमत्कारपूर्ण सामग्री उपलब्ध होती जा रही है।

'नालंदा' की खोज

'बड़गाँव' राजगृह से लगभग आठ मील उत्तर की ओर है—पटना जिले के 'विहारशरीफ' कस्बे से लगभग छः मील दक्षिण है। बिहार-बख्तियारपुर-लाइट-रेलवे के 'नालंदा' नामक स्टेशन से यह लगभग ढाई मील है। यहाँ कनिंघम ने दो शिलालेख पाए थे, जिनमें इस स्थान का 'नालंदा' नाम उल्लिखित है। हुएनसाँग के वर्णन के अनुसार 'नालंदा' बोध-गया के पवित्र बोधि-वृक्ष से सात योजन (अर्थात् उनचास मील) और राजगृह से तीस 'ली' (अर्थात् कोई पाँच मील) उत्तर है। 'बड़गाँव' के संबंध में यह दूरी प्राय: ठीक निकलती है। हाल की खुदाई में भी यहाँ ऐसे शिलालेख मिले हैं, जिन पर 'नालंदा' नाम खुदा हुआ है। कई ऐसी-ऐसी मुहरें मिली हैं, जिन पर स्पष्ट 'श्रीनालंदा-महाविहारीय आर्य-भिक्षुसंघस्य' लिखा हुआ है।[३] आधुनिक नाम 'बड़गाँव' शब्द यहाँ की एक भग्न इमारत पर जमे हुए 'बड़' (वट) वृक्ष से व्युत्पन्न हुआ है।

'बड़गाँव' और 'नानंद'

किंतु इधर हाल में 'बड़गाँव से कुछ उत्तर हटकर पूर्व की ओर, चार-पाँच मील की दूरी पर, 'नानंद' नामक एक गाँव का पता चला है। 'नानंद' भी 'नालंदा' का ही विकृत रूप जान पड़ता है। यहाँ भी दूर तक विस्तीर्ण खँड़हर हैं, कई प्राचीन जलाशय भी हैं। हुएनसाँग का बतलाया हुआ 'दूरी का हिसाब' भी इस स्थान के संबंध में बड़गाँव से अधिक ठीक उतरता है। 'नानंद' राजगृह से लगभग पाँच मील की ही दूरी पर है। भग्नावस्था में पड़े हुए यहाँ के एक विहार में स्थित बुद्ध की एक बड़ी मूर्त्ति, बैठी हुई मुद्रा में, मिली है। उसके ऊपर कुछ लेख भी है। प्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने उसे पढ़ा है; पर उससे किसी महत्त्वपूर्ण बात का पता नहीं चलता। श्री पी० सी० चौधरी, आइ० सी० एस० ने इस विषय में कुछ जाँच-पड़ताल भी की है। आपका तो यह अनुमान है कि यथार्थ में 'नानंद' ही असल 'नालंदा'

---

[१] कुछ छोटी-छोटी चीजें 'नालंदा' (बड़गाँव) में भी सुरक्षित हैं। इसके लिये खनन-विभाग के ऑफिस के निकट ही एक छोटा-सा संग्रहालय बना हुआ है।

[२] स्पूनर साहब के बाद पेज साहब—और कुछ दिनों तक पंडित हीरानंद शास्त्री—की अध्यक्षता में खुदाई का काम जारी रहा। इधर कुछ दिन श्री एम्० ए० कुरेशी स्थानापन्न कार्य-संचालक रहे।

[३] Annual Report of the Archæological Survey of India, Eastern Circle, 1916-17, P. 43.

है--'बड़गाँव' तो 'नालंदा' हो ही नहीं सकता। 'बड़गाँव', जिसकी व्युत्पत्ति ब्रॉडले साहब ने 'विहार-ग्राम' से बतलाई है, स्कंदगुप्त द्वारा स्थापित विहार-ग्राम है। यहाँ के संघारामों के संस्थापक वही होंगे। किंतु यह अभी अनुमान-ही-अनुमान है। इस संबंध में जो कुछ सामग्री मिल सकी है, वह बार्नेट् साहब के पास जाँच के लिये भेजी गई है। देखें, वे किस निर्णय पर पहुँचते हैं। असल में जब तक इस भाग में खुदाई न हो तब तक निश्चयात्मक रूप से कुछ कहना संभव नहीं। जो हो, नानंद के 'नालंदा' होने की संभावना में विश्वास रखते हुए भी हम यह मानने को तैयार नहीं कि 'बड़गाँव' नालंदा है ही नहीं। हम यह जानते हैं कि नालंदा-महाविहार में दस हजार विद्यार्थियों के रहने का प्रबंध था। यह संभव नहीं कि इतने अधिक विद्यार्थियों के रहने का स्थान एक-डेढ़ मील में ही सीमित हो। उसके लिये चार-पाँच मील या इससे भी अधिक विस्तार का होना संभव है। इस प्रकार, यदि निश्चयात्मक रूप से भी यह मान लिया जाय कि 'नानंद' में ही 'नालंदा' बसा हुआ था, तो भी उसके विस्तार का बड़गाँव तक पहुँचना असंभव नहीं हो सकता। नालंदा, असल में, बहुत विस्तृत प्रदेश था, और बड़गाँव निस्संदेह उसका एक अंतस्थ भाग था। इसमें भ्रम या तर्क की कोई गुंजायश नहीं।[1] इसके अनेक प्रमाणों में सबसे बड़ा प्रमाण तो यह है कि कनिंघम साहब की खोज के बहुत पहले से 'बड़गाँव' के ही प्राचीन 'नालंदा' होने का विश्वास प्रचलित था। विक्रम-संवत् १५६५ में रचित हंससोम के 'पूर्वदेशचैत्यपरिपाटी' ग्रंथ में नालंदा के साथ उसके वर्त्तमान नाम 'बड़गाँव' का भी उल्लेख है। लिखा है—

"नालंदे पाडैं चौद चौमास सुणीजै
होड़ा लोक-प्रसिद्ध ते बड़गाँव कहीजै।
सोल प्रसाद तिहाँ अच्छै जिन बिंब नमीजै[2] ॥"

इस प्रकार यह प्रकट है कि विक्रम की सोलहवीं शताब्दी से भी पहले लोगों को यह मालूम था कि यह बड़गाँव उस प्राचीन नालंदा का ही वर्त्तमान रूप है। प्राचीन नालंदा की स्थिति वे भूले न थे, फिर भी इसमें संदेह नहीं कि नानंदा में यदि खुदाई का काम जारी हो तो उससे हमारे नालंदा-विषयक ज्ञान में अत्यंत महत्त्वपूर्ण सत्य का विकास होगा।

नालंदा का उल्लेख कई बौद्ध ग्रंथों में भी हुआ है। शांतरक्षित का 'तत्त्वसंग्रह', कमलशील की 'तत्त्वसंग्रहपंजिका' तथा नालंदा के पंडितों के और भी कई तांत्रिक ग्रंथ मिलते हैं। किंतु नालंदा के

---

[1] ब्रॉडले ने लिखा है—"बड़गाँव का उस विहार-ग्राम से समीकरण (identification) संदेह से परे है, जहाँ हजार वर्ष पहले विशाल नालंदा-महाविहार विराजमान था।"

[2] अनुवाद—"सुनते हैं कि नालंदा में श्री महावीर स्वामी ने चौदह साल बिताए थे। अब इसे बड़गाँव कहते हैं। यहाँ सोलह सुंदर मंदिर हैं जिनमें जैन-मूर्त्तियाँ हैं।"

'नालंदा' के प्राचीन संसर्ग

वर्णन में उनसे विशेष सहायता नहीं मिलती। केवल 'अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता' और कुछ अन्य प्राचीन ग्रंथ—जिनकी प्रतिलिपि पालवंशी राजाओं के समय में तैयार की गई थी—ऐसे हैं जिनसे कुछ विशेष सूचनाएँ मिलती हैं।[1] पालि-ग्रंथ महाविहार की स्थापना के बहुत पहले की बातों का उल्लेख करते हैं, जब इस स्थान का संबंध स्वयं भगवान् बुद्ध से था। इस संबंध में हमें हुएनसाँग, इत्सिंग, वुकुंग[2] आदि चीनी यात्रियों तथा तिब्बती 'तारानाथ' के विवरणों से ही विशेष सहायता मिलती है। और, अब तो खुदाई में बहुत-से ऐसे शिलालेखादि भी मिले हैं जिनसे महाविहार-संबंधी कई बातों पर प्रचुर प्रकाश पड़ता है। श्री महावीर स्वामी तथा उनके एक श्रेष्ठ और प्राचीन शिष्य 'इंद्रभूति' के संबंध के कारण जैनी लोग भी अब इस स्थान को एक तीर्थ समझते हैं। 'सूत्रकृतांग' सरीखे कुछ जैन ग्रंथों में नालंदा का अच्छा वर्णन है, जिससे मालूम होता है कि ईसवी सन् के पहले भी नालंदा बहुत समृद्ध और समुन्नत नगर था। 'कल्पसूत्र' में लिखा है कि यहाँ भगवान् महावीर स्वामी ने चातुर्मास्य बिताया था। इतना ही नहीं, भगवान् बुद्ध ने 'संपसादनीथ सुत्तं' और 'केवद्ध सुत्त' का प्रवर्त्तन नालंदा में ही किया था। हुएनसाँग ने लिखा है—'इस स्थान पर प्राचीन काल में एक आम्र-वाटिका थी, जिसको पाँच सौ व्यापारियों ने दश कोटि स्वर्ण-मुद्रा में मोल लेकर बुद्धदेव को समर्पित कर दिया।' नालंदा के 'लेप' नामक एक निवासी के धन, जन, यश और वैभव की बड़ी प्रशंसा थी। यहाँ के 'केवद्ध' नामक एक धनी सज्जन को हम भगवान् बुद्ध के सामने नालंदा के प्रभाव और पवित्रता की बड़ी बड़ाई करते हुए पाते हैं। 'आनंद' के मत से तो नालंदा 'पाटलिपुत्र' से भी बढ़कर था; क्योंकि नालंदा ही भगवान् बुद्ध के निर्वाण के लिये उपयुक्त स्थान था, पाटलिपुत्र नहीं। इससे नालंदा के, पाटलिपुत्र से अधिक, प्राचीन और श्रेष्ठ होने का परिचय मिलता है। फाहियान के अनुसार सारिपुत्त का जन्मस्थान 'नाल' ग्राम था। कुछ विद्वानों का खयाल है कि यह 'नाल' नालंदा का ही द्योतक है। यहीं बुद्धदेव से सारिपुत्त की भेंट हुई और भगवान् ने अपने प्रिय शिष्य की कठिनाइयों का समाधान किया। तिब्बती लामा तारानाथ के अनुसार यहीं सारिपुत्त ने अस्सी हजार अर्हतों के साथ निर्वाण प्राप्त किया। बड़गाँव में, हाल की खुदाई में, भूमि-स्पर्श-मुद्रा में, भगवान् बुद्ध की एक मूर्त्ति मिली है जिसमें आर्य सारिपुत्त और आर्य मौद्गल्यायन उड़ते हुए रूप में चित्रित हैं। ये दोनों भगवान् बुद्ध के प्रधान शिष्य थे। इन पवित्र संसर्गों के कारण नालंदा बहुत प्राचीन समय से पुण्यस्थान माना जाता था। इसके अतिरिक्त यह 'राजगृह' से बहुत निकट है, जो बौद्धों का प्राचीन और प्रसिद्ध तीर्थस्थान है। मगध की राजधानी पाटलिपुत्र भी इस स्थान से बहुत दूर नहीं है। यहाँ की प्राकृतिक शोभा और शांति भी बड़ी चित्ताकर्षिणी थी। इस स्थान की इन्हीं विशेषताओं से आकृष्ट होकर, एक महान् उच्च आदर्श को लिए हुए, आत्मव्रती बौद्ध भिक्षुओं ने यहाँ नालंदा-महाविहार की स्थापना की थी।

---

[1] Prof. Samadar: "The Glories of Magadh," P. 132.

[2] 'वुकुंग' के यात्रा-वृत्तांत का अँगरेजी अनुवाद हमारे परम मित्र स्वर्गीय फणींद्रनाथ वसु का किया है। स्व० वसु महाशय का सचित्र परिचय 'विशाल भारत' में, सन् १९३१ के किसी अंक में, प्रकाशित हो चुका है।

महाविहार की स्थापना का काल-निर्णय

परंतु यह स्थापना कब हुई, इस संबंध में मतभेद है। तारानाथ के अनुसार इसके सर्वप्रथम स्थापक अशोक थे। हुएनसाँग ने भी लिखा है कि 'बुद्ध-निर्वाण के थोड़े ही दिन बाद यहाँ के प्रथम संघाराम का निर्माण हुआ'। पर नालंदा-महाविहार की इतनी अधिक प्राचीनता का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण अभी तक नहीं मिला है। फाहियान ने (सन् ४५८ के लगभग) नालंदा का कोई उल्लेख नहीं किया है। उसने 'नालो' नामक एक स्थान का जिक्र किया है, जिसे कुछ लोग 'नालंदा' शब्द का ही रूपांतर समझते हैं। जो हो, यह तो स्पष्ट है कि उस समय नालंदा में कोई ऐसा विशेष महत्त्व न रहा, जो फाहियान को आकृष्ट करता। विक्रम की सातवीं सदी (संवत् ६८७-७०३) में हुएनसाँग आया था। उस समय नालंदा महत्त्व और ख्याति की पराकाष्ठा को पहुँचा हुआ था। इस बात के आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि नालंदा-महाविहार की स्थापना फाहियान के आने के बाद और हुएनसाँग के आने के पहले हुई थी—पाँचवीं और सातवीं सदी के बीच में। कनिंघम और स्पूनर ने पाँचवीं ईसवी सदी के मध्य में इसकी स्थापना का समय निश्चित किया है। मगध के राजा बालादित्य, जिन्होंने नालंदा में एक उच्च विहार का निर्माण कराया था, हूणाधिपति मिहिरकुल के समकालीन थे। मिहिरकुल संवत् ५७२ (सन् ५१५ ई०) में राज्य करता था। इसलिये बालादित्य का भी समय यही हुआ। विंसेंट स्मिथ के अनुसार बालादित्य का भी राज्य-काल सन् ४६७ ई० से ४७३ तक होना चाहिए। बालादित्य के पहले उनके तीन पूर्वजों ने भी यहाँ संघाराम बनवाए थे, और उनमें शक्रादित्य सर्वप्रथम थे। इस तरह नालंदा-महाविहार की स्थापना का समय विक्रम की पाँचवीं सदी के उत्तरार्द्ध में जान पड़ता है[१]। पर मेरा अपना अनुमान तो यह है कि नालंदा में, बुद्ध के निर्वाण के कुछ समय बाद विश्वविद्यालय की न सही, पर किसी विहार की स्थापना अवश्य हुई होगी। हुएनसाँग के कथन में, जिसका समर्थन लामा तारानाथ भी करते हैं, तब तक बिलकुल अविश्वास करना अनुचित है जब तक खुदाई समाप्त न हो जाय। मेरा विश्वास है कि 'नानंद' नामक गाँव में अब यदि खुदाई का काम जारी किया जाय, तो बहुत संभव है कि नालंदा की और अधिक प्राचीनता के प्रमाण मिलें।

महाविहार के संस्थापक और संरक्षक

नालंदा के प्रथम संघाराम के बनवानेवाले शक्रादित्य थे। हुएनसाँग के अनुसार इनका समय ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी में होना चाहिए। पर यह मत विद्वानों को मान्य नहीं। शक्रादित्य के पुत्र और उत्तराधिकारी बुधगुप्तराज ने प्रथम संघाराम के दक्षिण में एक दूसरा संघाराम बनवाया। तीसरे राजा तथागतगुप्त ने दूसरे के पूर्व में एक तीसरा संघाराम बनवाया। इसके उत्तर-पूर्व में बालादित्य ने एक चौथा संघाराम बनवाया। उनके पुत्र वज्र ने अपने पिता के बनवाए हुए संघाराम के पश्चिम में एक और संघाराम बनवाया। अंत में फिर उनके संघाराम के उत्तर में मध्यभारत के किसी राजा ने एक और

---

[१] बालादित्य के संबंध में विंसेंट स्मिथ द्वारा निरूपित उक्त तिथि के अनुसार यह समय सन् ४१० ई० तक पहुँचता है।

संघाराम बनवा दिया और इन सभी संघारामों को एक ऊँची चहारदीवारी से घिरवा भी दिया। इसके बाद भी अनेक राजा, सुंदर तथा भव्य मंदिरों के निर्माण से, नालंदा को सुशोभित[१] करते रहे। रेवरेंड हिरास ने एक विद्वत्तापूर्ण लेख[२] में उक्त चारों राजाओं के नाम को गुप्तवंशीय प्रसिद्ध राजाओं का नामांतर सिद्ध किया है। उनका समीकरण इस प्रकार है—

शक्रादित्य	कुमारगुप्त (प्रथम)
बुधगुप्त-राज	स्कंदगुप्त
तथागतगुप्त-राज	पुरगुप्त
बालादित्य-राज	नरसिंहगुप्त

(१) गुप्त-वंश

यद्यपि विद्वानों ने अभी इस समीकरण पर विशेष विचार नहीं किया है, तथापि इसकी सत्यता में हमें संदेह नहीं। कम से कम यह तो सबको मानना पड़ेगा कि बालादित्य-राज और कोई नहीं—नरसिंहगुप्त ही थे। नरसिंहगुप्त की मुद्राओं[३] में बालादित्य की उपाधि है। इसी तरह शक्रादित्य का प्रथम कुमारगुप्त होना सर्वथा संभव है। कुमारगुप्त की मुद्राओं पर महेंद्रादित्य की उपाधि अंकित है। 'महेंद्र' और 'शक्र' का अर्थ एक ही है। अतएव शक्रादित्य संभवतः कुमारगुप्त (प्रथम) के सिवा और कोई न थे। आचार्य वामन के 'काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति' में कुमारगुप्त के विद्यानुराग का उल्लेख है। उनके समय में गुप्तों का पराक्रम बड़ा प्रखर था। अतएव उनका नालंदा-महाविहार जैसे विद्या-केंद्र का प्रथम स्थापक होना कोई आश्चर्य की बात नहीं। उनके बाद उनके वंशज राजा, नालंदा की श्री-वृद्धि और संरक्षण में, दत्तचित्त रहे। गुप्तवंशी राजाओं का समय भारतवर्ष का स्वर्णयुग कहा जाता है। उस समय देश बड़ा उन्नत और समृद्ध था। ऐसे समय में नालंदा-महाविहार की स्थापना होना सर्वथा स्वाभाविक है। यद्यपि ये राजा हिंदू थे, तथापि इन्होंने अपने विद्या-प्रेम तथा धार्मिक सहिष्णुता से प्रेरित होकर महाविहार की स्थापना की और उसकी उन्नति करने में निरंतर तत्पर रहे। कुमारगुप्त (प्रथम) का एक शिलालेख भिक्षु बुधमित्र द्वारा बुद्ध की एक मूर्त्ति के निर्माण का संस्मारक है। ऐसी दशा में यह बात संदेहातीत जान पड़ती है कि इन पराक्रमी और विद्याप्रेमी राजाओं द्वारा 'नालंदा' महाविहार का उत्तरोत्तर अभ्युदय होता गया।

(२) हर्षवर्धन

बालादित्य (नरसिंहगुप्त) के पुत्र वज्र (कुमारगुप्त—द्वितीय) के बाद, नालंदा-महाविहार के संरक्षकों में, हुएनसाँग ने मध्यभारत के जिस राजा का उल्लेख किया है, वह संभवतः कन्नौज के हर्षवर्धन ही थे। हुएनसाँग आगे चलकर नालंदा-महाविहार के संबंध में इनका स्पष्ट उल्लेख करता है। वह लिखता है—"इसके दक्षिण में शिलादित्य-राज का बनवाया हुआ पीतल का एक विहार है। यद्यपि यह अभी पूरा तैयार नहीं है, तथापि बनकर तैयार

---

[१] तिब्बती प्रमाण से मालूम होता है कि नालंदा में 'सुविष्णु' नामक एक ब्राह्मण ने भी एक सौ आठ मंदिर बनवाए थे।

[२] Journal of Bihar and Orissa Research Society, Vol. XIV, Part I.

[३] Allan: Gupta Coins.

होने पर इसका विस्तार सौ फीट होगा।" यह तो सब जानते हैं कि 'शिलादित्य-राज' हर्षवर्धन की ही उपाधि थी। उनकी मुद्राओं में यह अंकित है। 'हर्ष' का बौद्ध धर्म से प्रेम प्रसिद्ध ही है। महायान के सिद्धांतों के प्रचार के लिये कन्नौज में हर्ष ने एक सभा की थी। बड़गाँव की खुदाई में हर्ष की दो मुहरें मिली हैं। इस प्रकार यह बात स्पष्ट है कि गुप्तों के बाद नालंदा के प्रधान संरक्षक हर्ष ही रहे। उनके समय में यह विद्यालय अपने अभ्युदय की चरम सीमा को पहुँचा हुआ था। उनसे इसको अनेक प्रकार की सहायता मिलती थी। हुएनसाँग ने तो लिखा है कि और भी कई राजाओं से इसको आवश्यक सामग्री तथा सहायता मिलती रही। बड़गाँव में मौखरियों की दो मुद्राएँ मिली हैं। मौखरी राजा पूर्णवर्मा के संबंध में हुएनसाँग ने स्पष्ट लिखा है कि उन्होंने नालंदा में बुद्ध की एक खड़ी ताम्र-प्रतिमा बनवाई थी, जिसकी ऊँचाई अस्सी फीट थी और जिसके रखने के लिये छः मंजिल ऊँचे भवन की आवश्यकता थी। इसी प्रकार हर्षवर्धन के अन्य मित्र राजाओं से भी सहायता मिलती थी।

(३) पाल-वंश

हर्षवर्धन के बाद नालंदा-महाविहार का संरक्षण प्रधानतः पालवंशी राजाओं द्वारा होता रहा। पालों के आधिपत्य का सूत्रपात आठवीं ईसवी सदी के आरंभ में होता है। उस समय से बारहवीं सदी तक विश्वविद्यालय उन्हीं के संरक्षण में रहा। खुदाई में पालवंशियों की कई मुद्राएँ मिली हैं। देवपाल के शिलालेख से मालूम होता है कि उन्होंने वीरदेव को विद्यालय का प्रधानाध्यक्ष बनाया था। पालवंश के प्रथम राजा 'गोपाल' (प्रथम) ने (ई० सन् ७३०—७६८) ओदंतपुर[1] में एक विहार की स्थापना की और धर्मपाल ने (ई० सन् ७६९–८०९) विक्रमशिला[2] में एक दूसरे विहार की स्थापना की।[3] फिर भी नालंदा-महाविहार को इन पाल-वंशी राजाओं से समुचित सहायता मिलती गई। इन राजाओं के ऐसे शिलालेख मिले हैं, जिनमें विश्वविद्यालय के लिये दिए गए इनके दानों का उल्लेख है। इस वंश के अंतिम राजा 'गोविंदपाल' का नाम भी नालंदा से संबद्ध है। 'अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापालिका' की एक प्रतिलिपि नालंदा में गोविंदपाल के राज्य के चौथे वर्ष (ई० सन् ११६५) में तैयार हुई थी। इसके थोड़े ही दिन बाद मुसलमानों के हाथ से इस विशाल विद्यालय का ध्वंस हुआ। इसके बाद फिर एक बार इसे पुनरुज्जीवित करने की चेष्टा का उल्लेख है; पर वह चेष्टा विफल हुई। अंत में कुछ तीर्थिकों ने आग लगाकर इसे जला डाला!

हम ऊपर लिख चुके हैं कि आरंभ से ही नालंदा को देश के विद्यानुरागी राजा-महाराजाओं से अपरिमित सहायता मिलती रही। संभव है कि इसी कारण इस स्थान का नाम 'नालंदा' (अनंत दान) पड़ गया हो। पर इस नाम के संबंध में हुएनसाँग ने बड़ी दिलचस्प बातें लिखी हैं। जनश्रुति

---

[1] ओदंतपुर (उद्दंडपुर) का समीकरण विहार से हुआ है।—Journal of Behar and Orissa Research Society, XIV, P. 511

[2] डॉक्टर बनर्जी शास्त्री ने विक्रमशिला का समीकरण आधुनिक 'कियूर' नामक ग्राम से किया है, जो 'हिलसा' थाना के निकट, नालंदा से पंद्रह मील दूर है।

[3] R. D. Banerji: Pāla Chronology, J. B. O. R. S., XIV. P. 538.

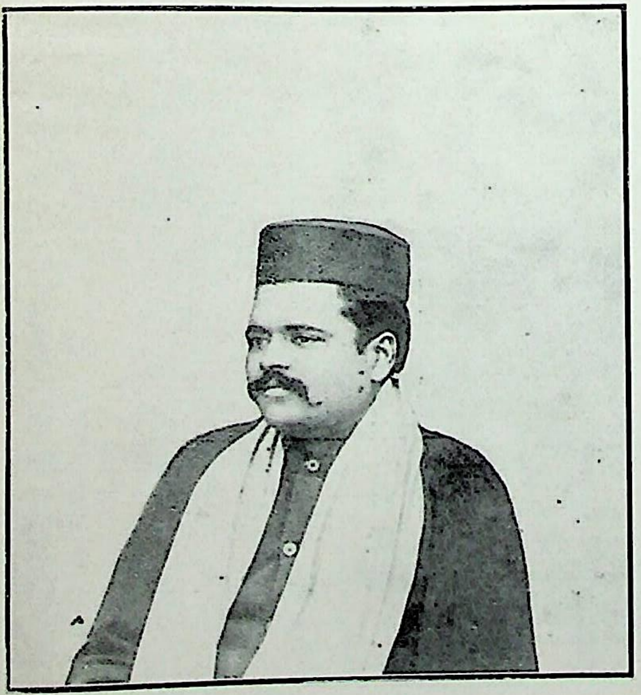

स्वर्गीय बाबू बालमुकुंद गुप्त

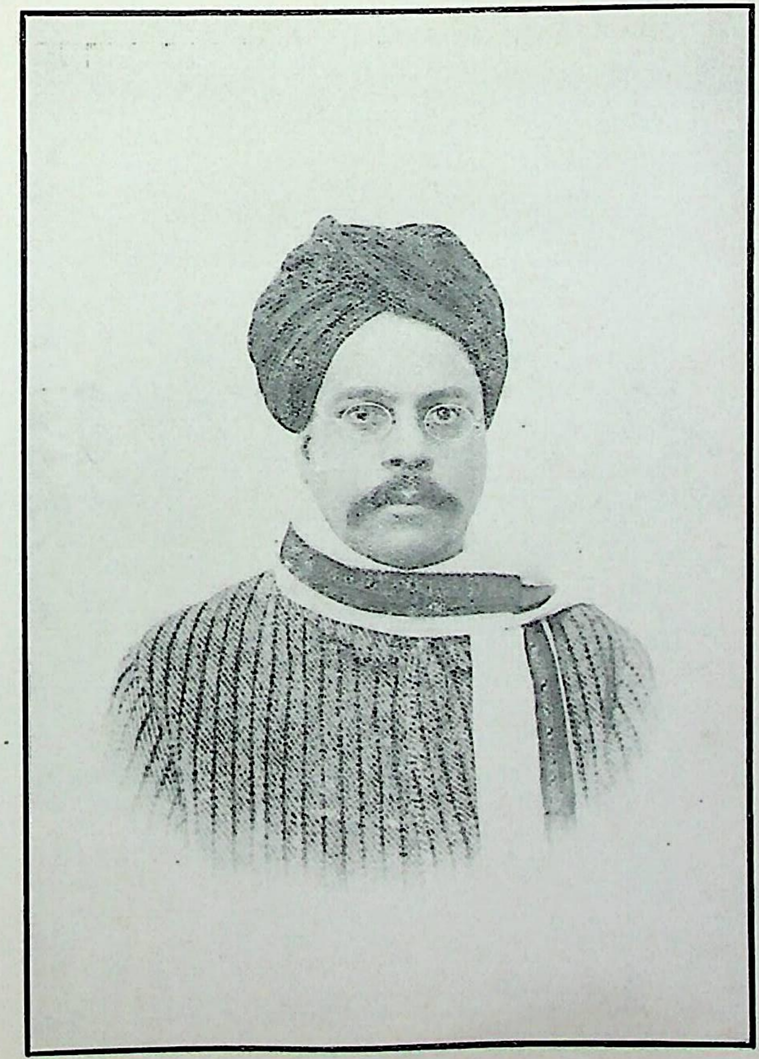

स्वर्गीय पंडित रामजीलाल शर्म्मा

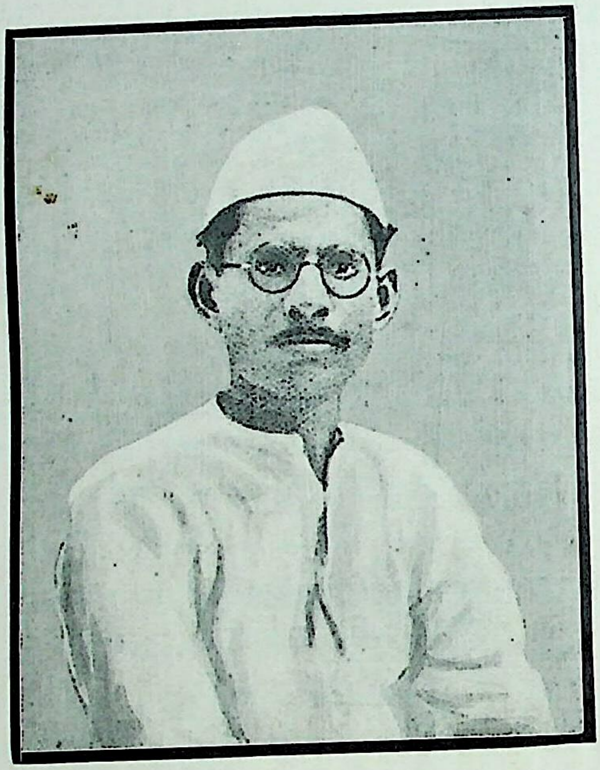

स्वर्गीय गणेशशंकर विद्यार्थी

(द्विवेदी जी के समय में आप 'सरस्वती' के सहकारी संपादक थे। आप पर द्विवेदी जी का अत्यधिक स्नेह था, और आप भी द्विवेदी जी के अनन्य भक्त थे।)

स्थान का नाम-करण

यह थी कि संघाराम के दक्षिण में आम्र-वाटिका के बीच एक तालाब था। उसके निवासी 'नाग' का नाम नालंदा था और उसी से इस स्थान का यह नाम पड़ गया। किंतु हुएनसाँग यह मत स्वीकार नहीं करता। प्राचीन काल में तथागत भगवान् जब बोधिसत्त्व का जीवन व्यतीत कर रहे थे तब एक बार एक बड़े देश के राजा हुए और इसी स्थान को अपनी राजधानी बनाई। करुणा से आर्द्र होकर वे निरंतर यहाँ के जीवों के दुःख दूर करने में तल्लीन रहते थे। इसकी स्मृति में वे 'अनंत उदारता के अवतार'—अथवा 'न-अलं-दा' (अप्रतिम दानी)—कहे जाने लगे, और संघाराम का यह नामकरण उसी स्मृति की रक्षा के लिये हुआ। हुएनसाँग 'जातक-कथा' के आधार पर नालंदा नाम की यही व्युत्पत्ति मानता है। किंतु इत्सिंग उपर्युक्त जनश्रुति वाली बात को ही सच बताता है। हाल में पंडित हीरानंद शास्त्री ने एक और मनोरंजक सिद्धांत पेश किया है। वे नालंदा की व्युत्पत्ति 'नल'—अर्थात् कमल—के फूलों से बतलाते हैं। कमल के फूल आज भी नालंदा में प्रचुरता से पाए जाते हैं। पर जो हो, हुएनसाँग और इत्सिंग के प्राचीन मत के सामने यह मत मान्य नहीं हो सकता। हुएनसाँग के समय में 'नालंदा' का नाम दिग्दिगंत में व्याप्त हो गया था। इसकी उज्ज्वल कीर्त्ति-कौमुदी विश्व-विस्तृत हो चली थी। इसके यशःसौरभ से आकृष्ट होकर ही सुदूर देशों से हजारों यात्री और विद्यार्थी यहाँ आते थे। उन दिनों रेल न थी। मार्ग में बीहड़ से बीहड़ स्थल थे। डाकुओं और वन्य जंतुओं का भय था। इत्सिंग और हुएनसाँग के विवरणों के पढ़ने से यह पता लगता है कि कैसी-कैसी कठिनाइयों को पार कर वे यहाँ पहुँचे थे। वैसे दिनों में, दारुण कष्टों और विघ्नों का सामना करते हुए, विदेशियों के दल-के-दल का यहाँ आना 'नालंदा' की महत्ता का द्योतक है। उस महत्ता की कथा को सुरक्षित रखने का श्रेय चीनी यात्रियों को है, जिनके यात्रा-विवरण हमारे इतिहास के रत्न हैं। हुएनसाँग, इत्सिंग, कि-ई, वुकुंग आदि के यात्रा-वृत्तांतों से हमें नालंदा की शिक्षा-पद्धति आदि का बड़ा ही रोचक विवरण मिलता है।

प्रवेशिका-परीक्षा और शिक्षा-पद्धति

नालंदा की शिक्षा-प्रणाली कितनी उच्च कोटि की थी, इसका कुछ अनुमान हम हुएनसाँग के दिए हुए द्वारपंडित के वर्णन से कर सकते हैं। हम कह चुके हैं कि विद्यालय के चारों ओर, मध्य-भारत के किसी राजा की (जो संभवतः हर्ष ही थे) बनवाई हुई, एक ऊँची प्राचीर थी। उसमें केवल एक ही द्वार था। उस द्वार पर एक प्रकांड विद्वान् द्वारपंडित रहता था। वह उन नए विद्यार्थियों की परीक्षा लेता था, जो विद्यालय में दाखिल होने के लिये सुदूरवर्त्ती देशों से आते थे। यही उन लोगों की प्रवेशिका-परीक्षा थी। जो द्वारपंडित के प्रश्नों का संतोषजनक उत्तर न दे सकते थे, उन्हें निराश होकर लौट जाना पड़ता था! इस परीक्षा में सफल होने के लिये प्राचीन और नवीन ग्रंथों का मननशीलतापूर्वक अध्ययन करना आवश्यक था। नवागत विद्यार्थियों को कठिन शास्त्रार्थ द्वारा अपनी योग्यता सिद्ध करनी पड़ती थी। यह परीक्षा इतनी कठिन थी कि दस में सात या आठ प्रवेशार्थी असफल होकर लौट जाते थे[1]! जो दो-तीन सफल

---

[1] विक्रमशिला में भी यही प्रणाली थी। वहाँ छः द्वार थे। सब पर एक-एक द्वारपंडित थे।

स्वर्गीय गणेशशंकर विद्यार्थी

(द्विवेदी जी के समय में आप 'सरस्वती' के सहकारी संपादक थे। आप पर द्विवेदी जी का अत्यधिक स्नेह था, और आप भी द्विवेदी जी के अनन्य भक्त थे।)

यह थी कि संघाराम के दक्षिण में आम्र-वाटिका के बीच एक तालाब था। उसके निवासी 'नाग' का नाम नालंदा था और उसी से इस स्थान का यह नाम पड़ गया। किंतु हुएनसाँग यह मत स्वीकार नहीं करता। प्राचीन काल में तथागत भगवान् जब बोधिसत्त्व का जीवन व्यतीत कर रहे थे तब एक बार एक बड़े देश के राजा हुए और इसी स्थान को अपनी राजधानी बनाई। करुणा से आर्द्र होकर वे निरंतर यहाँ के जीवों के दुःख दूर करने में तल्लीन रहते थे। इसकी स्मृति में वे 'अनंत उदारता के अवतार'—अथवा 'न-अलं-दा' (अप्रतिम दानी)—कहे जाने लगे, और संघाराम का यह नामकरण उसी स्मृति की रक्षा के लिये हुआ। हुएनसाँग 'जातक-कथा' के आधार पर नालंदा नाम की यही व्युत्पत्ति मानता है। किंतु इत्सिंग उपर्युक्त जनश्रुति वाली बात को ही सच बताता है। हाल में पंडित हीरानंद शास्त्री ने एक और मनोरंजक सिद्धांत पेश किया है। वे नालंदा की व्युत्पत्ति 'नल'—अर्थात् कमल—के फूलों से बतलाते हैं। कमल के फूल आज भी नालंदा में प्रचुरता से पाए जाते हैं। पर जो हो, हुएनसाँग और इत्सिंग के प्राचीन मत के सामने यह मत मान्य नहीं हो सकता। हुएनसाँग के समय में 'नालंदा' का नाम दिग्दिगंत में व्याप्त हो गया था। इसकी उज्ज्वल कीर्त्ति-कौमुदी विश्व-विस्तृत हो चली थी। इसके यशःसौरभ से आकृष्ट होकर ही सुदूर देशों से हजारों यात्री और विद्यार्थी यहाँ आते थे। उन दिनों रेल न थी। मार्ग में बीहड़ से बीहड़ स्थल थे। डाकुओं और वन्य जंतुओं का भय था। इत्सिंग और हुएनसाँग के विवरणों के पढ़ने से यह पता लगता है कि कैसी-कैसी कठिनाइयों को पार कर वे यहाँ पहुँचे थे। वैसे दिनों में, दारुण कष्टों और विघ्नों का सामना करते हुए, विदेशियों के दल-के-दल का यहाँ आना 'नालंदा' की महत्ता का द्योतक है। उस महत्ता की कथा को सुरक्षित रखने का श्रेय चीनी यात्रियों को है, जिनके यात्रा-विवरण हमारे इतिहास के रत्न हैं। हुएनसाँग, इत्सिंग, कि-ई, वुकुंग आदि के यात्रा-वृत्तांतों से हमें नालंदा की शिक्षा-पद्धति आदि का बड़ा ही रोचक विवरण मिलता है।

स्थान का नाम-करण

प्रवेशिका-परीक्षा और शिक्षा-पद्धति

नालंदा की शिक्षा-प्रणाली कितनी उच्च कोटि की थी, इसका कुछ अनुमान हम हुएनसाँग के दिए हुए द्वारपंडित के वर्णन से कर सकते हैं। हम कह चुके हैं कि विद्यालय के चारों ओर, मध्य-भारत के किसी राजा की (जो संभवतः हर्ष ही थे) बनवाई हुई, एक ऊँची प्राचीर थी। उसमें केवल एक ही द्वार था। उस द्वार पर एक प्रकांड विद्वान् द्वारपंडित रहता था। वह उन नए विद्यार्थियों की परीक्षा लेता था, जो विद्यालय में दाखिल होने के लिये सुदूरवर्त्ती देशों से आते थे। यही उन लोगों की प्रवेशिका-परीक्षा थी। जो द्वारपंडित के प्रश्नों का संतोषजनक उत्तर न दे सकते थे, उन्हें निराश होकर लौट जाना पड़ता था! इस परीक्षा में सफल होने के लिये प्राचीन और नवीन ग्रंथों का मननशीलतापूर्वक अध्ययन करना आवश्यक था। नवागत विद्यार्थियों को कठिन शास्त्रार्थ द्वारा अपनी योग्यता सिद्ध करनी पड़ती थी। यह परीक्षा इतनी कठिन थी कि दस में सात या आठ प्रवेशार्थी असफल होकर लौट जाते थे[1]! जो दो-तीन सफल

---

[1] विक्रमशिला में भी यही प्रणाली थी। वहाँ छः द्वार थे। सब पर एक-एक द्वारपंडित थे।

होते थे उनका भी सारा अभिमान, विद्यालय के भीतर जाने पर, चूर हो जाता था। तारीफ तो यह कि द्वार-परीक्षा की इतनी कठिनता होते हुए भी हुएनसाँग के समय में विद्यार्थियों की संख्या दस हजार थी![1] लब्धप्रतिष्ठ बौद्ध भिक्षु उनके अध्यापक थे। शिक्षा-पद्धति ठीक प्राचीन गुरुकुलों के ढंग की थी। छात्रों और अध्यापकों में बड़ा स्नेह था। छात्र बड़े गुरुभक्त थे। 'तपसा ब्रह्मचर्य्येण श्रद्धया'—इन तीनों के सुभग संमिश्रण से छात्रों का जीवन दीप्तिमान् था। बौद्धधर्मग्रंथों के अतिरिक्त वेद, हेतुविद्या, शब्दविद्या, तंत्र, सांख्य तथा अन्य विविध विषय भी पढ़ाए जाते थे। सर्वांगीण शिक्षा के प्रभाव से, हुएनसाँग के समय में, एक सहस्र ऐसे विद्वान् थे जो दस विषयों में निपुण थे—पाँच सौ ऐसे थे जो तीस विषयों के पंडित थे—और दस ऐसे थे जो पचास विषयों में पारंगत थे। तत्कालीन कुलपति 'प्रधानाचार्य शीलभद्र' तो सभी विषयों के पारदर्शी थे। हुएनसाँग ने यहाँ आकर इन्हीं का शिष्यत्व ग्रहण किया था। पुनः इत्सिंग के विवरण से पता चलता है कि यहाँ शिक्षा के दो विभाग थे—प्राथमिक और उच्च। प्राथमिक शिक्षा में सबसे पहले व्याकरण पढ़ना पड़ता था। उसके बाद क्रमशः हेतुविद्या, अभिधर्मकोष और जातक[2] का अध्ययन करना पड़ता था। इस प्रकार प्राथमिक शिक्षा समाप्त कर लेने पर विद्यार्थी उच्च शिक्षा ग्रहण करने के योग्य होते थे। तब उन्हें विद्वान् अध्यापकों के साथ संभाव्य प्रश्नों पर शास्त्रार्थ करके ज्ञानार्जन करना पड़ता था। इस तरह जब उनकी शिक्षा समाप्त हो जाती थी तब वे राजसभा में जाते थे; वहाँ अपनी विद्वत्ता का परिचय देकर किसी राजकीय पद पर नियुक्त होते अथवा भूमि आदि का दान पाते थे। प्रखर प्रतिभावाले विद्वानों की स्मृति-रक्षा के लिये उनका नाम प्रमुख एवं उच्च द्वारों पर धवल वर्णों में अंकित कर दिया जाता था। परंतु जिन लोगों की प्रवृत्ति अधिक विद्या प्राप्त करने की होती थी वे और कोई काम न करके अपने अध्ययन का क्रम पूर्ववत् दृढ़ रखते थे। उन्हें वेदों और शास्त्रों का भी अध्ययन करना पड़ता था। गुरु और शिष्य का संबंध आदर्श था। परस्पर वार्त्तालाप में गुरुओं से शिष्यों को निरंतर अमूल्य उपदेश मिला करते थे। हुएनसाँग ने लिखा है कि सारा दिन ज्ञान-चर्चा और वाद-विवाद तथा गूढ़ प्रश्नों के समाधान में ही बीतता था।

नियमानुशासन

विद्यालय का नियमानुशासन भी प्रशंसनीय था। सब लोगों को संघ के उन सभी नियमों का पालन करना पड़ता था, जिन्हें स्वयं भगवान् बुद्ध ने स्थिर किया था। भेद-भाव का नाम न था। राजा हो या रंक, छोटा हो या बड़ा, बूढ़ा हो या जवान—सब पर नियम समान भाव से लागू होते थे। जो लोग जितने अधिक वर्ष के शिष्य होते थे, उनका पद उतना ही उच्च गिना जाता था।[3] अर्थात् विद्या के अनुसार उनका पद होता

---

[1] इत्सिंग के समय में, न जाने क्यों, यह संख्या तीन हजार रह गई थी!

[2] भगवान् बुद्ध के पूर्व जन्मों की कथाएँ।

[3] हुएनसाँग के समय में केवल बालादित्य-राज के संघाराम में, उनके लिहाज से, इस नियम में परिवर्त्तन कर दिया गया था। संघाराम बनवाने के बाद बालादित्य ने सभी देशों के महात्माओं को निमंत्रित किया। चीन देश के दो साधु कुछ देर करके आए। जब बालादित्य उनकी अभ्यर्थना करने गए तब सिंहद्वार पर साधुओं का कुछ पता न चला। इससे बालादित्य को इतनी धार्मिक वेदना हुई कि राज्य-परित्याग करके वे साधु

था।[1] संघ के सभी निवासियों को सब काम ठीक समय पर करना पड़ता था। पूजा-पाठ, भोजन, शयन, सबके लिये समय नियत था। समय-ज्ञान के लिये जलघड़ी का प्रबंध था। उसी के अनुसार सूचना देने के लिये घंटा बजाया जाता था। घंटा बजाने के लिये लड़के और 'कर्मदान' (विशेष कर्मचारी) नियुक्त थे। इत्सिंग ने जलघड़ी और घंटे का बड़ा रोचक वर्णन किया है। यदि कोई अनियत समय पर कोई काम करते पाया जाता था तो नियमानुसार वह दंड का भागी होता था। हुएनसाँग लिखता है—'इस संघाराम के नियम जैसे कठोर हैं वैसे ही साधु लोग भी उनका पालन करने में तत्पर हैं और संपूर्ण भारतवर्ष भक्ति के साथ इन लोगों का अनुसरण करता है।'[2] इतना ही नहीं, विद्यार्थियों को इन नियमों के अतिरिक्त विनय और शिष्टता के नियमों का भी पालन करना पड़ता था। व्यसन का तो उनमें नाम भी न था। उनका चरित्र शुद्ध और जीवन तपस्यामय था। छात्रावास की कोठरियों में उनके सोने के लिये जो पत्थर के मंच बने हुए हैं, वे इस ढंग के हैं कि उन पर शायद ही कोई सुख की नींद सो सके! निश्चय ही वे जान-बूझकर ऐसे बनाए गए थे। उनसे यह स्पष्ट विदित होता है कि वहाँ विद्यार्थि-जीवन में 'श्वान-निद्रा' के आदर्श का किस प्रकार पालन किया जाता था। संघाराम की एक-एक कोठरी में एक-एक विद्यार्थी के रहने का प्रबंध था। उसी में उनकी चीजें रखने तथा सोने की भी व्यवस्था थी। विद्यालय में ऐसे सौ मंच बने हुए थे, जिन पर गुरु बैठकर शिष्यों को शिक्षा देते थे। वाद-विवाद के लिये बड़े-बड़े कमरे बने हुए थे, जिनमें दो हजार भिक्षु एक साथ बैठ सकते थे। ज्योतिर्विद्या की पढ़ाई के लिये ऊँचे-ऊँचे मानमंदिर बने हुए थे।

विद्यालय के आय-व्यय आदि का प्रबंध

वह विशुद्ध निःशुल्क शिक्षा थी। बिना किसी तरह के खर्च के ही विद्यार्थियों की दैनिक आवश्यकताएँ पूरी हो जाती थीं। हुएनसाँग ने लिखा है कि देश के तत्कालीन राजा ने एक सौ गाँवों का 'कर' विद्यालय के लिये अलग कर दिया था। यह राजा संभवतः 'हर्ष' ही होगा। 'हर्ष' के संबंध में हुएनसाँग ने लिखा है—'जब, हर्ष ने संघाराम में बुद्ध-प्रतिमा बनवाने का निश्चय किया तब उन्होंने कहा, मैं अपनी भक्ति प्रदर्शित करने के लिये प्रतिदिन संघ के चालीस भिक्षुकों को भोजन कराऊँगा।' इसके अतिरिक्त उक्त गाँवों के दो सौ गृहस्थ भी कई सौ मन चावल और कई सौ मन दूध तथा मक्खन प्रति दिन दान करते थे[3]।

हो गए। संघाराम के नियमानुसार उन्हें निम्नतम कोटि के साधुओं में स्थान मिला। उनको यह सोचकर कुछ दुःख हुआ कि वे जब वह राजा थे तब उनका कितना सम्मान होता था और अब इस हालत में उनका पद अत्यंत अल्पवयस्क लोगों के सामने भी हास्यास्पद हो गया। इस समय वे बूढ़े हो गए थे। अस्तु, उनके संघाराम में यह नियम कर दिया गया कि जिसकी जितनी अधिक आयु हो उसका पद भी उतना ही अधिक ऊँचा हो।

[1] मिलान कीजिए—"वित्तं बन्धुर्वयः कर्म्म विद्या भवति पञ्चमी। एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम्॥ [मनु०, अध्याय २]

[2] देखिए—'हुएनसाँग का भारत-भ्रमण' नामक पुस्तक (इंडियन प्रेस, प्रयाग), पृष्ठ ४१३.

[3] काशी (सारनाथ ?) में प्राप्त एक शिलालेख में नालंदा के निकटवर्त्ती अरण्यगिरि नामक स्थान के निवासी दंडिक नामक एक सज्जन के किसी विशेष दान का उल्लेख है।

विद्यालय की ओर से विद्यार्थियों के लिये अन्न, वस्त्र, शय्या और औषध का समुचित प्रबंध था। हुएनसाँग जब तक नालंदा में रहा तब तक उसे एक सौ बीस जंबीर, बीस सुपारी, आधा छटाँक कपूर और लगभग साढ़े तीन सेर महाशालि चावल मिलता रहा। इसके अतिरिक्त उसे प्रति मास लगभग तीन-चार सेर तेल, यथेष्ट मक्खन और अन्य आवश्यक वस्तुएँ भी मिलती थीं। इत्सिंग के समय में विद्यालय के अधिकार में दो सौ गाँव आ चुके थे। मालूम होता है, हुएनसाँग के बाद और इत्सिंग के समय तक, सौ और गाँवों का 'कर' विद्यालय के खर्च के लिये मिल चुका था। ये गाँव राजाओं की कई पीढ़ियों के दान के फल थे। आगे चलकर पालवंशी राजाओं के समय में भी इस तरह की राजकीय सहायता और दान की प्रणाली जारी रही। श्री हीरानंद शास्त्री को नालंदा में श्री देवपालदेव का एक ताम्रपत्र मिला था। उसमें देवपाल द्वारा महाविहार के संचालन के लिये[1] और चतुर्दिक् से आए हुए भिक्षुकों के सेवा-सत्कार तथा धर्म-ग्रंथों के लिखने के लिये 'राजगृह' और 'गया' जिले के पाँच गाँवों के दान का उल्लेख है। इसी प्रकार अंत तक एक के बाद दूसरे राजा से सहायता मिलती गई। इसी लिये यहाँ के विद्यार्थी, जीवन की आवश्यकताओं की चिंता से मुक्त होकर, निःशुल्क शिक्षा पाते हुए निरंतर ज्ञानार्जन में दत्तचित्त रहते थे।

पुस्तकालय

विद्यालय में एक बहुत विशाल पुस्तकालय भी था। इसके लिये यहाँ के 'धम्मगंज' नामक स्थान में तीन भव्य भवन बने हुए थे—रत्नसागर, रत्नदधि और रत्नरंजक। इनमें 'रत्नदधि' नौ खंड का था। इन नौ खंडों में असंख्य पुस्तकें सजी रहती थीं। पुस्तकालय में बौद्ध धर्म-ग्रंथों की प्रतिलिपि तैयार करने के लिये अनेक भिक्षु नियुक्त थे। दूर-दूर देशों के विद्वान् भी आकर यहाँ के ग्रंथों की प्रतिलिपि ले जाया करते थे। हुएनसाँग यहाँ दो वर्ष रहकर छः सौ सत्तावन ग्रंथों की प्रतिलिपि तैयार करके अपने साथ ले गया था। इत्सिंग भी अपने साथ कोई चार सौ पुस्तकों की प्रतिलिपि ले गया। नालंदा के हस्तलिपिकार अपनी तैयार की हुई प्रतिलिपि में अपने नाम के साथ-साथ तत्कालीन राजा के राज्यकाल का भी उल्लेख कर देते थे। यही कारण है कि नालंदा की जो हस्तलिखित पुस्तकें आज-कल यत्र-तत्र मिल जाती हैं, उनके समय का बोध सुगमता से हो जाता है। ऐसे मिल जानेवाले ग्रंथों में कितने ही पाल-कालीन होते हैं। इससे मालूम होता है कि उस समय बहुत-से ग्रंथों की प्रतिलिपियाँ तैयार की गई थीं। नालंदा के कई हस्तलिखित ग्रंथ आज केंब्रिज और लंडन के पुस्तकालयों में सुरक्षित हैं!

नालंदा-महाविहार में विद्या के सभी साधन विद्यमान थे। इसी लिये यहाँ से एक से एक दिग्गज विद्वान् निकलते थे, जो केवल स्वदेश में ही नहीं, सुदूर विदेशों में भी जाकर ज्ञान का प्रचार करते थे। हुएनसाँग ने नालंदा के कुछ उद्भट पंडितों का नामोल्लेख किया है। लिखा है कि प्रत्येक विद्वान्

---

[1] "नालंदा-परिपालनाय"—दानपत्र के यथार्थ शब्द हैं। इस ताम्रपत्र के ऊपर दो पार्श्वस्थ हरिणों के साथ धर्मचक्र का चिह्न अंकित है। यही नालंदा-महाविहार का मुद्रांक था।

महाविद्यालय के कुछ प्रसिद्ध विद्वान्

ने कोई दस-दस पुस्तकें और टीकाएँ बनाई थीं, जो चारों ओर देश में प्रचलित हुईं और अब तक प्रसिद्ध हैं। अपनी विद्वत्ता से ज्ञानहीन संसारी मनुष्यों को प्रबुद्ध करनेवाले धर्मपाल[1] और चंद्रपाल, अपने श्रेष्ठ उपदेश की धारा दूर तक प्रवाहित करनेवाले गुणमति और स्थिरमति, सुस्पष्ट युक्तियोंवाले प्रभामित्र, विशुद्ध वाग्मी जिनमित्र, आदर्श चरित्रवान् और बुद्धिमान् ज्ञानचंद्र, शीघ्रबुद्ध तथा शीलभद्र—महाविहार के शिक्षकों में मान्य प्रधान थे। इनमें जिनमित्र 'मूलसर्वास्तिवाद-निकाय' के प्रणेता थे। हुएनसाँग के समय में शीलभद्र[2] ही विद्यालय के प्रधानाचार्य थे। वे बंगाल के एक राजकुमार थे, पर संसार से विरक्त हो धर्म और विद्या की उपासना में लग गए थे। सभी सूत्रों और शास्त्रों पर उनका अखंड अधिकार था। हुएनसाँग उन्हीं का शिष्य रहा। इत्सिंग ने उनके अतिरिक्त नागार्जुन, देव, अश्वघोष, वसुबंधु, दिङ्नाग, कमलशील, रत्नसिंह प्रभृति अन्य कई प्रसिद्ध विद्वानों का उल्लेख किया है। नवीं ईसवी सदी के प्रारंभ में नालंदा के विद्वान् 'शांतरक्षित' भोट देश (तिब्बत) के राजा द्वारा निमंत्रित होकर वहाँ गए थे। उन्हीं के द्वारा वहाँ के आधुनिक 'लामा'-मत का बीज-वपन हुआ। उन्हें वहाँ 'आचार्य बोधिसत्त्व' की उपाधि मिली थी। उनके बाद नालंदा से 'कमलशील' वहाँ निमंत्रित होकर गए और अभिधर्म-शाखा के अध्यक्ष बनाए गए[3]। हमें पालों के समय के कुछ ऐसे ही विद्वानों का भी पता लगता है। यथा—वीरदेव, जिन्हें देवपाल ने नालंदा का प्रधानाचार्य बनाया था। पूर्वोक्त 'हिलसा' नामक स्थान में देवपाल का एक शिलालेख मिला है, जिसमें मंजुश्रीदेव नामक एक अन्य विद्वान् का भी उल्लेख है। नयपाल (१०१५ ई०) के समय में नालंदा-महाविहार के प्रधानाचार्य 'दीपंकरश्रीज्ञान' थे, जिन्हें भोट के राजा की प्रार्थना के अनुसार वहाँ जाना पड़ा था। नालंदा के और भी कई प्रकांड पंडितों ने बाहर जाकर ज्ञान का आलोक फैलाया था। इनका वर्णन करते हुए इत्सिंग ने लिखा है कि ये सभी समान रूप से प्रसिद्ध थे।

धार्मिक आदर्श और महाविहार के विशिष्ट मंदिर, आवास-भवन इत्यादि

नालंदा-महाविहार का धार्मिक आदर्श बौद्धधर्म का महायान-संप्रदाय था। यहाँ सर्वास्तिवाद की प्रधानता थी। हुएनसाँग के समय में यह विद्यालय तांत्रिक मत का केंद्र हो रहा था। नालंदा-महाविहार की यह बहुत बड़ी खूबी है कि यद्यपि वह सर्वतोभावेन बौद्ध विद्यालय था तथापि सांप्रदायिक असहिष्णुता वहाँ लेशमात्र न थी। वहाँ बौद्ध मूर्त्तियों के साथ शिव, पार्वती आदि हिंदू देव-देवियों की मूर्त्तियों का पाया जाना इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है। पाठकों को यह जानने की भी उत्सुकता होगी कि इतने अधिक पंडितों और विद्यार्थियों के रहने का क्या प्रबंध था। किंतु आज बड़गाँव में जो थोड़ी-सी खुदाई हुई है, सिर्फ उसी के देखने से यह मालूम हो जाता है कि हज़ारों विद्यार्थियों और विद्वानों के रहने का कैसा उत्तम प्रबंध था। अध्यापकों

---

[1] ये कांचीपुर के निवासी तथा 'शब्दविद्यासंयुक्तशास्त्र' के रचयिता थे।

[2] इन लोगों के संक्षिप्त परिचय के लिये मैक्समूलर की 'इंडिया' नामक पुस्तक देखिए।

[3] कमलशील की पंजिका (टीका) के साथ शांतरक्षित का 'तत्त्वसंग्रह', बड़ौदा के गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज में, प्रकाशित हुआ है।

और छात्रों के रहने के लिये वहाँ एक से एक विस्तृत, विशाल और दर्शनीय भवन बने हुए थे। ऊपर कहा जा चुका है कि नालंदा में किस प्रकार एक के बाद दूसरे राजा संघारामों का निर्माण कराते रहते थे। हुएनसाँग ने यहाँ के संघारामों और कुछ विहारों का वर्णन किया है[1]। यहाँ का एक विहार कोई दो सौ फीट ऊँचा था। बालादित्य-राज का बनवाया हुआ एक विहार तो तीन सौ फीट ऊँचा था, यह बहुत विशाल था। हुएनसाँग लिखता है—"इसकी सुंदरता, विस्तार और इसके भीतर बुद्धदेव की मूर्त्ति इत्यादि सब बातें ठीक वैसी ही हैं जैसी बोधिवृक्ष के नीचेवाले विहार में हैं[2]।" बुधभद्र का निवास-भवन, जिसमें हुएनसाँग स्वयं ठहरा था, चार खंड का था। इन विशाल एवं मनोहर मंदिरों की प्रशंसा में हुएनसाँग के जीवनी-लेखक 'हुई-ली' ने लिखा है—"समलंकृत शिखर तथा सुषमापूर्ण अट्टालिकाएँ उत्तुंग गिरि-शृंगों की तरह परस्पर संमिलित हैं। वेधशालाएँ प्रातःकालीन वाष्प में लुप्त-सी जान पड़ती हैं और ऊपर के कमरे बादलों से भी ऊँचे जान पड़ते हैं। खिड़कियों से यह देखा जा सकता है कि हवा और मेघ किस प्रकार नए आकारों की सृष्टि करते हैं। गगनचुंबी वलभियों के ऊपर सूर्य-चंद्र-ग्रहण का स्पष्ट निरीक्षण किया जा सकता है। गहरे और निर्मल जलाशय लाल और नीले कमलों को बड़ी सुंदरता से धारण किए हुए हैं। बीच-बीच में उन पर विस्तीर्ण अमराइयों की बड़ी सुंदर छाया पड़ती है। बाहर के सभी चैत्य, जिनमें भिक्षुकों के आवास हैं, चार खंड के हैं। सीढ़ियों में सर्पाकार झुकाव, छतों के सुरंजित छोर, खंभों की नफीस नक्काशी, वेदिकाओं (railings) की मनोहर पंक्तियाँ, खपरैल छतों के ऊपर हजारों रंगों में प्रतिबिंबित प्रकाश—ये सब मिलकर उस दृश्य की श्री-वृद्धि करते हैं।"

वस्तु तथा मूर्त्ति-कला

नालंदा की वास्तु तथा मूर्त्ति-कला के संबंध में कुछ कहे बिना यह विवरण अधूरा रह जायगा। यहाँ के भवनों की छेकन (lay out, plan) में इतना सौष्ठव है कि आज खोदकर निकाले गए भग्नावशेषों की दशा में भी उन्हें देखकर हृदय आनंदित हो उठता है, और उनके बनी हुई दशा के भव्यता का चित्र आप ही आप आँखों के आगे खिंच जाता है। एक के बाद एक भवन यहाँ के स्थपति इस खूबी से बनाते गए हैं मानों सारे विद्यापीठ का नक्शा उन्होंने पहले ही से सोच रक्खा हो। कोई भी इमारत ऐसी नहीं है जो बेजोड़, बेमेल वा कुठौर मालूम पड़ती हो। जिस भवन-मालिका के निर्माण में एक सहस्र वर्ष का लंबा समय लगा हो, वहाँ ऐसे सौष्ठव का निर्माण पहुँचे हुए शिल्पियों के ही मस्तिष्क का काम है। नालंदा की खुदाई के पहले भारतीय स्थापत्य के इतिहास के विद्वानों का मत था कि इमारतों में कमानियों—डाटों (arches)—का प्रयोग भारत ने अरब से सीखा है, पहले के भारतीय वास्तु-शिल्पी कमानी के सिद्धांत से अनभिज्ञ थे। किंतु नालंदा के उद्घाटित होने पर यह अनुमान निर्मूल सिद्ध हुआ। आज जो चार प्रकार की

---

१. हुएनसाँग के वर्णन के अनुसार रेवरेंड हिरास ने नालंदा-महाविहार का एक बड़ा सुंदर मानचित्र तैयार किया था। देखिए—Journal of Bihar and Orissa Research Society, March, 1928.

२. 'हुएनसाँग का भ्रमण-वृत्तांत' (इंडियन प्रेस), पृष्ठ ४१८

कमानियाँ—अर्थात् गोल, कुबड़ी, नोकदार और समथल—भवनों के निर्माण में व्यवहृत होती हैं, उन चारों ही के नमूने यहाँ की इमारतों में मिले हैं। यहाँ के इमारतों की पुष्ट और सुडौल ईंट ऐसी सुघड़ता से चिनी गई है कि कहीं-कहीं तो उनकी दरज तक नहीं मालूम होती। नालंदा के छात्रावास और कमरे आदि देखने पर सचमुच ही आज-कल के प्रसिद्ध विद्यालय भी फीके-से लगते हैं। कहीं-कहीं मंचादि की भित्तियों पर ऐसी सुंदर चित्र-मूर्त्तिकारी है कि देखते ही बनता है। कहीं बुद्ध के जातक की कथाओं की बातें अंकित हैं, कहीं शिव और पार्वती की प्रतिकृति, कहीं बाजा बजाती हुई किन्नरियाँ, कहीं गजलक्ष, कहीं अग्नि, कहीं कुबेर, कहीं मकराकृति आदि। एक बृहत् स्तूप के निकट भूमिस्पर्श मुद्रा में बुद्धदेव की एक भव्य विशाल मूर्त्ति है। वह आकार में शायद बोध-गया की मूर्त्ति के लगभग होगी। यहाँ के लोग उसे आज-कल बटुकभैरव की मूर्त्ति समझते हैं और उसकी पूजा करते हैं! यहाँ इमारतों पर जो कतिपय बुद्ध-मूर्तियाँ मसाले की बनी हैं—वे इतनी भावपूर्ण हैं कि उनका शब्द-चित्रण असंभव-सा है। बुद्ध के प्रशांत भव्य मुखमंडल पर दया, करुणा और दिव्य सौंदर्य की जो अभिव्यक्ति शिल्पी ने की है—उनके विमल और 'विशाल ध्यानस्थ नेत्रों से जो आभा, आर्द्रता, गंभीरता, एकाग्रता एवं विश्व-वेदना उसने टपकाई है—उसके दर्शन करके किसका हृदय पवित्र एवं निष्पंक न हो जायगा! यहाँ की प्रस्तर-मूर्त्तियाँ भी ऐसी ही सुंदर हैं, और छोटी-छोटी धातु-प्रतिमाओं में पावन लोकोत्तर भावों की व्यंजना में तो कलावंतों ने कमाल कर दिया है। अंग-प्रमाण (एनाटोमी) की जो पाश्चात्य परिभाषा है, उसका चाहे इन मूर्त्तियों में अभाव हो, किंतु भाव और कल्पना के निदर्शन में तो ये अद्वितीय हैं, अर्थात् कला का वास्तविक उद्देश्य—'हृदय में लोकोत्तर आनंद का उद्बोधन'—इनके द्वारा पूर्णतः सिद्ध होता है।

कूप और जलाशय

हुएनसाँग ने नालंदा के एक विशाल कूप का वर्णन किया है। खुदाई में भी एक अठपहला सुंदर कुँआँ मिला है। इस कुएँ को देखकर हम इसका जल पीने का लोभ संवरण न कर सके। वास्तव में जल सुस्वादु और निर्मल है। कई प्राचीन जलाशय अब भी यहाँ की शोभा बढ़ा रहे हैं। एक तालाब तो ऐसा है, जिसमें स्नान करने से—लोगों का ऐसा ही विश्वास है—कुष्ठ रोग दूर हो जाता है। कम से कम एक ऐसे सज्जन को तो हम स्वयं जानते हैं, जिनका बढ़ा हुआ कुष्ठ रोग केवल इस तालाब में नित्य स्नान करने से छूट गया। शरद-ऋतु में ये विस्तृत जलाशय विकसित कमलों से विभूषित होकर अत्यंत मनोहर देख पड़ते हैं।

प्रहार और संहार

नालंदा के संघारामों को देखने से जान पड़ता है कि उन पर हृदयहीन शत्रुओं के अनेक प्रहार हुए थे। कुछ मंदिर और आवास प्राचीन भग्नावशेषों के ऊपर बने मालूम होते हैं। नालंदा-महाविहार पर प्रथम आघात संभवतः बालादित्य (नरसिंहगुप्त) के शत्रु 'मिहिरकुल' का हुआ होगा। बालादित्य-राज ने इमारतों की फिर मरम्मत करा दी होगी। दूसरा प्रहार 'शशांक' का हुआ होगा[१]। इस बार हर्षवर्धन ने मरम्मत कराई होगी।

---

[१] Heras: A Note on the Excavation of Nālandā and its History, J. B. B. R. A. S., II. N. S. (P. 215-16).

संघारामों के चारों ओर ऊँची चहारदीवारी बनाने का उद्देश्य संभवतः उन्हें बाहरी आक्रमणों से सुरक्षित रखना ही होगा। जो हो, नालंदा पर अंतिम घोर प्रहार मुसलमानों का हुआ। प्रहार क्या, संहार ही हुआ! मुसलमान इतिहासकार 'मिनाज' (Minatz) के अनुसार मगध पर मुसलमानों की चढ़ाई का समय ११९९ ई० है। उसी समय इधर के तीनों विद्यालयों—नालंदा, विक्रमशिला और ओदंतपुर—का विध्वंस हुआ। तारानाथ से मालूम होता है कि मगध की पहली चढ़ाई में मुसलमानों को निराश होकर भाग जाना पड़ा था। पर दूसरी चढ़ाई में महम्मद बख्तियार अचानक बड़ी तैयारी के साथ टूट पड़ा। उसके आक्रमण का पता किसी को न था![1] उस समय गोविंदपाल मगध के राजा थे। वे बहुत बूढ़े हो गए थे। लड़ाई में वे वीर-गति को प्राप्त हुए। फिर तो खूब लूट-पाट मची। उसी समय नालंदा-महाविहार का विनाश हुआ। बहुत-से भिक्षु मार डाले गए।[2] कुछ विदेशों में भाग गए। अंध तांत्रिक मत के दुष्प्रभाव से, धर्मभ्रांतियों से, व्यभिचार आदि से, बौद्ध धर्म उस समय भीतर ही भीतर जर्जर हो उठा था। उसकी वह पुरानी शक्ति जीर्ण-शीर्ण हो चुकी थी। इसके अतिरिक्त देश भर में उस समय उत्पात और अनाचार व्याप्त था। अतएव देश की तत्कालीन स्थिति का अनुसरण करते हुए नालंदा भी अधःपतित हुआ। उसके बाद, तिब्बती प्रमाण के अनुसार, नालंदा को पुनर्जीवित करने का प्रयत्न किया गया। 'मुदित-भद्र' नामक एक भिक्षु ने वहाँ के चैत्यों और मंदिरों की मरम्मत कराई। मगध के किसी राजा के मंत्री 'कुक्कुटसिद्धि' ने एक और मंदिर का निर्माण किया। एक समय, जब उसमें धर्मोपदेश हो रहा था, दो दरिद्र तीर्थिक वहाँ आ पहुँचे। कुछ दुष्ट चंचल भिक्षुकों ने उन पर अशुद्ध जल फेंककर उनका अपमान किया। इससे वे क्रुद्ध हो गए। तदुपरांत बारह वर्ष तक सूर्य की उपासना करके उन्होंने एक यज्ञ का अनुष्ठान आरंभ किया, और महाविहार के मंदिरों आदि पर यज्ञाग्नि के धधकते हुए चैले और अंगारे फेंककर उन्हें भस्म कर डाला। खुदाई में जो मंदिर आदि निकल रहे हैं उनमें जलाए जाने का स्पष्ट प्रमाण मिल रहा है। 'बालादित्य के शिलालेख'[3] से भी इस बात की सत्यता सिद्ध होती है। उस शिलालेख में अग्निदाह के बाद एक मंदिर के मरम्मत किए जाने का उल्लेख है। नालंदा में प्राप्त जले हुए चावल के कण[4] भी इस बात की स्पष्ट सूचना देते हैं। संभव है कि चावल के इन कणों में हुएनसाँग द्वारा प्रशंसित उस 'महाशालि' चावल के कण भी हों, जो उसे नालंदा में अन्यान्य वस्तुओं के साथ प्रति दिन मिलता था। उस चावल के कण बड़े पुष्ट होते थे। भात तो बहुत ही

---

[1] मिनाज (Minatz)।

[2] अपनी 'ए हिस्ट्री आफ हिंदू केमिस्ट्री' नामक पुस्तक में आचार्य प्रफुल्लचंद्र राय लिखते हैं—"इस समय के मठादि इतने भ्रष्ट हो गए थे कि उनके निवासियों को मारने में मुसलमान विजेताओं को तनिक भी हिचक न हुई।"

[3] यह शिलालेख सन् १८६४ ई० में कप्तान मार्शल द्वारा प्राप्त हुआ था। उसी समय से इसका नाम 'बालादित्य का शिलालेख' पड़ गया! आज-कल यह कलकत्ते के संग्रहालय में है।

[4] बड़गाँव के संग्रहालय में ये जले हुए कण बोरों में रक्खे हुए हैं।

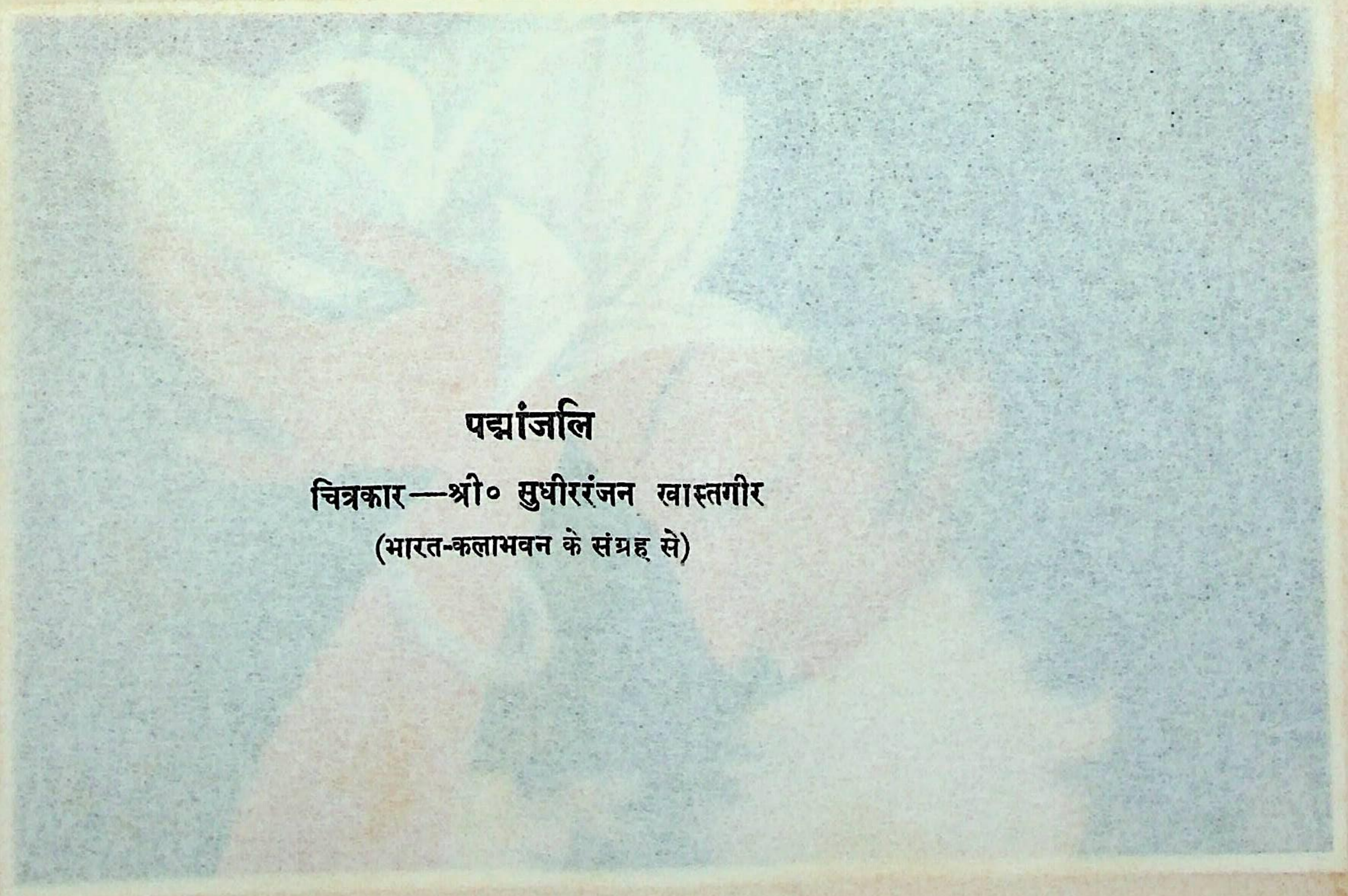

पद्मांजलि

चित्रकार—श्री० सुधीररंजन खास्तगीर

(भारत-कलाभवन के संग्रह से)

संघारामों के चारों ओर ऊँची चहारदीवारी बनाने का उद्देश्य संभवतः उन्हें भावी आक्रमणों से सुरक्षित रखना ही होगा। जो हो, नालंदा पर अंतिम और प्रहार मुसलमानों का हुआ। प्रहार क्या, संहार ही हुआ! मुसलमान इतिहासकार 'मिनाज' (Minaaj) के अनुसार मगध पर मुसलमानों की चढ़ाई का समय ११९९ ई० है। उसी समय इधर के तीनों विद्यालयों—नालंदा, विक्रमशिला और ओदंतपुर—का विध्वंस हुआ। [illegible] से मालूम होता है कि मगध की पहली चढ़ाई में मुसलमानों के निराश होकर भाग जाना पड़ा था। पर दूसरी चढ़ाई में मुहम्मद बख्तियार अचानक थोड़ी सिपाहियों के साथ टूट पड़ा। उसके आक्रमण का पता किसी को न था![1] उस समय गोविंदपाल मगध के राजा थे। वे बहुत बूढ़े हो गए थे। लड़ाई में वे वीर-गति को प्राप्त हुए। फिर तो खूब लूट-पाट मची। उसी समय [illegible] का विनाश हुआ। बहुत-से भिक्षु मार डाले गए।[2] कुछ विदेशों में भाग गए। [illegible] के दुष्प्रभाव से, धर्माचार्यों के, व्यभिचार आदि से, बौद्ध धर्म उस समय भीतर ही भीतर [illegible] हो रहा था। उसकी वह पुरानी शक्ति जीर्ण-शीर्ण हो चुकी थी। इसके अतिरिक्त देश पर भी [illegible] अकाल और अनाचार उत्पात था। अतएव देश की तत्कालीन स्थिति का अनुसरण करते हुए [illegible] का अधःपतित हुआ। उसके बाद, तिब्बती प्रमाण के अनुसार, नालंदा के पुनर्जीवित [illegible] का प्रकाश किया गया। 'मुदित-भद्र' नामक एक भिक्षु ने वहाँ के चैत्यों और मंदिरों की मरम्मत कराई। मगध के किसी राजा के मंत्री 'कुकुटसिद्ध' ने एक और मंदिर का निर्माण किया। उस समय, जब उसमें धर्मोपदेश हो रहा था, दो [illegible] वहाँ आ पहुँचे। कुछ [illegible] भिक्षुओं ने उन पर अशुद्ध जल फेंककर उनका अपमान किया। इससे वे क्रुद्ध हो गए। [illegible] बारह वर्ष तक सूर्य की उपासना करके उन्होंने एक यज्ञ का अनुष्ठान आरंभ किया, और [illegible] के मंदिरों आदि पर यज्ञाग्नि के धधकते हुए अंगारे फेंककर उन्हें भस्म कर डाला। खुदाई में जो मंदिर आदि निकल रहे हैं उनमें जलाए जाने का स्पष्ट प्रमाण मिल रहा है। 'बालादित्य के शिलालेख'[3] से भी इस बात की सत्यता सिद्ध होती है। इस शिलालेख में अग्निदाह के बाद [illegible] के मरम्मत किए जाने का उल्लेख है। नालंदा में प्राप्त जले हुए चावल के कण[4] भी इस बात की स्पष्ट सूचना देते हैं। संभव है कि चावल के इन कणों में ह्युएनसांग द्वारा प्रशंसित उस 'महाशालि' चावल के कण भी हों, जो उसे नालंदा में अन्यान्य वस्तुओं के साथ प्रति दिन मिलता था। [illegible] चावल के कण इसे पुष्ट होते थे। आज तो बहुत ही

---

[1] मिनाज (Minaaj)।

[2] अपनी 'ए हिस्ट्री आफ हिंदू केमिस्ट्री' नामक पुस्तक में आचार्य प्रफुल्लचंद्र राय लिखते हैं—"इस समय के मठादि इतने नष्ट हो गए थे कि उनके निवासियों के भागने में मुसलमान विजेताओं को तनिक भी हिचक न हुई।"

[3] यह शिलालेख सन् १८६४ ई० में ब्राडले महाशय द्वारा प्राप्त हुआ था। उसी समय से इसका नाम 'बालादित्य का शिलालेख' पड़ गया! आज-कल यह कलकत्ते के अजायबघर में है।

[4] बड़गाँव के संग्रहालय में ये जले हुए कण बोतलों में रक्खे हुए हैं।

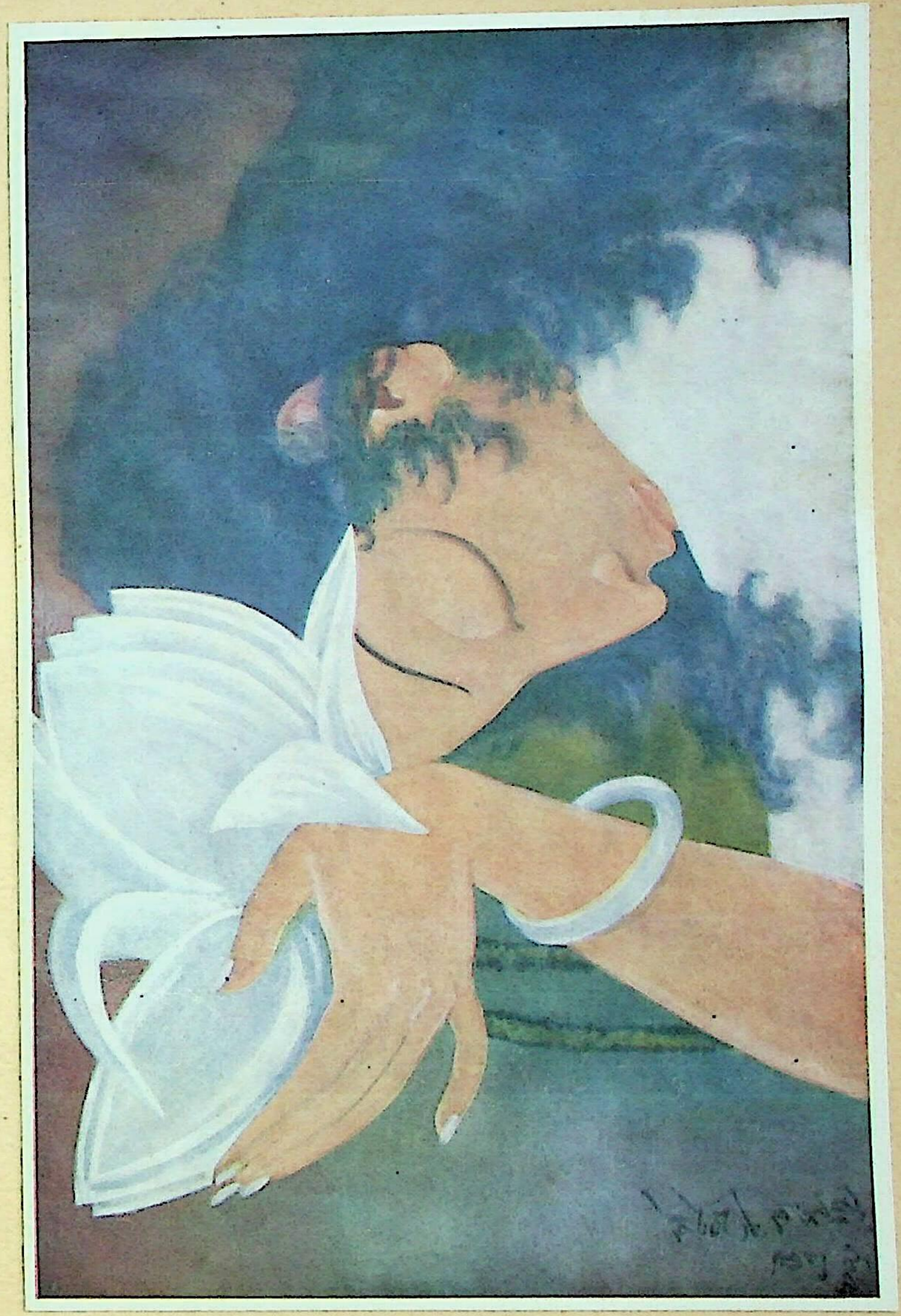

सुगंधित और चमकीला होता था। वह चावल केवल मगध में ही होता था और राजा-महाराजाओं तथा धार्मिक महात्माओं को ही मिलता था। इसी लिये उसका नाम 'महाशालि' पड़ा था।[1]

उपसंहार

नालंदा-महाविहार के उदय और अस्त की कहानी संक्षेप में हम सुना चुके। यह एक आदर्श विद्यालय था। भारतीय शिक्षा के सभी उच्च आदर्श उसमें वर्त्तमान थे। कोलाहलपूर्ण संसार से दूर, निर्मल जलाशयों और सुविस्तृत आम्र-काननों से सुशोभित शांत एवं सात्त्विक तपोवन में, इसकी स्थापना हुई थी। 'तपोवन और तपोमय जीवन'—यही इसकी महत्ता का रहस्य था। इसके भव्य भवनों, मनोहर मंदिरों और सुचारु चैत्यादिकों के देखने और इसके विश्वव्यापी पवित्र प्रभाव का चिंतन करने से हृदय में अनेक कोमल और किशोर भावनाएँ जाग उठती हैं—कई सौ वर्षों का इतिहास आँखों के सामने नाच उठता है।

आगरे के जगत्प्रसिद्ध 'ताजमहल' पर अनेक कवियों ने अनूठी उक्तियाँ कही हैं; पर नालंदा के भग्न—किंतु दिव्य—विहारों और संघारामों पर उनका हृदय अभी नहीं पसीजा! नालंदा अनेक तपस्वी महात्माओं के यशःसौरभ से सुरभित है। इसमें हृत्तंत्री को झंकृत करने की पर्याप्त सामग्री है। इस तीर्थ-भूमि का प्रत्येक रेणु-कण भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का दर्पण है। इसके दर्शन से ऐसा भासित होता है मानों प्राचीन भग्न मंदिरों से बौद्ध भिक्षुओं की पवित्र आत्माएँ संसार के कल्याण के निमित्त दिव्य ज्ञान का आलोक लिए हुए निकल रही हों। यहाँ का सारा वायुमंडल इस पवित्र मंत्र से गूँजता हुआ-सा प्रतीत होता है—

"धम्मं शरणं गच्छामि; बुद्धं शरणं गच्छामि; संघं शरणं गच्छामि।"

---

[1] The Life of Hiuen Tsiang. P. 108.

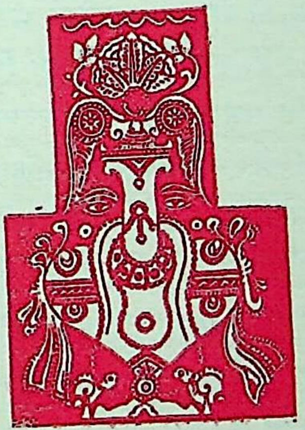

'मनु' तथा 'इंद्र'

प्रोफेसर सत्यव्रत सिद्धांतालंकार

मनु—'मनु' महाराज के नाम से प्रत्येक भारतीय परिचित है। उन्हीं के नाम से 'मनुस्मृति' नामक ग्रंथ प्रसिद्ध है जिसमें वैयक्तिक, सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक नियमों का विधान है। प्राय: यह समझा जाता है कि 'मनु' नामक कोई महान् व्यक्ति हुए हैं जिन्होंने भारत में शासन के नियमों का निर्माण कर अव्यवस्था दूर की थी। किंतु हमारा मत यह है कि 'मनु' नाम के कोई एक ही व्यक्ति कभी नहीं हुए। जैसे 'व्यास' गद्दी का नाम पड़ गया, 'शंकराचार्य' भी गद्दी का ही नाम है, वैसे ही 'मनु' शब्द भी एक गद्दी के लिये प्रयुक्त होता रहा है। सूक्ष्म विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है। 'मनु' शब्द की व्युत्पत्ति 'मन्' धातु से होती है। संस्कृत में इस धातु का अर्थ 'मनन करना, नियम बनाना अथवा लेजिस्लेट करना' है। 'मनु' शब्द का धात्वर्थ ही 'नियामक' अथवा 'लेजिस्लेटर' है। इन अर्थों में 'मनुस्मृति' उस ग्रंथ का नाम है जिसमें भारत के प्रसिद्ध मनुओं के बनाए हुए नियमों का संग्रह हो। 'मनु' जो कोई भी बन सकता था; परंतु ऐसा बनने के लिये देश-देशांतरों के शासन-संबंधी नियमों का तुलनात्मक अध्ययन करने की योग्यता अपेक्षित होती थी। जिस व्यक्ति में इतनी योग्यता पाई जाती थी वही 'मनु' (Legislator) की पदवी से विभूषित किया जाता था और उसके निर्दिष्ट किए हुए नियमों का यथोचित विवेचन करके समाज में उनका प्रयोग होने लगता था। जिस प्रकार मिस्र (Egypt) के राजा 'फैरोहा' कहलाते थे, पारसियों के शक्तिशाली राजा 'क्सरसीज' कहे जाते थे, हिंदुओं में शस्त्र द्वारा देश-रक्षा तथा देश-विस्तार करनेवाले 'क्षत्रिय' नाम से पुकारे जाते थे, उसी प्रकार नियमों के निर्माण में गंभीर गति रखनेवाले विद्वान् 'मनु' कहलाते थे।

मिस्री, यहूदी और यूनानी (ग्रीक) हमारे इस कथन की पुष्टि करते हैं। मिस्र के शासन के नियम देनेवाला 'मेनीज' (Manes) था, जो 'मनु' के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं हो सकता। हमारे कथन का यह अभिप्राय नहीं कि भारतवर्ष से 'मनु' महाराज ही मिस्र चले गए थे। अभिप्राय इतना ही है कि भारतवर्ष में नियमों की रचना करनेवाला 'मनु' कहा जाता था, इसलिये मिस्री लोगों ने भी अपने देश में शासन की व्यवस्था करनेवाले को 'मेनीज' नाम देना पसंद किया। यहूदियों में नियमों

का विधान करनेवाला (Law-giver) 'मूसा' (Moses) है। बाइबल के पुराने अहदनामे के अनुसार 'मूसा' ही परमात्मा (जिहोवा) के पास जाकर दस आज्ञाएँ (Ten Commandments) लाया था। यहूदियों ने भी अपने नियमों के उपदेष्टा को 'मनु' का ही नाम दिया, जो उनकी भाषा में 'मूसा' के रूप में प्रचलित हुआ। यूनानी लोगों का नियम-प्रवर्त्तक 'माइनोस' (Minos) कहलाता है। यूनानी इतिहास के अनुसार 'माइनोस' पूर्व की तरफ से 'क्रीट' नगर में आकर रहने लगा। उसकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर नगर-निवासियों ने उससे नियंत्रण के नियम बना देने का अनुरोध किया। इस अनुरोध को देखकर उसने उनसे कुछ मुहलत माँगी और यात्रा करता हुआ मिस्र में जा निकला। मिस्र में जाकर उसने उस देश के नियमों का खूब बारीकी से अध्ययन किया। मिस्र से लौटकर वह एशिया और पर्शिया (फारस) होता हुआ भारत में आया और 'सिंधु' नदी के तट पर भ्रमण करता रहा। इतने लंबे-चौड़े पर्यटन के अनंतर वह फिर लौटकर 'क्रीट' चला गया। वहाँ जाकर उसने उस देश के लिये नियम बनाए। उन नियमों को सारे यूनान ने स्वीकृत कर लिया।

इन घटनाओं को पढ़ते हुए विद्यार्थी के हृदय में तरह-तरह के भाव उठते हैं। यूनान का वह विद्वान् मिस्र के शासकों से मिलता हुआ भारत पहुँचा। हो न हो, अवश्य मिस्र के धुरंधर पंडितों ने उसे अपने पांडित्य को पूर्ण करने के लिये विद्या की खान भारतवर्ष की ओर प्रेरित किया होगा। इसी लिये तो वह एशिया को पार कर सिंधु के किनारों की खाक छानता रहा। जब सब देशों में भ्रमण कर देश को नियंत्रण में रखनेवाले नियमों का तुलनात्मक अध्ययन करके उसने उन्हें यूनान की प्रजा के संमुख रक्खा होगा, तब प्रजा ने भी स्वाभाविक रीति से उसे 'मनु' (Minos) की पदवी से विभूषित किया होगा। इस प्रकार यह सहज ही समझ में आ जाता है कि हिंदुओं का 'मनु' ही मिस्रियों का 'मेनीज', यूनानियों का 'माइनोस' और यहूदियों का 'मोजेज' (मूसा) था। चारों के चारों एक ही 'मनु' शब्द के अपभ्रंश हैं और उन-उन देशों में व्यवस्था के नियम बनानेवाले भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के लिये प्रयुक्त होते रहे हैं। 'मेनीज', 'माइनोस' और 'मोजेज' नाम बचपन से ही नहीं रक्खे गए थे, बल्कि जब वे व्यक्ति नियमों के निर्माता बने तब भारतवर्ष की प्रचलित प्रथा के अनुसार उनका नाम 'मनु' या लेजिस्लेटर (Legislator) रक्खा गया।

इंद्र—जिस प्रकार 'मनु' का नाम भिन्न-भिन्न रूप धारण कर संसार की समुन्नत सभ्यताओं का शासन करता रहा है, उसी प्रकार 'इंद्र' देवता का विचार भी प्रायः सभी पुराने धर्मों में पाया जाता है। दूसरे धर्मों में इंद्र का स्थान समझने के लिये हमें भारतीय देव-समुदाय में इंद्र का स्वरूप समझ लेना चाहिए। संस्कृत में इंद्र के लिये 'द्यौः, दिवस्पितर, इंद्र, वज्री' आदि शब्द पाए जाते हैं। पुराणों में इंद्र को स्वर्ग का अधिपति बतलाया है—वह स्वर्ग का राजा है, देवताओं में बहुत ऊँचे स्थान का अधिकारी है। इंद्र के कब्जे में बहुत-सी अप्सराएँ भी हैं—सत्पुरुषों का व्रतभंग करने के लिये इंद्र उनका दुरुपयोग करता ही रहता है। द्युलोक में उसका निवास-स्थान है। वह बिजली की कड़क में कभी-कभी अपने उग्र रूप की झाँकी दिखलाया करता है। यदि उपर्युक्त 'द्यौः' के विसर्गों को 'स्' कर दिया जाय तो 'द्यौ' शब्द का रूप 'द्यौस्' हो जाता है। 'द्यौस्' का अपभ्रंश

'द्युस' और 'दिउस' बनकर यूनान में यही देवता 'जिउस' (Zeus) बन गया और पुजने लगा। यूनानी शब्द-शास्त्र के अनुसार 'जिउस' (Zeus) शब्द की व्युत्पत्ति 'Dios' से होती है, अतः यह मानने में कोई शंका नहीं रह जाती कि यूनानियों का सबसे मुख्य देवता 'जिउस' वैदिक 'द्यौस्' का ही अपभ्रंश है। यूनानियों को छोड़िए, रोमन लोगों के यहाँ भी 'इंद्र' देवता की पूजा होती दिखाई देती है। रोम का मुख्य देवता 'जुपिटर' (Jupiter) था। यह 'जुपिटर' 'द्युपितर' या दिवस्पितर' नहीं तो और क्या है? इंद्र देवता ही 'जिउस' नाम से यूनान में तथा 'जुपिटर' नाम से रोम में पूजा जाता था—इसमें क्या अब भी कुछ संदेह रह जाता है? इन सब शब्दों की पारस्परिक समता विलक्षण है, उसे देखकर किसी तरह वह आकस्मिक नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त इन भिन्न देवताओं को संमान भी तो इंद्र का-सा ही दिया गया है! इन सबसे काम भी वे ही कराए गए हैं। रोम के प्रसिद्ध कवि 'ओविड' ने जुपिटर को देवताओं में मुख्य दरसाया है। सारी देव-मंडली उसे अपना मूर्द्धन्य मानती है। जुपिटर बारंबार बिजली की-सी गर्जन करता है। स्मरण रहे कि इंद्र भी 'वज्री' है—'वज्र' अर्थात् 'विद्युत्' का शस्त्र धारण कर नभोमंडल में हृदय को कँपा देनेवाला घनघोर नाद किया करता है। 'ओविड' ने जुपिटर को आचार में भी शिथिल दिखाया है। जब हम स्मरण करते हैं कि इंद्र के दरबार में भी अप्सराओं की भरमार रहा करती थी—वह दूसरों को आचारभ्रष्ट करने के लिये प्राणपण से प्रयत्न किया करता था और साथ ही स्वयं भी कई बार आचारभ्रष्टता के गढ़े में गिरा था, तब तो हमें इस बात में जरा भी संदेह नहीं रह जाता कि यह 'जुपिटर' पुराणों का इंद्र-देवता ही है। इसलिये हिंदुओं का 'इंद्र' ही यूनानियों का 'जियस' अथवा 'जिउस' (Zeus) और रोमनों का 'जुपिटर' है—ये दोनों इंद्र-देवता के ही दूसरे नाम हैं। इनके अतिरिक्त यहूदियों का 'जिहोवा' (Jehovah) भी 'द्यौः' का ही अपभ्रंश मालूम पड़ता है। जिस प्रकार 'द्यौः' का अपभ्रंश 'जियस' हो सकता है, उसी प्रकार 'जिहोवा' भी हो सकता है। शब्द की समानता तो इस कल्पना में समर्थक है ही, 'जिहोवा' का वर्णन भी उसे हिंदुओं के 'द्यौः' (इंद्र) का ही अपभ्रंश सिद्ध करता है। यहूदियों के पुराने अहदनामे (Old Testament) में 'जिहोवा' का वर्णन बादल, आग और बिजली के रूप में पाया जाता है। पुराना अहदनामा इस विषय में तो कम से कम बड़ी परिपुष्ट संमति देता है कि 'जिहोवा' चाहे कोई भी हो, वह 'वैदिक देवता' तो अवश्य था। बाइबल की 'Exodus' पुस्तक के तीसरे अध्याय की चौथी आयत में जिहोवा मूसा का संबोधन करके कहता है—"मेरा नाम I Am That I Am या I Am है।" इसके लिये जिन शब्दों का प्रयोग है वे ध्यान देने योग्य हैं। वे शब्द हैं—Ehyeh ashar ehyeh—अयः अशर अयः। पारसियों के जेंदावस्ता में परमात्मा अपने बीस नाम गिनाता हुआ प्रथम नाम 'अहमि' गिनाकर आगे चलकर 'अहमि यद अहमि' नाम गिनाता है। पारसी-साहित्य से परिचय रखनेवाले पाठकों को विदित होगा कि संस्कृत का 'स' जिंद भाषा में जाकर 'ह' बन जाता है। इसलिये 'अहमि यद अहमि' का रूप 'अस्मि यद् अस्मि' बनता है। यही नाम यहूदियों के यहाँ उस रूप में पाया जाता है जिसका हमने ऊपर उल्लेख किया; परंतु प्रारंभ में यह यजुर्वेद से लिया गया। यजुर्वेद के दूसरे अध्याय का अठाईसवाँ मंत्र है—'इदमहं य एवास्मि सोऽस्मि।' क्या यह वेद-मंत्र और पारसियों का

'अह्मि यदह्मि' एक ही नहीं है ? यदि एक ही है तो मानना पड़ता है कि पारसियों तथा यहूदियों ने इसी मंत्र के आधार पर अपने देवता का नाम 'अह्मि यदह्मि' (I Am That I Am) रक्खा। कम से कम इसमें संदेह नहीं रह जाता कि यहूदियों का 'जिहोवा' कोई न कोई वैदिक देवता अवश्य था। अतएव जो कुछ हम ऊपर लिख आए हैं उसके आधार पर हम यह कहने का साहस करते हैं कि वह देवता 'इंद्र' ही था। इंद्र ही का 'द्यौः' नाम यूनानियों के यहाँ 'जियस' हुआ, इंद्र ही का 'दिवस्पितर' नाम रोमनों के यहाँ 'जुपिटर' हुआ और इंद्र ही का 'द्यौः' नाम यहूदियों के यहाँ 'जिहोवा' हो गया !

धूम

उस अग्नि-शिखा के ऊपर वह क्या है काला-काला ?
क्या कमल-कोश पर है वह मँड़राती मधुकर-माला ?
या अग्नि-देव के धनु से निकला वह श्यामल शर है ?
या वह्नि-ताप से विकला पृथ्वी का केश-निकर है ?
या वायु-वेग से तृण के ये सार खिँचे आते हैं ?
उच्छ्वास दग्ध तृण के या ये विकल उड़े जाते हैं ?
क्यों उमड़ रहे बादल-से हे धूम ! अग्नि के ऊपर ?
दुखिया के लिये नहीं है क्या कहीं ठौर इस भू पर ?
हा-हा !! करते उत्पीड़ित जब काष्ठ अग्नि में जलकर।
तुम दुख-गाथा क्या उनकी कहते अनंत से जाकर ?
लख अपने सुहृद् तृणों को जलते, हे धूम सयाने !
चुपचाप चले जाते क्या नभ से वारिद को लाने ?

महंत धनराजपुरी

अप्रौढ़ हिंदी

श्री रामचंद्र वर्मा

कोई बारह-तेरह वर्ष की बात है। उन दिनों काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा का कोश-विभाग साहित्य-चर्चा का एक बहुत अच्छा केंद्र था। साहित्य-संबंधी अनेक विचारणीय प्रश्न सामने आते थे और उन पर बहुत ही सुंदर तथा समीचीन विचार होता था। वस्तुतः हिंदी-भाषा के सबसे बड़े शब्दकोश का संपादन बिना इस प्रकार की छान-बीन के हो ही नहीं सकता था। कोश-विभाग में जहाँ बहुत-सी प्रासंगिक बातों का विचार होता था, वहाँ कभी-कभी कुछ अप्रासंगिक और ऐसी बातों की भी चर्चा छिड़ जाती थी जो कोश के विषय-क्षेत्र के बाहर होती थी। पहले मैं ऐसा ही एक अप्रासंगिक प्रसंग बतलाता हूँ।

प्रयाग की 'सरस्वती' मासिक पत्रिका में प्रकाशित एक कविता पर मेरी दृष्टि पड़ी। उस कविता का एक चरण इस प्रकार था—

"बन जाओ तुम प्रेम हमारे मंजु गले का हार।"

इस चरण में 'का' मुझे खटका। यदि किसी दूसरी पत्रिका में मुझे इस प्रकार का कोई प्रयोग मिलता तो वह भी मुझे खटकता; पर उतना अधिक न खटकता जितना वह 'सरस्वती' में प्रकाशित होने के कारण खटका था। उन दिनों 'सरस्वती' ही सर्वश्रेष्ठ मासिक पत्रिका समझी जाती थी और उसका संपादन परम श्रद्धेय आचार्य द्विवेदी जी के हाथों में था। द्विवेदी जी की सबसे बड़ी प्रसिद्धि इस बात में है कि वे जो कुछ लिखते या संपादित करते हैं, वह बहुत ही सतर्क होकर करते हैं। विशेषतः भाषा आदि की शुद्धता पर वे सबसे अधिक ध्यान रखते हैं। इसलिये मैंने यह चरण अपने परम प्रिय और मान्य मित्र तथा सहयोगी पंडित रामचंद्र जी शुक्ल को दिखलाया। बहुत देर तक हम दोनों में इस विचारणीय 'का' पर विचार होता रहा। साधारणतः समझ में यही आता था कि यह 'का' ठीक नहीं है, इसके स्थान पर 'के' होना चाहिए। पर उन दिनों हम लोगों का कुछ ऐसा अभ्यास-सा पड़ गया था कि एक सामान्य बात को भी हम लोग नहीं छोड़ा करते थे और उसका पूरा-पूरा निर्णय करके ही साँस लेते थे। इसलिये ठीक इसी प्रकार के और इससे मिलते-जुलते बीसियों वाक्य हम लोगों ने बनाए। उनमें कहीं 'का' अच्छा जान पड़ता था और कहीं 'के'! बहुत देर तक वाद-विवाद होने पर अंत में एक ऐसा सिद्धांत स्थिर हुआ कि ऐसे प्रयोगों में किन अवसरों पर 'का' होना चाहिए और किन अवसरों पर 'के'। उसी अवसर पर यह भी जिक्र आया था कि ऐसी हिंदी बहुत ही कम देखने में आती है जो व्याकरण और प्रयोगों आदि के विचार से बिलकुल शुद्ध और निर्दोष हो, और जिसमें किसी प्रकार का शैथिल्य न पाया जाता हो। हम लोगों की दृष्टि में यह बात हिंदी के लिये एक कलंक से कम नहीं थी; अतः हम

लोगों ने इस बात की ओर हिंदी-जगत् का ध्यान आकृष्ट करने का विचार किया। निश्चय हुआ कि हिंदी के सर्वश्रेष्ठ सोलह लेखकों की चुनी-चुनी रचनाएँ और पुस्तकें आदि एकत्र की जायँ जिनमें से आठ लेखक स्वर्गीय हों और आठ जीवित। उन सब रचनाओं और पुस्तकों को बहुत ध्यानपूर्वक पढ़कर उनमें से अशुद्ध, दूषित, शिथिल और विचारणीय प्रयोग आदि छाँटे जायँ और वे अपने विचारों के सहित पुस्तकाकार में इस उद्देश्य से प्रकाशित किए जायँ कि विद्वान् लेखक उन पर भली भाँति विचार करें और उनमें से त्याज्य प्रयोगों का प्रचार रोका जाय। इस निश्चय के अनुसार हम लोगों ने आपस में कुछ लेखक और उनकी रचनाएँ बाँट लीं और उन्हें इस दृष्टि से पढ़ना भी आरंभ कर दिया; और शायद बहुत-से प्रयोग छाँटकर लिख भी लिए गए। पर भाग्यवश (?) हम दोनों ही आदमी सुस्त, ला-परवाह और निकम्मे थे; इसलिये थोड़े ही दिनों में हम लोगों का उत्साह मंद पड़ गया और सारे विचार जहाँ के तहाँ पड़े रह गए (!!!)।

हम लोगों का उक्त विचार तो पूरा न हुआ, पर इस विषय पर ध्यान बराबर बना रहा। तब से अब तक मुझे बीसियों-पचासों अच्छे लेखकों की प्रकाशित और अप्रकाशित कृतियाँ देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ; पर दुःख है कि शुद्धता और निर्दोषिता की कसौटी पर पूरी उतरनेवाली भाषा के दर्शन कदाचित् ही कभी हुए हों। मेरे इस कथन का यह अर्थ न समझा जाय कि मुझे भाषा के पारखी होने का अभिमान है; और न यही अर्थ लगाया जाय कि मैं बड़े-बड़े प्रतिष्ठित पूज्य और मान्य विद्वानों का किसी प्रकार अपमान करना या उन्हें उनके उच्च आसन से नीचे गिराना चाहता हूँ। मुझ-जैसे सामान्य और अल्पज्ञ मनुष्य को कभी स्वप्न में भी इस बात का विचार नहीं हो सकता। पर वास्तव में आज भी शुद्धता के विचार से हिंदी भाषा ठीक उसी स्थान पर है, जिस स्थान पर वह हम लोगों के उक्त निश्चय के समय थी; बल्कि मैं कह सकता हूँ कि वह उस स्थान से कुछ और पीछे ही हटी है, आगे नहीं बढ़ी है।

हम हिंदी-सेवियों को इस बात का बहुत बड़ा अभिमान है, और एक बहुत बड़ी सीमा तक उचित अभिमान है, कि हम लोगों की भाषा राष्ट्रभाषा है। पर साथ ही हमें यह भी मानना ही पड़ेगा कि हमारी हिंदी अभी तक प्रौढ़ नहीं हुई है, वह अप्रौढ़ ही है। अँगरेजी को छोड़ दीजिए; भारत की ही बँगला, मराठी, गुजराती, उर्दू आदि भाषाओं को लीजिए; और प्रौढ़ता के विचार से हिंदी भाषा के साथ उनकी तुलना कीजिए तो आपको यह अंतर स्पष्ट रूप से मालूम हो जायगा। इनमें से किसी भाषा के दस-बीस लेखकों की कृतियाँ ध्यानपूर्वक पढ़ जाइए। उनमें व्याकरण की अशुद्धियाँ और प्रयोगों की शिथिलताएँ शायद ही कहीं मिलेंगी। उन लेखकों की भाषाओं में शैली आदि की कुछ निजी और विशिष्ट स्वतंत्रताएँ अवश्य होंगी; पर व्याकरण और प्रयोगों के विचार से उन सबकी भाषाएँ एक ही साँचे में ढली हुई मिलेंगी। पर हिंदी में, जहाँ तक मुझे दिखलाई देता है, यह बात नहीं है।

हिंदी को राष्ट्रभाषा प्रमाणित करनेवाली एक बात यह कही जाती है कि भारत के प्रायः सभी प्रांतों में हिंदी के बहुत-से नए-नए लेखक निकल रहे हैं। इसमें संदेह नहीं कि यह लक्षण बहुत ही शुभ

और अभिनंदनीय है; पर यह बात भी निस्संदेह ही समझनी चाहिए कि यही तत्त्व हिंदी के प्रौढ़ होने में बहुत बाधक हो रहा है। हिंदी आरंभ से ही एक बहुत बड़े और विस्तृत क्षेत्र में बोली जानेवाली भाषा है; अतः उसके लेखक भी स्वभावतः अनेक प्रांतों और देशों के होते हैं जो अपनी-अपनी मातृभाषा, रुचि और प्रवृत्ति के अनुसार हिंदी लिखते हैं। और यही कारण है कि न तो सबकी हिंदी शुद्ध ही होती है और न एक-सी। यदि ऐसे लेखकों को हम बिलकुल छोड़ भी दें और केवल उन्हीं लेखकों को लें जो हिंदी-भाषी प्रांतों के हैं और हिंदी-जगत् में जिनका एक अच्छा और प्रतिष्ठित स्थान है, तो उनकी कृतियों में भी ये दोष थोड़ी-बहुत मात्रा में अवश्य ही पाए जाते हैं। चाहे आप किसी दैनिक, साप्ताहिक या मासिक पत्र की भाषा देखें और चाहे किसी पुस्तक की भाषा देखें, सबमें भाषा-संबंधी शैथिल्य किसी न किसी मात्रा में अवश्य ही पाया जायगा; और आदि से अंत तक एक-सी भाषा शायद ही किसी पत्र या पुस्तक में मिलेगी। फिर सब पत्रों और सब पुस्तकों की भाषा एक-सी होना तो बहुत दूर की बात है।

भाषा के अनेक अंगों पर बहुत दिनों तक विचार करने के उपरांत मैं तो इसी परिणाम पर पहुँचा हूँ कि अभी हमारी हिंदी भाषा अपने प्रारंभिक और अप्रौढ़ रूप में है; और अभी उसके प्रौढ़ होने में बहुत कसर है। यह कसर अब तक कई महानुभावों को कई रूपों में खटक चुकी है और उन्होंने इसे दूर करने के विचार से हिंदी-जगत् का ध्यान भी आकृष्ट करने का प्रयत्न किया है। पर दुःख है कि इस प्रकार के प्रयत्न प्रायः अरण्यरोदन-से ही सिद्ध हुए हैं। हिंदी में ऐसे लेखकों की बहुत ही कमी है जिन्हें हम 'सतर्क लेखक' कह सकें और जो भाषा लिखते समय उसके सब अंगों पर उचित दृष्टि रखते हों। अधिकांश लेखक (और उनमें संपादक भी संमिलित हैं!) ऐसे ही हैं जो भाषा पर बहुत ही कम ध्यान देते हैं। हिंदी में जो नए लेखक उत्पन्न होते हैं, उनके लेखों से तो ऐसा जान पड़ता है कि वे भाषा पर ध्यान देने की आवश्यकता ही नहीं समझते। मानों आरंभ से ही उनकी ऐसी धारणा हो जाती है कि हिंदी लिखने के लिये कुछ सीखने-समझने और ध्यान रखने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। उन बेचारों का भी इसमें विशेष दोष नहीं है; क्योंकि हिंदी लिखना आरंभ करने से पहले उन्हें पत्रों और पुस्तकों आदि में जो हिंदी पढ़ने को मिलती है, वह अधिकांश में वैसी ही सदोष होती है। फल यही होता है कि जब जिसके मन में जो कुछ आता है, वह वही लिख चलता है। कोई देखनेवाला नहीं, कोई सुननेवाला नहीं; कोई रोकनेवाला नहीं, कोई समझानेवाला नहीं।

मुझे हिंदी पढ़ने का रोग (आप चाहें तो उसे शौक कह लें) प्रायः अट्ठाइस-तीस वर्षों से है; और मैं भाषा की सुंदरता का प्रायः आरंभ से ही प्रशंसक और शौकीन रहा हूँ। पर मुझे तो शुद्ध और सुंदर भाषा रुपए में दो-चार आने से अधिक नहीं मिलती। मैं तो इसे भाषा और लेखकों का ही दोष समझता हूँ—लोग चाहे इसे मेरी समझ का ही दोष समझें। मैं बहुत दिनों से एक बात की बहुत बड़ी आवश्यकता अनुभव करता आ रहा हूँ, और वह आवश्यकता यह है कि हिंदी में कुछ ऐसे समालोचक होने चाहिएँ जो भाषा-प्रवाह को इस प्रकार दूषित और मलिन होने से रोकें। किसी समय स्वर्गीय बाबू बालमुकुंद जी गुप्त यह काम बहुत ही अच्छी तरह और बड़ी खूबसूरती के साथ करते थे।

इसके उपरांत बहुत दिनों तक श्रद्धेय आचार्य द्विवेदी जी ने भी यह काम बहुत ही सुचारु रूप से किया था। पर एक तो इतने बड़े और विस्तृत हिंदी-क्षेत्र में एक-दो समालोचकों से काम नहीं चल सकता और तिस पर आज-कल तो मैदान बिलकुल खाली ही पड़ा है और उसमें अधिकांश लोग मनमानी दौड़ लगाते हुए ही दिखाई पड़ते हैं। इस दौड़ पर एक अच्छा नियंत्रण रखने की बहुत बड़ी आवश्यकता है। अपनी जिस भाषा को हम लोग राष्ट्रभाषा के उच्च सिंहासन पर बैठा रहे हैं, वह भाषा उस सिंहासन के अनुरूप ही सुंदर, अलंकृत और सर्व-गुण-विभूषित भी होनी चाहिए। यदि उसका रूप अस्थिर, अनियमित, अशुद्ध और फलतः हास्यास्पद हो तो क्या यह हिंदी-भाषियों के लिये लज्जा और दुःख की बात नहीं है ?

वीर बाला

भृकुटि-विलास में निवास करने को नित्य आश लगी रहती है आशुतोष हर की।
'रसिकेंद्र' लालसा सुरेंद्र की है पलकों की, पूतरी कहाने की है कांक्षा नटवर की॥
बार-बार वासना वरुण की है वरुणी की, कोए बनने की कामना है पंचशर की।
वीर रमणी की दृग-ज्योति बनने के लिये तप करती है दिव्य दीप्ति दिनकर की॥

द्वारकाप्रसाद गुप्त 'रसिकेंद्र'

The Future of Hindi Literature

PROFESSOR P. SESHADRI

Principal, Government College, Ajmer

IT is with some reluctance that I venture to write on the subject of the future of Hindi literature, as I cannot claim any scholarship in the subject, and my outlook should be looked upon only as that of a detached outsider, though with great appreciation for the language. It has always been noticed that excellence in prose only follows progress in poetry in the history of any language. It is not surprising that a similar phenomenon is found in the Hindi language of to-day. Laudable efforts have been made, in recent years, at the production of Hindi prose: the present movement for political education and the progress of Hindi journalism have undoubtedly helped this advancement. However, it still appears to me that the evolution of a vigorous, popular prose style eminently suitable for every-day expression, for the art of letter-writing, for the use of journalism, and for employment on the pulpit and the platform, in short, for what Lord Morley has called "the journeyman work of literature" is one of the essential problems for the future.

It is, perhaps, worth while drawing attention to the fact that the genius of prose is essentially different from the genius of poetry, and the aim of the prose-writer should be not so much ornamentation as clarity of expression. An English writer has drawn the distinction with some appropriateness between poetry as "the language of power" and prose as "the language of knowledge." The French masters, more than the prose-writers of any other country, have realised this and it is good to instil this truth constantly into the minds of aspiring Hindi writers. It is also, perhaps, good to realise that in every good literature the evolution of prose style must be from the complex to the simple, from cumbrousness of expression to the force and vigour of straightforward prose. The Hindu writer is undoubtedly apt to colour his Hindi with the vocabulary of Sanskirt, but care should be taken at the same time, not to make the style so learned and unpopular as to be beyond the reach of the average reader speaking the daily language. Nothing can be more fatal to the spread of a literature than a great disparity between the spoken and the written language.

Another direction in which the Hindi language should progress in the future is the adoption of the Social Drama. As a student of poetry, I can never underestimate the value of romance and idealism in life, but at the same time attention must be invited to the fact that the great problems of life and society, as we see around us, are awaiting expression in dramatic literature. It is now nearly a century since Europe divested itself of its glamour for romance, and recent dramatists have struggled hard to see the poetry and tragedy of every-day life in their productions. During my acquaintance with Hindi dramatic literature, as the president of more than one dramatic association in Northern India, I have noticed the distressing fact that we have yet to produce valuable literature in the direction. I am not unaware of the specimens that exist already, but I have no hesitation in saying that they are not particularly valuable, either from the standpoint of the theatre-goer, or that of the student in his closet. It becomes difficult for the Oriental mind to discard the allurements of romance, but as kings do not go out hunting to-day and fall in love with maidens in hermitages, they should recognise the facts of life and regale our audiences with facts with which they are familiar and which have a deep import for human happiness.

Again, in the early stages of the evolution of a literature, translations naturally play a great part. I am not one of those who despise the value of translations in accordance with the Italian proverb which brands all translators as traitors. Some of the greatest books in the world have exercised their influence on millions only by translations. *The Bible*, *the Imitation of Christ* of Thomas à Kempis and the *Meditations* of Marcus Aurelius are standing examples of great classics appealing not merely to the mind, but also to the heart and soul, largely by means of translations all over the world. At the same time, no literature can afford to become great unless it aspires to give expression to the genius of its own people, without relying almost entirely on translations.

A good deal of contemporary Hindi literature unfortunately seems to suffer from a certain want of self-confidence. The bulk of it seems to consist of translations or adaptations either from Sanskrit, or from English, or from Bengalee across the border of the Hindi-speaking country. Being the basis of our priceless heritage from the past Sanskrit must obviously exercise its fascination on every Hindi writer of today. The contact with English and Western languages must also obviously stimulate new literary aspiration. The growing sense of nationality in India must lead writers to transcend provincial limitations. But there must be a bold ambition, at the same time, to take one's stand on the peculiar genius of the language and its people and speak as an original voice and not as a mere echo. It is not that the people who speak Hindi and live on the banks of the two great rivers of Northern India, the Jumna and the Ganges, are devoid of originality of thought or expression, but they still seem to be mesmerised by the glory of what is foreign or what is merely ancient.

May this volume, intended as a tribute to a great Hindi writer, evoke new courage and hope and make the people write with greater self-reliance in the future than in the past!

विक्रमशिला-विद्यापीठ

अध्यापक शंकरदेव विद्यालंकार

"एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥"—मनुः

ईसवी सन् की पाँचवीं सदी के आरंभ में सुप्रसिद्ध चीनी यात्री 'फाहियान' भारत में आया था। उस समय नालंदा-विश्वविद्यालय पूर्ण रूप से तैयार नहीं हो पाया था। सातवीं सदी में 'हुएनसाँग' और 'इत्सिंग' ने भारत में आकर नालंदा-विद्यापीठ के प्रख्यात आचार्यों से संस्कृत भाषा तथा बौद्ध शास्त्रों का अध्ययन किया। हुएनसाँग ने 'विक्रमशिला-विद्यापीठ' का लेशमात्र भी उल्लेख नहीं किया है! इससे स्पष्टतया यह प्रतीत होता है कि या तो उस समय विक्रमशिला का अस्तित्व ही न होगा या तत्कालीन विद्याक्षेत्रों में इसका कोई महत्त्वपूर्ण स्थान ही न रहा होगा। 'इत्सिंग' दस वर्ष तक नालंदा में रहा था; पर उसने भी विक्रमशिला-विद्यापीठ का कोई उल्लेख नहीं किया है! इससे सिद्ध होता है कि उसके समय में नालंदा-विश्वविद्यालय की बड़ी महिमा थी और विक्रमशिला-विद्यापीठ सर्वथा अप्रसिद्ध था। इसके अतिरिक्त इत्सिंग द्वारा वर्णित नालंदा के वृत्तांत से हमको ज्ञात होता है कि वहाँ बौद्धधर्म के कर्मकांड पर विशेष ध्यान दिया जाता था और भगवान् बुद्ध के नैतिक शासन एवं तत्त्वज्ञान पर बहुत ही कम—नहीं के बराबर। इस प्रकार नालंदा दिन-दिन निर्बल और निस्तेज होता जा रहा था और उसका स्थान गौड-राजा धर्मपाल द्वारा संस्थापित विक्रमशिला-विद्यापीठ ने ले लिया था। संस्कृत के 'स्रग्धरा-स्तोत्र' की टीका में तथा 'बृहत्-स्वयंभु-पुराण' में विक्रमशिला का उल्लेख मिलता है। सन् ८१० ईसवी में उत्कीर्ण खालिंपुर की प्रशस्ति में धर्मपाल का वर्णन 'परम सौगत, परम महेश्वर, परम भट्टारक' महाराज के रूप में किया है।

नालंदा के अपकर्ष के उपरांत विक्रमशिला का उत्कर्ष प्रारंभ हुआ। कुछ काल तक दोनों में आंतरिक व्यवहार भी चलता रहा। तिब्बत के प्रसिद्ध इतिहासज्ञ 'तारानाथ' के कथनानुसार विक्रमशिला के अध्यापक नालंदा की देखरेख करते थे। चार शताब्दियों तक विक्रमशिला बड़ी ऊर्जितावस्था

में रहा। राजा धर्मपाल के समय इस विद्यापीठ में एक सौ आठ अध्यापक विद्यमान थे। इसको राजाश्रय भी प्राप्त था। इसके प्रबंध के लिये छः सदस्यों की एक समिति थी। इस समिति का सभापति धर्माचार्य ही होता था। विद्यापीठ से पढ़कर निकलनेवाले विद्यार्थियों को राज्य की ओर से 'पंडित' की उपाधि मिलती थी। कार्डिनल न्यूमेन और कारलाइल ने एक विश्वविद्यालय के लिये जिन विशेषताओं और लक्षणों को अनिवार्य बताया है, वे सब विक्रमशिला में पूर्णतया विद्यमान थे। स्वर्गीय अध्यापक यतींद्रनाथ समाद्दार का कथन है कि विक्रमशिला की व्यवस्था नालंदा से भी ऊँची और अच्छी थी। हाँ, नालंदा की भाँति यह अपना व्यापक प्रभाव नहीं बना पाया था। यहाँ भी उत्तम ग्रंथों का एक विशाल संग्रहालय विद्यमान था। इसका प्रांगण इतना विस्तृत था कि उसमें आठ सहस्र मनुष्य बैठ सकते थे। नालंदा की तरह इसके भी चारों ओर सुदृढ़ प्राचीर बनाई गई थी। प्रधान प्रवेशद्वार की दाहिनी ओर 'आचार्य नागार्जुन' का चित्र अंकित था और बाईं ओर 'आचार्य अतिश' का। प्राकार के बाहर, दरवाजे के समीप, अतिथिशाला बनी हुई थी—प्रधान द्वार के बंद हो जाने पर विलंब से आनेवाले अतिथियों को उसमें आश्रय दिया जाता था।

वर्त्तमान समय में विक्रमशिला का स्थान ढूँढ़ निकालना बहुत दुष्कर हो गया है। इसके स्थान-निर्णय के लिये नाना प्रकार के अनुमान किए जा रहे हैं। स्वर्गीय अध्यापक फणींद्रनाथ वसु ने 'बौद्ध विद्यापीठों के भारतीय शिक्षक' नामक अपनी पुस्तक में लिखा है कि बिहार-प्रांत के भागलपुर जिले में, गंगा के तीर पर, एक ऊँचे टीले के ऊपर, 'विक्रमशिला' स्थित था। दिवंगत इतिहासज्ञ नंदलाल दे महोदय ने कहीं 'पत्थरद्वार' के समीप इसकी स्थिति बताई है। स्वर्गवासी महामहोपाध्याय श्री सतीशचंद्र विद्याभूषण के मतानुसार भागलपुर जिले के सुलतानगंज नामक स्थान में ही विक्रमशिला-विद्यापीठ था। कहा जाता है कि सुलतानगंज में गंगा-तटस्थ गंडशैल पर जो पुरानी मसजिद है वह विक्रमशिला के ध्वंसावशेष पर बख़्तियार खिल्जी द्वारा बनवाई गई थी; किंतु विक्रमशिला-विद्यापीठ के विस्तार का विवरण देखने से इस जनश्रुति में कोई तथ्य नहीं मिलता। जिन इतिहासवेत्ताओं का यह मत है कि भागलपुर जिले के 'कहलगाँव' नामक प्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थान से थोड़ी ही दूरी पर विक्रमशिला का भग्नावशेष गंगा के किनारे विद्यमान है, वे भी निश्चित रूप से अपने मत पर स्थिर नहीं देख पड़ते। किंतु जिस प्रकार नालंदा के खँड़हरों की खुदाई से भूगर्भ में छिपा हुआ सत्य प्रकट हुआ है उसी प्रकार विक्रमशिला-संबंधी संदिग्ध टीलों और स्तूपों की खुदाई से ही अंत में वास्तविक सत्य प्रकट होगा।

विक्रमशिला-महाविहार के मध्य भाग में 'महाबोधि' की मूर्त्तियाँ विद्यमान थीं। विहार के अंदर एक सौ सात चैत्य थे। अध्यापकों और विद्यार्थियों को राज्य की ओर से सब तरह की सुविधाएँ प्राप्त थीं। उन्हें राज्य के भांडार और कोष से अन्न-वस्त्रादि प्राप्त होते थे। शिक्षण-विषयक व्यवस्था के लिये विद्वान् अध्यापकों का एक मंडल बना हुआ था। तारानाथ का कथन है कि नालंदा के कामकाज पर उक्त अध्यापक-मंडल का ही निरीक्षण रहता था। यदि यह कथन यथार्थ हो तो मानना पड़ेगा कि इन दोनों विद्यापीठों में सहयोग विद्यमान था और दोनों ही राजा धर्मपाल की अध्यक्षता में

चलते थे। संभव है कि नालंदा के पुराने विद्यापीठ की व्यवस्था का कार्य-भार राजा ने ही इस नवीन विद्यापीठ (विक्रमशिला) के अधिकारिवर्ग को सौंप दिया हो। कितनी ही बार 'आचार्य दीपंकर' और 'अभयंकर गुप्त'-सरीखे समर्थ विद्वान् दोनों विद्यापीठों का कार्य-संचालन करते थे। उपर्युक्त अध्यापक-मंडल में ये विद्वान् कार्य करते थे—(१) 'रत्नव्रज'—ये काश्मीरी ब्राह्मण थे। इनका मूल नाम 'हरिभद्र' था। इन्होंने बौद्ध धर्म स्वीकार किया था। विद्यापीठ में 'द्वारपंडित' के पद पर नियुक्त किए गए थे। (२) 'आचार्य जेतारि'—ये मंजुश्री के भक्त थे। राजा महीपाल ने इनको 'राजपंडित' की उपाधि प्रदान की थी। ये महान् नैयायिक थे। (३) 'रत्नकीर्त्ति'—ये 'पंडित' नाम से विख्यात थे। इन्होंने प्रसिद्ध न्यायशास्त्राचार्य वाचस्पति मिश्र के सिद्धांतों का खंडन किया है। (४) 'रत्नाकरशांति'—ये उदंतपुरी-महाविहार के 'सर्वास्तिवाद मत' के भिक्षु थे। ये भी विक्रमशिला के 'द्वारपंडित' बनाए गए थे। इन्होंने शास्त्रार्थ में तीर्थकों को हराया था। सिंहलद्वीप के राजा के बुलाने पर, बौद्धधर्म का प्रचार करने के लिये, वहाँ गए थे। इन्होंने न्यायशास्त्र-संबंधी ग्रंथ लिखे हैं। (५) 'ज्ञानश्री मिश्र'—ये विक्रमशिला के एक आधार-स्तंभ थे। इनका जन्म गौड देश में हुआ था। पहले इन्होंने बौद्धधर्म के 'श्रावक मत' की दीक्षा ली थी। पीछे इनको महायान-संप्रदाय से प्रेम हो गया था। 'नरोप' नामक पंडित जब विक्रमशिला में आया था तब सवारी से उतरते ही उसने पहले आचार्य अतिश के दक्षिण तथा इनके वाम चरण में अपना शीश झुकाया था।

कहते हैं कि नालंदा में एक ही द्वार तथा एक ही द्वारपंडित था; पर विक्रमशिला में छः द्वार तथा छः द्वारपंडित थे, जो इस विद्यापीठ के भाग्य-निर्माता समझे जाते थे। इतिहासज्ञ तारानाथ के मतानुसार इन द्वार-पंडितों की स्थिति इस प्रकार थी—(१) दक्षिण द्वार पर 'प्रज्ञाकरमति'। (२) पूर्व द्वार पर 'रत्नाकरशांति'। (३) पश्चिम द्वार पर 'वागीश्वरकीर्त्ति'। (४) उत्तर द्वार पर 'नरोप'। (५) मध्य स्थान पर 'रत्नव्रज'। (६) द्वितीय मध्य द्वार पर 'ज्ञानश्री मिश्र'। ये ज्ञानश्री मिश्र ही आगंतुक विद्यार्थियों की परीक्षा लेकर विद्यापीठ में प्रविष्ट होने का आदेश देते थे। इतिहासज्ञों का ऐसा अनुमान है कि ये छः द्वारपंडित विक्रमशिला के विभिन्न छः विद्यालयों (कालेजों) के आचार्य रहे होंगे। विद्यापीठ के प्रधान आचार्य के पद पर कोई प्रखर विद्वान् और धर्मनिष्ठ साधु नियुक्त किया जाता था। राजा धर्मपाल के समय में 'आचार्य बुद्धज्ञानपाद' उक्त पद पर आसीन थे। ईसवी सन् १०३४ से १०३८ तक विक्रमशिला का सब प्रकार का कार्यभार आचार्य दीपंकर के हाथों में था। इन सब पंडितों में दीपंकर की बड़ी महिमा थी। इनका जन्म गौड़ राजघराने में, वंग देश के विक्रममणिपुर में, सन् ९८० ई० में हुआ था। इनके पिता का नाम 'कल्याणश्री' और माता का 'पद्मावती' था। बालपन में ही विद्याभ्यास के लिये ये 'अवधूत जेतारि' के पास भेज दिए गए। इन्होंने हीनयान और महायान दोनों पंथों के सिद्धांतों का अध्ययन किया था। माध्यमिक और योगाचार के तत्त्वज्ञान तथा तंत्रविद्या में भी ये बहुत प्रवीण थे। उदंतपुरी-विद्यामठ के आचार्य 'शीलरक्षित' ने इनका नाम 'दीपंकर श्रीज्ञान' रक्खा था। सुवर्ण-द्वीप के आचार्य 'चंद्रकीर्ति' के पास इन्होंने बारह वर्ष तक विद्याभ्यास किया था और फिर ताम्रपर्णी होकर ये मगध में आए थे। इसके बाद राजा 'नयपाल' की

प्रार्थना से इन्होंने विक्रमशिला का आचार्य-पद अंगीकृत किया था। इनकी कीर्त्ति देश-देशांतर में फैली हुई थी। उन दिनों तिब्बत में बौद्धधर्म में कई प्रकार के विकार प्रविष्ट हो गए थे। उन्हें दूर करने की आवश्यकता थी। तिब्बत के राजा ने धार्मिक सुधार के निमित्त आचार्य दीपंकर—अतिश—को निमंत्रण देने के लिये 'नाग-चॉ' नामक एक राजदूत को भेजा था। जिस समय वह राजदूत आचार्य अतिश को बुलाने के लिये विक्रमशिला में आया उस समय इस विद्यापीठ में एक धर्मपरिषद् हो रही थी। इस विराट् समारोह में भाग लेने के लिये भिन्न-भिन्न वर्गों के आठ सहस्र भिक्षु पधारे थे। आचार्य अतिश के दर्शन करने के लिये 'नाग-चॉ' तरस रहा था। वह अपने वृत्तांत में लिखता है—

"प्रभात का सुहावना समय था। सब भिक्षुगण अपने-अपने स्थानों पर आसीन थे। मैं विद्यार्थियों के बीच में बैठा हुआ था। परिषद् में सबके यथास्थान बैठ जाने पर सबसे पहले माननीय विद्याकोकिल पधारे। इनकी आकृति बहुत भव्य थी। उन्नत और अचल सुमेरु के समान ये आचार्य एक ऊँचे आसन पर दृढ़ता से बैठे हुए थे। अपने पास बैठे हुए एक व्यक्ति से मैंने प्रश्न किया—'क्या ये ही भगवान् अतिश हैं?' उत्तर मिला—'अरे आयुष्मन्! यह तुम क्या कहते हो? ये तो पूज्य आचार्य विद्याकोकिल हैं! ये आचार्य चंद्रकीर्त्ति की शिष्य-मंडली के एक रत्न हैं!' तब मैंने विद्वन्मंडली में एक किनारे बैठे हुए एक दूसरे आचार्य की ओर अंगुलि-निर्देश करके पूछा—'ये तो आचार्य अतिश नहीं?' उत्तर मिला—'ये तो आचार्य नरपंत हैं! धर्मज्ञान में इनका कोई सानी नहीं है!' मैं आचार्य अतिश के दर्शन के लिये अपनी आँखों को इधर-उधर फिरा रहा था। इतने में विक्रमशिला के राजा पधारे और एक ऊँचे आसन पर बैठ गए। मैंने देखा, उनके आने पर छोटा या बड़ा कोई साधु खड़ा न हुआ! इसके बाद धीर-गंभीर मुखमुद्रावाले एक और पंडित मंद-मंद गति से पधारे। सुवासित द्रव्यों से इनका स्वागत करने के लिये बहुत-से युवक-गण तथा स्वयं राजा भी अपने स्थान से उठा। राजा को उठते देख अन्य कई साधु और पंडित भी उठ खड़े हुए। इनका इतना संमान देखकर मैंने सोचा, ये अवश्य ही कोई राजर्षि या मान्य स्थविर हैं, अथवा आचार्य अतिश तो नहीं हैं? परंतु पूछने पर विदित हुआ कि ये तो 'आचार्य वीरवज्र' हैं! अस्तु, जब सब लोग अपने-अपने स्थान पर बैठ गए तब परम पूज्य भगवान् अतिश पधारे! सारी सभा एकटक उनकी ओर निहार रही थी। उनको देखते-देखते मन अघाता न था। मंद-मंद मुस्कुराती हुई उस अति भव्य आकृति ने सारी सभा को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। उनकी कमर से कुंजियों का एक गुच्छा लटक रहा था। भारतीय, नैपाली, तिब्बती, सबके सब बड़े ध्यान से उनकी तेजस्विनी मुखाकृति निहार रहे थे।"

'नाग-चॉ' आगे लिखता है—"दूसरे दिन, प्रभात में, प्रभु अतिश जहाँ गरीबों को अन्न-दान दे रहे थे, मैं वहाँ जा पहुँचा। देखा, एक बालभिक्षुक अपना हिस्सा न पाने के कारण आचार्य के पीछे-पीछे दौड़ता हुआ कह रहा है—'हे नाथ अतिश! मुझे भी भात दीजिए! मुझे भी भात दीजिए!!' यह करुणार्द्र वाणी सुनते ही मेरे लोचन हर्षाश्रु से भर आए। मैं आचार्य अतिश के पीछे-पीछे जा रहा था। मेरा मन तो उन्हीं में लगा हुआ था। इतने में उन्होंने मुझे पहचान लिया। बोले—'हे आयुष्मन्!

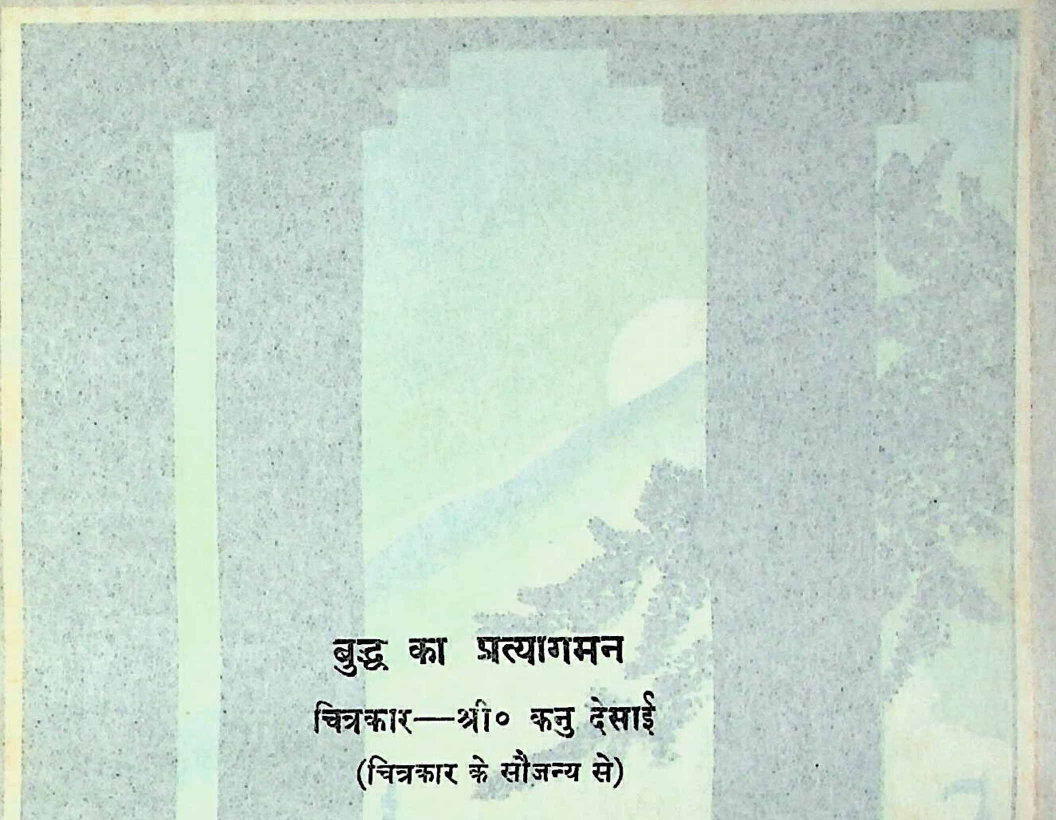

बुद्ध का प्रत्यागमन

चित्रकार—श्री० कनु देसाई

(चित्रकार के सौजन्य से)

प्रार्थना से इन्होंने विक्रमशिला का आचार्य-पद अंगीकृत किया था। इनकी कीर्ति देश-देशांतर में फैली हुई थी। उन दिनों तिब्बत में बौद्धधर्म में कई प्रकार के विकार प्रविष्ट हो गए थे। उन्हें दूर करने की आवश्यकता थी। तिब्बत के राजा ने धार्मिक सुधार के निमित्त आचार्य दीपंकर—अतिश—को निमंत्रण देने के लिये 'नाग-चो' नामक एक राजदूत को भेजा था। जिस समय वह राजदूत आचार्य अतिश को बुलाने के लिये विक्रमशिला में आया उस समय इस विद्यापीठ में एक धर्मपरिषद् हो रही थी। इस विराट् समारोह में भाग लेने के लिये भिन्न-भिन्न वर्गों के आठ सहस्र भिक्षु पधारे थे। आचार्य अतिश के दर्शन करने के लिये 'नाग-चो' तरस रहा था। वह अपने वृत्तांत में लिखता है—

"प्रभात का सुहावना समय था। सब भिक्षुगण अपने-अपने स्थानों पर आसीन थे। मैं विद्यार्थियों के बीच में बैठा हुआ था। परिषद् में सबके यथास्थान बैठ जाने पर सबसे पहले माननीय विद्याकोकिल पधारे। इनकी आकृति बहुत भव्य थी। उन्नत और अचल सुमेरु के समान वे आचार्य एक ऊँचे आसन पर दृढ़ता से बैठे हुए थे। अपने पास बैठे हुए एक व्यक्ति से मैंने प्रश्न किया—'क्या ये ही भगवान् अतिश हैं?' उत्तर मिला—'अरे आयुष्मन्! यह तुम क्या कहते हो? ये तो पूज्य आचार्य विद्याकोकिल हैं! ये आचार्य चंद्रकीर्त्ति की शिष्य-मंडली के एक रत्न हैं!' तब मैंने सिंहासनों से एक किनारे बैठे हुए एक दूसरे आचार्य की ओर अँगुलि-निर्देश करके पूछा—'ये तो आचार्य अतिश हैं?' उत्तर मिला—'ये तो आचार्य [illegible] हैं! पूर्वकाल में इनका कोई सानी नहीं है!' मैं आचार्य अतिश के दर्शन के लिये अपनी आँखों को इधर-उधर फिरा रहा था। इतने में विक्रमशिला के राजा पधारे और एक ऊँचे आसन पर बैठ गए। मैंने देखा, उनके आने पर कोई उठा या खड़ा कोई साधु खड़ा न हुआ! इसके बाद धीर-गंभीर मुखमुद्रावाले एक और पंडित मंद-मंद गति से पधारे। सुवासित द्रव्यों से इनका स्वागत करने के लिये बहुत-से युवक-भिक्षु तथा स्वयं राजा भी अपने स्थान से उठा। राजा को उठते देख अन्य कई साधु और पंडित भी उठ खड़े हुए। इनका इतना सम्मान देखकर मैंने सोचा, ये अवश्य ही कोई राजर्षि या मान्य स्थविर हैं, अथवा आचार्य अतिश तो नहीं हैं? परंतु पूछने पर विदित हुआ कि ये तो 'आचार्य बोधिभद्र' हैं! अस्तु, जब सब लोग अपने-अपने स्थान पर बैठ गए तब परम पूज्य भगवान् अतिश पधारे! सारी सभा एकटक उनकी ओर निहार रही थी। उनको देखते-देखते मन अघाता न था। मंद-मंद मुस्कुराती हुई उस अति भव्य आकृति ने सारी सभा को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। उनकी कमर से कुंजियों का एक गुच्छा लटक रहा था। भारतीय, नैपाली, तिब्बती, सबके सब बड़े ध्यान से उनकी तेजस्विनी मुखाकृति निहार रहे थे।"

'नाग-चो' आगे लिखता है—"दूसरे दिन, प्रभात में, प्रभु अतिश जहाँ गरीबों को अन्न-दान दे रहे थे, मैं वहाँ जा पहुँचा। देखा, एक बालभिक्षुक अपना हिस्सा न पाने के कारण आचार्य के पीछे-पीछे रोता हुआ कह रहा है—'हे नाथ अतिश! मुझे भी अन्न दीजिए! मुझे भी भात दीजिए!' यह करुणापूर्ण वाणी सुनते ही मेरे लोचन अश्रुजल से भर आए। मैं आचार्य अतिश के पीछे-पीछे जा रहा था। मेरा मन तो उन्हीं में लगा हुआ था। इतने में उन्होंने मुझे पहचान लिया। बोले—'हे आयुष्मन्!

तुम तिब्बती लोग बड़े सच्चे हो, आँसू न गिराओ। तुम्हारे लिये मेरे हृदय में बहुत आदर है। हिम्मत न हारकर मुझे तिब्बत में ले जाने के लिये तुम पुनः यहाँ आए हो। कहो, क्या समाचार है?' अहा! आचार्य अतिश के ये वचन सुनकर मेरे आनंद का पार न रहा!"

इसके अनंतर राजदूत 'नाग-चॉ' और आचार्य अतिश के बीच, तिब्बत में बौद्ध धर्म की स्थिति के विषय में, बहुत देर तक चर्चा होती रही। नाग-चॉ ने तिब्बत में आने के लिये अतिश से प्रार्थना की। अतिश ने कहा—'मैं अब बहुत वृद्ध हो गया हूँ। इन विद्यामठों की कुंजियाँ मेरे हाथ में हैं। अभी यहाँ पर बहुत-कुछ काम करना बाकी है। तुरंत ही तिब्बत-प्रयाण के निमित्त निकलना मेरे लिये बहुत कठिन है।' तब फिर अतिश के आज्ञानुसार यह तिब्बती एलची विक्रमशिला में तीन वर्ष तक बौद्ध शास्त्रों का अध्ययन करता रहा। अंत में विक्रमशिला के व्यवस्थापकों के साथ बातचीत करके अतिश ने तिब्बत जाने का निश्चय किया। मार्ग में अतिश की मंडली ने, भारत और तिब्बत की सीमा पर बने हुए एक विहार में, पड़ाव डाला। वहाँ के श्रमणों ने अतिश से विनयपूर्वक कहा—'भगवन्, आप तिब्बत जाएँगे तो भारतभूमि में बौद्ध धर्म का सूर्य अस्त हो जायगा।' परंतु विक्रमशिला के संघ के निर्णय को ही कायम रखकर अतिश ने आगे प्रस्थान किया। मानों अतिश के गमन के साथ ही बौद्ध धर्म ने भी भारत से विदा ले ली! तिब्बत में अतिश को राजा और प्रजा की ओर से महान् संमान प्राप्त हुआ। उनकी अध्यक्षता में रहकर तिब्बत के धर्मगुरुओं ने बौद्ध धर्म का सच्चा रहस्य जाना। अपने तेरह वर्ष के प्रवास-काल में अतिश ने भिन्न-भिन्न स्थानों में घूमकर बौद्ध धर्म के पुनर्विधान का कार्य किया। महायान-पंथ के पुनरुद्धार-कर्त्ता आचार्य अतिश ने 'लासा' के समीप 'नेथाण' नामक स्थान में, इकहत्तर वर्ष की अवस्था में ही, निर्वाण-पद प्राप्त किया। उनके लिखे हुए ग्रंथों में 'बोधिपथ-प्रदीप' नामक ग्रंथ सर्वोत्तम गिना जाता है।

विक्रमशिला का पाठ्यक्रम नालंदा के समान व्यापक नहीं था। यहाँ पर तंत्रविद्या विशेष रीति से सिखाई जाती थी। इस काल में बौद्ध धर्म में तंत्रविद्या का विषय लोगों को बहुत प्रिय था। इसके अतिरिक्त व्याकरण, अध्यात्मविद्या और न्यायशास्त्र की भी यहाँ अच्छी पढ़ाई होती थी। न्याय-शास्त्र में यहाँ के बहुत-से अध्यापक अत्यंत प्रवीण थे। यहाँ के द्वारपंडित भी बड़े समर्थ नैयायिक थे। इससे सिद्ध होता है कि उन दिनों तंत्रविद्या और न्यायशास्त्र दोनों ही विशेष रूप से लोकप्रिय थे। नालंदा और विक्रमशिला के शिक्षण के विषय में यह बात खास तौर से ध्यान देने योग्य है कि वहाँ प्रत्येक विद्यार्थी एक भिक्षु को अपना गुरु चुनकर, उसका अंतेवासी बनकर, रहता था। गुरु तथा शिष्य का हार्दिक संबंध था। 'महाबग्ग' के कथनानुसार शिष्य को आचार्य पुत्रतुल्य मानता था और शिष्य भी गुरु को पितातुल्य। दोनों में परस्पर स्नेह, श्रद्धा, विश्वास और आदर-भाव विद्यमान था।

ईसा की पाँचवीं शताब्दी में सरस्वती-देवी के शत्रु-रूप हूण लोगों ने तक्षशिला के विश्वविदित महान् विश्वविद्यालय का विनाश किया था। फिर ईसा की बारहवीं शताब्दी के अंत में ज्ञान और सभ्यता के केंद्र-रूप इन महान् विद्यापीठों—नालंदा, विक्रमशिला और उदंतपुरी—का सर्वनाश मुसलमान आक्रमण-कारियों द्वारा हुआ! विक्रमशिला के विनाश के समय में यहाँ के आचार्य काश्मीरदेशीय पंडित 'शाक्यश्री'

थे। डॉक्टर कर्न के मतानुसार मुसलमान आक्रमणकारियों द्वारा ही विक्रमशिला और उदंतपुरी के विद्यामंदिर विनष्ट हुए और यहाँ के कुछ साधु तथा पंडित मारे गए और कुछ अन्यत्र भाग गए। आचार्य शाक्यश्री उत्कल (उड़ीसा) चले गए और वहाँ से उन्होंने तिब्बत की ओर प्रस्थान किया। 'रत्नरक्षित' नैपाल चले गए। बुद्धमित्र और अन्य श्रमण दक्षिण-भारत की ओर चले गए। संगमश्रीज्ञान और उनके कतिपय अनुयायी ब्रह्मदेश तथा कंबोडिया चले गए। सच तो यह है कि इतिहास का क्रम सर्वत्र एक-सा ही है। जिस प्रकार कुस्तुंतुनियाँ से बहिष्कृत होकर यूनानी लोग अपनी ज्ञानसमृद्धि और कला इटली आदि देशों में ले गए थे, ठीक उसी प्रकार विक्रमशिला और उदंतपुरी के पंडित तथा श्रमण जहाँ-जहाँ गए वहाँ-वहाँ अपनी विद्या और कला भी लेते गए। दक्षिण-भारत के राज्यों और तिब्बत में गए हुए बौद्ध साधुओं का अच्छा सत्कार हुआ। उन्हें राजाश्रय भी प्राप्त हुआ। विशेषतः विजयनगर, कलिंग और कोंकण में जाकर बौद्ध पंडितों ने छोटी-छोटी पाठशालाएँ स्थापित कीं। मुसलमानों की भयंकर चढ़ाइयों से बौद्ध धर्म को जो गहरा आघात लगा, वही उसके विनाश का कारण हुआ!

दूसरी दिशा को

चलो चलें अब ऐसी ओर—
जहाँ स्वच्छ आकाश रहे नित, दिङ्मंडल हुलसाता हो।
प्रेम-वारि की ही हो वर्षा, कष्ट न कोई पाता हो॥
कभी सुनाई दे न जहाँ पर दीन पपीहे का वह गान।
सुन जिसको विरही बालाएँ रो-रोकर देती हैं प्रान॥
सदा लगे ही रहें आम्र में जहाँ प्रेम के मंजुल मौर।
जहाँ न छिन जाते हों दुखिया दीन जनों के मुख के कौर॥
जहाँ प्रकृति हो निजी रूप में, मानव-कर का काम न हो।
नर-समीप खेलें मृग-छौने, भय-शंका का नाम न हो॥
जहाँ चकोर चंद्र हो जावे, और चंद्र स्वयमेव चकोर।
जिसको मुग्ध दृष्टि लखकर हो मन सकरुण आनंद-विभोर॥

पद्मकांत मालवीय

झिल्ली-रव

प्रोफेसर बळवंत गणेश खापर्डे, कविभूषण

चाल—फटका

दाट किती हें कानन भरलें, 'रातकिडा' हा नित बोले।
दिवस असो वा, रात्र असो वा, गायन ह्याचें नित चालें॥
श्रम नच भासे; थांबे नच तो; गायन त्याचें संपे ना।
अनंत गातां त्याची तृप्ती जणों तरीही होई ना ! ॥ ध्रु० ॥
ग्रीष्मऋतूचा कहर उसळला; जगत भाजुनी निघताहे।
उष्ण इतरतः वायु, परी हा शीतल ह्या काननिं वाहे॥
दोन प्रहरच्या दाट पसरल्या छाया, वन हें जणुं निजलें।
वनदेवींचें चित्त जणों का ध्यानीं गढुनी अजि गेलें॥
जरीहि हलले हळूंच हलती तळीं कवडसे जे पडती।
वनदेवींच्या ध्याननिमग्ना मना जणूं ते बहु जपती॥
पाला पडला खालीं, सुकला; आज तोहि हो हळुं हाले।
वनदेवींची जणों समाधी नच भंगो हें त्यासि कळे॥
निर्झर झुळु झुळु हळूंच बोले, कानगोष्टि जणुं करिताहे।
निजतां माता बालक जवळीं खेळे, हळुं परि हसताहे॥
पक्षिहि पर्णीं लपुनो, माना वळवुनि, चोंची खोचुनिया—।
पंखांमाजीं, झोंपीं गेले; भास देविंना नच व्हाया॥
मदोन्मत्त हत्तीही भंगिति नूतन शाखा नच आतां।
मघां मोडिल्या शाखा सोलुनि खाती ते झुलतां झुलतां॥
भृंग, गुंजना सोडुनि, लपुनो, सुमकोशीं झोंपीं गेले।
स्वस्थ बैसले छायेमाजीं हरिण चरोनी जे आले॥
परी इथें उद्दामपणानें झिल्ली-रव हा नित चाले।
मंद न होतां रव त्याचा, त्या जणों अधिकही बळ आलें!॥
वनदेवी उद्दामपणा कां ऐसा त्याचा सहतात ?।
रवें तयाच्या काय न त्यांच्या ध्याना त्रासचि मुळिं होत ?॥१॥
शुभ्र चंद्रिका असे पसरली शांत वनावरिं ह्या सारथ्या।
गर्द खालतीं पडल्या छाया, किरणां वाट न तळि याया॥

जिथें शिरति ते पर्णांमधुनी तेंथुनि शुभ्र दिसे रेषा।
ऐशा रेषा शुभ्र भोवतीं, मधें तमीं मी येथेसा॥
पाणकोंबडीं बुडतिं जलीं तैं 'डुबुक' शब्द हा हळुं होतो।
शांत वेळिं ह्या दुरुनि ऐकुं ये, पक्षी जरि तो नच दिसतो॥
वृक्ष हालतां, घरटें हलतां, भिउनी किलबिल करितात—।
थोडीशी; परि वारा जातां फिरुनी पक्षी निजतात॥
वाळुनि पानें झडतीं खालीं, टपटप कानां ऐकूं ये।
फल पडतां जणुं गोटा पडला ऐसा शब्दहि होताहे॥
वन्यपशू कुणि हळूंहि चाले तरि वाजे सुकला पाला।
सळसळ ऐसी जराहि होतां हरिण उचलिती मानेला॥
कळप तयांचा झोंपीं गेला; एक पहारा करिताहे।
कानोसा अति बारिक घेतो, कान रोखि, ऐकत राहे॥
मान तदा करि जरा वांकडी; कांहीं नाहीं बघुनीया।
जाय पुढें, करि प्रदक्षिणा तो कळपा, थांबुनि थांबुनिया॥
खूर तयाचे हळूंच वाजति; पाला वाजे; अति जपतो।
आपण जागुनि, भीती दिसतां, सर्वत्रांना जागवितो॥
शब्द मंद हे, शब्द शांत हे; निःशब्दाच्या राज्यांत।
रातकिड्यांच्या इथें रवाला अधिकचि भरती कां येत? ॥२॥
दिव्य चेतना जगासि देतचि उषा येत जैं गगनांत।
तारे विझुनी, फुलें उमलुनी, गंधमत्त वाहे वात॥
नवचैतन्यें आंतुनि कोंदुनि जागृत होई नवसृष्टि।
जीवसृष्टि जडसृष्टिहि झेली चैतन्याची ही वृष्टि॥
टवटवीत आनंदित सारे,—चेतन फुटलें व्यक्तांत।
व्यक्त चेतना हसे पहाटें पाहुनि विश्वीं निज ज्योत॥
जिकडे पाहे तिकडे दिसते चैतन्या अपुली ज्योत।
जडांतही चैतन्य कोंदलें! स्फुरणें विश्वा फुलवीत॥
ज्योति पेटली!—मंजु खगावलि किलबिल करते हर्षानें।
नवदीप्तीनें गगन फाकलें, वनहि झळकलें तेजानें॥
तरुशिखरें उत्तुंग, बनुनिया सोनेरो रविकिरणांनीं।
सरोवरीं दिसतीं प्रतिबिंबें त्यांचीं हलतां झुळुकांनीं॥
तळ्यावरुनि जे पक्षी उडती बिंबें त्यांचीं पाण्यांत।
तयांसवें धावतिं, परि कांपतिं हलवी वीचि जसा वात॥

झिल्ली-रव

प्रभातकाळीं पूर्वदिशेला उडत जधीं हे खग जाती।
दीपावरिं जणुं पतंग येती तसे तदा ते दिसताती॥
कीं तेजामधिं विलीन व्हाया तपस्वीच ते जाताती।
मंद समीरें वाहुनि त्यांच्या गीतलहरि खालीं येती॥
सरोवरीं पर्वत, तरुराजी, नभवर्णांसह पक्षीही।
दिसतीं शांतपणें प्रतिबिंबित, कमळें जरि थोडीं हलतीं॥
अशाहि वेळीं काय खगाहुनि रातकिडा मंजुळ बोले?।
कां म्हणुनी उन्मत्त तयाचा किर्रर्र असा हा रव चाले?॥३॥
सायंकाळीं वन्यपशूही सरितेतटिं जे जल प्याले।
स्वस्थाना जायास निघाले, कांहिं रवें थोडे भ्याले॥
थोडे थबकुनि, माना उचलुनि, नीट निहाळुनिया, गेले।
ओस खोपटें दिवसभराचें पक्षिगणांनीं बसवीलें॥
रात्रिभयानें पश्चिमगगनीं उंच तरूंतुनि पाहियले—।
लपुनी त्यांनीं खिन्न मनानें अंत्य वर्ण क्षितिजावरले॥
ग्रामांतुनि नगरांतुनि आले, मनुज सर्वही ते गेले।
पुष्प, गवत, लाकूड, जया जें हवें तयानें तें नेलें॥
पदाऽघात त्यांचेहि निमाले; कुऱ्हाड, बांसरि, वाजे ना।
हास्य लोपलें; गाणें सरलें; पशुंना अपुल्या बाहति ना॥
हंबरती नच गायी आतां; वत्सांस्तव धावत गेल्या।
जातां जातां जल प्याल्या तैं उत्सुकतेनें कमि प्याल्या॥
नेल्या नच त्या गो-पालांनीं, वत्सप्रेमें त्या नेल्या।
गो-पालांनीं द्रुत चरणांनीं कशा तरी त्या अनुसरिल्या॥
धूळ उडाली चरणीं त्यांच्या; गगनहि धूसर झालेसें—।
मंद दीप्तिनें; पिंगट काळी कांती जगता आलीसे॥
रात्रिभयानें जग जणुं भ्यालें; रव विरले, तेजहि विझलें।
मनुजांचे व्यापार संपले; खग मृग सारेही लपले॥
अशाहि काळीं कर्कश ऐसा झिल्लीरव हा कां चाले?।
शांत वनींच्या शांतिवरीं कां क्रूर वीचि ह्यानें हाले?॥४॥

रजत

कविराज प्रतापसिंह रसायनाचार्य

संसार में रजत (चाँदी) का प्रयोग कब से आरंभ हुआ, इसकी खोज करना पुरातत्त्ववेत्ताओं का काम है; किंतु इतना अवश्य हम लोगों को भी विदित है कि संसार की सभ्यता और राज्य-प्रबंध-शैली के प्रचार के साथ ही साथ इस खनिज का प्रचुर उपयोग—मुद्रा, आभूषण, पात्र और औषध के लिये—होने लगा था। किसी समय 'चंद्राकार' इसका संकेत माना जाता था। संभव है, अब इसी शब्द का अपभ्रंश 'चाँद' और उसका स्त्रीलिंग 'चाँदी' बन गया हो। आयुर्वेद में तथा प्राचीन 'रसार्णव', 'रस-रत्न-समुच्चय' आदि ग्रंथों में, ओषधि-रूप से इसका वर्णन मिलता है। इसकी उत्पत्ति के विषय में बड़े ही विचित्र विचार हैं। 'आयुर्वेद-प्रकाश' में लिखा है—

> त्रिपुरस्य वधार्थाय निर्निमेषैर्विलोचनैः। शिवो निरीक्षयामास क्रोधेन परिपूरितः॥
> ततस्तूल्कासमभवत्तस्यै कस्माद्विलोचनात्। वीरभद्रोऽपरस्मात्तु गणे वह्निरिव ज्वलन्॥
> तृतीयो ह्यश्रुबिन्दुस्तु लोचनादपतद्भुवि। तस्माद्रजतमुत्पन्नं नानाभूमिषु संस्थितम्॥
> भवति कृत्रिमं चापि वङ्गादेः सूतयोगतः।

इस प्रकार के वर्णन से आज-कल इस खनिज का वास्तविक उत्पत्ति-ज्ञान होना संभव नहीं। इसलिये आधुनिक खोजों से जो व्यवहार चल रहा है उसका वर्णन करना उचित है। 'चाँदी' प्रकृति में मुक्तावस्था में पाई जाती है। ऐसे प्राकृतिक रजत में सुवर्ण, ताम्र और अल्प मात्रा में अन्य धातु भी मिले पाए जाते हैं। इसका यौगिक केवल एक है—रजत-गंधिद (Silver Sulphide), शेष सब अन्य धातुओं के यौगिक से प्राप्त किया जाता है, जिसमें मुख्य ताम्रगंधिद (Copper Sulphide), अजन-गंधिद (Antimony Sulphide) और ताल-गंधिद (Arsenic Sulphide) हैं। कभी-कभी यह चाँदी 'हरिद' (Silver Chloride) के रूप में भी पाई जाती है, और सीसा (Lead) धातु के कुछ खनिज भी चाँदी के साथ मिलते हैं। बर्मा-प्रांत में जो सीसा धातु के खनिज पाए जाते हैं उनमें प्रायः प्रति मन एक से ढाई तोले तक चाँदी मिली रहती है। सन् १९२१ ई० में इस प्रकार के खनिजों से अठासी लाख की चाँदी प्राप्त की गई थी। मद्रास-प्रांत के अनंतपुर जिले में और मैसूर के कोलर गोल्डफिल्ड की खानों से भी थोड़ी मात्रा में चाँदी मिला करती है।

रजत निकालने की विधि—रजत के खनिजों को एकत्र कर उनमें अशुद्ध ताम्रगंधिद और थोड़ा-सा साधारण नमक मिलाकर बारीक चूर्ण करते हैं। जब अच्छी तरह चूर्ण हो जाता है तब पारे के साथ भली भाँति मिलाकर घोटते हैं। ऐसा करने से चाँदी अपने यौगिक को छोड़कर, पारे के साथ मिलकर, रजत-पारद का मिश्रण (Amalgam) बन जाती है। इसलिये इस विधि को 'पारद-रंजन-क्रिया' भी कहते हैं। यह मिश्रण ठोस होता है। इसको फिर एक प्रक्रिया द्वारा निर्मित मिट्टी के घड़ों के भबके में उड़ाते हैं, जिससे पारद दूसरे पात्र में चुआ लिया जाता है और उसकी तली में चाँदी रह जाती है, जिसे निकालकर जमा लेते हैं। आज-कल एक और विधि प्रचलित है, उसे 'रजत-स्यनिद-(Silver Cyonide)'-विधि कहते हैं। अधिकांश चाँदी इसी विधि से निकाली जाती है। इस विधि में रजत के खनिज चूर्ण कर, पोटाशियम और सोडियम-सायानाइड के घोल के साथ, मिश्रित किए जाते हैं जिससे चाँदी पृथक् होकर रजत-स्यनिद (Silver Cyonide) के रूप में परिणत हो घोल बन जाती है। इस घोल में शुद्ध 'यशद' (जस्ता) के टुकड़े डाले जाते हैं जिससे चाँदी पृथक् हो जाती है। सीसे के खनिज में जो अत्यल्प मात्रा में चाँदी मिली रहती है उसे पृथक् करने का ढंग यह है कि रजत-मिश्रित सीसा धातु को पिघलाकर उसमें यशद धातु छोड़ देते हैं। सीसा धातु की अपेक्षा यशद धातु रजत को अधिक मात्रा में घुलाती है, इसलिये सीसा धातु को छोड़कर चाँदी—यशद के साथ मिश्रित होकर—पिघले हुए सीसे के ऊपर तैरने लगती है; क्योंकि यह रजत-यशद का मिश्रण सीसे से हल्का हो जाता है। यह तैरती हुई तह छनौटे (perforated blades) से निकाल ली जाती है। शीतल होने पर यह जम जाती है। फिर भबके में गरमाकर यशद को चुआ लेते हैं, और जो चाँदी भबके की तली में रह जाती है उसको फिर परीक्षा करते हैं। यदि उसमें सीसे का अंश प्रतीत हुआ तो फिर मूषा (cupel) में गरम कर रजत को अलग कर लेते हैं।

रजत के गुण और उपयोग—रजत-धातु श्वेत वर्ण की होती है। यह चिमड़ी (tough) और चोट से बढ़नेवाली (malleable) तथा ताप और विद्युत् का वहन करनेवाली है। इसका आपेक्षिक गुरुत्व १०·५ है। यह लवण के अमोनिया-घोल से संस्कार-क्रिया द्वारा बहुत छोटे-छोटे कणों के रूप में काँच पर जम जाती है। यह द्रव-दशा में यथेष्ट ओषजन को सोखती है। इसका सबसे अधिक उपयोग सिक्के, आभूषण, पात्र और रासायनिक द्रव्यों के बनाने में किया जाता है। शुद्ध चाँदी कोमल होती है। इसलिये बहुत घिसती है। इसी कारण मुद्रा और आभूषण बनाते समय, इसमें आवश्यक कठिनता (hardness) लाने के लिये, अन्य धातुएँ मिश्रित की जाती हैं। चाँदी के सिक्के में प्रतिशत ९२·५ भाग चाँदी और ७·५ भाग ताम्र मिला रहता है। साधारण तापक्रम से रजत पर ओषजन की कोई क्रिया नहीं होती। उज्जहरिकाम्ल (नमक का तेजाब=हाइड्रोक्लोरिक एसिड) और हल्के गंधकाम्ल (गंधक का तेजाब=सल्फ्योरिक ऐसिड) का भी इस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उष्णघन गंधकाम्ल से रजत-गंधेत बन जाता है। नत्रिकाम्ल (नाइट्रिक ऐसिड=शोरे का तेजाब) रजत पर सरलता से कार्य करता है, जिससे नत्रिकोषिद (नाइट्रोजन ओक्साइड) गैस निकलती और रजत-नत्रेत (सिलवर नाइट्रेट) बन जाता है। रजत को उजन गंधिद (हाइड्रोजन सल्फाइड) काला कर

देता है; क्योंकि इससे रजत-गंधिद (सिल्वर सल्फाइड) बन जाता है। रजत के अनेक यौगिक बनते हैं। रजत-नत्रेत (सिल्वर नाइट्रेट) इसका एक प्रधान सॉल्ट (लवण) है जिसका विश्लेषण और औषधियों के लिये बहुत व्यवहार होता है। रजत-नत्रेत में सोडा-क्षार देकर रजतोषित बनाते हैं। रजत के नैलादि लवण (Heloid Salts) बहुत उपयोगी हैं; क्योंकि इन्हीं के द्वारा प्रकाश-चित्रण (Photography) का विकास हुआ है। चाँदी की कलई करने में रजत-नत्रेत पोटाश-स्यनिद के साथ व्यवहृत होता है। रजत-नत्रेत ऐलोपेथिक चिकित्सा में नेत्र-रोग और व्रण जलाने के लिये बहुत काम आता है। इसको कलमें बनी रहती हैं जिनसे प्रायः दुष्ट व्रण को जलाया करते हैं। इसका हल्का घोल दो ग्रेन एक औंस जल में मिलाकर नेत्र-रोगों में व्यवहृत होता है। दस से बीस ग्रेन एक औंस में मिलाया हुआ घोल बहुत तीक्ष्ण होता है, इससे गले के 'टॉसिल्स' आदि गलाए जाते हैं। बलकारक आयुर्वेदिक औषधों में रजत के भस्म का बहुत उपयोग करते हैं। इसके प्रयोग से प्रमेह, अग्निमांद्य आदि रोगों में बड़ा लाभ होता है। बल-वृद्धि के लिये यूनानी चिकित्सावाले भी इसके वर्क काम में लाते हैं। पान और मिठाई की शोभा बढ़ाने के लिये वर्क का प्रति दिन व्यवहार किया जाता है।

तेरी लीला

यह ह्रद यामुन कालिंदी का है। विषधर कालीय इसमें फुफकारा करता है। आ, बाल कृष्ण! उसके फण पर नृत्य कर। तेरी पैंजनी की झंकार को ला-लाकर लहरियाँ चारों ओर फैला देंगी और कठोर कगारों में सरस संगीत भर जाएगा। जब तू मुरली में स्वर फूँकेगा तब बाहर बुदबुदे उठेंगे और वे आनंदाश्रुओं के रूप में फूट निकलेंगे। कालीय की गरल-फूत्कार से यमुना का जल उबलने लगेगा। किंतु उसका विष दमन होकर अमृत बन जाएगा। और, तेरा पद-चिह्न सदैव को उसके मस्तक पर अंकित हो जाएगा। कालीय की नागिनियाँ भीति और अनीति, शांति और प्रीति का सुंदर रूप पाकर तेरी आरती उतारेंगी। प्रेम-पाश से नाथ कर तू उस कुटिल-गति को अपने हृदय से लगाके ऋजु बना लेना। निरंतर प्रवाहशीला यमुना क्षण भर को निश्चल होकर तेरी यह लीला देखेगी। फिर, अनंत सागर तक पहुँचने को, पावन जाह्नवी में विलीन होने के लिये, द्विगुण वेग से प्रवाहित हो उठेगी—कल! कल!! कल!!!

ठाकुर रामसिंह

'बेवोल्फ़'

प्रोफेसर कृपानाथ मिश्र, एम० ए०

'बेवोल्फ़' अँगरेजी साहित्य का पहला, सबसे प्राचीन और एक महत्त्वपूर्ण महाकाव्य है। इस महाकाव्य के संबंध में बहुत-सी पुस्तकें लिखी गई हैं। इसकी भाषा पर आलोचनात्मक विचार प्रकट करने के कारण सैकड़ों विद्वानों को 'डॉक्टरेट्' की उपाधि मिली है। यह महाकाव्य अँगरेजों का जातीय गौरव है। इसकी हस्तलिपि लंडन के ब्रिटिश म्युजियम नामक विराट् पुस्तकालय में सुरक्षित है। इस प्राचीन महाकाव्य में प्रायः बत्तोस सौ पंक्तियाँ हैं। इसकी भाषा प्राचीन अँगरेजी है। प्राचीन और अर्वाचीन अँगरेजी में बहुत अंतर है। प्राचोन अँगरेजी संश्लेषणात्मक भाषा थी। उसमें विभक्तियों की भरमार थी। उसके शब्दरूप जटिल होते थे और धातुरूप भी। उसमें वाक्यों के निर्माण का कोई नियम न था। गद्यशैली का आविर्भाव इसी महाकाव्य की रचना के बाद हुआ। इसकी रचना के समय शब्द सुकुमार कुमार थे, और शैली थी लचर। इस महाकाव्य की कथा यह है—"डेनमार्क के राजा ह्रोथगार ने 'हेवेरोट' नाम का एक भवन बनाया। इसी में राजा अपने प्रियजनों के साथ विहार करता था। कुछ दिन तो सुख से बीते; लेकिन बाद को 'ग्रेंडेल' नामक एक दैत्य प्रति दिन भवन पर आक्रमण करने लगा। वह राजा के प्रिय जनों को चुरा ले जाकर उन्हें भक्षण करने लगा। दैत्य के इस आक्रमण से राजा को बहुत दुःख हुआ। इस विपत्ति का समाचार चारों ओर फैल गया। दूर देश का 'बेवोल्फ़' नामक एक वीर योद्धा यह समाचार सुनकर राजा की सहायता के लिये आ पहुँचा। 'बेवोल्फ़' ने दैत्य को हराया तो सही, लेकिन दैत्य का वध न कर सका। फिर दैत्य को ढूँढ़ते-ढूँढ़ते 'बेवोल्फ़' जल के नीचे छिपी हुई एक कंदरा में पहुँचा; वहीं युद्ध करके दैत्य को मार डाला। लेकिन उसी समय दैत्य की माँ ने 'बेवोल्फ़' पर आक्रमण किया। किसी तरह 'बेवोल्फ़' ने उसे भी हराया और मार डाला। इस प्रकार सर्व-विजेता होकर 'बेवोल्फ़' राजभवन में पहुँचा। राजा ने उसका बड़ा संमान किया, उसे सदुपदेश भो दिए। तब 'बेवोल्फ़' स्वदेश लौट गया। वहाँ उसके चाचा के मरने के बाद लोगों ने उसे राजा बनाना चाहा, लेकिन चचेरे भाई के रहते उसने राजा होना स्वीकार न किया। इस भाई के मर जाने के बाद वह राजा हुआ और बड़ी शांति के साथ बहुत दिनों तक राज किया। उसके जीवन के संध्याकाल में उसके स्वदेशवासियों पर एक सर्प-दैत्य ने आक्रमण करना शुरू कर दिया। भला वीर राजा यह क्योंकर सह सकता था! उसने अपने

अस्त्र-शस्त्र सँभाले और युद्ध की तैयारी की। सर्प-दानव को तो उसने मार भगाया, लेकिन युद्ध करते समय वह ऐसा आहत हुआ कि मर ही गया। उसके वीर साथियों ने चिता सजाकर उसके मृत शरीर को उस पर रक्खा और उसके वीरत्व का गुणगान किया।"

इस कथा से स्पष्ट है कि उस प्राचीन युग में भी वीर योद्धाओं का एकमात्र कर्त्तव्य पर-दुख-दलन था। राजा ह्रोथगार के दुख की बातें सुनकर 'बेवोल्फ' बहुतेरे समुद्रों को पार कर इसलिये आया कि एक पीड़ित राज्य की जनता का दुख दूर कर सके। उसकी मृत्यु भी दूसरों के दुख हरते समय ही हुई। वह सचमुच एक आदर्श वीर था।

इस महाकाव्य में बहुतेरे सुंदर एवं नीतिपूर्ण वाक्य हैं। एक वाक्य यों है—"डेआथ विथ सेला एओर्ला गेह्विल्कम दॉन एडविट लीफ[1]"—अर्थात् 'वीर पुरुषों के लिये कीर्त्ति-विहीन जीवन से तो मृत्यु कहीं अच्छी है!' जब 'बेवोल्फ' ग्रेंडेल नामक दैत्य तथा दैत्य की माता को हराकर 'हेवोरोट' नामक राजभवन में राजा ह्रोथगार के पास पहुँचा तब राजा ने उसे यह उपदेश दिया—"सुखी रहते हुए भी मनुष्य को चाहिए कि अहंकार को पास न फटकने दे। अहंकार ही मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु है। इस संसार में कुछ भी स्थायी नहीं। न धन रहता है, न कीर्त्ति रहती है। ऐ मेरे प्यारे बेवोल्फ! अहंकार से दूर रहो। एक दिन तुम्हें भी इस संसार से दूर चला जाना पड़ेगा। अस्त्रों के प्रहार से, या जरा से, या व्याधि से, तुम्हारी भी मृत्यु होगी। इसलिये अहंकार से दूर रहो—मेरे बेवोल्फ!"

× × × ×

चूँकि प्राचीन अँगरेजी एक संश्लेषणात्मक भाषा थी, इसलिये उसकी शैली प्राथमिक थी—अनुन्नत थी। साहित्यिक दृष्टि से 'बेवोल्फ' का महत्त्व शब्द-निर्माण में है। 'बेवोल्फ' के कवि मूर्त्त शब्दों का ही प्रयोग करते थे। ये शब्द चित्र-प्रबल होते थे। शब्दों को अँगरेजी अलंकार-शास्त्र में 'केनिंगस् (Kennings)' कहते हैं। ऐसे शब्दों के कुछ नमूने ये हैं—"जहाज के लिये—The foamy-necked one, wave-floater, sea-goer; सूर्य के लिये—World-candle, jewel of the day।" बहुत-से सुंदर क्रियापदों के प्रयोग कवि की प्रतिभा के ज्वलंत उदाहरण हैं—'Nor does sorrow *darken* his mind; Sorrow *surged* within him' आदि अच्छे दृष्टांत हैं। किंतु आज तक यह नहीं मालूम हुआ कि 'बेवोल्फ' की रचना अँगरेजों ने इँगलैंड में आकर की या उन प्रदेशों में जहाँ से वे इँगलैंड आए। यह भी नहीं मालूम कि 'बेवोल्फ' एक कवि की रचना है या कई कवियों की। जो कुछ भी हो, यह प्राचीन समय के अँगरेजी साहित्य का एक गौरवमय अंश है।

---

[1] आधुनिक अँगरेजी में यों होगा—Death is better for all earls (noblemen) than an inglorious life.

जागरण

१

जाग रण! जाग, निज राग भर त्याग में,
विश्व के जागरण का तुही चिह्न है।
सृष्टि परिणाम है घोर संघर्ष का,
शांति तो मृत्यु का एक उपनाम है॥

२

श्वास-प्रश्वास इस देह के संग ही
जन्म ले नित्य के यात्रियों की तरह
लक्ष्य की ओर दिन-रात गतिवान हैं,
प्राणधारी नहीं जानता कौन यह?

३

देह की शक्ति का केंद्र जो हृदय है,
जन्म से मरण तक सैकड़ों वर्ष तक
हर्ष या शोक में, युद्ध या स्वप्न में,
कर्मच्युत हो कभी साँस लेता नहीं।

४

सूर्य की रश्मियों से तथा वायु से
नीर का घोर संघर्ष अवकाश में
नित्य का खेल है सृष्टि के आदि से
मेघ हिम ओस परिणाम प्रत्यक्ष हैं।

५

सृष्टि के आदि से नित्य रवि और तम
एक ही वेग से मग्न हैं दौड़ में।
क्लांत हो जायँ, पर शांत होंगे न वे
व्यग्र हैं एक परिणाम की प्राप्ति में।

६

रात दिन मास ऋतु वर्ष युग कल्प भी
सृष्टि की आयु के साथ प्रत्येक क्षण
युद्ध में रुद्ध हैं; क्यों न हम मान लें
घोर संग्राम ही प्रकृति का ध्येय है!

७

लोक में द्रव्य-बल और श्रम-शक्ति का
तुमुल संग्राम अनिवार्य है सर्वदा।
सत्य है, मानवी जगत् सौंदर्य से
पूर्ण है; किंतु है दैन्य की ही कला।

८

भव्य प्रासाद, रमणीय उद्यान वन,
नगर अभिराम, द्रुम-पंक्तिमय राजपथ,
दिव्य आभरण, कमनीय रत्नावली,
वस्त्र बहु रंग के, यान बहु मान के,

९

स्वाद के विविध सुपदार्थ, श्रुति और मन-
हरण प्रिय नाद को क्यों न हम यों कहें,
व्यापिनी दीनता और संपत्ति के
घोर संघर्ष के इष्ट परिणाम हैं।

१०

नींद जिस भाँति बल-वृद्धि का हेतु है,
मृत्यु भी नव्य रण-भूमि का द्वार है;
चाहती है प्रकृति घोर संघर्ष, तो
शांति की कल्पना बुद्धि का दैन्य है।

रामनरेश त्रिपाठी

गुजराती साहित्य के तीन अपूर्व 'न'

अध्यापक साँवल जी नागर

अँगरेजी साहित्य की व्याख्या करते हुए महाशय स्टोपफर्ड ब्रुक ने एक स्थान पर लिखा है—"The History of English Literature is the story of what great English men and women thought and felt and then wrote down in good prose and beautiful poetry in the English language—अर्थात् माननीय अँगरेज पुरुषों और देवियों के हृदय में जो उत्तम विचार समय-समय पर प्रादुर्भूत हुए—उन्होंने जो कुछ सोचा-विचारा और अनुभव किया, उसे उन्होंने उत्तम गद्य और मनोहर पद्यों में लिपिबद्ध किया; इसी का संग्रह अँगरेजी साहित्य का इतिहास है।" इसमें संदेह नहीं कि भारत की विभिन्न भाषाओं के इतिहास पर यदि तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया जाय तो उपर्युक्त व्याख्या का महान् सत्य सब पर लागू हो सकता है। यह बात निर्विवाद है कि मराठी, गुजराती, बँगला आदि मुख्य भारतीय भाषाओं में भी गद्य का रूप अँगरेजों के समय में ही परिमार्जित एवं स्थिर हुआ। गुजरात में अँगरेजी शिक्षा की प्रथम ज्योति 'सूरत' नगर में प्रदीप्त हुई। बहुत समय तक कच्छ तथा काठियावाड़ के शिक्षक, प्रधानाध्यापक, इंस्पेक्टर, प्रिंसिपल आदि 'सूरत' के निवासी ही नियुक्त होते रहे। 'सूरत' ही उस समय ज्ञान और बुद्धि में अग्रगण्य था। अँगरेजों के सहवास और सहयोग के कारण हमारे सामाजिक, राजनीतिक और पारिवारिक जीवन में एक नवीन विचारों का प्रवाह बह चला। प्रत्येक भाषा के गद्य-साहित्य पर उसका स्पष्ट प्रभाव पड़ा। सबका अनोखा विकास हुआ। बँगला, मराठी, हिंदी, गुजराती आदि भाषाओं ने, विशेषतः इनके गद्य-विभाग ने, निराली उन्नति की। उस समय तक बंगाल के सुकवि शृंगार-रसपूर्ण कविताओं की रचना में ही लीन थे। जब सन् १७७२ ई० में अँगरेजी अमलदारी शुरू हुई, दूरदर्शी अँगरेजों ने अपनी सत्ता दृढ़ करने की भावना से बँगला भाषा पर अँगरेजी आचार-विचार की छाप डालने की तैयारी की। सन् १७७८ में हाल्हेड साहब ने अँगरेजी भाषा में बँगला-व्याकरण लिखा। छापाखाने न थे। बँगला अक्षरों के साँचे भी न बने थे। अतएव विल्किंस साहब ने अक्षर ढाले। व्याकरण छपकर प्रकाशित हुआ। महाशय फोस्टर, लॉर्ड कॉर्नवालिस

के परवानों का अनुवाद करने लगे। सन १८०१ में सर्वप्रथम बँगला-कोष प्रकाशित हुआ। उधर श्रीरामपुर में ईसाइयों के दल ने डेरा जमाया। प्रेस खोला गया। बाइबल का बँगला-अनुवाद प्रकाशित हुआ। उत्तरापथ में पहले-पहल देवनागरी अक्षर यहीं तैयार किए गए। सन् १८०० में फोर्ट विलियम कॉलेज इसी लिये स्थापित हुआ कि अँगरेज अमलदार देशी भाषा में निष्णात हों। उन्हीं दिनों व्याकरण, कोष, लिपिमाला, रामायण, महाभारत आदि बँगला भाषा में पहले-पहल प्रकाशित हुए। उधर पंडित सदल मिश्र, लल्लूलाल जी आदि हिंदी-भाषा के गद्य के सजाने में लगे। ठीक यही उथल-पुथल सूरत में आरंभ हुई। महाशय फाइवी और टेलर, डॉक्टर ग्लासगो और स्कॉट ने रणछोड़दास गिरधरभाई और उनके अनेक मित्रों के सहयोग से आरंभ में बाइबल का गुजराती अनुवाद तथा कुछ साधारण पाठ्य पुस्तकें प्रकाशित कीं। परंतु उनका गद्य सुसंस्कृत न था। परिमार्जित एवं परिष्कृत गद्य का आविर्भाव **नर्मदाशंकर**—अर्थात् गुजराती भाषा के 'भारतेंदु'—की सजीव लेखनी से हुआ। नर्मदाशंकर जी ने ही गुजराती गद्य को मधुर और स्वच्छ रूप दिया, जैसे हिंदी गद्य को भारतेंदु हरिश्चंद्र ने।

गुजराती भाषा के गद्य-परिष्कारक नर्मदाशंकर जी हिंदी के 'भारतेंदु' के समान संपत्तिशाली न थे। उन्हें भारतेंदु जी की भाँति बड़े-बड़े राजाओं की सहायता और मित्रता भी प्राप्त न थी। फिर भी समान शील-गुण के कारण उन्हें हम 'गुजराती साहित्य का भारतेंदु' कहते हैं।

(१) नर्मदाशंकर

जब वे बंबई के एल्फिंस्टन कॉलेज के विद्यार्थी थे तभी उन्हें अँगरेज प्रोफेसरों से शेक्सपीयर, बॉयरन, बेकन आदि अँगरेजी-साहित्य-महारथियों के चरित्र एवं काव्य के तुलनात्मक अध्ययन और आलोचन का सुअवसर प्राप्त हुआ था। सप्तम एडवर्ड जब प्रिंस आफ वेल्स के रूप में भारत पधारे तब कवि नर्मदाशंकर ने अँगरेजी कविता में उनका स्वागत किया था। भारतेंदु ने भी संयोग से ऐसा ही स्वागत किया था। यह संयोग संस्मरणीय है। लेखनी उठाने के पूर्व नर्मदाशंकर जी महाकवि जयदेव का 'चंद्रालोक', 'वृत्तरत्नाकर', 'श्रुतबोध' आदि संस्कृत-पिंगल-ग्रंथ गुरु के पास बैठकर पढ़े थे। गुजराती भाषा में उस समय पिंगल का कोई ग्रंथ छपा न था। इसलिये उन्होंने साधु कवि 'लालदास' के संग्रहालय से 'छंदरत्नावली' मँगनी ली। रोज उसकी प्रतिलिपि करते जाते और उसका रहस्य गुरु से समझते जाते थे। उसी समय उन्होंने सारस्वत, सिद्धांत-कौमुदी, रघुवंश, कुमारसंभव, कादंबरी आदि ग्रंथ शास्त्रीय रीति से पढ़े थे। उनका विचार था कि लेखक को अवश्य ही चतुर्दिक् पंडित होना चाहिए; क्योंकि पल्लवग्राही लेखक कभी प्रौढ़ साहित्य नहीं उत्पन्न कर सकते। इस संबंध में मराठी भाषा में तीन शब्दों का प्रयोग होता है—'वाङ्मय', 'सारस्वत' और 'साहित्य'। भाषा में जो कुछ कहा-सुना जाय वह जब लिपिबद्ध होकर शब्दों में प्रकाशित हो तब उसकी गणना वाङ्मय में करनी चाहिए। वाङ्मय में भी उदार, ललित, अभिजात तथा रसयुक्त जो गद्य अथवा पद्य हो उसे 'सारस्वत' कहते हैं। सारस्वत में भी जो प्रबंध विचार-सौंदर्य से पूर्ण हो, जिसकी भाषा असाधारण सौंदर्यमयी हो, जिसके पढ़ते ही एक बार हृत्तंत्री झनझना उठे उस पवित्र प्रबंध की गणना 'साहित्य' में करनी चाहिए। इसी लिये सुकवि नर्मदाशंकर का विचार था कि लेखक

की सर्वतोमुखी प्रतिभा होनी चाहिए, जब तक गंभीर अध्ययन और विस्तृत ज्ञान न हो तब तक लेखक को लेखनी उठाना न चाहिए, अपरिपक ज्ञान और अपरिष्कृत बुद्धि का लेखक यदि साहित्य-संसार में प्रवेश करने का दुस्साहस करे तो यह उसकी अनधिकार चेष्टा है। वास्तव में यदि नर्मदाशंकर जी का अध्ययन अधूरा होता तो वे गुजराती साहित्य की धारा न पलट सकते। किंतु जिस प्रकार भारतेंदु जी ने हिंदी-कविता-जगत् में एक नवीन प्रगति, एक विशेष राष्ट्रीय भावना, उत्पन्न कर दी, ठीक उसी प्रकार सुकवि नर्मद ने (नर्मदाशंकर को 'नर्मद' भी कहते हैं) गुजराती काव्य-साहित्य को दूसरी ओर मोड़कर हमारे जीवन के साथ मिला दिया। ज्ञान, नीति और भक्ति के प्रवाह में बहते हुए गुजराती काव्य-साहित्य को उन्होंने जातीय भावनाओं की विशेष धारा में मोड़ दिया। उनके काव्य में एक ओर स्वतंत्रता, स्वदेशाभिमान और देशभक्ति की लहर उठती दिखाई देती है; दूसरी ओर वे पुरानी दकियानूसी रूढ़ियों, सामाजिक बंधनों और व्यसनों के विरुद्ध प्रचंड शंखनाद करते दृष्टिगोचर होते हैं। एक जगह हम उन्हें 'विधवाओं के दुःख' पर विलाप करते देखते हैं; दूसरी जगह 'शूरवीर के लक्षण' नामक काव्य में वे दासता का विरोध करते हुए, लोक-समुदाय को साहसी एवं निर्भीक तथा स्वतंत्रता के उपासक बनाने का उद्योग करते, दिखाई देते हैं। एक ओर वे अपने पद्य में 'राम-जानकी-दर्शन' कराते हैं; दूसरी ओर 'हिंदुओंनी पड़ती', 'प्रेम-शौर्य,' 'ऐतिहासिक स्थलोंनी महत्ता' आदि दरसाते हुए हमारे हृदय में देशभक्ति का सागर लहराने का आयोजन करते हैं। प्राचीन और नवीन का यही सुंदर सामंजस्य कवि नर्मद का विशेष माधुर्य है, जैसा भारतेंदु हरिश्चंद्र में भी था। जिस प्रकार भारतेंदु और राजा शिवप्रसाद में गुरु-शिष्य का नाता होने पर भी दोनों में साहित्यिक मतभेद था, उसी प्रकार सुकवि नर्मदाशंकर और दलपतराम डाह्या भाई की दृष्टि में भी साम्य न था। दोनों गुजराती साहित्य के आधुनिक युग के दीपक थे। दोनों देशभक्त, समाज-सुधारक, स्वतंत्रता-प्रेमी तथा पुरानी रूढ़ियों के विरोधी थे। परंतु दोनों की कार्य-प्रणाली में भेद था। दलपतराम को तेज दौड़ना पसंद न था और नर्मदाशंकर को समाज-सुधार के रणक्षेत्र में धीरे चलना नापसंद था। दलपतराम जी का भाव यह था कि "लाखों चींटियों के समूह में यदि हम पूरा लड्डू फेंकें तो चींटियाँ मरेंगी, पर जो हम उसे चूर-चूरकर धीरे-धीरे बिखेर दें तो वे प्रेम से खाती रहेंगी[१]।" अर्थात् सदियों की बुराई एक दिन में नहीं सुधर सकती। लेकिन नर्मदाशंकर जी का सिद्धांत था कि "कार्यं वा साधयामि शरीरं वा पातयामि[२]।" भारतेंदु और राजा शिवप्रसाद की चोटें इनके जीवन में भी देख पड़ती हैं। गुजरात-वर्नाक्युलर-सोसाइटी की वर्त्तमान अवैतनिक मंत्री लेडी विद्यागौरी महोदया के श्वसुर—गुजराती भाषा के हास्यरस के सर्वश्रेष्ठ लेखक सर रमणभाई नाइट के पिता—पंडित महीपतराम, लोगों के हजार मना करने पर भी, सन् १८६० में इँगलैंड पधारे। कवि दलपतराम ने उनके विदेश-यात्रा के विचार

---

[१] "लाखो कीड़ी पर लाड़वो, आखो मेलीए तो मरी जाय।
भूको करी भभरावीए, तो ते खासी रीते खाय॥"

[२] "सहू चलो जीतवा जंग ब्युगलो वागे; या होम करीने पड़ो, फतेह छे आगे।"

को पहले प्रोत्साहन दिया था, अब शाबासी देते हुए यह पद्य लिखा—"नागर नर हारे नहीं, हारे होय हजाम; कहेवत तें साची करी, राखी महीपतराम।" परंतु जब उक्त पंडित जी इँगलैंड से भारत लौटे तब एक विचित्र घटना घटी। दलपतराम ने कहा, पंडित महीपतराम बिरादराना प्रायश्चित्त नहीं करेंगे। लेकिन पंडित जी ने प्रायश्चित्त कर डाला। इस पर सुकवि नर्मद ने आवाज कसी; दलपतराम के शब्दों से ही उन्होंने चोट मारी—"नागर नर हारे नहीं, हारे होय हजाम; इत्यादिक फेरव हवे, डाह्या दलपतराम।" इस पद्य में 'डाह्या दलपतराम' में श्लेष और व्यंग दोनों हैं। 'डाह्या' शब्द 'दोढ़ डाह्या' मुहावरे का द्योतक है जिसका अर्थ 'मूर्ख' होता है। दूसरे, 'डाह्या' शब्द से दलपतराम के पिता डाह्याभाई का संकेत है। गुजराती प्रथा के अनुसार 'दलपतराम डाह्याभाई' लिखना चाहिए था; परंतु नर्मद जी ने पहले पिता का नाम लिखकर, पुत्र को पिता का जनक संबोधित कर, उनकी हँसी उड़ाई! वास्तव में नर्मद जी बड़े सहृदय और प्रतिभाशाली कवि थे। उन्होंने पद्य-रचना बहुत बड़ी संख्या में की है। गुजराती साहित्य में रीति-ग्रंथों का अभाव उन्हें सदा खटकता रहा। अतएव उन्होंने सन् १८५७ ई० में 'पिंगल-प्रवेश', १८५८ में 'अलंकार-प्रवेश' और 'रस-प्रवेश' तथा सन् १८५९ में 'नायिका-विषय-प्रवेश' प्रकाशित किए। वे कवि तो थे ही, परंतु उससे कहीं विख्यात गद्य-लेखक थे। हिंदी के भारतेंदु के समान ही वे गुजराती गद्य के प्रमुख उन्नायक, पोषक अथवा पिता कहे जा सकते हैं।

जो लोग प्रमुख भारतीय भाषाओं के विकास का इतिहास जानते हैं उनसे यह बात छिपी नहीं है कि बंगाल के संस्कृत-प्रेमी ब्राह्मण लोग वहाँ की भाषा पर तेरहवीं शताब्दी से ही संस्कृत की छाया डाल रहे थे और यह काम लगातार अठारहवीं शताब्दी तक बराबर जारी रहा। उसके पश्चात् दो महान् साहित्यसेवियों का जन्म हुआ—सन् १८२० ई० में ईश्वरचंद्र (विद्यासागर) तथा सन् १८३७ में (वंग-साहित्य-सम्राट्) बंकिमचंद्र अवतीर्ण हुए—जिन्होंने गद्य को स्थायी रूप दिया और साहित्य-सरिता को निर्मल बनाया। इसी प्रकार मराठी गद्य का आरंभ भी बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी से ही हुआ। मुकुंदराज, ज्ञानदेव और नामदेव इसके आदिलेखक थे; फिर भी गद्य के प्रवर्त्तक कहलाए श्रीविष्णु-कृष्ण शास्त्री चिपलूणकर, जो लोकमान्य तिलक के खास सलाहकार थे। ठीक इसी प्रकार गुजराती गद्य के भी दर्शन हमें तेरहवीं-चौदहवीं सदी से होते रहे हैं। परंतु उसे स्थायी रूप देने का श्रेय नर्मदाशंकर ही को प्राप्त हुआ। उन्होंने तेरह ऐतिहासिक पुस्तकों की रचना की है जिनके अवलोकन मात्र से ज्ञात होता है कि वे पुरावृत्तानुसंधान पर विशेष लक्ष्य रखते थे। रामायणने महाभारतनो सार, प्रेमानंद आदि कवियोंनां जीवनचरित्र, महापुरुषो तत्ववेत्ताने संशोधकोंनां जीवनचरित्रो, गुजरातनीने मेवाड़नी हकीकत, प्राचीनने अर्वाचीन जगतनो इतिहास, राज्यरंग आदि ग्रंथ इसके प्रमाण हैं। यह बात आज भी अभिमान के साथ ही कही जाती है कि उपर्युक्त 'प्राचीनने अर्वाचीन जगतनो इतिहास' नामक ग्रंथ लिखने के लिये उन्हें दो सौ से भी अधिक इतिहासों की छानबीन करनी पड़ी थी। 'राज्यरंग' वह बृहत् इतिहास है जिसमें मिस्र, बॉबीज़ोनिया, ईरान, यूनान, रोम, इँगलैंड आदि अनेक देशों के इतिहासों का मंथन कर उनका सार खींचा गया है। नीति, समाज, धर्म और तत्त्वग्रंथों की भी उन्होंने रचना की है। उनके निबंधों की भाषा सजीव एवं टकसाली है। इस दुष्ट पेट की अग्नि

शांत करने के प्रयास में उन्हें नाटक भी लिखने पड़े थे! कृष्णाकुमारी, द्रौपदी-दर्शन, राम-जानकी-दर्शन, बालकृष्ण-विजय आदि नाटक उन्हीं के लिखे हुए हैं। यद्यपि गुजराती-साहित्य में नाटक-विभाग के प्रधान उत्पादक और उन्नायक श्रीरणछोड़भाई उदयराम हुए हैं, तथापि यह कम गौरव की बात नहीं कि नर्मदाशंकर जी के नाटक गुजराती रंगमंच की संपत्ति रहे हैं। उनके 'धर्मविचार' नामक अपूर्व धार्मिक ग्रंथ की शैली बड़ी ओजस्विनी, मितगंभीर और प्रखर है। विवाद-ग्रस्त विषयों को भी स्वाभाविक सरल भाषा में ऐसी स्पष्टता से लिखा है कि पढ़ते ही हृदय प्रभावित हो जाता है। परंतु वे अमर गद्य-ग्रंथ, जिन्होंने गुजराती-साहित्य-सेवियों को भ्रमर बना रक्खा है, नर्मदाशंकर-कृत 'नर्म-कोश' और 'नर्म-कथा-कोश' हैं। आकाशवृत्ति पर निर्वाह करनेवाले नर्मदाशंकर ने अद्भुत परिश्रम एवं धैर्य तथा धन व्यय कर, आठ वर्ष के सतत प्रयत्न के बाद, गुजराती भाषा में एक शब्दार्थ-कोष प्रकाशित किया। यही सर्वप्रथम कोष था, अतएव उनके परिश्रम का अनुमान केवल वे ही कर सकते हैं जिन्होंने काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के कोष-विभाग का अद्भुत संगठन और परिश्रम देखा है। 'नर्म-कथा-कोष' देशी भाषाओं में पहला गद्य-ग्रंथ है जिसमें इतिहास और पुराणों का तत्त्व इस प्रकार प्रचलित गद्य में वर्णित हो। कवि नर्मद के अट्ठावन ग्रंथ कई भागों में प्रकाशित हो चुके हैं। यह विलक्षण संयोग ही है कि भारतेंदु जो यदि गुजराती में कविता लिखते थे, तो नर्मद जी भी हिंदी में पद्य-रचना करते थे।

(२) नवलराम लक्ष्मीराम पंड्या

गुजराती-साहित्य में 'तीन नन्ना' के नाम से जिन्होंने सुख्याति पाई है उनमें दूसरा स्थान नर्मदाशंकर जी के मित्र, सुप्रसिद्ध साहित्य-महारथी, सूरत-निवासी, गुजराती समालोचकों के आचार्य, **नवलराम लक्ष्मीराम पंड्या** को प्राप्त है। नर्मदाशंकर के जन्म के तीन वर्ष पश्चात्, सन् १८३६ ईसवी की नवीं मार्च को, इनका जन्म हुआ था। पंडित रामचंद्र शुक्ल के मतानुसार हिंदी में "उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी गद्य-रचना को एक कला का रूप देना चाहते थे। किसी बात को साधारण ढंग से कह जाने को ही वे लिखना नहीं कहते थे। भारतेंदु के वे घनिष्ठ मित्र थे; पर लिखने में उनके 'उतावलेपन' की शिकायत अक्सर किया करते थे। वे कहते थे कि बाबू हरिश्चंद्र अपनी उमंग में जो कुछ लिख जाते थे उसे यदि एक बार और देखकर परिमार्जित कर लिया करते तो वह और भी सुडौल और सुंदर हो जाता।" इस तरह नवलराम सुकवि नर्मद की शिकायत तो नहीं करते, परंतु यह कहा जा सकता है कि नर्मद जी ने यदि गद्य-साहित्य का एक बाग लगाया था तो नवलराम की विचारशील लेखनी ने उसको सुंदर फूल-फलों की रमणीय क्यारियों और दर्शनीय पंक्तियों से सजा दिया। नर्मद ने गद्य-साहित्य को स्थिर रूप देकर यदि उसका कलेवर बदल दिया, तो नवल ने उसे वस्त्राभूषण से सुसज्जित कर डाला। नवलराम जी एक निराले पुरुष थे। उनके अंतःकरण में तरल तरंगें लहरा रही थीं। उनकी निरीक्षण-शक्ति बड़ी पैनी थी। मधुप के समान वे रसीले साहित्य-सुमनों से रस चूस लिया करते शे। आत्म-निरीक्षण और आत्म-परीक्षण—इन दो विशेष गुणों ने ही प्रातस्स्मरणीय गांधी जी को 'महात्मा' बनाया है। ये गुण नवलराम में भी वर्त्तमान थे। एक बार उनके एक मित्र को कहीं आश्रय मिलनेवाला था, यह देख उनका मन ईर्ष्या से कलुषित हो गया। वे स्वयं लिखते हैं—'मने लाग्युं के तेने आश्रय न मले तो आ

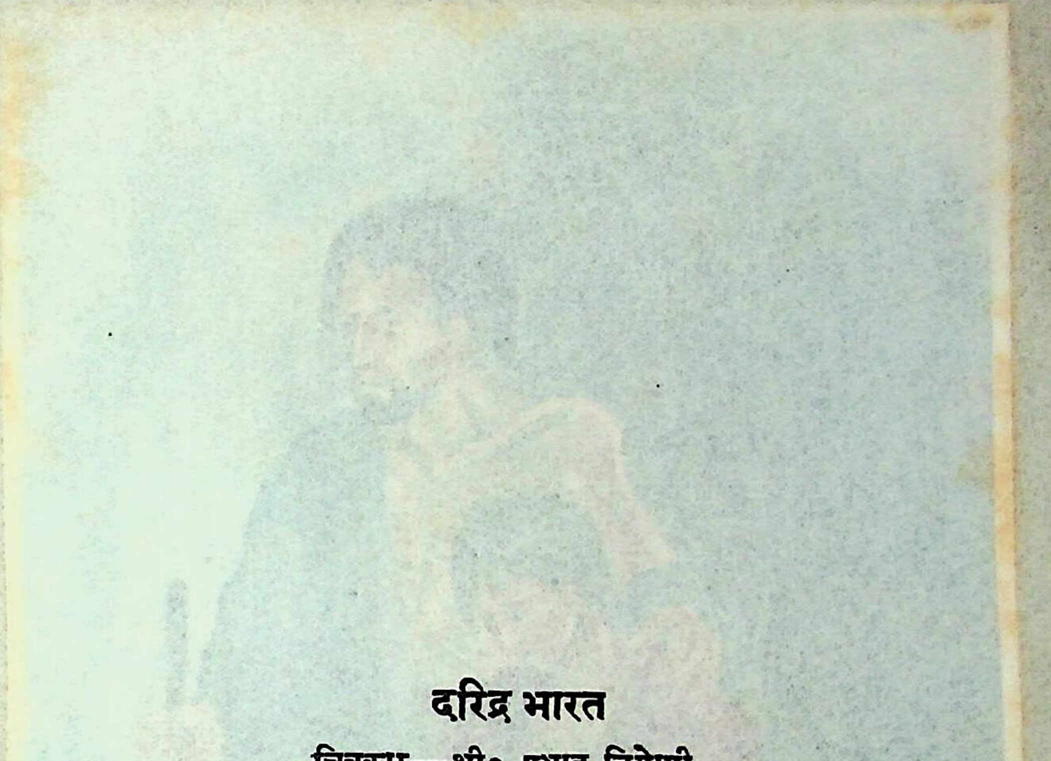

दरिद्र भारत

चित्रकार—श्री० प्रभात नियोगी

(राय कृष्णदास के सौजन्य से)

[illegible] करने के प्रयास में उन्हें नाटक भी लिखने पड़े थे। कृष्णाकुमारी, द्रौपदी-दर्शन, रामजानकी-दर्शन, बालकृष्ण-विजय आदि नाटक उन्हीं के लिखे हुए हैं। यद्यपि गुजराती-साहित्य के नाटक-विभाग के प्रधान सम्पादक और प्रकाशक श्री रणछोड़भाई उदयराम हुए हैं, तथापि यह कम गौरव की बात नहीं कि नर्मदाशंकर जी के नाटक गुजराती रंगमंच की संपत्ति रहे हैं। उनके 'धर्मविचार' नामक अपूर्व धार्मिक ग्रंथ की शैली बड़ी ओजस्विनी, [illegible] और प्रखर है। विचार-[illegible] विषयों को भी स्वाभाविक सरल भाषा में ऐसी स्पष्टता से लिखा है कि पढ़ते ही हृदय प्रभावित हो जाता है। परन्तु वे [illegible] गद्य-ग्रंथ, जिन्होंने गुजराती-साहित्य-सेवियों को अमर बना रक्खा है, नर्मदाशंकर-कृत 'नर्म-कोश' और 'नर्म-कथा-कोश' हैं। आकाशवृत्ति पर निर्वाह करनेवाले नर्मदाशंकर ने अद्भुत परिश्रम एवं धैर्य तथा मन लगा कर, आठ वर्ष के सतत प्रयत्न के बाद, गुजराती भाषा में एक शब्दार्थ-कोष प्रकाशित किया। यही सर्वप्रथम कोष था, अतएव उनके परिश्रम का अनुमान केवल वे ही कर सकते हैं जिन्होंने काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के कोष-विभाग का अद्भुत संगठन और परिश्रम देखा है। 'नर्म-कथा-कोष' देशी भाषाओं में पहला गद्य-ग्रंथ है जिसमें इतिहास और पुराणों का तत्त्व इस प्रकार प्रचलित गद्य में वर्णित हो। कवि नर्मद के अद्भुत ग्रंथ कई भागों में प्रकाशित हो चुके हैं। यह विलक्षण संयोग ही है कि भारतेंदु जी यदि गुजराती में कविता लिखते थे, तो नर्मद जी भी हिंदी में पद्य-रचना करते थे।

गुजराती-साहित्य में 'तीन नवा' के नाम से जिन्होंने सुख्याति पाई है उनमें दूसरा स्थान [illegible] जी के मित्र, सुप्रसिद्ध साहित्य-महारथी, सुरत-निवासी, गुजराती समालोचकों के आचार्य, [illegible] नवलराम लक्ष्मीराम पंड्या को प्राप्त है। नर्मदाशंकर के जन्म के तीन वर्ष पश्चात्, सन् १८३६ [illegible] मतानुसार हिंदी में "उपाध्याय [illegible] का रूप देना चाहते थे। किसी [illegible]

(२) [illegible] बार पाने को ही वे लिखना नहीं चाहते थे। भारतेंदु से वे लक्ष्मीराम [illegible] प्रसिद्ध मित्र थे [illegible] उनके 'आलसीपन' की शिकायत अक्सर किया करते थे। वे कहते थे कि [illegible] जो कुछ लिख जाते थे उसे यदि एक बार और देखकर परिमार्जित कर दिया करते [illegible] और सुंदर हो जाता।" इस तरह नवलराम [illegible] शिकायत [illegible] यह कहा जा सकता है कि नर्मद जी ने यदि गद्य-साहित्य का [illegible] नवलराम की [illegible] लेखनी ने उसको सुंदर फूल-पत्तों की रमणीय क्यारियों और दर्शनीय [illegible]। नर्मद ने गद्य-साहित्य को स्थिर रूप देकर यदि उसका कलेवर बदल दिया, [illegible] से सुसज्जित कर डाला। नवलराम जी एक निराले पुरुष थे। उनके अंतःकरण में [illegible]। उनकी निरीक्षण-शक्ति बड़ी पैनी थी। [illegible] रसीले साहित्य-सुमनों से रस चूस लिया करते थे। आत्म-निरीक्षण और आत्म-[illegible]—इन्हीं दो विशेष गुणों ने ही प्रातःस्मरणीय गांधी जी को 'महात्मा' बनाया है। ये गुण [illegible] में भी वर्तमान थे। एक बार उनके एक मित्र को कहीं आश्रय मिलनेवाला था, यह देख [illegible] से प्रमुदित हो गया। वे स्वयं लिखते हैं—'मने साम्यु' के [illegible] आश्रय न मले तो [illegible]

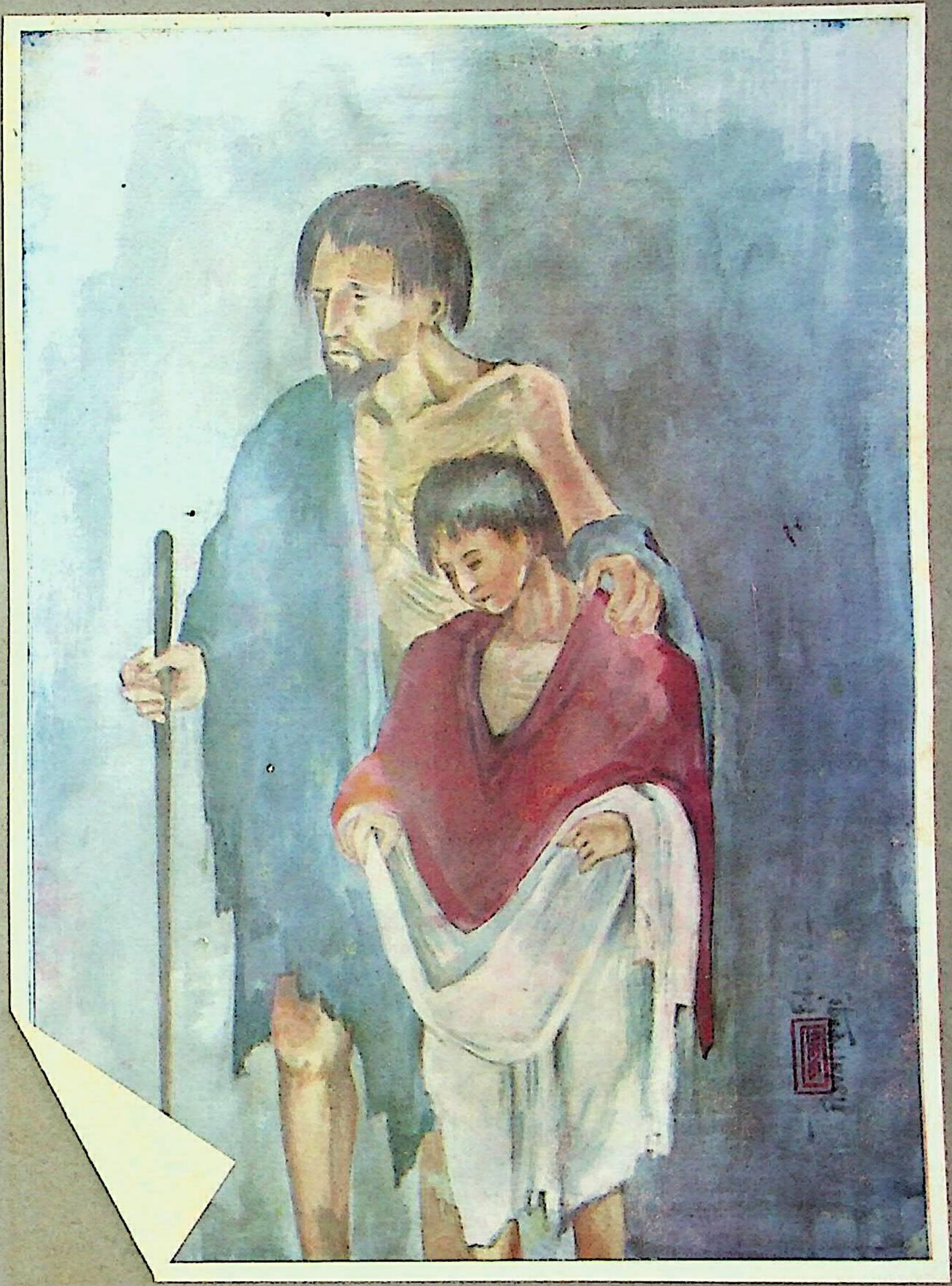

पापी मन खुश थाय खरूं'। यद्यपि उन्होंने उस मित्र के कार्य में कोई बाधा न पहुँचाई थी, तथापि अपने मन को दुर्बलता परख सके थे। यही उनको महत्ता का प्रमाण है। गुजराती साहित्य में उन्हें वही उच्च सिंहासन प्राप्त है जिस पर हम हिंदी-साहित्य-मंदिर में पूज्यपाद **आचार्य पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी** को बैठा देखते हैं। जैसे आचार्य द्विवेदीजी की भाषा शुद्ध, आदर्श और प्रामाणिक मानी जाती है, वैसे ही श्रीनवलरामभाई की भी। उनकी भाषा बड़ी परिमार्जित और मार्मिक है। गुजराती-साहित्य में वे सर्वोत्तम समालोचकों के आचार्य हैं। उनकी आलोचना बाह्य विश्लेषण के रूप में ही न रही, वे कवि की आंतरिक वृत्ति का भी सूक्ष्म विश्लेषण करते थे। वे लेखक की मानसिक प्रवृत्ति की विशेषताएँ दिखाने में बड़े सिद्धहस्त थे। अपने जीवन के अंत तक वे एक उग्र समालोचक बने रहे; फिर भी मजा यह कि उनकी भाषा और उनकी शब्दावली कोमल एवं मंजु ही रहती थी। उनका 'विवेचन-साहित्य' ही उनकी विमल कीर्त्ति का अक्षय्य स्तंभ है। गुजराती साहित्य को भारतीय भाषाओं में सबसे अधिक विद्वान् समालोचकों के उत्पन्न करने का गौरव प्राप्त है। पूज्य नर्मदाशंकर जी, स्वर्गीय मणिलाल द्विवेदो, मनःसुखराम त्रिपाठी, सर रमणभाई नीलकंठ, श्रीनरसिंहराव दीवेटिआ, दीवान-बहादुर केशवलाल ध्रुव, श्रीबलवंतराय ठाकोर, दीवान-बहादुर कृष्णलाल जव्हेरी, तथा हिंदू-विश्वविद्यालय के प्रिंसिपल आचार्यवर श्रीआनंदशंकर जी ध्रुव ने इस कार्य में बड़ी ही ख्याति संपादित की है। आचार्य आनंदशंकर जी की सर्वतोमुखी प्रतिभा देखकर यही कहना अलम् होगा कि विवेचन-कला ने मानों आपको वरण किया है। फिर भी नवलराम का मार्ग नवल था—नया था, अपूर्व और अद्भुत था। गुजराती भाषा में वे एक विद्युत्-स्तंभ के समान हैं जिससे सब साहित्य-सेवियों को प्रकाश प्राप्त होता है। वे सबके वंदनीय और पूजनीय हैं। उन्होंने सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'करणघेलो' और 'कांता' की विस्तृत एवं उत्तम आलोचना लिखी है। 'करसनदास मूल जी' तथा 'दुर्गाराम मेहता जी' के चरित्र में यह विषय बड़ी खूबी के साथ दरसाया है कि मनुष्य के जीवन में कौन-कौन-से गुण अत्यावश्यक हैं। 'अकबरने बीरबलना हिंदीकाव्यो' और 'नर्मदाशंकरनु चरित्र' उनकी स्वतंत्र एवं निराली रचनाएँ हैं, जिनमें स्थान-स्थान पर उन्होंने अपनी विशिष्ट परिष्कृत शैली का दिग्दर्शन कराया है। 'वीरमती' और 'भट्टनुं भोपाडुं' नामक दो नाटक उनके प्रवीण नाटककार होने के पर्याप्त प्रमाण हैं। आचार्य महावीरप्रसाद जी द्विवेदी के समान ही उन्होंने सरस सुबोध गद्य में जनता को संस्कृत-ग्रंथों का परिचय दिया है। मालतीमाधव, मृच्छकटिक, रत्नावली, आदि संस्कृत-नाटकों के अनुवाद के अतिरिक्त उन्होंने पौराणिक ग्रंथों को भी अपने ललित गद्य द्वारा नए रूप में जनता के संमुख उपस्थित किया है। अपने गढ़े हुए नए 'मेघ छंद' में उन्होंने 'मेघदूत' का बड़ा सुंदर अनुवाद किया है। उन्होंने अपने विशाल मस्तिष्क का प्रयोग शिक्षण-शास्त्र के अनेक महत्त्वशाली सिद्धांतों के स्थिर करने में भी किया है। उनके निबंध अनूठे हैं। वे आजन्म विद्यार्थी, अभ्यासी अथवा पाठक बने रहे। अंत तक उनकी ज्ञान-पिपासा अतृप्त रही। उनके युग के 'पत्र' उनके लेखों के लिये चातक बने रहते थे। शोध, सत्यता, विवेक और वर्णन-शक्ति—इन चारों ही गुणों ने उनको अजर-अमर बना दिया है।

(३) नंदशंकर तुलजाशंकर (रावबहादुर)

गुजराती-साहित्य के तीसरे सुप्रसिद्ध 'न' हैं **नंदशंकर तुलजाशंकर (रावबहादुर)** जिन पर केवल सूरत को ही नहीं, गुजरात को ही नहीं, हमारे सारे देश को गर्व है। पहले बड़ौदा-राज्य के और आज-कल बीकानेर स्टेट के दीवान 'सर मन्नूभाई मेहता' आप ही के सुपुत्र हैं। काशी के भूतपूर्व कलक्टर, प्रयाग के कमिश्नर और युक्तप्रांत के वर्त्तमान शिक्षा-मंत्री 'श्रीविनायकराव मेहता आइ० सी० एस्०' भी आप ही के सुयोग्य पुत्र हैं। आपका शुभ जन्म सन् १८३५ ई० में सूरत में हुआ था। इस प्रकार आप कवि नर्मद जी से दो वर्ष छोटे तथा श्रीनवलराम जी से एक वर्ष बड़े थे। सन् १८५२ में आप गुजरात के उत्तर-विभाग के स्कूलों के सुपरिंटेंडेंट के आफिस में क्लर्क नियुक्त हुए। धीरे-धीरे आप अँगरेजी स्कूल के मास्टर, हेडमास्टर, यहाँ तक कि ट्रेनिंग कालेज के प्रिंसिपल हो गए। सन् १८६७ में 'मुल्किखाता' में आपकी बदली हो गई। फिर आप असिस्टंट पोलिटिकल एजेंट होकर 'देवगढ़ बारिया' गए। सन् १८७५ में आप 'लुणावाड़ा' और 'सुंथ' के एडमिनिस्ट्रेटर नियुक्त हुए। वहाँ से आप कच्छ के दीवान हुए। आप 'नांदोद' के चीफ रेवेन्यु अफसर तथा असिस्टंट एडमिनिस्ट्रेटर भी रहे। फिर भी पुराने साहित्य-सेवियों में आप 'मास्टर साहब' के नाम से ही प्रसिद्ध हैं। आप गुजराती भाषा के नवल-कथा-साहित्य के पिता माने जाते हैं। अँगरेजी साहित्य में कथानकों के दो प्रसिद्ध भेद हैं—एक 'रोमांस,' दूसरा 'नॉविल्'। 'रोमांस' में पात्र ऐतिहासिक अथवा अमानुषिक होता है और अलौकिक चमत्कारमय अद्भुत वृत्तांत का वर्णन किया जाता है। 'नॉविल्' में वर्त्तमान समय के सांसारिक मनुष्यों की लौकिक जीवन-कथा लिखी जाती है। अँगरेजी साहित्य के संसर्ग से ही यह कला हमारे देश में आई है। इसी से गुजराती भाषा में 'नॉविल्'—अर्थात् नवल-कथा—'उपन्यास' के पर्याय-रूप में प्रचलित है। सन् १८६८ में आपका प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास 'करणघेलो' प्रकाशित हुआ। सर्वसाधारण में इसकी वह धूम हुई जो हिंदी में बाबू देवकीनंदन खत्री के 'चंद्रकांता' की हुई थी। परंतु 'चंद्रकांता' आदि उपन्यास 'साहित्य की कोटि' में नहीं आते; क्योंकि उनमें प्रधान वस्तु नहीं है। हम उनमें घटना-वैचित्र्य देख सकते हैं; परंतु उनमें रससंचार अथवा भाव-विभूति हम नहीं पाते। चरित्र-चित्रण की खूबियाँ भी उनमें नहीं हैं। इस स्थान पर हमें तुलना के लिये ठाकुर गदाधरसिंह, श्रीराधाचरण गोस्वामी तथा लाला श्रीनिवासदास स्मरण आते हैं; क्योंकि हिंदी में उपन्यास-विभाग की नींव देनेवाले यही लोग थे; परंतु खेद है कि इनमें किसी का कोई उपन्यास विद्यार्थियों के योग्य नहीं समझा गया! हिंदी-साहित्य के सर्वप्रथम साहित्यिक उपन्यासकार पंडित किशोरीलाल गोस्वामी के पैंसठ उपन्यासों से भी तुलना नहीं की जा सकती। श्रीमान् बाबू श्यामसुंदरदास जी के शब्दों में "उनके उपन्यास घटना-विशिष्ट हैं, पात्रों के चरित्र-विकास की ओर कम ध्यान दिया गया है, कहीं-कहीं काल-दोष भी खटकता है।" किंतु मास्टर नंदशंकर जी का 'करणघेलो' इन दोषों से रहित है। अतएव, हिंदी के उपन्यास-क्षेत्र में युगांतर उपस्थित करनेवाले श्रीप्रेमचंद जी की सफल लेखनी ही आपकी तुलना के लिये स्मरण हो आती है। 'करणघेलो' प्रकाशित होने के बाद मैट्रिक्युलेशन परीक्षा के लिये पाठ्य गद्य-ग्रंथ निर्धारित हो गया। कोड़ियों वर्ष व्यतीत हो गए, सैकड़ों नए उपन्यास साहित्य-क्षेत्र में अवतीर्ण हुए, गद्य की अनेक पुस्तकें

मैदान मारने का प्रयत्न करतीं नजर आई; मगर 'मास्टर साहब' की 'नवलकथा' आज तक विश्वविद्यालयं में अपने सिंहासन पर विराज रही है।

'न' अक्षर 'नेगेटिव' अर्थात् 'नहीं' अर्थ का द्योतक है; परंतु इन तीन अपूर्व 'न' ने अपनी साहित्य-सेवा से उसको अमर 'अफर्मेटिव' बना दिया। इसलिये ये वंदनीय हैं।

अतिथि

अतिथि, तुझे समझा था मैंने
पल भर का प्यारा मेहमान।
निविड नैश्य के नत होते ही
हो जाएगा अन्तर्धान॥
विरह-व्यथा को भूल इसी से
मैंने किए विविध उपचार।
जो कुछ था मेरी कुटिया में
दे डाला तुझको उपहार॥

तरल तरंगिनि-तट के तरु जब
विहगावली जगाती थी।
आशा की कलिका को लेकर
नभ को उषा सजाती थी॥
तब चिंता-उद्भ्रांत क्लांत तू
निकला मुझसे ले आदेश।
नाच रहे थे तरु-पत्रों पर
मीलित नयनों के संदेश॥

पल-पल करके घड़ियाँ बीतीं, युग-युग करके बीती रात।
पर मेरी इस विरह-व्यथा का हो न सका जीवन-प्रभात॥

सुशीला देवी सामंत 'विदुषी'

प्रतिमानूं लुप्त अंग

श्री दीवानबहादुर केशवलाल हर्षदराय ध्रुव, बी० ए०

जागृति-खंड

मद्रासनी प्रेसिडेंसी कोलेजना प्रोफेसर कुप्पुस्वामी शास्त्री एम० ए०–एओए छपावेला **आश्चर्यचूडामणि** नाटिकाना इंग्रेजी उपोद्घातमां **भरतनाट्यशास्त्र** उपरनी अभिनवगुप्ताचार्यनी टीकामांथी नीचे मुजब उत्थानिका साथे महाकवि भासनो एक श्लोक नोंधेल छे. "अधुना रौद्रं लक्षयति। अथ रौद्रो नामेति। नामग्रहणस्यायमाशयः। अन्यायकारिता प्राधान्येन क्रोधस्य विषयः। तादृशि ज जने सर्वोऽपि मनोरथै[1] रुधिरपानमपि कुर्यात्। तथा चाह लोकः। यदि लभ्येत तर्हि[2] तदीयं रुधिरमपि पीत्वा न तृप्येतेति[3]। महाकविना भासेनापि स्वप्नबन्ध उक्तम्।"

"भ्राता कथं शुचि पतेद्धि न[4] (?) मैथिली सा रामस्य रागपदवी मृदु चास्य चेतः।
लब्धानुजस्तु[5] यदि रावणमस्य कायं प्रोत्कृत्य[6] तर्हि तिलशो न स तृप्तिगामी[7]॥"

उद्धृत श्लोक रावणकृत सीताहरणने लगतो छे; एटले ते **प्रतिमादशरथ** किंवा **प्रतिमा** नाटकमांथी लीधेलो होवानो संभव छे. रामकथाने अवलंबीने एकलूं ए ज नाटक भास कविए रचेलूं छे.[8] ते कारणथी में एना ५ ने ६ ए बे अंक अंतर्गत विष्कंभक-सहित बारीकीथी तपास्या अने तेनूं असल स्थान खोळी काढ्यूं[9]. आ पांच वरस उपरनी बात छे. ते दिवसथी मारा मनमां शंका पेठी, के रखेने **प्रतिमानो** कोई

---

[1] अहीं अपि वधारे छे; ते में तजी दीधेल छे.

[2] लेखमां तत् छे; ते बदल में तर्हि मूकेल छे.

[3] इति बोल में उमेर्यो छे.

[4] लेखमां 'त्रेतायुगं......तद्धि न' एवा अक्षरो छे. जेमांथी आ ऊतारो कर्यो हशे, तेमां तो त्रण करतां पण वधारे अक्षर खूटता हशे. मारा मानवा प्रमाणे पहेलो तथा त्रीजो पण खवाई गयो हशे अने बीजो चोथो तथा आठमो ए पण खंडित थया हशे. अर्थात् असल ता......तद्धि न एवा छिन्नभिन्न स्वरूपमां हशे. ए मंतव्यने आधारे खंडित अने अर्धखंडित जगा में कल्पनाथी पूरी छे.

[5] लेखमां लब्धा जनस्तु पाठ छे. ते बदल में आपेलो पाठ कल्पित छे.

[6] लेखमां तत्र छे. नवो पाठ कल्पित छे.

[7] प्रो० कुप्पुस्वामी शास्त्रीना लेखमां 'न वितृप्तिगामी' छे. में आपेलो पाठ कल्पित छे.

[8] जुओ में छपावेला **प्रतिमा** नाटकनो उपोद्घात.

[9] जुओ उपर कहेला उपोद्घातना अनुलेखनी छेवटनो भाग.

अगत्यनो भाग आज रीते लुप्त थयो होय. जोतां जोतां एक स्थल कंइक व्हेम ऊपजावनारूं जड़ी आव्यूं. पांचमा अंकमां रावण सीतानूं हरण करवा आवे छे तेनो प्रवेश-पूर्वे सूचववो घटे; पण ते सूचव्यो नथी. तेनाथी ए मोटी त्रुटि कांचनपार्श्व मृगना संबंधमां छे. ए मायावी रूपमां आवनार रावणनो मामो मारीच छे; ते बाबतनूं पण सूचन कोइ ठेकाणे छे नहि. फरी फरी ने अंक ५ हूं कालजीथी तपासी गयो; पण आ बे त्रुटिओ दूर करवानूं द्वार मने लाध्यूं नहि. थाकीने हूं भोजन करवा उठ्यो. जमतां जमतां पण त्रुटिओनो प्रश्न मनमां घोळाया करतो हतो.

व्हेलो व्हेलो भोजनथी परवारी में मारा अभ्यास :स्थानके आवी स्वस्थ चित्ते पेलो मूझवनारो सवाल हाथ धर्यो. अनेक तर्कवितर्क करतां उत्तेजित मगजमां ऐवो बुट्टो ऊठ्यो, के आ देखीती त्रुटिओनो खुलासो कुशल नाटककारे अंकनी पूर्वे विष्कंभक के प्रवेशक द्वारा अवश्य कर्यो होवो संभवे छे. कोई वखते एम कहे के उश्केरायली कल्पनाए जोनारनी आ भ्रमणा छे. आवी असंभावनानो अवकाश न रहेवा अने मारी पोतानी प्रतीति थवा सूच्य अने प्रयोज्य वस्तुनो संबंध केवा प्रकारे नाटकमां जोड्यो छे ते समजवा तरफ में मारा विचार वाळ्या. प्रतिमानो एकेएक विष्कंभक अने एकेएक प्रवेशक तेना पूर्वना अने पछीना अंक साथे लक्षपूर्वक वांच्यो. अने में जोयूं, के पहेला अंकमां रामना अभिषेकनो प्रस्ताव आवे छे तेनी तैयारी ए अंक पूर्वेना विष्कंभक थी कविए निर्देशेली छे. बीजा अंकमां रामना असह्य वियोगदु:खे दशरथ राजानूं मरण नीपजे छे, तेनी चेतवणी पण पूर्वगामी विष्कंभकथी आपी छे. त्रीजा अंकनो प्रतिमागृहनो प्रस्ताव छेक ज नवो होवाथी तेनूं पूर्वसूचन अत्यंत आवश्यक हतूं. ते कर्ताए प्रस्तुत अंक पहेलां प्रवेशकना योजना द्वारा पूरूं पाड़्यूं छे. चोथा अंकमां राजकुमार भरत अयोध्यामां पगे न मूकी ज्येष्ठ बंधुनी पाछल वनमां चाल्यो जाय छे. ए घटना पण नवीज होवाथी तेने अंगे ए अंक पूर्वे नाटककारे प्रवेशक गोठवी संविधाननो ऊकेल पाड्यो छे. पांचमा अंकने अंते रावण सीताने हरी जाय छे; दशरथनो मित्र जटायु सीतानी व्हारे चडे छे. रावण तेनी पांख कापी नाखे छे. घवायलो गृध्रराज पृथ्वी पर पछडाई मरण पामे छे. बे वृद्ध तापसो श्वासभर्या जई रामने खबर करे छे के रावण सीता ने हरी गयो. अहीं पण भासे हकीकत जरा बदली छे.[1] आवृत्तांत सूच्य होई तेनो निर्देश कविए पांचमा अने छट्ठा अंकना गाळामां विष्कंभक योजीने कर्यो छे. सातमा अंक पूर्वे रावणने रोळी सीताने लेई राम लंकाथी पाछा फरे छे. तेना समाचारथी प्रेक्षकने वाकेफ करवा कर्ताए युक्तिपुर:सर अहीं पण विष्कंभक मूक्यो छे. नाटकना अंगोनी आप्रमाणे समीक्षा कर्याथी स्पष्ट थयूं के में त्रुटि तरीके ओळखावेलासूच्य भागना निदर्शन सारूं भास कविए एनी रीत मुजब पांचमा अंक पूर्वे विष्कंभक के प्रवेशक सो वसा मूक्यो होवो जोईए. खरूं छे के सद्गत महामहोपाध्याय त. गणपति शास्त्रीने मळेली हाथप्रतमां उक्त स्थले विष्कंभक के प्रवेशक छे नहि. पण तेनी साथे ए पण खरूं छे के भासनी पद्धति ध्यानपूर्वक विचारतां कर्ताए त्यां विष्कंभक के प्रवेशकनी योजना करी राखेली होवी जोईए, ते पण तेटलूं ज खरूं छे. उक्त स्थले ए अर्थोपक्षेपक वगर नभे एवूं

---

[1] रामायणमां घवायला जटायुने रामलक्ष्मण आवी प्होचता सुधी रावणकृत सीताहरणना समाचार तेमने स्वमुखे आपवा प्राण टकावी राखतो वर्णव्यो छे.

छे ज नहि. एना अभावे प्रतिमा खंडित रहे छे. कोइ जूनी प्रत मळी आवे अने तेमां प्रस्तुत लुप्त थएलो भाग जडे, तो नवाइ नहि. हाल तो प्रतिमानूं ए अंग ते नष्ट ज रहे छे.

स्वप्न-खंड

उपर प्रमाणे गूंचनो तात्कालिक ऊकेल काढी गूजरात कोलेजना दैनिक व्याख्याननूं साहित्य तैयार राखी कलाक अर्धो कलाक आराम लेवाना संकल्पथी रोजना दस्तुर सर हूं सूई गयो. अने सूतो तेवो ज ऊंघी गयो. ऊंघमां पण प्रतिमाना भणकारा वागता हता. मन झंख्या करतं हतूं के आ सुंदर नाटकनी कोइ अखंडित पोथी जडे, अरे आखी पोथी ए नहि ने शौरिपुत्रप्रकरण[1]नी पेठे तेनूं मुद्दानूं पानूं ज हाथ लागे, तो केवूं सारूं ? सर्वे संकल्पविकल्प शमी जाय. आवा विचार करतो हतो, तेवामां नीसरणीमां कोइनां पगलां वाग्यां; अने 'छो के ? जागो छो ?' एवा बोल संभळाया. बीजे ज क्षणे मारा बालस्नेहीनूं माथूं दादरमां डोकायूं, अने तेमणे हाथ लंबावीने कह्यूं, 'लो भाइ ! आ पानूं, तमारे कामनूं हशे.[2] मारा पगथियामां ए पड्यूं हतूं'. में कह्यूं 'आवो, आवो. जोइये शूं छे ते.' तेमणे सीडीमांथी उत्तर वाळ्यो, 'मारे ऊतावळनूं काम छे. तमे ते जोजो.' छेल्लो बोल हजु एमनी जीभे हतो ने पानूं मूकी जेवा हूड हूड आव्या हता तेवा ज ए हूड हूड चाल्या गया. पवनमां ऊडी जाय ते पहेलां तरत मारी जगाए थी ऊठीने पानूं में हाथमां लीधूं. एना खूणा घसाईने गोळ थई गया हता. कोइ कोइ ठेकाणे ऊधेइए नवतर अगम्य लिपि लखवानो प्रयत्न कर्यो हतो. आखूं ए पानूं देवनागरी अक्षरे लखेलूं हतूं. तेमां कोइ स्थले मात्रानो अने कोइ स्थले पडिमात्रानो उपयोग कर्यो हतो. कागल झांखो पड्यो छतां चीकणा घूंटेला सफाइदार अमदावादी कागलना पूर्वरूपनो ख्याल आपतो हतो. वर्णना मरोड उपरथी अने पानानी हालत उपरथी इसवी तेरमा सैकामां ते ऊतारायूं हशे एवी अटकल बंधाती हती. बन्ने पृष्ठपर सहेजे नजर फेरवी गयो, तो रामकथानां पात्रोनां नाम साथे संस्कृतमां अने प्राकृतमां उक्तिओ आपेली जोई. ते उपरथी समझायूं के आ कोइ रामकथा ने आधारे लखायला संस्कृत नाटकनूं पानूं छे. ए नाटक कयूं ते जाणवाना कौतुकथी में ए पानूं वांचवानूं शरू कर्यूं. तरतज नीचेना शब्दोए मारूं ध्यान खेंच्यूं. 'भ्रविष्यति भवन्नियमावसानं तावद्भवेयमिह ते नृप पादमूलो.' मने याद आव्यूं के आ तो प्रतिमाना चोथा अंकना यावद्भविष्यति प्रतीकनी भरतनी श्लोकात्मक उक्ति छे. आगल वांचतां "रामः। मैवं नृपः स्वसुकृतैरनुयातु सिद्धिं त्वं शापितोऽसि यदि रक्षसि चेन्न राज्यम्॥" एवूं रामना मुखनूं उत्तरार्ध पण जोयूं. नवाइ जेवूं तो ए हतूं के छेल्ला चरणमां महामहोपाध्याय शास्त्रीजीनी हाथप्रतना नहि., पण में मनथी नवा कल्पेला पाठ आप्या हता. जेम जेम हूं आगल वधतो गयो तेम तेम ग्रह बंधातो गयो, के प्रतिमा नाटकनूं ज आ पानूं छे. निरंक पृष्ठ वांचीने करेली आ कल्पनाने सांक पृष्ठना 'चतुर्थोऽङ्कः' पछीना "वज्रदंष्ट्रः। अवि

---

[1] बौद्ध कवि अश्वघोषना आ नाटक बाबत जुओ में मुंबई युनिवर्सिटीनी "ठक्कर वसन जी माधव जी" व्याख्यानमालाने अंगे पद्यरचनानी ऐतिहासिक आलोचना एवा नाम थी आपेलां व्यख्यानमांनूं छेल्लूं व्याख्यान, प्रस्ताव ५.

[2] मारा आ मित्रे एक वार एमना पाडोशीए फेंकी दीधेलां पानां मने आप्यां हतां; ते मारी पासे छे. एमां हिंदी कविए रचेलूं कोकशास्त्र छे.

णाम कुशलं भादुणो ।" वगेरे बोल वांचतां एकदम आघात पहोच्यो. वज्रदंष्ट्र अने लोहदंष्ट्र एवां नामनां बे पात्रोनूं संभाषण हूं गगडावी गयो. तेने छेडे "निष्क्रान्तौ राक्षसौ ।" एवी सूचि पछी 'प्रवेशकः ।' बोलना उल्लेख हतो. कर्तृत्वनो प्रश्न अद्धर रहेवा देई में आगल वांचवूं जारी राख्यूं. जोऊं छूं तो आरंभे सीताना प्रवेशनी नाट्यसूचि साथे संमज्जिदो पदथी शरू थती सीतानी उक्ति अने ते पछी रामना प्रवेशनी नाट्यसूचि साथे त्यक्त्वा प्रतीकना श्लोकथी शरू थई सीतामुपगच्छति । ए नाट्यसूचि पूर्वे समाप्त थती रामनी उक्ति आपेली दीठी; ते मुद्रित प्रतिमा साथे मळती आवती हती.[1] मनना संतोष सारूं ए पानूं हूं बीजी अने त्रीजी वार वांची गयो, जेथी मारी खात्री थई के चोथा पांचमा अंकवालो भाग महाकवि भासनी ज कृति छे. शंका रही मात्र प्रवेशक विशे. ते बने तो दूर करवाना हेतुथी में वाक्ये वाक्ये अने पदे पदे थंभी प्रवेशक एकलो चोथी वारनो वांच्यो. पात्रो राक्षस होवाने लीधे ते मागध प्राकृतमां रचेलो हतो. सांक कोरा हांसियामां जुदा मरोडमां मागधी बोल पण कोई वाचके लख्यो हतो. नानी मोटी बधी मळी दस मागध उक्तिओ हती. तेमांनी एकमां गाथानो प्रयोग कर्यो हतो. प्रवेशक मजकूरमां रावण अने मारीचना आगमननो निर्देश हतो एटलूं ज नहि, पण ते पूर्वेना अतिमहत्त्व धरावता बनावोनो उल्लेख पण जोवामां आवतो हतो. कर्ताए वज्रदंष्ट्रना मुखमां खर आदि दंडनायको साथे प्रचंड राक्षस-सेनानूं रामे निकंदन वाळ्यानी अने लक्ष्मणे वरवा आवेली शूर्पणखानां नाक कान काप्यानी हकीकत मूकी हती, दंडकारण्यमां रामलक्ष्मणे वर्तावेला केरनूं वैर वाळवा लंकाथी ऊपडेला रावण अने मारीचना समाचार पण एना मुखे कह्या हता. राम तथा सीता आश्रममां होवानी अने लक्ष्मण यात्रा करीने आवेला कुलपतिने लेवा गयानी खबर लोहदंष्ट्र द्वारा पूरी पाडी हती. आ बधी विगत जेमांथी में तारवी हती ते भाग मागधीमां हतो; ते भाषा समजवामां मारी भूल तो नथी थती, एवो विचार क्षणभर मारा मनमां आव्याथी पदे पदनी छाया गोठवी ते पछी निर्णय बांधवानो में संकल्प कर्यो. मारा मित्रे आपेलूं पानूं पांचमी वारनूं हाथमां लीधूं; ते वखते में अचानक प्रवेशकनी जमणी बाजुना हांसियामां घणा बारीक अक्षरे कंइक लखेलूं दीठूं. में धार्यूं के कदाचित् ए संस्कृत छाया हशे. ते ऊकेलवा सूक्ष्मोपबृंहक काच[2] हांसिया उपर धर्यो. ते ज पले नीसरणीमां धबधब पगनो अवाज थयो; अने दादरमांथी 'गाडी आवी छे' एवा शब्द संभळाया. हूं एकाएक जागी गयो. मने जागेलो जोई धीरे सादे गाडी आव्यानी फरी खबर आपी माणस चालतो थयो.

उद्‌बोधन-खंड

गाडी वखतसर हती; पण मारे तो कवखतनी नीवडी. एना सादथी ऊंघ ऊडी जवानी साथे स्वप्ननी प्रतिमानूं पानूं पण ऊडो गयूं. छाया वांचवानो काच क्यां ए रह्यो ने छाया अंतर्धान पामी गई.

---

[1] फेर एटलो ज हतो के शास्त्रीजीनी वाचनामां सीता साथे तापसीना प्रवेशनो पण उल्लेख छे अने सीतानी उक्ति पछी तापसीनी टूंकी उक्ति पण आपी छे. आ भाग में प्रसिद्ध करेली प्रतिमामां तजी दीधो छे.

[2] सूक्ष्मोपबृंहक काच—Magnifying glass.

गाडी पांच मीनीट मोडी आवी होत, तो झीणा अक्षरनूं हांसियामांनूं लखाण वांची लेवात. ए न वंचायूं तेनो शोच तो थयो. पण में मनथी संतोष वाळ्यो के ए कारमा पानामांना प्रवेशकनी दशे उक्ति ओ मारो म्होडे थई छेते हूं टपकावी लेऊं. भूली जईश, तो छाया खोई तेम मूल पण खोईश. ए विचार मनमां आवत ज प्रवेशक आखो ए पेनसिलथी कागलमां सडसडाट लखी लीधो; अने ऊतारो ठेकाणे मूक्यो.

कोलेजमां मारे मात्र पोणा कलाकनूं रोकाण हतूं. शब्दविद्याना संबंधमां व्याख्यान आपवानूं हतूं, ते बोजारूप नहि, पण आनंददायक हतूं. एटले खुल्ली हवामां थई घेर आवी श्रमसह चित्तथी प्रवेशकनो मागध ऊतारो हाथमां लेई तेनी संस्कृत-छाया लखो काढी; अने साथेसाथे तेनो गूजराती अनुवाद पण तैयार कर्यो. ए मूल अने अनुवाद में प्रकाशित करेली प्रतिमामां गोठवी जोयो, तो बरोबर बंध बेस तो आव्यो; अने पूर्वे जे त्रुटिओ नडती हती ते दूर थई. एक वारनी कल्पनाए निर्णयनूं स्वरूप लीधूं; अने चोकस थयूं के महाकवि भासे पांचमा अंक पूर्वे विष्कंभक के प्रवेशक अवश्य मूकेलो, जे ऊडी गयाथी प्रतिमानूं एक उपयोगी अंग लुप्त थयूं छे. अंकनी सरखामणीमां आ अर्थोपक्षेपको गौण छे. अने गौण छे माटे ज ते खोवाय तो लहेवामां आवतूं नथी. रामकथा जेवा जगजाणीता महाख्यानना आधारे रचायला नाटकमां नाटककार पोते ज वस्तुनो समन्वय साचवी उपकथा खुशीथी छोडी दे छे. समस्त प्रयोज्य वस्तु अंकोमां व्हेंची दीधूं होय छे, एटले सूच्य वस्तुना निदर्शननो अर्थोपक्षेपक लहियाए सरतचूकथी तजी दीधो होय, तो अंको उपर लक्ष राखनारना जाणवामां आवतूं नथी. ए तो विवेचनकारनी झीणी नजरे तपासतां कळ्यामां आवे छे. वाचनाविषयक चर्चामां[१] रस लेनारा विवेचकना आ बाबतमां स्वतंत्र निर्णयमाटे हूं अप्रसिद्ध प्रवेशक अने तेनो अनुवाद नीचे रजू करूं छूं.

मागधी मूल अने संस्कृत छाया

तत: प्रविशतो राक्षसौ

वज्रदंष्ट्र:—अवि णाम कुशलं भादुणो ?। कथं भो धलातलम्मि चलणे शमाकलिशन्ते चलदि वश्चे ?। दण्डगालण्णं अन्तो आगन्तुगाणं पवित्तिं महालायस्स णिवेदेदुं लङ्कापुलिं उवायादस्स ते पादप≍केवेण धलणी पकम्पिदा आशी। [अपि नाम कुशलं भ्रातु: ?। कथं भो धरातले चरणौ समाकर्षंश्चलति वत्स: ?। दण्डकारण्यमन्तरागन्तुकानां प्रवृत्तिं महाराजाय निवेदयितुं लङ्कापुरीमुपायातस्य ते पादप्रक्षेपेण धरणी प्रकम्पिता आसीत्।]

लोहदंष्ट्र:—ताद किं कुशलपण्हेण ?। लङ्काए पडिणिवत्ते हगे इध महन्तं अणत्तं शंयादं अपेस्कं। लामवडुअस्स शलपादेण तिण्णि वि दण्डणायगा पाणेहिं वियोयिदा। ल≍कशचमू च णिखिला णिधणं उवगमिदा। एगे य्येव हगे लङ्कं गदे ओशिस्टे भीदभीदे मिच्चुणा गिहिदे चिट्ठामि। कस्टं। लायकुमाली शुप्पणहा कधं भविस्सदि ?। [तात किं कुशलप्रश्नेन ?। लङ्कायाः

---

[१] वाचनाविषयक चर्चा—Textual criticism.

प्रतिनिवृत्तोऽहमिह महान्तमनर्थं संजातं प्रेक्षे। रामबटोः शरपातेन त्रयोऽपि दण्डनायकाः प्राणैर्वियोजिताः। राक्षसचमूश्च निखिला निधनमुपगमिता । एक एवाहं लंकां गतोऽशिष्टो भीतभीतो मृत्युना गृहीतस्तिष्ठामि। कष्टम्। राजकुमारी शूर्पणखा कथं भविष्यति ?।]

वज्रदंष्ट्रः—वश्च अलं अत्ताणं शंतविय। शा खु तेलोग्गशुन्दली लंकं अधिवशदि। लामलᳵकणा तु आशण्णमलणा त्ति शंपेस्कामि। तेहिं हि शयंवलीए लश्चीए कण्णणाशिगं छिण्णं। [वत्स, अलमात्मानं संतप्य। सा खलु त्रैलोक्यसुंदरी लङ्कामधिवसति । रामलक्ष्मणौ त्वासन्नमरणाविति संप्रेक्षे। ताभ्यां हि स्वयंवर्या लक्ष्म्याः कर्णनासिकं छिन्नम्।]

लोहदंष्ट्रः—अच्चाहिदं। [अत्याहितम्।]

वज्रदंष्ट्रः—तं कप्पिस्सदि तेशिं कप्पेदुं तन्तुमाउस्स ॥१॥ तधा य कालादिवादं विणा लायलायेस्सले लङ्काधिणाहे शुप्पणहाए खलदूशणतिशिलाणं चउस्सहस्साणं च लᳵकशवीलाणं वइलं णिय्यादेस्सन्ते मादुलेण मालीचशिलिणा अणुगम्ममाणे पलावद दि।

[तत् क्लृप्स्यते तयोः कर्तितुं तन्तुमायुषः ॥१॥ तथा च कालातिपातं विना राजराजेश्वरो लङ्काधिनाथः शूर्पणखायाः खरदूषणत्रिशिरसां चतुस्सहस्राणां च राक्षसवीराणां वैरं निर्यातयिष्यन् मातुलेन श्रीमारीचेनानुगम्यमानः परापतति।]

लोहदंष्ट्रः—एव्वं शयं य्येव महालाये दशकंधले मादुलेण शह पलापददि!। येदु महालाये। [एवं स्वयमेव महाराजो दशकंधरो मातुलेन सह परापतति। जयतु महाराजः।]

वज्रदंष्ट्रः—हगे च तेशिं कप्पडिगावशदाणं पआरगदं उवलद्धं अग्गदो शंपेशिदे। [-अहं च तयोः कार्पटिकापसदयोः प्रचारगतमुपलब्धुमग्रतः संप्रेषितः।]

लोहदंष्ट्रः—तं तु तादं हगे आचस्कामि। दाणिं य्येव पञ्चवडीए शंणिकिस्टेण मग्गेण वञ्जन्तेण मए दुवे माणुशे अस्समपदे दिस्टा, लामे च शीदा च। लᳵकणे दाव तित्तयत्ताए उवावत्तमाणं कुलपतिं पच्चुय्यादे त्ति य शुदं। [तत्तु तातमहमाचक्षे। इदानीमेव पञ्चवट्याः संनिकृष्टेन मार्गेण व्रजता मया द्वावेव मानुषावाश्रमपदे दृष्टौ, रामश्च सीता च। लक्ष्मणस्तावत्तीर्थयात्राया उपावर्तमानं कुलपतिं प्रत्युद्यात इति च श्रुतम्।]

वज्रदंष्ट्रः—दिस्टीए शंपादिदं तए शमागदेण मह शमीहिदं। शंपत्तं च लᳵकशेन्दस्स पुप्फगं विमाणं। ता, एहि, लङ्केस्सलं णिवेदेमो यधागदं। [दिष्ट्या संपादितं त्वया समागतेन मम समीहितम्। संप्राप्तं च राक्षसेन्द्रस्य पुष्पकं विमानम्। तदेहि, लङ्केश्वरं निवेदयावो यथागतम्।]

लोहदंष्ट्रः—अयं आगश्चामि। मन्दम्मि मद्देहम्मि विज्झायन्तं तु य्योदी महालायागमणे दिप्पदि। [अयमागच्छामि। मन्दे मद्देहे निर्वाणं गच्छत्तु ज्योतिर्महाराजागमने दीप्यते।]

निष्क्रान्तौ राक्षसौ।

प्रवेशकः।

गूजराती अनुवाद

बे राक्षसो प्रवेश करे छे.

वज्रदंष्ट्र—वत्स लोहदंष्ट्र ! तूं खुश तो खरो ? अरे, तूं पग घसीने चाले छे, एम केम ? आपणा दंडकारण्यनी नवीसवी वसतीना समाचार महाराजने निवेदन करवाने तूं लंकाए आव्यो हतो, त्यारे तो तारा पगना धबकारे धरणी धूजती हती ।

लोहदंष्ट्र—वज्र भाइ ! खुशीनूं शूं पूछो छो ? लंकाथी हूं पाछो पगले आव्यो, त्यां तो अहीं में रोळ वर्तेलो जोयो. पेला आजकालना रामना बाणे आपणा त्रणे दंडनायक हणाया अने राक्षससेनानूं निकंदन वळी गयूं ! हूं लंकामां होई ऊगर्यो; त्यारे भयनो मार्यो मरवा पड्यो छूं. अरे पण राजकुमारी शूर्पणखाबा एमनूं शूं थयूं हशे ?

वज्रदंष्ट्र—संताप न कर, वत्स. ए त्रैलोक्यलक्ष्मी लंकामां बिराजे छे,. अने ए रामलक्ष्मणनूं हवे आवी बन्यूं छे.

(आर्या)

वरवा गयेल लक्ष्मीतणां हण्यां नाककान नरनष्टे.

लोहदंष्ट्र—हें हें ! गजब कर्यो तो !

वज्रदंष्ट्र—ए निज आवरदानी छेदी छे दोरडी दुष्टे. हालहाल राजराजेश्वर लंकानाथ राजकुमारी शूर्पणखानूं दंडनायक खर दूषण तथा त्रिशिरानूं चौद हजार राक्षस सुभटनूं वेर वाळवा मामा मारीच साथे पधारे छे.—

लोहदंष्ट्र—शूं शूं ? खुद महाराज मामाश्री साथे पधारे छे ? जय लंकेशनो !

वज्रदंष्ट्र—अने मने ए दुष्ट कापडीओनी भाळ मेळववा आगळथी मोकल्यो छे.

लोहदंष्ट्र—ए हूं कहूं, मोटा भाइ. पंचवटी आगल थईने हूं नीकळ्यो, त्यारे राम अने सीता ए बे जणां आश्रममां हतां. लक्ष्मण तो, वाटमां सांभळ्याप्रमाणे, यात्राएथी कुलपति आवे छे तेने लेवा गएल छे.

वज्रदंष्ट्र—मारे बातमी जोइती' ती ते मळी गई,. ठीक थयूं के वत्स भेगो थयो. लो, आ राक्षसेंद्रनूं पुष्पकविमाने आव्यूं. चाल, भाइ, आपणे महाराजने समाचार निवेदन करिये.

लोहदंष्ट्र—आ आव्यो, मोटा. मारा मंद देहमां बूझाती ज्योत महाराजनां पन्होतां पगले दीपे छे.

बन्ने राक्षस जाय छे.

इति जनस्थानकंटकोद्धारो नाम प्रवेशकः ।

आ के एनो भाइ कोइ प्रवेशक के विष्कंभक होवो तो जोईए ते कबूल. पण ते आखो ने आखो ऊडी शी रीते गयो एवो प्रश्न कदापि करवामां आवे तो तेनो उत्तर बहु ज सहेलो छे. लुप्त थयेलो भाग ततः प्रविश...अक्षरोथी शरू थाय छे अने एने छेड़े पण पांचमा अंक ना ततः प्रविश...अक्षरो

आवे छे. तेने लीधे लहियाए दृष्टिदोषथी वचलो दश उक्तिवालो भाग मूकी दीधो होय, एम मारूं मानवूं छे. आ प्रकारनी भूल जूनी हाथप्रतोमां मळी आवे छे. तेने लीधे लहियाए दृष्टिदोषथी वचलो दश उक्तिवालो भाग मूकी दीधो होय, एम मारूं मानवूं छे. आ प्रकारनी भूल जूनी हाथ प्रतोमां मळी आवे छे, तेम मुद्रायंत्रनां काची छापनां ओळियांमां बीबां गोठवनाराना हाथे थाय छे, ए मारा अनुभवमां छे, एक पंक्ति उपरथी नजर खसी बीजी पंक्तिना समान अक्षरसमूह उपर करवाथी वचली पंक्ति के पंक्तिओ लहियो अने बीबां गोठवनार अजाणतां मूकी दे छे, ए रीते प्रस्तुत भाग पण प्रतिमामांथी लुप्त थयो जणाय छे.

उपरना लेखमां दर्शावेला विचार ने कोइ जागृतिनी भ्रमणा गणशे अने कोइ एने ऊंघनूं स्वप्न लेखशे, तेनो मने सोस नथी. मारूं मन तो वत्सराजना शब्दोमां कहे छे के

(अनुष्टुभ्)

स्वप्न ए होय, तो धन्य स्वप्न ते नित्य ऊंघतां;
भ्रमणा होय ए, तो ते भ्रमणा धन्य जागतां.[1]

त्रुटिओ जडी छे–मने पांच वरस उपर न हती जडी ते जडी छे; अने खोट पूरनारो अर्थपिंड पण जड्यो छे, शब्दपिंड तो जे होय ते हो.

---

[1] जुओ महाकवि भासना **स्वप्नवासवदत्तनो** स्वप्ननी सुंदरी किंवा **स्वप्ननी सुहागिणी** एवा नामनो मारो अनुवाद, अंक ५.

विचित्र बेनी

कैधों भट्टू तुव बेनी के ब्याज सों रात ये चाँदनी में निकसी है।
कैधों चमेली की सेज पै सुंदर पंगत भौंरन की ये बसी है॥
कैधों बनी-ठनी नागिन ये पय-पान को छीर-समुद्र धँसी है।
कैधों सुमेरु-सिला पै सुहावनि साँवलि कल्पलता ये लसी है॥

गांगेयनरोत्तम शास्त्री

ऐतिहासिक विचार-शैली

प्रोफेसर गंगाप्रसाद मेहता, एम० ए०

आधुनिक विज्ञान-युग के पहले 'इतिहास' साहित्य का ही अंग माना जाता था। साहित्य की ही शाखा-प्रशाखाओं में 'इतिहास' की भी गिनती थी। परंतु आज-कल इतिहास ने साहित्य से नाता तोड़कर वैज्ञानिक स्वरूप धारण कर लिया है। आधुनिक विद्वान् 'वैज्ञानिक आलोचना-शैली से शोधे हुए पूर्व-काल की घटनाओं के क्रमबद्ध ज्ञान' को इतिहास कहते हैं। इतिहास-विज्ञान ने इस युग में बड़ी उन्नति की है। हमारे इतिहास-संबंधी विचार और कल्पनाएँ पहले की अपेक्षा अब अधिक प्रौढ़, प्रामाणिक और यथार्थ हैं। पहले इतिहासकार इतिहास के मूल ग्रंथों की समालोचना करना जरूरी न समझते थे। उन्हें पुरातत्त्व का कुछ भी ज्ञान न था। वे इतिहास केवल इस प्रयोजन से लिखा करते थे कि उससे लोगों को शिक्षा मिले और उनके जीवन के लिये उसका ज्ञान उपयोगी सिद्ध हो। इतिहास की बातों का पूरा-पूरा अनुसंधान कर उनका यथातथ्य वर्णन करना उनका उद्देश्य न था। इतिहास की परंपरागत और प्रचलित बातों को ही रोचक और शिक्षाप्रद रूप में लिखकर वे अपने-आपको कृतकृत्य मान बैठते थे। उस युग के इतिहासकार साहित्य के बड़े पंडित थे। उन्हें इतिहास में आलंकारिक वर्णन करने का जितना शौक था उतना उसमें तथ्यानुसंधान और आलोचना करने का न था। इतिहास के पठन-पाठन की रीतियों में जो फेरफार हुए हैं उन पर विचार करने से मालूम होता है कि प्रत्येक युग में विद्वानों ने अपने समय के विचारों और रीतियों के अनुसार इतिहास की व्याख्या की है। कवि, दार्शनिक, सामाजिक एवं राजनीतिक सिद्धांतवादियों ने इतिहास का खूब ही उपयोग किया है; किंतु उनमें किसी ने इतिहास का यथार्थ तत्त्व पूरा-पूरा नहीं समझा। उन्होंने इतिहास के आधार पर तरह-तरह के अनुमान और सिद्धांत स्थापित किए और अपने-अपने मत के समर्थन के लिये इतिहास की बातों का दृष्टांत-रूप से बड़ा उपयोग किया। किंतु इतिहास क्या वस्तु है, उसका क्या लक्षण और प्रयोजन है, उसके जानने की क्या मीमांसा-शैली है, उसमें शोध करने की कहाँ तक आवश्यकता है—आदि प्रश्नों पर उन्होंने गंभीर विचार नहीं किया। यूनान के इतिहासज्ञ हिरोडोटस (Herodotus) का कथन है कि इतिहासकार एक प्रकार का महाकवि है जिसका उद्देश्य इतिहास के वीर

पुरुषों की गुण-गाथाएँ लिखकर लोक का मनोरंजन करना मात्र है। दूसरे यूनानी इतिहासज्ञ थ्यूसीडाइडीज (Theucidides) ने इतिहास को लोकोपयोगी शिक्षा का साधन बतलाया है। उसने लिखा है कि जो घटनाएँ पहले घट चुकी हैं उनका यथातथ्य ज्ञान हमारे लिये बड़ा शिक्षाप्रद है, क्योंकि वैसी ही घटनाएँ मानव-जाति के जीवन में बार-बार हुआ करती हैं। प्राचीन काल के इतिहासकार महापुरुषों को 'मानव-इतिहास की प्रगति का मूल कारण' मानते थे और इसलिये उनके जीवन की घटनाओं के वर्णन पर विशेष ध्यान दिया करते थे। उनके विचारानुसार इतिहास 'मानव-चरित्र का बृहत्कोष' है, उससे लोक-शिक्षा के लिये उत्तम आदर्श और दृष्टांत मिलते हैं। मनुष्य के कारनामों के जानने का और उनसे शिक्षा ग्रहण करने का उत्तम साधन इतिहास ही है। इँगलैंड के प्रसिद्ध लेखक मेकॉले और कारलाइल भी इसी सिद्धांत के अनुयायी थे। वे ऐतिहासिक पात्रों और घटनाओं के सजीव चित्रण में बड़े ही सिद्धहस्त थे। उनके लिखे इतिहास के पढ़ने से ऐसा अनुभव होता है कि वे मानों हमें एक चित्रशाला में ले जाकर अपनी कला-चातुरी से खींचे हुए चित्रों का परिचय दे रहे हैं जिनके देखते ही उनकी चारुता और चमत्कार पर हमें मुग्ध हो जाना पड़ता है। वे अतीत काल का भव्य दृश्य अपनी प्रभावशालिनी प्रतिभा के रंग में रँगकर हमारे सामने उपस्थित कर देते हैं। वे इतिहास के वर्णन में आलंकारिक भाषा का प्रचुर प्रयोग करते हैं। परंतु आधुनिक इतिहास की वर्णन-शैली स्वच्छ, सीधी और सरल हुआ करती है। इतिहासकार को अपनी कल्पना-शक्ति का पूर्ण नियंत्रण करना पड़ता है। इतिहास में स्वच्छंद विचार करने का अवकाश नहीं होता। बिना शब्दाडंबर के घटनाओं का यथातथ्य वर्णन करना और प्रमाणपुरःसर बात कहना आज-कल के इतिहास लिखने की परिपाटी है। अतएव, कवि और चित्रकार-सरीखे इतिहासकार यथार्थ इतिहास के अनुसंधान करने में सर्वथा अशक्त थे। इतिहासकारों की श्रेणी में बकल (Buckle) तथा वॉल्टेयर (Voltaire) दार्शनिक विद्वान् थे। उन्होंने अपने दार्शनिक विचारों के समर्थन के लिये इतिहास का आश्रय लिया, और उसके उन्हीं तत्त्वों और घटनाओं को ग्रहण किया जिनसे उनके माने हुए सिद्धांतों की पुष्टि होती थी। परंतु उनकी भी इस प्रकार की विचार-शैली दूषित थी। इतिहास में घटनाओं के आधार पर ही कोई अनुमान वा सिद्धांत स्थापित किया जाना चाहिए, न कि अपने स्वीकृत सिद्धांत की पुष्टि के लिये इतिहास की शरण लेनी चाहिए। अपनी मनमानी कल्पना और तर्कणा एक चीज है, और इतिहास के अनुसंधान और प्रमाणों द्वारा निश्चित किया हुआ सिद्धांत दूसरी चीज है। इतिहास एक स्वतंत्र विज्ञान है। उसे दार्शनिक और साहित्यिक सिद्धांतों से जुदा रखकर उसका अभ्यास करना ही आज-कल की वैज्ञानिक रीति है। उसमें यथार्थ घटनाओं के ढूँढ़ निकालने की बड़ी आवश्यकता है। जिन साधनों से उसका ज्ञान प्राप्त होता है, उनकी आदि से अंत तक आलोचना करने और उन्हें प्रामाणिक सिद्ध करने में तीव्र तर्क-बुद्धि अपेक्षित हुआ करती है। उसकी खोज और शोध करने के वैज्ञानिक तरीके हैं जिन पर पहले इतिहासकार जरा भी ध्यान न देते थे। किंतु उन्नीसवीं सदी में विज्ञान की उन्नति के साथ-साथ इतिहास में बड़ा भारी कायापलट हुआ। इतिहास ने उसके शोध और आलोचना करने की शैली बदली। उसके कलेवर की पूर्त्ति के और अनेक नए साधन ढूँढ़ निकाले गए। उसके पढ़ने-लिखने का प्रयोजन कुछ का कुछ

हो गया। विज्ञान के व्यापक प्रभाव से मानव-विचार के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में विद्वानों को यथातथ्य ज्ञान प्राप्त करने की प्रबल उत्कंठा होने लगी। वे प्रत्येक विषय के अन्वेषण तथा विश्लेषण में लग गए। नए ढंग—नई चाल—से सत्य की खोज शुरू हुई। इतिहास के क्षेत्र में भी वास्तविक घटनाओं का अनुसंधान किया जाने लगा। जिन प्रमाणों के आधार पर इतिहास लिखे गए थे उनकी आरंभ से ही आलोचना की गई। कुछ विद्वान् परंपरागत इतिहास के तथ्यातथ्य के निर्णय करने में लग गए; कुछ नए-नए ऐतिहासिक साधनों का अन्वेषण करने लगे। जहाँ उन्हें जो-जो प्राचीन चिह्न वा भग्नावशेष मिले वहाँ उनका संग्रह कर उन्होंने इतिहास में उनका उपयोग करना आरंभ कर दिया। साहित्य से अपना पिंड छुड़ाकर इतिहास अब विज्ञान के विषयों में आकर शामिल हो गया। सत्य एवं विशुद्ध ज्ञान की खोज में तन्मय होकर इतिहासकार वैज्ञानिक अतीत काल का यथार्थ चित्र अंकित करने में लग गए। उन्होंने इतिहास को विषयांतरों से बिलकुल जुदा कर लिया। सत्य और यथातथ्यता को उन्होंने अपनी ऐतिहासिक गवेषणा का एकमात्र आदर्श बना लिया। इतिहास में पुराने समय से ऐतिहासिक पुरुषों और घटनाओं के विषय में जो भावनाएँ प्रचलित थीं वे उन्हें बिना कड़ी समालोचना के मानने को तैयार न हुए। बड़ी सावधानता से उन्होंने इतिहास के अनुमान-प्रमाणों की परीक्षा आरंभ की। वे पुराने लब्धप्रतिष्ठ लेखकों की प्रामाणिकता पर संदेह करने लगे और उनके विचारों को पक्षपातग्रस्त समझकर उनका अनादर भी करने लगे। जिन बातों पर परंपरा से लोगों की श्रद्धा जम रही थी, जिनका वे सदा से आदर करते चले आते थे, उनका उन्होंने खंडन कर दिया। इतिहास की प्रमाणशून्य बातों और विचारों की उन्होंने जड़ ही काट दी। उनका एकमात्र ध्येय था 'सत्य की खोज'। अतएव पुराने इतिहासकारों की समालोचना करने में उन्हें बहुत-सी बातों का खंडन करना ही पड़ा। परंतु पहले के इतिहासकारों का निरंतर खंडन करते ही रहना उनका अभीष्ट न था। वे इतिहास के मंडन-कार्य में भी तुरंत ही प्रवृत्त हुए। नवीन इतिहासकारों ने पुराने लेखकों की बातों का पिष्टपेषण करना छोड़ दिया और इतिहास के मूल ग्रंथों और अन्य साधनों के आलोचन तथा अनुशीलन में स्वयं तत्पर हो गए। इतिहास के समस्त विषय की आदि से छानबीन कर उसका फिर से निर्माण करना उन्होंने परम आवश्यक समझा। इस प्रकार इतिहास के मौलिक आधारों की खोज शुरू हुई। इतिहास के खोज करनेवालों ने भिन्न-भिन्न जातियों के प्राचीन ग्रंथ-भांडारों से अपने विषय की सामग्री जुटाना शुरू कर दिया। इतिहास के पुनर्निर्माण के निमित्त उन्हें बहुत-सी अन्य विद्याओं की सहायता लेनी पड़ी। शब्द-विज्ञान, प्राचीन लिपितत्त्व, मानव-विज्ञान, पुरातत्त्व, मुद्रातत्त्व आदि विज्ञान भी इतिहास के उद्धार करने में उपयोगी सिद्ध होने लगे। इन समस्त विषयों से ऐतिहासिक सामग्री एकत्र करने के लिये विद्वानों ने परस्पर हाथ बँटा लिया और अपने-अपने विषयों में विशेषज्ञ होकर उन्होंने इतिहास की बहुत-सी ज्ञातव्य बातें उनसे शोध कर निकालीं। खोज करने की नई शैलियाँ और नए मार्ग उन्होंने दिखलाए और इतिहास-विज्ञान की अधिकार-सीमाएँ बहुत विस्तृत कर दीं। वैज्ञानिक आविष्कारों के इस युग में इतिहास का भी कलेवर नई खोज की हुई बातों से भरा जाने लगा। इतिहास की खोज में वैज्ञानिक पद्धति और तरीके

किस प्रकार काम में लाए गए, इस बात के समझने के लिये हम यहाँ उदाहरण-रूप से प्राचीन इतिहास के साधनों पर कुछ विचार करना चाहते हैं। प्राचीन साहित्य के ग्रंथों से इतिहासकार के इतिहास की बातें श्रम से खोजकर उद्धृत करनी पड़ती हैं। जितना अधिक से अधिक प्राचीन इतिहास-क्षेत्र में वह उतरता है उतनी ही थोड़ी साहित्यिक सामग्री उसे उपलब्ध होती है। उसे प्राचीन इतिहास के बहुत ही कम लिखित ग्रंथ मिलते हैं। इसलिये वह सिक्कों, शिलालेखों और पुराने भग्नावशेषों की खोज करने में लग जाता है; क्योंकि ये चीजें इतिहास पर बहुत प्रकाश डालती हैं। प्राचीन सिक्कों, शिला और ताम्रपत्र पर खुदे लेखों और पुराने समय के तरह-तरह के स्मृति-चिह्नों को खोज-खोजकर आज-कल के विद्वानों ने बहुत-कुछ इतिहास का पता लगाया है। प्राचीन भारत के इतिहास के पुनरुद्धार में पुरातत्त्व-विज्ञान बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ है। यदि प्राचीन सिक्के और उत्कीर्ण लेख हमें प्राप्त न होते तो हमारे इतिहास के बहुत-से स्थल सदा ही शून्य रहते। महाप्रतापी मौर्य और गुप्त नरेशों का हाल कौन जानता था? महात्मा बुद्ध के ऐतिहासिक अस्तित्व के संबंध में कुछ दिन पहले पाश्चात्य विद्वान् संदेह प्रकट कर चुके थे। पालि-ग्रंथों में बुद्ध के जीवन-संबंधी आख्यानों में कथा और कल्पना की अत्यधिक मात्रा थी। इस कारण वे उन पर विश्वास न कर सके। किंतु हम पुरातत्त्व-विज्ञान के अत्यंत ऋणी हैं जिसके कारण हमें ऐसे अत्यंत प्राचीन स्मृति-चिह्न मिले हैं जो बुद्धदेव के जीवन की मुख्य-मुख्य घटनाओं पर प्रकाश डालते हैं। जिन प्रतापी राजाओं का नाम-निशान भी हमारी ग्रंथ-राशि में नहीं है, उनका इतिहास उनके समय के लिखे या खुदे पत्थर वा ताम्रपत्र पर अंकित प्रशस्तियों और चरितों से प्रकट हुआ है। शिलालेखों और दानपत्रों से इतिहास-ज्ञान आविष्कृत करना पुरातत्त्वज्ञों के श्लाघ्य परिश्रम का फल है। प्राचीन लिपियों में खुदे हुए उन लेखों के प्रत्येक अक्षर को खोजकर पढ़ना उन विद्वानों की असाधारण प्रतिभा, परिश्रम और अध्यवसाय का उदाहरण है। भारत की प्राचीन लिपियों के पढ़नेवाले विद्वानों में अग्रगण्य जेम्स प्रिंसेप महोदय थे। उन्होंने बड़े प्रयत्न से ब्राह्मी और खरोष्ठी नामक प्राचीन भारतीय लिपियों की पूरी-पूरी वर्णमालाएँ तैयार की थीं। कुछ इंडो-ग्रीक राजाओं के उन्हें ऐसे सिक्के मिले थे जिनके एक ओर तो भारतीय लिपि के अक्षर थे और दूसरी ओर वही बात ग्रीक भाषा और ग्रीक लिपि में लिखी थी। बस इतने से ही उन्होंने धीरे-धीरे ब्राह्मी और खरोष्ठी के सारे वर्ण निकाल लिए; क्योंकि वे ग्रीक लिपि से पहले ही से परिचित थे। प्राचीन लिपियों की शोध के साथ-साथ पुराने शिलालेख, ताम्रलेख तथा मुद्रालेख सरल रीति से पढ़े जाने लगे। उनसे भारत के प्राचीन इतिहास की अपूर्व बातें विदित हुईं जिनका पता संस्कृत के विशाल साहित्य में कहीं भी ढूँढ़े नहीं मिलता। डाक्टर फ्लीट ने लिखा है कि शिलालेख और ताम्रलेखों के देखते हुए हमें ज्ञात होता है कि प्राचीन हिंदुओं में इतिहास लिखने की क्षमता और योग्यता थी। पौराणिक और काव्यशैलियों से इन लेखों की प्रथा बिलकुल भिन्न है। इनकी परंपरा और शैली दस्तावेजी है। पूरा नाम-धाम, वंशवृत्त, स्थान, मिति, संवत् देते हुए ये लेख अपना प्रयोजन विदित करते हैं। हमारे प्राचीन इतिहास के निर्माण के लिये सबसे अधिक उपयोगी तो शिलालेख और ताम्रलेख ही हैं जो उस समय के इतिहास, देशस्थिति, लोगों के आचार-व्यवहार, धर्मसंबंधी विचार आदि

विषयों पर बहुत-कुछ प्रकाश डालते हैं। प्राचीन सिक्के इतिहास के ज्ञान के लिये कुछ कम महत्त्व के नहीं हैं। प्राचीन मुद्रातत्त्व लुप्त इतिहास के उद्धार करने का एक आवश्यक साधन है। भारत में यवन, शक, पह्लव आदि विदेशी राजाओं की सत्ता पश्चिमोत्तर प्रदेशों में बहुत काल तक रही, इसका पता उनके चलाए हुए सिक्कों पर खुदे लेखों से ही लगा है। काबुल और पंजाब पर राज करनेवाले यूनानी राजाओं के सिक्कों पर एक तरफ राजा का चेहरा, उसका नाम और खिताब रहता है और दूसरी ओर किसी आराध्य देवी-देवता का चित्र। इन राजाओं की नामावली सिक्कों से ही मिली है। इन सिक्कों पर संवत् न रहने से उक्त यवन राजाओं का ठीक-ठीक काल निश्चित करना कठिन है, तो भी हमारे इतिहास की खोई हुई कड़ियों के एकत्र करने में ये सिक्के बहुत बड़े सहायक हैं। संस्कृत विरुदों से अंकित गुप्त-कालीन सोने के सिक्कों का सौंदर्य और वैचित्र्य देखने योग्य है। उन पर कहीं राजा-रानी की मूर्त्ति अंकित है, कहीं अश्वमेध का घोड़ा। किसी मुद्रा पर शिकार खेलता हुआ राजा है, किसी पर वीणा बजाता हुआ। ऐसी मुद्राओं के आकार-प्रकार और उनके सोने की शुद्धता आदि देखकर मुद्राशास्त्रज्ञ अनुमान करते हैं कि गुप्त-काल में भारतवर्ष बहुत धनधान्यसंपन्न था। इसी प्रकार, प्राचीन नगरों के खँड़हरों में इमारतों, मंदिरों और विहारों के भग्नावशेष, सुंदर मूर्त्तियाँ और शिल्प के नमूने पुरातत्त्वज्ञों ने खोज-खोजकर एकत्र किए हैं जो इस देश की शानदार सभ्यता और कला-कौशल का हमें प्रत्यक्ष परिचय देते हैं। शिल्प, वास्तु और चित्रण-कलाओं में भारत ने समय-समय पर जो आश्चर्य-जनक उन्नति की थी उसका सिलसिलेवार इतिहास पुरातत्त्वानुसंधान से ही उपलब्ध हुआ है। शिलालेख, ताम्रपत्र, सिक्के आदि पुरातत्त्व-संबंधी साधनों के अतिरिक्त हमें अधिकांश इतिहास का ज्ञान प्राचीन लिखित ग्रंथों से मिलता है। परंतु उन ग्रंथों के अभ्यास में भी हमें बहुत-कुछ शोध और समालोचन करने की आवश्यकता होती है। जैसे-जैसे हम उन लिखित ग्रंथों से इतिहास की सामग्री संकलित करते हैं वैसे-वैसे हमें विशेष कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। प्रारंभ में ही पुराने ग्रंथों के विषय में—वे कब लिखे गए, उनके रचयिता कौन थे, वे कहाँ तक प्रामाणिक हैं—इत्यादि प्रश्नों पर हमें खूब बहस करनी पड़ती है। यदि किसी ग्रंथ का काल निश्चित न हो तो वह इतिहास के लिये उपयोगी नहीं हो सकता। अतएव इतिहास के लिये प्राचीन ग्रंथों के रचना-काल का अनुसंधान करना बहुत आवश्यक है। यदि किसी पुराने ग्रंथ के काल-निर्णय के लिये बहिरंग प्रमाण नहीं मिलते तो हमें उस ग्रंथ की अंतरंग परीक्षा द्वारा उसका रचना-काल निश्चित करना पड़ता है। जिस भाषा-शैली में वह लिखा गया है, जिन विचारों का उसमें समावेश है, जिस ज्ञात समय के इतिहास वा देश-स्थिति पर वह प्रकाश डालता है, उन सब बातों पर विचार करने से उसके रचना-काल का बहुत-कुछ अनुमान किया जा सकता है। जिन ग्रंथों का समय बिलकुल अज्ञात है उनके रचना-काल का निर्णय करना अत्यंत श्रम का कार्य है। उनकी शैली और विषय की सूक्ष्म परीक्षा और विश्लेषण कर, उस देश के भिन्न-भिन्न युगों के साहित्य से उनकी तुलना कर, हमें यह सिद्ध करने के लिये अनेक प्रमाण और युक्तियाँ एकत्र करनी पड़ती हैं कि वे ग्रंथ अमुक देश की साहित्यिक विकास-श्रृंखला में अमुक समय के आसपास रचे गए होंगे। उन ग्रंथों के उल्लेख कहाँ-कहाँ किन प्राचीन

लेखकों ने किए हैं, इसका भी अनुसंधान करना उनके काल-निर्णय के लिये आवश्यक होता है। किसी ग्रंथ के रचना-काल के निश्चित हो जाने पर हमें फिर उसकी प्रामाणिकता पर विचार करना पड़ता है। यह भली भाँति विदित है कि प्राचीन ग्रंथों में समय-समय पर बड़े फेरफार हुए हैं, उनमें क्षेपक जोड़ दिए गए हैं और उनके मूल संस्करण में तरह-तरह के संशोधन और परिवर्त्तन कर दिए गए हैं। उनका इतिहास में उपयोग करने के पहले हमें यह देख लेना पड़ता है कि उनका मूल पाठ शुद्ध है वा नहीं। यदि सारे ग्रंथ की भाषा-शैली एक-सी है, यदि उसकी युक्ति-परंपरा में किसी प्रकार का असामंजस्य नहीं देख पड़ता, यदि उसके विचार-क्रम में विरोध नहीं मालूम होता, तो हम उस ग्रंथ को प्रामाणिक मान लेते हैं और उसे एक ही विद्वान् की विशुद्ध कृति समझते हैं। मूल ग्रंथ ही इतिहास का उपयोगी साधन हो सकता है। उसके वर्त्तमान संस्करण से प्रक्षिप्त अंश जब तक निकाल नहीं दिए जाते तब तक वह इतिहास के लिये उपयोगी नहीं हो सकता। प्राचीन ग्रंथों के मूल अंश को खोजकर निकालना और उनकी रचना का समय और स्थल निश्चित करना इतिहास-ज्ञान के लिये अत्यंत आवश्यक है। मूल ग्रंथ प्राप्त कर लेने पर भी हमारे आलोचनात्मक शोध का बस अंत नहीं होता। हमें उस ग्रंथ की व्याख्या करने में भी आलोचना-शैली का अवलंबन करना पड़ता है। समय-समय पर विद्वानों ने अपने विचारानुसार पुराने ग्रंथों की मनमानी व्याख्याएँ की हैं। जिस देश-काल की परिस्थिति में जो ग्रंथ लिखा गया है उसका तात्पर्य-निर्णय उस समय की ही भाषा, आचार और विचार के अनुसार करना उचित है। उन ग्रंथों के बड़े-बड़े भाष्यकार और टीकाकार भी हमारी दृष्टि में श्रद्धास्पद न होते यदि वे ऐतिहासिक विचार-शैली से उनकी व्याख्या न करते। शब्दों के अर्थ बदलते रहते हैं। मनुष्य के विचारों में विकास होता रहता है। हमारे जीवन की परिस्थितियाँ परिवर्त्तनशील हैं। अतएव, साहित्य की व्याख्या में नूतन और पुरातन विचारों का संमिश्रण करने से हमें भिन्न-भिन्न काल का यथातथ्य ज्ञान नहीं हो सकता। प्राचीन मूल ग्रंथ का अर्थ करते समय हमें उसमें अपने नवीन विचारों और संस्कारों के सन्निविष्ट करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति बिलकुल छोड़ देनी चाहिए। हमें यथार्थ इतिहास का पता ही नहीं लग सकता यदि हम प्राचीन लेखकों से उन बातों के कहला लेने का यत्न करें जो वे कदापि कहना नहीं चाहते थे। भिन्न-भिन्न युगों में बहुत-से शब्दों के अर्थ बदल जाया करते हैं। काल-क्रमानुसार नए-नए विचारों का उनमें समावेश होता रहता है। उनका तात्पर्य गंभीर होता चला जाता है। अतएव प्राचीन ग्रंथ की व्याख्या करने में शब्दों के ठीक-ठीक अर्थ का पता लगाना अत्यंत आवश्यक है। इतिहास-विज्ञान के लिये शब्दों की यथार्थ व्याख्या करना बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य है। शब्द का अशुद्ध अर्थ इतिहास में भारी भूल का कारण बन सकता है। मूल ग्रंथ के प्रतिपादित विषय में भी अनेक त्रुटियाँ हो सकती हैं। अतएव, जिन घटनाओं का अमुक लेखक ने वर्णन किया है, क्या वह उनका समकालीन था—क्या उसने उन्हें स्वयं देखा था—क्या उसने उनका यथोचित वर्णन किया है इत्यादि प्रश्नों को हमें तर्कवितर्कपूर्वक मीमांसा करनी पड़ती है। लेखक के विवरणों में हम उसकी सचाई को कसौटी पर कस कर देखते हैं। उसके चरित्र कों, उसके पूर्व वृत्त और मनोवृत्तियों को हमें भली भाँति परखना पड़ता है। इतिहास के अनेक पृष्ठों पर पुराने लेखकों के नैतिक और मानसिक

दोष स्पष्ट झलकते हैं। लार्ड ऍक्टन का कथन है कि इतिहासकार को गवाह की भाँति मानना चाहिए, और जब तक उसकी सचाई का सबूत न मिल जाय तब तक उसका विश्वास न करना चाहिए। हमें उसकी बातों पर बराबर शंका करते रहना चाहिए। जब उसके कथन सर्वथा प्रामाणिक सिद्ध हों तभी हम उसे इतिहास में आप्तवाक्य कह सकते हैं। उसकी प्रामाणिकता के विषय में हमें कई प्रश्न करने पड़ते हैं। उसने कहाँ से और कैसे बातें मालूम कीं? क्या उसने घटनाओं का बिना घटाए-बढ़ाए ठीक-ठीक निरूपण किया है? क्या उसमें बातों और मनुष्यों के ठीक निरीक्षण करने की शक्ति थी? इन प्रश्नों के संतोषजनक उत्तर से ही उसके कथन श्रद्धास्पद कहे जा सकते हैं, अन्यथा नहीं। आलोचनशील इतिहास-प्रेमी का परम कर्त्तव्य है कि वह इतिहास के साधनों को पक्के प्रमाणों की कसौटी पर कसकर उन्हें अपनाए। इस प्रकार प्राचीन ग्रंथों के आलोचनात्मक विवेचन से हमें बहुत-सी जुदी-जुदी घटनाओं का पता चलता है। उन असंबद्ध घटनाओं के पता चलने के बाद हमें उन्हें कार्य-कारण के सूत्र में संग्रथित करने की आवश्यकता होती है। उन घटनाओं को शृंखलाबद्ध विज्ञान के रूप में परिणत करने के लिये उनका आपस के संबंध और उनके नियामक सिद्धांतों का अन्वेषण करना पड़ता है। इतिहास की घटनाओं को जब तक कार्य-कारण के महानियम में ओत-प्रोत नहीं कर लेते तब तक उनकी प्रगति तथा प्रयोजन हमें समझ नहीं पड़ता। घटना-क्रम के निरूपण के लिये हमें एक सिद्धांत निश्चित करना पड़ता है। घटनाओं का विकास-क्रम समझना चाहिए; क्योंकि उनमें पूर्व-संबंध रहता है। अतएव इतिहास की बातों में कार्य-कारण का ढूँढ़ निकालना प्रगल्भ बुद्धि का काम है। इतिहास की घटनाओं को शोध कर हमें उन्हें एकत्र कर समष्टि-रूप में उनका निरूपण करना पड़ता है। यदि कोई इतिहासवेत्ता यह कहे कि मैं घर खोद सकता हूँ; किंतु बना नहीं सकता—'अशक्तोऽहं गृहारम्भे शक्तोऽहं गृहभञ्जने' तो मानना पड़ेगा कि वह अपना पूर्ण कर्त्तव्य नहीं समझता। इतिहास के तत्त्वों को जुदा-जुदा करने के पश्चात् उनकी परस्पर संगति मिलाकर हमें इतिहास का निर्माण करना चाहिए। उसकी घटनाओं को शृंखलाबद्ध करना आवश्यक है। अन्यथा इतिहास घटनाओं का जगड्ड्वाल हो जाता है। उसमें हमें अविच्छिन्न विकास-क्रम नहीं देख पड़ता। उसका ज्ञान हमारी स्मरण-शक्ति के लिये भार-रूप हो जाता है। उसके अभ्यास से हमारी बुद्धि में प्रकाश नहीं होता। तभी प्रत्येक घटना का अर्थ विशद होता है जब हम अन्य घटनाओं के साथ उसका संबंध देख पाते हैं और उन सारी घटनाओं को एक व्यापक नियम में ओतप्रोत कर लेते हैं। प्रत्येक युग की घटना-समष्टि को ध्यान में रखने से हम उस युग के विकास-क्रम और प्रगति को समझ पाते हैं।

लार्ड ऍक्टन के मतानुसार इतिहास की बातों के पढ़ने और रटने की अपेक्षा ऐतिहासिक शैली से विचार करने की शक्ति प्राप्त करना उत्तम पक्ष है। इस विचार-शक्ति के द्वारा इतिहास की परिवर्त्तन-परंपरा तथा उसके बड़े-बड़े आंदोलनों का रहस्य सरलता से समझ में आ जाता है। ऐतिहासिक रीति से विचार करते समय हमें केवल सत्य के ही पक्ष में रहना चाहिए। अपने पुराने संस्कार और भावनाओं के अनुसार इतिहास की व्याख्या करना मानों सत्य का गला घोंटना है। इतिहास के तत्त्वानुसंधान में हमारी दृष्टि राग-द्वेष-शून्य होनी चाहिए। किसी पक्ष वा मत के समर्थन में इतिहास

का उपयोग करना अशुद्ध पद्धति है। हमारे धार्मिक वा जातीय पक्षपात हमें सत्य का साक्षात्कार नहीं होने देते। इतिहास के जिज्ञासुओं में सत्य का अनुराग, देश और धर्म की भक्ति से भी अधिक, दृढ़ और गंभीर होना चाहिए। उनमें तत्त्वजिज्ञासा की निष्काम और निर्विकार मनोवृत्ति होनी चाहिए। धर्मांध, कट्टर, हठी और दुराग्रही मनुष्य ऐतिहासिक सत्य का कदापि अनुसंधान नहीं कर सकता। 'सत्यमेव जयते नानृतम्—सच की ही जीत होती है, झूठ की नहीं'—उपनिषद् के इस महावाक्य पर इतिहास-प्रेमी का सदा ध्यान रहना चाहिए। 'सत्यान्न प्रमदितव्यम्—सत्य से कभी प्रमाद न करना चाहिए'—जिसने अपना यह ध्येय बना लिया है वही सच्चा इतिहासवेत्ता कहलाने का अधिकारी है।

हम पहले कह चुके हैं कि इतिहास का आलोचन वैज्ञानिक रीति से होना चाहिए और उसकी खोज में सत्य और यथार्थता पर हमारा पूर्ण लक्ष्य रहना चाहिए। किंतु जब हम आधुनिक वैज्ञानिक इतिहासकारों के गुण-दोषों की परीक्षा करने लगते हैं तब हमें ज्ञात होता है कि यद्यपि वे ऐतिहासिक साधनों की गवेषणा और समालोचना करने में बड़े प्रवीण और प्रामाणिक हैं तथापि उनमें दार्शनिक दृष्टि की, प्रतिभा के ज्योति की तथा ऊँचे और गंभीर विचारों की कमी देखने में आती है। वे अपने ग्रंथों में इतिहास की घटनाओं का शुष्क और नीरस वर्णन करते हैं किंतु वे उसके आंतरिक मर्म और तात्पर्य को नहीं समझा पाते। उनमें विचार और कल्पना-शक्ति की कमी होती है। वे इतिहास को बीती बातों का अस्थि-कंकाल बना डालते हैं। वे उसके जीते-जागते स्वरूप को, उसके धारावाहिक जीवन को, समझ नहीं सकते। वे कोरे विशेषज्ञ हुआ करते हैं, जो इतिहास के किसी एक ही विषय की आलोचना और चर्चा में अपना समस्त बुद्धि-बल लगा देते हैं। वे बाल की खाल खींचने में बड़े पटु होते हैं। इस कारण वे इतिहास के तात्पर्य को व्यापक दृष्टिकोण से नहीं देख पाते और न वे बड़े ऐतिहासिक आंदोलनों की शक्ति और रहस्य ही समझ पाते हैं। इतना तो स्वीकार करने के लिये हम तैयार हैं कि इतिहास के क्षेत्र में हमें वैज्ञानिक नियमों और रीतियों के द्वारा खोज करनी चाहिए; किंतु इतिहास के तत्त्वों की खोज और संग्रह करने के पश्चात् हमें उनका संकलन और निरूपण उन कला-चतुर विद्वानों की भाँति करना चाहिए जो उसके सजीव और विशद रूप का वर्णन कर सकते हैं। ऐसे लेखक इतिहास का सजीव चित्र खींचकर हमारे सामने उपस्थित कर देते हैं। इतिहास का जितना संबंध विज्ञान से है उतना ही कला से भी। इतिहास बीती हुई बातों का अजायबघर नहीं है। उसका हमारे वर्त्तमान जीवन से घनिष्ठ संबंध है; अतएव अपने जीवन की वर्त्तमान और अतीत दशा की ठीक-ठीक व्याख्या करने के लिये हमें इतिहास का, साहित्य और कला की भाँति, अध्ययन करना चाहिए। कलाचतुर इतिहासकार अपनी कल्पना-शक्ति की ज्योति फैलाकर अतीत काल के दृश्य को सजीव बना देता है। वह अतीत युग को उसके जीते-जागते रूप में प्रकट कर देता है। वह बीते समय की सजीव मूर्त्ति तथा उसके रूप और प्रवृत्ति को प्रत्यक्ष दरसा देता है। इसी लिये वाइकाउंट हालडेन (Viscount Haldane) ने बहुत ही ठीक कहा है कि इतिहासकार को फोटोग्राफर नहीं, किंतु चित्रकार के सदृश होना चाहिए। चित्रकार वस्तु के तात्कालिक रूप को अंकित नहीं करता; यह तो फोटो उतारनेवाले का काम है। वस्तु के समष्टि-रूप को, उसके पूरे-पूरे तात्पर्य को, व्यक्त करना उत्तम कला का लक्षण है। उसके

अंग-प्रत्यंग का विवरण मात्र दे देना तो साधारण-सी बात है। इसमें किसी हुनर की जरूरत नहीं। वस्तु के आंतरिक अर्थ को खोलकर दिखा देना चित्रकार की कारीगरी है। इसी प्रकार इतिहास की घटनाओं की प्रगति को, उनके उत्तरोत्तर विकास-क्रम को तथा उनके समस्त तात्पर्य को सुव्यक्त कर देना ही उत्तम इतिहासकार की करामात है। इतिहास की ठठरियों को—गड़े मुर्दों को—खोद-खोदकर निकालने से उसे संतोष नहीं होता, किंतु वह उसकी अंतःशक्ति और जीवन-स्रोत को खोलकर दिखा देना अपना परम कर्त्तव्य मानता है।

इतिहास की वैज्ञानिक आलोचना से उसमें बहुत-सी यथार्थ बातों का समावेश हुआ है और हो रहा है। इतिहास का कलेवर, शोध कर निकाली हुई वास्तविक घटनाओं से, भरा जा रहा है। हमारा इतिहास-विषयक ज्ञान जितना यथार्थ, पूर्ण और प्रगाढ़ है उतना पहले के लोगों का न था। कला की दृष्टि से इतिहास का अनुशीलन करने से हमें उसका तात्पर्य अत्यंत सजीव और विशद रूप से समझने का सौभाग्य मिला है। इसमें तो संदेह नहीं कि इतिहास का परिशीलन हमारे मानसिक विकास का बहुत बड़ा साधन है। वस्तुतः इस युग के मानसिक जीवन पर ऐतिहासिक विचार-शैली का गहरा प्रभाव पड़ा है। किसी भी विषय की चर्चा क्यों न हो, उसका निरूपण तद्विषयक इतिहास की सहायता के विना हो ही नहीं सकता। अर्थशास्त्र, राजनीति, व्यवहार, समाज-विज्ञान इत्यादि सभी विषय आज-कल इतिहास के रूप में परिणत हो गए हैं। आज-कल ऐतिहासिक दृष्टि से ही सभी विद्याओं का विवेचन और आलोचन किया जाता है। जैसे-जैसे अमुक शास्त्र वा विज्ञान की शाखा पल्लवित और उन्नत हुई है, उसके आद्योपांत विकास-क्रम को पूर्ण रूप से समझ लेने पर ही उस विषय का ठीक-ठीक परिज्ञान होता है। प्रत्येक शास्त्र का श्रीगणेश उसके इतिहास से ही किया जाता है। मनुष्य ने अमुक विज्ञान-क्षेत्र में आज तक कितना ज्ञान संपादित किया है, उसका पूरा-पूरा विवरण प्रत्येक वैज्ञानिक ग्रंथ के आरंभ में दिया जाता है। अमुक विज्ञान का उपक्रम कब और कैसे हुआ, उसके विकास-क्रम में कौन-से नए-नए आविष्कार हुए और उसकी वर्त्तमान समस्याएँ—जिन्हें हल करना आवश्यक है—क्या हैं, इत्यादि इतिहासात्मक प्रश्नों का विवेचन करने की परिपाटी प्रत्येक विषय के ग्रंथों में चल पड़ी है। यूनानी विद्वान् अरस्तू का कथन बहुत सारगर्भ है कि जो मनुष्य किसी विषय के पूर्वापर विकास-क्रम पर विचार करता है—चाहे वह राष्ट्र हो अथवा विषयांतर, वही उस विषय का पूर्ण और विशद ज्ञान प्राप्त कर सकता है। वास्तव में ज्ञान की कोई भी शाखा, विना उसका इतिहास जाने, ठीक-ठीक समझ में नहीं आ सकती। दृष्टांत के लिये धर्म-विज्ञान ही लीजिए। उसके सीखने का सबसे अच्छा साधन उसके इतिहास का अध्ययन ही है। मनुष्य के धार्मिक विचारों में किन-किन कारणों से हेरफेर हुए, उनके संशोधन करने में समय-समय पर होनेवाले आचार्यों और संत-साधुओं ने किन-किन सिद्धांतों का प्रचार किया, उनका सर्वसाधारण पर कितना और कहाँ तक प्रभाव पड़ा, उनके धर्मोपदेश का कितना अंश मौलिक और कितना प्राक्तन था इत्यादि प्रश्नों पर विचार करने से किसी भी देश के धर्म का यथातथ्य रूप हमें भली भाँति अवगत हो जाता है। इतिहासकार किसी भी जाति के धर्म-ग्रंथों को अपौरुषेय वा ईश्वरकृत नहीं मान सकता, क्योंकि वे मनुष्य की उन बोलियों में लिखे हुए हैं जिनका धीरे-धीरे

इतिहास में विकास हुआ है। उनका, उनके देश-काल की परिस्थिति से, घनिष्ठ संबंध रहता है, उन पर देश-काल का पूर्ण प्रतिबिंब झलकता है। आधुनिक दर्शन-शास्त्र की भी आलोचना ऐतिहासिक विचार-शैली द्वारा की जाती है। अब इसमें भी विद्वानों को स्वच्छंद विचार करने का अवकाश न रहा। तत्वान्वेषण करते हुए मनुष्य के मस्तिष्क से जो-जो विचार क्रमशः निकल चुके हैं उनकी आलोचना-प्रत्यालोचना करते हुए हमें वर्त्तमान दार्शनिक प्रश्नों की चर्चा में प्रवृत्त होना चाहिए। आज-कल के दर्शनों में नूतन और पुरातन सिद्धांतों की तुलनात्मक आलोचना से जो नए विचार सूझते हैं वे ही विद्वानों को सर्वथा उपादेय मालूम होते हैं। पुराने दार्शनिकों के मनोराज्य—उनकी मनगढ़ंत बातें और निरी निराधार कल्पनाएँ उन्हें दुर्गम और दुरूह प्रतीत होती हैं। सारांश यह कि कोई भी विषय क्यों न हो, उसके पूरे-पूरे इतिहास से परिचित होना उस विषय की कठिनाइयों के समझने और सुलझाने का साधन है। महाकवि शेक्सपीयर ने लिखा है कि मनुष्य मननशील प्राणी है और वह पूर्वापर विचार करने की सूक्ष्म शक्ति से संपन्न है। किंतु, यदि उसमें ऐतिहासिक बुद्धि (Historical sense) न हो, यदि उसमें पहली बीती बातों पर विचार करने की क्षमता न हो, तो वह कैसे आगे की बातों को सोच सकता है और कैसे जीवन की कठिन समस्याओं को हल कर सकता है। जैसा स्मरण-शक्ति का हमारी विचार-शक्ति से संबंध है, वैसा ही इतिहास का हमारी विद्या और विज्ञान से है। मानव-जाति ने अपने इतिहास-काल में जिस ज्ञान-निधि का संग्रह किया है उसी के आधार पर मानव-विज्ञान की उन्नति हुई और हो सकती है। यदि मनुष्य की धारणा-शक्ति ही नष्ट हो जाय, जिसमें उसके पूर्वोपार्जित अनुभव निहित रहते हैं, तो उसके ज्ञान-नेत्र ही मुँद जाते हैं—उसकी विचार-शक्ति ही जाती रहती है। इसी प्रकार, यदि मनुष्य इतिहास के ज्ञान को भूल जाता है तो वह भिन्न-भिन्न रूप के ऐतिहासिक अनुभवों के ज्ञान से वंचित रहता है और अपने जीवन की जटिल समस्याओं को ठीक-ठीक समझने में असमर्थ होता है।

वास्तव में इतिहास मानव-जाति का ज्ञान-कोष है। हमारी विद्याओं में इसका सबसे ऊँचा स्थान है। यह समस्त विद्याओं और शास्त्रों का दीपक है, सब कर्मों का उपाय है, और सब धर्मों का आधार है—

'प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्म्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्म्माणां विद्योद्देशे प्रकीर्त्तिता ॥—(कौटल्य-अर्थशास्त्र)

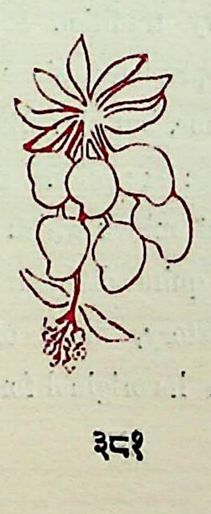

On Different Perceptions of Literary Facts

Professor A. Barannikov

THREE topics usually draw the attention of a historian of literature while studying literary facts: the work itself, its author and the social environment represented in the work that is being studied.

Very little attention is generally paid to the problem of perception to the psychological reaction of the reader to the work under examination. Whilst the study of literary works can in essentials be considered as complete after having studied not only the exciter, that is, the author and his work, his ideas embodied in images belonging to a definite social environment—but also the impression produced in the reader's mind.

It is common knowledge that a difference in the perception of literary works does not only depend on a difference in age or social class; it is also, to a large extent, determined by the reader's training and fitness for the perception of any given literary work.

It is perfectly clear that the perception of a given literary work will be most complete in the framework of the nationality on whose soil it has been created, being one of the links of a long and complex chain of literary traditions. Only on the background of this national literary tradition can the skill, originality and social value of a given literary work be appreciated, since it is connected with innumerable threads not only with the present time, but also with the history of the people.

A literary work appears in an exceptional position when transplanted by means of translation into another national milieu which has a different history, belongs to a different culture, and is nurtured by quite different traditions; and when this milieu knows little about the culture, history, mode of life and traditions of the people to which the translated work belongs in its original form. Although translated accurately, let us even say skilfully, this work may prove to be unintelligible to the new cultural, national and social milieu. This thought is perfectly expressed by Anatole France in his "Les Opinions de M. Yerome Coignard":—

"Si la race future gardait quelque mémoire de notre nom ou de nos écrits nous pouvons prévoir qu' elle ne goûterait notre pensée que par ce travail ingenieux de faux sens et de contresens qui seul perpétue les ouvrages du génie à travers les âges...Je ne crains pas de dire, qu' à l' heure qu'il est, nous n' entendons pas un seul vers de l' Iliade ou de la Divine Comédie dans le sens qui y était attaché primitivement. Vivre c'est se transformer, et la vie posthume de nos pensés écrites n'est pas affranchie de cette loi: elles ne continueront d'exister qu' à la condition de devenir de plus en plus différentes de ce qu' elles étaient en sortant de notre âme. Ce qu' on admirera de nous dans l'avenir nous deviendra tout à fait étranger."

In their effort to render a literary work more intelligible to new circles of readers, translators often subject it to such considerable alterations that it departs from its original form; but on the other hand, the general ideas of the author become more accessible to the reader.

Instances of such treatment may be illustrated by the Tales of L. Tolstoy translated into the Hindi by Mr. Prem Chand and the adaptation into the Hindi of Molière's comedies whose forms by their peculiarity would have astonished Molière himself.

In European literature, as we know, such methods of translation are very seldom used. As a rule, the translator is required to render correctly not only the ideas and the subject of a literary work, but also its form—to keep as close as possible to the original. Naturally such a form of translation from the language of a people developed in conditions widely different from those in which the new reader has lived offers considerable difficulties of apprehension. Without suitable comments such translations are often difficult to understand, and the new readers cannot always perceive the real social value of the original.

Aside from reasons of cultural and historical order there is one factor that prevents the reader from taxing in translations from Oriental languages, in particular those from Indian languages: the prejudice widely spread in Europe according to which the European reader expects without fail a considerable dose of exoticism in works translated from Oriental languages—the picture of a life and ideas utterly different from what one sees in Europe. The presence of this exoticism in works translated from the Oriental languages often seems to be the only criterion of estimate.

The existence of this prejudice is to be explained by the fact that the knowledge of Oriental literatures is very poor even among the most educated class of readers, excluding a narrow circle of specialists.

At a first glance it may appear that Indian literatures are in this respect in a more favourable position than the other Oriental literatures. And, indeed, the knowledge of Sanskrit literature has a tradition of long standing. Because of the connection of Sanskrit with Comparative Philology, its knowledge was spread much wider than that of other Oriental languages, and therefore the most important works of Sanskrit literature, especially its epos, the dramas and poems of Kalidasa, the works of Daudin and a number of other writers are known in Europe and also in Russia either in complete translations or in extracts or else in summaries of the content. It seems that this fact should considerably facilitate the perception and understanding of the works of new Indian literature in general, and those of Hindi in particular.

Although it may appear paradoxical, we hold it for very probable that a superficial acquaintance of the readers with old Indian literature combined with a next to complete ignorance of the subsequent literary tradition hampers the understanding of literary works in Hindi and other new Indian languages. This is due to the fact that on the basis of their acquaintance with Sanskrit literature readers have formed an idea of a "standard of the true Indian"—a notion of a specific circle of ideas, interests and forms.

Such notions evolved owing to a complete ignorance on the part of the European reader as to the subsequent literary traditions of India, considerably hamper his apprehension of the social value of the works of contemporary Indian writers who, in modern literary forms reflect modern life with all its complex cultural, social and political situation. For the common European reader, and for the Russian reader in particular, new Indian works often appear to possess little originality because of their being less exotic than the works of the old Indian literature, the "Ramayana"

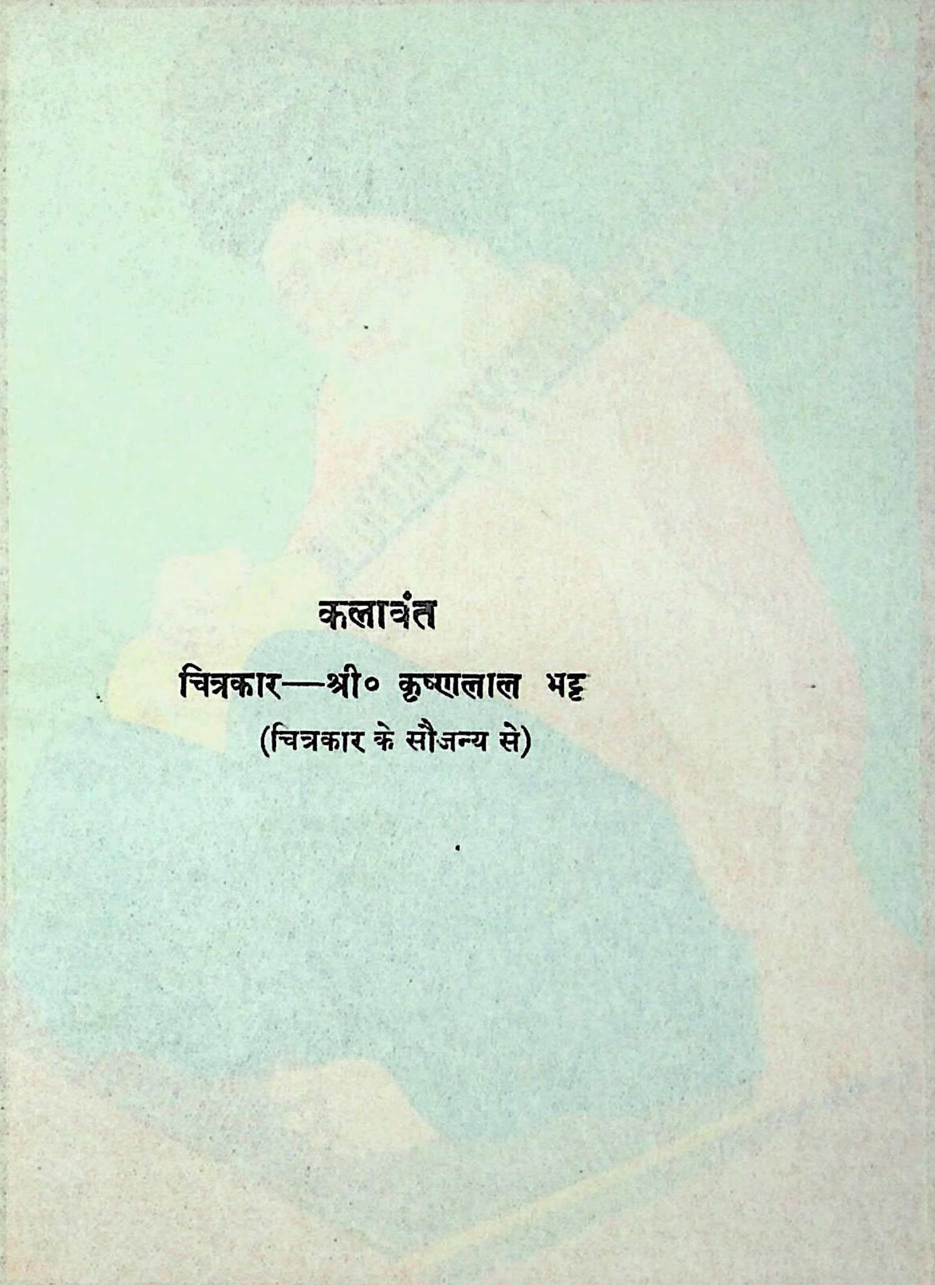

कलावंत

चित्रकार—श्री० कृष्णलाल भट्ट

(चित्रकार के सौजन्य से)

works translated from Oriental languages—the picture of a life and ideas utterly different from what one sees in Europe. The presence of this exoticism in works translated from the Oriental languages often seems to be the only criterion of estimate.

The existence of this prejudice is to be explained by the fact that the knowledge of Oriental literatures is very poor even among the most educated class of readers, excluding a narrow circle of specialists.

At a first glance it may appear that Indian literatures are in this respect in a more favourable position than the other Oriental literatures. And, indeed, the knowledge of Sanskrit literature has a tradition of long standing. Because of the connection of Sanskrit with Comparative Philology, its knowledge was spread much wider than that of other Oriental languages, and therefore the most important works of Sanskrit literature, especially its epos, the dramas and poems of Kalidasa, the works of Dandin and a number of other writers are known in Europe and also in Russia either in complete translations or in extracts or else in summaries of the content. It seems that this fact should considerably facilitate the perception and understanding of the works of new Indian literatures in general, and those of Hindi in particular.

Although it may appear paradoxical we hold it for very probable that a superficial acquaintance of the readers with old Indian literature combined with a next to complete ignorance of the subsequent literary tradition hampers the understanding of literary works in Hindi and other new Indian languages. This is due to the fact that on the basis of their acquaintance with Sanskrit literature readers have formed an idea of a "standard of the true Indian"—a notion of a specific circle of ideas, interests and forms.

Such notions evolved owing to a complete ignorance on the part of the European reader as to the subsequent literary traditions of India, considerably hamper his apprehension of the social value of the works of contemporary Indian writers who, in modern literary forms reflect modern life with all its complex cultural, social and political situation. For the common European reader, and for the Russian reader in particular, new Indian works often appear to possess little originality because of their being less exotic than the works of the old Indian literature, the "Ramayana"

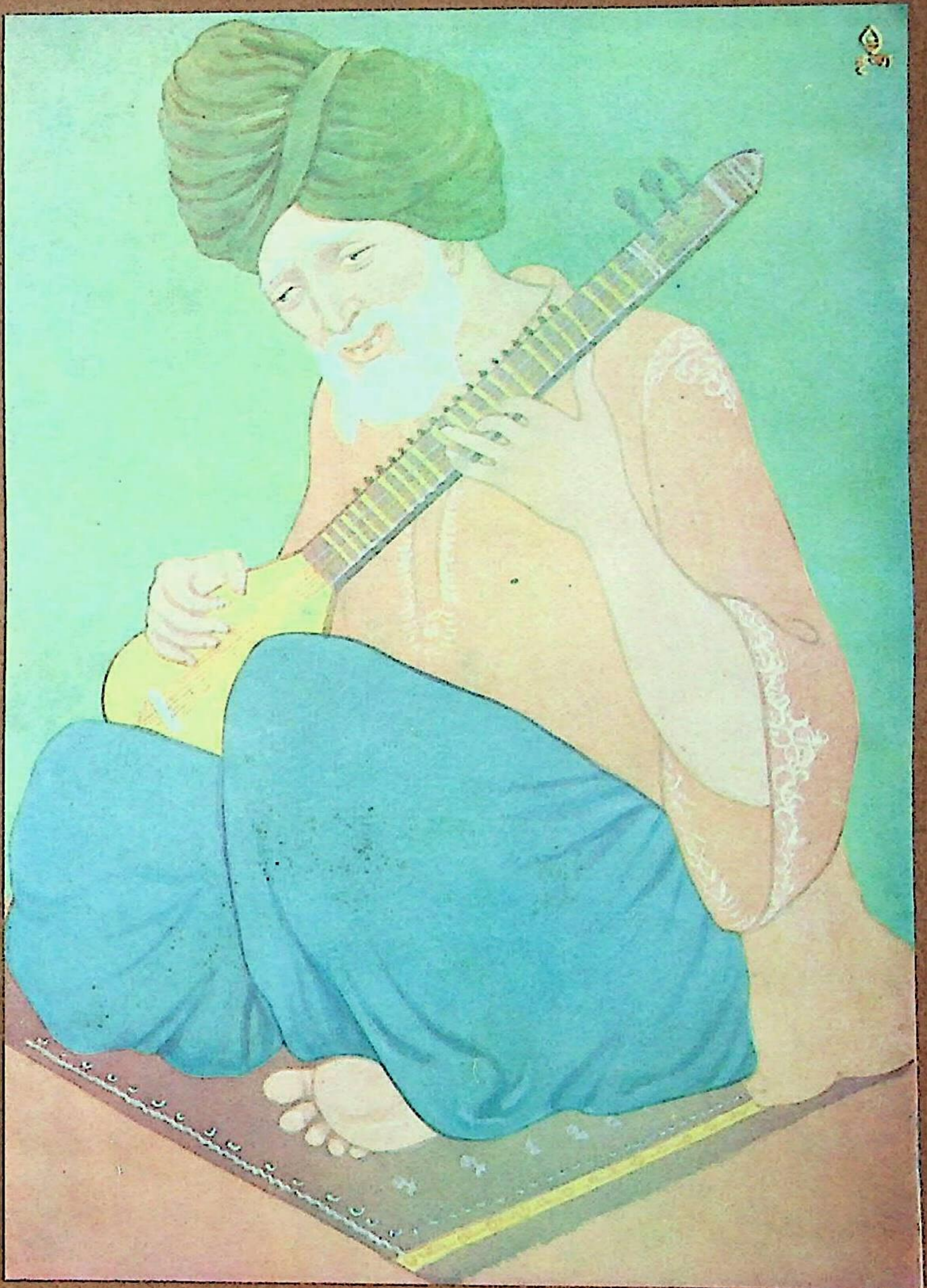

by Tulsi Das or the poems by R. Tagore. This is how the European, and in particular the Russian, reader draws comparisons between utterly different works, belonging to different epochs, distant in their ideas and purpose. This can be explained by an inadequate knowledge of Indian literary traditions.

If one considers Russia separately one may say that before the beginning of the 20th century the New-Indian languages and their literature were hardly studied there at all. In the beginning of the 20th century appeared a few Urdu grammars very imperfect in their form, but still giving some notion of the language. The New Indian literatures remained nearly unknown to the Russian public until R. Tagore was awarded the Nobel prize. After this event translations of his works into Russian have kept appearing for twenty years. The greatest popularity was enjoyed—in pre-revolutionary Russia, as well as in Europe, by the poems of R. Tagore where the reader besides the perfection of literary form found the traditional exotic atmosphere so attractive to some circles seeking for an element of romanticism and mysticism in poetry. From the works of other Bengal authors the writings of Bankim Chandra Chatterji have also been translated.

After the revolution the study of Oriental languages—the numerous languages of the Soviet East as well as those of the foreign East—is being cultivated on a large scale. Besides the old centres of Oriental studies as Leningrad, Moscow, Tashkent, Tiflis etc., there were created the new centres of Orientology as Kharkov, Kiev etc. The study of Hindi, Urdu, Bengali, and other Indo-Aryan languages has been introduced in many high schools in Leningrad, Moscow, Kharkov, and in other towns, and has been followed by the publishing of school-books and texts.

A number of works of Hindi and Urdu literature are being translated into the principal languages of Soviet Union—Russian and Ukrainian. Besides the works of other authors those of Prem Chand's which are the most popular in India are also translated. The comments of the readers of these translations show that in spite of the great interest aroused by these writings they seem to the reader less novel and less original than the works of old literature or the poems of R. Tagore which by the ideas expressed in them belong to the old literary tradition.

Thus we observe two opposite appreciations of the same work. Whereas in India itself the works of the new Hindi literature, especially if regarded through the prism of Indian literary tradition, appear to be highly original in form as well as in subject-matter, in Europe and particularly in Russia, people widely acquainted with the works of the world literature have the reverse impression.

Part of the blame is certainly to be laid at the door of the translators who do not always manage to find in their mothertongue an outward form corresponding to that of the original. But, beyond all doubt, the reason for perception and impression of this kind is not to be explained by this purely outward imperfection of form alone. It lies much deeper.

Indeed, as regards form, the European reader has long been acquainted with such forms as the tale, the short story, and the novel. While in Indian literature these forms have begun to be cultivated not long ago and therefore appear to be very new and original.

The social elements, the fine psychologism of the new authors, their ideas, thematics, the subtly psychological development of the theme and the drawing out of characters are likewise a great novelty for Indian literary traditions. All these were unknown to the old literature which gave samples of a clear cut sculptural form and single translucid images needing no nice psychological analysis.

The impression of the European and particularly of the Russian reader will, to a great extent, be different. The works of old masters and the lyrics of R. Tagore represent the acme of old literary tradition; they are capable of fusing and blending with this tradition which, notwithstanding its seeming vagueness, has assumed a finished and clear-cut form, and appear most unusual and original to the European mind; they attract by their peculiar exotic character. The novels and short stories by modern authors, especially the writings of such a master of the word as Prem Chand present literary forms long known and cultivated in Europe and, after the deeply psychological novels by Dostoyevsky, L. Tolstoy and the social problems found in the works of Chekhov, M. Gorky and other eminent European authors, do not create in Russia an impression of novelty and originality.

It is interesting to point out that not only the writings of authors of New-Indian literature, but also those of other modern Oriental literatures as Chinese, Japanese, Turkish and others are in a similar position.

Such a perception in Europe of the literary facts of modern Hindi and other Indian literatures is to be explained by reasons of twofold nature. The European reader, though theoretically acquainted with the levelling influence of modern capitalistic culture and technics, does not take this influence sufficiently into consideration when he sees it reflected in the form, ideas, images and content of modern Oriental literatures.

As the transition of Eastern countries from ancient culture to a capitalistic form of culture takes place under the influence of Europe, which has stridden far ahead in this respect, the reflection of these cultural stages long since outgrown by Europe is unable to produce in that country an impression of absolute novelty and originality.

For the European reader the great attraction of all the works of modern Indian literature, as well as of those of other Oriental literatures, resides in the representation of local situation—that peculiar, specific form in which new ideas are transmitted in the complex and original atmosphere of a country which has a brilliant tradition in the evolution of thought.

If the cultural stages depicted in the writings of contemporary Indian writers had been outlived by European readers long before the advent of the works, the translations of which appear in Europe at present, there could have been created some perspective which would allow a proper appreciation of the translated works. But the social and psychological moments, the situations and ideas reflected in them are still so fresh in a European setting that the necessary perspective is wanting. This explains, to my mind, why the European reader under-estimates the writings of contemporary authors of Hindi and other Indian literatures.

This under-estimation of the significance of modern literature should be fought against. The principal method for fighting it is to make the readers as widely as possible acquainted with the history of the development of Indian literatures in general, and of the history of Hindi literature in particular, for only by apprehending a literary phenomenon through the prism of the historical tradition to which it belongs, can one thoroughly understand and appreciate its social importance. The brilliant past of Hindi literature will, without doubt, secure for it the attention of the European reader which belongs to it by right. The light of this most rich and complex tradition will throw into strong relief the original traits and the intrinsic value of the works of modern Hindi literature.

Until recently this task, i.e., the problem of the acquaintance of the European reader with the ways of development of Hindi literature was extremely difficult owing to unavailability of sources and to the absence of general literary surveys. At the present moment, thanks to the activity of the highly esteemed Acharya Mahavira Prasad Dvivedi, Nagari Pracharini Sabha and kindred associations who in a short time have managed to greatly promote the study of the rich and extremely intricate traditions of the Hindi language and literature, this task has been alleviated, and we hope that soon, not only the specialist but also wide ranges of European readers will fully appreciate and include in their stock of cultural possessions the lofty spiritual values in which Hindi literature abounds.

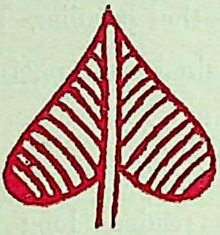

सुधि

हँसती आती हौले-हौले
पोंछ-पोंछ आँसू समझाती,
दुःख भुलाती, उर दुलराती;
हँसती, रोती, गीत सिखाती,
प्रियतम के लिखवाती पाती।
आती री जब हौले-हौले !
सोते - जगते, साँझ - सबेरे,
करती सुधि मानस के फेरे;
छाया-जग में नित्य घुमाती,
बहन सहोदरि-सी बहलाती।
आती री जब हौले-हौले !

नरेंद्र

कौटल्य का भूगोल-ज्ञान

श्री गोपाल दामोदर तामस्कर, एम० ए०

भूगोल का ज्ञान सबको, सब काल में, न्यूनाधिक परिमाण में, आवश्यक रहा है। इसी लिये प्राचीन ग्रंथों से तत्कालीन भूगोल-ज्ञान के परिमाण का पता बहुत-कुछ चल जाता है। कौटल्य के 'अर्थशास्त्र' से उसके भूगोल-ज्ञान का कुछ अनुमान हम कर सकते हैं। नवें अधिकरण में वह कहता है—"देशः पृथिवी। तस्यां हिमवत्समुद्रांतरमुदीचीनं योजनसहस्रपरिमाणं तिर्यक्चक्रवर्त्तिक्षेत्रं तत्रारण्यो ग्राम्यः पार्वत औदको भौमः समो विषम इति विशेषाः।—अर्थात् पृथिवी का ही नाम 'देश' है। पृथ्वी पर हिमालय से दक्षिण समुद्र-पर्यंत, अर्थात् उत्तर-दक्षिण में हिमालय और समुद्र के बीच का, तथा एक हजार योजन तिरछा—अर्थात् पूर्व-पश्चिम की ओर एक हजार योजन विस्तारवाला—पूर्व-पश्चिम समुद्र की सीमा से युक्त देश, 'चक्रवर्त्तिक्षेत्र' कहलाता है।" तात्पर्य यह कि 'इतने क्षेत्र पर शासन करनेवाला राजा चक्रवर्त्ती होता है। उस चक्रवर्त्ती क्षेत्र में जंगल, आबादी, पहाड़ी भाग, जल-भाग, स्थलप्राय, समतल तथा ऊबड़-खाबड़ भाग विशेष हैं।' इस उद्धरण में 'देश' का वह अर्थ नहीं जो आज भूगोल-शास्त्र में प्रचलित है। कौटल्य ने 'देश' शब्द का उपयोग उस पारिभाषिक अर्थ में किया है जिसमें वह दार्शनिक ग्रंथों में प्रयुक्त होता है—उसका अर्थ स्थान (space) है। इसलिये कौटल्य के मत्थे कोई यह दोष न मढ़े कि हिंदुस्तान के बाहर का ज्ञान उसे न था। अन्य उल्लेखों से यह स्पष्ट मालूम होता है कि उसे भारतवर्ष के बाहर के देशों और समुद्रों का थोड़ा-बहुत ज्ञान अवश्य था, और ऊपर के उद्धरण से भी यह बात स्पष्ट है। एक बात और भी स्पष्ट है कि उस समय के लोग भारतवर्ष की भौगोलिक सीमाओं को जानते थे और उसे एक क्षेत्र—या आज-कल की भाषा में एक देश—मानते थे। हाँ, यह स्पष्ट नहीं है कि सारे क्षेत्र का कोई नाम भी उस समय प्रचलित था या नहीं। संभव यही जान पड़ता है कि ऐसा कोई नाम प्रचलित नहीं था। तथापि इस सारे क्षेत्र के विषय में आज-कल के देश की कल्पना प्रचलित थी और मोटे तौर पर उसकी लंबाई-चौड़ाई तथा सीमाएँ उस समय पढ़े-लिखे या भ्रमणशील लोगों को ज्ञात थां। यही नहीं, किंतु देश की भू-रचना का भी थोड़ा-बहुत ज्ञान था। पूर्वोल्लिखित उद्धरण के 'जंगल, आबादी, पहाड़ी भाग, जल-भाग,

स्थलप्राय, समतल तथा ऊबड़-खाबड़' शब्दों से यह बात प्रकट होती है। इसी प्रकार अच्छे-बुरे हाथियों के संबंध में कौटल्य ने लिखा है—"कलिंग और अंग देश के हाथी तथा पूर्व के करूश देश के हाथी श्रेष्ठ होते हैं। दशार्ण और अपरांत देश के हाथी मध्यम कोटि के होते हैं। सौराष्ट्र और पंचजन देश के हाथी अधम माने जाते हैं।" इनमें 'कलिंग' और 'अंग' से साधारण विद्यार्थी भी परिचित हैं। नर्मदा के ठीक उत्तर की ओर का 'दशार्ण' देश इतिहास में कई स्थलों पर आया है। 'महाभारत'-जैसे अति प्राचीन ग्रंथों में और कालिदास के 'मेघदूत'-जैसे प्रसिद्ध ग्रंथों में भी दशार्ण और उसकी राजधानी 'विदिशा' का उल्लेख है। 'अपरांत' का भी उल्लेख प्राचीन इतिहास-ग्रंथों में है। 'महाभारत' में भी है। श्रीचिंतामणि विनायक वैद्य महोदय के मतानुसार 'अपरांत' (या 'अपरांतक') सह्याद्रि के पश्चिम ओर, गोदावरी और कृष्णा नदियों के उद्गमों के समानांतर, था। उसके उत्तर में ताप्ती से नीचे 'परांत' देश था जो आज-कल का 'गुजरात' है। 'अपरांतक' का मुख्य नगर 'सोपारा' (शूर्पारक) था। मोटे तौर पर आज-कल के बंबई नगर के आसपास का प्रदेश 'अपरांत' में शामिल था। यह सब जानते हैं कि 'सौराष्ट्र' आज-कल का काठियावाड़ है। 'पंचजन' का पता लगाना कठिन है। ऐसा जान पड़ता है कि यह देश महाभारत-कालीन नहीं था। उक्त वैद्य महोदय ने इसका उल्लेख महाभारत की अपनी आलोचना में नहीं किया है।

कौटल्य ने अपने समय के जनसंघों का भी उल्लेख किया है। वह लिखता है—"काम्बोज-सुराष्ट्रक्षत्रियश्रेण्यादयो वार्त्ताशस्त्रोपजीविनः। लिच्छिविक-व्रजिक-मल्लक-मद्रक-कुकुर-कुरु-पाञ्चालादयो राजशब्दोपजीविनः।—अर्थात् कांबोज और सुराष्ट्र देश की क्षत्रिय आदि श्रेणियाँ, वार्त्ता (कृषि-व्यापार आदि) और शस्त्र द्वारा, अपनी जीविका चलाती हैं। लिच्छविक, व्रजिक, मल्लक, मद्रक, कुकुर, कुरु, पांचाल आदि जातियों के लोग अपने को राजा कहते हैं।" इनमें से बहुतेरे नाम यथेष्ट पुराने हैं और महाभारत में आए हैं। 'कांबोज' वर्त्तमान काबुल के आसपास का प्रदेश है। 'सुराष्ट्र' का उल्लेख ऊपर आ चुका है। 'लिच्छिविक' और 'व्रजिक' नामक क्षत्रिय-जातियाँ पाटलिपुत्र (वर्त्तमान 'पटना') के उत्तर की ओर रहा करती थीं। लिच्छवि क्षत्रियों की राजधानी 'वैशाली' थी। इसके खँड़हर वर्त्तमान 'बसाढ़' गाँव (उत्तर-बिहार के मुजफ्फरपुर जिले) में हैं। 'मल्लक' कहाँ रहते थे, इसका ठीक पता बताना कठिन है। महाभारत में मल्ल लोगों का उल्लेख है। उससे यह अनुमान होता है कि वे गंगस्थली में कहीं रहते थे। परंतु कहीं-कहीं इस नाम से मिलते-जुलते नामों का उल्लेख पंजाब और सिंध के भागों में भी देख पड़ता है। 'मद्रक' और 'कुकुर' जातियाँ पंजाब के मध्य-भाग में रहती थीं। "मद्रक देश का पंजाबी भाषा का अपभ्रंश नाम आज-कल 'माझा' है।" 'कुरु' देश वर्त्तमान अंबाला, करनाल आदि जिलों का भाग है। पांचालों के दो भाग थे—एक उत्तर-पांचाल, दूसरा दक्षिण-पांचाल। उत्तर-पांचालों की राजधानी 'अहिछत्रपुरी' थी। यह आज-कल के संयुक्त-प्रदेश के 'रामपुर' के पास थी। दक्षिण-पांचालों की राजधानी 'कांपिल्य' थी। यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि श्री वैद्य महोदय के मतानुसार 'कुरु-पांचाल' एक ही देश का नाम है और इसकी राजधानी 'हस्तिनापुर' थी। यह नगर वर्त्तमान दिल्ली के पूर्व की ओर गंगा के दाहिने किनारे पर बसा था।

देश-भेद के अनुसार कौटल्य ने सोने के भेद भी बताए हैं। यथा—"जाम्बूनदं शातकुम्भं हाटकं वैणवं शृङ्गशुक्तिजं।—अर्थात् जांबूनद (जंबू-नदी से उत्पन्न होनेवाला), शातकुंभ (शतकुंभ नामक पर्वत में उत्पन्न होनेवाला), हाटक (हाटक नामक सोने की खान से उत्पन्न होनेवाला), वैणव (वेणु पर्वत पर उत्पन्न होनेवाला) और शृंगशुक्तिज[1]।" वर्त्तमान पहाड़ों और नदियों से उपर्युक्त नामों के स्थानों का मेल मिलाना कठिन है। इसलिये इन नामों के उल्लेख से कोई विशेष लाभ नहीं होता। इसी प्रकार चाँदी के भेद बताए हैं—"तुत्थोगतं गौडिकं काम्बुकं चाक्रवालिकं—तुत्थोगत (तुत्थ पर्वत में होनेवाली), गौडिक (गौड देश में होनोवाली), कांबुक (कंबु पर्वत में होनेवाली) और चाकवालिक (चक्रवाल पर्वत में होनेवाली)।" इनमें से केवल एक नाम (गौड़ ?) को छोड़कर शेष नामों का स्थान निश्चित करना कठिन है। फिर चंदनों के प्रकार बतलाते समय भी उत्पत्तिस्थानों का उल्लेख किया है—"सातन-प्रदेश में उत्पन्न होनेवाला चंदन लाल रंग का होता है तथा उसमें भूमि-(मिट्टी)-जैसी (सोंधी) गंध आती है। गोशीर्ष-प्रदेश में होनेवाला चंदन काला-लाल (श्यामारुण) और मछली के रंग का होता है। हरिचंदन (हरि नामक प्रदेश में होनेवाला) तोते के पंख के रंग का होता है तथा उसमें आम की-सी गंध होती है। तृणसा नामक नदी के किनारे होनेवाला चंदन भी हरिचंदन के समान ही होता है। ग्रामेरु-प्रदेश में होनेवालाचंदन लाल रंग अथवा लाल-काले (श्यामारुण) रंग तथा बकरे के पेशाब के रंग का होता है। देवसभा नामक स्थान में होनेवाला चंदन भी लाल रंग का होता है, उसमें पद्म की-सी गंध होती है। जावक प्रदेश में उत्पन्न होनेवाला चंदन 'दैवसभेय' के समान ही होता है। जोंग देश में होनेवाला चंदन लाल या लाल-काले रंग का होता है।........कारू-पर्वत में होनेवाला चंदन रूक्ष अगुरू के समान काला या लाल या लाल-काले रंग का होता है। कोशकार-पर्वत में होनेवाला चंदन काला या चितकबरा होता है। शीतोदक-प्रदेश में होनेवाला चंदन पद्म के रंग का अथवा काला और स्निग्ध होता है। नाग-पर्वत में होनेवाला चंदन रूक्ष तथा सिरवाल के रंग का होता है। शाकल देश में होनेवाला चंदन कपिल रंग का होता है।" इन नामों में 'शाकल' वर्त्तमान 'सियालकोट (पंजाब)' है। अन्य नामों का स्थान निश्चित करना कठिन है। अगुरू के वर्णन में 'जोंगक' और 'दोंगक' नाम आए हैं। संभवतः ये आसाम-भाग में थे। भद्रश्रीय चंदन के दो प्रकार बताए हैं—"पारलौहित्य और आंतरवत्य।" इसमें 'पारलौहित्य' तो लौहित्या (ब्रह्मपुत्रा) नदी के पार का था, और 'आंतरवत्य' अंतरवती नदी के किनारे होता था, जिसका स्थान ज्ञात नहीं है। इसी तरह रत्नों के अनेक उत्पत्तिस्थान भी अब अज्ञात हैं। कौटल्य ने मोती के उत्पत्ति-स्थान दस बताए हैं—"ताम्रपर्णिक (ताम्रपर्णी नदी में होनेवाला), पांड्यकवाटक (मलयकोटि नामक पहाड़ पर उत्पन्न होनेवाला), पाशिवन्य (पाटलिपुत्र के समीप की पाशिका नदी में होनेवाला), कौलेय (सिंहलद्वीप की कुला नदी में होनेवाला), चौर्णेय (केरल देश के मुरचि नामक नगर के समीप चूर्णी नदी में होनेवाला), माहेंद्र (महेंद्र पहाड़ के पास समुद्र में उत्पन्न होनेवाला), कार्दमिक (फारस की कर्दमा नामक नदी में होनेवाला), स्रौतसीय (बर्बर के किनारे स्रोतसी नामक नदी में होनेवाला),

---

[1] इस शब्द के अर्थ के संबंध में मतभेद है।

हादीय (बर्बर के किनारे समुद्र के पास लगे हुए श्रीघंट नामक झील में उत्पन्न होनेवाला), हैमवत (हिमालय पहाड़ पर होनेवाला)।" इनमें ताम्रपर्णी का स्थान सबको मालूम ही है। पांडकवाटक अथवा मलयकोट का स्थान निश्चित नहीं किया जा सकता। कदाचित् मलयगिरि का यह दूसरा नाम हो। पाशिका नदी कौन-सी है, यह भी अज्ञात है। चूर्णी कोई बड़ी नदी नहीं जान पड़ती। महेंद्र पर्वत संभवतः वर्त्तमान बस्तर-राज्य (मध्यप्रदेश) में था। कर्दमा के वर्त्तमान नाम का पता नहीं। श्रीघंट झील का भी कुछ पता नहीं है। जो हो, 'मणि' भी उत्पत्तिस्थानों के अनुसार तीन प्रकार की होती है—कौट, मौलेयक और पारसमुद्रक। इनमें अंतिम से कोई विशेष भूगोल-ज्ञान नहीं प्रतीत होता; क्योंकि समुद्र के पार (उदाहरणार्थ, सिंहलद्वीप आदि स्थानों में) होनेवाली सभी मणियों को 'पारसमुद्रक' कह सकते हैं। 'कोट' और 'मुलेय' संभवतः पर्वत हैं। श्रीमान् उदयवीर शास्त्री ने, न जाने किस आधार पर, अपने अनुवाद में बतलाया है कि 'मलयसागर के समीप कोटि नामक स्थान है और मलय देश के हिस्से में कर्णावत नामक पर्वतमाला है जहाँ पर होनेवाली मणि मौलेयक कहलाती है।' परंतु बिना विशेष आधार के शास्त्री जी का कथन मान्य होना कठिन है। 'कोटि' का रूप 'कौट्य' होगा, 'कौट' नहीं। क्या 'कर्णावत' का दूसरा नाम 'मुलेय' है? शास्त्री जी ने कुछ स्पष्ट बताया नहीं है। फिर उत्पत्ति-स्थान के अनुसार हीरों के भी छः भेद कौटल्य ने बताए हैं—"सभाराष्ट्रक-मध्यमराष्ट्रक-काश्मीरराष्ट्रकं[1] श्रीकटनकं मणिमन्तकमिंद्रवानकं च वज्रम्—सभाराष्ट्र में होनेवाला, मध्यमराष्ट्र में होनेवाला, काश्मीर (अथवा पाठभेद के अनुसार कांतीर या काश्मक) राष्ट्र में होनेवाला, श्रीकटन में होनेवाला, मणिमंत में होनेवाला, और इंद्रवन में होनेवाला।" उक्त शास्त्री जी ने सभाराष्ट्र को विदर्भ या वर्त्तमान बरार, मध्यमराष्ट्र को कोसल, श्रीकटन को एक पर्वत, मणिमंत को उत्तर का एक पर्वत और इंद्रवन को कलिंग बताया है। इस कथन के आधार हमें ज्ञात नहीं। मध्यमराष्ट्र का अर्थ 'कोसल' करते समय इतना अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि यह दक्षिण-कोसल ही हो सकता है; क्योंकि उत्तर-कोसल की भूमि आधुनिक और काँप की बनी है, इसलिये उसमें हीरे नहीं मिल सकते। सभाराष्ट्र का अर्थ बरार, मध्यमराष्ट्र का अर्थ दक्षिण-कोसल और इंद्रवन का अर्थ कलिंग करने से इन शब्दों का निश्चित ज्ञान होता है। पर श्रीकटन और मणिमंत के स्थान निश्चयपूर्वक ज्ञात नहीं हैं। इसी प्रकार यदि ऊपर दिए हुए पाठभेद माने जायँ तो उनसे भी कोई निश्चित ज्ञान नहीं होता। यह भी बतला देना आवश्यक है कि अर्वाचीन काल में 'गोलकुंडा' और 'पन्ना' नामक स्थान हीरे के लिये विशेष प्रसिद्ध रहे। 'पन्ना' का समावेश 'मध्यमराष्ट्र' में हो सकता है; पर 'गोलकुंडा' का समावेश कहीं होता नहीं जान पड़ता। क्या गोलकुंडा अपने हीरों के लिये नितांत आधुनिक काल में प्रसिद्ध हुआ? जो हो, उत्पत्ति-भेद के अनुसार मूँगों के भी दो भेद बताए हैं—एक 'आलकंदक' और दूसरा 'वैवर्णिक'—अलकंद में उत्पन्न आलकंदक और विवर्ण में होनेवाला वैवर्णिक। उक्त शास्त्री जी ने अलकंद को म्लेच्छ देशों में समुद्र के किनारे बताया है, पर म्लेच्छ देश कौन-सा है? विवर्ण को भी उन्होंने यूनान देश के समीप समुद्र का

---

[1] इसके दो पाठभेद हैं—एक 'कांतीरराष्ट्रकं' और दूसरा 'काश्मकराष्ट्रकं'।

एक भाग बताया है। इस पर हमारा यह कहना है कि जहाँ समुद्र उथला नहीं है और तापक्रम सत्तर अंश (फैरन-हीट) से कम रहता है, वहाँ मूँगे नहीं हो सकते। इसलिये विवर्ण को 'यूनान के पास के समुद्र का एक भाग' बताना भ्रमात्मक जान पड़ता है। आज-कल मूँगे ३०° उत्तर अक्षांश और ३०° दक्षिण अक्षांश के भीतर पाए जाते हैं।

कौटल्य ने घोड़ों के भेद ये बताए हैं—"प्रयोग्यानुत्तमाः काम्बोजकसैंधवारट्टजवनायुजाः। मध्यमा बाह्लीकपापेयकसौवीरकतैतलाः। शेषाः प्रत्यावराः।—"विशेष चाल आदि सीखे हुए संग्राम-योग्य घोड़ों में कांबोजक (काबुल में उत्पन्न हुए), सैंधव (सिंधु देश में उत्पन्न हुए), आरट्टज (आरट्ट देश में उत्पन्न हुए) तथा वनायुज (वनायु देश में उत्पन्न हुए) घोड़े उत्तम होते हैं। बाह्लीक (बल्ख देश के), पापेयक (पापेय देश के) और सौवीरक ('सुवीर' अर्थात् राजपूताने के) घोड़े मध्यम होते हैं। अन्य देशों के घोड़े अधम होते हैं।" काबुल के घोड़े आज भी हिंदुस्तान में प्रसिद्ध हैं। आरट्ट के संबंध में उक्त शास्त्री जी यह लिखते हैं कि 'यह पंजाब के एक अवांतर प्रदेश का नाम है, ऐसा टी० आ० कृष्णाचार्य ने महाभारत में आए हुए मुख्य नामों की सूची में लिखा है।' किंतु हमारा विचार है कि 'आरट्ट' देश वर्त्तमान काठियावाड़ होना चाहिए। शास्त्री जी के उक्त कथन के पक्ष में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि आधुनिक काल में काठियावाड़ घोड़ों के लिये बहुत प्रसिद्ध रहा है। वनायु को शास्त्री जी ने अरब बताया है और कहा है कि इस नाम का उल्लेख महाभारत में कई जगह पर है। अरब देश के घोड़े प्रसिद्ध हैं सही; पर प्रश्न यह है कि क्या उस प्राचीन काल में स्थल-मार्ग से अरब के घोड़े यहाँ आ सकते थे! फिर यह भी स्मरण रखना चाहिए कि पूर्वोक्त वैद्य महोदय ने 'वनायु' को उत्तर-भारत का देश बताया है। महाभारत में दो बाह्लीकों के उल्लेख हैं। वैद्य महोदय ने महाभारत-काल का जो नक़्शा दिया है उसमें बाह्लीक को सतलज और व्यास नदियों के बीच और फिर आधुनिक 'बल्ख' के स्थान में बताया है। इस दूसरे स्थान का उल्लेख शास्त्री जी ने कहीं नहीं किया; प्रत्युत महाभारत का एक श्लोक[1] उद्धृत कर यह बताया है कि 'सतलज, व्यास, रावी, झेलम, चिनाब और सिंधु नामक छः नदियों के बीच में जो देश हैं, उन्हीं का नाम 'बाह्लीक' है—ये देश धर्म-बाह्य और अशुचि होने के कारण वर्ज्य हैं।' अर्थात् आपके कथनानुसार आज-कल का सारा पंजाब ही बाह्लीक देश था और वह महाभारत-काल में धर्म-बाह्य और वर्ज्य था! शास्त्री जी का अर्थ मानना बड़ा कठिन है; क्योंकि इसी के भाग वैदिक काल में अत्यंत पवित्र माने जाते थे। थोड़े ही काल के बाद ये कैसे अपवित्र हो गए, यह समझ में नहीं आता! उस समय मुसलमानों की बस्तियाँ नहीं थीं जो पंजाब अपवित्र माना जाता। हाँ, 'बल्ख' के आस-पास के भाग में अधिकतर आ बसे हों, इस कारण कदाचित् वह वर्ज्य रहा हो। 'अंतराश्रिताः' का अर्थ करने में अवश्य कुछ कठिनाई है। 'आरट्ट' और 'पापेय' कौन-से भाग हैं, यह स्पष्ट नहीं। पुनः स्थलपथ के वर्णन के संबंध में हिमालय का कुछ भौगोलिक वर्णन आया है। उपर्युक्त टी० आर० कृष्णाचार्य का मत है कि 'स्थलमार्ग में भी दक्षिण-दिशा के मार्ग की

---

[1] पञ्चानां सिन्धुषष्ठानां नदीनां येऽन्तराश्रिताः। तान्धर्मबाह्यानशुचीन् बाह्लीकानपि वर्जयेत् ॥

अपेक्षा उत्तर का मार्ग श्रेष्ठ है; क्योंकि इस ओर हाथी, घोड़े, गंध, दंत, चर्म, चाँदी, सोना आदि बहुमूल्य वस्तुएँ बहुतायत से मिलती हैं।' परंतु कौटल्य इसे नहीं मानता। वह कहता है कि कंबल, चर्म, घोड़े आदि विक्रेय पदार्थों को छोड़कर शेष सब वस्तुएँ (हाथी आदि)—तथा शंख, हीरा, मोती, सुवर्ण आदि अनेक विक्रेय वस्तुएँ—उत्तर की अपेक्षा दक्षिण में ही अधिक होती हैं; (इसलिये दक्षिण-मार्ग ही श्रेयस्कर है)। 'आचार्य' के मत की अपेक्षा कौटल्य का मत ही विशेष ग्राह्य जान पड़ता है; क्योंकि उसमें भौगोलिक तथ्य विशेष देख पड़ता है। इसी प्रकार, किन देशों में कितनी वर्षा अच्छी फसल के लिये पर्याप्त है, यह बताते समय कौटल्य ने कहा है कि "अश्मक देश में साढ़े तेरह द्रोण, मालवा-प्रांत में तेईस द्रोण, अपरांत में अपरिमित, हिमालय तथा नहरवाले भागों में समय-समय पर उचित वर्षा होने से ठीक फसल हो सकती है।" इससे यह ज्ञात होता है, कौटल्य को यह मालूम था कि भारतवर्ष के किस भाग में कितनी वर्षा होती है। उसे यह भी ज्ञात था कि कहाँ-कहाँ कौन-कौन-सी फसल उपजती है। उस काल में भी भारतवर्ष में वर्षा-मापक यंत्र था, यह तो स्पष्ट विदित होता है। 'अपरांत' का अर्थ उक्त शास्त्री जी ने 'राजपूताना' किया है; पर ऊपर हम बतला चुके हैं कि 'अपरांत' प्राचीन काल में बंबई के आस-पास, अर्थात् 'कोंकण' का उत्तरी भाग, था। यही बात ठीक भी जान पड़ती है; क्योंकि राजपूताने में वर्षा बहुत कम होती है और कोंकण में बहुत अधिक।

इन वर्णनों से यह स्पष्ट है कि कौटल्य का भौगोलिक ज्ञान यथेष्ट था। वह जानता था कि भारतवर्ष में कहाँ-कहाँ कौन-कौन-सी चीजें पैदा होती और बनती हैं। 'अर्थशास्त्र' में विशेष भौगोलिक वर्णन आने का कोई कारण नहीं। प्रसंगवश यत्र-तत्र थोड़े-से उल्लेख आए हैं। उतने ही से यह स्पष्ट है कि कौटल्य का ज्ञान इस विषय में भी कुछ कम न था, और यह ठीक भी है; कोई राजनीतिज्ञ—देश का सर्वांगीण ज्ञान रक्खे बिना—अपने कार्य में सफल नहीं हो सकता।

* * *

वाणी

(ऋग्वेद १०।७१।४ का अनुवाद)

एक लखता, लख पाता नहीं,
एक सुनता, सुन पाता नहीं;
एक को देती आपा खोल,
सजी जाया-सी वाणी रीझ।

कृष्णानंद

पद्मावत की कहानी और जायसी का अध्यात्मवाद

श्री पीतांबरदत्त बड़थ्वाल, एम० ए०, एल्-एल० बी०

'पद्मावत' की रचना मलिक मुहम्मद जायसी ने केवल कहानी की रोचकता के आग्रह से नहीं की। लोगों की कुतूहल-वृत्ति के तुष्टि की शायद उन्हें उतनी चिंता न होती। मनुष्य की एक कमजोरी समझकर उस पर वे दयापूर्ण दृष्टि से हँस देते। परंतु मनुष्य की इसी कमजोरी में उन्होंने उसकी सामर्थ्य का साधन देखा। उन्हें कुतूहल-वृत्ति के द्वारा जिज्ञासा-वृत्ति के उदय और उसके परिशांति की संभावना दिखाई दी। 'पद्मावत' की कहानी लिखने में उनका उद्देश्य उनकी इस आत्म-तोषोक्ति से प्रकट हो जाती है—"कहा मुहम्मद प्रेमकहानी, सुनि सो ज्ञानी भये धियानी।[१]" जिस गहन पारमात्मिक अनुभूति को वे अपने अंतस्तल की गहराई में निर्धन की निधि के समान छिपाए हुए थे उसी के बे-रोक वितरण के लिये इस रोचक कहानी से उन्होंने अवसर ढूँढ़ निकालना चाहा—" ता-तप साधहु एक पथ लागे, करहु सेव दिन रात सभागे; ओहि मन लावहु रहै न रूठा, छोड़हु झगरा यह जग झूठा।"[२] ऐसा कहकर जिस अव्यय तत्त्व का उपदेश उन्होंने 'अखरावट' में प्रकट रूप से किया है उसी को

---

[१] अखरावट, जायसी-ग्रंथावली, पृष्ठ ३६६

[२] जायसी-ग्रंथावली, पृष्ठ ३५०

उन्होंने 'पद्मावत' में एक रोचक और हृदयग्राही रूप में अन्योक्ति द्वारा कहने का प्रयत्न किया है। अपने इस उद्देश्य को उन्होंने छिपाया नहीं है। विनयशील जायसी ने—जिनकी विनयशीलता के कारण प्रत्येक व्यक्ति का मस्तक उनके सामने आदर से झुक जाता है—पंडितों के मुँह से इस प्रकार अपनी कहानी को अन्योक्ति कहला दिया है—

मैं एहि अरथ पंडितन्ह बूझा। कहा कि हम किछु और न सूझा॥
चौदह भुवन जे तर उपराहीं। ते सब मानुष के घट माहीं॥
तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल बुधि पदमिनि चीन्हा॥
गुरू सुआ जेइ पंथ दिखावा। बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा॥
नागमती यह दुनिया धंधा। बाँचा सोइ न एहि चित बंधा॥
राघवदूत सोइ सैतानू। माया अलाउदीन सुलतानू॥
प्रेमकथा एहि भाँति बिचारहु। बूझि लेहु जो बूझै पारहु॥—जा० ग्रं०, पृ० ३३२

जायसी का यह प्रयत्न कितना सयुक्तिक और स्तुत्य है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। टोकरियों उपदेशों द्वारा जो बात नहीं सुझाई जा सकती, वह कहानी द्वारा आसानी से हृदय में बिठा दी जा सकती है; क्योंकि कहानी हृदय पर असर करती है और उपदेश मस्तिष्क पर। खोपड़ी की सख्त हड्डियों से घिरे हुए मस्तिष्क पर कोई चिह्न आसानी से अंकित नहीं किया जा सकता, किंतु खून का कतरा हृदय चाहे जिस रूप में ढाल दिया जा सकता है। सूक्ष्म चिंतन हर किसी का काम नहीं; पर भावुकता की लहरों के साथ बह चलना मनुष्य का सहज स्वभाव है। इसी लिये मौलाना रूमी ने भी आध्यात्मिक प्रेम के प्रदर्शन के लिये अपनी मसनवी में कहानी का सहारा लिया है, और इसी से श्रीमद्भागवत आदि धार्मिक पुराणों की सृष्टि हुई है। परंतु सभी प्रयत्न सफल नहीं हो जाते। जायसी भी अपनी कहानी को अन्योक्ति का पूर्ण रूप देने में समर्थ हुए हों, ऐसी बात नहीं। अन्योक्ति (Allegory) का सूत्र कहानी को एक से दूसरे सिरे तक बेधता नहीं चला गया है। आध्यात्मिक और लौकिक दोनों पक्ष कहानी में सर्वत्र एकरस नहीं दिखाई देते। यह बात ठीक है कि इतनी लंबी-चौड़ी कहानी में, सूक्ष्म से सूक्ष्म विवरणों में भी, इस बात का निर्वाह नहीं हो सकता था। अन्योक्ति में बहुत सूक्ष्म विवरणों का ध्यान न रखना अविधेय भी नहीं है। परंतु यहाँ सूक्ष्म विवरणों का ही सवाल नहीं है। कहानी के अधिकांश को पढ़ता हुआ पाठक इस बात को भूल जाता है कि कहानी का कोई दूसरा लक्ष्य भी है। अतएव बड़ी दूर जाकर यदि उसे इस बात की सूचना मिलती भी है तो आकस्मिक आघात के रूप में, जिससे कथा के प्रवाह में बहता हुआ पाठक झुँझला उठता है और ऐसे बाधक प्रसंगों से बचकर आगे बढ़ जाना चाहता है। यह भी बात नहीं कि जहाँ-जहाँ आध्यात्मिक पक्ष की ओर संकेत हो वहाँ-वहाँ लौकिक पक्ष में भी जायसी की उक्ति ठीक-ठीक घट जाती हो। आध्यात्मिक और लौकिक, प्रस्तुत और अप्रस्तुत, इन दोनों में समत्व बनाए रखना जायसी के बूते का काम नहीं। आध्यात्मिक पक्ष को वे इतनी दूर ले पहुँचते हैं कि लौकिक पक्ष का उन्हें कुछ ध्यान रह ही नहीं जाता। ऐसी उक्तियों को लौकिक पक्ष में भी घटाना गहरी खींचातानी से संभव हो तो हो। "जौ लहि जिऔं राति दिन, सवरौं ओहि कर नाँव; मुख राता

तन हरिअर, दुहूँ जगत लेइ जावँ[1] ।"—रत्नसेन द्वारा कही गई पद्मावती (परमात्मा) के प्रति तोते की इस कृतज्ञतापूर्ण उक्ति के समान दोनों पक्षों में पूर्ण रूप से घट जानेवाली उक्तियाँ ग्रंथ में बहुत नहीं हैं। अधिकांश उक्तियाँ ऐसी ही हैं जिनमें पहले तो लौकिक पक्ष का भी कुछ संसर्ग रहता है, परंतु आगे चलकर उसका साथ छूटने लगता है। उदाहरण के लिये इस उक्ति को लीजिए—

> मिलतहु महे जनु अहौ निरारे। तुमसौं अहै अँदेस पियारे।
> मैं जानेउ तुम्ह मोही माहाँ। देखौं ताकि तौ हौ सब पाहाँ॥
> का रानी, का चेरी कोई। जा कहँ मया करहु भल सोई॥
> तुम्ह सौं कोइ न जीता, हारे बररुचि भोज।
> पहिले आपु जो खोवै, करै तुम्हार सो खोज॥—जा० ग्रं०, पृ० ४०

यह तोते के साथ नागमती के व्यवहार से रुष्ट राजा के मनाने का रानी की ओर से प्रयत्न है। वररुचि-जैसे विद्वान् और भोज-जैसे गुणज्ञ राजा भी परमात्मा का पता लगाते-लगाते हार गए, यह तो ठीक है; पर लौकिक पक्ष में इसका अर्थ कैसे बैठेगा? पति के संबंध में वररुचि और भोज का मेल कैसे बैठाया जायगा? बहुत खींचतान करके जो अर्थ लगाया जायगा, वह खींचतान होगी, अर्थ कदापि नहीं। कहानी के प्रसंग की ऐसी अवहेलना का परिणाम यह होता है कि जायसी की ये रहस्यमयी उक्तियाँ प्रबंध के बीच-बीच में बे-मेल पच्चड़ की तरह लगती हैं। इसके अतिरिक्त प्रतीक की एकरूपता का भी जायसी ने एकरस निर्वाह नहीं किया है। एक वस्तु को एक ही वस्तु का प्रतीक नहीं माना है। कहीं पर पद्मावती को चिद्रूप ब्रह्म माना है, कहीं रत्नसेन को। ऊपर दी हुई नागमती की उक्ति में रत्नसेन परमात्मा माना गया है और उसके लिये भेजे हुए पद्मावती के इस सँदेसे में भी—"आवहु स्वामि सुलच्छना जीउ बसै तुम्ह नाँव, नैनहि भीतर पंथ है हिरदय भीतर ठाँव।" (जा० ग्रं०, पृ० १०९) पर निम्नलिखित अवतरणों में पद्मावती ही परमात्मा मानी गई है—

> (१) दिष्टिबान तस मारेहु घायल भा तेहि ठाँव। दूसरि बात न बोलै लेइ पदमावति नाँव॥
> रौंव रौंव वै बान जो फूटे। सूतहि सूत रुहिर मुख छूटे...
> सूरज बूड़ि उठा होइ ताता। औ मजीठ टेसू बन राता॥—जा० ग्रं, पृ० १०६
>
> (२) हौं रानी पद्मावती सात सरग पर बास। हाथ चढ़ौं मैं तेहि के प्रथम करे अपनास[2]॥

नखशिख-खंड में भी, जिसका उद्देश्य रत्नसेन के हृदय में पद्मावती के प्रति प्रेम उत्पन्न करना है, पद्मावती ही परमात्मा का प्रतीक है। सचमुच अगर देखा जाय तो कहानी में आदि से अंत तक किसी एक तरतीब अथवा रीति की रक्षा नहीं की गई है। और, जहाँ-कहीं, चाहे जिस रूप जरा भी अवसर आध्यात्मिक संकेत के उपयुक्त मिला है, कवि ने उसे हाथ से जाने नहीं दिया है। इससे यद्यपि आध्यात्मिक व्यंजना के लिये कवि को अधिक अवसर मिल गए हैं तथापि प्रतीक की एकरूपता

---

[1] जायसी-ग्रंथावली, पृष्ठ ४१—ओहि = परमात्मा, पद्मावती। राता = यश (सुर्खरू), लाल। हरिअर = प्रसन्न, हरा।

[2] जा० ग्रं०, पृ० १०८

के अभाव से अन्योक्ति के सार्वत्रिक अधिकार में बाधा पड़ गई है। हाँ, यदि कहानी को समाप्त कर, अंत में उसके प्रमुख अंगों को ध्यान में रखकर, एक बार सिंहावलोकन करें तो अवश्य अन्योक्ति की कुछ सार्थकता दिखलाई देती है। जायसी ने अंत में अपनी कहानी का जो व्यंग्यार्थ खोला है वह तभी साधार माना जा सकता है जब सारी कहानी के मस्तिष्क पर पड़नेवाले केवल सामान्य संस्कार का विचार किया जाय। चित्तौड़-रूपी तन का मन (जीव) राजा है, जो जगद्व्यवहार-रूप नागमती की अवहेलना कर गुरु-सूए के दिखाए मार्ग का अनुसरण करता हुआ बोध-(ज्ञान)-स्वरूप परब्रह्म-पद्मावती का सायुज्य प्राप्त करता है। शैतान-राघवचेतन और माया-स्वरूप सुलतान अनेक प्रयत्न करके भी उसको इस सुख से वंचित नहीं रख सकते[1]। कहा जा सकता है कि असल में जहाँ समष्टि-रूप से पूरा व्यापार लेकर प्रस्तुत को छोड़ अप्रस्तुत-द्वारा उसका वर्णन किया जाय वहीं अन्योक्ति होती है, ऐसी दशा में सूक्ष्म विवरणों की ओर ध्यान जा ही नहीं सकता। यदि कहानी में आद्यंत प्रतीकों के एकरूपता की रक्षा की जाती तो यह कथन बहुत कुछ सारयुक्त होता। परंतु जायसी के इस अलंकार-विधान के विरुद्ध यही एक आपत्ति नहीं है। इससे बढ़कर आपत्तिजनक है उसका अनौचित्य। अन्योक्ति में यह अनौचित्य नागमती को 'दुनिया-धंधा' मानने से आया है। पद्मावती को प्राप्त करने में राजा के मार्ग में नागमती ने चाहे कितनी ही बाधाएँ क्यों न डाली हों—पद्मावती से वह कितनी ही कम सुंदरी क्यों न हो; परंतु पद्मावती के सामने उसकी उपमा अवहेलनीय 'जगद्-व्यवहार' से नहीं दी जा सकती। व्यावहारिक और पारमार्थिक सत्ता में जितना भेद है—जगद्बोध और चिद्बोध में जो अंतर है, वह नागमती और पद्मावती में कदापि नहीं। यदि नागमती केवल नागमती होती—उसके विषय में हम कुछ जानते, तो शायद यह बात इतनी न खटकती। परंतु जायसी की कहानी द्वारा हमें नागमती का जो रूप देखना नसीब हुआ है उसे देखते हुए नागमती को 'दुनिया-धंधा' कहना किसी शुष्क सिद्धांतवादी के लिये—अथवा जिसे केवल अन्योक्ति ही बैठाने का खयाल हो उसके लिये—भले हो आसान हो; किंतु जिस हृदयवान् को सहृदयता का जरा भी विचार होगा उसके लिये ऐसा कहना हृदय को दो-टूक कर देने के समान होगा। आश्चर्य इसी बात का है कि अन्योक्ति के फेर में पड़कर जायसी के सदृश सहृदय व्यक्ति का इस ओर ध्यान नहीं गया। जिस नागमती के हृदयद्रावक विरह-व्यथा के दर्द-भरे वर्णन के ही कारण हम जायसी के अपने लिये कथित 'जेहि के बोल बिरह के छाया' को चरितार्थ हुआ समझते हैं उसके दृढ़ प्रेम को यदि सतत-परिवर्त्तन-शील जगद्व्यवहार के समान अस्थिर मानें तो परमात्मा के विरह में दीवाना होनेवाले—भारतीय स्त्रियों से एकांत हृदय-समर्पण का पाठ पढ़नेवाले—जायसी-सरीखे भक्त महात्माओं का आदर्श ही तिरस्कृत हो जाता है। हिंदू स्त्रियों की जिस आदर्श पतिभक्ति ने 'खुसरो' से कहलाया था—"खुसरवा दर इश्कबाजी कमज हिंदू जन मबाश, कज बराए मुर्दा सोजद जिंदा-जाने-खेश रा—[हे खुसरो! प्रेम-पथ में हिंदू स्त्री से मत पिछड़, मुर्दा पति के साथ उस अपनी जिंदा जान को जला देनेवाली की बराबरी कर]" क्या नागमती उससे जरा भी पिछड़ी है? फिर क्यों उसका तिरस्कार किया जाय? लोकसंग्रह की भावनाओं पर इस तिरस्कार

---

[1] देखिए—इस लेख के दूसरे पृष्ठ (३९६) में जा० ग्रं० के पृ० ३३२ का उद्धरण।

के कारण जो व्याघात पहुँचता है, वह बहुत भयंकर है। रत्नसेन का सूए के मुँह से पद्मावती की सुंदरता का वर्णन सुनकर नागमती की अवहेलना कर पद्मावती के लिये बावला हो जाना कोई ऐसा काम नहीं जिसका सादृश्य आध्यात्मिक उन्नति के प्रयास से किया जाय। योग से उसको उपमा देने से न तो योग का ही महत्त्व बढ़ सकता है और न उस कार्य को औचित्य ही प्राप्त हो सकता है। 'पद्मावत' से ही उस दृश्य को एक बार आँखों के सामने ले आने से वस्तुस्थिति और भी अच्छी तरह स्पष्ट हो जायगी। सूए के मुँह से यह सुनते ही कि "पद्मावति राजा कै बारी, पदुमगंध ससि बिधि औतारी[१]" जैसे मछली के लिये समुद्र में किलकिला-पक्षी मँड़राता है वैसे ही राजा पद्मावती के लिये कामुक हो जाता है—"सुनि समुद्र भा चख किलकिला, कँवलहिँ चहैं भँवर होइ मिला।[२]" उसे प्राप्त करने की इच्छा उसे पहले हो जाती है, वह ब्याही है या काँरी--सो वह पीछे पूछता है। उसके कुल और देश का वर्णन सुनकर तो उसे तीन लोक चौदह भुवन सूझने लग जाते हैं—"तीनि लोक चौदह खँड, सबै परे मोहि सूझि; पेम छाड़ि नहिं लोन किछु, जो देखा मन बूझि।" उसके नखशिख का वर्णन सुनकर तो वह मूर्च्छित ही हो जाता है, और जब उसकी मूर्च्छा टूटती है तब वह राज-पाट छोड़कर जोगी हो जाता है। परंतु क्या उसका यह 'जोग' ईश्वरोन्मुख प्रेम-पथ में कौड़ी-काम का है? अपनी प्रेममयी परिणीता स्त्री को छोड़कर दूसरी कुमारी के प्रेम में पागल राजा के मुँह से योग और विरक्ति की निम्नलिखित उक्तियाँ योग और विरक्ति की हँसी उड़ाती हैं!

> जोगिहि काह भोग सों काजू। चहै न धन धरती औ राजू॥
> जूड़ कुरकुटा भूखहि चाहा। जोगी तात भात कर काहा॥ (पृष्ठ ६०)
> एहि जीवन कै आस का, जस सपना पल आधु।
> मुहमद जियतहि जे मुए तिन्ह पुरुषन कह साधु॥ (पृष्ठ ६६)

"जौं भल होत राज औ भोगू, गोपिचंद नहिं साधत जोगू" (पृष्ठ ५९) कहकर अपने कार्य के समर्थन में जब राजा गोपीचंद का दृष्टांत पेश करता है तब जी चाहता है कि उसका विकट उपहास करने के लिये उस समय कोई होता! इसमें कोई संदेह नहीं कि इस संसार में प्रेम ही सार वस्तु है और उसी के द्वारा मनुष्य कुछ हो सकता है--"मानुस प्रेम भए बैकूँठी, नांहि त काह छार भर मूठी।" (पृ० ७४) किंतु जिस प्रेम से मनुष्य वैकुंठी—परमात्मा-तुल्य—हो सकता है वह वह चंचल भाव नहीं जो रत्नसेन को नागमती से पद्मावती पर अपना मन चलाने के लिये बाध्य करता है, प्रत्युत वह दृढ़ लगन है जो नागमती और पद्मावती के हृदय में रत्नसेन के लिये संचित है, जिसमें चंचलता का नाम नहीं, जो कठिन से कठिन आपत्तिकाल और परीक्षा में बदल जाना नहीं जानता। आगे चलकर तो पद्मावती के संबंध में राजा रत्नसेन ने भी प्रेम की स्थिरता का परिचय दिया है, पर इससे उसके पिछले दोष का मार्जन नहीं हो सकता, जो रामावतार के उच्चतम सामाजिक आदर्श--एकपत्नीव्रत—को लीप-पोतकर ठीक कर देता है! अपनी साधारण रूपवती स्त्री को छोड़कर

---

[१] जा० ग्रं०, पृ० ४०

[२] जा० ग्रं०, पृ० ४२

दूसरी सुंदर स्त्रियों की ओर लपकनेवालों को यदि यह स्वतंत्रता दे दी जाय कि वे अपने कार्य को योग और विरक्ति समझें तो सामाजिक आदर्श अपने भाग्य को रोने के अतिरिक्त और कर ही क्या सकता है! विवाह हो जाने के बाद पद्मावती ने राजा के योगी-वेश पर चुटकी लेते हुए कहा था—"एहि भेख रावन सीय हरी।" (पृ० १७६) यद्यपि यह बात हँसी में कही थी, तथापि कौन कह सकता है कि रत्नसेन का योग उपहासास्पद नहीं है।

जो लोग यह विचार करते हैं कि आध्यात्मिक जीवन के लिये लौकिक आदर्शों की परवा करना आवश्यक नहीं है, वे भी परमात्मा के वास्तविक स्वरूप को नहीं समझे। यह जगत् भी परमात्मा का ही रूप है, चाहे प्रातिभासिक रूप ही क्यों न हो। हम इस प्रातिभासिक रूप को सत्य-स्वरूप तक, जायसी के मतानुसार प्रतिबिंब को बिंब तक, पहुँचने का साधन—इसके आदर्शों को गिराकर—नहीं बना सकते। परमात्मा के उद्देश्य की पूर्त्ति जगत् के आदर्शों की रक्षा द्वारा ही हो सकती है। शिव (कल्याण) और अद्वैत सत्तत्त्व (ब्रह्म) में अद्वैत भाव है। 'शांतं शिवमद्वैतम्' (मांडूक्य ७, नृसिंहोत्तर-तापनी १)। 'गौड' और 'गुड' अगल-बगल चलते हैं। भगवद्गीता ने यह भाव बड़ी खूबी के साथ प्रकट किया है। गीता के अनुसार ब्रह्म का 'ॐ' 'तत्' 'सत्' त्रिविध निर्देश है—"ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः, ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा।" (१७-२३) इन तीनों में से 'सत्' के विषय में गीता कहती है, सत् केवल परम तत्त्व की सत्ता का ही द्योतक नहीं है, प्रत्युत उसमें सत्कार्य और साधु भाव का भी निर्देश है—"सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते। प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥" (१७-२६) जायसी ने भी राजा रत्नसेन ही से कहला दिया है—"राजै कहा सत्य कहु सूआ, बिनु सत सब सेंवर का भूआ; होइ मुख रात सत्य के बाता, जहाँ सत्य तहँ धरम सँघाता।" (पृ० ४१) परंतु स्वयं राजा इस सत्य और धर्म के संघात को समझा है, इसमें संदेह ही है; क्योंकि स्वतः उसकी करतूत से, अगर जायसी के शब्दों को अभिप्रेत अर्थ से भिन्नार्थ में उद्धृत करें तो, कह सकते हैं कि—"आगि लगाइ चहूँ दिसि सत जरा।[1]" हम तो नागमती की अवहेलना कर पद्मावती के प्राप्त करने के लिये राजा के प्रयत्न को ठीक उसी दृष्टि से देखते हैं, जिस दृष्टि से नाथपंथी मछंदरनाथ के सिंहल जाकर पद्मिनी स्त्रियों के जाल में पड़ जाने को देखते हैं। वह पतन है, उत्थान नहीं। हाँ, हमें जायसी के वस्तु-निर्माण-कौशल और उनकी लगन के संबंध में कोई शिकायत नहीं है। इस संबंध में श्रद्धेय गुरुवर पंडित रामचंद्र शुक्ल जी ने जो कुछ लिखा है[2] उसे हम ब्रह्मवाक्य समझते हैं। जायसी की कहानी बड़ी सुंदर है। उनकी आध्यात्मिक लगन भव्य है। परंतु हमें शिकायत इस बात की है कि उन्होंने इन दोनों का मेल ठीक नहीं किया है। अपने अध्यात्मवाद के लिये पद्मावत की कहानी चुनकर और पद्मावत की कहानी में अध्यात्मवाद का आरोप करने का प्रयत्न कर उन्होंने असंभव को संभव बनाने में हाथ लगाया है। इन दोनों का समन्वय हो नहीं सकता। पद्मावत की कहानी में ये दोनों उन दो प्रतिकूल प्रकृतिवाले पड़ोसियों के समान हैं जो खटपट और हाथापाई

---

[1] जा० ग्रं०, पृ० ४१

[2] प्रबंधकल्पना, जा० ग्रं०, पृष्ठ ८३-८८; ईश्वरोन्मुख प्रेम. ८७-८८

पंडित देवीदत्त शुक्ल
(वर्त्तमान 'सरस्वती'-संपादक)

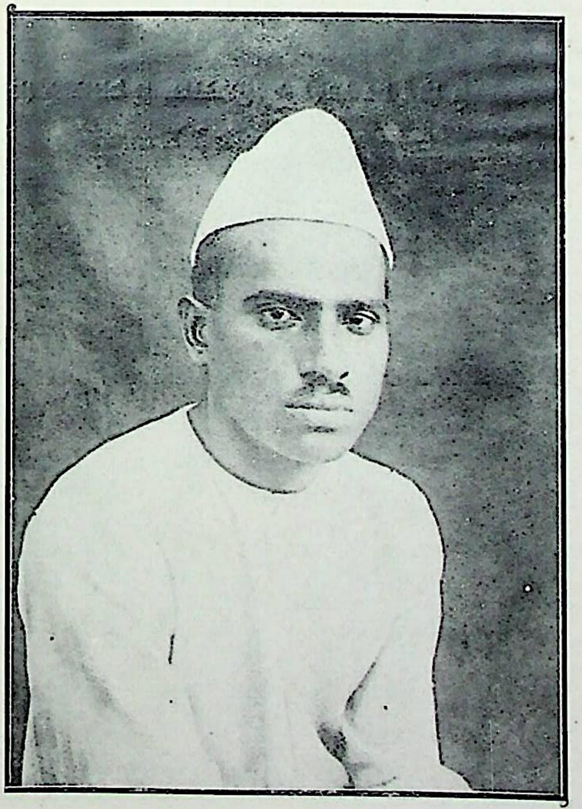

ठाकुर श्रीनाथसिंह
(सरस्वती' के वर्त्तमान संयुक्त संपादक)

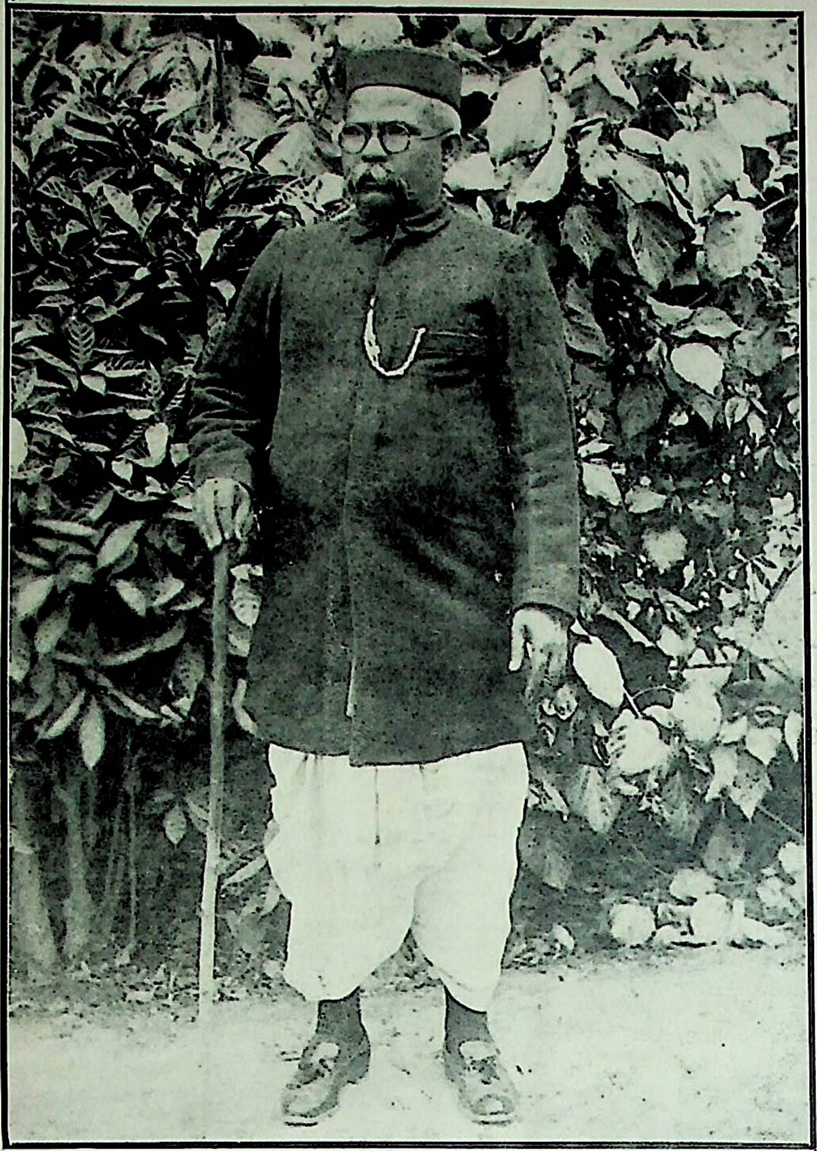

पंडित सुंदरलाल द्विवेदी

(द्विवेदी जी के समय में आप ही 'सरस्वती' के प्रधान प्रूफ-संशोधक थे और अब भी हैं। इस कला में आप अत्यंत निपुण हैं।)

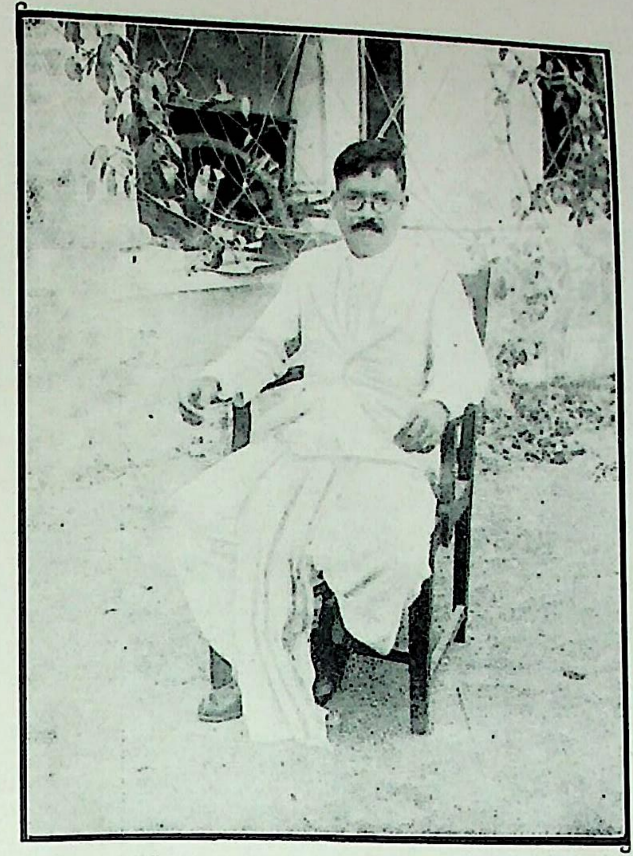

श्री अपूर्वकृष्ण बोस

(द्विवेदी जी के समय में 'सरस्वती' के प्रिंटर आप ही थे)

में समय बिताकर एक दूसरे को लांछित करते रहते हैं। कहानी अध्यात्मवाद की हँसी उड़ा रही है और अध्यात्मवाद कहानी को विरूप बना रहा है। इसमें संदेह नहीं कि कबीर आदि ने भी विपर्यय-चमत्कार लाने के उद्देश्य से 'दुनिया-धंधा' की उपमा प्रथम कुलवंती परिणीता से दी है, जिसे छोड़कर नई बेपर्द स्त्री-रूप माया-रहित भक्ति को ब्याह लाना विधेय बतलाया है। उदाहरण के लिये इस पद को लीजिए—

"अब की धरी मेरो घर करसी। साध सँगति ले मो को तिरसी ॥
पहली को घाल्यो भरमत डोल्यो सच कबहूँ नाहिं पायौ। अब की घरनि धरी जा दिन थैं, सगलौ भरम नसायौ ॥
पहली नारि सदा कुलवंती, सासू ससुरा मानै। देवर जेठ सबनि की प्यारी, पिय कौ मरम न जानै ॥
अब की घरनि धरी जा दिन थैं, पिय सूँ बान बन्यूँ रे। कहै कबीर भाग वपुरी कौ, आइ'रु राम सुन्यूँ रे ॥[१]"

परंतु एक तो ऐसी उक्तियाँ मुक्तक हैं, किसी प्रबंध के अंग होकर सामाजिक जीवन के बीच वास्तविक व्यवहार के प्रदर्शक नहीं। दूसरे, इनका उलटा अथवा उल्टवाँसी होना ही इनको सामाजिक आदर्श तोड़ने से बचा लेता है; क्योंकि पाठक अथवा श्रोता पहले ही से जानता है कि इनमें जो लौकिक पक्ष दिखलाया गया है वह वास्तविक आदर्श का उलटा है। परंतु किसी प्रबंध के संबंध में यह बात नहीं कही जा सकती। यह भी बात नहीं कि लौकिक आदर्शों की अवहेलना करके ही आध्यात्मिक पक्ष के लिये अलंकार-विधान की सामग्री प्रस्तुत की जा सके। माया अथवा मायिक जगद्व्यवहार की तुलना साधु-संतों ने कुलटा व्यभिचारिणी तथा गणिका से भी की है। पद्मावत-सरीखे प्रबंधों में अगर इसी पिछले ढंग पर अन्योक्ति की जाती तो लौकिक पक्ष पूर्ण रूप से आध्यात्मिक पक्ष का प्रतीक बन सकता और लौकिक आदर्श का भी सुंदरता से निर्वाह हो जाता।

---

१. कबीर-ग्रंथावली, पृष्ठ १६९

संस्कृत-गीत

गोविन्द हरे !
द्रुपदसुताभयमूलविमूलन, दुःशासनबलतूलविधूनन,
वारणदुरितनिवारण, मुरहर, करुणाकर, गोविन्द, हरे ॥१॥
कालियमदगञ्जन, जनरञ्जन, भवभञ्जन, परमेश, निरञ्जन,
यामुनमञ्जुलकुञ्जकुतूहल, कुटिलकदन, गोविन्द, हरे ॥२॥
निगमगवीरससारविदोहन, व्रजवनिताजनमानसमोहन,
गोकुलविपदवहेलन, गिरिधर, खलविदलन, गोविन्द, हरे ॥३॥
मुनिजनमानसहंस, तमोऽतिग, श्रुतिशिरसामभिवन्द्यमनोतिऽग
निजजनवृजिनविजारणकारण, दरदारण, गोविन्द, हरे ॥४॥
करुणाकर, गोविन्द, हरे !

शालग्राम शास्त्री

उर्दू क्योंकर पैदा हुई ?

मौलाना सैयदहुसेन शिबली नदवी

हिंदोस्तान की अदबी तारीख का जब से हमको हाल मालूम है, यह नजर आता है कि इस मुल्क में कभी एक बोली नहीं बोली गई। दरहकीकत यह मुल्क एक बर्रेआजम है जिसमें हर जमानः में मुख्तलिफ कौमें और मुख्तलिफ नसलें—जो मुख्तलिफ बोलियाँ बोलती थीं—आबाद थीं, आबाद हैं और आबाद रहेंगी। दुनिया की जबानों की तीन मशहूर असलें हैं– आरयाई, तूरानी और सामी। तीनों यहाँ दोशबदोश मिलीजुली मिलती हैं। द्रावड़ी जबानों की अस्लियत तूरानी बताई जाती है। सूबों की दूसरी जबानें आरयाई हैं और अरबी की शुमूलियत सामी असर का नतीजा है। चंद मशहूर राजाओं के जमानों को छोड़कर—जो मुल्क के अकसर हिस्से पर हुक्मराँ रहे—हिंदोस्तान का अक्सर यही हाल रहा कि उसके मुख्तलिफ सूबे मुख्तलिफ मुस्तकिल रियासतों की सूरत में रहे। इन सूबों की वसअत राजा की कुव्वत और फतूहात के दायरः की कमी-बेशी के लिहाज से घटती-बढ़ती रही। हर रियासत की जबान उसके सूबः की मुकामी जबान थी और वही गोया सरकारी जबान की हैसियत रखती थी। अब जिस कदर इस रियासत का दायरा होता उसी हद तक उस जबान का जोगराफी दायरा कभी घट जाता और कभी बढ़ जाता। मसलन् देखिए कि अवध की बोली, ब्रज की भाषा, मगध की जबान, अतराफ देहली की हरयानी—यह चारों हमसाया हैं। मगर इनकी हदें इन्हीं सल्तनतों की हदों से वाबस्तः नजर आती हैं। मगध (बिहार) की बौध सल्तनत, जिसका दारुल्सल्तनत पाटलीपुत्र (पटना) था, जब हिंदोस्तान पर छा गई तो उसकी जबान भी हिंदोस्तान की आम सरकारी जबान बन गई और आज इसी मगध की पाली जबान के कुतबे पेशावर से लेकर महाराष्ट्र के किनारों तक मिलते हैं। हिंदोस्तान में सिंध से लेकर गुजरात तक का इलाका हमेशा ईरानियों और अरबों के जहाजों का गुजरगाह रहा और उसी का असर था कि जहाजियों के साथ-साथ उनकी जबानों के असरात भी खामोशी के साथ फैलते रहते थे। खुसूसन् सिंध वह सूबा था जो अक्सर ईरान की सल्तनत का जुज बनता और खलीज फारस के तमद्दुन से मुतास्सिर होता रहा। सिंध के आसारे कदीमा की मौजूदः तहकीकात इस नजरिया की सदाकत को रोज-बरोज आश्कारा करती जा रही है। बहरहाल

आरयाई जबान की दूसरी शाख ईरानी या फारसी का असर सिंध से लेकर गुजरात तक वसीअ था। उसके बाद पहली सदी हिजरी के खातमें के करीब (सातवीं सदी ईसवी में) फतह फारस के बाद अरबों ने भी ईरानी सल्तनत के जानशीन की हैसियत से सिंध पर कब्जा किया और उनके जहाजात खलीज फारस के उबल्लः, सीराफ और बसरा नामी बंदरगाहों से निकलकर सिंध और गुजरात और मलेबार होकर चीन तक जाने लगे। इन जहाजों के चलानेवाले फारसी और अरबी बोलते थे। उसका असर यह होना चाहिए था कि हिंदोस्तान के जिन बंदरगाहों से यह गुजरते हों वहाँ उनकी जबानों के कुछ अल्फाज मुस्तमिल हो जाएँ और वहाँ की मुकामी जबानों के कुछ लफ्ज इन जहाजियों की जबानों पर चढ़ जायँ, चुनांचः उसकी मिसालें अरब सैयाहों और मल्लाहों की जबानों में मिलती हैं। चुनांचः आज भी हिंदोस्तानी जहाजों के जरियः हिंदोस्तानी जबान अफरीका और अरब और एराक व मिस्र के बंदरगाहों तक पहुँच गई है, और खुद मुझे अदन, जिद्दा, पोर्ट सईद, मस्सूअ और पोर्ट सूदान में हिंदोस्तानी बोलनेवाले मल्लाह और दूकानदार मिले। इस मौकः पर सबसे पहला बयान हमारे सामने एक ईरानी आमेज अरब जहाजराँ बुजुर्ग बिन शहरयार का है। वह कहता है कि मुझसे एक अरब जहाजराँ अबू मुहम्मद हसन ने बयान किया कि—"मैं सन् २८८ ई० (८८८) में मंसूरः (भक्कर) में था। वहाँ मुझसे मुस्तनद बुजुर्गों ने यह बयान किया कि अलूरा (आलूर) के राजा ने, जो हिंदोस्तान का बड़ा राजा था—जिसकी हुकूमत कश्मीर बाला और कश्मीर जेरीन के बीच में थी और जिसका नाम 'महरोग बिन रायक' (?) था, सन् २७० हिजरी में, मंसूरः के बादशाह को लिखा कि वह इसलाम की शरीयत का कुछ हाल उसको बताए, तो अब्दुल्लाह ने मंसूरः में एक अब्दुल्लाह एराकी को पाया जो बहुत तेजतबः और खुशफहम था और शायर था और जिसने हिंदोस्तान में नश्वनुमाँ पाई थी और जो अह्ले हिंद की मुख्तलिफ जबानों से वाकिफ था, उसने एक कसीदः लिखकर राजा को भेजा। राजा ने उसे बुला भेजा और उसके हुक्म से उसने कुरान का हिंदी जबान में तर्जुमः[1] किया।" इस इक्तिबास से जाहिर होगा कि हिंदोस्तान के सवाहिल में भी बहुत-सी मुख्तलिफ जबानें थीं और वह लोग, जिनकी असल जबान फारसी और अरबी थी, यहाँ की जबानों को सीखते और बोलते थे और इनमें यह लियाकत रखते थे कि वह इनमें शायरी कर सकते थे और कुरान पाक जैसी किताब का तर्जुमः कर सकते थे। यह हिंदोस्तानी और इसलामी जुबान के बाहमी इख्तिलात और मेल-जोल के इम्कान का पहला वाकया है जो सफरनामों और तारीखों में मजकूर है! इस वाकयः का जमानः सन् २७० हिजरी यानी ८७० ई० है और आज से करीबन् एक हजार साल पहले की बात है। इसके तैंतीस बरस के बाद मसऊदी हिंदोस्तान आता है। वह सन् ३०३ हिजरी में यहाँ आया था। वह हिंदोस्तान का इब्तिदाई हाल इस तरह लिखता है—

"इसके बाद हिंद के लोगों के खयालात मुख्तलिफ हो गए और मुख्तलिफ गिरोह पैदा हो गए, और हर रईस ने अपनी रियासत अलग कर ली, तो सिंध पर एक राजा बना और कन्नौज में दूसरा राजा

---

[1] अजायबुल हिंद बुजुर्ग बिन शहरयार, सफा २ और ३, पेरिस

हुआ, और कश्मीर में तीसरा राजा था, और माँगेर पर—जो बड़ा इलाका है (गुजरात व काठियावार)—बल्हरा (वलभराय) की हुकूमत हुई, और जो अब तक—हमारे जमानः तक, जो सन् ३३२ हि० है—यह राजा इसी लकब से मुलकब है; और हिंद की जमीन बहुत वसीय जमीन है, खुश्की पहाड़ और दरिया में फैली है। इनका मुल्क एक तरफ जावज (जावा) से मिलता है जो जजीरों के बादशाह 'महराज' का दारुल्मुल्कत है, और यह मुल्क (जावा) हिंदोस्तान और चीन के दर्मियान हद्दे फासिल है; लेकिन हिंदोस्तान की तरफ मंसूब है और दूसरी तरफ हिंदोस्तान कोहिस्तान से मुतस्सिल खुरासान और सिंध और तिबत तक है, और इन हिंदोस्तानी रियासतों में बाहम इख्तिलाफ और लड़ाइयाँ हैं और इनकी जबानें अलग-अलग हैं और इनके मजहबी खयालात मुख्तलिफ हैं, ज्याद:तर लोग तनासिख और आवागौन के कायल हैं, जैसा कि हमने पहले कहा[1] है।"

इसके बाद यही सैयाह सिंध के हाल में कहता है—"और सिंध की जबान हिंदोस्तान की जबान से अलग है......और मांगेर की जबान—जो बल्हरा (वलभराय) का दारुल्सल्तनत है--गीरी है और इसके साहिली शहरों से चिमूर, सेपारः और थानः (मौजूदः बंबई के पास) की जबान[2] लारी है।" यह सिंध, गुजरात, काठियावार और कोकन की जबानों की निस्बत कदीम अरबी शहादत है। इसके बाद बगदादी सैयाह इस्तखरी का जमानः है, जो सन् ३४० हि० में आया था। वह कहता है—"मंसूरः (मौजूदः भक्कर वाकयः सिंध) और मुल्तान और इनके अतराफ की जबान अरबी और सिंधी है और मुकरानवालों की जबान फारसी और मुकरानी[3] है।" बअइनः यही अलफाज इब्न हौकल के सफरनामः में मिलते हैं। इसका जमानः सन् ३३१ हि० से ३५८ हि० तक है। वह कहता है—"मंसूरः (भक्कर) और मुल्तान और उसके अतराफ में अरबी और सिंधी बोली जाती[4] है।" सन् ३७५ हि० (सन् ९८५ ई०) में बशारी मुकद्दसी हिंदोस्तान आता है। वह मुल्तान के हाल में लिखता है—"और फारसी जबान समझी जाती[5] है।" फिर दीबल यानी ठट्ठ के बंदरगाह के हाल में लिखता है—"दीबल (ठट्ठ) समंदर के साहिल पर है। उसके चारों तरफ सौ गाँव के करीब हैं। अक्सर गैरमुस्लिम हिंदू (कुफ्फार) हैं। समंदर का पानी शहर की दीवारों से आकर लगता है। यह सब सौदागर हैं। इनकी जबान सिंधी और अरबी[6] है।" इसी तरह, इब्न नदीम बगदादी, जिसने अपनी अल्फ़ेहरिस्त सन् ३७७ हि० में तरतीब दी है, सिंध की जबानों की निस्बत—जिसकी वसअत में इसके नजदीक हिंदोस्तान भी दाखिल है—

---

[1] मरौवजुल्जहब मसऊदी, जिल्द अव्वल, सफा १६२, मतबूअः पेरिस

[2] मरौवजुल्जहब मसऊदी, जिल्द अव्वल, सफा ३८१, पेरिस

[3] सफरनामः इस्तखरी, सफा १७७, लायडन।

[4] सफरनामः इब्न हौकल, सफा २३२. लायडन।

[5] सफरनामः बशारी मारूफ ब अहसनुलतकासीम, सफा ४८१, लायडन।

[6] सफरनामः बशारी, सफा ४७९

यह लिखता है—"यह लोग मुख्तलिफ जबानों और मुख्तलिफ मजहबवाले हैं और इनके लिखने के खत कई हैं। मुझसे एक ऐसे सख्श ने, जो इनके मुल्क में घूमा-फिरा था, कहा था कि इनके यहाँ दो सौ खत के करीब मुस्तामिल हैं। मैंने (बगदाद के) कसर् हुकूमत में एक बुत देखा था, जिसकी निस्बत मुझे कहा गया था कि यह बुद्ध की मूरत है।...इसके नीचे इस तरह लिखा हुआ[1] था।"

अब वह जमानः आया जब सुल्तान महमूद का बाप अमीर सुबुक्तगीन अपनी नई सल्तनत का पुतला बनाकर खड़ा कर रहा था, और हिंदोस्तान की बोलियों में अरबी व फारसी के बाद तुर्की के मेल का वक्त आया। उस वक्त पेशावर और पंजाब और गजनी में सुलह और लड़ाई के तअल्लुकात कायम थे। आमद व रफ्त, लड़ाई-भिड़ाई और सुलह व पयाम के लिये दोनों कौमों की जबानों में इख्तिलात का मौका आ गया था। इस वक्त लड़ाइयों के हजारों हिंदू गुलाम[2] और नौकरीपेशः हिंदू सिपाही अफगानिस्तान और तुर्किस्तान में घर-घर फैले थे। अमीर सुबुक्तगीन की फौज में दूसरी कौमों के साथ हिंदू भी दाखिल थे। "व लश्कर ख्वास्तन गिरफ़ व बिसियार मर्दुम जमा शुद अज हिंद व खलज व अज हर दस्ती[3]।"

सुल्तान महमूद के दरबार में हिंदी का मुतरज्जिम 'तिलक' नाम एक हिंदू था जो बचपन में 'शीराज' पहुँच गया था और फारसो सीख लो थी और हिंदुओं के साथ नामः व पयाम और मरासलत की खिदमत इसके सुपुर्द थी। "खती नीको हिंदवी व फारसी व मुद्दते दराज ब कश्मीर रफ्तः बूद व शागिर्दी करदः.........व ऊरादबीरी व[4] मुतर्राज्मी कर्दी बा हिंदवाँ" अबुलफजल बैकही अपनी तारीख आल सुबुक्तगीन में अपने जमानः यानी सुल्तान मसऊद (सन् ४३१ हि०) के अहद में इसी किस्म के एक और हिंदू मुतरज्जिम 'बीरबल' का जिक्र करता है जिसका तअल्लुक इनके दफ्तर इंशाय से था— "हम चुनाँ बीरबाल[5] बदीवाने मा।" सुल्तान महमूद के दरबार में जहाँ अरब व अजम के अहलेइल्म थे वहाँ हिंदोस्तान के अहलेइल्म भी शरीकबज्म रहते थे। कालिंजर के राजा नंदा ने सन् ४१३ हि० में जब सुल्तान की शान में हिंदी में शेर लिख कर भेजा, उस मौके पर फिरिश्तः में है—"नंदा बजबान हिंदी दर मदः सुल्तान शअरी गुफ्तः निज्दा व फरिस्ताद सुल्तान आँरा बफजलाय हिंदा व अरब व अजम कि दर मुलाजिमत अवबूदंद नमूदः हमगी तहसीन व आफ्रीं[6] करदंद।" यह वह जमाना है जब लाहौर भी फतह नहीं हुआ था। इस जमानः में भी सुल्तान के दरबार में अरब व अजम और हिंद के फुजला पहलू ब पहलू बैठे और सब इतना दरखोर रखते थे कि हिंदी शेर को समझें और मजः लें।

[1] किताबुल फिहरिस्त इब्न नदीम, मत्बूअः मिस्त्र, सफा २४

[2] काबूसनामा, सन् ४७५, बाब दारसमबंदः खरीदन।

[3] तारीख बैकही, सफा २४२, ४०४

[4] ,, ,, सफा ४०३.

[5] ,, ,, सफा ४०३, कलकत्ता।

[6] मतबूअः नवलकिशोर, सफा ३१, जिल्द अव्वल।

गजनवी बादशाहों के जमाने में, जब पंजाब गजनी का सूबा था, हजारों-लाखों मुसलमान—जिनकी जबान फारसी थी—पंजाब में बस गए थे। जाहिर है कि इनमें और आम अह्ले हिंद में बोलचाल इस तरह होती होगी कि वह हिंदी मिली हुई फारसी और यह फारसी मिली हुई हिंदी बोलते हों और चंद रोज में यह कैफियत हो गई कि मुसलमान हिंदी में या फारसी-आमेज हिंदी में शायरी करने लगे। चुनांचः इस अह्द के मशहूर शायर 'मसऊद साद सलमाँ' अल्मुतवफ़्फ़ी ने, जो सन् ५ हि० में लाहौर में पैदा हुआ था और लाहौर ही में रहता था, एक अरबी का और एक फारसी का और एक हिंदी का दीवान यादगार छोड़ा—"यके बताजी व यके बपारसी न यके बहिंदी—(लुबाबुल्अलबाब औफी, जिल्द २, सफा २४६ गब)।" यह शौक रोज-बरोज तरक्की करता गया। यहाँ तक कि एक तुर्क खान्दान में, जो देहली में रह पड़ा था, अमीर खुसरो (अल्मुतवफ़्फ़ी सन् २५ हि०) जैसा हमःदाँ शायर पैदा हुआ जिसने अरबी, फारसी, हिंदी अलहदः-अलहदः भी और तीनों जबानों के मिसरों को मिलाकर भी शायरी की। चुनांचः वह खुद अपने दीवान इज्जतुल्कमाल के खात्मः में लिखता है—"पेश अर्जीं अज बादशाहाने सखुन कसे रा सह दीवान न बूद. मगर मरा कि खुसरूए ममालिके कलामम मसऊदे सादए सलमाँरा अगरचेः हस्त अमा आँ सह दीवान दर इबारत अस्त अरबी व पारसी व हिंदी दर पारसी मुजर्रद कसे सखुन रा सेह किस्म न करदः जुज मन कि दरीं कार कस्साम आदिलम् किस्मत् चू चुनीं बूद चे तदबीर कुनम्[1]।" अमीर को अपने हिंदी कलाम पर जो नाज था वह उनके इस शेर से नुमायाँ है जिसको उन्होंने इसी किताब के खात्मः में लिखा है—"चु मन तूतिए हिंदम अज रास्तपुरसी, जेमन **हिंदवी** पुर्स तानग्ज गोयम।" इसी खात्मः में ऐहाम की एक नई सिफत पैदा करने पर फख्र किया है—"बाज ऐहामी दीगर वरबस्त कर्दः अम कि इकतरफ हमः हिंदवी खेज मी उफ्तद् व जानिब दीगर पारसी मी खेजद्।"

आही आई हमाँ प्यारि आही। मारी[2] मारी बराय मोरी माही।

अमीर ने अपनी मसनवी नुहसिपहर में हिंदोस्तान की एक फजीलत यह बयान की है कि यहाँ के लोग हर मुल्क की जबान बोल सकते हैं, मगर बेरूनी लोग यहाँ की जबान नहीं बोल सकते। कहते हैं—

"हस्त दवम आँकि जहिंद आद्मियाँ, जुम्लः ब गोयंद जबानहा बबयाँ।
लेक अज अकसाए दिगर हर कसे, गुफ्त नयारद सखुने हिंद बसे।
हस्त खता व मुगल व तुर्क व अरब, दर सखुने **हिंदवी** मा दोख्तः लब।"

गरज हर जगह वह अपनी जबान को हिंदवी कहते हैं। अमीर खुसरो ने अपनी मसनवी नुहसिपहर में हिंदोस्तान के मुख्तलिफ सूबों की हसब जैल बोलियों के नाम लिए हैं—सिंधी, लाहौरी, कश्मीरी, बंगाली, गौड़ी (गौड़ बंगाला का एक हिस्सा), गुजराती, तिलंगी, माबरी (कर्नाटकी जिसको कंटरी कहते हैं), धूरसमंदी (धूरसमंदर कारोमंडल का पायःतख्त था, जो उस जमानः में नया फतह

---

[1] खात्मः इज्जतुल्कमाल अमीर खुसरो कलमी दारुल्मुसन्नफीन।

[2] इस शेर को मैं पूरी तरह समझ नहीं सका।

हुआ था), अवधी और देहलवी। यही जबानें थोड़े-थोड़े फर्क से अब भी मौजूद हैं। अमीर खुसरो के तीन सौ बरस के बाद, अकबर के जमाने में, हिंदोस्तान के मुख्तलिफ सूबों में यही बोलियाँ रायज थीं। अबुलफजल हिंदोस्तान की मुस्तकिल जबानों का जिक्र इस तरह करता है[1]—"देहलवी, बंगाली, मुल्तानी, माड़वारी, गुजराती, तिलंगी, मरहटी, करनाटकी, सिंधी, अफगानी, शाल (जो सिंध, काबुल और कंधार के बीच में है), बिलोचिस्तानी और कश्मीरी।"

ऊपर के इक्तिबासात से दो बातें साबित होती हैं। एक यह कि इस मुल्क में हर जमानः में सूबःवार बोलियाँ बोली जाती थीं और इसमें कोई एक आम और मुश्तरिक बोली न थी, और दूसरी यह कि इस जरूरत को पूरा करने के लिये मुसलमानों के अहद में कुदरती तौर से एक जबान तैयार हो रही थी। हिंदोस्तान में इसलामी हुकूमतों के छः सौ बरस कयाम के बाद भी मुल्क में जबानों के इख्तिलाफ का यही हाल था कि एक सूबः का रहनेवाला दूसरे सूबः के रहनेवाले से बातचीत और कारोबार करने से आजिज था। खयाल किया जा सकता है कि ऐसे मुल्क को, जिसमें कम अज कम तेरह मुस्तकिल जबानें बोली जाती हों, एक ममलुकत या एक हुकूमत और एक मुल्क क्योंकर करार दिया जा सकता था, और ऐसी मुख्तलिफ बोलियों और जबानों वाले मुल्क के इंतजाम और कारोबार के लिये एक मुतहिदः व मुश्तरकः जबान की कितनी सख्त जरूरत थी। यही बात थी जिसने इस मुल्क में एक नई भाषा पैदा की और उसको तरक्की दी।

इसलामी अहद की अदबी तारीख के गहरे मुतालः से मालूम होता है कि यह मखलूत जबान सिंध, गुजरात, अवध, दकिन, पंजाब और बंगाल हर जगह की सूबःवार जबानों से मिलकर हर सूबः में अलग पैदा हुई जिनमें खुसूसियत के साथ जिक्र के काबिल सिंधी, गुजराती, दखनी और देहलवी हैं। जिन सूबों की बोलियों को अलग वजूद नहीं बख्शा गया। इनमें भी यह अब तक मानना पड़ता है कि इनकी दो किस्में हैं—एक मुसलमानी और एक खालिस देशी। चुनांचः बंगाली, मरहटी, कंटरी, तिलंगी, मलयालम् हर-एक में मुसलमानी बोली खालिस बोली से अलग है। मुसलमानी बंगाली, मुसलमानी मरहटी, मुसलमानी तिलंगी—खालिस बंगाली, खालिस मरहटी और खालिस तिलंगी से अलग और मुमताज है। यह इम्तियाज यही है कि मुसलमान इन सूबःवार बोलियों में अरबी व फारसी लफ्जों को मिलाकर बोलते हैं और इन सूबों के असल बाशिंदे इनको खालिस और बेमेल बोलते हैं। अब सूरत यह हुई कि हर सूबः की मुकामी बोलियों में मुसलमानों की जुबान के अलफाज का मेल होकर एक नई बोली पैदा होने लगी। मुसलमानों और हिंदुओं का यह मेलजोल सबसे पहले मुलतान से लेकर ठट्ठ तक सिंध में और फिर यहाँ से गुजरात और काठियावार तक हुआ होगा। इस मेलजोल से जो जबान बनी उसका पहला नमूनः हमको सन् ७८२ हि० में, फीरोजशाह तुगलक के अहद में, सिंध में, मिलता है। सन् मज्कूर में सुल्तान ठट्ठ पर नाकाम हमला करके जब गुजरात जाता है तो ठट्ठवालों ने इसको अपने शेख की करामात समझकर कहा—"बरकते शेख

---

[1] आईन अकबरी, जिल्द सोयम, 'जबानहा'—सफा ४५, नवलकिशोर।

थया एक मुआ एक था[1]।" यानी 'यह शेख की बरकत थी कि एक हमलाआवर (सुल्तान महम्मदशाह तुगलक, जिसने सन् ७५२ हि० में हमला किया था) मर गया और दूसरा (सुल्तान फीरोजशाह तुगलक) नाकाम रहा।' इस इबारत से यह आइनः है कि उस जमानः—सन् ७६२ हि०—में अरबी, फारसी और हिंदोस्तानी बोलियों का मजमूअः, जिसको आज आप उर्दू कहते हैं, पैदा हो चुका था। इन वाकयात से यह भी मालूम होगा कि इस जबान की पैदाइश की वजह मुख्तलिफ कौमों का कारोबारी और तिजारती इख्तिलात और मेलजोल था और उसी जरूरत ने इस नई जबान को वजूद बख्शा था। इस जबान की पैदाइश की—और पैदाइश की न सही तो इसके कयामे, बका और तरक्की की—वजह इससे भी बढ़कर नागुरेज एक और है। मुसलमान जब इस पूरे मुल्क पर हुक्मराँ हुए तो गो फारसी सरकारी जबान की हैसियत से उनके साथ आई ताहम एक ऐसी कौम के लिये, जिसका तअल्लुक पूरे मुल्क से हो, इस मुल्क में कोई एक भी मुतहिदः और मुश्तरकः जबान मौजूद न थी। लिखे-पढ़े तो खैर आज की अँगरेजी की तरह कल की फारसी से काम चला लेते थे, मगर अनपढ़ नाख्वाँदः और अवाम के लिये एक ऐसी जबान की सख्त जरूरत थी जो पूरे मुल्क में बोलचाल, आमद व रफ्त और कारबार में कारआमद हो और बईनः यही जरूरत आज भी मौजूद है।

'उर्दू' नाम

जबान उर्दू की तारीख के मुतल्लिक मीर अम्मन और सर सैयद और दूसरे पुराने बुजुर्गों ने जो बयान सुनाया था वह अब पारीनः समझा जाता है, और अब इस मजमून पर चंद ऐसी मुहकिकानः किताबें लिखी गई हैं जिनसे इस जबान की तारीख का दुशवारगुजार रास्तः बहुत-कुछ साफ हो गया है, और अब इसके वजूद का सुराग बहुत दूर तक लगाया जा चुका है, और आज से पाँच सौ बरस पहले के फिकरे जमा किए गए हैं, और तैमूरी बादशाहों से बहुत पहले की नज्म व नस्र किताबें मुहय्या की गई हैं, और अब चहारदरवेश के मुसन्निफ मीर अम्मन के इस बयान को लोग सिर्फ बुजुर्गों की कहानी समझते हैं—"हकीकत उर्दू जबान की बुजुर्गों की जबान से यों सुनी है कि दिल्ली शहर हिंदुओं के नजदीक चौजुगी है, इन्हीं के राजा-परजा कदीम से वहाँ रहते थे और अपनी भाषा बोलते थे। हजार बरस से मुसलमानों का अमल हुआ। सुल्तान महमूद गजनवी आया, फिर गोरी और लोदी बादशाह हुए। इस आमद व रफ्त के बायस कुछ जबानों ने हिंदू-मुसलमान की आमेजिश पाई। आखिर अमीर तैमूर ने, जिनके घराने में अब तलक नाम-नेहाद सल्तनत का चला जाता है, हिंदोस्तान को लिया। उनके आने और रहने से लश्कर का बाजार शहर में दाखिल हुआ। इस वास्ते शहर का बाजार 'उर्दू' कहलाया......। जब अकबर बादशाह तख्त पर बैठे तब चारों तरफ के मुल्कों से सब कौम कदरदानी और फैज-रसानी उस खानदान लासानी की सुनकर हुजूर में आकर जमा हुए। लेकिन हर-एक की गोयाई और बोली जुदी-जुदी थी। इकट्ठी होने से आपस में लेन-देन, सौदा-सुल्फ, सवाल-जवाब करने से एक जबान उर्दू की मुकर्रर हुई। जब

---

[1] तारीख फीरोजशाही, शम्स सिराज अफीफ, सफा २३१, कलकत्ता।

हजरत शाहजहाँ साहबे फेरान ने किला मुबारक और जामा मसजिद और शहरपनाह तामीर करवाया...... तब से शाहजहाँ-आबाद (शाहजहानाबाद) मशहूर हुआ। अगरचे दिल्ली जुदी है और वह पुराना शहर और यह नया शहर कहलाता है, और वहाँ के बाजार को 'उर्दूए मुअल्ला' खिताब दिया।" लेकिन मेरे नजदीक इन चंद सतरों में उर्दू की जो तारीख बयान की गई है वह अशखास के नामों को छोड़कर सरतापा हकीकत है। आज-कल बाज काफ़िलों ने 'पंजाब में उर्दू' और बाज अहले दक्किन ने 'दक्किन में उर्दू' और बाज अजीजों ने 'गुजरात में उर्दू' का नारा बुलंद किया है। लेकिन हकीकत यह मालूम होती है कि हर मुमताज सूबः की मुकामी बोली में मुसलमानों की आमदरफ्त और मेल-जोल से जो तगैयुरात हुए, इन सबका नाम उन्होंने 'उर्दू' रक्खा है; हालाँकि इनका नाम पंजाबी, दखनी, गुजराती और गूजरी वगैरः रखना चाहिए, जैसा कि उस अहद के बाज लोगों ने उसको उन्हीं नामों से याद किया है और उसको दखनी और गूजरी बरमला कहा है; उस वक्त तक इस जबान के लिये 'उर्दू' का लफ्ज पैदा भी नहीं हुआ था।

अमीर खुसरो और अबुलफजल दोनों ने हिंदोस्तान की देशी जबानों में 'देहलवी जबान' का अलग नाम लिया है। अहदे शाहजहानी में जब दिल्ली में उर्दूए-मुअल्ला बना तो उस 'जबान देहली' या 'जबान देहलवी' का नाम 'जबान उर्दूए-मुअल्ला' पड़ गया। चुनांचः लफ्ज 'उर्दू', जबान के मानी में, देहली के अलावः किसी सूबः की जबान पर इतलाक नहीं पाया है। मीर तकी मीर की तहरीरी सनद में जब उसका नाम पहली दफा आया है तो देहली की ही जबान के लिये आया है; मगर फिर भी वह इस्तेलाह के तौर पर नहीं, बल्कि लुगत के तौर पर आया है; यानी मीर ने 'उर्दू जबान' नहीं कहा, बल्कि 'उर्दू की जबान' कहा है—"रेख्ता कि शेरेस्त बतौर शेरे फारसी बजबाने उर्दूए मुअल्ला बादशाहे हिंदोस्तान[१]।" यानी "बादशाह हिंदोस्तान के कैंप या पायःतख्त की जबान।" इससे मालूम हुआ कि मीर के जमानः तक लफ्ज 'उर्दू' जबान के मानी में मुस्तअमिल न था, मगर इसके बाद रफ्तः-रफ्तः आम इस्तेमाल में जबान उर्दू (उर्दू की जबान) के बजाय खुद जबान का नाम 'उर्दू' पड़ गया है और फिर यह उर्दूए मुअल्ला से निकलकर मुल्क में हर जगह उसी असूल पर फैल गई जिस असूल पर हिंदोस्तान में हमेशः राजधानी की भाषा तमाम हुदूद सल्तनत में फैलती रही है।

इस जबान की अस्लियत क्या है ? हमने पिछली सतरों में इसको बार-बार 'नई जबान' कहा है, मगर क्या हकीकत में इसको नई जबान कहना चाहिए ? हम जिसको आज उर्दू कहते हैं वह हकीकत में देहली और अतराफ देहली की वह पुरानी बोली है जो वहाँ पहले से बोली जा रही थी और जिसको खुसरो और अबुलफजल ने 'देहलवी' कहा है और जिसमें जमानः के कायदः के मुताबिक इन्कलाब, उतार-चढ़ाव और खराद होकर लफ्जों की मुनासिब सूरत बन गई। हर जबान तीन किस्म के लफ्जों से बनती है—इस्म, फेल और हर्फ। इस बोली में, जिसको अब उर्दू कहने लगे हैं, फेल जितने हैं वह देहलवी हिंदी के हैं। हर्फ जितने हैं, एक-दो को छोड़कर, वह हिंदी के हैं। अलबत्तः इस्म में आधे इस

---

१. जिक्रे मीर, सफा ६३

हिंदी के और आधे अरबी, फारसी और तुर्की के लफ़्ज हैं; और बाद को कुछ पुर्तगाली और फिरंगी के वह लफ़्ज मिल गए हैं जिनके मुसम्मा इन बाहर के मुल्कों से हैं—जैसे नीलाम, पाव रोटी, पादरी, आलमारी वगैरः। इसलिये उर्दू और हिंदी--वह भी देहलवी हिंदी—में सिर्फ दो फर्क हैं। देहलवी हिंदी तो अपनी जगह पर रह गई; लेकिन इस हिंदी में उस वक्त के नए जरूरियात के बहुत-से अरबी, फारसी और तुर्की के वह अलफाज आकर मिले जिनके मानी और मुसम्मा उन मुल्कों से आए थे। दूसरा फर्क यह पैदा हुआ कि वह हिंदी अपने खत में और यह उर्दू फारसी खत में लिखी जाने लगी। रफ़्तः-रफ़्तः एक और फर्क भी पैदा हुआ कि पुरानी हिंदी के बहुत-से लफ़्जों में, जो जबान पर भारी और सकील थे, जमानः और जबान की फितरी तरक्की के असूल के मुताबिक, हल्कापन और खूबसूरती और खुशआवाजी पैदा करने की कोशिश की गई। इसी तरह अरबी और फारसी और तुर्की के लफ़्जों में भी अपनी तबीयत के मुताबिक इसने तब्दीलियाँ पैदा कीं। उर्दू ने हिंदी के लफ़्जों में इस किस्म का जो तगैयुर किया है उसकी चंद मिसालें यह हैं—

हिंदी	उर्दू	हिंदी	उर्दू
गुण	गुन	जीव	जी
ब्राह्मण	बरहमन	शक्ती	सकत
रावण	रावन	रक्षा	रख
विवाह	ब्याह	पौंचा	पहुँचा
ज्येष्ठ	जेठ	किंतु	क्योंकि
वर्ष	बरस (साल)	माई	माँ
परंतु	पर (मगर)	समय	समाँ
उचित	अच्छा	देश	देस
संबंधी	समधी	लक्षण	लच्छन
वैशाख	बैसाख	नाश	नास (खराब
विचार	बिचार	अग्नि	आग
क्षत्री	खत्री	पूरन	पूरा
मनुष्य	मानुस (जैसे भलामानुस)	मूर्त्ति	मूरत
मेघ	मेहँ	सत या साँच	सच
वर्षाऋतु	बरसात	कुटुंब	कुटुम (खान्दान)
अट	आटा	वार्त्ता	बात
पानी	पानी	हस्ती	हाथी
दधि	दही	बादर	बादल
घृत	घी	दुग्ध	दूध या दूद
भिन्न-भिन्न	भाँत-भाँत	ना	न

उर्दू क्योंकर पैदा हुई ?

चूँकि अब पूरा मुल्क एक था और हमेशः आमद व रफ़्त लगी रहती थी, इसलिये इस देहलवी हिंदी में सैकड़ों लफ़्ज हिंदोस्तान के दूसरे सूबों की बोलियों से आकर रिल-मिल गए और खुसूसियत के साथ पंजाबी और दखनी लफ़्ज़ों की आमेजिश ज्यादः हुई। कहीं यह हुआ है कि फारसी और हिंदी दोनों के हममानी लफ़्ज़ों को एक जगह करके बोलना शुरू किया, ताकि दोनों जबानों के अलग-अलग जाननेवाले एक लफ़्ज से दूसरे लफ़्ज़ के मानी समझ लें। जैसे—धन-दौलत, रंग-रूप, रंग-ढंग, खाक-धूल, क़ागज-पत्तर, मोटा-ताजा, हँसी-मजाक़, हँसी-खुशी, भाई-बिरादर, रिश्तः-नाता। कभी फारसी लफ़्ज में जरा हिंदीपन पैदा कर देते हैं। जैसे—जन-मजूर यानी मजदूर, लौंडी-बाँदी (बंदी, बंदः बमानी गुलाम), बाल-बच्चे ('बाल' हिंदी और 'बच्चा' फारसी, दोनों हममानी हैं)। कहीं यह किया है कि हिंदी लफ़्ज को फारसी तरकीबों के साथ इस्तेमाल किया है। जैसे—समझदार, तिराहा, चौराहा, गाड़ीबान, छमाही, चितरशाही, भालाबरदार। जरूरत है कि उर्दू और हिंदी लिखनेवाले दोनों इस बात की कोशिश करें कि वह एक दूसरे से दूर होने के बजाय एक दूसरे से नजदीक हों, वरना वह दिन दूर नहीं जब यह एक मुल्क दो जबानों में हमेशः के लिये बँटकर अपनी कौमी व मुल्की वहदत का खातिमा कर देगा।

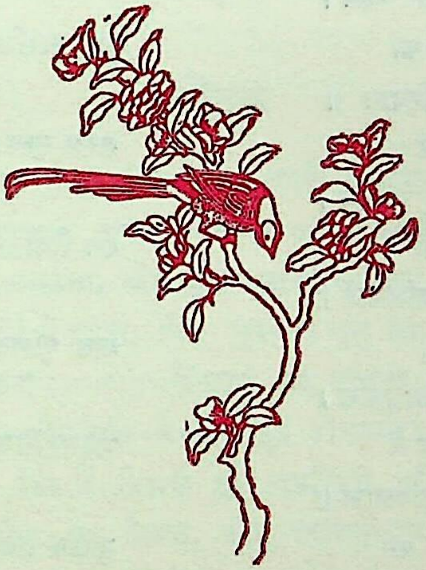

कलिके !

कलिके ! अलि के गुंजन में अस्तित्व खोज ले अपना;
मिटने में ही देखेगी कब तक मिलने का सपना ?
परिमल जिस पुण्य पवन ने था मधुकर तक पहुँचाया;
उसके ही अस्फुट स्वर में सुन ले अलि ने क्या गाया ॥

बालकृष्ण राव

तरंग

सजनि ! मत्त ग्रीवालिंगन में
कर शत-शत श्रृंगार।
मिलने आकर खिँच जाती फिर
किस व्रीड़ा के भार ॥
अगणित कंठों से गा-गाकर
अस्फुट मौलिक गान।
प्रात पहनकर तरणि-किरण का
तितली-सा परिधान ॥
बुद्बुद-दल की दीपावलि में
भर भर स्नेह अपार।
तिमिर-नील-शैवाल-विपिन में
करती नित अभिसार ॥
बरवै-छंदों-सी ऋजु, कोमल,
तू लघु सानुप्रास।
सहृदय-कवि-से सलिल-हृदय में
उमड़ रही सविलास ॥
नर्त्तकि ! अपने मृदुल अधर पर
रख अँगुली सुकुमार।
किस विश्रब्ध नवोढा-सी तू
करती मृदु संचार ॥
पहन भंगिमय कंबु-कंठ में
ताराओं के हार।
करने आती अपर पुलिन से
खद्योतों को प्यार ॥
अपने कर में लेकर उसका
पुलकित बाहु-मृणाल।
सुप्त सरसिजों से इंगित में
कहती कुछ तत्काल ॥
तरल नृत्य ज्योत्स्ना-छाया में,
आतप में मुसकान।
रच शैवाल-तिरस्करिणी[१] में
अभिनय-पट अम्लान ॥
प्रात पुलिन के रंगमंच पर
इच्छाओं-सी मौन।
अहमहमिकया,[२] चिर-यौवनमयि
आती है तू कौन ॥
पुलिन-पतित निर्मुक्त शुक्ति से
कर कुछ मौनालाप।
निठुर नियति पर तन्वि ! तानती
निज आयत भ्रूचाप ॥

---

[१] यवनिका।

[२] मैं पहले तो मैं पहले।

मलय-समीरण की थपकी का
पाकर सुरभित प्यार।
वन्य-बालिके ! सोते-सोते
जग जाती उस पार॥
हृदय-दोल पर कभी झुलाकर
शत जागृत उडु-बाल।
सुला रही गा मृदुल लोरियाँ
अपलक, देती ताल॥
सरिता को अविरल पुलकावलि
मीनों की मुसकान।
शत कटाक्ष चिर-शून्य प्रकृति की
तू, आदान-प्रदान॥

तरुणि ! नित्य तेरे अंचल में
भर निज स्वर्ण महान।
विरल नखत चिर-शून्य मार्ग में
छिप जाता दिन-मान॥
श्याम गगन की पंचवटी में
जब संध्या साकार।
आती है तब तू नूपुर-सी
मुखरित बारंबार॥
नृत्य, गान, उत्थान, पतन, गति,
लय, आदान, प्रदान।
शैशव, यौवन, तम, प्रकाश की
तू साकृति अनुमान॥

जयकिशोरनारायणसिंह

◆

कौतुक

वह सुंदर था, सुशील था, और रसिक था। उसके अल्हड़पन में सरलता थी, और उसके यौवन के उन्माद में बाल-सुलभ चापल्य। सरयू के स्वच्छ जल से क्यारियाँ सींचता, चमन में चहलकदमी करता, और फूल तोड़ता—सूँघता, मसलता, और धूलि-धूसरित कर देता। उसके इस कौतुक से सुकुमार नवीन पौधा सिहर जाता। वह धीरे से आता, और चुपके से चूम लेता। मैं उधर देखती—वह झेंपता, झिझकता, और मुस्कराकर रह जाता। × × × मैं सरस थी, सलोनी थी, और मुग्ध थी। मेरी प्रकृति में संध्या का अलसाया सौंदर्य था, और गति में छिपी हुई रोचकता। मृग-छौना भगता, मैं पकड़ती। वह डरता, मैं मार्ग रोक लेती। फिर मैं बिखरी हुई अधखिली कलियाँ अंचल में भर लाती, और सावधानी से मनोहर माला गूँथती। वह देखता, परंतु तरंगिणी-तट पर जाकर ध्यान-मग्न हो जाता। मैं धीरे से जाती, और चुपके से माला पहना देती। वह आँखों में रस भरकर ऊपर देखता—मैं झेंपती, झुँझलाती, और सहम जाती। × × × संध्या-सुंदरी को श्यामांबर अंधकार अपने अंक में ढँक लेता। वह आगे बढ़ता, मैं पीछे-पीछे चलती। अँधेरा घना हो जाता। स्यार चीखते, मैं चीत्कार कर उसका हाथ पकड़ लेती। आँखें मिलतीं—एक से ज्योति निकलती, और दूसरे में समा जाती। हम झेंपते, झिझकते, और अभिन्न हो जाते !

दिनेशनंदिनी

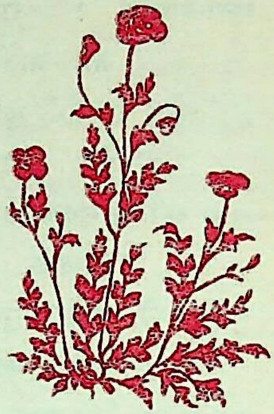

हास्य का मनोविज्ञान

श्री कृष्णदेवप्रसाद गौड़, एम० ए०, एल्-टी०

हँसी क्यों आती है ? किसी बात अथवा किसी स्थिति के भीतर कौन-सी ऐसी वस्तु है जिसे सुनकर या देखकर लोग खिलखिला पड़ते हैं ? जब शब्दों में श्लेष का व्यवहार होता है, जब कोई विचित्र आकार हम देखते हैं, जब हम सड़क पर किसी को बाइसिकिल से फिसलकर गिरता देखते हैं अथवा जब किसी अभिनेता की विचित्र भावभंगी देखते हैं, हमें हँसी आ जाती है। क्या इन सब व्यापारों में कोई ऐसी बात छिपी है जो सबमें सामान्य है ? प्राचीन साहित्य-शास्त्रियों ने शृंगार रस के अन्वेषण में इतनी छान-बीन की कि मालूम होता है, और रसों की सूक्ष्मता पर विचार करने का उन्हें अवकाश ही न मिला। हाँ, हास्य को उन्होंने एक रस माना है अवश्य। इसका स्थायी भाव हँसी है— शब्द, वेश, कुरूपता इत्यादि उद्दीपन हैं। परंपरा के अनुसार इसके देवता, रंग, विभाव, अनुभाव, सब स्थिर कर लिए गए। यह भी बताया गया कि हँसी कितने प्रकारों की होती है। यह सभी बाह्य बातें हैं। जहाँ उद्दीपनों की व्याख्या इस रस के संबंध में की गई वहाँ इसका भी विश्लेषण होना चाहिए था कि क्यों उन्हें देख-सुनकर हँसी आ जाती है। अरस्तू तथा अफलातून-जैसे विद्वानों ने इस पर प्रकाश डालने की चेष्टा की; पर असफल रहे। पाश्चात्य दार्शनिक सली, स्पेंसर आदि ने भी इस पर विवाद किया है। अधिकांश विद्वानों ने इसी तर्क में अपनी शक्ति लगा दी है कि किस बात पर हँसी आती है। क्यों हँसी आती है, इधर कम लोगों ने ध्यान दिया है।

प्रत्येक परिहासपूर्ण विषय में तीन बातों का समावेश होना आवश्यक है। पहली बात जो सब हँसी की बातों में पाई जाती है, वह है 'मानवता'। बहुत-से लोगों ने मनुष्य को वह प्राणी

बतलाया है जो हँसता है। कोई प्राकृतिक दृश्य हो, बड़ा मनलुभावना हो, सुंदर हो; परंतु उसे देखकर हँसी नहीं आती। हाँ, किसी पेड़ की डाली का रूप किसी मनुष्य के चेहरे के आकार के समान बन गया हो, अथवा किसी पर्वत-शिला का रूप किसी व्यक्ति के अनुरूप हो, तो उसे देखकर अवश्य हँसी आ जाती है। कोई विचित्र टोपी या कुर्त्ता देखकर भी हँसी आ जाती है; परंतु सचमुच यदि हम ध्यान दें तो टोपी अथवा कुर्ते पर हँसी नहीं आती, बल्कि मनुष्य ने जो उसका रूप बना दिया है उसे देखकर हँसी आती है। इसी प्रकार सभी ऐसी बातों के संबंध में—जिन्हें देख या सुन या पढ़कर हँसी आती है—यदि हम विचार करें तो जान पड़ेगा कि उसके आवरण में मनुष्य किसी न किसी रूप में छिपा है। दूसरी बात जो हँसी के विषय में आचार्यों ने निश्चित की है वह है वेदना अथवा करुणा का अभाव। भारतीय शास्त्रियों ने भी करुण रस को हास्य का विरोधी माना है। जब तक मनुष्य का हृदय शांत है, अविचलित है, तभी तक हास्य का प्रवेश हो सकता है। जहाँ कारुणिक भावों से हृदय उद्वेलित हो वहाँ हँसी कैसे आ सकती है? भावुकता हास्य का सबसे बड़ा वैरी है। इसका अर्थ यह नहीं है कि जो हमारी दया का पात्र है, अथवा जिस पर हम प्रेम करते हैं, उस पर हम हँस नहीं सकते। परंतु उस अवस्था में, क्षण ही भर के लिये सही, हमारे मन से प्रेम अथवा करुणा का भाव हट जाता है। बड़े-बड़े विद्वानों की मंडली में, जहाँ बड़े परिपक्व बुद्धिवाले हों, रोना चाहे कभी न होता हो, हँसी कुछ न कुछ होती ही है। परंतु जहाँ ऐसे लोगों का समुदाय है जिनमें भावुकता की प्रधानता है—बात-बात में जिनके हृदय पर चोट लगती है, उन्हें हँसी कभी आ नहीं सकती। तुलसीदास का एक सवैया है—

बिंध्य के बासी उदासी तपोव्रतधारी महा बिनु नारि दुखारे।
गौतमतीय तरी तुलसी सो कथा सुनि भे मुनिबृंद सुखारे॥
ह्वैहैं सिला सब चंद्रमुखी परसे पद मंजुल कंज तिहारे।
कीन्ही भली रघुनायक जू करुना करि कानन को पगु धारे॥

इस कविता में व्यंग द्वारा जो परिहास किया गया है उसके कारण सहज ही हँसी आ जाती है; परंतु यदि हम इसे पढ़कर उस काल के साधुओं के आचरण पर सोचने लगें तो हास्य के स्थान पर ग्लानि उत्पन्न होगी। संसार के प्रत्येक कार्य के साथ यदि सब लोग सहानुभूति का भाव रक्खें तो सारे संसार में मुर्दनी छा जाएगी। सब लोगों के हृदय की भावनाओं के साथ हमारा हृदय भी स्पंदन करे तो हँसी नहीं आ सकती, और वही यदि तटस्थ रहकर संसार के सभी कृत्यों पर उदासीन व्यक्ति की भाँति देखा जाय तो अधिक बातों में हँसी आ जाएगी। देहाती स्त्रियाँ किसी आत्मीय के मर जाने पर बड़ा वर्णन करके रोती हैं। यदि कोई उनका रोना सुने, पर यह उसे विश्वास हो कि कोई मरा नहीं है, तो सुननेवाले को हँसी आ जाएगी! रोने का अभिनय जो कितने अभिनेता करते हैं उसे सुनकर रुलाई नहीं आती, बल्कि हँसी; क्योंकि वहाँ वेदना का अभाव है। दूसरा उदाहरण लीजिए। कहीं नाच होता हो और गाना एकदम बंद कर दिया जाय और बाजा भी, तो नाचनेवाले को देखकर तुरंत हँसी आ जाएगी। हँसी के लिये आवश्यक है कि थोड़ी देर के लिये हृदय बेहोश हो जाय। भावुकता की मृत्यु तथा सहानुभूति का अभाव हास्य के लिये जरूरी है। हँसी का

संबंध बुद्धि और समझ से है, हृदय से नहीं। इसी के साथ तीसरी एक और बात है। बुद्धि का संबंध और लोगों की बुद्धियों से बना रहना चाहिए। अकेले विनोद का आनद कैसे आ सकता है? हास्य के लिये प्रतिध्वनि की आवश्यकता है। जब कोई हँसता है तब उसे सुनकर और लोग भी हँसते हैं और हँसी गूँजती रहती है। परंतु हँसनेवालों की संख्या अपरिमित नहीं हो सकती; एक विशेष समुदाय या समाज हो सकता है जिसे किसी विशेष बात पर हँसी आ सकती है। सामयिक पत्रों में जो व्यंग-विनोद की चुटकियाँ प्रकाशित होती हैं उनका आनंद इसी कारण सबको नहीं आता; जिन्हें कुछ बातें मालूम हैं उन्हीं को हँसी आ सकती है। इसी प्रकार साधारणतः सब बातों में होता है। दस व्यक्ति बातें करते हों और हँसते हों—जिन्हें उन बातों का संकेत मालूम है वे तो हँसते हैं, और लोग बैठे बातें सुनते भी हैं तो हँसी नहीं आती। एक भाषा के विनोदात्मक लेखों का सफल अनुवाद दूसरी भाषा में इसी कारण साधारणतः नहीं होता कि पहले देश की सामाजिक अथवा घरेलू अवस्था दूसरे से भिन्न है।

उपर्युक्त तीनों बातें प्रत्येक हास-परिहास के व्यापार के भीतर छिपी रहती हैं—चाहे वह व्यंग-चित्र हो, हास्याभिनय हो, व्यंगपूर्ण लेख अथवा कविता हो; इन तीन बातों की भित्ति पर यदि ये बने हैं तो हँसी आ सकती है, अन्यथा नहीं। यों तो सूक्ष्म विचार करने से हास्य का और भी विश्लेषण हो सकता है; पर यहाँ हम केवल एक बात और कहेंगे। हँसी के लिये यह आवश्यक है कि प्रत्येक वस्तु में साधारणतः जो बातें हम देखते, सुनते, समझते या पाने की आशा करते हैं, उनमें सहसा या शनैःशनैः परिवर्त्तन हो जाय। यह भेद स्थान अथवा समय का हो सकता है। जिस स्थान पर जो बात होनी चाहिए उसका अभाव, अथवा न होना चाहिए उसका होना, हँसी पैदा कर देता है—यदि उसमें, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, गंभीरता का भाव न आने पाए। इसी प्रकार जिस समय जो बात होनी चाहिए या जिस समय जो न होना चाहिए, उसमें उस समय कोई बात न होना या होना। मुझे याद है, एक बार एक मित्र के यहाँ तेरहवीं के भोज में हम लोग गए थे। कुछ मित्र एक ओर बैठे हँसी-मजाक कर रहे थे और जोर-जोर से हँस रहे थे। यह देखकर जिसके यहाँ हम लोग गए थे उसने कहा कि आप लोगों को मालूम होना चाहिए कि आप लोग गमी की दावत में आए हैं। यह सुनकर एक बहुत सीधे सज्जन ने उत्तर दिया कि फिर ऐसे मौके पर आएँगे तो न हँसेंगे। इसे सुनकर बड़े जोरों का कहकहा लगा। बात असामयिक थी और ऐसा न कहना चाहिए था; पर कहे जाने पर कोई हँसी न रोक सका। यहाँ पर साधारणतः जो व्यवहार मनुष्य को करना चाहिए था, अथवा जैसा सब लोग समझते थे कि ऐसे अवसर पर लोग व्यवहार करेंगे, उससे विपरीत बात हुई, इसी कारण हँसी आ गई। एक आदमी चला जा रहा है, रास्ते में केले का छिलका पैर के नीचे पड़ता है और वह गिर पड़ता है, सब लोग हँस पड़ते हैं। यदि वह मनुष्य यकायक न गिरकर चलते-चलते धीरे से बैठ जाता तो लोग न हँसते। वास्तव में जब किसी को लोग चलते देखते हैं तब यही आशा करते हैं कि वह चलता जाएगा। पर वह जो यकायक बैठ जाता है, इस साधारण स्थिति में यकायक परिवर्त्तन हो जाने के कारण हँसी आ जाती है। एक बार मेरे स्कूल के पास एक बारात ठहरी हुई थी। तंबू के नीचे नाच हो रहा था। तंबू की रस्सी मेरे स्कूल की दीवार में कई जगह बँधी हुई थी। कुछ बालकों ने शरारत से इधर की सब रस्सियाँ खोल

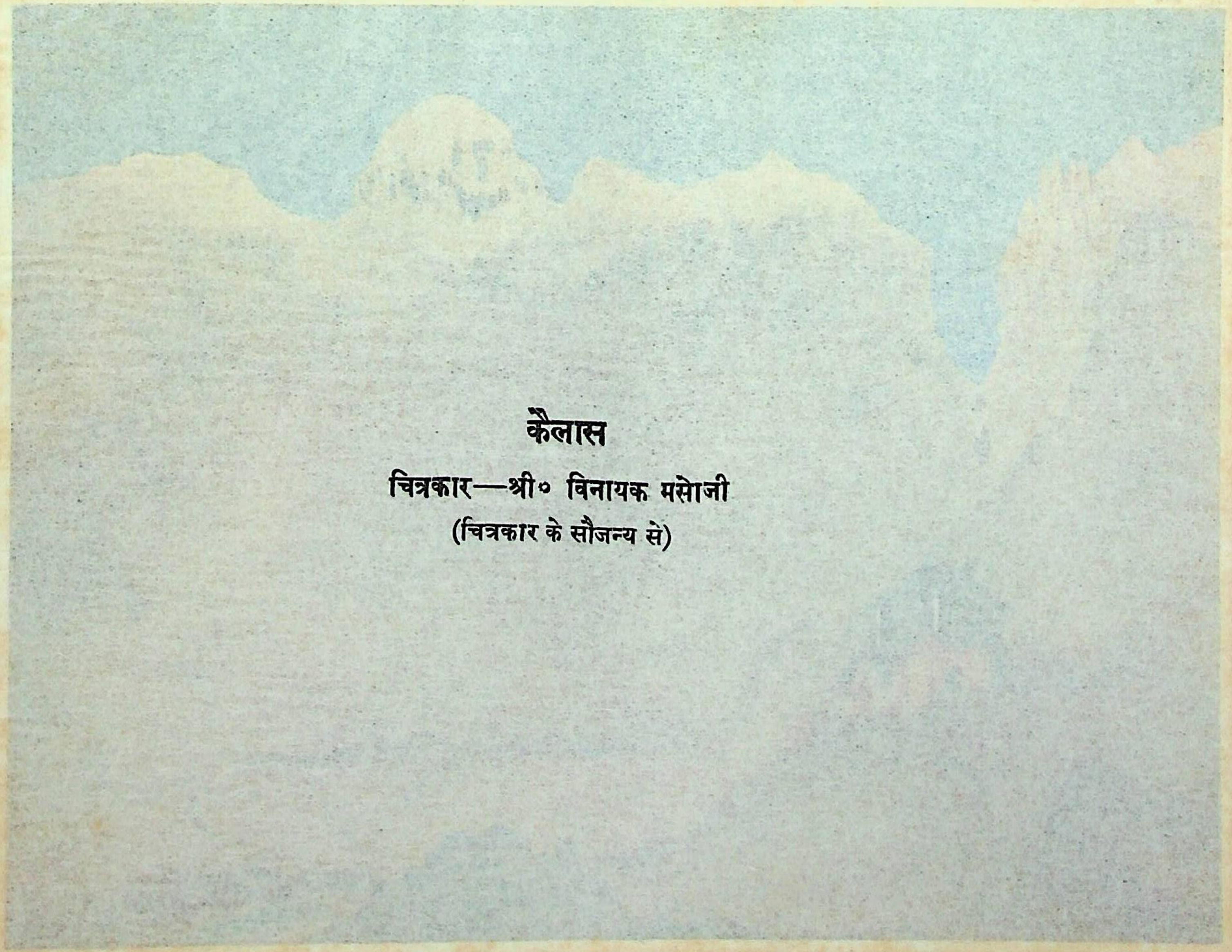

कैलास

चित्रकार—श्री० विनायक मसोजी

(चित्रकार के सौजन्य से)

संबंध बुद्धि और समझ से है, हृदय से नहीं। इसी के साथ [illegible] एक और बात है। [illegible] का संबंध और लोगों की बुद्धियों से बना रहना चाहिए। अकेले विनोद का आनंद कैसे आ सकता है? हास्य के लिये प्रतिध्वनि की आवश्यकता है। जब कोई हँसता है तब उसे सुनकर और लोग भी हँसते हैं और हँसी गूंजती रहती है। परंतु हँसनेवालों की संख्या [illegible] [illegible] [illegible] एक विशेष समुदाय या समाज हो सकता है जिसे किसी विशेष बात पर हँसी आ सकती है। सामयिक पत्रों में जो व्यंग-विनोद की चुटकियाँ प्रकाशित होती हैं उनका आनंद [illegible] [illegible] नहीं [illegible], जिन्हें कुछ बातें मालूम हैं उन्हीं को हँसी आ सकती है। इसी प्रकार साधारणतः एक भाषा में होता है। यदि [illegible] बातें करते हों और हँसते हों—जिन्हें उन बातों का संकेत मालूम है वे तो हँसते हैं, और लोग [illegible] [illegible] भी हैं वो हँसते नहीं [illegible]। एक भाषा के विनोदात्मक लेखों का सफल अनुवाद दूसरी भाषा में [illegible] कारण साधारणतः नहीं होता कि पहले देश की सामाजिक अथवा घरेलू अवस्था दूसरे से भिन्न है।

उपर्युक्त तीनों बातें प्रत्येक हास्य-परिहास के व्यापार के भीतर छिपी रहती हैं—चाहे वह व्यंग-चित्र हो, हास्याभिनय हो, व्यंगपूर्ण लेख अथवा कविता हो; इन तीन बातों की भित्ति पर यदि वे बने हैं तो हँसी आ सकती है, अन्यथा नहीं। यों तो सूक्ष्म विचार करने से हास्य का और भी विश्लेषण हो सकता है; पर यहाँ हम केवल एक बात और कहेंगे। हँसी के लिये यह आवश्यक है कि प्रत्येक वस्तु में साधारणतः जो बातें हम देखते, सुनते, समझने या [illegible] की आशा करते हैं, उनमें सहसा या [illegible] परिवर्तन हो जाय। यह भेद स्थान अथवा समय का हो सकता है। जिस स्थान पर जो बात होनी चाहिए उसका अभाव, अथवा न होना चाहिए उसका होना, हँसी पैदा कर देता है—यदि उसमें, जैसा [illegible] कह चुका हूँ, मार्मिकता का भाव न [illegible]। इसी प्रकार जिस समय जो बात होनी चाहिए या जिस प्रकार [illegible] न होना चाहिए, उसमें वहाँ उस समय वही बात न होना या होना। मुझे याद है, एक बार एक मित्र के यहाँ [illegible] के भोज में हम लोग गए थे। कुछ मित्र एक ओर बैठे हँसी-मज़ाक कर रहे थे और ज़ोर-ज़ोर से हँस रहे थे। यह देखकर जिनके यहाँ हम लोग गए थे उन्होंने कहा कि आप लोगों को मालूम होना चाहिए कि आप लोग [illegible] दावत में आए हैं। यह सुनकर एक बहुत सीधे [illegible] ने उत्तर दिया कि फिर ऐसे मौके पर आइंदा तो न हँसेंगे। इसे सुनकर बड़े ज़ोरों का कहकहा लगा। बात अस्वाभाविक थी और ऐसा न कहना चाहिए था, पर इस बात पर कोई हँसी न रोक सका। वहाँ पर साधारणतः जो व्यवहार मनुष्य को करना चाहिए था, अथवा जैसा सब लोग समझते थे कि ऐसे अवसर पर लोग व्यवहार करेंगे, उसके विपरीत बात हुई, इसी कारण हँसी आ गई। एक आदमी चला जा रहा है, रास्ते में केले का छिलका पैर के नीचे पड़ता है और वह गिर पड़ता है, सब लोग हँस पड़ते हैं। यदि वह मनुष्य अचानक न गिरकर चलते-चलते धीरे से बैठ जाता तो लोग न हँसते। [illegible] में जब किसी को लोग चलते देखते हैं तब यही आशा करते हैं कि वह चलता जाएगा। पर वह जो अचानक बैठ जाता है, इस साधारण नियम में अचानक परिवर्तन हो जाने के कारण हँसी आ जाती है। एक बार मेरे स्कूल के पास एक बारात ठहरी हुई थी। तंबू के नीचे नाच हो रहा था। तंबू की रस्सी मेरे स्कूल की दीवार में कई जगह बँधी हुई थी। कुछ बालकों ने शरारत से इधर की सब रस्सियाँ खोल

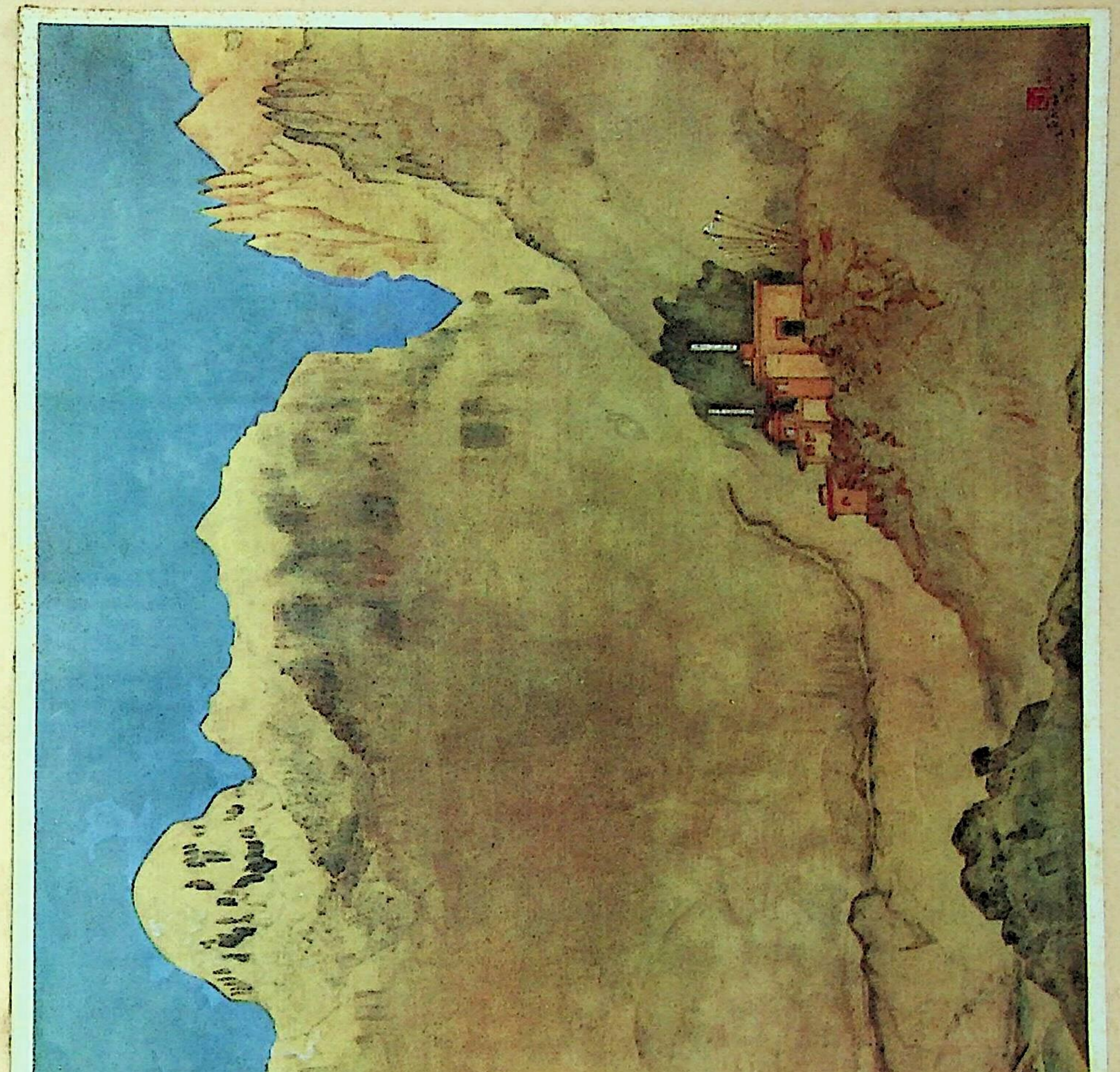

दीं। एक ओर से तंबू गिरने लगा। यकायक सारी मंडली में भगदड़ मच गई। जितने लोग बाहर देख रहे थे, महफिलवालों के भागने पर बड़े जोर से हँसने लगे। यह जो स्थिति में सहसा परिवर्त्तन हो गया, वही हँसी का कारण था। इसी प्रकार, कार्टून अथवा व्यंग-चित्र को देखकर हँसी इसलिये आती है कि जहाँ जिस वस्तु की आवश्यकता है, वहाँ उससे भिन्न—अनुपात से विरुद्ध—वस्तु मौजूद है। जहाँ डेढ़ इंच की नाक होनी चाहिए वहाँ तीन इंच की, जहाँ दो फीट के पैर होने चाहिए वहाँ पाँच फीट के रहते हैं। हाजिरजवाबी की बातों पर भी इसी लिये हँसी आती है कि जैसे उत्तर की आशा सुननेवाले को नहीं है वैसा श्लिष्ट, द्व्यर्थक अथवा चमत्कारपूर्ण उत्तर मिल जाता है। यहाँ भी साधारण से भिन्न अवस्था हो जाती है। हाँ, यहाँ भी गंभीरता का भाव हृदय में न आना चाहिए।

ऊपर यह कहा गया है कि गंभीरता अथवा सहानुभूति का अभाव हास्य के लिये आवश्यक है। यह इसलिये कि करुणा, क्रोध, घृणा आदि हास्य के वैरी हैं। हास्य से गंभीरता का इस प्रकार एक विचित्र तारतम्य है। किसी गंभीर बात पर साधारण-से परिवर्त्तन होने पर हँसी आ जाती है; पर यही हँसी धीरे-धीरे फिर गंभीरता धारण कर सकती है।

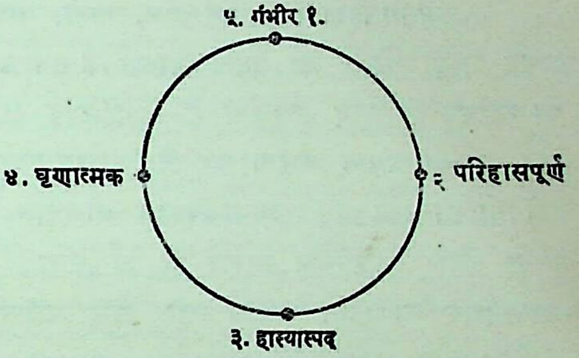

मान लीजिए, कोई सज्जन कहीं जाने के लिये कपड़ा पहनकर तैयार हैं और पान माँगते हैं। स्त्री एक तश्तरी में पान लेकर आती है। वे पान खाते हैं। यहाँ तक कोई हँसी की बात नहीं है, न हँसी आती है; पूरी गंभीरता है। अब मान लीजिए कि पान में चूना अधिक है। खाते ही जब चूना मुँह में काटता है तो खानेवाला मुँह बनाता है। आपको उसे देखकर हँसी आती है। अब वह पान थूकता है और अनाप-शनाप बकने लगता है। इस समय वह हास्यास्पद हो जाता है। इसी क्रोध में वह तश्तरी उठाकर अपनी स्त्री के ऊपर फेंक देता है। अब उसे देखकर हँसी नहीं आती, बल्कि घृणा होती है। इसके बाद हम देखते हैं कि स्त्री के हाथ में तश्तरी से चोट आ गई है। अब हमें क्रोध आ जाता है और पुनः हम गंभीर हो जाते हैं। हम इस प्रकार देखते हैं कि गंभीरता का विचार-मात्र हास्य के लिये घातक है। साथ ही, यह भी है कि गंभीरता की जब अति होने लगती है तब हास्य की उत्पत्ति होती है। हास्य की मनोवृत्ति केवल बुद्धि पर अवलंबित है। यह समझना भूल है कि बुद्धिमान् लोग नहीं हँसते। गंभीर लोग नहीं हँसते, गंभीर लोगों पर हँसी आती है। हाँ, हास्य की पूर्त्ति के लिये व्यंग एक आवश्यक वस्तु है। यह सूक्ष्म से सूक्ष्म हो सकता है और भद्दा से भद्दा। प्राचीन संस्कृत एवं हिंदी-साहित्य में, विशेषतः कविता में, और अँगरेजी साहित्य में भी, प्रचुर परिमाण में व्यंगपूर्ण परिहास मिलता है। व्यंग में भी सामान्य अथवा साधारण स्थिति में जो होना चाहिए उसके अभाव की ओर संकेत रहता है, इसी से उसे पढ़कर या सुनकर हँसी आती है।

खड़ी बोली की प्राचीनता

श्री जगन्नाथप्रसाद शर्मा, एम० ए०, 'रसिकेश'

यों तो हिंदी के अंतर्गत व्रज, खड़ी, अवधी, बुंदेलखंडी इत्यादि कई बोलियाँ हैं; परंतु इस समय 'खड़ी बोली' का इतना विस्तार है तथा इसकी इतनी व्यापकता है कि जन-साधारण इसको हिंदी का पर्यायवाची शब्द समझता है—साहित्यिक ज्ञान रखनेवाले को भले ही इसका वैशेषिक परिचय हो। इसका प्रधान कारण यह है कि व्रज तथा अवधी को बोलचाल की व्यापक भाषा बनने का गौरव नहीं प्राप्त हो सका था। उनका विस्तार बोलचाल में एकदेशीय ही बना रहा। अपने घेरे के बाहर उनका केवल साहित्यिक स्वरूप ही जा सका। इसका एक दूसरा प्रधान कारण यह भी है कि उनमें गद्य-साहित्य का प्रायः अभाव रहा, और व्यावहारिक भावों के आदान-प्रदान का प्रधान सहारा गद्यशैली ही है। किसी भी भाषा का थोड़ा भी परिचय रखनेवाला व्यक्ति उस भाषा के गद्य का आश्रय लेकर अपने भावों को शिष्टवर्ग में स्पष्ट व्यक्त कर सकता है। अस्तु। हिंदी-साहित्य के वर्तमान गद्य एवं पद्य—सभी प्रकार की रचनाओं—में खड़ी बोली ही का प्राधान्य है। समस्त युक्तप्रांत, बिहार तथा मध्यप्रांत के शिष्टवर्ग के साहित्यिक एवं व्यावहारिक विचार-विनिमय में खड़ी बोली ही एकांगिक रूप से प्रयुक्त होती है। यही सर्वसाधारण के बोलचाल की भाषा है। इन प्रांतों के अतिरिक्त अन्य प्रांतों में भी इसका प्रभुत्व स्पष्ट दिखाई पड़ता है। वहाँ के निवासी अपनी प्रांतीय भाषा के अतिरिक्त इसी से प्रधानतः परिचित रहते हैं। इसके परिचय के बिना उनका काम नहीं चलता। खड़ी बोली की वर्त्तमान व्यापकता तथा सर्वप्रियता ही इसके राष्ट्रभाषा बनने में प्रधानतः सहायक हुई है। भारतवर्ष के सीमाप्रदेशों में भी इससे परिचित व्यक्ति प्रायः मिल ही जाते हैं। उक्त प्रांतों के निवासी यदि लंका, अफगानिस्तान प्रभृति प्रांतों में चले जायँ तो विशेष असुविधा में न पड़ेंगे। किंतु आश्चर्य है कि जिस भाषा अथवा बोली का बोलचाल तथा साहित्य में इतना व्यापक प्रसार है उसके जीवन-चरित के आरंभिक पृष्ठों का पता लगाने की चेष्टा संतोषजनक रूप से अभी तक नहीं की गई। हाँ, समय-समय पर इसके प्राचीनतम लिखित स्वरूप को देखने-दिखाने का प्रयत्न अवश्य किया गया है। जहाँ तक इस समय अनुसंधान हो चुका है उसके अनुसार यही कहा जा सकता है कि खड़ी बोली का आंशिक

स्वरूप तेरहवीं शताब्दी तक का प्राप्त है।[1] परंतु उन स्वरूपों से कोई विशेष लाभ नहीं; क्योंकि उनसे तो इसका भी पता नहीं लग सकता कि उस समय इस बोली का कोई स्वतंत्र अस्तित्व भी था या नहीं। बोलचाल में इसका कितना और किस रूप में प्रचार था, इसका प्रामाणिक प्रमाण नहीं प्राप्त है। साहित्य में इसकी कितनी व्यापकता थी, इसका भी निश्चयात्मक रूप से पता नहीं; क्योंकि प्रायः वे स्वरूप अन्य प्रांतिक भाषाओं के बीच ऐसे दबे-से दिखाई पड़ते हैं कि उनकी स्वच्छंद गठन का भी अनुमान नहीं किया जा सकता। इधर कुछ दिन हुए, बड़ोदा के ओरियंटल सिरीज की सैंतीसवीं जिल्द में 'अपभ्रंश-काव्यत्रयी' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई है। उसकी भूमिका में विविध भाषाओं के प्राचीन प्रांतिक रूप दिखाने के अभिप्राय से 'कुवलय-माला-कथा' के उस अंश का उद्धरण दिया गया है जिसमें मीनाबाजार का दृश्य है, जहाँ विभिन्न प्रांतों के बनिए अपनी-अपनी दूकान लगाकर बैठे हैं और ग्राहकों को अपनो ही अपनी भाषा में बुलाते हैं। उस बाजार में जो वणिक 'मध्यदेश' से गया है उसके विषय में इस प्रकार लिखा है—"णय-नीति-संधि विग्गहपडुए बहु जंपिरे पयतीए। 'तेरे मेरे आउ' त्ति जंपिरे मज्झदेशे य ॥[2]" इसका संस्कृत-रूपांतर इस प्रकार है—"नय-नीति-संधि-विग्रहपटुकान् बहुजल्पकांश्च प्रकृत्या। 'तेरे मेरे आओ' इति जल्पतो मध्यदेश्यांश्च ॥" यह 'कुवलय-माला-कथा' अभी तक प्रकाशित नहीं हुई है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति बड़ोदा के जैसलमेर-पुस्तकालय में अभी तक सुरक्षित[3] है। यह ताड़पत्र पर लिखी हुई है। इसका लेखक दाक्षिण्यचिह्नोद्योतनाचार्य और लेखन-काल है विक्रमी संवत् ८३५।

उपर्युक्त उद्धरण के दो महत्त्व हैं। एक तो यह कि इस समय तक यह शुद्ध खड़ी बोली का प्राचीनतम प्रमाण है—इसमें 'तेरे', 'मेरे' सर्वनाम एवं 'आउ' (आओ) क्रिया के विशुद्ध रूप प्राप्त हैं। दूसरा यह कि यह भाषा समस्त मध्यदेश की प्रतिनिधि-स्वरूप प्रयुक्त है। इसका यह तात्पर्य निर्विवाद तथा स्पष्ट है कि उस समय (वि० सं० ८३५) इस प्रांत-विशेष के शिष्टवर्ग के साधारण व्यवहार और बोलचाल में इसी का प्रयोग होता था। इसकी व्यापकता संपूर्ण प्रांत में थी।

इस विषय का विवेचन उस समय तक समाप्त न समझना चाहिए जब तक उक्त उद्धरण में प्रयुक्त 'मध्यदेश' की सीमा निर्धारित न कर ली जाय। यों तो इसकी सीमा समयानुसार परिवर्त्तित होती गई है—क्रम से विकास एवं ह्रास होता गया[4] है, परंतु हमें तो वि० सं० ८३५ के मध्यदेश से परिचय प्राप्त करना है। इसके लिये उस समय से दो सौ वर्ष पूर्व वराहमिहिर के 'बृहत्संहिता' (वि० सं० ६४४) और एक सौ वर्ष उपरांत राजशेखर के 'काव्यमीमांसा' (वि० सं० ९३५—७७) का सहारा

---

[1] नागरी-प्रचारिणी सभा (काशी) का 'हिंदी-पुस्तकों की खोज का विवरण' (अँगरेजी), भाग १, परिशिष्ट १

[2] अपभ्रंश-काव्यत्रयी, पृष्ठ ९२

[3] अपभ्रंश-काव्यत्रयी, पृष्ठ ८९

[4] नागरी-प्रचारिणी पत्रिका (काशी)—नवीन संस्करण, भाग ३, पृष्ठ ३१–४३

लेना आवश्यक है। वराहमिहिर के अनुसार इसके अंतर्गत कुरु, पांचाल, मत्स्य, वत्सा और शूरसेन राज्य थे। उसने साकेत (कोशलराज्य) को इसी के भीतर लिया है। परंतु काशी को निश्चित रूप से इसके बाहर माना है। इस प्रकार उस समय के मध्यदेश के अंतर्गत, वर्त्तमान पंजाब के पूर्वी भाग से लेकर अयोध्या और प्रयाग तक, और हिमालय से लेकर बुँदेलखंड तक, सभी प्रदेश आ जाते हैं। काव्य-मीमांसाकार ने तो मनु जी की दी हुई सीमा को अपनाया है[1]। उसके विचार से पूर्व, पश्चिम और उत्तर की तो प्रायः वही सीमाएँ थीं; परंतु दक्षिण की कुछ और विस्तृत होकर विंध्यगिरि तक चली गई थी। इतना अंतर कोई विशेष नहीं ज्ञात होता। ऐसी अवस्था में इन दोनों प्रामाणिक सीमाओं का विचार कर हम निश्चय कर सकते हैं कि विक्रमीय संवत् ८३५ में मध्यदेश की सीमा इस प्रकार थी—उत्तर में हिमालय पर्वत; दक्षिण में विंध्यगिरि; पूर्व में कोशल-राज्य और प्रयाग; तथा पश्चिम में वर्त्तमान हिसार (प्राचीन विनशन), अंबाला और जयपुर (प्राचीन मत्स्य)।

अभी तक खड़ी बोली के इतिहास में जो यह सिद्धांत कुछ लेखकों के प्रमाद से प्रचलित दिखाई देता है कि इसका जन्म अर्वाचीन काल में हुआ है—अथवा यह केवल मेरठ, सहारनपुर और दिल्ली के समीपवर्त्ती स्थानों में प्रचलित थी और मुसलमानों के विस्तार के साथ-साथ इसका व्यवहार-क्षेत्र भी बढ़ा; नितांत भ्रामक एवं तथ्य-हीन है। वस्तुतः इसका जन्म प्राचीन काल में हुआ और यह अन्य अपभ्रंश भाषाओं के साथ-साथ विकसित और पुष्ट हुई,[2] क्रमशः इसकी व्यापकता बढ़ी और धीरे-धीरे इसका व्यवहार-क्षेत्र भी विस्तृत हुआ। वि० सं० ८३५ तक आते-आते यह समस्त मध्यदेश की व्यावहारिक भाषा बन गई। साधारण बोलचाल में इसके प्रयोग का यथेष्ट प्रमाण प्राप्त हो ही चुका है। यदि इस समय इसका कोई साहित्य नहीं मिलता तो कोई विशेष आश्चर्य की बात नहीं है; क्योंकि इसके साथ ही साथ शौरसेनी अपभ्रंश की व्यापकता भी एक ओर बढ़ रही थी। साहित्य में वह विशेष लोकप्रिय बन गई। वह अपभ्रंश-काल भी था, और अन्य प्रदेशों में भी अन्य अपभ्रंश भाषाएँ प्रधानता ग्रहण कर रही थीं। खड़ी बोली का जो व्यवहार-क्षेत्र था वह भारतवर्ष के मध्य भाग में स्थित था और उसमें प्रधान एवं संपन्न अनेक जनपद थे, जिनसे प्रायः समस्त देश का कुछ न कुछ संबंध था। इस कारण सभी प्रांतों के लोग नित्य यहाँ आया-जाया करते थे और अपनी अपभ्रंश भाषा के स्वरूप का परिचय यहाँ के निवासियों को करा देते थे। यही कारण है कि मध्यदेश के निवासी प्रायः सभी

---

[1] "हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विनशनादपि । प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्त्तितः ॥"

—मनुस्मृति (काव्यमीमांसा, पृ० ९४)

[2] जब हम यह देखते हैं कि नवीं शताब्दी के अर्धभाग में खड़ी बोली (हिंदी) का इतना व्यापक प्रसार था तो कम से कम एक सौ वर्ष इसके गढ़न एवं इतने प्रचार में अवश्य लगे होंगे। ऐसी अवस्था में इसका आरंभ सातवीं शताब्दी का अंत माना जाय तो कुछ अनुचित न होगा।

अपभ्रंश भाषाओं के ज्ञाता हो गए थे।[1] साथ ही वे अन्य प्रांतवाले अपने साथ खड़ी बोली के व्यावहारिक रूप ले जाते थे और अपनी-अपनी प्रांतीय साहित्यिक भाषाओं में उनका प्रयोग करते थे। ऐसा करने में अपने-अपने अनुकूल बनाने में—उनका स्वरूप भी बिगाड़ लेते थे। शौरसेनी अपभ्रंश उत्तरी भारत की प्रधान साहित्यिक भाषा थी। समीपवर्त्ती होने के कारण खड़ी बोली का आभास उसमें स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

उदाहरण के रूप में एक नहीं, अनेक उद्धरण दिए जा सकते हैं। इस स्थल पर साधारण स्वरूप दिखाने के अभिप्राय से कुछ उपस्थित किए जाते हैं। भिन्न टाइप के शब्दों के गठन पर विचार करना चाहिए—(१) भल्ला हुआ जु मारिआ बहिणि महारा कंतु। (२) चंडेसो, रक्खे सो। गोरी रक्खो। (३) भवाणी हसंती। दुरित्तं हरंती। (कृदंत)। (४) ढोल्ला सामला धण चंपा-वण्णी। (५) ढोल्ला मइं तुहुं वारिया। (६) एइ ति घोड़ा एइ थलि। (७) हत्थी जूहा। सज्जा हुआ। (८) अद्धा बलया महिहि गय अद्धा टुट्ट तड़त्ति। (९) एक्के दुन्नय जे कया। इत्यादि। इन्हीं आकारांत रूपों को अपभ्रंश में प्रयुक्त होते देखकर वैयाकरणों को विशेष सूत्र गढ़ना पड़ा—"स्यादौ दीर्घह्रस्वौ'।

---

[1] "गौडाद्याः संस्कृतास्थाः परिचितरुचयः प्राकृते लाटदेश्याः,
सापभ्रंशप्रयोगाः सकलमरुभुवष्टक्कभादानकाश्च।
आवन्त्याः पारियात्राः सह दशपुरजैर्भूतभाषां भजन्ते,
यो मध्ये मध्यदेशं निवसति स कविः सर्वभाषानिषण्णः॥"

—काव्यमीमांसा (अध्याय १०, पृष्ठ ५१)

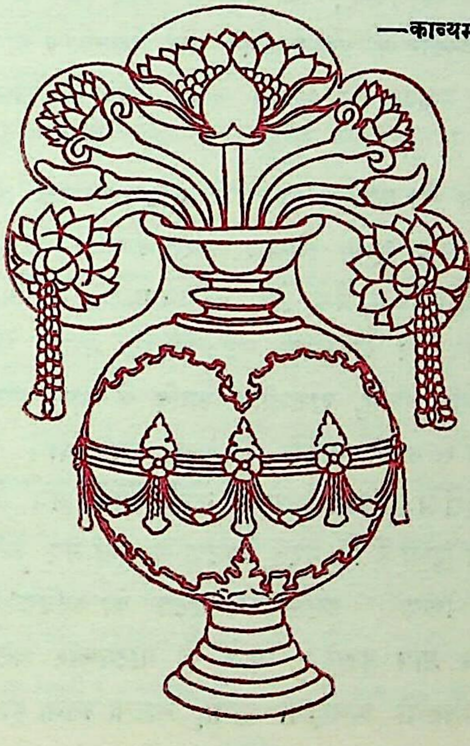

आधुनिक नाटक पर एक दृष्टि

श्री कृष्णानंद गुप्त

वर्त्तमान समय में योरप के साहित्य में समस्यामूलक नाटकों की जो बाढ़ आई है, उसके उद्गम की खोज के लिये हमें इब्सन तक जाना होगा। इब्सन की चर्चा के बिना आधुनिक नाट्य-साहित्य की चर्चा अधूरी ही रहती है। जो इब्सन है, वही आधुनिक नाटक भी है। वर्त्तमान समय का कोई भी ऐसा श्रेष्ठ लेखक नहीं है जिसने किसी न किसी रूप में उसके व्यक्तिवाद के सिद्धांत को न अपनाया हो। इब्सन वर्त्तमान काल के वस्तुवादी लेखकों का प्रथम महापुरुष है। उसी ने सर्वप्रथम नाटक के उर्वर क्षेत्र में वस्तुवाद का वीजारोपण किया, जो अंकुरित होकर अब एक विशाल वृक्ष बन गया है, और खूब फल-फूल रहा है। वस्तुवाद के इस वृक्ष का यह वसंतकाल है, या उसे शिशिर ने सताया है, कुछ कहा नहीं जा सकता; सात समुंदर पार से हमें उसका वैभव ही दृष्टिगोचर होता है; अथवा क्या आश्चर्य जो उसकी जीर्णावस्था को ही हमने यौवन का चिह्न मान लिया हो! जो हो, नाट्य-रचना की प्राचीन रूढ़ियों के कठिन बंधन को तोड़कर इब्सन ने नाटक को एक तीव्र और स्वच्छंद गति प्रदान की। उसने प्रारंभ में स्वयं रोमांटिक ड्रामा लिखे। परंतु उसकी विद्रोही आत्मा को उससे संतोष न हुआ। उसने परिपाटी तोड़ी, और ईर्ष्या, प्रेम, द्वेष, वीरता आदि की अद्भुत और अकल्पनीय कथाओं के मोह-पाश को छिन्न करके जीवन की साधारण घटनाओं को नाटक का विषय बनाया। नाटक के द्वारा उसने विवाह, परिवार, संपत्ति, धर्म, राजनीति आदि के झूठे आदर्शों पर आक्रमण किया। अपनी शक्ति और क्षमता के बल से उसने नाटक की दिशा बदल दी। नाटक को उसने शिक्षक का भार सौंपा। तब से रंगशाला दर्शकों का मनोरंजन न करके उनके मन को नए-नए प्रकार से अस्थिर करती आ रही है। दर्शक इससे क्षुब्ध हैं। परंतु नाटक के इस नए रूप से अब वे परिचित हो गए हैं। इब्सन ने इससे भी अधिक किया। उसके द्वारा नाटक को अधिक सहज, अधिक सरल, अधिक सुंदर, और अधिक सुगठित रूप प्राप्त हुआ। पहले के नाट्यकार घटना को बहुत महत्त्व देते थे। उनकी धारणा थी कि कथावस्तु जितनी अनहोनी होगी, नाटक उतना ही अधिक रोचक होगा। परंतु

इब्सन ने साधारण घटनाओं के आधार पर ही अद्भुत नाट्यसृष्टि करके यह सिद्ध किया कि नाटक की कथावस्तु दर्शकों अथवा पाठकों के लिये जितनी परिचित और साधारण होगी, नाटक उतना ही श्रेष्ठ और चमत्कारपूर्ण होगा। इब्सन का यह संदेश वास्तव में महत्त्वपूर्ण है। परंतु इब्सन का मूल्य उसके संदेश से भी अधिक है। संसार के साहित्य को उसने शॉ, गॉल्सवर्दी, ब्रीओ, हाप्टमैन-जैसे श्रेष्ठ रियलिस्टिक साहित्य-शिल्पी भेंट दिए हैं। और, यदि वर्त्तमान समय का नाट्य-साहित्य केवल विषय की विवेचना के फेर में पड़कर एकांगी होता जा रहा है, तो इसके लिये भी इब्सन ही उत्तरदायी है। शॉ महोदय ने अपने अद्भुत लेखन-चातुर्य के बल से इब्सन के नाट्य-साहित्य का मंथन करके उसमें से 'इब्सन-इज्म' नाम की एक अभिनव वस्तु का आविष्कार किया है। सब प्रकार के आदर्शों पर आक्रमण करना ही इस 'इज्म' का एकमात्र उद्देश्य है। शॉ चाहते हैं कि एक से दूसरे छोर तक संसार के समस्त लेखक इब्सन-वाद की पूजा करें और उसका आदर्श मानें। वे सचमुच विलक्षण पुरुष हैं! वे कहते हैं कि इब्सन के बाद 'डिसकशन' (विवेचना) ने योरप के नाट्य-साहित्य पर अधिकार जमा लिया है। श्रेष्ठ लेखक नाटक में अब विवेचना को ही मुख्य स्थान देते हैं। पर यह वास्तव में 'डिसकशन' की नहीं, इब्सन और शॉ की ही विजय है। इब्सन के पास अपूर्व नाट्य-कौशल था, उसने नाटक को एक नवीन रूप दिया; और शॉ के हाथ विजयश्री इसलिये लगी कि उनमें शासन की अद्भुत क्षमता है। वे स्वभाव से ही प्रभुत्व-प्रिय हैं। उनके हाथ में तर्क और पांडित्य की तीखी तलवार है जिसकी तेज धार के सामने अच्छा से अच्छा खिलाड़ी ठहर नहीं सकता। अपने समस्त नाटकों के वे स्वयं ही प्रधान चरित्र हैं। बड़े-बड़े तर्क-व्यापार के नायक वे स्वयं ही हैं। उनके नाटक का एक साधारण पात्र भी साम्यवाद को समस्या पर धारा-प्रवाह वक्तृता दे सकता है। नाट्य-रचना के समस्त सिद्धांतों की उन्होंने हठपूर्वक अवहेलना की है। परंतु कोई भी विवेकशील लेखक उनके अनुकरण का दुस्साहस न करेगा जब तक कि वह स्वयं शॉ नहीं है।

हमारे साहित्य-मन को भी इब्सन-वाद का धक्का लगा है। जिसका सद्यःफल यह हुआ कि अभी हमने केवल भरत मुनि के नाट्यशास्त्र पर हमला बोला है। यह बहुत अशुभ नहीं है। पर हिंदी में हम इस ढंग के नाटक नहीं चाहते। इब्सन की 'नोरा' अपने पति का त्याग करके घर से बाहर निकल जाती है। इस नादान लड़की और उसके सृष्टिकर्त्ता दोनों से ही हमें समझौता करने की जरूरत है। योरप ने आज-कल अपने लिये विविध प्रकार की जटिल समस्याएँ उत्पन्न कर ली हैं। उनकी मीमांसा हुए बिना उसे चैन न मिलेगा। अतएव वहाँ के सभी श्रेष्ठ लेखक नाटक द्वारा समस्या की विवेचना में लगे हुए हैं। उनकी कोई अन्य गति नहीं है। समय की यही आकांक्षा और यही आवश्यकता है कि नाटक समस्या की आलोचना करे। पर वह किसी समस्या का उत्तर नहीं देता। इस विषय में इब्सन और उसके अनुयायी हमें अंधकार में ही छोड़ते हैं। इब्सन ने तो स्वयं ही कहा है कि 'मेरा कार्य तो केवल समाज-शरीर के रोग का निदान करना है; संस्कार वे लोग करें जो कवि या नाटककार नहीं हैं।' इब्सन के पल्ले नाट्य-प्रतिभा की अतुल संपत्ति है, अन्यथा भगवान् जाने, उसके अधिकांश नाटकों की क्या गति होती! वर्त्तमान समय के लेखकों ने नाटक को यदि विचार-प्रकटन

का प्रधान साधन बना लिया है तो इसके लिये उन पर प्रचार-मूलक होने का अभियोग नहीं लगाया जा सकता। डार्विन और मार्क्स के इस युग में मनुष्य सब विषयों में अधिकाधिक शंकाशील होता जा रहा है। परंतु इसके उदाहरण बहुत विरल नहीं हैं कि नाटक में जहाँ विषय के प्रयोजन को अधिक महत्त्व मिला है, वहीं वह अपने आदर्श से च्युत हुआ है। ब्रीओ ने 'दागी माल' (Damaged Goods) के बजाय 'सिफलिस' के विषय पर कोई पुस्तिका लिखी होती तो मैं समझता हूँ, उपयोग की दृष्टि से वह उतनी ही महत्त्वपूर्ण होती जितनी उसकी उक्त प्रसिद्ध नाट्य-रचना। ब्रीओ की लेखनी में बहुत बल है; परंतु वह जैसे कभी-कभी नाट्यकार न बना रहकर सुधारक बन जाता है।

नाटककार चाहे सुधारक बने, चाहे शिक्षक, हमें इसकी चिंता नहीं। जब तक वह जो है वह बने रहने में आनंद मानता है।

नृत्य देखने की लालसा और कथा सुनने का औत्सुक्य, इन दो के मधुर मिलन से नाटक का जन्म हुआ। धार्मिक उत्सवों के गीत, वाद्य और नृत्य को नाटक की गति मिली; और उत्सव कला के रूप में खिल उठा। परंतु चिंताशील लेखकों ने जीवन के इस चित्र की व्याख्या की। दर्शन की जगह उन्होंने नाटक लिखे और रंगमंच पर सुधारक की मूर्त्ति स्थापित की। नाटक की विस्मयजनक उन्नति हुई है। परंतु दूसरी दिशा में उसका एक अंग छिन्न हुआ है। चरित्र-चित्रण की कला में हम बहुत दक्ष हो गए हैं और नाटक का रूप स्फटिक की तरह स्वच्छ और उज्ज्वल हो गया है। इसका मूल्य हमने कवित्व से दिया है। हमें अब कथा सुनने को मिलती है; परंतु नृत्य देखने को नहीं मिलता। नाटक अब वस्तु की विवेचना करता है, रस के ऊर्ध्वलोक में विचरण करना उसने त्याग दिया है। भविष्य में नाटक का रूप क्या होगा, कहना कठिन है। मैटरलिंक, ईट्स आदि भाव-रस-प्रधान लेखकों का विश्वास है कि आगे के नाट्यकार मनुष्य-चरित्र की जगह भावों का चित्रण करेंगे। भाव ही एक रस बन जायगा। मनुष्य क्रमशः उन्नत होकर और भी अधिक सूक्ष्म-बुद्धि बनेगा, और तब स्थूल रस से उसकी तृप्ति न होगी। उसकी इंद्रियाँ इतनी सूक्ष्म हो जाएँगी कि कवि भावों की जिस निरंतर पलायमान छाया को पकड़ता है और पकड़ नहीं पाता, उन्हें वह अपनी कल्पना द्वारा मूर्त्ति-रूप में ग्रहण कर लेगा। परंतु ऐसे लेखकों का भविष्य बहुत उज्ज्वल नहीं दिखाई देता। 'सिंबलिज्म (Symbolism)' को लोग पसंद नहीं कर रहे हैं। वह ऐसी अशरीरी वस्तु है जिसे मनुष्य ग्रहण नहीं कर सकता, जब तक प्रकृति की ओर से उसे एक छठी सूक्ष्म इंद्रिय प्राप्त न हो जाय। जे० एम० सिंज आधुनिक युग का एक प्रसिद्ध नाट्यकार है। उसे मैटरलिंक के रूपक नाटक भी पसंद नहीं, और इब्सन के वस्तुवादी नाटक भी वह नापसंद करता है। उसे जॉन्सन, मोलियर और शेक्सपियर ही प्रिय हैं। यह शुभ लक्षण है। वस्तुवाद से ऊब कर साहित्य ने मैटरलिंक को जन्म दिया। 'मिस्टीसिज्म' (Mysticism) नाम की वस्तु से लोग जब ऊबेंगे तब क्या होगा?

आनंद और उत्सव को लेकर नाटक बना था। कारणवश वह मार्ग से भटक गया है। इस भूलने में ही अभी उसे पर्यटन का आनंद मिल रहा है। पर एक दिन ऐसा अवश्य आएगा जब

उसका पाथेय चुक जायगा। तब वह अपना मार्ग खोजेगा, जिसका फल होगा—नाटक फिर नाटक बनेगा। उसमें गीत भी होगा, नृत्य भी होगा, वाद्य भी होगा, और कथा भी होगी।

हिंदी में नाट्य-साहित्य का नवयुग आरंभ हो रहा है। अतएव योरप के नाटक-साहित्य की वर्त्तमान गति-विधि पर बहुत सतर्क भाव से दृष्टि रखने की आवश्यकता है।

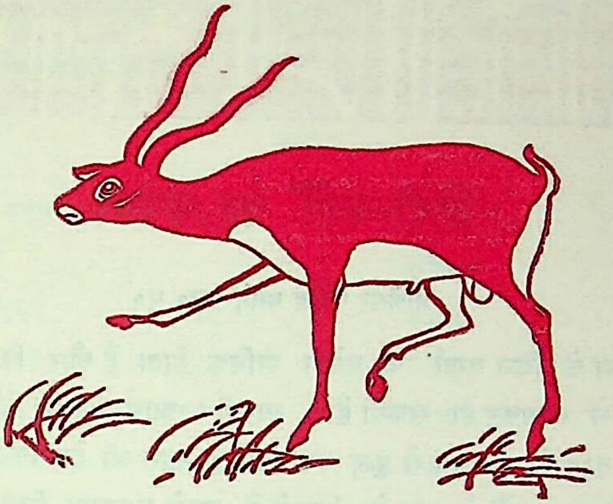

कामना

गगनांचल में कलाकार के हास्य-सा चंद्रमा भी मुसका रहा हो।
निशा के लिये मार्ग में चाँदनी के अति कोमल पुष्प बिछा रहा हो॥
मनोमंदिर में प्रतिमा निशा की रख मुग्ध-सा ध्यान लगा रहा हो।
मणि-माणिक के बँधे तोरण हों, नभ तारों के दीप जला रहा हो॥
जग डूब रहा हो अचेतना में, यमुना कल गान सुना रही हो।
उन्हीं राधिका-कृष्ण की प्रेम-कथा के मनोहर चित्र बना रही हो॥
कुछ श्वेत-सी हो यमुना की तटी जो अतीत के पृष्ठ गिना रही हो।
वहीं रूठ के बैठ गया हो चकोर, चकोरी सभक्ति मना रही हो॥
वहीं बैठ के ध्यान तुम्हारा धरूँ, तन-प्राण तुम्हीं में विसर्जन हो।
पद पूजने को कुछ हो या न हो, पर आँसुओं के बिखरे कण हों॥
फल, अक्षत, पुष्प हों भावना के, तुम्हें बैठने को हृदयासन हो।
करूँ आरती भक्ति-प्रदीप जला, उस ज्योति में भारती-दर्शन हो॥

रामेश्वरीदेवी मिश्र 'चकोरी'

हिंदी-वर्णों का प्रयोग

प्रोफेसर धीरेंद्र वर्मा, एम० ए०

हिंदी-वर्णमाला के किन वर्णों का प्रयोग अधिक होता है और किनका कम, इस बात की जानकारी कई दृष्टियों से लाभकर हो सकती है। भारतीय आर्यभाषाओं के ध्वनि-विकास पर प्रकाश डालने के अतिरिक्त इस तरह के अध्ययन से कुछ व्यावहारिक लाभ भी हो सकते हैं। उदाहरण के लिये, हिंदी टाइपराइटर आदि के वर्णों के क्रम को बिठाने में इससे सहायता मिल सकती है। हिंदी टाइप कौन कितना चाहिए, इसमें भी इस तरह के अध्ययन से सहायता ली जा सकती है। अब से पहले हिंदी वर्णमाला का इस दृष्टि से कभी विश्लेषण हुआ है, इसका मुझे पता नहीं। इसी लिये मैं अपने इस प्रयोग के परिणामों को संक्षेप में यहाँ लेखबद्ध कर रहा हूँ।

कुछ गद्य-रचनाओं में से कुल मिलाकर एक हजार अक्षर अपने विद्यार्थियों को बाँटकर उनका विश्लेषण मैंने अपने सामने कराया। इन विश्लेषणों के जोड़ने से जो परिणाम निकला वही इस लेख में दिया गया है। जिन पुस्तकों से उद्धरण लेकर वर्णों का विश्लेषण किया गया है उनके नाम, अक्षर-संख्या तथा शब्द-संख्या के साथ, नीचे दिए जा रहे हैं—

	रचना का नाम	अक्षर-संख्या	शब्द-संख्या
(१)	अष्टछाप (ब्रजभाषा गद्य)	१००	४५
(२)	तुलसीकृत रामायण अयोध्याकांड (भूमिका)	१००	५१
(३)	सूरपंचरत्न (भूमिका)	१५०	७१
(४)	परिषदुनिबंधावली (भाग १)	१००	४०
(५)	हमारे शरीर की रचना	१००	४०
(६)	साहित्य-समीक्षा	१००	४५
(७)	'लोकमत' (दैनिक पत्र)	१५०	६९
(८)	'भारत' (साप्ताहिक पत्र)	२००	९०
		१०००	४५१

हिंदी-वर्णों का प्रयोग

ऊपर की तालिका से यह भी पता चलता है कि हिंदी-शब्दों में अक्षरों की संख्या का औसत दो है। इन भिन्न-भिन्न उद्धरणों के विश्लेषणों के जोड़ने से पृथक्-पृथक् वर्णों के प्रयोग के संबंध में जो परिणाम निकला वह नीचे तालिका में दिया गया है। ह्विटने ने संस्कृत भाषा में प्रयुक्त ध्वनियों का विश्लेषण किया था जिसका परिणाम उसके संस्कृत-व्याकरण (§७५) में दिया हुआ है। तुलना के लिये यह तालिका भी बराबर में दे दो गई है। यहाँ यह बात स्पष्ट कर देनी आवश्यक है कि मैंने अपने प्रयोग में विशेष ध्यान लिपि-चिह्नों पर दिया है, न कि ध्वनियों पर; क्योंकि मैंने यह प्रयोग व्यावहारिक दृष्टि से किया है, न कि केवल शास्त्रीय दृष्टि से।

स्वर

	पूर्ण स्वर	मात्रा	जोड़	हिंदी में प्रयोग प्रतिशत	संस्कृत में प्रयोग प्रतिशत
अ	१६	३६२	३७८	३७·८	१९·७८
आ	९	१३२	१४१	१४·१	८·१९
इ	१२	८८	१००	१०·०	४·८५
ई	७	६४	७१	७·१	१·१९
उ	१२	२८	४०	४·०	२·६१
ऊ	...	७	७	०·७	०·७३
ऋ	...	४	४	०·४	०·७४
ए	४	९	१३	१·३	२·८४
ऐ	२	३५	३७	३·७	०·५१
ओ	१	४६	४७	४·७	१·८८
औ	५	५	१०	१·०	०·१८

व्यंजन

	पूर्ण व्यंजन	हलंत व्यंजन	जोड़	हिंदो में प्रयोग प्रतिशत	संस्कृत में प्रयोग प्रतिशत
क	११०	९	११९	११·९	१·५९
ख	१३	२	१५	१·५	०·१३
ग	२०	२	२२	२·२	०·८२
घ	२	...	२	०·२	०·१५
ङ	...	१	१	०·१	०·२२
	१४५	१४	१५९		

	पूर्ण व्यंजन	हलंत व्यंजन	जोड़	हिंदी में प्रयोग प्रतिशत	संस्कृत में प्रयोग प्रतिशत
च	८	२	१०	१·०	१·२६
छ	५	...	५	०·५	०·१७
ज	२५	२	२७	२·७	०·९४
झ	२३	...	२३	२·३	०·०१
ञ	...	१	१	०·१	०·३५
	६१	५	६६		
ट	५	१	६	०·६	०·२६
ठ	३	...	३	०·३	०·०६
ड	१	...	१	०·१	०·२१
ढ	...	...	...	...	०·०३
ण	४	...	४	०·४	१·०३
	१३	१	१४		
त	५५	१०	६५	६·५	६·६५
थ	१९	२	२१	२·१	०·५८
द	३६	७	४३	४·३	२·८५
ध	७	...	७	०·७	०·८३
न	५८	१९	७७	७·७	४·८१
	१७५	३८	२१३		
प	४३	...	४३	४·३	२·४६
फ	२	...	२	०·२	०·०३
ब	१५	२	१७	१·७	०·४६
भ	१३	-	१३	१·३	१·२७
म	५६	५	६१	६·१	४·३४
	१२९	७	१३६		
य	५३	१	५४	५·४	४·२५
र	७८	२५	१०३	१०·३	५·०५
ल	२९	...	२९	२·९	०·६९
व	३७	४	४१	४·१	४·९९
	१९७	३०	२२७		

हिंदी-वर्णों का प्रयोग

	पूर्ण व्यंजन	हलंत व्यंजन	जोड़	हिंदी में प्रयोग	संस्कृत में प्रयोग
				प्रतिशत	प्रतिशत
श	१५	५	२०	२·०	१·५७
ष	१३	२	१५	१·५	१·४५
स	७६	६	८२	८·२	३·५६
ह	८४	...	८४	८·४	१·०७
	१८८	१३	२०१		
ड़	१	...	१	०·१	...
ढ़	३	...	३	०·३	...
:	३	...	३	०·३	१·३१
ं	३२	...	३२	३·२	...
ँ	३	...	३	०·३	०·६३
	४२	०	४२		

ऊपर की तालिका[1] में अ की मात्रा से मतलब पूर्ण व्यंजन से है। इस तरह के व्यंजनों में कुछ उच्चारण की दृष्टि से हलंत भी हो सकते हैं, किंतु उपर्युक्त गणना में इसका ध्यान नहीं रक्खा गया है। अनुस्वारों की संख्या भी ध्वनि की दृष्टि से शुद्ध अनुस्वार की द्योतक नहीं है; क्योंकि हिंदी में अनुस्वार का प्रयोग शुद्ध अनुस्वार के अतिरिक्त पंचमाक्षर तथा अनुनासिक स्वर के लिये भी होता है। अनुस्वार के प्रयोग का यह भेद नहीं दिखलाया जा सका है। इसी कारण अर्द्धचंद्र द्वारा द्योतित अनुनासिक स्वरों की संख्या भी संदिग्ध समझनी चाहिए; क्योंकि कुछ अनुनासिक ध्वनियाँ अनुस्वार-चिह्न के अंतर्गत आ गई हैं। अन्य संख्याएँ लिपिचिह्न के साथ-साथ ध्वनि की दृष्टि से भी ठीक हैं।

ऊपर की तालिकाओं से निम्नलिखित रोचक परिणाम निकलते हैं—(१) हिंदी-शब्दों में वर्णों की संख्या का औसत लगभग दो है (शब्दसंख्या ४५१, अक्षरसंख्या १००)। इसका कारण कदाचित् एकाक्षरी कारक-चिह्नों का अधिक प्रयोग है। ये पृथक् शब्द गिने गए हैं। (२) क्योंकि प्रत्येक वर्ण में साधारणतया एक स्वर तथा एक या अधिक व्यंजन होता है, इस कारण १००० वर्णों में लगभग दुगुनी ध्वनियाँ (१९०६) मिलती हैं। (३) हिंदी में सबसे अधिक प्रयुक्त वर्ण क है, सबसे अधिक प्रयुक्त ध्वनि अ है तथा सबसे कम प्रयुक्त वर्ण अथवा ध्वनि ढ है। (४) स्वरों में पूर्ण स्वरचिह्नों की अपेक्षा मात्राचिह्नों का प्रयोग कहीं अधिक होता है। इस दृष्टि से ऊपर दी हुई स्वरों की तालिका अत्यंत रोचक है। किंतु व्यंजनों में हलंत व्यंजनों की अपेक्षा पूर्ण व्यंजनों का प्रयोग कहीं अधिक होता है। (५) न्यूनाधिक

---

[1] ऊपर दिए हुए व्यंजनों में नीचे लिखे विशेष संयुक्त लिपि-चिह्नों के प्रयोग पाए गए। देवनागरी-लिपि की दृष्टि से ये संख्याएँ भी रोचक हैं—च्च ४, त्र २, ज्ञ १, क्त २, द्य ३, त्त १, द्र १।

प्रयोग की दृष्टि से पूर्ण स्वरों का क्रम निम्नलिखित होगा—अ, इ, उ, आ, ई, औ, ए, ऐ, ओ, ऊ, ऋ; मात्रा-चिह्नों का क्रम निम्नलिखित होगा—अ (अर्थात् मात्रा का अभाव), आ, इ, ई, ओ, ऐ, उ, ए, ऊ, औ, ऋ; समस्त हिंदीवर्णसमूह में स्वरध्वनियों के प्रयोग का क्रम निम्नलिखित होगा—अ, आ, इ, ई, ओ, उ, ऐ, ए, औ, ऊ, ऋ। किसी तरह भी गणना की जाय, स्वरों में अ का स्थान सर्वप्रथम और ऋ का अंतिम रहता है। (६) प्रयोग की दृष्टि से पंचवर्गों का क्रम निम्नलिखित है—तवर्ग, कवर्ग, पवर्ग, चवर्ग, टवर्ग। अंतस्थ तथा ऊष्म वर्गों को संमिलित कर लेने से तवर्ग से भी पहले क्रम से अंतस्थ तथा ऊष्मों का स्थान पड़ता है। (७) न्यूनाधिक प्रयोग की दृष्टि से व्यंजनों का क्रम निम्नलिखित होगा—

१०० से अधिक—क र
५१ से १०० तक—ह स न
त म य

११ से ५० तक—प द व
ल ज झ ग थ
श ब ख ष भ

१ से १० तक—च ध ट छ ण ढ़
ठ घ फ ड ञ
ङ ड़।

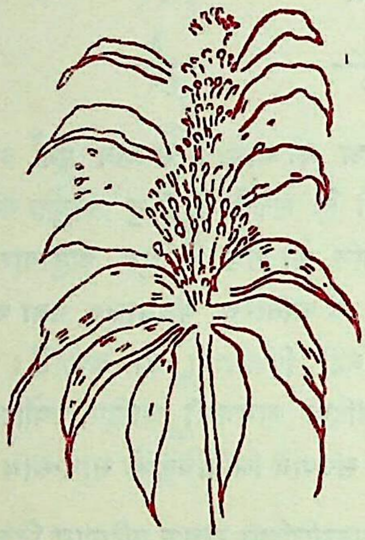

निंदे !

अयि निंदे ! ये जन तेरे, अब मुझको बहुत सुहाते।
मैं भी उनकी होली में, सुंदर अबीर बन जाऊँ।
निंदे ! तेरी क्षणदा में, जग की आँखें जब मुँदतीं,
मैं जगकर तेरे नर से, मधुधा ऊषा बन जाऊँ।

यज्ञनारायण आचार्य

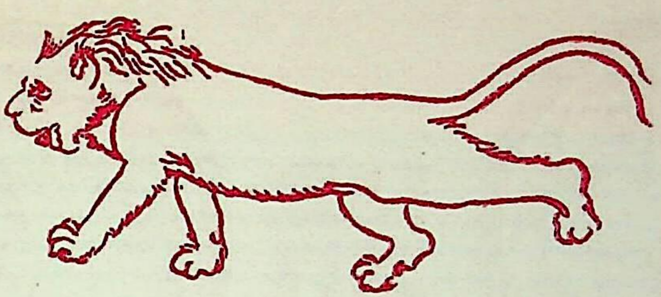

प्रताप-पंचक

तमकि प्रताप तानि चाप रन बीच कह्यौ, रहु नीच ! आजु पूरौ निज प्रन पारौं मैं।
छाँड़ि ऐन ऐसे बिस-बैन बरसानवारी, निपट गँवारो जीभ पकरि निकारौं मैं॥
'अखय' उमैठि सैन सकल समेटि डारौं, बिधि-कृत भाल-रेख हूँ कौ मेटि डारौं मैं।
गारि डारौं गरब गुमान-पट फारि डारौं, मारि मान डारौं अभिमानहिं विडारौं मैं॥

करि भटभेरो रन अरि सौं प्रताप कह्यौ, तेरो साह ! सासन बिसाहि सीस धारौं ना।
छाँड़ि राज-आसन उपासौं बन ईस खास, करि तुव आस कर-जुगल पसारौं ना॥
जैसो कुल-कानि मेरी वैसियै अनैसी बानि, ठानि जौन लीनी ताहि 'अखय' निवारौं ना।
आन धन पै धौं मान वारत बिचारौं नैंकु, मान-धन पै तौ प्रान वारत बिचारौं ना॥

'अखय' प्रताप रन कान लौं कमान तान्यौ, जानि कै तुफान बान उफनि मचावैं हैं।
एक सर लैनु कर बाढ़ैं बढ़ि आवैं आठ, काढ़ैं आठ सीस लगि साठ चढ़ि जावैं हैं॥
जौ लौं एक बान कौ न जमत निसान तौ लौं, बान परि बीच केते नजर चुकावैं हैं।
केते अरि-पाप हरि आवैं बिनु चाप चढ़ैं, बिनु हीं प्रताप केते दाप दरि आवैं हैं॥

उधम अबूझ माँच्यौ रन जूझिबे की बेर, कृतब प्रतापहिं न कछु सूझि पावै है।
'अखय' बखानै रारि असमय अस्त्रनु की, सत्रुनु सँघारिबे कौ समय नसावै है॥
बाढ़ी बरछी पै वार करत कटारि जा पै, कुटिल कुठारी इत न्यारी बढ़ि आवै है।
लचत कमान उत जा पै चढ़ि आवैं बान, इत उचि म्यान तैं कृपान कढ़ि जावै है॥

पर्‍यौ मुख पीरौ अंग सीरौ बैरि-बृंदन कौ, भई भीति एती परताप रन ठाढ़ै तैं।
मुए पाँच कोपैं बाहु फरकैं पचीस मुए, बिबस पचास पानि असि ओर बाढ़ै तैं॥
'अखय' मुए सौ कर लागत कृपान गात, साबित सहस मूठि पकरत गाढ़ै तैं।
बिलखत लाख मुए म्यान-मगु कीन्हैं पार, घोर सोर करत करोर असि काढ़ै तैं॥

अक्षयकीर्त्ति व्यास 'अखय'

गोस्वामी तुलसीदास और समर्थ रामदास

श्री ब्योहार राजेंद्रसिंह

गोसाईं तुलसीदास जी का एक दोहा है—"असुर मारि थापहिं सुरन्ह, राखहिं निज स्रुति-सेतु; जग बिस्तारहिं बिसद जस, राम-जनम कर हेतु।" इसके अनुसार धर्म-स्थापना और दुष्ट-दमन के लिये ईश्वर अवतार धारण करता है। इसी प्रकार संत भी ईश्वर के मार्ग को सरल करने के लिये अवतार लेते हैं। बहुत-से लोगों के मतानुसार संत और भगवंत में अधिक अंतर नहीं है।

अवतारों और संतों के कार्य

जो वीर पुरुष दुष्ट-दमन करते तथा जो संत या महापुरुष धर्मस्थापना करते हैं वे ही अंश-रूप में या पूर्ण-रूप में ईश्वर के अवतार मान लिए जाते हैं। समर्थ रामदास का भी 'दासबोध' में एक पद्य है—"धर्म स्थापनाचे नर, ते ईश्वराचे अवतार; झाले आहेत पुन्हा होणार, देणे ईश्वराचें।"—अर्थात् धर्मस्थापना करनेवाले पुरुष ईश्वर के अवतार हैं, वे पहले हुए हैं और आगे भी होंगे। वे ईश्वर के देन-स्वरूप हैं। इसी के अनुसार शिवा जी महाराज श्री शिव जी के और समर्थ रामदास स्वामी श्री हनुमान जी के अवतार माने गए हैं। भविष्यपुराण में लिखा है—"कृते तु मारुताख्यश्च त्रेतायां पवनात्मजः, द्वापरे भीमसंज्ञश्च रामदासः कलौ युगे।" गोसाईं जी भी इसी न्याय के अनुसार वाल्मीकि अथवा हनुमान् के अवतार माने गए हैं। मराठी कवि 'मोरो पंत' ने एक आर्या में कहा है—"श्री वाल्मीकि च झाला, श्री तुलसीदास रामयशगाया; तरिच प्रेम रसाची खाणी, वाणी तशीच वशगा या।" तथा नाभा जी ने भी लिखा है—"कलि कुटिल जीव निस्तार-हित, बाल्मीक तुलसी भयो।" जो हो, यह तो स्पष्ट है कि तुलसी या रामदास सरीखे संतों को उनके लोकोपकारक कार्य के लिये चाहे जितना ऊँचा स्थान दिया जाय, कम ही है। यों तो भारतवर्ष महापुरुषों, ऋषियों और संतों की खान है। भिन्न-भिन्न समय में अनेक महात्माओं,

'सरस्वती' के आदि-संपादक-मंडल के अन्यतम सदस्य—

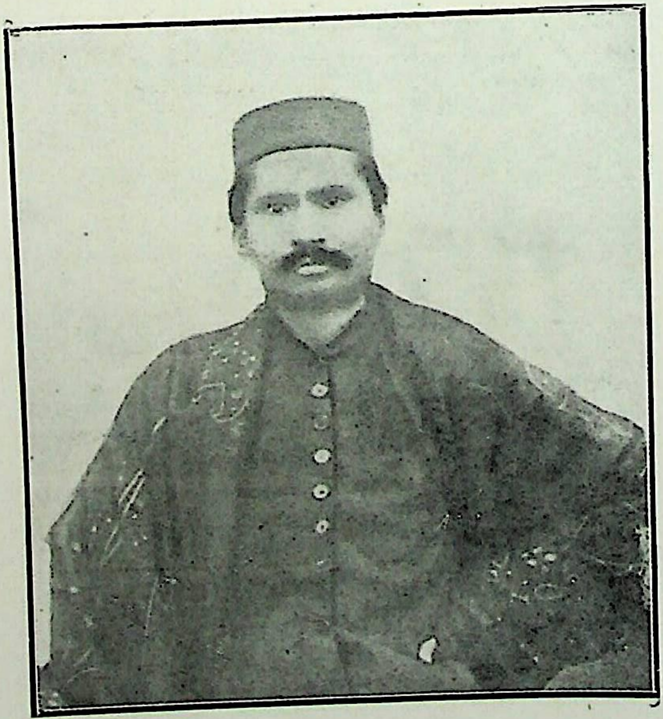

१—स्वर्गीय बाबू राधाकृष्णदास

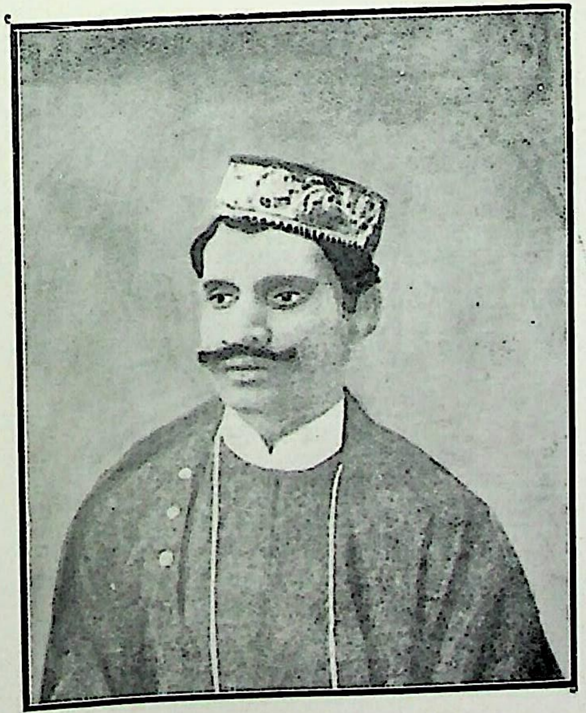

२—स्वर्गीय पंडित किशोरीलाल गोस्वामी

'सरस्वती' के आदि-संपादक-मंडल के अन्यतम सदस्य—

३—स्वर्गीय बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर'

४—स्वर्गीय बाबू कार्त्तिकप्रसाद खत्री

वीरों और संतों ने अवतार लेकर इस पुण्य भूमि को पवित्र किया है। किंतु वर्त्तमान समय के लिये उक्त संतों के कार्य तथा उपदेश विशेष महत्त्व रखते हैं। ये संत उन लोगों में से नहीं हैं जो केवल अपनी ही मुक्ति को सबसे बड़ा ध्येय मानते और जन-समाज से दूर रहकर केवल अपनी ही उन्नति में सारा समय लगाते हैं। वैसे लोग अपनी तपस्या के कारण श्रद्धा के पात्र अवश्य हैं; किंतु उनसे समाज का प्रत्यक्ष कोई लाभ नहीं होता। समाज तो ऐसे ही संतों को चाहता है जो उसके सुख-दुख में शामिल रहकर अपने आदर्श जीवन और पवित्र उपदेशों से उसके उद्धार का मार्ग दिखलावे। तुलसीदास जी तथा रामदास जी तो स्वयं त्यागी और निःस्पृह होकर भी केवल लोक-शिक्षण और लोकोपकार के लिये ही समाज में रहते तथा उसे अपने साथ उन्नति के मार्ग पर ले जाते हैं। 'दासबोध' में कहा है—"उत्तम गुण पहले स्वयं ग्रहण करके लोगों को सिखाना चाहिए; अपने समान दूसरों को भी महान् बनाकर और उन्हें युक्ति तथा बुद्धि सिखाकर (लोकोपदेश के लिये) नाना देशों में भेजना चाहिए।"

तत्कालीन स्थिति

गोसाईं जी तथा स्वामी रामदास ऐसे ही संतों में से थे। इसी कारण उनका स्थान समाज की दृष्टि से अन्य संतों की अपेक्षा कहीं ऊँचा है। इन दोनों के जीवन, कार्य तथा ग्रंथों में अद्भुत समानता तथा लक्ष्य की एकता दृष्टिगत होती है। दोनों ही महात्मा इस देश के इतिहास के ऐसे युग में उत्पन्न हुए जब कि चारों ओर धर्मग्लानि हो रही थी—देश का राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक जीवन संकट में था—विजातियों और विधर्मियों के आक्रमण से स्वदेश, स्वधर्म तथा स्वदेशी समाज आपत्ति में था। क्षत्रियों के देश-रक्षा-रूपी स्वधर्म त्याग देने के कारण विधर्मियों का आधिपत्य तथा अत्याचार फैल रहा था। धर्म-रक्षा पर ब्राह्मणों के दृढ़ न रहने के कारण समाज में अनाचार और दुराचार का प्रचार था। ऐसी दशा में देश को किसी मार्गदर्शक या धर्मरक्षक की आवश्यकता थी। भारतीय इतिहास के ऐसे युगों में संतों ही ने देश की रक्षा की है। वही कार्य अपने-अपने समय में समर्थ रामदास जी तथा गोसाईं जी ने किया। एक ने दक्षिण-भारत तथा दूसरे ने उत्तर-भारत में जन्म लेकर अपने-अपने सत्कार्यों से चारों दिशाओं को प्रकाशित कर दिया—डूबते हुए देश, धर्म और समाज को बचा लिया। इन दोनों महात्माओं ने अपने-अपने ग्रंथों में जो अपने समय की स्थिति का दिग्दर्शन कराया है उससे पता लगता है कि दोनों के समय में देश की स्थिति लगभग एक-सी थी। इन दोनों के जन्मकाल में लगभग सौ वर्ष का अंतर[1] था। स्वामी समर्थ अपने दासबोध के 'युगधर्म' नामक चौदहवें दशक के सातवें समास में लिखते हैं—"ब्रह्मज्ञान के विचार का अधिकार ब्राह्मणों को ही है। ऐसा कहा भी है कि सब वर्णों का गुरु ब्राह्मण है। परंतु ब्राह्मण बुद्धिच्युत हो गए हैं। कितने ही पीर को भजते हैं, और कितने ही अपनी इच्छा से तुरुक हो जाते हैं। यही कलियुग के आचार का हाल है। विचार का कहीं पता नहीं है। अब इसके आगे तो वर्णसंकर ही होनेवाला है। ब्राह्मणों को यह मालूम नहीं होता,

---

[1] तुलसीदास संवत् १५५४—१६८० तथा समर्थ रामदास संवत् १६६५—१७३७

उनकी वृत्ति ही नहीं झुकती, और उनका मूर्खता का मिथ्या अभिमान नहीं मिटता। राज्य म्लेच्छों के घर में चला गया। गुरुत्व कुपात्रों में चला गया। हम न अत्र में रहे न परत्र में। कुछ भी न रहा।" इसी प्रकार गोसाईं जी ने भी अपने ग्रंथों में अपने समय की दशा का अच्छा दिग्दर्शन कराया है। 'रामचरितमानस' में कलियुग-वर्णन देखिए। 'विनय-पत्रिका' में स्पष्टता के साथ बतलाया है—"आश्रम-वर्ण-धर्म-बिरहित जग लोक-वेद-मरजाद गई है। प्रजा पतित पाखंड-पाप-रत अपने-अपने रंग रई है॥" इत्यादि, इन प्रमाणों से प्रकट है कि इन संतों को देश-दशा का कितना ज्ञान था—उसकी दुरवस्था के कारण इनके चित्त में कितना क्षोभ था। इनके ग्रंथों में उस समय की दशा का स्पष्ट रूप से चित्र खींचा गया है। विधर्मियों के राज्य के कारण राज-समाज के पतन, वर्णाश्रम-धर्म के लोप तथा समाज की आचार-भ्रष्टता को उन्होंने अच्छी तरह देख लिया था।

इन दोनों ही संतों ने अपने जीवन पर अपने-अपने ग्रंथों में प्रकाश डाला है; किंतु अधिक स्पष्टता के साथ नहीं। दोनों ही का जन्म निर्धन ब्राह्मणकुल में होता है। गोसाईं जी का संबंध जन्म ही के साथ अपने कुटुंब से छूट जाता है। बाद में विवाह करके गृहस्थाश्रम में भी वे रहते हैं।

जीवन

इसी प्रकार समर्थ रामदास के पिता उनकी शिक्षा के लिये उचित प्रबंध करते हैं और वे अच्छी तरह शास्त्रों में दक्ष हो जाते हैं। गोसाईं जी अपने गुरु नरहरिदास जी के पास विद्याभ्यास करते तथा हरि-कथा से प्रथम परिचय प्राप्त करते हैं—"मैं पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा सु सूकरखेत।" अपने-अपने गुरुवर से इन संतों ने वह ज्ञान प्राप्त किया जिसका उपयोग इन्होंने अपने जीवन में आगे चलकर लोकोपकार में किया। बालपन में ही समर्थ रामदास की रामभक्ति प्रकट हो जाती है; किंतु गोसाईं जी में निर्वेद के बाद ही उसका प्रकाश जान पड़ता है। 'समर्थ' बालपन में ही राममंत्र ग्रहण कर लेते हैं। जब उनके एक बड़े भाई उन्हें बालक होने के कारण मंत्र देने से इनकार करते हैं तब वे हनुमान जी से प्रार्थना करके मंत्र लेते हैं तथा राम जी के दर्शन भी करते हैं। यह घटना गोसाईं जी की—हनुमान जी के द्वारा रामदर्शन प्राप्त करने की—कथा से मिलती-जुलती है। 'समर्थ' की आत्मा पहले ही से जाग्रत थी। इस कारण वे विवाह-बंधन में फँसने के पहले ही घर से निकल भागते हैं; किंतु गोसाईं जी को विवाह के बाद अपने मोह की विफलता का अनुभव तथा ज्ञान प्राप्त होता है। इसके बाद 'समर्थ' बारह वर्ष तक तपस्या और देशाटन करते हैं। गोसाईं जी भी तीर्थयात्रा करके देश की दशा का अनुभव करते हैं। 'समर्थ' का पर्यटन सारे भारत में हुआ, किंतु तुलसीदास जी की यात्रा केवल उत्तर-भारत में ही परिमित रही। तीर्थयात्रा के समय की एक घटना, दोनों के जीवन में, एक-सी मिल जाती है। जब गोसाईं जी व्रज-यात्रा को गए तब अपनी रामभक्ति के प्रभाव से कृष्ण-मूर्त्ति को राम-मूर्त्ति में परिवर्त्तित कर दिया—यह घटना प्रसिद्ध ही है। ठीक उसी प्रकार स्वामी रामदास ने भी पंढरपुर में कृष्ण-मूर्त्ति में राम-मूर्त्ति के दर्शन किए थे—"श्री कृष्ण मूर्त्ति जेणें केली, श्री राम मूर्त्ति सज्जन हो। रामसुत मयूण म्हणे त्याचा, सुयाशामृतांत मज्जन हो।" फिर तपस्या और पर्यटन के बाद दोनों धर्म-प्रचार के कार्य में लग जाते हैं। 'समर्थ'

जी की उसी समय शिवा जी महाराज से भेंट होती है जिससे उनके स्वधर्म-संरक्षण और स्वराज्य-स्थापन में सहायता मिलती है। किंतु देश के दुर्भाग्य से गोसाईं जी को ऐसा साधन उपलब्ध न हुआ। फिर भी इसके अभाव में उन्होंने ग्रंथ-रचना द्वारा ही अपना आदर्श लोगों के सामने रक्खा। समर्थ रामदास ने भी अपना आदर्श ग्रंथों द्वारा ही प्रकट किया, किंतु उसके प्रचार के लिये अपनी शिष्य-परंपरा भी बनाई तथा स्थान-स्थान पर मठ स्थापित कराए। गोसाईं जी को ये साधन भी प्राप्त न हुए। वे हर-एक काम में केवल 'राम के भरोसे' पर निर्भर रहे। अंत में जब इन संतों के देहत्याग का समय निकट आया तब इन्हें स्वतः उसका आभास मिल गया। गोसाईं जी के अंतिम समय का दोहा प्रसिद्ध ही है—"राम नाम जस बरनि कै, भयो चहत अब मौन।" स्वामी समर्थ ने भी अपना अंतिम समय जानकर यह पद्य पढ़ा—"रघुकुल टिळकाचा वेल संनिध आला, तदुपरि भजनाने पाहिजे सांग केला।" इस पर उद्धव स्वामी ने इसकी पदपूर्त्ति कर दी—"अनु दिन नवमी हे मानसीं आठवावी, बहुत लगबगीने कार्यसिद्धी करावी।" इस प्रकार दोनों ने संसार में महान् कार्य करके अपनी इहलीला समाप्त की।

स्वभाव, प्रभाव और साधन

इन संतों का स्वभाव वैसा ही था जैसा संतों का स्वभाव होना चाहिए और जैसा इन्होंने अपने ग्रंथों में वर्णन किया है। दोनों ही परम भक्त, निःस्पृह, निरभिमान तथा निश्चिंत थे। क्षमा, दया, समता इनमें कूट-कूटकर भरी थी। इनके द्वारा वर्णित संत-लक्षण इनके निज के जीवन में भी ज्यों के त्यों घटते हैं। इन्होंने अपने उपदेशों का उदाहरण मानों स्वयं अपने ही जीवन में चरितार्थ कर दिया है। एक प्रसिद्ध दोहा है—"हित सों हित रति राम सों, रिपु सों बैर बिहाउ। उदासीन सबसों सरल, तुलसी सहज सुभाउ॥" इस प्रकार आजन्म लोकोपकार में अपना समय व्यतीत कर दोनों संतों ने अपने समय के समाज पर बहुत अधिक प्रभाव डाला। 'समर्थ' का प्रभाव उस समय की सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक तीनों अवस्थाओं पर पड़ा तथा इन तीनों की स्थिति उन्होंने बदल दी। किंतु गोसाईं जी का प्रभाव केवल सामाजक और धार्मिक अवस्था पर ही पड़ा। उनका प्रभाव उस समय की राजनीतिक अवस्था पर न पड़ सका, क्योंकि उनके राजनीतिक आदर्शों को काम में लानेवाला शिवा जी-सरीखा साधन उपलब्ध न हुआ। अपने आदर्शों द्वारा देश की दशा बदलने के लिये इन संतों ने तीन मार्गों का अवलंबन किया—(१) नीतिस्थापन, (२) धर्मस्थापन, (३) राज्यस्थापन।

[१] नीतिस्थापन—सबसे पहले समाज में प्रचलित अनीति, अनाचार और अत्याचारों को दूर करना आवश्यक था। जब तक लोगों में दया, प्रेम और सचाई का प्रचार न हो तब तक समाज में सुव्यवस्था रहना असंभव है; क्योंकि व्यक्तियों ही से समाज बनता है। इसी लिये गोसाईं जी ने व्यक्तिगत नैतिकता (personal morality) पर बहुत जोर दिया। जब तक कोई व्यक्ति अपने कुटुंब के प्रति कर्त्तव्य-पालन नहीं करता तब तक कौटुंबिक जीवन सुखमय नहीं हो सकता, और कौटुंबिक जीवन के नष्ट हो जाने से सामाजिक जीवन का पता ही नहीं रह जाता। स्वामी समर्थ तथा तुलसीदास दोनों ही ने व्यक्ति, कुटंब तथा समाज की नीति का विवेचन किया है। नीति-पालन के लिये भी बंधन

की आवश्यकता है और वह बंधन धर्म-बंधन ही हो सकता है। इसी तत्त्व को ध्यान में रखकर गोसाईं जी ने धर्म को ही नीति का आधार बनाया है। उन्होंने ईश्वर-भक्ति के लिये क्षमा, दया आदि गुणों की अनिवार्य आवश्यकता बतलाई है जिनके बिना भक्ति की साधना हो ही नहीं सकती; और इसकी पूर्त्ति के लिये धर्मस्थापन नामक दूसरे साधन की आवश्यकता है।

[२] **धर्मस्थापन**—धर्मस्थापन के द्वारा इन संतों ने समाज में फैले हुए भेद-भाव को दूर कर वर्णों तथा आश्रमों का एक दूसरे से उचित संबंध स्थापित किया जिससे लोग अपने-अपने धर्म में स्थित रहकर प्राचीन आदर्श के अनुसार एक दूसरे की सेवा और सहायता कर सकें। अपने-अपने धर्म की मर्यादा को छोड़ देना ही धर्मग्लानि का लक्षण है। अतः इसे दूर कर लोगों को अपने-अपने धर्म पर फिर से स्थापित करना इन महात्माओं का मुख्य आदर्श था। गोसाईं जी ने अपनी धार्मिक उदारता तथा हृदय की विशालता से सांप्रदायिक भेद-भावों को दूर कर दिया। एक राम को सर्वदेवमय मान कर, तथा अपनी रचनाओं में सब देवों की स्तुति-वंदना कर, भिन्न-भिन्न देवों के उपासकों को एक कर दिया—शिव और विष्णु तथा राम और कृष्ण के भेद-भाव को मिटा दिया। अलग-अलग देवों की पूजा को एक राम की पूजा का साधन समझा। इसी प्रकार समर्थ रामदास ने भी भिन्न-भिन्न देवों की प्रार्थना करते हुए अद्वैत का प्रतिपादन किया। गोसाईं जी ने तो कर्म, उपासना और ज्ञान तीनों के भेद-भाव को भी मिटा दिया। उन्होंने तीनों मार्गों का एक ही राम की प्राप्ति का साधन सिद्ध करके तीनों का जो समन्वय किया है वह देखते ही बनता है। रामदास स्वामी ने भी भक्ति को प्रधान रखकर शेष दोनों मार्गों को उसी का साधन बना दिया है। बाह्य क्रिया-कलाप—माला-तिलक, कर्मकांड आदि—पर जोर न देकर इन संतों ने धर्म के असली तत्त्व ही पर जोर दिया, और वह है—भक्ति द्वारा हृदय तथा आचरण की शुद्धि। इसी कारण समर्थ स्वामी ने धर्म-प्रचार के लिये जगह-जगह श्रीराम और हनुमान जी के मंदिर वा मठ स्थापित किए तथा उनमें एक-एक सच्चरित्र साधु महंत नियुक्त किया जो सदा आसपास की जनता में धर्म का प्रचार करते रहें। महंत को किस प्रकार रहना चाहिए, इसका उन्होंने एक पद्य में बड़ा अच्छा वर्णन किया है—"ठाइं ठाइं भजन लावी, आपण तेथून चुकावी; मत्सरमतांची गोवी, लागोंच नेदी।—अर्थात् महंत को चाहिए कि स्थान-स्थान पर लोगों को हरि-भजन में लगाए और फिर स्वयं वहाँ से बचकर निकल जाय, उसे ईर्ष्या तथा मतमतांतरों के झगड़ों से दूर रहना चाहिए।" इसके अतिरिक्त स्वामी समर्थ का हरिकीर्त्तन द्वारा भक्ति-प्रचार बड़ा प्रभावशाली तथा स्थायी होता था। उन्होंने जो धार्मिक आंदोलन शुरू किया उसका प्रभाव सारे महाराष्ट्र में व्याप्त हो गया। उससे लोगों में धार्मिक भावना की जागृति के साथ-साथ देश की स्थिति और विधर्मियों के अत्याचारों की जानकारी भी फैली। फल-स्वरूप लोगों में एकता तथा संगठन के भाव भर गए। इस प्रकार शिवा जी महाराज के लिये क्षेत्र तैयार हो गया। जिस प्रकार धर्मस्थापन के लिये समर्थ स्वामी ने तीन साधनों का उपयोग किया—साधु-संगठन तथा मठ-स्थापन, कथा-कीर्त्तन द्वारा भक्ति-प्रचार, और ग्रंथ-रचना—उसी प्रकार गोसाईं जी ने भी इन तीनों साधनों का उपयोग किया; किंतु समर्थ स्वामी के समान संगठित रूप से नहीं! गोसाईं जी की प्रेरणा से भी मंदिरों की स्थापना हुई, किंतु समर्थ ने

इस कार्य को एक विशेष उद्देश्य से—इसे अपने कार्य-क्रम का मुख्य अंग बनाकर—किया। समर्थ के कथा-कीर्त्तन का ढंग भी निराला ही था। पर गोसाईं जी जहाँ जाते, रामलीला तथा कृष्णलीला का आयोजन कराते; उनके प्रचार का यही ढंग था। इसी प्रकार ग्रंथ-रचना द्वारा भी ये संत भक्ति का प्रचार करते थे। यही इनका प्रधान साधन था। गोसाईं जी तो घूम-घूमकर अपने 'रामचरितमानस' का प्रचार करते थे। संत-सभाओं में कथा-कीर्त्तनादि उन्हें विशेष प्रिय था।

[३] राज्यस्थापन—इन संतों का तीसरा साधन राज्यस्थापन था जो असल में ऊपर कहे हुए धर्मस्थापन का ही एक अंग है; क्योंकि राजनीति भी धर्म ही का एक अंग है। वास्तव में राजनीति किसी प्रकार धर्म से अलग नहीं हो सकती। गोसाईं जी का आदर्श रामराज्य द्वारा धर्म-राज्यस्थापन था। रामराज्य को ही उन्होंने राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक समस्याओं के हल करने का एकमात्र उपाय बतलाया है। जो कार्य गोसाईं जी ने आदर्श या भाव के रूप में किया वही समर्थ रामदास ने शिवा जी द्वारा स्वराज्यस्थापन करके प्रत्यक्ष रूप से कर दिखाया। समर्थ स्वामी ने स्वराज्य को स्वधर्म-स्थापन का सबसे बड़ा साधन समझकर शिवा जी के राज्याभिषेक द्वारा मानों धर्मराज्य का ही अभिषेक कर दिया। किंतु गोसाईं जी ने 'रामचरितमानस' को ही शिवा जी बनाया और उनके इस शिवा जी ने जिस अखंड रामराज्य की स्थापना कर दी है वह अनंत काल तक स्थिर रहेगा।

नीतिधर्म और
राजनीति

इन संतों में सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि इन्होंने नैतिकता को धार्मिकता का और धार्मिकता को राजनीतिक उद्बोधन का मूलाधार बनाया, और इस प्रकार नीतिधर्म तथा राजनीति को एक सूत्र में ग्रथित कर एक को दूसरे का अंग बना दिया। इनका धार्मिक आदर्श ही लोगों को नीति में प्रवृत्त करने तथा राजनीतिक स्वतंत्रता के लिये प्रेरणा करनेवाला था। इन्होंने भारतीय मनोवृत्ति को अच्छी तरह समझ लिया था कि वह किसी भी आंदोलन में धर्म के नाम पर ही जाग्रत की जा सकती है। इसी लिये ये लोग धार्मिक चर्चा द्वारा ही राजनीति के सिद्धांतों का भी प्रचार करते थे। 'राजसमाज बड़ोई छली है,' 'भूप प्रजासन,' 'भूमिचोर भूप भए', 'यवन महा महिपाल' आदि शब्दों से गोसाईं जी ने अपने समय की राजनीतिक स्थिति का बड़ा ही सच्चा वर्णन किया है। उसी दुःखद स्थिति को दूर करने के लिये राम-सरीखे मर्यादापुरुषोत्तम लोकरंजक राजा का आदर्श—राम का दुष्ट-दमनकारी तथा लोक-कल्याणकारी रूप—जनता के सामने रक्खा। निशाचरों के अत्याचारों के वर्णन के ब्याज से तत्कालीन विधर्मियों के अनाचारों का उन्होंने अच्छा दिग्दर्शन कराया है—"जहँ जहँ फिरत धेनु द्विज पावहिं, नगर गाँव पुर आगि लगावहिं।" इसी को अधिक स्पष्ट करने के लिये उन्होंने इशारा भी किया है—"जिनके अस आचरन भवानी, ते जानहु निसिचर सम प्रानी।" इससे यह स्पष्ट है कि गोसाईं जी के हृदय में देशभक्ति भी भरी हुई थी। इसी कारण देश तथा धर्म की दुर्दशा का करुण चित्र खींचकर उन्होंने रामराज्य का स्मरण कराया है। इसी प्रकार स्वामी समर्थ के ग्रंथों तथा वचनों में भी अत्यंत स्पष्टता और कठोरता के साथ देश-दशा एवं विधर्मियों के अत्याचारों का वर्णन मिलता है। शिवा जी को उन्होंने एक पत्र में लिखा था—"देव धर्म गो ब्राह्मण, करावया संरक्षण, हृदयस्थ झाला नारायण, प्रेरणा

केली।—अर्थात् देव, धर्म, गो, ब्राह्मण की रक्षा करना चाहिए; ईश्वर ने हृदय में पैठकर ऐसी प्रेरणा की है।" इसी प्रकार गोसाईं जी के समान समर्थ स्वामी ने भी दुष्ट-दमन और संत-पालन को ही रामावतार का उद्देश्य तथा कारण माना है—"मज अवतार घेणे, माझे भक्ताचे कारणें; निज दासासी पाळावें, दुर्जनासी निर्दलावे।—अर्थात् भक्तों ही के कारण मेरा अवतार होता है, मैं दुर्जनों का दलन तथा दासों का पालन करता हूँ।" शिवा जी को पहचानकर उन्होंने उनकी प्रशंसा में लिखा है—"कित्येक दुष्ट संहारिले, कित्तेकास धाक सुटले; कित्येकांस आश्रय झाले, शिव कल्याण राजा।—अर्थात् शिवा जी ने कितने दुष्टों का संहार किया, कितनों पर अपनी धाक जमाई, कितनों को आश्रय दिया, शिवराज कल्याणकारी है।" दुष्टदलन के लिये उत्तेजना देने में उन्होंने कठोर शब्दों का भी प्रयोग किया है—"देवद्रोही तितुके कुत्ते, मारोनि घालावे परते; देवदास पावती फत्ते, यदर्थीं संशय नाही।—अर्थात् जितने देवद्रोही कुत्ते हैं वे सब मारे जाएँगे और जो देवदास हैं उनकी निस्संशय विजय होगी।"

इन संतों का मुख्य उद्देश्य समाज का दृष्टिकोण बदलना, लोगों में आत्मविश्वास उत्पन्न करना और पूर्वजों के इतिहास का उदाहरण देकर जाति की उदासीनता तथा निराशा दूर करना था। इनके उपदेशों द्वारा हिंदू-जाति से निराशा और दुर्बलता दूर होकर उसमें नवीन आशा और शक्ति का संचार हुआ। समर्थ रामदास के उपदेशों के कारण ही शिवा जी मराठा-जाति का संगठन कर शक्तिशाली मुगल-साम्राज्य से टक्कर ले सके और स्वराज्यस्थापन में सफल हुए। जिस समय शिवा जी आगरे में कैद थे उसी समय स्वामी समर्थ ने उत्तर-भारत में भ्रमण कर जगह-जगह मठ स्थापित किए। कहा जाता है कि आगरे से भागने के बाद इन मठों की सहायता से—और जहाँ मठ नहीं थे वहाँ समर्थ स्वामी के भेजे हुए शिष्यों की सहायता से—शिवा जी महाराज सुरक्षित घर लौट सके। इन बातों से स्पष्ट प्रमाणित होता है कि उस समय की राजनीति में समर्थ रामदास का प्रत्यक्ष नहीं तो परोक्ष हाथ अवश्य था। जिसका इतना उपकार हो, यदि शिवा जी अपना सारा राज्य उसके भिक्षा की झोली में डाल दें तो आश्चर्य ही क्या? अगर भली भाँति देखा जाय तो इस दृष्टि से गोसाईं जी उतने सौभाग्यशाली न थे। उनके सिद्धांतों को कार्य-रूप में लानेवाला वीर पुरुष कोई न मिला! हाँ, ग्रंथ के प्रचार की दृष्टि से, समर्थ के ग्रंथ तुलसी के 'मानस' की बराबरी नहीं कर पाते। आज हिंदू-जनता पर जितना तुलसी के 'मानस' का प्रभाव है उतना शायद संसार के किसी धर्मग्रंथ का किसी जाति पर न होगा।

लोगों के सामने अपने विचारों को ग्रंथ-रूप में प्रकट करना सिद्धांत-प्रचार का परम आवश्यक और स्थायी उपाय है। ग्रंथ-रचना द्वारा कवि के विचार सदैव के लिये समाज की संपत्ति हो जाते हैं।

ग्रंथरचना का उद्देश्य, भाषा, वर्णनशैली आदि

इन संतों ने भी अपने सिद्धांतों के प्रचार के लिये ग्रंथ-रचना को ही साधन बनाया। समाज की आवश्यकता को दृष्टि में रखकर ही इन्होंने ग्रंथ-रचना की, जिसके प्रमाण इनके ग्रंथों में मिलते हैं। उन ग्रंथों में विशेषता यही है कि अपने समय की आवश्यकता की पूर्ण करते हुए भी वे उसी काल तक सीमित नहीं हैं, किंतु सदा के लिये उपयोगी हैं; क्योंकि उनमें ऐसे सत्यों और तत्त्वों का विवेचन किया गया है जो हर समय के लिये उपादेय हैं और जिनसे सब प्रकार के लोग सदैव लाभ उठा सकते हैं। लोकोपकार की

दृष्टि से ही उन ग्रंथों की रचना हुई है, यह बात उनसे अच्छी तरह प्रकट है; किंतु उनमें विशेषता यह है कि उनके रचयिता लोकोद्धार का दावा नहीं करते। वे यही कहते हैं कि उन्होंने केवल अपनी आत्मा के सुख के लिये तथा अपनी वाणी को पवित्र करने के लिये ही ग्रंथ-रचना की है। तुलसीदास ने स्पष्ट कहा है—"स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथा, भाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति" तथा "करन पुनीत हेतु निज बानी" आदि। वास्तव में संतों की आत्मा का सुख इसी में है कि सब लोगों को सुख हो। उक्त श्लोक में गोसाईं जी ने यह भी कहा है कि वे अपना निबंध 'भाषा' में लिखते हैं। इससे भी एक बड़ा भारी सिद्धांत प्रकट होता है, वह यह कि यदि हम लोकोपकार करना चाहते हैं तो हमें लोकसमुदाय में प्रचलित भाषा का ही प्रयोग करना चाहिए। इसी लक्ष्य को सामने रखकर इन संतों ने जनता की भाषा में ही ग्रंथ-रचना की। ग्रंथों में भिन्न-भिन्न मतों के विवेचन से इनके प्रकांड पांडित्य तथा असीम अध्ययन का भी पता लगता है। गोसाईं जी ने लिखा है—"नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि" और इसी प्रकार 'दासबोध' में स्वामी रामदास ने भी कहा है—"नाना ग्रंथांचा सम्मती, उपनिशिदें वेदांत श्रुती; आणि मुख्य आत्मप्रचीती, शास्त्रें सहित।" गोसाईं जी ने "क्वचिदन्यतोऽपि" जो कहा है वह समर्थ के अनुसार "आत्मप्रचीती" या "आत्मानुभूति' ही जान पड़ती है; क्योंकि बिना आत्मानुभव के इस प्रकार का गंभीर एवं सूक्ष्म विवेचन असंभव है। 'मानस' में यह स्वानुभव कई जगह प्रकट किया गया है—"उमा कहउँ मैं अनुभव अपना" इत्यादि। किंतु यह सब होते हुए भी इन संत कवियों की वर्णनशैली में एक बड़ा अंतर है। 'दासबोध' एक सिद्धांत-ग्रंथ के रूप में लिखा गया है और 'मानस' कथानक-रूप में। यद्यपि 'मानस' में भी बीच-बीच में सिद्धांतों का विवेचन किया गया है तथापि उसका मुख्य विषय कथा या इतिहास के रूप में ही वर्णित है, जैसा उसके नाम 'रामचरितमानस' से ही स्पष्ट है। इधर 'दासबोध' नाम से भी प्रकट है कि उसमें बोध, ज्ञान या सिद्धांतों का ही विवेचन है। इन दोनों शैलियों में अपनी-अपनी विशेषता है। केवल सिद्धांतों के विवेचन की भी आवश्यकता होती है जिससे एक ही ग्रंथ में लोगों को मुख्य सिद्धांतों का विवेचन मिल जाय। किंतु उन सिद्धांतों का, कथा या इतिहास के रूप में, वर्णन करने से वे लोगों तक अधिक सुगमता से पहुँच सकते हैं। वेद, उपनिषद् आदि के तत्त्वों को लोगों के पास पहुँचाने के लिये पुराणों की रचना की गई थी। भगवान् वेदव्यास ने वेदों का व्यास या विस्तार पुराणों या इतिहासों में किया। महाभारत में भी इसी पद्धति के अनुसार इतिहास के साथ-साथ सिद्धांतों का विवेचन किया गया है। गोसाईं जी ने भी इसी पद्धति का अनुसरण किया और शास्त्रों का गूढ़ ज्ञान लोगों तक पहुँचाया। 'दासबोध' के लिये हम गीता का उदाहरण दे सकते हैं और 'मानस' के लिये महाभारत का। 'दासबोध' में गीता के समान तत्त्वों का विवेचन किया गया है—'मानस' में महाभारत के समान उन तत्त्वों का, इतिहास या कथानक के रूप में, क्रियात्मक विवेचन किया गया है। इन दोनों के संयोग की हमें बड़ी आवश्यकता है। दोनों एक दूसरे की कमी की पूर्त्ति करने के कारण हमारे लिये बड़े उपयोगी हैं। हाँ, इन दोनों ग्रंथों में एक दूसरी विभिन्नता और है। 'मानस' में सब विषयों का समन्वय या संश्लेषण (synthesis) किया गया है, और 'दासबोध' में सब विषयों का विश्लेषण (analysis)। हमें इन

दोनों पद्धतियों की आवश्यकता है। विषयों के पृथक्करण से हमें उनका अच्छी तरह से पृथक्-पृथक् ज्ञान हो जाता है और समन्वय से उनके परस्पर-संबंध एवं एकीकरण का ज्ञान हो जाता है। किसी विषय के पूर्ण ज्ञान के लिये इन दोनों बातों की आवश्यकता है। अतः ये दोनों ग्रंथ एक दूसरे के साथ मिलकर हमारी आवश्यकता को पूर्ण करते हैं। 'मानस' कथानक के अनुसार कांडों में विभक्त है तथा 'दासबोध' विषयों के अनुसार दशकों और समासों में। 'मानस' के समान 'दासबोध' का भी आरंभ देवों की स्तुतियों से किया गया है, उसका क्रम भी 'मानस' ही के समान है। दोनों के आरंभ में ग्रंथ के वर्णनीय विषयों का दिग्दर्शन कराया गया है। इसके बाद ग्रंथ का उपदेश तथा उसकी फलश्रुति दोनों में लगभग एक समान है। नर-चरित्र-वर्णन को दोनों ही नीची निगाह से देखते हैं, ईश्वर-गुणगान को ही वाणी का मुख्य उद्देश्य मानते हैं। ग्रंथ के आरंभ में दोनों ही अपनी दीनता तथा नम्रता का परिचय देते हैं। इसी लिये इन संत कवियों के विश्वव्यापी प्रभाव का भी केवल एक ही कारण है—ईश्वर की कृपा और उसकी प्रेरणा। 'मानस' की विशेषता भक्ति तथा 'दासबोध' की विशेषता ज्ञान के विशद विवेचन में है। तुलसीदास की भक्ति ज्ञान से उत्पन्न होकर कर्म तथा सेवा के रूप में प्रकट होती है। समर्थ रामदास का ज्ञान भक्ति से उदित होकर सेवा के रूप में परिणत होता है। एक में भक्ति प्रधान है, दूसरे में ज्ञान। किंतु भक्ति-मूलक तथा ज्ञान-प्रधान कर्मयोग दोनों ही का अंतिम लक्ष्य है। गोसाईं जी ने तो इन तीनों मार्गों का भक्ति में समन्वय कर दिया है। समाज की स्थिति सुधारने के लिये इन तीनों की आवश्यकता है भी। केवल शुष्क ज्ञान का हृदय से कोई संबंध नहीं है। जब निर्मल ज्ञान भक्ति द्वारा देश-दशा पर द्रवित होगा तभी वह निष्काम कर्म के रूप में प्रकट हो सकता है—तभी व्यक्ति, समाज या देश की समस्याएँ हल हो सकती हैं। इन संतों के ग्रंथों में भक्ति पर इतना जोर इसी लिये दिया गया है कि जब तक हृदय की शुद्धि न होगी तब तक ज्ञान केवल मस्तिष्क में बंद रहेगा; वह निष्काम कर्म के रूप में कभी प्रकट नहीं हो सकता। इसी कारण हृदय की शुद्धि द्वारा व्यक्तिगत आचरण सुधारने की आवश्यकता बताई गई है; भक्ति का प्रधान आधार आचरण की शुद्धता माना गया है; भक्ति द्वारा भीतरी ज्ञान और बाहरी कर्म में संबंध स्थापित किया गया है। इसी लिये, इन संतों के अनुसार, ज्ञान केवल व्यक्तिगत उन्नति के लिये नहीं, बल्कि अपनी उन्नति के साथ-साथ सामाजिक उन्नति के लिये भी है। असली ज्ञान व्यक्ति और समाज तथा समाज और ईश्वर में अभेद उत्पन्न करने का साधन है। इन संतों का वेदांत कर्मत्याग की शिक्षा नहीं देता; इनकी भक्ति समाज से अलग होकर माला टरकाने की प्रेरणा नहीं करती; इनका अद्वैत केवल आत्मा और परमात्मा में ही एकता स्थापित नहीं करता, बल्कि जगत् और जगदीश को भी एकरूप समझता है। जगदीश, जगत् से अलग नहीं; वह उसी का विराट् रूप है। समर्थ रामदास ने स्पष्ट रूप से कहा है—"जगत तो चि जगदीश।" तुलसी का 'राम' भी सारे जगत् में रमा हुआ है। वे सब जग को 'सिया-राम-मय' जानते हैं। इसी लिये वे जग की सेवा को ही जगदीश्वर की सर्वोत्तम सेवा मानते हैं। भगवान् रामचंद्र ने अंगद को जो अंतिम उपदेश दिया है उसमें स्पष्ट

ग्रंथों की विशेषताएँ और सिद्धांत (भक्ति, ज्ञान, कर्म)

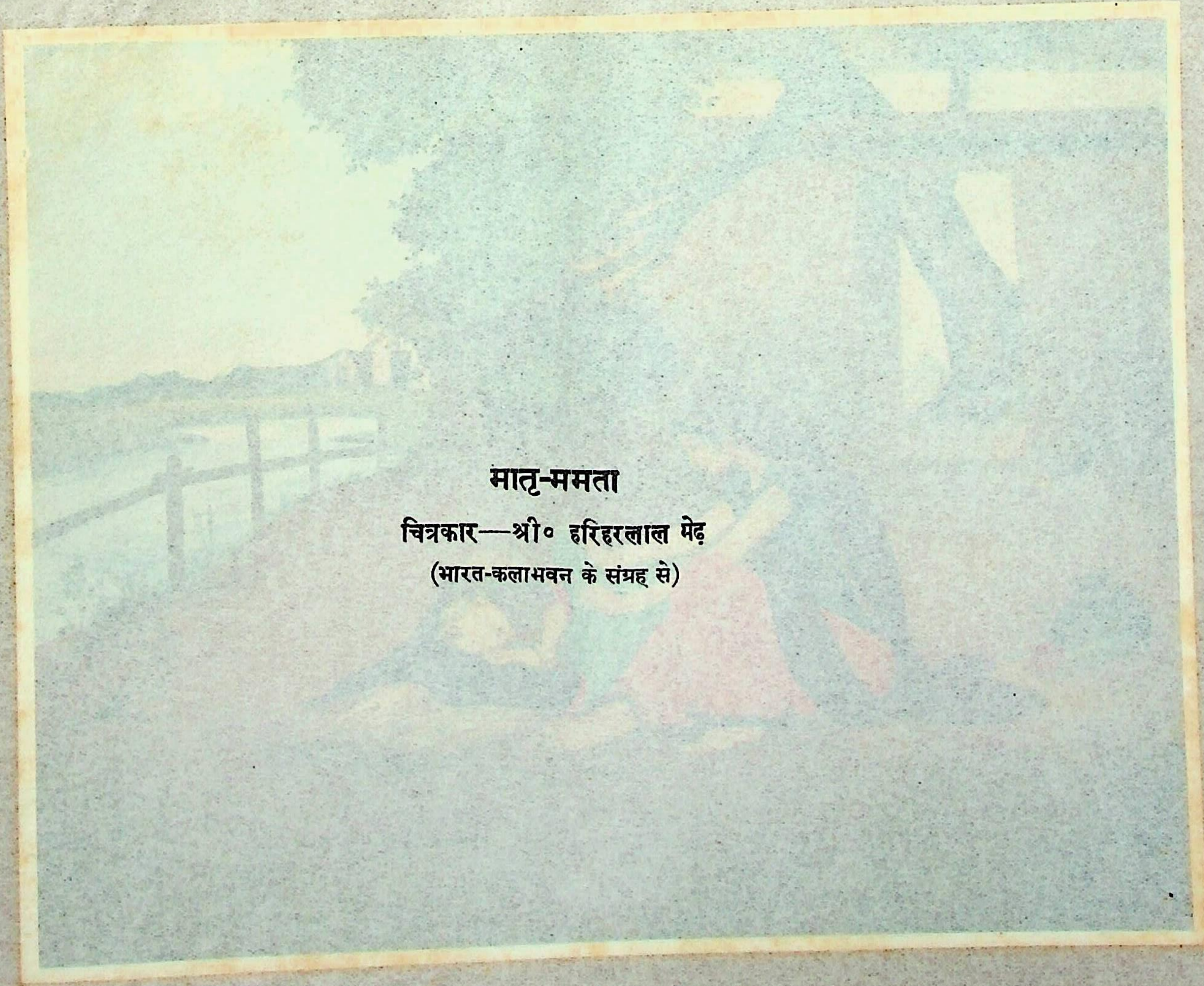

मातृ-ममता

चित्रकार—श्री० हरिहरलाल मेढ़

(भारत-कलाभवन के संग्रह से)

[illegible] पद्धतियों की आवश्यकता है। विषयों के पृथक्करण से हमें उनका अच्छी तरह से पृथक्-पृथक् ज्ञान हो जाता है और समन्वय से उनके परस्पर-संबंध एवं एकीकरण का ज्ञान हो जाता है। किसी विषय के पूर्ण ज्ञान के लिये इन दोनों बातों की आवश्यकता है। अतः ये दोनों ग्रंथ एक दूसरे के साथ मिलकर हमारी आवश्यकता को पूर्ण करते हैं। 'मानस' कथानक के अनुसार कांडों में विभक्त है तथा 'दासबोध' विषयों के अनुसार दशकों और समासों में।

ग्रंथों की विशेषताएँ और सिद्धांत (भक्ति, ज्ञान, कर्म)

'मानस' के समान 'दासबोध' का भी आरंभ देवों की स्तुतियों से किया गया है, उसका क्रम भी 'मानस' ही के समान है। दोनों के आरंभ में ग्रंथ के वर्णनीय विषयों का दिग्दर्शन कराया गया है। इसके बाद ग्रंथ का उद्देश तथा उसकी फलश्रुति दोनों में लगभग एक समान है। नर-चरित्र-वर्णन को दोनों ही नीची निगाह से देखते हैं, ईश्वर-गुणगान को ही वाणी का मुख्य उद्देश्य मानते हैं। ग्रंथ के आरंभ में दोनों ही अपनी दीनता तथा नम्रता का परिचय देते हैं। इसी लिये इन संत कवियों के विश्वव्यापी प्रभाव का भी केवल एक ही कारण है—ईश्वर की कृपा और उसकी प्रेरणा। 'मानस' की विशेषता भक्ति तथा 'दासबोध' की विशेषता ज्ञान के विशद विवेचन में है। तुलसीदास की भक्ति ज्ञान से उत्पन्न होकर कर्म तथा सेवा के रूप में प्रकट होती है। समर्थ रामदास का ज्ञान भक्ति से उदित होकर सेवा के रूप में परिणत होता है। एक में भक्ति प्रधान है, दूसरे में ज्ञान। किंतु भक्ति-मूलक तथा ज्ञान-मूलक कर्मयोग दोनों ही का अंतिम लक्ष्य है। गोस्वामी जी ने तो इन तीनों मार्गों का भक्ति में समन्वय कर दिया है। समाज की स्थिति सुधारने के लिये इन तीनों की आवश्यकता है भी। केवल शुष्क ज्ञान का कर्तव्य से कोई संबंध नहीं है। जब निर्मल ज्ञान भक्ति द्वारा [illegible] पर [illegible] होता तभी वह निष्काम कर्म के रूप में प्रकट हो सकता है—तभी व्यक्ति, समाज या देश की समस्याएँ हल हो सकती हैं। इन संतों के ग्रंथों में भक्ति पर इतना जोर इसी लिये दिया गया है कि जब तक हृदय की शुद्धि नहीं होती तब तक ज्ञान केवल मस्तिष्क में बंद रहेगा; वह निष्काम कर्म के रूप में कभी प्रकट नहीं हो सकता। इसी कारण हृदय की शुद्धि द्वारा व्यक्तिगत आचरण सुधारने की आवश्यकता बताई गई है; भक्ति का प्रधान आधार आत्मशुद्धि को [illegible] माना गया है; भक्ति द्वारा भीतरी ज्ञान और बाहरी कर्म में संबंध स्थापित किया गया है। इसी लिये, इन संतों के अनुसार, ज्ञान केवल व्यक्तिगत उन्नति के लिये नहीं, बल्कि अपनी उन्नति के साथ-साथ सामाजिक उन्नति के लिये भी है। असली ज्ञान व्यक्ति और समाज तथा समाज और ईश्वर में अभेद उत्पन्न करने का साधन है। इन संतों का वेदांत कर्मत्याग की शिक्षा नहीं देता; इनकी भक्ति समाज से अलग होकर माला टरकाने की प्रेरणा नहीं करती, इनका अद्वैत केवल आत्मा और परमात्मा में ही एकता स्थापित नहीं करता, बल्कि जगत् और जगदीश को भी एकरूप समझता है। जगदीश, जगत् से अलग नहीं; वह उसी का विराट् रूप है। [illegible] ने स्पष्ट रूप से कहा है—"जगत तो चि जगदीश।" तुलसी के 'राम' भी सारे जगत् में व्याप्त हैं। वे सब जग को 'सिया-राम-मय' जानते हैं। इसी लिये वे जग की सेवा को ही जगदीश की सर्वोत्तम सेवा मानते हैं। भगवान् रामचंद्र ने अंगद को जो अंतिम आदेश दिया है उसमें [illegible]

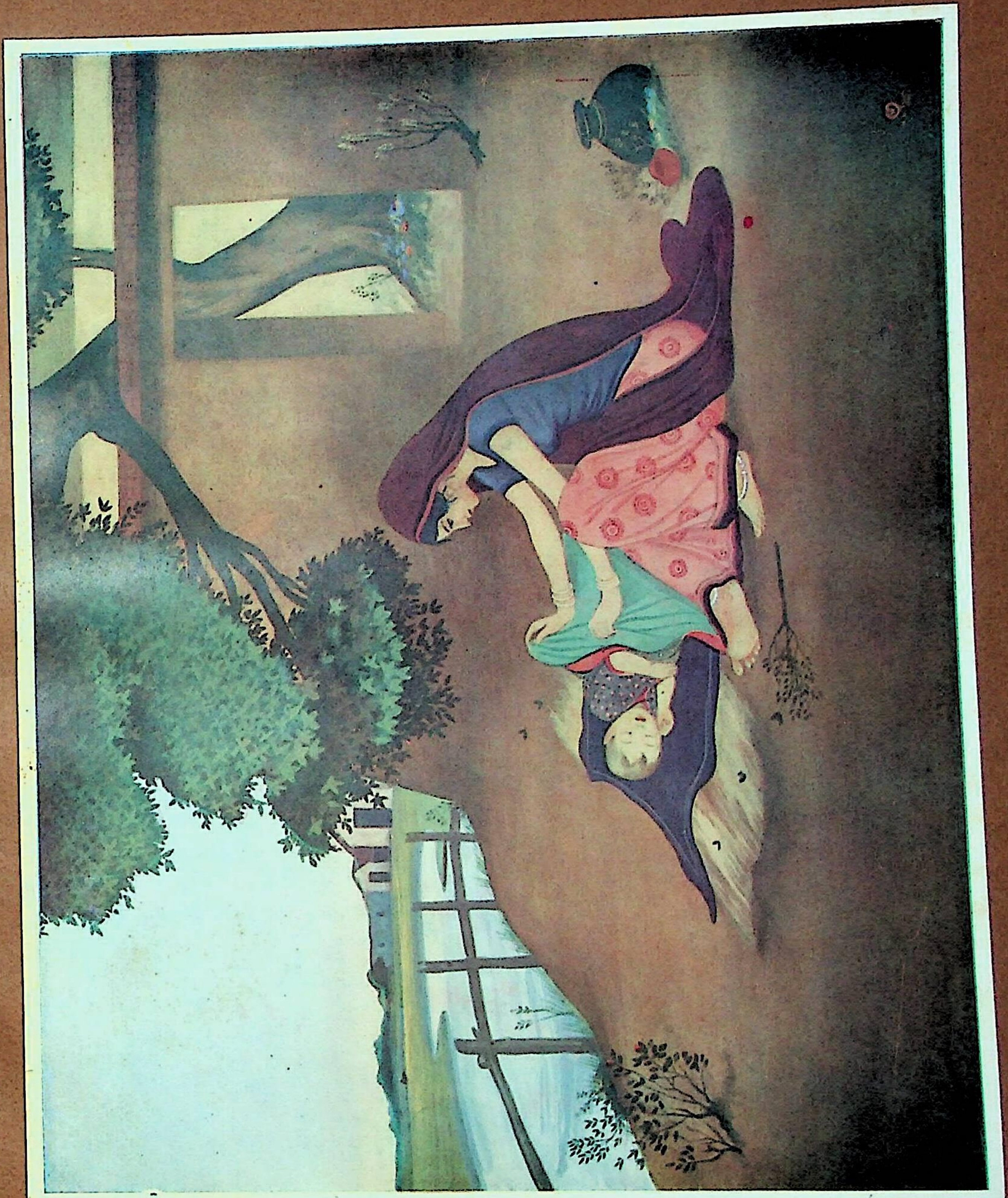

रूप से इसी का उल्लेख है—"सदा सर्वगत सर्वहित जानि करहु नित प्रेम।" परम भक्त हनुमान जी को उपदेश देते समय भी भगवान् रामचंद्र ने इसी तत्त्व का प्रतिपादन किया है—"सो अनन्य असि जाहि की मति न टरे हनुमंत; मैं सेवक सचराचर रूप-रासि भगवंत।" तात्पर्य यह कि अनन्य भक्त वही है जो इस चराचर जगत् को भगवंत की रूप-राशि समझकर उसी की सेवा करे। यह सेवा-धर्म ही इन संतों का अंतिम उपदेश है। केवल कोरी भक्ति या ज्ञान से मुक्ति नहीं हो सकती। उसे निष्काम सेवा के रूप में प्रकट करना होगा। सेवा-धर्म ही भव-रोगों को दूर करने की, संतों द्वारा बताई गई, अमोघ ओषधि है। इस सेवा-धर्म का प्रधान तत्त्व है 'आत्मनिवेदन'। इसी को स्वामी समर्थ ने अंतिम भक्ति माना है। गीता में भी इसी का अंतिम उपदेश दिया गया है। गोसाईं जी ने भी इसी आत्म-निवेदन को अंतिम साध्य माना है। जब मनुष्य ईश्वर-प्रेरित बुद्धि से, विशुद्ध ज्ञान से प्रेरित होकर, भक्ति और प्रेम के साथ, जगत् और जगदीश की सेवा में संपूर्ण आत्म-निवेदन कर देता है; तभी उसे अपने चरम लक्ष्य की प्राप्ति होती है। यही इन संतों का चरम सिद्धांत है।

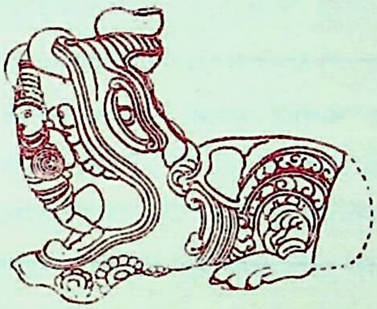

गीत

निर्जन पथ पर अलख जगाते।
नभ-निशीथिनी के अंचल में तारक-राशि लुटाते॥
गहन विजन में तम-लहरों पर, बह सुस्पंदित निशि-प्रहरों पर
निद्रालीन, जड़ित जगती को मीठी तान सुनाते॥ निर्जन पथ०—
हो विलीन स्वप्नांबर में जब, स्वर्ण-जाल को बुनता जग सब।
चढ़ अदृश्य मारुत-पंखों पर, फेरी एक लगाते॥ निर्जन पथ०—
अविरत गति-संघर्ष रूप फल, विकसित कर चपला अति उज्ज्वल।
दिनमणि-कर-सा चीर जलद-तल, अनुपम ज्योति दिखाते॥ निर्जन पथ०—
अतल सिंधुगत धवल रत्न-सा, योग-निरत जन मूक यत्न-सा।
हो अदृश्य, पर दृश्य उन्हें जो सुरत-प्रेम-रस-माते॥ निर्जन पथ०—

सत्याचरण 'सत्य'

प्राचीन भारत का न्याय-विभाग और उसकी कार्यप्रणाली

श्री कैलासपति त्रिपाठी, एम० ए०, एल्-एल० बी०

प्राचीन भारत में राजा अपने राज्य का सबसे बड़ा न्यायाधीश समझा जाता था। अतएव वह अपनी प्रतिदिन की राजसभा में अपनी प्रजा का आवेदन-पत्र ग्रहण करता था। यही नहीं, सिद्धांततः वह सबसे अधिक महत्त्व का कार्य अपीलें सुनने का करता था[1]; परंतु प्रचलित कार्य-प्रणाली के अनुसार वह स्वयं न्याय करने का कार्य नहीं करता था। उसे स्वयं अभियोगों के सुनने और उनके निर्णय करने की मनाही थी[2]। वास्तव में राज्य के प्रधान न्यायालय का निर्माण प्रधान न्यायाधीश (प्राड्विवाक) तथा अन्यान्य न्यायाधीशों द्वारा होता था, तथापि न्यायालय के समस्त कार्य राजा के नाम से ही हुआ करते थे।

कौटल्य के दो न्यायालय और उनका अधिकार-क्षेत्र—कौटल्य के अर्थशास्त्र में हमें दो विभिन्न प्रकार के न्यायालयों का उल्लेख मिलता है—(१) 'धर्मस्थीय' और (२) 'कंटकशोधन'। प्रथम के संचालन का कार्य अमात्यों के साथ-साथ धर्मस्थ लोग करते थे, और द्वितीय के संचालन का कार्य 'प्रदेष्टृ' अथवा अमात्यों द्वारा होता था। प्रथम का कार्य उन समस्त विवादों का निपटारा करना था जिनकी उत्पत्ति परंपरागत रीतियों अथवा सिद्धांतों के उल्लंघन के कारण होती थी। इसका अधिकार-क्षेत्र केवल उन्हीं अपराधों तक सीमित था जिनमें राज्य वादी अथवा प्रतिवादी नहीं होता था और दंड भी अर्थदंड तक ही परिमित था, और वे अर्थदंड भी थोड़े ही होते थे। इसका अधिकार-क्षेत्र विधान के इन विभागों तक परिमित था[3]—[१] व्यवहार (स्वीकृत कार्यों के न पूरा करने से उत्पन्न हुए विवाद

---

[1] कौटल्य तथा शुक्र दोनों ही ने राजा की दिनचर्या का वर्णन करते हुए इस कार्य के लिये निश्चित समय का होना आवश्यक माना है।

[2] मनुस्मृति, अध्याय ८, १-२; अर्थशास्त्र—पुस्तक १—१९; शुक्रनीति—विनयकुमार सरकार का अनुवाद, अध्याय ४, प्रकरण ५, पंक्ति ५-६; अध्याय ५, पंक्ति ९-१३

[3] 'अर्थशास्त्र'—३ (विनयकुमार सरकार)

(Disputes Concerning the Non-performance of Agreement); [२] विवाह-धर्म, स्त्रीधन आदि (Law of Marriage and Women's Property, etc.); [३] विवाह-विच्छेद-विधान (Law of Divorce); [४] दायक्रम, अंश-विभाग, पुत्र-विभाग (Law of Inheritance and Succession); [५] वास्तुक, गृहवास्तुक (गृहादि के निर्माण का विधान—(Law Relating to Buildings and Houses); [६] वास्तु-विक्रय (Law of Household Property) और सीमाविवाद तथा चरागाहों का विवाद; [७] स्वीकृत कार्यों का निश्चित समय में पूरा न करना (Non-performance of Agreements in Due Time); [८] ऋणदान (Law of Debts); [९] औपनिधिक (धन-संग्रह-विधान—(Law of Deposit); [१०] दासकल्प, कर्मकरकल्प (दासों तथा सेवकों के लिये लागू होनेवाले नियम); [११] संभूय समुत्थान (Law of Co-operative Undertaking); [१२] विक्रीत-क्रीतानुशय (खरीद और बिक्री के नियम); [१३] दत्त-स्थापनाकर्म, अस्वामि-विक्रय, स्व-स्वामिसंबंध (Resumption of Gifts, Sale Without Ownership, and Ownership); [१४] साहस (Law of Crimes and Violence); [१५] वाक्यपारुष्य (Defamation); [१६] दंड-पारुष्य (Assault and Hurt); [१७] द्यूतसमाह्वय (Law of Dice-playing); [१८] प्रकीर्णक (Miscellaneous)[१]। इसी प्रार कौटल्य के दूसरे न्यायालय (कंटकशोधन) के प्रमुख पदाधिकारी 'प्रदेष्टृ' होते थे। यह न्यायालय उन समस्त अपराधों को ओर ध्यान रखता था जिनका प्रभाव राज्य पर (अथवा स्वयं राजा पर) तथा अधिकतर जनसाधारण पर पड़ता था। यह किसी भी प्रकार का दंड दे सकता था। छोटे वा बड़े अर्थदंड से लेकर प्राणदंड तक देने का अधिकार इसे प्राप्त था। इसके कर्त्तव्य ये थे—(१) शिल्पियों तथा व्यापारियों की रक्षा; (२) राष्ट्रीय विपत्तियों के प्रतीकार का उपाय; (३) अधम उपायों द्वारा जीवन-निर्वाह न करने देना; (४) साधुवेशधारी गुप्तचरों द्वारा अपराध करनेवाले युवकों का पता लगाना; (५) अपराधियों को अपराध करते हुए अथवा केवल शंका के कारण पकड़ना; (६) आशुमृतपरीक्षा; (७) वाक्य-कर्मानुयोग (Frail and Torture to Elicit Confession); (८) गवर्नमेंट के सब डिपार्टमेंटों की रक्षा; (९) एकांगवधनिष्क्रय (अंगविशेष के काटने के स्थान में अर्थदंड देना); (१०) प्राणदंड—अत्यधिक पीड़ा देकर अथवा साधारण रीति से; (११) अप्राप्तवयस्का कन्या के साथ संभोग करने पर दंड देना; (१२) जातिनियमों, पवित्र सामाजिक नियमों, परंपरागत नैतिक नियमों अथवा ब्राह्मणों को दुःख न पहुँचाने के नियमों के उल्लंघन करनेवाले को दंड देना। इस प्रकार यह एक ऐसा न्यायालय था जिसको उन समस्त अपराधों की ओर ध्यान देना पड़ता था

---

[१] संभवतः यह परंपरागत विधान का विभाग कौटल्य-काल के पहले से ही वर्त्तमान था। मनु ने भी प्रायः विधान के इन्हीं अठारह विभागों का उल्लेख किया है—

> तेषामाद्यमृणादानं निक्षेपोऽस्वामिविक्रयः। सम्भूय च समुत्थानं दत्तस्थापनकर्म च ॥
> वेतनस्यैव चादानं संविदश्च व्यतिक्रमः। क्रयविक्रयानुशयो विवादः स्वामिपालयोः ॥
> सीमाविवादधर्मश्च पारुष्ये दण्डवाचिके। स्तेयं च साहसं चैव स्त्रीसंग्रहमेव च ॥
> स्त्रीपुंधर्मौ विभागश्च द्यूतमाह्वयमेव च। पादन्यष्टादशैतानि व्यवहारस्थिताविह ॥
>
> —(अध्याय ८, ४-७)

जिनका प्रभाव राज्य के हित में बाधक होता था, चाहे उन अपराधों का करनेवाला कोई राजकर्मचारी हो या कोई साधारण व्यक्ति।[१] किंतु इन न्यायालयों के अतिरिक्त कौटल्य ने ग्राम के प्रमुख पुरुष 'ग्रामिक' तथा 'ग्रामवृद्धों' को भी साधारण रूप से कितने ही अभियोगों के निर्णय करने का तथा अपराधियों को दंड देने का अधिकार दे रक्खा है। ये ग्रामिक और ग्रामवृद्ध तस्कर वा व्यभिचारी को देश-निकाला तक का दंड दे सकते थे। हाँ, केवल इतनी बात ध्यान में रखनी पड़ती थी कि वह दंड अत्यंत आवश्यक हो; क्योंकि किसी भी अभियोग के निर्णय करने में सबसे उत्तम न्यायाधीश वे ही लोग समझे जा सकते थे जो उसी स्थान के निवासी हों जहाँ का वह अपराधी था अथवा जिस स्थान पर विवादास्पद वस्तु की उत्पत्ति हुई थी[२]।

पंचायती न्यायालय—कृषक, शिल्पी, व्यापारी तथा अन्य श्रमिक श्रेणी के लोग अपने व्यावसायिक विवादों का निपटारा अपनी व्यावसायिक पंचायतों द्वारा करने के लिये स्वतंत्र थे; क्योंकि वे अपने विवाद अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक समझ सकते थे। संभवतः पंचायती न्यायालयों की उत्पत्ति इसी प्रकार हुई थी। समय पाकर उनकी बड़ी उन्नति हुई।[३] स्थावर न्यायालयों को छोड़कर कितने ही अस्थावर न्यायालयों का भी वर्णन हमें मिलता है। न्यायालयों का पहला विभाग इस प्रकार का था—(१) मुख्य न्यायालय, जो प्रांत की राजधानी में होता था और जिसमें राजा प्रधान होता था; (२) वह न्यायालय जिसमें प्राड्विवाक प्रधान न्यायाधीश का कार्य करता था; (३) अन्य न्यायाधीशों के न्यायालय, जिनकी नियुक्ति राजा करता था और जिनका अधिकार-क्षेत्र छोटे नगरों अथवा ग्रामों तक सीमित था।[४] दूसरे प्रकार के भी पंचायती न्यायालय थे जिनमें ये मुख्य थे—(१) 'पूग', जो किसी नगर अथवा ग्राम की विभिन्न जातियों तथा विभिन्न व्यवसाय करनेवालों के सम्मेलन का नाम था। (२) 'श्रेणी', जो एक व्यवसाय करनेवाले विभिन्न जाति के पुरुषों अथवा एक जाति के पुरुषों की परिषद् का नाम था। उदाहरणार्थ—जुलाहों की श्रेणी, जूते बनानेवालों की श्रेणी, पान बेचनेवालों की श्रेणी, घोड़ा बेचनेवालों की श्रेणी आदि (Guilds)। (३) 'कुल', जो जन-समूह द्वारा निर्मित उस सम्मेलन का नाम था जो किसी भी प्रकार के अपने संबंधियों द्वारा बना लिया जाता था[५]। अपने संबंधियों द्वारा

---

[१] शुक्र के मतानुसार राज्य के अपराधी ये थे—अन्न नष्ट करनेवाला, गृहदाह करनेवाला, राजद्रोह फैलानेवाला, जाली सिक्का बनानेवाला, राजा की गुप्त बातों का उद्घाटन करनेवाला, बंदियों को आश्रय देनेवाला, दूसरे की संपत्ति का विक्रय करनेवाला अथवा दान देनेवाला या उसका विभाग करनेवाला, दूसरे को दंड देनेवाला, राजा के (जन-साधारण में सूचना देनेवाले) नगाड़ा बजानेवाले को रोकनेवाला, स्वामिहीन वस्तुओं को अपनी संपत्ति बतानेवाला, राजा के करों को खा जानेवाला और दूसरे को अंगहीन करनेवाला। अध्याय ४, (५), पंक्ति १६५-१७१

[२] शुक्रनीति—४, (५) श्लोक २४

[३] ,, ,, ५, ,, ,, १८

[४] स्मृतिचंद्रिका—पृष्ठ ४१

[५] नारद, याज्ञवल्क्य (प० ११, Ch. I. V. 30.)

निर्मित होने के कारण 'कुल' पंचायती न्यायालयों में सबसे साधारण श्रेणी का माना जाता था। विवादों का निपटारा पहले 'कुल' से ही हो जाने की आशा की जाती थी; क्योंकि बाहरी लोगों की अपेक्षा 'कुल' के लोग विवादों को भली भाँति जानते और समझते थे, अतएव उनका ठीक निपटारा कर सकते थे। 'कुल' के अनंतर 'श्रेणी' थी जिसका निर्माण केवल संबंधियों से ही नहीं, किंतु बाहर के लोगों से भी होता था, यद्यपि वे सभी लोग उसी स्थान के निवासी होते थे। 'श्रेणी' का किया हुआ निपटारा पराजित पक्ष को अधिक संतोषप्रद होता था; क्योंकि 'कुल' के लोगों द्वारा किए गए पक्षपात का अभाव 'श्रेणी' के निपटारे में रहता था। किंतु इन सब न्यायालयों में श्रेष्ठ 'पूग' ही था जिसके निर्माण की भित्ति अधिक दृढ़ होती थी।[१]

बृहस्पति के न्यायालयों की चार श्रेणियाँ—बृहस्पति ने न्यायालयों को चार श्रेणियों में विभक्त किया है—(१) चल न्यायालय, (२) अचल न्यायालय, (३) वह न्यायालय जिसे राजा अधिकार प्रदान करता था, और (४) वह न्यायालय जिसमें मुख्य स्वयं राजा होता था। बृहस्पति ने तीन जंगम न्यायालयों का भी उल्लेख किया है—एक वह जो जंगल के मध्य में, वहाँ के निवासियों के लिये, स्थित था। दूसरा वह जो करावान के व्यापारियों के लिये था। तीसरा वह जो सैनिकों के लिये था। चल और अचल दोनों ही प्रकार के वे न्यायालय होते थे जिनमें न्यायाधीश के आसन पर राजा बैठता था, और अन्य सब न्यायालय अचल होते थे[२]।

भृगु के पंद्रह न्यायालय—भृगु के कथनानुसार पंद्रह प्रकार के न्यायालय होते थे—तीन वे जिनका ऊपर उल्लेख हो चुका है। चौथा वह जिसमें आसपास के ग्रामवासी न्यायाधीश का कार्य करते थे—उनका अधिकारक्षेत्र ग्राम के विवादास्पद विषयों तक परिमित था। पाँचवाँ वह न्यायालय जिसमें विभिन्न पक्षों द्वारा चुने हुए संबंधी ही न्याय का कार्य करते थे। छठा था व्यापारियों का न्यायालय। नागरिकों का न्यायालय सातवाँ था। आठवें न्यायालय में ग्रामवासी ही न्यायाधीश का कार्य करते थे। नवें न्यायालय में विभिन्न 'कुल' ही न्यायाधीश का कार्य करते थे। दसवें न्यायालय में नागरिक न्यायाधीश का कार्य करते थे। श्रेणी का न्यायालय ग्यारहवाँ था। बारहवें न्यायालय में न्यायाधीश का कार्य उन मनुष्यों द्वारा होता था जो नीति के समस्त अंगों के पंडित थे। तेरहवाँ कुलिकों का न्यायालय था। चौदहवाँ राजा द्वारा निर्धारित न्यायालय होता था। पंद्रहवाँ राजा का प्रमुख और विशेष न्यायालय था। अंत के दो न्यायालयों को छोड़कर अन्य सब पंचायती न्यायालय थे जिनका अधिकारक्षेत्र विभिन्न पक्षों की स्वीकृति पर निर्भर था और जिनका निर्माण उसी समय हो जाता था जब विभिन्न पक्ष उनकी सहायता के इच्छुक होते थे। इनमें से पहले के पाँच न्यायालय भ्रमणकारी थे। इन पंचायती न्यायालयों को केवल निर्णय करने का अधिकार था, उस निर्णय के अनुसार कार्य करने-

---

[१] 'Ancient Hindu Judicature' by B. G. Rajah Rao (Chap. I, pp. 4—9).

[२] स्मृतिचंद्रिका, पृष्ठ ४१

कराने का नहीं। उनका अधिकारक्षेत्र विभिन्न प्रकार के उग्र अपराधों के अवसर पर नष्ट हो जाता था, जैसे चोरी आदि[१]।

न्यायालय के स्थान और विधान के विभाग तथा उनका महत्त्व—कौटल्य के मतानुसार प्रत्येक संग्रहण, द्रोणमुख, स्थानीय तथा जनपदसंधि में न्यायालय का होना अत्यंत आवश्यक था। 'संग्रहण' वह नगर कहलाता था जो दस ग्रामों में प्रमुख होता था। इसी प्रकार चार सौ ग्रामों के केंद्रीय नगर को 'द्रोणमुख' तथा आठ सौ ग्रामों के केंद्रीय नगर को 'स्थानीय' कहते थे। 'जनपदसंधि' का नगर वह था जो दो प्रांतों के मध्यभाग में स्थित था। यह बात ध्यान देने योग्य है कि देश की मुख्य नगरी (राजधानी) में राजकीय न्यायालय के साथ-साथ ऊपर कहे गए कौटल्य के दोनों न्यायालयों का होना भी आवश्यक था। कौटल्य के मतानुसार विधान के चार मुख्य विभाग किए जा सकते हैं—[१] धर्म (नैसर्गिक विधान या Sacred Law); [२] व्यवहार (सांसारिक विधान या Secular Law); [३] चरित्र (रीति-रवाज या Custom) और [४] राजशासन (Royal Edicts)। जहाँ कहीं 'धर्म' और 'व्यवहार' में अथवा 'चरित्र' और 'राजशासन' में कुछ विरोध पड़ जाता था वहाँ 'धर्म' तथा 'चरित्र' की ही आज्ञाओं का पालन होता था, 'व्यवहार' तथा 'राजशासन' का नहीं[२]। कौटल्य-मतानुसार 'धर्म' सत्य की भित्ति पर स्थित था और 'व्यवहार' का अस्तित्व साक्षियों पर था। इसी प्रकार 'चरित्र' का निर्माण अनेक पुरुषों के सम्मिलित निर्णय के कारण होता था, और 'राजशासन' केवल राजाज्ञा थी जिसे हम Administrative Law कह सकते हैं[३]। अर्थशास्त्र के लेखक ने राजा को 'राजशासन' या 'आर्डिनेंस' निकालने की आज्ञा दे रक्खी है, परंतु मनु आदि ने यह अधिकार उसे नहीं दिया है। साथ ही साथ यह भी ध्यान में रखने की बात है कि राजा को जो विधान बनाने का अधिकार दिया गया है वह केवल इसलिये कि वह ऐसे विधानों की रचना करे जिससे 'धर्म', 'व्यवहार' और 'चरित्र' की आज्ञाओं के पालन करने में लोगों को सुविधा हो—वह ऐसे विधान की सृष्टि नहीं कर सकता था जो उसे विधान के इन तीन विभागों के ऊपर अथवा परे रक्खे[४]। इन नियमों की उपयोगिता के विषय में कौटल्य का मत है कि जब कभी धर्म और व्यवहार में, अथवा धर्म और चरित्र में, विरोध दिखाई पड़े तब विरोध का निर्णय धर्म के अनुसार होना चाहिए। इसी प्रकार जब कभी व्यवहार और चरित्र में विरोध उठ खड़ा हो तब कौटल्य के मतानुसार चरित्र का ही पालन होना चाहिए, और लिखित विधान की समस्त शक्ति क्षीण हुई समझनी चाहिए; क्योंकि कौन जानता है उस अवस्थाविशेष में लागू होनेवाला

---

१. स्मृतिचंद्रिका, पृष्ठ २४

२. धर्मश्च व्यवहारश्च चरित्रं राजशासनम्। विवादार्थश्चतुष्पादः पश्चिमः पूर्वबाधकः। (अर्थशास्त्र ३–१)

३. अत्र सत्यस्थितो धर्मो व्यवहारेषु साक्षिषु। चरित्रं संग्रहे पुंसां राज्ञामाज्ञानुशासनम्॥ (अर्थशास्त्र १-३)

४. श्री काशीप्रसाद जायसवाल—'Hindu Polity,' Part II, p. 152; अर्थशास्त्र, १-३

विधान खो न गया होगा[1]। इस प्रकार कार्यक्षेत्र में चरित्र-विधान अन्य समस्त विधानों की अपेक्षा अधिक मुख्य था। मनु ने भी यह कहकर इसी मत की पुष्टि की है कि विवादों का निपटारा उस देश तथा प्रांत की प्रचलित रीतियों के अनुसार—जो वहाँ की जातियों, श्रेणियों और कुलों में प्रचलित हों—होना चाहिए[2]। शुक्र ने भी राजा को न्याय के शासन तथा परिपालन में अत्यधिक सचेत रहने का आदेश दिया है। उनके मतानुसार राजा को उन समस्त रीतियों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना चाहिए जो देश के विभिन्न भागों में प्रचलित हों, अथवा जिनका उल्लेख शास्त्रों में मिलता है, अथवा जिनका परिपालन जातियों, ग्रामों, संघों और कुलों द्वारा होता चला आता है।[3] जो रीतियाँ देश में, जाति में अथवा जनसाधारण में प्रचलित हो गई हैं उनका उल्लंघन कदापि न होने देना चाहिए; क्योंकि उनके उल्लंघन से जनसाधारण में अशांति के भाव उत्पन्न होते हैं।[4]

अभियोग की सुनवाई और उसके चार विभिन्न विभाग—संभवतः अभियोगों की सुनवाई जनसाधारण के बीच में प्रत्यक्ष रूप से हुआ करती थी; क्योंकि शुक्र के मतानुसार अभियोग की सुनवाई जन-साधारण की आँखें बचाकर न राजा को करनी चाहिए और न न्यायसभा के अन्य सदस्यों को[5]। शुक्र ही के मतानुसार अभियोगों की सुनवाई न्यायालय के सम्मुख उनके उपस्थित होने की तिथि के अनुसार, अथवा अपराध की गंभीरता के अनुसार, अथवा पक्षविशेष को हानि के न्यूनाधिक्य के अनुसार, अथवा वादियों की जाति के अनुसार होनी चाहिए[6]। पुनः शुक्र का ही कहना है कि प्रत्येक अभियोग के चार विभाग इस प्रकार किए जा सकते हैं—[१] पूर्वपक्ष (वादी का निवेदन अथवा अर्जीदावा), [२] उत्तर (प्रतिवादी का उत्तर अथवा बयान तहरीरी), [३] क्रिया (दोनों पक्षों द्वारा अपनी-अपनी पुष्टि में किए गए कार्य), और [४] निर्णय[7]। अभियोग के प्रारंभ होने में सबसे पहला और मुख्य कार्य था वादी का न्यायालय में जाकर न्यायाधीश के सम्मुख अपना निवेदनपत्र उपस्थित करना। "यह देखते हुए कि राजा अपने मंत्रियों के साथ सिंहासन पर विराजमान है, वादी को चाहिए कि अपनी हानि वा अन्य प्रकार की सूचना को भली भाँति सोच-समझकर अथवा पूर्ण रूप से उसे लिखकर राजा

---

[1] अनुशासाद्धि धर्मेण व्यवहारेण संस्थया। न्याये न च चतुर्थेन चतुरान्तां महीं जयेत्॥
संस्थया धर्मशास्त्रेण शास्त्रं वा व्यवहारिकम्। यस्मिन्नर्थे विरुध्येत धर्मेणार्थं विनिश्चयेत्॥
शास्त्रं विप्रतिपद्येत धर्मन्यायेन केनचित्। न्यायस्तत्र प्रमाणो हि यत्र पाठो हि नश्यति॥
(अर्थ० ३-१)

[2] जातिजानपदान्धर्मान्श्रेणीधर्मांश्च धर्मवित्। समीक्ष्य कुलधर्मांश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत्॥
(अर्थ० ८-४१)

[3] शुक्रनीति—४, (५) पंक्ति ६०-६१

[4] ,, ,, ,, ६२–६३

[5] ,, ,, ,, १२–१३

[6] ,, ,, ,, ३१०-३१२

[7] ,, ,, ,, ३०५-३०६

को दे[1] ।" वादी को आश्वासन देते हुए राजा को यह पूछना चाहिए—"तुम्हें कौन-सा कार्य है ? तुम्हें कौन-सा कष्ट है ? किस दुष्ट ने कब और किस अवस्था में तुम्हें कष्ट दिया है[2] ?" राजा वादी का उत्तर सुनता और लेखक उसे लिखता जाता। हमें यह भी ज्ञात है कि राजा की अनुपस्थिति में प्राड्विवाक (प्रधान न्यायाधीश)—ये प्रश्न करते थे। न तो राजा की और न उसके अन्य कर्मचारियों वा भृत्यों की प्रेरणा से किसी अभियोग का आरंभ हो सकता था और न इन लोगों की प्रेरणा से न्यायालय के संमुख उपस्थित किए गए किसी मनुष्य के अभियोग का अंत किया जा सकता था[3] । शुक्र के मतानुसार राजा अथवा अन्य राजकर्मचारियों वा भृत्यों को कभी झूठे अभियोग गढ़कर न्यायालय के संमुख न लाना चाहिए। परंतु छल (Misdemeanour) अथवा अपराध (Felonies) के अभियोग का—या उन अभियोगों का जिनमें राजा स्वयं वादी अथवा प्रतिवादी होता था; अथवा उन अभियोगों का जिनकी सूचना राजा को सूचकों, स्तोभकों[4], प्रशंसकों आदि से मिलती थी—निर्णय स्वयं राजा ही कर सकता था। वादी जो कुछ निवेदन करता था, वह लिख लिया जाता था और उस पर उसे हस्ताक्षर करना पड़ता था। उस पर राजा की मुहर भी लगाई जाती थी[5] ।' इसी प्रकार अभियोग का दूसरा अंग था प्रतिवादी की उपस्थिति के लिये समन निकालना। वादी, राजा के आज्ञानुसार, प्रतिवादी को पकड़कर रखने के लिये, सत्यवादी और धर्मभीरु तथा शास्त्रादि से सुसज्जित पुरुषों को नियुक्त करता था। जो प्रतिवादी अपने ऊपर लगाए गए अभियोग के उत्तर देने से अस्वीकार करता था, अथवा जो वादी के निवेदन-पत्र की उपेक्षा करता था, केवल उसी के लिये यह कड़ा नियम था। जब तक प्रतिवादी अभियोग का उत्तर देने के लिये अथवा उसकी सुनवाई में भाग लेने के लिये बुलाया न जाय तब तक वादी द्वारा नियुक्त ये लोग प्रतिवादी को पकड़कर (हिरासत में) रख सकते थे। ऐसी गिरफ़ारी चार प्रकार की होती थी—[१] स्थानासेध (स्थानविशेष में पकड़कर रखना), [२] कालासेध (कुछ काल के लिये पकड़ रखना), [३] प्रवासासेध (कहीं बाहर न जाने देना), और [४] कर्मासेध (कोई काम न करने देना)[6] । यदि प्रतिवादी समन पाकर न्यायालय में उपस्थित न होता तो उसके नाम वारंट निकाला जाता।[7] यदि तब भी वह न्यायालय के संमुख उपस्थित न होता और लुक-छिपकर भाग निकलने का प्रयत्न करता तो उसे दंड मिलता था।[8] यदि वह न्यायालय के संमुख उपस्थित कराया जाता और

[1] शुक्रनीति—४, (५), पंक्ति १०९-१११.

[2] ,, ,, ,, ,, ११५-११७.

[3] नोत्पादयेत्स्वयं कार्यं राजा नाप्यस्य पूरुषः । न च प्रापितमन्येन ग्रसेदर्थं कथंचन ॥ (मनु—८, ४३)

[4] संभवतः वे राजा के भृत्य न थे, परंतु वे राजा को विभिन्न सूचनाएँ दिया करते थे। (शुक्रनीति, विनयकुमार सरकार का अनुवाद—४ (५), पंक्ति १३५-१३६

[5] शुक्रनीति ४ (५), श्लोक ८९.

[6] ,, ,, ,, पंक्ति १८४-१९०.

[7] ,, ,, ,, ,, ९८

[8] ,, ,, ,, ,, २४२-२४३.

यदि उस समय अन्य आवश्यक कार्य में न्यायाधीश लगा रहता, तो ऐसी अवस्था में न्यायाधीश उसके समय-विशेष पर उपस्थित होने के लिये उचित प्रतिभू (जमानत) पाकर उसे छोड़ दे सकता था[1]। इसके बाद पूर्वपक्ष (अर्जीदावा) के औचित्य पर आवश्यक वाद-विवाद हो जाने पर प्रतिवादी का कथन लिखा जाता था[2]। प्रथमतः वादी से तदुपरांत प्रतिवादी से विभिन्न प्रश्न (जिरह के रूप में) किए जाते थे। उनके उत्तर लेखक (पेशकार) द्वारा लिख लिए जाते थे। वे लेखक अत्यधिक दंड के भागी होते थे जो वादी वा प्रतिवादी द्वारा न कही गई बात भी लिखते थे, अथवा दोनों पक्षों की ओर से कही गई बातों को नहीं लिखते थे, अथवा कुछ परिवर्त्तन के साथ घटा-बढ़ाकर लिखते थे। प्रतिवादी, वादी के निवेदन-पत्र को समझ लेने पर, चार में से किसी भी प्रकार के उत्तर देने के लिये स्वतंत्र था—या तो वह वादी के अभियोग को झूठा कह सकता था (मिथ्या), अथवा उसे स्वीकार कर ले सकता था (संप्रतिपत्ति), अथवा वह कोई विशेष बात कह सकता था (प्रत्यावस्कंदन), अथवा उसी विषय में न्यायालय के किसी पहले के किए हुए निर्णय का आश्रय (पूर्वन्यायविद्धि Pre Judicata) ले सकता था। साधारण अभियोगों में तो थोड़े ही समय में निर्णय सुना दिया जाता था। परंतु उन टेढ़े अभियोगों में वादियों तथा प्रतिवादियों को अपने पक्ष की पुष्टि करने के लिये उपयुक्त समय दिया जाता था। प्रतिवादी का उत्तर सुन लेने पर असेसर (Assessor) लोग इस विषय में अपनी संमति प्रकट करते थे कि अभियोग के सिद्ध करने का भार किस पक्ष पर है। जिस पक्ष पर अभियोग के सिद्ध करने का भार पड़ता था वह उसे लिखित वा अन्य प्रकार के प्रमाणों से सिद्ध करने का प्रयत्न करता था। किसी भी विवादास्पद अभियोग में दोनों पक्षों के प्रमाण सच नहीं हो सकते—एक का प्रमाण अवश्य ही सच्चा और दूसरे का झूठा होगा[3]। तथापि यथावसर अभियोग के सिद्ध करने का भार एक पक्ष से हटकर दूसरे पक्ष पर पड़ सकता था।

विधान तथा वृत्त के प्रश्न और प्रमाण, साक्षियों की योग्यता और यथेष्टता—न्यायाधीश लोग विधानसंबंधी विवादों को अपने शास्त्र तथा स्मृतियों के ज्ञान से निपटा देते थे; परंतु अभियोगों के उन विवादों का—जिनका विधान से संबंध न होता था—प्रमाणों के ही आधार पर निर्णय होता था। प्रमाण भी मानवीय वा ईश्वरीय होते थे। मानुषी प्रमाण या तो लिखित होता था या उसका निपटारा अधिकार (कब्जा) के आधार पर किया जाता था[4]। अभियोग के प्रत्येक विषय पर पूर्ण रूप से विचार करने के उपरांत न्यायाधीश को निर्णय सुनाना पड़ता था। अभियोग का निर्णय हो जाने के उपरांत वह पक्ष दंड का भागी होता था जो न्यायालय के संमुख झूठे प्रमाण उपस्थित करता था। अचल संपत्ति के विषय में उत्पन्न हुए विवादों का निपटारा

[1] शुक्रनीति—४, (५) पंक्ति १२५

[2] ,, ,, ,, ,, २७३-२७४.

[3] ,, ,, ,, ,, ३१३-३१७

[4] ,, ,, ,, ,, ३२२

अधिकार के आधार पर कर दिया जाता था—हाँ, इतना ध्यान में रखना आवश्यक था कि जिसका उस संपत्ति पर अधिकार हो वह अधिक दिनों से निर्विवाद रूप से उससे आय प्राप्त करता चला आता हो। इतना ही नहीं, इस पर भी ध्यान देना पड़ता था कि ये सभी बातें प्रतिवादी की उपस्थिति में हुआ करती थीं। (निराक्रोश)। वह समस्त संपत्ति उस मनुष्य की हो जाती थी जो उसका उपभोग साठ वर्ष-पर्यंत कर चुकता था। परंतु इस नियम के निम्नलिखित अपवाद थे—रेहन, सीमाभूमि, अप्राप्तवयस्क पुरुष (नाबालिग) की संपत्ति, और श्रोत्रिय की संपत्ति। इनका साठ वर्ष तक उपभोग कर चुकने पर भी उपभोक्ता इन्हें अपनी नहीं बना सकता था। अर्थशास्त्र के लेखक ने संयोगवश प्राप्त प्रमाणों (circumstantial evidence) का भी उल्लेख किया है, जिनका उपयोग अवसर-विशेष पर किया जाता था (उदाहरणार्थ—चोरी, मकान में सेंध देना आदि); क्योंकि उस अवस्था में केवल वैसा ही प्रमाण न्यायालय के संमुख आ सकता था[१], और वही उपयुक्त तथा पर्याप्त मान लिया जाता था। स्यात् आधुनिक न्यायालयों के समान प्राचीन भारत के न्यायालय सुनी हुई बात को प्रमाण-रूप में (hearsay evidence) उपस्थित करना नितांत व्यर्थ नहीं मानते थे; क्योंकि मनु[२] तथा शुक्र[३] ने स्पष्ट रूप से वैसे प्रमाण को उचित तथा विश्वसनीय माना है। यही नहीं, शुक्र ने साक्षियों को दो विभिन्न श्रेणियों में विभक्त किया है—एक वह जिसने अपनी आँखों देखा है तथा दूसरा वह जिसने केवल सुना है। ये श्रेणियाँ पुनः दो भागों में विभक्त की गई हैं—असत्यवक्ता और सत्यवक्ता[४]। हाँ, साक्षियों की योग्यता पर विशेष ध्यान दिया जाता था। मनु के मतानुसार गृहस्थ पुत्रवान् और चारों वर्णों के उसी स्थान के निवासी (जहाँ विवाद उपस्थित हुआ है) उपयुक्त साक्षी थे[५]। परंतु शुक्र के मतानुसार साक्षियों का जात्यकर्मानुसार होना आवश्यक था[६]। गृहस्थ (जो किसी के आश्रित न हों), धीमान्, अप्रवासी तथा पूर्णवयस्क युवक उपयुक्त साक्षी माने जाते थे। स्त्रियाँ केवल उन्हीं अभियोगों में साक्षिणी होती थीं जिनमें स्त्री-जाति के हित का कुछ लगाव रहता था[७]। शुक्र ही के मत से उस मनुष्य को साक्षिणी के रूप में अवश्य आना चाहिए जिसने वादी और प्रतिवादी की उपस्थिति में उसको देखा अथवा सुना है जिसके विषय में वह कुछ कहने आ रहा है—हाँ, यह ध्यान में रखने की बात थी कि उसका कथन परस्पर-विरोधी न हो[८]। पुनः शुक्र ही के मतानुसार साक्षी के गुण (उसकी सत्यता को—जिसे वादी तथा प्रतिवादी दोनों

---

[१] अर्थशास्त्र—भाग ४, अध्याय ८

[२] मनुस्मृति—८, ७४

[३] शुक्रनीति—४, (५), श्लोक १९६-१९७

[४] ,, ,, ,, पंक्ति ३६४-३६५

[५] मनुस्मृति—८, ६२

[६] शुक्रनीति—४, (५) पंक्ति ३७२

[७] शुक्रनीति - ४, (५) पंक्ति ३७३-७४

[८] ,, ,, ,, ,, ३६६-३६७

ही स्वीकार करते—छोड़कर) ये हैं—बुद्धि, स्मृति और (अधिक काल बीत जाने पर भी) अच्छे कान[१]। कौटल्य के मतानुसार ये लोग साक्षी होने के अयोग्य हैं—स्याल, सहाय, आबद्ध, धनिक, धारणिक, वैरी, न्यंग तथा धृतदंड। इनको छोड़कर कुछ लोग साक्षी के रूप में न्यायालय द्वारा नहीं बुलाए जा सकते थे—केवल उन्हीं अभियोगों में ये साक्षी के रूप में उपस्थित हो सकते थे जिनमें इनका व्यक्तिगत स्वार्थ हो। जैसे—राजा, श्रोत्रिय, ग्रामभृत, कुष्ठी, व्रणी, पतित, चांडाल, कुत्सित कर्म करनेवाला, अहंवादी, स्त्री, राजभृत[२]। मनुस्मृति में हमें एक लंबी सूची उन लोगों की मिलती है जो साक्षी के रूप में नहीं आ सकते थे अथवा नहीं लाए जा सकते थे। उस सूची में ये लोग हैं—"वह मनुष्य जिसका हित अभियोग के साथ लगा हो, अंतरंग मित्र तथा साथी, वादी-प्रतिवादी के वैरी, वे पुरुष जिन्हें असत्यभाषण के कारण दंड मिल चुका है, वे पुरुष जो किसी भयानक रोग से ग्रस्त या त्रस्त हैं, तथा वे मनुष्य जो नैतिकता का ध्यान नहीं रखते।" ऐसे पुरुष साक्षी के रूप में नहीं बुलाए जा सकते थे[३]। निम्नलिखित श्रेणियों के मनुष्य भी साक्षी के रूप में, असाधारण अवस्थाओं को छोड़कर, नहीं बुलाए जाते थे—राजा, व्यापारी, नट, वेद का विद्यार्थी, तपस्वी, वह मनुष्य जो किसी दुर्यशी पुरुष का आश्रित है, दस्यु, कुत्सित वृत्तियों द्वारा जीविकोपार्जन करनेवाला, वृद्ध, बालक, नीच जाति का पुरुष, अत्यंत दुःखी वा मद्यप, क्षुधार्त्त, अत्यंत क्लांत वा पिपासित, पागल, दुर्व्यसनी, क्रुद्ध तथा तस्कर[४]। शुक्र की भी सूची प्रायः इसी प्रकार की है। परंतु शुक्र का कथन है कि बालक अपने अज्ञान के कारण, स्त्री अपने मिथ्या भाषण के कारण, जाल करनेवाला पुरुष अपने बुरे अभ्यास के कारण, संबंधी अपने स्नेह के कारण, वैरी अपनी चढ़ाऊपरी की वृत्ति के कारण, नीच जाति का मनुष्य अपने अहंभाव के कारण, वंचक अपने लोभ के कारण, और आश्रित अपनी फीस तथा घूस पा जाने के कारण साक्षी होने के योग्य नहीं है[५]। परंतु जब अन्य उपयुक्त साक्षियों का अभाव होता था तब स्त्रियाँ, अप्राप्तवयस्क पुरुष आदि, साक्षी के रूप में बुलाए जाते थे और उनके कथन पर ध्यान दिया जाता था[६]। परंतु उनके कथन पूर्ण रूप से विश्वास के योग्य नहीं माने जाते थे[७]। कुछ अभियोगों में साक्षियों का इस प्रकार चुना जाना ठीक नहीं समझा जाता था। उदाहरणार्थ—चोरी, अपहरण आदि में[८]। वे साक्षी, जो साधारणतः प्राप्य थे, नादियों और प्रतिवादियों-द्वारा बुलाए जाते थे। वे पुरुष, जो अधिक दूरी

---

[१] शुक्रनीति—४, (५) पंक्ति ३६८-३६९

[२] प्रतिविद्धाः स्यालसहायावद्धधनिकधारणिकवैरिन्यङ्गधृतदण्डाः। पूर्वे चाव्यवहार्याः। राजा श्रोत्रियग्रामभृतकुष्ठिव्रणिनः पतितचाण्डालकुत्सितकर्माणोऽन्धबधिरमूकहंवादिनः स्त्रीराजपुरुषाश्चान्यत्र स्ववर्गेभ्यः (प्र० ३, अ० १)

[३] मनुस्मृति—८, ६२

[४] मनु०—८, ६५-६८

[५] शुक्रनीति—४, (५) पंक्ति ३७७-३८०

[६] मनु०—८, ६८

[७] मनु०—८, ७१

[८] मनु०—८. ७२; तथा शुक्रनीति, ४ (५), पं० ३७५-३७६

पर रहते थे, वादी या प्रतिवादी के बुलाने से नहीं आते थे। जो केवल न्यायालय की आज्ञा के ही कारण आ सकते थे, वे न्यायालय के समन (स्वामिवाक्य) द्वारा बुलाए जाते थे। यह अर्थशास्त्र का कथन है। साक्षिगण पराजित पक्ष द्वारा अपना श्रम-शुल्क (फीस) पाते थे। यही नहीं, कौटल्य के मतानुसार उन्हें पुरुषभृति (खूराक) भी दी जाती थी। शुक्र ने भी इसका उल्लेख किया है। साक्षी के रूप में आहूत पुरुष यदि न्यायालय में उपस्थित न हो तो वह दंड का भागी होता था। न्यायालय में साक्षी के कुछ कथन करने के पहले ही न्यायाधीश ऐसी बातें कहता था कि साक्षी विवश होकर सत्य बात कह दे। कौटल्य के मतानुसार ब्राह्मण साक्षी से कहा जाएगा—'सच कह दो'। क्षत्रिय अथवा वैश्य से कहा जाएगा—'यदि तूने असत्य कहा तो तुझे अपने याज्ञिक अथवा अन्य धार्मिक कृत्यों का फल-लाभ न हो सकेगा; रणक्षेत्र में शत्रुओं का नाश कर चुकने पर तुझे अपने हाथ में कपाल लेकर भिक्षा माँगनी होगी।' शूद्र साक्षी से कहा जाएगा—'जो भी तेरे पुण्य, पूर्व जन्म के अथवा मरणांतर के, होंगे वे राजा के यहाँ चले जाएँगे और जो भी पाप राजा ने किए होंगे वे तेरे पास चले आएँगे, यदि तू असत्य भाषण करेगा तो तेरे ऊपर अर्थदंड का भी बोझ पड़ेगा; क्योंकि बातें जैसी सुनी वा देखी गई हैं वे निकट भविष्य में अवश्य प्रकट होंगी[1]।' मनु के मतानुसार न्यायाधीश को निम्नलिखित शब्दों में साक्षियों को उपदेश देना चाहिए—'वह मनुष्य जो न्यायालय के संमुख (साक्षी के रूप में आकर) सत्य भाषण करता है, (मृत्यु के उपरांत) अत्यंत आनंदमय स्थान का अधिकारी होता है और इस संसार में उसे अक्षय कीर्त्ति प्राप्त होती है[2]।' शुक्र का भी ऐसा ही मत है[3]। साक्षी के रूप में न्यायालय के संमुख आया हुआ मनुष्य यदि असत्य भाषण करता था तो उसे—मनु तथा शुक्र के मतानुसार—अर्थदंड अथवा अन्य प्रकार के दंड भी दिए जाते थे। साक्षियों के केवल मौखिक कथन पर ही सब कुछ निश्चित नहीं किया जाता था; परंतु लिखित (कागजी सबूत) की विशेष आवश्यकता बँटवारा, भेंट, बेंची, सकारी हुई हुंडी, रसीद-भरपाई, संविदान तथा ऋण में पड़ा करती थी[4]। विधान-मूलक अभियोग में, कौटल्य के मतानुसार, वादी-प्रतिवादी द्वारा स्वीकृत अथवा विश्वसनीय अच्छे और पवित्र आचरणवाले तीन मनुष्य साक्षी के रूप में यथेष्ट समझे जाते थे। दिए हुए ऋण के प्राप्त करने के लिये चलाए गए अभियोग में दोनों पक्षों द्वारा स्वीकृत दो साक्षियों की संख्या यथेष्ट मानी जाती थी; परंतु अभियोग का निर्णय एक साक्षी के कथन पर कभी नहीं किया जा सकता था[5]। न्यायाधीश को साक्षियों के कथन के तौलने का काम अपनी बुद्धि के अनुसार करना पड़ता था[6]। केवल एक प्रकार के ही प्रमाण को ध्यान

---

[1] अर्थशास्त्र—३, ऋणदान।

[2] मनुस्मृति—अ० ८, ८१-८६

[3] शुक्रनीति—४ (५), पं० ३०४-५

[4] मनुस्मृति—अ० ८, १२०-२१; शुक्रनीति—४ (५), ४०५ तथा उसके आगे की पंक्तियाँ।

[5] प्रत्ययिका शुचयोऽनमतवा त्रयोऽवरार्थ्याः। पक्षानुमतौ वादौ ऋणं न त्वेकैकः।—अर्थशास्त्र, ३

[6] मनुस्मृति—८, ७३

में रखकर किसी अभियोग का निर्णय नहीं किया जा सकता था[१]—चाहे वह प्रमाण अधिकार के आधार पर हो या लिखित अथवा मौखिक; क्योंकि प्रत्येक प्रकार के प्रमाण पर किसी अंश तक भरोसा किया जा सकता था। सत्यता की प्राप्ति के लिये, शुक्र के मतानुसार, चार प्रकार के उपायों का आश्रय लेना पड़ता था—प्रत्यक्ष (visible indication), युक्ति (reasoning), अनुमान (inference) और उपमान (analogy)[२]। जब साक्षियों के कथन परस्पर-विरोधी होते थे तब शुचि तथा अनुमत (approved) साक्षियों के बहुमतानुसार निर्णय कर दिया जाता था—यह कौटल्य का मत है। शुक्र का भी मत इसी से मिलता-जुलता है[३]। परंतु चाहे जैसी भी अवस्था हो, जब यह ज्ञात हो जाता था कि किसी अभियोग का निर्णय असत्य तथा अपर्याप्त साक्षियों के कथन पर कर दिया गया है तब निर्णय में परिवर्त्तन कर दिया जाता था और साथ ही साथ पहले अभियोग का सब कुछ अ-विधायक तथा व्यर्थ समझा जाता था[४]।

शपथ तथा 'दिव्य परीक्षा' और जाँच के अन्य उपाय—साक्षियों के कथनों के लिखे जाने के अतिरिक्त—सत्य को असत्य से पृथक् करने के लिये—सौगंद, अग्नि, जल आदि द्वारा परीक्षा लेने की भी रीति प्रचलित थी। शुक्र के मतानुसार जिस स्थान पर सत्य को असत्य से पृथक् करनेवाली युक्ति आदि की रीतियाँ असफल हो जाती हैं उस स्थान पर 'दिव्य साधन' का प्रयोग आवश्यक हो जाता है[५]। कौटल्य के समान मनु ने भी[६] चारों वर्णों को शपथ दिलाने की पृथक्-पृथक् रीतियों का वर्णन किया है। अग्निजलादि का परीक्षावाला उपाय 'दिव्य' कहलाता था; क्योंकि प्राचीन काल के देवतों ने अभियोग की अत्यंत कठिन और उलझी हुई समस्याओं के सुलझाने का यही उपाय बतलाया था[७]। यह दिव्य परीक्षा अग्नि, विष, जलपूरित कुंभ, तुला आदि द्वारा ली जाती थी[८]। यदि अभियुक्त इस परीक्षा के लिये प्रस्तुत हो जाता और अग्नि, विष

---

[१] शुक्रनीति— (विनयकुमार सरकार का अनुवाद) ४, (५), पंक्ति ४२०-४२८

[२] ,, २, ४६

[३] ,, ४ (५), पंक्ति ३६०-६१

[४] मनुस्मृति—८, ११७

[५] शुक्रनीति—४ (५), पंक्ति ४६०

[६] मनुस्मृति—८, ११३

[७] शुक्रनीति—४ (५), श्लोक ८६

[८] मनुस्मृति—८, ११५; शुक्र० ४ (५), पंक्ति ४७०-४७१; दिव्य परीक्षाएँ (ordeals) नौ प्रकार की हैं—(१) 'तुला'—दिव्यसाधन करनेवाला मनुष्य दो बार तौला जाता था। यदि दूसरी बार उसका भार पहली बार की अपेक्षा कम रहे तो निर्दोष, और यदि भारी रहे तो अपराधी, माना जाता था। यह अभी विवादास्पद है कि यदि दोनों ही बार का वजन एक ही ठहरे, अथवा यदि तुला के दो टुकड़े हो जायँ, तो वैसी अवस्था में क्या किया जाता था! (२) 'अग्नि'—एक जलता हुआ लाल आग का गोला निश्चित दूरी तक ले जाया जाता था। अभियुक्त अपने हाथों को जलने से बचाने के लिये अपने हाथ में पट्टियाँ लपेट ले सकता था। यदि उसका हाथ

आदि का उस पर कुछ प्रभाव न पड़ता तब वह निर्दोष मान लिया जाता था। पर इस प्रकार की 'दिव्य परीक्षा' उसी समय ली जाती थी जब लिखित अथवा अन्य प्रकार के प्रमाणों का सर्वथा अभाव होता था। शुक्र का कथन है कि जब कोई लिखित प्रमाण उपस्थित नहीं किया जाता अथवा जब अधिकार न हो, साक्षी न हों और 'दिव्य परीक्षा' भी न ली गई हो तब राजा को यह अधिकार है कि जो उत्तम जान पड़े सो करे[1]। परंतु जब एक पक्ष मानवी साक्षियों को उपस्थित करता है और दूसरा पक्ष दैवी को, तब न्यायाधीश को मानवी प्रमाणों को ही अंगीकृत करना चाहिए, दैवी को नहीं[2]। किसी अभियोग की जाँच करने का सबसे उत्तम साधन, न्यायालय के लिये, गुप्तचरों द्वारा प्राप्त समाचार था। कौटल्य ने इस रीति के पालन को बड़ा महत्त्व दिया है[3]। इसके अतिरिक्त दूसरा साधन था विभिन्न प्रकार के प्रश्नों (जिरह) द्वारा सत्य को प्राप्त करना। शुक्रनीति में हमें इसका उल्लेख मिलता है कि किसी अभियोग में या तो प्रत्येक पक्ष स्वयमेव वाद-विवाद कर लेता था अथवा इस कार्य के लिये वकील नियुक्त किए जाते थे जो नियमानुसार श्रम-शुल्क (फीस) पाते थे। शुक्र के मतानुसार वही मनुष्य वकील हो सकता था जो नैसर्गिक तथा सांसारिक विधानों का पूर्ण रूप से ज्ञान प्राप्त कर चुका हो। और, यदि वकील नियमित श्रम-शुल्क से अधिक ले लेता अथवा लुब्ध होकर अपना कार्य करता था तो न्यायालय उसे 'व्यावसायिक दुश्चरित्रता' (professional misconduct) का दंड देता था[4]।

न जलता तो वह निर्दोष मान लिया जाता। यदि वह तप्तांगार को शीघ्रता से अपने हाथ से गिरा देता, अथवा यदि यह संदिग्ध रह जाता कि उसका हाथ जला या नहीं, तो पुनः उसी प्रकार उसकी परीक्षा ली जाती थी। (३) 'सलिल'—वह मनुष्य (जिसकी परीक्षा होनेवाली हो) किसी झील वा नदी में तब तक डूबा रहे जब तक किनारे से छोड़ा हुआ बाण पुनः वापस न लाया जा सके। (४) 'विष'—नियमित मात्रा में विष खिलाकर कुछ समय तक यह देखा जाता था कि विष अपना प्रभाव दिखलाता है या नहीं। (५) 'कोश'—किसी देव-प्रतिमा को जल से स्नान कराकर वही जल अभियुक्त को पिलाया जाता था और यदि थोड़े समय में (अधिक से अधिक तीन सप्ताह में) कोई दुर्घटना उसके यहाँ अथवा उसके निकटतम संबंधियों के यहाँ हो जाती तो उसके सदोष होने का प्रमाण मिल जाता था। (६)'तंडुल'—अभिमंत्रित तथा बिना छिला हुआ धान चबाने के लिये दिया जाता था और चबाने के उपरांत उसे एक पत्ते पर अभियुक्त उगल देता था। यदि उसमें रक्त न दिखाई पड़ता तो अभियुक्त निर्दोष मान लिया जाता था। (७) 'तप्तमास'—खौलते घी अथवा तैल से भरे हुए घड़े से एक सिक्का या उसी प्रकार की कोई वस्तु खोजकर निकालनी पड़ती थी। यदि अभियुक्त का हाथ न जले तो वह निर्दोष मान लिया जाता था। (८) 'फाल'—अभियुक्त को अपनी जिह्वा से तप्त फाल को स्पर्श करना पड़ता था। यदि उसकी जिह्वा न जलती तो वह निर्दोष सिद्ध हो जाता था। (९) 'धर्माधर्म'—धर्म तथा अधर्म की मूर्तियाँ एक घड़े में रखकर चिट्ठी डाली जाती थी। ठीक चिट्ठी का उठाना अभियुक्त पर निर्भर था।

—"Hindu Law and Customs," by Dr. Jolly, P 313-314.

[1] शुक्रनीति—४ (५), पं० ५३१–५३२

[2] ,, ,, ,, ,, ५२५–५२६

[3] पूर्वोत्तरार्थव्याघाते साक्षिवक्तव्यकारणे। चारहस्ताश्च निष्पाते प्रदेष्टव्यः पराजितः॥—प्र० ३,१
शुक्रनीति—४ (५), पं० ५४२–५४४

[4] ,, ,, ,, ,, २२७–२३१

परंतु शुक्र के मतानुसार नरहत्या, चोरी, व्यभिचार, शास्त्रवर्जित भोजन, बलात् अपहरण, क्रूरता, जालसाजी, राजविद्रोह तथा डकैती के अभियोगों में वकील, अभियुक्तों के प्रतिनिधि के रूप में, नियुक्त नहीं किए जा सकते थे; अभियुक्त स्वयं ही उत्तर देते थे।

जयपत्र और अपील—दोनों पक्षों के प्रमाणों तथा वाद-विवादों पर पूर्ण रूप से विचार कर लेने पर अभियोग का निर्णय करके विजयी पक्ष को जयपत्र दिया जाता था। परंतु, यदि वादी अपना अभियोग सिद्ध न कर सकता अथवा झूठे प्रमाण उपस्थित करता या जाली लिखित प्रमाणों का उपयोग करता, तब वह दंड का भागी होता था[1]। न्यायालय के निर्णय से असंतुष्ट पक्ष को अपील करने का भी अधिकार प्राप्त था। जब निर्णय अथवा डिगरी किसी ऐसे न्यायालय द्वारा दी जाती थी जो धर्मविरुद्ध माना जा चुका हो, अथवा जब साक्षियों अथवा न्यायालय के पदाधिकारियों पर अनुचित प्रभाव डालकर जयपत्र प्राप्त किया गया हो, अथवा जब राजा के किसी काम की कच्चाई के कारण डिगरी मिल गई हो, अथवा जब अमात्य या प्राड्विवाक ने प्रचलित विधान के विरुद्ध निर्णय कर दिया हो, तब दुगुना अर्थदंड जमा कर देने पर अभियोग की अपील हो सकती थी[2]।

न्याय-शासन की विशेषताएँ—प्राचीन भारत के राजनीति-शास्त्र तथा विधान-शास्त्र के लेखकों का एक प्रधान आदर्श था। राजा को सामाजिक पद, नातेदारी अथवा अन्य किसी भी वस्तु पर ध्यान दिए बिना, पक्षपातहीन होकर, अपराधी को दंड देने की अनुमति थी; क्योंकि 'धर्मप्रवर्त्तक' होने के कारण वही एक ऐसा पुरुष था जिसे राजदंड धारण करने की आज्ञा थी, और वही राज्य में एक ऐसा पुरुष था जिसे किसी व्यक्ति-विशेष अथवा समुदाय-विशेष द्वारा किए गए बलप्रयोग को अपने बलप्रयोग द्वारा रोकने की शक्ति प्राप्त थी। अतएव कौटल्य का कथन है—

राज्ञः स्वधर्मवर्गाय प्रजा धर्मेण रक्षितुः। अरक्षितुर्वा क्षेप्तुर्वा मिथ्यादण्डमतोऽन्यथा ॥
दण्डो हि केवलो लोकं परं क्षेमं च रक्षति। राज्ञा पुत्रश्च शत्रौ च यथादोषं समं धृतः ॥
(अर्थशास्त्र, खंड ३,१)

राजा को अपनी प्रजा का न्यायपूर्वक प्रतिपालन करने की आज्ञा थी; क्योंकि न्याय से शासन करनेवाला राजा ही स्वर्ग का अधिकारी होता था। राजा का राजदंड धारण करना व्यर्थ हो जाता था यदि वह अपनी प्रजा की रक्षा अथवा सामाजिक नियमों की रक्षा करने में असमर्थ जान पड़ता था। यदि दंड का उपयोग, पक्षपातहीन होकर तथा अपराध की गुरुता देखते हुए, राजा अपने पुत्र वा शत्रु दोनों के लिये समान भाव से करता था तो उसके इहलोक तथा परलोक की रक्षा होती थी। न्यायाधीशों को अपना कर्त्तव्य पक्षपातहीन बुद्धि से करना पड़ता था और यदि वे अपने कर्त्तव्य-पालन में पक्षपात करते तो उन्हें भी अर्थदंड दिया जाता था[3]। कौटल्य के मतानुसार पक्षपात करनेवाले

---

[1] शुक्रनीति ४, (५) पंक्ति ५५७–५६२

[2] ,, ,, ,, ,, ५४९–५५६.

[3] कौटल्य—(४,९); मनु० (८, १३,१४ और १८); शुक्र—४, (५) पंक्ति ५५३–५४ आदि में अर्थदंड का विधान दिया है।

न्यायाधीशों पर अभियोग चलाया जाता था, जिसको सुनवाई सरकारी कर्मचारियों पर लगाए गए दोषों को सुननेवाले उच्च न्यायालय (Superior Administrative Court) में होती थी। इस न्यायालय के न्यायाधीश 'समाहर्त्ता' तथा 'प्रदेष्टागण' होते थे। यही नहीं, जब कोई न्यायाधीश अपने सामने आए हुए वादी अथवा प्रतिवादी को डराता, आँखें दिखाता, निकाल देता अथवा अन्याय से चुप करा देता तब—यदि उसका (न्यायाधीश का) यह पहला अपराध होता तो—उसे लघु अर्थदंड देना पड़ता था। यदि वह वादी अथवा प्रतिवादी का अपमान करता अथवा उन्हें अपशब्द कहता तो पहले से दुगुना अर्थदंड देना पड़ता था। यदि वह ऐसे प्रश्न करता जिनके पूछने की कोई आवश्यकता न थी, अथवा उन प्रश्नों को न पूछता जो पूछने चाहिए थे, अथवा यदि वह उन्हें कुछ सिखाता या स्मरण दिलाता या पूर्व-कथित वृत्तांत (बयान) का लाभ किसी को लेने देता, तो वह और भी अधिक अर्थदंड का भागी होता था[1]। न्यायाधीशों के साथ ही साथ न्यायविभाग में काम करनेवाले अन्य छोटे अधिकारियों (जैसे लेखक आदि) को भी पक्षपात से दूर रहना पड़ता था। यदि वैसा वे न करते तो अर्थदंड पाते थे[2]। विशेषकर अपीलें सुनने के लिये राजा सबसे बड़ा और अंतिम न्यायाधीश था। तो भी न्याय और प्रबंध के विभाग अन्योन्याश्रित न थे। न्यायाधीश को मार्ग-प्रदर्शन के लिये राजा का आश्रय न लेकर विधानशास्त्र का आश्रय लेना पड़ता था; क्योंकि राजा व्यवस्था-संबंधी कार्य नहीं करता था। अभियोगों के निर्णय करने में विवेक-बुद्धि से विशेष काम लिया जाता था। न्यायालय प्रायः रीतियों की रक्षा करते थे, उनका नाश नहीं। प्राचीन भारतीय न्यायालयों के संमुख कुछ ऐसे वर्ग के लोग भी थे—जैसे ब्राह्मण तथा श्रोत्रिय—जिन्हें कुछ विशेष सुविधाएँ प्राप्त थीं; जिन्हें फौजदारी के अभियोगों में भी केवल अर्थदंड ही दिया जा सकता था, जब कि उन्हीं अभियोगों के लिये अन्य लोगों को घोर दंड दिए जाते थे! आधुनिक प्रचलित प्रणाली के अनुसार अभियुक्त की जाति, सामाजिक स्थिति आदि का विचार करके ही उसे दंड दिया जाता था[3]। प्राचीन भारत में न्यायालयों का अधिकार-क्षेत्र राजा से लेकर दास और पतित तक फैला हुआ था। यदि कोई स्वामी अपने दास के साथ दुर्व्यवहार करता तो दास अपने स्वामी से संबंध-त्याग कर सकता था और अपने अधिकार की रक्षा भी न्यायालय की सहायता से कर सकता था। उस स्वामी को न्यायालय दंड देता था जो अपने दास के उद्धार-मूल्य (ransom money) के पा जाने पर भी उसे मुक्त नहीं करता था[4]। श्रमिक को न्यायालय की सहायता से अपना वेतन प्राप्त करने का अधिकार था। उसी प्रकार स्वामी भी न्यायालय की सहायता से उस श्रमिक से वह काम पूरा करा सकता था जिसे पूरा करने का भार उसने स्वेच्छा से अपने ऊपर लिया हो। अपनी प्रतिज्ञा को न पूरा करनेवाले को—चाहे वह स्वामी हो वा भृत्य—न्यायालय अर्थदंड देता था।

---

[1] अर्थशास्त्र—४ (६)

[2] ,, ,, ,,

[3] निर्बल तथा विदेशी लोगों तक की रक्षा का भार इन्हीं न्यायालयों पर था।

[4] अर्थशास्त्र—भाग ३, १३

इसके अतिरिक्त, 'विधान का राज्य' (Rule of Law) हिंदू-शासन-प्रणाली का एक मुख्य चिह्न था जिसका पूर्ण विकास हमें 'अदंड्य' राजा तक को अर्थदंड देने में मिलता है। अपने पद, सामाजिक स्थिति तथा उत्तरदायित्व के कारण राजा पर जिस अपराध के लिये एक सहस्र कार्षापण अर्थदंड होता था, उसी अपराध के लिये साधारण मनुष्य पर एक कार्षापण अर्थदंड होता था—यह निश्चित विधान था। मनु ने स्पष्ट कहा है[1]—

> कार्षापणः भवेद्दण्ड्यो यत्रान्यः प्राकृतो जनः। तत्र राजा भवेद्दण्ड्यः सहस्रमिति धारणा ॥

---

[1] मनुस्मृति—अ० ८, ३३६.

कामना-कली

इन काँटोंवाली डालो में
कामना-कुसुम की खिली कली !
सावन की गीली छाती पर, वेदना-बीज आया उड़कर।
क्या जाने कब, कैसे सत्वर, बढ़कर तरु हुआ नवल, सुंदर !
फिर, एक अचानक उस तरु में
सुकुमार कली कब निकल पड़ी ? इन काँटोंवाली—
नभ में हँसती थी चंद्र-किरण, थी कलिका मेरी सजल-नयन,
घुल-घुल पड़ता चाँदी का मन, था धुल जाता सोने का तन,
अपने ही काँटों में घिरकर
छिदती, अकुलाती रही कली ! इन काँटोंवाली—
आया मधु प्रथम किरण रथ चढ़, धर शुभ्र भाल पर ललित मौर !
सूने उपवन के बीच इसे, देखा काँटों में एक ठौर !
देखा, समीप आ लिया चूम,
कृतकृत्य हुआ वह, खिली कली ! इन काँटोंवाली—

मधुसूदनप्रसाद मिश्र 'मधुर'

धमणार की बौद्ध गुफाएँ और धर्मनाथ का मंदिर

श्री किशनलाल दुर्गाशंकर दुबे

पुरातत्त्वान्वेषियों के अनवरत परिश्रम से कई ऐतिहासिक स्थल एवं घटनाएँ, जो अंधकार के गर्भ में पड़ी थीं, प्रकाश में आई हैं। इनसे प्राचीन भारत की सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक तथा अन्य परिस्थितियों का ज्ञान प्राप्त करने में बड़ी सहायता मिलती है। अजंता, बाघ, इलोरा, जोगिमारा, सिगरिया (लंका), एलिफंटा, धमणार[1] आदि की गुफाओं को देखकर पाश्चात्य विद्वानों ने भी प्राचीन भारत के परमोत्कृष्ट शिल्प-कौशल और भारतीय सभ्यता के चरम उत्कर्ष की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

'धमणार' गाँव इंदौर-राज्य (मध्यभारत) के रामपुरा-भानपुरा जिले में है। यह 'बी० बी० ऐंड सी० आइ०' रेलवे के नागदा-मथुरा-सेक्शन के 'शामगढ़' स्टेशन से तेरह मील पश्चिम है। यहाँ पहुँचने के लिये एक पक्की सड़क बनी हुई है। इस गाँव के पास की पहाड़ी में ये गुफाएँ खुदी हुई हैं। पहाड़ी का घेरा करीब तीन मील है। उत्तर की ओर इसकी चढ़ाई एक सौ चालीस फीट तक पहुँच गई है। सिरे पर चौरस मैदान है। दक्षिण की तरफ इसका आकार घोड़े की नाल के समान हो गया है। इसके चारों ओर की भूमि प्राकृतिक परकोटे की भाँति ऊँची उठी हुई है। इसी से कर्नल

---

[1] धमणार की पहाड़ी पर, फाल्गुनी महाशिवरात्रि को, हर साल एक अच्छा मेला होता है। होल्कर स्टेट (इंदौर) की ओर से बड़ी अच्छी व्यवस्था होती है। कुछ वर्ष पूर्व मुझे वहां जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उसी समय इन गुफाओं तथा देवालय का चमत्कारपूर्ण एवं आश्चर्यजनक शिल्प देखकर यह लेख लिखने की प्रेरणा हुई थी। मेरे विद्वान् मित्र प्रोफेसर रामेश्वर-गौरीशंकर ओझा, एम० ए० (अध्यक्ष, होल्कर स्टेट ऑर्कियॉलॉजिकल म्यूजियम) ने पहले ही इन गुफाओं का भली भांति निरीक्षण किया था। यह लेख लिखने में उनसे अमूल्य परामर्श मिले हैं।

टॉड ने इसे देखकर एक विशाल नगर के होने की कल्पना कर डाली[1]। इतिहास की अनभिज्ञता के कारण ऐसे स्थलों के विषय में जो कल्पनाएँ की गई हैं, उनसे धमणार की गुफाएँ भी न बच पाईं। ये गुफाएँ वास्तव में बौद्ध-विहार हैं; किंतु आज-कल आसपास के प्रदेश के लोग इन्हें 'भीम का मगरा' कहते हैं! जनश्रुति प्रचलित है कि एक समय पांडुपुत्र भीम ने 'चर्मण्वती' (चंबल नदी) के साथ अपना विवाह करना चाहा। उन्होंने बड़ी अनुनय-विनय के पश्चात् उसे इसके लिये राजी कर लिया। परंतु उन्हें भी यह शर्त्त मंजूर करनी पड़ी कि वे भोर होते ही, मुर्गे के बाँग देने से पहले ही, पास की पहाड़ी में, महादेव का एक मंदिर और राजसी ठाठ के विवाह आदि के उपयुक्त स्थान तैयार कर दें। भीम ने यह शर्त्त मंजूर करके अपना कार्य आरंभ किया। बहुत शीघ्रता करने पर भी एक मायावी मुर्गे ने, काम पूरा होने से पहले ही, बाँग दे दी। बस सब किए-कराए पर पानी फिर गया। चंबल ने अपनी राह ली, भीम निराश हो एक दूसरी गुफा में जाकर लेट गए। उन्होंने चंबल की गति रोकने के लिये एक बाँध बाँधने का भी आयोजन किया था। वह भी आरंभ होकर ही रह गया!

इस कथा में आदि से अंत तक कोई तथ्य नहीं है। हाँ, यह मनोरंजक अवश्य है।

पाश्चात्य लोगों में 'कर्नल जेम्स टॉड' पहला व्यक्ति था जिसने सन् १८२१ ई० में सबसे पहले इन गुफाओं को जाकर देखा। उसने भी यह प्रचलित जनश्रुति सुनी, किंतु उसने अपने गुरु 'यति ज्ञानचंद्र' के कहने से इस पर विश्वास नहीं किया। यति ने बताया कि ये पांडव-मूर्त्तियाँ जैनियों के पाँच तीर्थंकरों—ऋषभदेव, शांतिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर—की मूर्त्तियाँ हैं[2]। जो हो, इन गुफाओं की संख्या टॉड ने एक सौ सत्तर दी है जो ठीक नहीं जान पड़ती[3]। उसने प्रत्येक द्वार को गुफा मान लिया है जो केवल भ्रम है। स्वर्गीय डॉक्टर जेम्स फर्गुसन ने इनकी संख्या साठ और सत्तर के बीच निर्धारित की है, जिनमें से कई-एक का कुछ महत्त्व नहीं है।[4] जनरल सर अलैग्जेंडर कनिंघम भी इस संख्या से सहमत हैं।[5] समय की गति ने इन गुफाओं को भग्नावशेष में परिणत कर दिया है; परंतु बहुत-सी तो अब भी अच्छी हालत में हैं जिनमें से कुछ का विवरण यहाँ दिया जाता है।

शुरू में छोटी-बड़ी कई गुफाएँ हैं जिनमें उल्लेख करने योग्य कोई बात नहीं है। उनके बाद की छठी गुफा 'बड़ी कचहरी' के नाम से पुकारी जाती है। इसमें चार खंभोंवाला एक बड़ा दालान है जिसमें दरवाजे तथा खिड़कियों से उजाला पहुँचता है। फिर इसके बाद की एक-दो गुफाओं के संबंध में भी कोई महत्त्व की बात नहीं है। केवल आठवीं गुफा 'छोटी कचहरी' कहलाती है। इसकी छत में एक गुंबद है जिसमें अच्छी खुदाई हुई है। नवीं गुफा में चार कमरे हैं, जिनमें से चौथे कमरे में

[1] 'क्रुक'-संपादित—'टॉड राजस्थान'—जिल्द ३, पृष्ठ १७७३

[2] 'क्रुक'-संपादित—'टॉड राजस्थान'—जिल्द ३, पृष्ठ १७७५

[3] वही ग्रंथ—पृष्ठ १७७३

[4] 'फर्गुसन'—"हिस्ट्री आफ इंडियन एंड ईस्टर्न आर्किटेक्चर," जिल्द २; पृष्ठ १६५

[5] 'कनिंघम'—"रिपोर्ट ऑफ दि आर्कियॉलॉजिकल सर्वे आफ इंडिया"—जिल्द २, पृष्ठ २७५

पश्चिम की तरफ पत्थर में एक शय्या की आकृति बनी हुई है, जिसके प्रत्येक कोने पर एक-एक तकिया दीख पड़ता है। दसवीं गुफा 'राजलोक', 'रानी का महल' तथा 'कामिनिया महल' के नाम से प्रसिद्ध है। इसकी बनावट 'बड़ी कचहरी' (छठी गुफा) से मिलती-जुलती है। ग्यारहवीं गुफा को लोग 'भीम का बाजार' कहते हैं। इसमें एक चैत्य बना हुआ है। उन दिनों यह गुफा 'विहार' का भी काम देती थी। इसके प्रत्येक पार्श्व के बीच का कमरा बौद्ध श्रमणों के लिये उपासना और ध्यान करने का स्थान था। पश्चिम की ओर बुद्ध की दो प्रतिमाएँ हैं जिनमें से एक खंडित हो गई है। पूर्व की ओर के कमरे के फर्श में एक स्तूप है। पीछे के भाग में बीच का कमरा, जो खाली है, दूसरों की अपेक्षा बड़ा है और इसकी छत झुकी हुई है। इसमें एक छोटी-सी मूर्त्ति पाई गई थी जिससे कनिंघम ने इसको प्रधान श्रमण के रहने का स्थान मान लिया है; किंतु 'हेनरी कजिंस' इससे सहमत नहीं।[1] इसके द्वार का कुछ भाग गिर जाने से इसमें प्रवेश करने का मार्ग रुक गया है। इस गुफा का मुख्य भाग 'भीम का शास्त्रागार' या 'भीम का खजाना' कहलाता है। इसमें अर्ध-वृत्त आकार की चार ताकें हैं जो संभवतः मूर्त्तियों के लिये बनाई गई हों; परंतु इस समय वे खाली पड़ी हुई हैं। बारहवीं गुफा 'हाथी-बंधी' कहलाती है। इसका प्रवेश-द्वार साढ़े सोलह फीट ऊँचा है। इसकी लंबाई-चौड़ाई २७'×२५' है। लोग इसके चैत्यवाले स्तूप को हाथी बाँधने का खूँटा समझते हैं! इस गुफा के सामने काफी चौड़ा मैदान है। हाँ, इन सबमें तेरहवीं गुफा विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसके प्रवेश-द्वार के सामने एक विशाल प्रतिमा दक्षिणाभिमुख खड़ी है। चारों ओर प्रदक्षिणा-पथ है जिसमें कई बड़ी-बड़ी मूर्त्तियाँ देख पड़ती हैं। ये मूर्त्तियाँ दीवार काटकर ही बनाई गई हैं। इनमें से कई-एक के अवयव नष्ट हो गए हैं। द्वार के दोनों पार्श्वों पर बुद्ध की एक-एक विशाल मूर्त्ति है। परिक्रमा में घुसते ही दाहिनी ओर पश्चिम की दीवार में तीन प्रतिमाएँ दृष्टिगोचर होती हैं। इनमें से दो के हाथ टूट गए हैं, किंतु एक अच्छी हालत में है। पीछे की दीवार पर भी पाँच मूर्त्तियाँ खुदी हुई हैं। इनमें तीन बैठी और दो खड़ी हैं। पूर्व की दीवार पर बुद्ध के निर्वाण-काल का एक बहुत सुंदर दृश्य अंकित है। लोग इन्हें पंच-पांडव की मूर्त्तियाँ मानते हैं और निर्वाण-प्राप्त बुद्ध को सोया हुआ भीम बतलाते हैं! यह सोई हुई मूर्त्ति पंद्रह फीट लंबी है।

इनके सिवा और भी कई छोटी-बड़ी गुफाएँ हैं; किंतु वे विशेष महत्त्व की नहीं हैं। गुफाओं के समीप एक चित्ताकर्षक, चमत्कारपूर्ण एवं दर्शनीय स्थान है। इसे 'धर्मनाथ महादेव का मंदिर' कहते हैं। यह देवालय गुफाओं के उत्तरी भाग में, समतल भूमि पर, सुविशाल पर्वत-शिलाओं को काट-काट कर बनाए हुए एक गहरे खड्ड में, है। इस खड्ड की लंबाई एक सौ सत्तर फीट और चौड़ाई छियासठ फीट तथा गहराई लगभग तीस फीट है। इसके उत्तर-पश्चिम कोण में उतरने के लिये सँकरी सीढ़ियाँ बनी हुई हैं; परंतु विशेषतः इसमें एक लंबे और गहरे मार्ग द्वारा—जो इस मंदिर से गुफाओं के अंत तक चला गया है—प्रवेश किया जाता है। यह पहाड़ी रास्ता दो सौ बयासी फीट लंबा, तेरह फीट चौड़ा

---

[1] रिपोर्ट ऑफ आर्कियॉलॉजिकल सर्वे आफ इंडिया, १९०५-६, पृष्ठ १०९

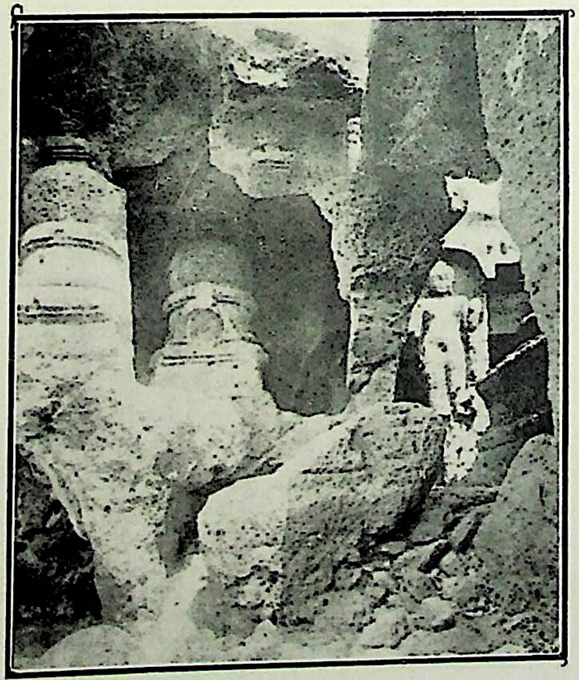

तेरहवीं गुफा का एक दृश्य (पृष्ठ ४६०)

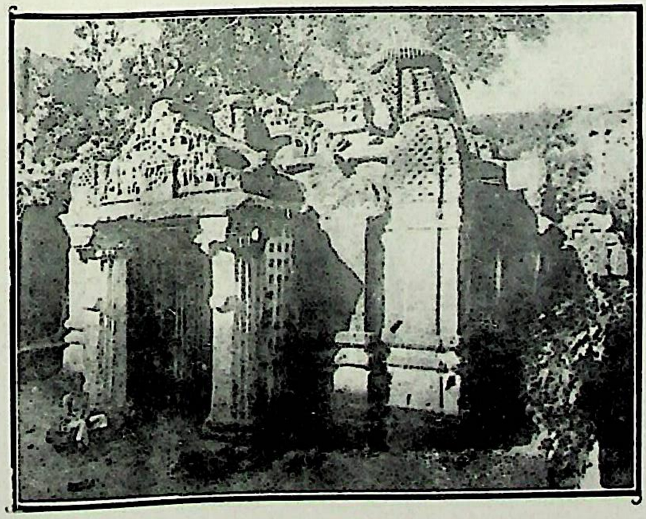

धर्मनाथ का मंदिर (पृष्ठ ४६०)

और अठाइस फीट तक गहरा है। इस मंदिर की निर्माण-शैली 'इलोरा' के कैलास-मंदिर से बहुत-कुछ मिलती-जुलती है। परंतु सुंदरता, विशालता एवं तक्षण-कला की दृष्टि से यह उसकी समानता नहीं कर सकता। इसका द्वार पूर्वाभिमुख है। इसका पत्थर सख्त और खुरदुरा है। शायद इसी से इसमें बारीक और सुंदर खुदाई न हो सकी; किंतु एक प्रकार के पलस्तर का उपयोग करके यह चिकना बना दिया गया है। परंतु शिवालय कहलाते हुए भी यह वस्तुतः विष्णुमंदिर है। इसकी दीवारों में विष्णु और लक्ष्मी की खुदी हुई मूर्त्तियों से ऐसा ही प्रतीत होता है। इसके दरवाजे के उत्तर ओर कछुए पर बैठी हुई यमुना और मकरारूढा गंगा की मूर्त्तियाँ हैं। इसके द्वार की चौखट के ऊपर, अन्य शिव-मंदिरों की भाँति, कीर्त्तिमुख नहीं देख पड़ते। इसमें नंदी (बैल) के लिये भी कोई खास जगह नहीं बनी हुई है। इन बातों से ऐसा अनुमान होता है कि वर्त्तमान शिव-लिंग की प्रतिष्ठा किए जाने से पूर्व यह विष्णु का मंदिर था। मंदिर का सभा-मंडप तथा खंभे सादे—किंतु सुदृढ़—बने हैं। छत में थोड़ी-बहुत खुदाई भी हुई है। मंडप के बाहर, दक्षिण-पश्चिम और उत्तर-पश्चिम कोण पर, दो दरवाजे हैं। 'इलोरा' के कैलास-मंदिर की छत पर बने हुए उपमंदिरों तक पहुँचने के लिये भी इसी तरह के द्वार बने हुए हैं। परंतु धर्मनाथ के उपमंदिरों तक मुख्य द्वार से ही जा सकते हैं। इसलिये ये द्वार यहाँ अनुपयुक्त हैं और शायद अनुकरण की दृष्टि से ही बनाए गए हैं। कैलास के मंदिर के साथ इस देवालय का सादृश्य होने से यह अनुमान किया जाता है कि इसका निर्माण उसी के नक्शे पर हुआ है[१]। मुख्य मंदिर के आसपास और भी छोटे-छोटे सात मंदिर हैं जिनमें से एक की दीवार में लगी हुई एक शिला पर पार्वती, वैष्णवी, इंद्राणी और ब्रह्माणी के साथ भगवान् शंकर के तांडवनृत्य का दृश्य अंकित है। मुख्य मंदिर के पिछवाड़े की दीवार पर भी एक शिला पर शेषशायी विष्णु विराजमान हैं। इस शिला में विष्णु के नीचे मधु-कैटभ राक्षस अंकित हैं। दाहिनी ओर शेषनाग पर बैठी हुई लक्ष्मी जी देख पड़ती हैं! फिर उत्तर की ओर बने हुए एक छोटे मंदिर में एक शिला पर विष्णु के दशावतार अंकित हैं। शेष मंदिर खाली पड़े हैं। उनमें कोई उल्लेखनीय बात नहीं।

इन गुफाओं तथा मंदिर का समय निश्चित रूप से निर्धारित नहीं हो सकता; क्योंकि इस संबंध के कोई शिलालेख तथा अन्य साधन उपलब्ध नहीं हुए हैं। फर्गुसन ने इनमें से तेरहवीं गुफा का समय ईसवी सन् की सातवीं शताब्दी माना है; क्योंकि वह अजंता की उस सत्ताईसवीं गुफा से मिलती-जुलती है जिसका समय इससे पूर्व का माना गया है[२]। कनिंघम महोदय इनको पाँचवीं से सातवीं शताब्दी के बीच की बनी मानते हैं; क्योंकि इनमें बने हुए चैत्य (स्तूप) बनावट में सारनाथ (काशी) के धमेख (स्तूप) से—जिसका समय छठी या सातवीं शताब्दी है—बहुत-कुछ मिलते-जुलते हैं। उनके मत का दूसरा कारण यह भी है कि इन स्तूपों की निर्माण-शैली 'हिड्डा' के स्तूप के समान है जिसमें ईसवी सन् ४०८ से ४७४ तक राज करनेवाले 'थियोडोशियस', 'मार्शियस' और 'लियो' नामक राजाओं

---

[१] रिपोर्ट आफ आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, १९०५–६, पृष्ठ ११२

[२] 'फर्गुसन'—"रॉक्-कट् टेंप्ल् ऑफ इंडिया", पृष्ठ ४२

के सोने के सिक्के पाए गए हैं[1]। हेनरी कजिंस के मतानुसार इनका निर्माण-काल आठवीं शताब्दी होना चाहिए[2]। यह बात पहले कही जा चुकी है कि धर्मनाथ का मंदिर इलोरा के 'कैलास-मंदिर के ढाँचे पर बनाया गया है, और उसके निर्माण का समय आठवीं सदी का पूर्वार्द्ध माना जाता है। इससे यह अनुमान होता है कि इस मंदिर के निर्माण का समय इलोरावाले मंदिर के बाद का है।[3] हेनरी कजिंस का मत है कि धर्मनाथ का मंदिर गुफाओं के पश्चात् बना है; क्योंकि यदि ऐसा न होता तो इसमें प्रवेश करने के लिये पहाड़ी में कटा हुआ लंबा मार्ग गुफाओं की तरफ से ही बनाया जाता, जो छोटा और सुगम होता। उस समय गुफाओं में बौद्ध-श्रमण निवास करते थे और उनके साथ ब्राह्मण-धर्मावलंबियों का 'मेलजोल था, इसलिये मंदिर का मार्ग दक्षिण की ओर से गुफाओं को काटकर न बनाते हुए पूर्व की तरफ से ही बनाया गया[4]। पुनः 'बाड़ोली' के मंदिर से इसकी समानता होने के कारण फर्गुसन ने इसका निर्माण-काल ई० सन् की आठवीं या नवीं सदी माना है[5]। इन विचारों के आधार पर हम कह सकते हैं कि ये गुफाएँ तथा यह मंदिर दोनों ईसा की आठवीं सदी में बने होंगे।

---

[1] 'कनिंघम'—रिपोर्ट ऑफ दि आर्कियॉलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, जिल्द २, पृष्ठ २७६

[2] रिपोर्ट आफ आर्कियॉलॉजिकल सर्वे ऑफ ईंडिया, १९०५-६, पृष्ठ ११२

[3] आर्कियॉलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया रिपोर्ट, १९०५-६, पृष्ठ ११२

[4] वही रिपोर्ट, पृष्ठ ११२

[5] 'फर्गुसन'—रॉक्-कट् टॅम्पल् ऑफ इंडिया, पृष्ठ ४४

उपालंभ

देखा नाथ पतित का रूप !
देखा होगा कभी न तुमने ऐसा पाप-स्वरूप ॥
भेद खुला तब झिझक उठे तुम करुणा के अवतार !
घृणा-भाव से दूर खड़े हो किया नहीं स्वीकार ॥
पूछ रहे हो तिस पर हँसकर कहिए क्या है हाल !
यह व्यवहार तुम्हारा कैसा करते क्यों न खयाल ॥
आशा थी अपनाओगे तुम बनकर दयानिधान ।
किंतु दिया दुतकार निठुर हो छोड़ सदा की बान ॥

देवीदत्त शुक्ल

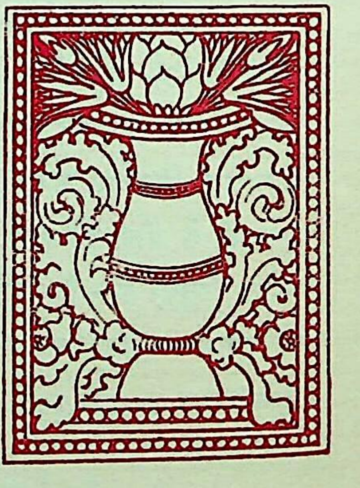

बुद्धि नापने की वैज्ञानिक प्रणालियाँ उनकी आवश्यकता और उपयोग

रायबहादुर लज्जाशंकर झा, एम० ए०, आइ० इ० एस्०

वर्त्तमान युग शुद्ध परिमाणों का है

वर्त्तमान पाश्चात्य सभ्यता की एक बहुत बड़ी विशेषता यह है कि उसमें सभी बातों—समय, विस्तार, दूरी, गति आदि—के सूक्ष्म एवं शुद्ध परिमाण को परम महत्त्व दिया जाता है। प्राचीन समय में हम लोग नाड़ी देखकर ही किसी व्यक्ति के स्वास्थ्य का अनुमान कर लेने में संतुष्ट रहते थे; परंतु आज-कल डॉक्टर लोग एक शुद्ध थर्मामीटर का उपयोग अनिवार्य समझते हैं, और जब तक वह निश्चित नियमों के अनुसार व्यवहार में न लाया जाय तब तक उसके अंक को संतोषजनक नहीं मानते। स्वास्थ्य की ठीक-ठीक परीक्षा के लिये वे केवल शरीर-ताप को ही नहीं; किंतु एक मिनट के हृदयस्पंदन की संख्या तथा प्रतिशत के हिसाब से मूत्रादि शारीरिक पदार्थों के विभिन्न अवयवों की मात्रा आदि बहुत-सी बातों का ठीक-ठीक निकालना आवश्यक समझते हैं। इसी प्रकार, दूरी नापने के लिये निश्चित दशाओं में एक नियत लंबाई का प्रयोग किया जाता है। एक गज की लंबाई गर्मी के प्रभाव से थोड़ी बढ़ सकती है तथा ठंढ के असर से घट सकती है; अतएव यथार्थ लंबाई नापने के लिये यह निश्चित करना आवश्यक समझा जाता है कि उनकी लंबाई ताप-संबंधी किसी नियत अवस्था में ठीक समझी जाय। पुनः इसी प्रकार, तौल में भी शुद्धता का ध्यान रक्खा जाता है। शक्ति अथवा प्रकाश आदि को ठीक-ठीक नापने के लिये यथोचित इकाइयाँ स्थित कर ली गई हैं—जैसे हॉर्स-पॉवर, कैंडल-पॉवर आदि। वेग निकालने में सेकंड के अंशों तक का हिसाब रक्खा जाता है। हम अब यह जानकर संतुष्ट नहीं होते कि कौन-सा लड़का सबसे अधिक तेज दौड़ता है; परंतु स्टॉपवाच द्वारा हम उसके वेग को सप्रयत्न सेकंड के अंशों तक शुद्ध निकालकर उसकी तुलना अन्य विख्यात दौड़नेवालों के वेग से करते हैं।

वास्तव में मनुष्य-जीवन के प्रत्येक प्रकरण में सूक्ष्म परिमाण को बड़ा महत्त्व दिया जा रहा है। हमारा काम अब अस्पष्ट सामान्य अनुभवों अथवा स्थूल परिमाणों से कदापि नहीं चल सकता।

वर्तमान युद्ध-प्रणालियों में शुद्ध परिमाणों तथा ऊँचे मस्तिष्कों की आवश्यकता।

शुद्ध एवं सूक्ष्म परिमाणों द्वारा हमारे कार्यों में सफलता होती है और कार्यक्षम राष्ट्र शीघ्र ही उन्नत हो सकते हैं। आज-कल युद्ध-सेना की सफलता इस बात पर निर्भर नहीं रहती कि उसके प्रत्येक सैनिक अथवा सेनापति में कितना शारीरिक बल, कितना साहस अथवा कितना वीरत्व भरा हुआ है; परंतु उसकी अधिकांश सफलता का श्रेय सेनाओं के संचालन अथवा गोलों के दागने के लिये ठीक-ठीक समय के निरूपण में रहता है। एक भारतीय सैनिक अफसर ने फ्रांस से लौटने पर मुझे एक बृटिश सेनापति के जर्मन खाई पर आक्रमण करने का मनोरंजक वृत्तांत सुनाया था। जर्मन खाई काँटेदार तारों से घिरी हुई थी, अतएव यह आवश्यक समझा गया कि जर्मन लोगों को पहले रक्षाच्युत कर दिया जाय। सेनापति ने लगभग सोलह सौ फौजी तोपों को लगवाकर उनमें से प्रत्येक को उस घेरे के एक विशिष्ट भाग को नष्ट कर देने का कार्य सौंप दिया। तोपों की प्रत्येक श्रेणी के अफसर ने तार के घेरे की दूरी का ठीक-ठीक हिसाब लगा लिया था। गोलों के दागने का ठीक समय भी निर्धारित कर लिया गया, और वह पैदल सेना—जिसमें हमारे भारतीय अफसर महोदय भी थे—चार मील आगे ही जर्मन खाई पर आक्रमण करने को तैयार रहने के लिये भेज दी गई थी। इस सेना को यह आदेश दे दिया गया था कि ज्यों ही तोपों का दगना बंद हो त्यों ही वह जर्मन खाई पर हमला कर दे। प्रत्येक छोटी से छोटी बात की व्यवस्था सूक्ष्मतम रूप में, तथा सेकंड के अंशों तक का हिसाब लगाकर, कर ली गई थी। प्रातःकाल निश्चित समय पर तोपों का दगना शुरू हो गया। सारी तोपें आठ बार दागी गईं। जैसे ही उनका दागना बंद किया गया वैसे ही भारतीय सेना नियत समय पर पहुँच जाने के लिये शीघ्रता के साथ जर्मन खाइयों की ओर बढ़ी। परंतु दुर्भाग्य से सारी व्यवस्था में कहीं पर चूक हो गई थी, सेना की डोगर-पलटन खाई तक पहुँचकर देखती क्या है कि उसके सामने का घेरा नष्ट नहीं हुआ! अतएव उसे रुक जाना पड़ा और जर्मन लोगों ने खाई की आड़ से मशीनगनों द्वारा उसे बुरी तरह से छिन्न-भिन्न कर दिया। अन्य तीन पलटनों के सामने का घेरा नष्ट हो गया था, अतएव ये तीनों दल आगे बढ़ गए। डोगरा-दल के सामनेवाले जर्मनों ने डोगरों का काम तमाम करके आगे बढ़े हुए दलों पर पीछे से गोलियों की वर्षा करना आरंभ कर दिया। दोनों ओर से आती हुई गोलियों के सामने वे ठहर न सके, उन्हें पराजय स्वीकार करनी पड़ी। एक-एक शेल (तोप का गोला) का मूल्य, उसके आकार के अनुसार, तीस हजार से एक लाख रुपए तक हो सकता है! उस दिन सुबह बारह हजार आठ सौ शेल (Shell) छोड़े गए थे, अतएव आप स्वयं अनुमान कर सकते हैं कि सरकार की कितनी बड़ी हानि हुई! इसके अतिरिक्त उन तीन-चार सहस्र मनुष्यों के विषय में क्या कहा जाय, जिनमें से बहुत-से मारे गए और बहुत-से घायल हुए तथा शेष कैद कर लिए गए। उक्त भारतीय अफसर महोदय मुझे यह न समझा सके कि तारों के घेरे के उस भाग को गोले क्यों न नष्ट कर सके; परंतु मेरा यह अनुमान है कि या तो तोप दागनेवाले सैनिक उसकी दूरी ठीक-ठीक न निकाल सके, इसलिये गोले आगे निकल गए; अथवा वे गोले एक-दो सेकंड पहले ही हवा में फूट गए जिसका फल यह हुआ कि धन, जन

तथा प्रतिष्ठा की इतनी घोर हानि हुई। आधुनिक जीवन में समय, दूरी, विस्तार, शक्ति एवं बल आदि को ठीक-ठीक नापने में बड़ी ही सावधानी की आवश्यकता है। जरा-सी भूल का बड़ा ही भयंकर परिणाम हो सकता है।

(१) सभी ऊँचे कार्यों के लिये बड़े दिमाग चाहिए।

(२) कुशाग्र-बुद्धि बच्चों को चुन लेने की आवश्यकता।

मैंने युद्धक्षेत्र का दृष्टांत इसलिये लिया है कि लोकमत के अनुसार युद्ध में दिमाग की आवश्यकता ही नहीं समझी जाती; वहाँ शारीरिक बल ही सब कुछ समझा जाता है। किंतु वास्तव में यह बात नहीं है। जीवन के प्रत्येक मार्ग में ऊँचे दिमाग के नेतृत्व की आवश्यकता है। अल्प बुद्धिवाला चाहे जिस जीवनवृत्ति को ग्रहण करे, वह उसमें अवश्य ही पिछड़ जाएगा। पक्षपातिता अथवा सांप्रदायिक या जातीय विचार चाहे किसी अयोग्य व्यक्ति को ऊपर उठा दे, अथवा योग्य को नीचे गिरा दे; परंतु प्लवनशीलता का नियम भी इतना दृढ़ नहीं जितना यह कि कुशाग्र बुद्धि मनुष्य को अवश्य ही ऊपर उठावेगी और मंद बुद्धि उसे नीचे डाल देगी। अतएव, राष्ट्रनिर्माण के दृष्टिबिंदु से यह बात परम महत्त्व की है कि यथावसर तीव्र बुद्धिवाले बच्चे पहचान लिए जायँ और उनकी प्रबलतम प्रकृति के अनुसार उन्हें उचित शिक्षा प्रदान की जाय। उनके स्वास्थ्य, शिक्षा तथा परिस्थिति पर विशेष ध्यान देना हमारा कर्त्तव्य है। कारण, यही बच्चे आगे चलकर राष्ट्र के नेता, विचार-प्रवर्त्तक विद्वान्, प्रमुख व्यवसायी, राजनीतिज्ञ, सेनापति अथवा शासक आदि हो सकते हैं। अब, जब कि भारतीयों को उच्चतम पदों पर पहुँचने के लिये अधिकाधिक अवसर प्राप्त होते जा रहे हैं, यह और भी आवश्यक है कि हम कुशाग्रबुद्धि बालक-बालिकाओं को चुनकर उन्हें ऐसी शिक्षा दें और ऐसे रास्ते पर लगावें कि जीवन में उन्नत होने के लिये पूर्ण अवसर एवं अवकाश प्राप्त हो। उन दिनों से अब कितना अंतर हो गया है जब हमने अपनी जीवनवृत्ति का आरंभ किया था, और जब हमारी उच्च से उच्च आकांक्षा यह होती थी कि किसी प्रकार डिपुटी-कलक्टर हो जायँ अथवा कोई अफसरी मिल जाय। उन स्थानों में जीवन अधिक से अधिक एक तत्त्व-रहित दर्शनी हुंडी के समान रह सकता है! मुझे तो यह देखकर कि आज-कल नवयुवकों के सामने इतने मार्ग खुले पड़े हैं, कभी-कभी ईर्ष्या-सी होती है। परंतु उनका हित तभी हो सकता है जब हम उनके प्रकृति तथा गुणों का भली भाँति परिशीलन करके उन्हें उचित वृत्ति ग्रहण करने का रास्ता दिखावें और यथोचित सुअवसर प्रदान करें। उन छोटे-छोटे बच्चों के लिये, जिनकी शिक्षा का आरंभ होने जा रहा हो, यह और भी आवश्यक है कि उनकी जन्मप्राप्त बुद्धि तथा ग्रहण-शक्ति ठीक-ठीक नाप ली जाय। तीव्र बुद्धिवाले बालक के लिये यह आवश्यक नहीं कि वह प्राइमरी स्कूल के पाठ्यक्रम को चार ही वर्ष में, अथवा हाई स्कूल के पाठ्यक्रम को छः ही वर्ष में, समाप्त कर सके। वह डाकगाड़ी की भाँति अधिक दूरी को थोड़े ही समय में तय कर सकता है। उसे मालगाड़ी की रफ़ार से चलने के लिये बाध्य करना समय और शक्ति को नष्ट करना है। वर्त्तमान शिक्षा-प्रणाली ठीक इसी दोष से दूषित हो रही है। उसमें सभी बालकों को, चाहे वे विशेष बुद्धिवाले हों या साधारण अथवा अल्प बुद्धिवाले, एक ही रफ़ार से चलना पड़ता है! यह, विशेष बुद्धिवाले बालक को, उसकी बुद्धि-शक्ति के विकास के लिये पर्याप्त

अवकाश न मिलने के कारण, अहितकर सिद्ध होता है। कभी-कभी वह उपद्रवी हो जाता है और बहुधा उसकी मानसिक अवस्था निश्चेष्ट होने लगती है तथा उसकी बुद्धि जंग खा जाती है। फल यह होता है कि देश और समाज के एक बहुमूल्य रत्न का लोप हो जाता है। फिर, अल्प बुद्धिवाला बालक अपनी कक्षा की बराबरी पर नहीं पहुँच सकता। अतएव, उसे ऐसे कार्य के साथ माथापच्ची करनी पड़ती है जो उसके योग्य कदापि नहीं होता। इसका फल यह होता है कि वह नैराश्य का भाव ग्रहण कर लेता है। उसका जीवन दुःखित और अंत में असफल सिद्ध होता है जिससे उसके आश्रित कुटुंबियों का जीवन भी कष्टमय हो जाता है। परंतु, यदि उसी व्यक्ति की मानसिक क्षमता यथासमय ठीक-ठीक नाप कर उचित उपचार बतला दिया जाय तो वह समाज का योग्य सदस्य बन सकता है।

मुझे इस समय संयुक्त-प्रदेश के सेक्रेटरिएट के एक महाशय की याद आ रही है जिनका उल्लेख यहाँ प्रासंगिक समझता हूँ। चालीस वर्ष से ऊपर हुए, इन महाशय का लड़का स्कूल में पढ़ रहा था; किंतु उसकी प्रवृत्ति गणित अथवा व्याकरण या 'तोता-रटन' की ओर बिलकुल न थी। स्कूल से सदैव उसके प्रतिकूल सूचनाएँ आया करती थीं, जिन्हें पाकर उक्त महाशय उसे गधे की तरह पीट डालते थे। पिता और पुत्र की इस कलह के कारण सारी गृहस्थी आनंदरहित हो गई थी। पिता यह चाहते थे कि लड़का अँगरेजी तथा गणित में खूब तेज निकले और उनके अवकाश ग्रहण करने (रिटायर होने) के बाद सेक्रेटरिएट में उन्हीं की जगह पर नियुक्त हो जाय! मैं पुत्र से भली भाँति परिचित था। उसकी प्रवृत्ति संगीत तथा यंत्रकला की ओर उतनी ही दृढ़ थी जितनी सेक्रेटरिएट की ओर पिता की। मैं देखता था कि वह दूसरों की घड़ियों और साइकिलों को शौक से मुफ्त सुधार देता। मुझे विश्वास है कि उसे यदि इसी की दूकान खोलने का अवसर दिया जाता तो वह कम से कम उतना अवश्य पैदा कर लेता जितना उसके सुयोग्य पिता सेक्रेटरिएट में कमाते थे। संगीत में भी उस लड़के की स्वाभाविक रुचि थी, उसका सुर भी बहुत मधुर था। परंतु जब कभी उसके पिता उसे अपनी इष्ट वृत्तियों में लगा हुआ पाते तब यूक्लिड (ज्यामिति) की प्रथम स्वयंसिद्धि की भाँति उनकी लकड़ी उस बेचारे की पीठ पर आ धमकती—सिर्फ इसी लिये कि वह गणित की उपेक्षा करता था! आखिर वह लड़का सेक्रेटरिएट के योग्य कभी न हो सका और न पिता महोदय की अभिलाषा ही पूर्ण हुई! तब उन्होंने उसे एक बैंक में क्लर्क होने के लिये विवश किया। लगभग बारह वर्ष के उपरांत मैं उस लड़के से मिला। उसका सारा उत्साह भंग हो गया था, स्वास्थ्य खराब हो गया था और उसे स्वयं अपने जीवन तथा संसार से विरक्ति-सी हो गई थी। काम करने में उसकी तबीयत बिलकुल न लगती थी। उसका स्वभाव भी चिड़चिड़ा हो गया था। इसी कारण उसकी पत्नी तथा बच्चों का जीवन भी दुःखमय हो गया था! अंत में उस बेचारे की अकाल मृत्यु हो गई! मुझे पूर्ण विश्वास है कि वह यदि ठीक रास्ते पर ले जाया जाता तो वह समाज का योग्य एवं सफल सदस्य, तथा घरवालों और पड़ोसियों के लिये सुख का कारण, होकर दीर्घकाल तक जीवित रह सकता था। मेरा यह अनुभव नित्यप्रति हमारे आस-पास होनेवाली घटनाओं का एक दृष्टांत मात्र है। ध्यान देने योग्य बात तो यह है कि स्कूलों में भी

यथोचित जीवन-वृत्ति का निश्चय संभव हो जाता है।

बच्चे की स्वाभाविक प्रवृत्ति बहुत कम पहचानी जाती है। इसके अतिरिक्त, माता-पिता भी उसके भविष्य का पहले ही से निर्णय कर लेते हैं, उसकी प्रवृत्ति से परिचित होने की बिलकुल परवा नहीं करते। एक दक्ष मनोवैज्ञानिक केवल एक घंटे की परीक्षा के बाद उन बहुत-सी गूढ़ बातों को बतला देगा जिन तक शिक्षक अथवा रक्षक की दृष्टि ही नहीं पहुँचती।

इस संबंध में दो प्रश्न स्वभावतः पूछे जा सकते हैं—(१) क्या स्कूली परीक्षाएँ बालकों की बुद्धि को ठीक-ठीक नहीं नापतीं? (२) यदि नहीं, तो प्रत्येक वस्तु का ठीक-ठीक परिमाण करनेवाले इस युग में बुद्धि को नापने के लिये क्या किया जा रहा है? पहले प्रश्न का मेरा उत्तर नकारात्मक है। स्कूल की अथवा सार्वजनीन परीक्षाएँ जन्मप्राप्त बुद्धि का नहीं, किंतु उपलब्ध ज्ञान का निश्चय करती हैं। मनोवैज्ञानिक परीक्षाओं से यह सिद्ध हुआ है कि स्कूल में श्रेष्ठ बुद्धिवाले बालक बहुधा पहचाने नहीं जाते। टर्मन महोदय ने ऐसे सौ बालकों की परीक्षा करके यह पाया कि उनमें से अधिकतर बालकों को, उनके बुद्धि की अवस्था के अनुसार, स्कूल की जिस कक्षा में होना चाहिए था उससे वे नीची कक्षा में पढ़ रहे हैं। उनमें से लगभग एकतिहाई बालक अपनी स्वाभाविक बुद्धि के अनुसार 'डबल प्रोमोशन' के अधिकारी थे; परंतु उनके लिये वह अस्वीकृत कर दिया गया था! प्रतिभाशाली व्यक्ति भी यदि बहुत दिनों तक अति सरल कार्यों में लगे रहें तो उनकी बुद्धि क्षीण होने लगेगी। मनोवैज्ञानिकों के इन धारणाओं की सत्यता स्वयं हमारे अनुभवों द्वारा सरलता से प्रमाणित हो जाती है। स्कूल अथवा कालेज का तेजस्वी विद्यार्थी सदैव जीवन में उतना ऊँचा नहीं उठता, और न साधारण विद्यार्थी ही सदैव अपने उत्तर जीवन में मध्यम स्थिति का निकलता है। हम जानते हैं कि लार्ड क्लाइव स्कूल में एक उत्पाती बालक था, नेल्सन भी कुछ अधिक अच्छा न था, रवींद्रनाथ को अपने स्कूल-जीवन से घृणा हो गई थी। स्कूल अथवा विश्वविद्यालय न प्रतिभा-संपन्न बालकों को चुन ही सकते हैं और न उन्हें आश्रय ही दे सकते हैं। बहुत-से लोग, जो बुद्धिवैभव के कारण अपनी-अपनी जीवनवृत्तियों में सर्वोच्च पद ग्रहण कर चुके हैं, स्कूल में बिलकुल होनहार न समझे गए थे। स्वयं अपने व्यक्तिगत अनुभव से मैं दो उदाहरण दे सकता हूँ। सर तेजबहादुर सप्रू स्कूल में एक बिलकुल साधारण विद्यार्थी समझे जाते थे, और स्वर्गीय डॉक्टर सर सुंदरलाल का कालेज-जीवन केवल साधारणतया संतोषप्रद रहा था। आज-कल कितने प्रमुख व्यवसायी अथवा व्यापारी, विचारप्रवर्त्तक विद्वान् अथवा आंदोलनों में अग्रसर होनेवाले नेतागण, ऐसे हैं जो स्कूल अथवा विश्वविद्यालय में प्रतिष्ठित विद्यार्थि-जीवन व्यतीत कर चुके हैं? सारी बात का निश्चयात्मक सारांश यह है कि स्कूल अथवा कालेज के अधिकारी, बालक की वास्तविक महत्ता को आरंभ में ही नापने में, बहुत कम समर्थ होते हैं।

स्कूली परीक्षाएँ
विश्वसनीय
नहीं होतीं।

इसी कारण मनोवैज्ञानिक लोग अर्से से इस समस्या के हल करने में, तथा बच्चों की स्वाभाविक बुद्धि को नापने की सर्वोत्तम पद्धति ढूँढ़ निकालने में, जुटे हुए हैं। सहस्रों बच्चों की परीक्षा लेकर तथा उन पर प्रयोग करके कुछ परीक्षा-प्रणालियाँ नियत कर ली गई हैं। इनमें से सबसे प्रचलित ये हैं—(१) परिशोधित तथा परिवर्धित साइमन और बेनेट की प्रणाली जो व्यक्तिगत परीक्षा के लिये

(१) बुद्धिपरीक्षा के साधन; (२) माता-पिता तथा शिक्षक इनका सफलतापूर्वक उपयोग नहीं कर सकते।

उपयुक्त हैं। (२) ऐल्फा प्रणाली अथवा वर्गप्रणाली जिसका प्रयोग अमेरिका में—सेना और पुलिस के प्रवेशार्थियों तथा विभिन्न व्यवसाय-वृत्तियों को ग्रहण करने के इच्छुक व्यक्तियों की योग्यता के जाँच करने में—बहुत हो रहा है। परीक्षाओं के ये साधन बहुत ही सरल तथा मनोवैज्ञानिक धारणाओं पर निर्धारित हैं। यदि मैं आपको उनमें से कुछ पढ़कर सुनाऊँ, तो आप कहेंगे कि ये तो माता-पिता, बड़े भाई-बहन अथवा अध्यापकों द्वारा भी प्रयुक्त हो सकते हैं। किंतु ऐसा नहीं है। नियत परीक्षा-विधान से जरा भी इधर-उधर हो जाने से फल बिलकुल अशुद्ध निकलता है। परीक्षा के समय माता-पिता आदि की मुखाकृति पक्षपातवश ऐसी हो जाना बहुत संभव है जिससे स्वयं परीक्षार्थी को यह विदित हो जाय कि वे किस प्रकार का उत्तर चाहते हैं। अध्यापक में भी उक्त प्रवृत्तियाँ तथा पक्षपात होते हैं और वह दक्ष मनोवैज्ञानिक भी नहीं होता। पूछे जानेवाले प्रश्नों का एक-एक शब्द निर्धारित कर लिया गया है। उनमें जरा भी हेरफेर होने से जाँच बिगड़ जाती है। अतएव योरप और अमेरिका में मनोवैज्ञानिकों का एक नया पेशा चल पड़ा है। इनका कार्य स्कूल के बच्चों की परीक्षा लेना तथा उनके लिये उचित मानसिक उपचार निर्दिष्ट करना होता है। भिन्न-भिन्न नौकरियों के प्रवेशार्थियों की परीक्षा लेने तथा उनकी बुद्धि-विषयक योग्यता को नापने के लिये भी वे नियुक्त किए जाते हैं। डॉक्टरों की भाँति वे भी मानसिक रोगियों के मर्ज पहचानने के लिये बुलाए जाते हैं। बड़े-बड़े व्यवसायियों को तथा मजदूरों के मालिकों को अब यह पता चल गया है कि किसी को अटंकलपच्चू ही नियुक्त कर लेने, उसे सिखाने में समय और शक्ति का व्यय करने, तथा कुछ महीनों के बाद उसे अयोग्य पाकर किसी छोटी जगह में बदल देने से इसमें कहीं अधिक किफायत है कि किसी मनोवैज्ञानिक को अच्छी फीस दी जाय और उसकी सलाह लेकर खाली जगह के लिये एक उपयुक्त व्यक्ति नियुक्त कर लिया जाय। माता-पिता तथा रक्षकों को भी अब इसी बात में फायदा नजर आ रहा है कि मनोवैज्ञानिकों द्वारा बच्चों की परीक्षा करा लेने के बाद ही उनके उचित मानसिक उपचार किए जायँ। जीवन-क्षेत्र में उतरनेवाले नवयुवकों तथा नवयुवतियों को भी विश्वास हो गया है कि मनोवैज्ञानिक के निर्देश से जीवन की ग्रहणीय वृत्ति का ठीक-ठीक निश्चय हो जाता है और इस प्रकार असफलता की संभावना बहुत कम रह जाती है।

परीक्षा के सिद्धांत, और बुद्धिलब्धि।

ये बुद्धिमापक साधन इस सिद्धांत पर निर्धारित होते हैं कि बच्चे की स्वाभाविक बुद्धि का विकास सोलहवें वर्ष तक होता रहता और फिर बंद हो जाता है। बाद में कोई भी व्यक्ति स्कूल अथवा कालेज में विद्या प्राप्त कर सकता है; परंतु उसकी स्वाभाविक बुद्धि का विकास रुक जाता है। हजारों मनुष्यों की जाँच के उपरांत यह निश्चित कर लिया गया है कि सोलह वर्ष तक की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में साधारणतया प्रत्येक बालक में कितनी बुद्धि होनी चाहिए। जाँच के लिये जो प्रश्न रक्खे गए हैं वे मस्तिष्क की उच्चतर गतियों की परीक्षा करने का प्रयत्न करते हैं। जैसे —तर्क-शक्ति, युक्तियाँ ढूँढ़ लेने की शक्ति तथा गूढ़ बातों पर निर्णयात्मक सम्मति देने की शक्ति। अंत में बेनेट के अनुसार वे सामान्य

बुद्धि की—स्कूली ज्ञान तथा घर की शिक्षा की नहीं—परीक्षा लेते हैं। अर्थात् पढ़ने की शक्ति नहीं, बरन् गुनने की शक्ति मापी जाती है। क्रमशः तीन से पंद्रह वर्ष तक के बालकों के निमित्त प्रत्येक वर्ष के लिये प्रश्नावलियाँ तैयार कर ली गई हैं। जो बालक जिस वर्ष की प्रश्नावली निकालने में सफल होता है उसकी बुद्धि उसी वर्ष की कही जाती है। मान लीजिए कि आठ वर्ष का कोई बालक अष्टवर्षोचित प्रश्नावली को सफलतापूर्वक हल कर लेता है तो उसकी मानसिक अवस्था भी आठ वर्ष की ही कही जाएगी। इस दशा में उसकी 'बुद्धि-लब्धि' एक सौ नियत की जाती है। परंतु यदि वही बालक नव वा दश वर्षोचित प्रश्नावलियों को सफलतापूर्वक हल कर ले तो उसकी मानसिक अवस्था नव वा दस वर्ष की कही जाएगी। मानसिक अवस्था को सौ से गुणित करके शारीरिक अवस्था की वर्ष-संख्या से भाग देने पर जो 'लब्धि' प्राप्त होती है उसे ही 'बुद्धि-लब्धि' कहते हैं। कुछ बालक ऐसे होते हैं जिनकी मानसिक अवस्था शारीरिक अवस्था से अधिक होती है, अतः उनकी बुद्धि-लब्धि एक सौ से ऊपर होगी। कुछ ऐसे भी होते हैं जिनकी कम होती है, अतः उनकी बुद्धि-लब्धि एक सौ से कम होगी। परीक्षा द्वारा सहस्रों बच्चों की बुद्धि-लब्धि निकालकर मनोवैज्ञानिकों ने बालकों का वर्गीकरण इस प्रकार किया है—

बुद्धि-लब्धि	बुद्धि	बुद्धि-लब्धि	बुद्धि
(१) १५० से अधिक ...	प्रतिभा-संपन्न	(५) ९० से ११० ...	साधारण
(२) १४० " १५० ...	प्रायः प्रतिभा-संपन्न	(६) ८० " ९० ...	मंद
(३) १२० " १४० ...	अत्युत्कृष्ट	(७) ७० " ८० ...	प्रायः हीन
(४) ११० " १२० ...	उत्कृष्ट	(८) ७० " कम ...	हीन

इस संबंध में किए गए अन्वेषणों के फल-स्वरूप हमें तीन तथ्य ज्ञात होते हैं—(१) बालक की स्वाभाविक बुद्धि प्रकृतिप्रदत्त होती है; यह बात माननी पड़ेगी कि स्कूली शिक्षा उसके विकास में सहायक नहीं होती, चाहे इस कथन को अध्यापकगण नापसंद भले ही करें। (२) स्कूल अथवा कालेज में बालक के उपलब्ध विद्या की वृद्धि बुद्धि-लब्धि के भूमिति-समानुपात में होती है। (३) बालक की बुद्धि-लब्धि पर वंशपरंपरा का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है; मंदबुद्धि अथवा अल्पबुद्धि माता-पिताओं के बच्चों की बुद्धि-लब्धि बहुधा कम होती है।

(१) होनहार बच्चों की देख-भाल। (२) देश के लिये उनका महत्त्व।

बुद्धि-परीक्षा द्वारा यह प्रकट हो चुका है कि कुछ—यद्यपि विरले ही—बच्चों की बुद्धि-लब्धि एक सौ अस्सी तक पहुँच सकती है। एक सौ चालीस के ऊपर बुद्धि-लब्धिवाले बच्चे केवल कुटुंब के ही नहीं, किंतु संपूर्ण राष्ट्र के बहुमूल्य रत्न समझे जा सकते हैं। यदि उनके स्वास्थ्य की देखभाल भली भाँति की गई और उनकी बुद्धि-शक्ति के विकास तथा विद्या की वृद्धि के लिये पूर्ण अवकाश वा अवसर प्रदान किया गया तो वे राष्ट्र के नेता, विचार-प्रवर्त्तक विद्वान्, व्यवसायों के अधिनायक आदि निकल सकते हैं। उन्हें पूर्ण अवसर देने के लिये सर्वोच्च कोटि की शिक्षा देनी चाहिए। यदि उनके माता-पिता निर्धन हों तो देश की भलाई के लिये हमारा यह कर्त्तव्य है कि उन्हें पूरी सुविधाएँ दें। ऐसे बालक तथा बालिकाओं को सहारा देना एक प्रकार से राष्ट्र की सेवा करना है।

फिर, केवल उन्हीं बालकों को—जिनकी बुद्धि परीक्षा द्वारा उत्कृष्ट अथवा अत्युत्कृष्ट निकले—विश्वविद्यालय में पढ़ने के लिये उत्साहित करना चाहिए। मैं समझता हूँ कि उत्कृष्ट बुद्धिवाले बालकों को जीवन में अवसरच्युत करना भूल है, और यह भी उतनी ही बड़ी भूल है कि निम्न बुद्धिवाले बालक विश्वविद्यालय में पढ़ने के लिये उत्साहित किए जायँ। फेल होते-हवाते वे डिग्री प्राप्त कर सकते हैं, किंतु निम्न-बुद्धि-लब्धि के कारण जीवन में उनका पिछड़ जाना अवश्यंभावी है। यह भी संभव है कि उनका जीवन ही असफल हो जाय। उन पर खर्च किया गया सारा रुपया बरबाद हो जाता है। यदि उसी रुपए से वे अपनी योग्यता के अनुसार किसी धंधे में लगा दिए जाते तो उसका सदुपयोग हो सकता था। साधारण से कम बुद्धि-लब्धिवाले ऐसे लोगों के दृष्टांत, जो क्रियात्मक कार्यों को सफलतापूर्वक करते हुए मजे की जिंदगी बिताते हैं, प्रचुरता से दिए जा सकते हैं। मैंने एक बार एक अष्टवर्षीया बालिका की परीक्षा ली तो उसकी बुद्धि-लब्धि एक सौ पचास निकली। स्पष्टतः वह बड़े ही उच्च जीवनचर्या के योग्य थी। उच्च शिक्षा द्वारा उसे अपने जीवन में पूर्ण योग प्राप्त हो सकते थे। परंतु उसके कुटुंबियों ने ग्यारह वर्ष की आयु में ही उसका विवाह कर दिया! नए घर का वातावरण उसके अनुकूल होने के बदले ठीक उसके विपरीत था! बेचारी को परदे या घर की चहारदीवारी के अंदर रहकर, गृहशासिका द्वारा दी गई सारी यातनाओं को भुगतते हुए एक परतंत्र बंदी की भाँति, संकुचित जीवन से ही संतोष करना पड़ा। उसकी बुद्धि-विभूति देश के कुछ काम न आ सकी! मेरा यह विश्वास है कि उसमें मानसिक निश्चेष्टता का अवश्य ही आरंभ हो गया होगा। अँगरेजी कवि 'ग्रे' ने अपनी प्रसिद्ध 'एलेजी (Elegy, करुण गीत)' में सत्य ही कहा है—"महासागर के अगाध-अंधकारयुक्त खोहों में अनेकानेक उज्ज्वल-प्रभायुक्त रत्न छिपे रहते हैं। अनेकानेक पुष्प अदृश्य में ही विकसित होकर शुष्क वायु में अपने सारे सौरभ को विलीन कर देते हैं[१]।" सचमुच छोटे-छोटे बच्चों के रूप में कितने ही बहुमूल्य रत्न और कितने ही सौरभयुक्त पुष्प हमसे अदृश्य पड़े हैं, जिन पर न लेशमात्र ध्यान ही दिया जाता है और न जिनके स्वाभाविक गुणों को किंचिन्मात्र विकास का अवकाश ही मिलता है! आधुनिक बुद्धिमापक साधनों द्वारा ऐसे बच्चे तुरंत ही पहचान लिए जा सकते हैं। राष्ट्र-शक्ति की रक्षा के इच्छुकों का यह कर्त्तव्य है कि वे उन्हें सर्वोत्तम अवसर एवं यथेष्ट अवकाश प्रदान करने का यथाशक्ति प्रयत्न करें।

बुद्धि का विभाग

यह बात ध्यान देने योग्य है कि संयुक्त-राज्य-(अमेरिका)-सरीखे उन्नत देशों में भी ऐसे बच्चे बहुत कम—कठिनता से ०·५%—पाए जाते हैं जो प्रतिभा-संपन्न के वर्ग में रखने योग्य हों। भारतवर्ष में बुद्धि-परीक्षा के कार्य का आरंभ तक नहीं हुआ है, इसलिये यह बतलाना असंभव है कि यहाँ बुद्धि का विभाजन किस प्रकार का है। कोई भी राष्ट्र दूसरे राष्ट्र से यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न कर सकता है कि उस राष्ट्र के जनता की सामान्य बुद्धि-लब्धि कितनी ऊँची है, अथवा जनता किन संख्याओं में साधारण बुद्धि से ऊँचे तथा नीचे वर्गों में रक्खी जा

---

[१] Full many a gem of purest ray serene
The dark unfathomed caves of ocean bear,
Full many a flower are born to blush unseen,
And waste their fragrance in the desert air.

सकती है। किसी भी राष्ट्र की आपेक्षिक बुद्धि-विभूति का अनुमान केवल इसी प्रकार किया जा सकता है। अमेरिका के बच्चों के लिये, निश्चित परीक्षा-साधनों द्वारा, निम्नलिखित अंक प्राप्त किए गए हैं—

(१) प्रतिभा-संपन्न	·५५ प्रतिशत	(५) मंद	२० प्रतिशत
(२) अत्युत्कृष्ट बुद्धि	२·३ "	(६) प्रायः हीन बुद्धि	८·६ "
(३) उत्कृष्ट बुद्धि	९ "	(७) हीन बुद्धि	२·३ "
(४) साधारण	४० "	(८) भ्रष्ट बुद्धि	·३३ "

तीव्रबुद्धि बच्चों के लिये विशेष स्कूलों की आवश्यकता ।

वर्त्तमान शिक्षा-प्रणाली में सभी बच्चे बराबर समझे जाते हैं। उसमें उपर्युक्त सभी कोटियों के बच्चे साथ-साथ पढ़ते तथा काम करते हैं, और सरकारी नियमों के अनुसार यह अनिवार्य होता है कि प्रत्येक बच्चा प्रत्येक श्रेणी में एक वर्ष तक पढ़े। इसका फल यह होता है कि उक्त प्रथम एवं द्वितीय वर्ग के बच्चे अन्य बालकों में विलीन हो जाते हैं। ऐसे बच्चों का 'डबल प्रोमोशन' पाकर समय बचा लेना विरल-दृष्ट है। स्कूल के अधिकारी 'डबल प्रोमोशन' देने से घबराते हैं! उनकी इस विमुखता के ये कारण हो सकते हैं—(१) कार्य-विमुखता मात्र, (२) असाधारणतया अच्छे विद्यार्थियों के अलग न करने की स्वाभाविक इच्छा, तथा (३) यह परंपरागत विश्वास कि अकाल-प्रौढ़ बालकों पर रुकावट न डालने से उनको घोर शारीरिक अथवा मानसिक विपत्ति का भय रहता है। इधर कुछ वर्षों में मनोवैज्ञानिकों द्वारा किए गए अन्वेषणों से पता चलता है कि असाधारण बुद्धिवाले बच्चों का स्वास्थ्य उतना ही होना चाहिए जितना दूसरे बच्चों का; उनकी योग्यता सामान्य होती है, विशेष विषयों की नहीं; वे साधारण से अधिक अध्ययनशील होते हैं; उनमें कोई भारी दोष नहीं होता; वे सदैव संगतिप्रिय होते हैं; दूसरे बच्चे उनके साथ खेलने के इच्छुक रहते हैं; दूसरे बच्चों की अपेक्षा वे अधिकतर अगुआ होते हैं; और गुण-संपन्न होने पर भी वे शायद ही कभी घमंडी अथवा अहंमन्य होते हैं। कक्षाओं में बैठालने की वर्त्तमान प्रणाली उनके लिये ठीक नहीं पड़ती; क्योंकि इसमें उन्हें बहुधा ऐसा काम करना पड़ता है जो उनकी बुद्धि-शक्ति से निम्न कोटि का हो। यदि उन्हें ऐसा कार्य न दिया जाय जिसमें उनकी पूरी शक्तियों का उपयोग हो तो सदैव के लिये उनके स्वभाव में कार्यक्षमता के कम हो जाने का भय रहता है। उनके लिये, अति कार्यभार का नहीं, अल्प कार्यभार का भय रहता है; बहुधा स्कूल में पर्याप्त कार्य न मिल सकने के कारण वे उपद्रवी हो जाते हैं। परंतु, जैसा आरंभ में ही कहा जा चुका है, स्कूलों का ध्यान उपलब्ध ज्ञान पर ही केंद्रित रहता है। इस कारण वे सदैव श्रेष्ठ बालकों को पहचानने में समर्थ नहीं होते। यही नहीं, बहुधा उनके विषय में भ्रम फैल जाता है तथा उनके विरुद्ध कार्रवाई की जाती है। यह कार्य मनोवैज्ञानिकों का ही है कि वे उन्हें वर्ग अथवा व्यक्तिगत परीक्षा-साधनों द्वारा पहचानें और प्रकाश में लावें। जैसा पहले बतलाया जा चुका है, किसी देश का भावी कल्याण इन बच्चों की ठीक शिक्षा पर ही बहुत-कुछ अवलंबित रहता है। देश के सभ्यता की उन्नति अथवा अवनति विज्ञान, राजनीति, कला, सदाचार तथा धर्म के निर्माण की शक्ति से पूर्ण विचारकों तथा अग्रगामियों

के आगे बढ़ने पर ही निर्भर रहती है। साधारण योग्यता के लोग अनुगमन अथवा अनुकरण कर सकते हैं; किंतु प्रतिभा-संपन्न अवश्य ही मार्ग-प्रदर्शक होता है। हम लोग अपने देश में प्रतिभा-संपन्न बच्चों को पहचानने, उन्हें आगे बढ़ाने तथा उनकी शक्तियों के सदुपयोग करने के लिये क्या कर रहे हैं? उदाहरणार्थ—बनारस शहर में ही कम से कम एक दर्जन हाई स्कूल और बीसियों प्राइमरी तथा मिडिल स्कूल होंगे। परंतु क्या यहाँ कोई ऐसी भी संस्था है जो प्रतिभाशाली बालकों को विशेष सुविधाएँ प्रदान करती हो? उन्हें अपने पाठ्यक्रम को कम से कम समय में ही समाप्त करके आगे बढ़ने में सहायता देती हो? यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। कारण, अभी हमारे यहाँ मनोवैज्ञानिक ही नहीं हैं जिनके द्वारा ऐसे बच्चे चुने जा सकें। यही नहीं, हमें एक बात और भी करनी है। साइमन, बेनेट और ऐल्फा परीक्षाएँ योरप और अमेरिका के बच्चों को ही सफलता के साथ जाँच सकती हैं। भारतीय वातावरण में पले हुए बच्चों के लिये उनका यथोचित संशोधन तथा भारतीय भाषाओं में रूपांतर हो जाना आवश्यक है। लगभग बारह वर्ष हुए, मैंने इन प्रश्नावलियों का परिवर्त्तन भारतीय बच्चों के योग्य बनाने के लिये किया था, और उनके हिंदी-रूपांतर के साथ-साथ भाषा भी, विद्वानों द्वारा सूक्ष्म समालोचना एवं समीक्षा कराने के पश्चात्, निश्चित कर ली गई थी। ये पर्चे भारत-सरकार को, उसके माँग भेजने पर, दे दिए गए थे। किंतु वहाँ वे दाखिल-दफ्तर कर दिए गए! मैंने कठिन परिश्रम के बाद जो पर्चे तैयार किए थे उनका पता नहीं है! इन प्रश्नावलियों का विस्तृत प्रयोगों द्वारा ठीक-ठीक रूप निश्चित कर लेना आवश्यक है। मैं आशा करता हूँ कि कोई उत्साही मनोवैज्ञानिक इस कार्य को अपने हाथ में लेगा।

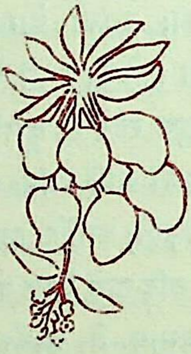

शिशु के प्रति

मृदुल! तुम्हारे लघु अंगों में
छिपा एक सौंदर्य महान,
जो भविष्य के शुभ नयनों में
पाएगा अक्षय सम्मान।

नवल! तुम्हारे इन पलकों में
ज्योतिर्म्मय का प्रथम विकास,
तुम्हीं विश्व के अंध हृदय में
छिटकाओगे शुभ्र प्रकाश।

मेरे चुंबन के सिंचन से
खिले तुम्हारा कोमल गात,
ज्यों दिनकर से चुंबित होकर
खिल-खिल उठते हैं जलजात।

शांतिप्रिय द्विवेदी

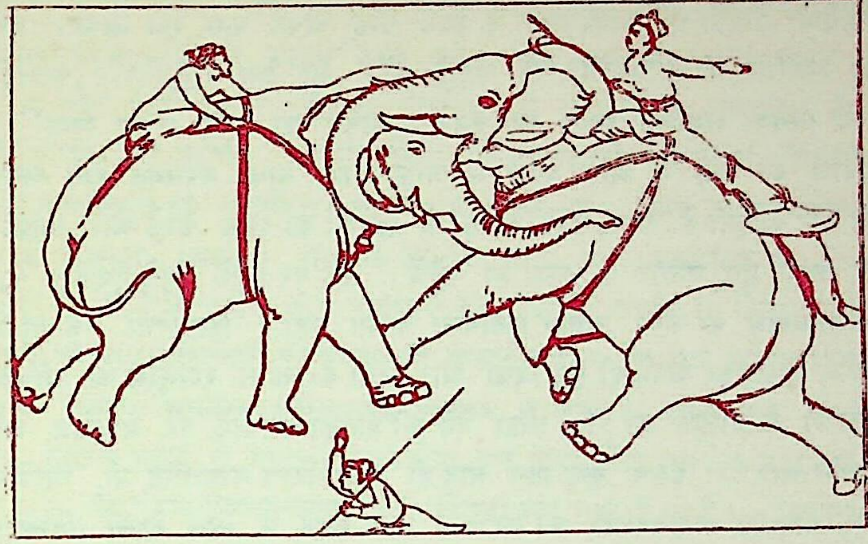

मारवाड़-नरेश महाराजा रामसिंह जी और राठोड़ वीरों की अद्भुत उदारता

श्री विश्वेश्वरनाथ रेउ, साहित्याचार्य

मारवाड़-नरेश महाराजा रामसिंह जी, महाराजा अभयसिंह जी के पुत्र थे। इनका जन्म विक्रम-संवत् १७८७ में, प्रथम भादों बदी दसमी (२८ जुलाई सन् १७३० ई०) को, हुआ था। पिता की मृत्यु के बाद विक्रम-संवत् १८०६ में, सावन सुदी दसमी (१३ जुलाई सन् १७४९ ई०) को, ये मारवाड़ की गद्दी पर बैठे। यद्यपि ये भी अपने पिता के समान ही वीर प्रकृति के पुरुष थे, तथापि उस समय केवल उन्नीस वर्ष की अवस्था होने के कारण इनके स्वभाव में चंचलता अधिक थी। इसी से राज्याधिकार प्राप्त करते ही, मुँह-लगे लोगों के कहने-सुनने से, इनके और इनके चचा राजाधिराज बखतसिंह जी के बीच मनोमालिन्य हो गया। ये उनको 'जालोर' का प्रांत लौटा देने के लिये दबाने लगे[१]। इसी बीच माँडा ठाकुर कुशलसिंह, चंडावल ठाकुर कूँपावत पृथ्वीसिंह, रायण ठाकुर बनैसिंह आदि मारवाड़ के कई सरदार इनसे अप्रसन्न हो गए[२]। उनमें से कुछ लोग जब राजाधिराज बखतसिंह जी के पास नागोर

---

[१] कुछ ख्यातों से ज्ञात होता है कि महाराजा रामसिंह जी ने, अपने राजतिलक के संबंध में आया हुआ, अपने चचा की तरफ का 'टीका' (उपहार) यह कहकर लौटा दिया था कि जब तक 'नागोर' का प्रांत हमें नहीं सौंपा जायगा तब तक हम यह स्वीकार नहीं करेंगे।

[२] ख्यातों से ज्ञात होता है कि अपनी मृत्यु के पूर्व महाराजा अभयसिंह जी ने 'रीयाँ' के ठाकुर शेरसिंह से राजकुमार रामसिंह जी के पक्ष में बने रहने की प्रतिज्ञा करवा ली थी। परंतु एक बार रामसिंह जी ने उस ठाकुर के एक सेवक को ले लेने का हठ किया। इस कारण वह भी अप्रसन्न होकर अपनी जागीर में चला गया

पहुँचे तब समय देख उन्होंने बड़े आदर-मान के साथ उन्हें अपने पास रख लिया। इससे अप्रसन्न होकर महाराजा रामसिंह जी ने 'नागोर' पर चढ़ाई की। यह देख राजाधिराज बखतसिंहजी ने भी अपने अधीन के प्रत्येक समुचित स्थान पर इनके मुकाबले का प्रबंध करवा दिया[1]। इससे वहाँ पहुँचते ही महाराज की सेना के आगे बढ़ने में जगह-जगह बाधा उपस्थित होने लगी। फिर भी महाराज अपनी वीर वाहिनी के साथ, बड़ी वीरता से शत्रुओं का दमन करते और उनकी उपस्थित की गई बाधाओं को हटाते हुए, नागोर के पास जा पहुँचे। इस पर इनके बढ़ते हुए दल का मार्ग रोकने के लिये स्वयं राजाधिराज को आगे आकर मुकाबला करना पड़ा। कुछ दिनों तक तो दोनों तरफ के राठोड़ वीर आपस में लड़कर अपने ही कुटुंबियों और मित्रों के रक्त से रणभूमि को सींचते रहे। परंतु अंत में बखतसिंहजी के जालोर का प्रांत लौटा देने की प्रतिज्ञा कर लेने पर महाराज अपनी सेना के साथ 'मेड़ते' लौट आए[2]। इसके कुछ दिन बाद ही राजाधिराज बखतसिंह जी, 'जालोर' लौटाने का विचार त्यागकर, बादशाह अहमदशाह की सहायता प्राप्त करने के लिये देहली (दिल्ली) जा पहुँचे। परंतु उस समय मरहठों के उपद्रव के कारण दिल्ली की बादशाहत नाम-मात्र की ही रह गई थी। इसलिये उधर से सहायता मिलना असंभव था। यह देख राजाधिराज ने 'अमीरुल उमरा' सलाबतखाँ[3] (जुल्फिकारजंग) को, अजमेर पर अधिकार करने में, मरहठों के विरुद्ध, सहायता देने का वादा कर, उससे जोधपुर पर अधिकार करने में सहायता माँगी। जैसे ही इस घटना की सूचना महाराजा रामसिंह जी को मिली वैसे ही इन्होंने भी जयपुर-नरेश ईश्वरीसिंह जी[4] से सहायता प्राप्त करने का प्रबंध कर लिया। इसी बीच रास ठाकुर ऊदावत केसरीसिंह, नींबाज ठाकुर कल्याणसिंह, आसोप ठाकुर कूँपावत कनीराम और आउवा ठाकुर चाँपावत कुशलसिंह, महाराज से नाराज होकर, 'नागोर' चले गए; और बखतसिंह जी

था। अंत में जब महाराजा रामसिंह जी ने नागोर पर चढ़ाई की तब 'कोसाने' के चांदावत देवीसिंह को भेजकर शेरसिंह को नागोर की इस चढ़ाई में साथ देने के लिये सहमत कर लिया और इसके बाद ये स्वयं 'रीयाँ' जाकर उसे साथ ले आए।

[1] राजाधिराज बखतसिंह जी ने सोचा था कि मार्ग में जिस समय महाराजा रामसिंह जी की सेना देसवाल आदि की गढ़ियों पर अधिकार करने में उलझी होगी उस समय पीछे से आक्रमण कर उसका शिविर और सामान आसानी से लूट लिया जायगा। परंतु महाराज के साथ के दूरदर्शी सरदारों ने ऐसा अवसर ही न आने दिया।

[2] ऐसा भी लिखा मिलता है कि जयपुर-नरेश ईश्वरीसिंह जी ने कह सुनकर यह प्रबंध कर दिया था कि बखतसिंह जी को 'जालोर' के बदले 'अजमेर' प्रांत के कुछ स्थान सौंप दिए जायँ और जालोर की मोरचेबंदी को ठीक करने में जो तीन लाख रुपए खर्च हुए हैं वे भी जोधपुर के खजाने से दे दिए जायँ। परंतु जब तक यह रुपया न दिया जाय तब तक जालोर पर बखतसिंह जी का ही अधिकार रहे।—(तवारीख राजश्री बीकानेर, पृष्ठ १७७)

[3] विक्रम-संवत् १८०५ (ईसवी सन् १७४८) में बादशाह अहमदशाह ने इसे अपना 'मीर बख्शी' बनाया था।

[4] जयपुर-नरेश महाराजा ईश्वरीसिंह जी की कन्या का विवाह महाराजा रामसिंह जी से होना निश्चित हो चुका था। इसी से वे इनकी सहायता को तैयार हुए थे।

के दिल्ली में होने के कारण उनके राजकुमार विजयसिंह जी को साथ लेकर जोधपुर-राज्य के बीसलपुर, काकेलाव, बनाड़ आदि गाँवों में उपद्रव करने लगे। कुछ दिन बाद इसी प्रकार पौकरन ठाकुर चाँपावत देवीसिंह और पाली ठाकुर चाँपावत पेमसिंह भी महाराज से अप्रसन्न होकर राजकुमार विजयसिंह जी के पास जा पहुँचे। बीकानेर-नरेश गजसिंहजी और रूपनगर (किशनगढ़) के स्वामी बहादुरसिंह जो ने पहले से ही राजाधिराज का पक्ष ले रक्खा था। परंतु जयपुर-नरेश ईश्वरीसिंह जी और मल्हारराव होल्कर, महाराज रामसिंह जी की तरफ थे। बखतसिंह जी के दिल्ली से लौट आने पर 'पीपाड़' के पास दोनों पक्षों के बीच घमासान युद्ध हुआ। ख्यातों में लिखा है कि इस युद्ध के समय बखतसिंह जी ने सलाबतखाँ को समझाकर सेना-संचालन का भार अपने जिम्मे लेना चाहा था। परंतु इसमें अपना अपमान समझ वह सहमत न हुआ। इससे युद्ध के समय महाराज रामसिंह जी की सेना के प्रहार से बहुत-सो यवन-सेना नष्ट होगई और रण-खेत महाराजा रामसिंह जी के ही हाथ रहा। यह घटना विक्रम-संवत् १८०७ (ईसवी सन् १७५०) की है। 'सहरुल मुताखरोन'[१] में इस घटना का हाल इस प्रकार लिखा है :—

"हि० सन् ११६१ (वि०-सं० १८०५=ई० सन् १७४८) में राजा बखतसिंह, जो अपने समय के राजपूताने के सब नरेशों में श्रेष्ठ था और जिसकी वीरता और बुद्धिमानी उस समय के सब राजाओं से बढ़ी-चढ़ी थी, देहली आकर बादशाह अहमदशाह से मिला। वह अपने भतीजे राजा रामसिंह से जोधपुर, मेड़ता आदि का अधिकार छीनना चाहता था। इसलिये उसने, हर तरह की मदद देने का वादा कर, जुल्फिकारजंग को अजमेर की सूबेदारी लेने के लिये तैयार किया और इसके बाद वह नागोर को लौट गया। कुछ समय बाद जब 'अमीरुल उमरा' (जुल्फिकारजंग) को अजमेर की सूबेदारी मिली तब वह अगले साल के अखीर (वि०-सं० १८०६=ई० सन् १७४९) में कई अमीरों के साथ चौदह-पंद्रह हजार सैनिक लेकर देहलो से रवाना हुआ। मार्ग में यद्यपि साथ के अमीरों ने उसे बहुत मना किया तथापि उसने 'नीमराने' के स्वामी जाट-नरेश सूरजमल पर चढ़ाई कर दी। परंतु अंत में, युद्ध में हार जाने के कारण, उसे सूरजमल से संधि करनी पड़ी। इसके बाद जब वह (जुल्फिकार) 'नारनौल' पहुँचा तब राजा बखतसिंह भी पूर्व-प्रतिज्ञानुसार वहाँ चला आया। उसके आने का समाचार पाते ही जुल्फिकार सामने जाकर उसे लिवा लाया। उस समय राजा ने उसे जाट-नरेश सूरजमल की अधीनता स्वीकार कर लेने के कारण बहुत धिक्कारा। इसके बाद बखतसिंह और जुल्फिकारजंग दोनों अजमेर की तरफ रवाना हुए। इनके गोकलघाट के करीब (अजमेर के निकट) पहुँचने पर राजा रामसिंह भी जयपुर के राजा ईश्वरीसिंह के साथ तीस हजार सवार लेकर इनके मुकाबले को चला। 'अमीरुलउमरा' जुल्फिकारजंग राजा बखतसिंह के साथ 'पुष्कर', शेरसिंह की 'रीयाँ' और 'मेड़ता' होता हुआ 'पीपाड़' के पास पहुँचा। यहाँ पर बखतसिंह ने 'अमीरुल उमरा' को समझाया कि जिस मार्ग से शाही सेना चल रही है उस मार्ग में रामसिंह का तोपखाना लगा है। इसलिये तुमको इधर-उधर

---

[१] 'सहरुल मुताखरीन'—भाग ३, पृष्ठ ८८३-८८४

का ध्यान छोड़कर मेरे पीछे-पीछे चलना चाहिए। परंतु मूर्ख और अभिमानी जुल्फिकार ने जवाब दिया कि आदमी एक दफा जिधर मुँह कर लेते हैं फिर उधर से उसे नहीं मोड़ते। इस पर बखतसिंह को, लाचार हो, शत्रु के तोपों की मार से बचने के लिये, जुल्फिकार की सेना से हटकर चलना पड़ा। अपनी तोपों के पीछे खड़ी राजा रामसिंह की राजपूत-सेना भी जुल्फिकार की सेना के अपनी मार के भीतर पहुँचने तक धीरज बाँधे खड़ी रही। परंतु जैसे ही उसकी फौज राजपूत-सेना के तोपों की मार में आ गई वैसे ही उसने उस पर गोले बरसाने शुरू कर दिए। इससे जुल्फिकार के बहुत से सिपाही मारे गए। यह देख मुगल फौज ने भी झटपट अपनी तोपों को ठीक कर युद्ध छेड़ दिया। कुछ देर की गोलाबारी के बाद मुगल-सेना को पानी की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। परंतु उस मैदान में पानी का कहीं भी पता न था। इससे प्यास के मारे वह और भी घबरा गई। इसके बाद जैसे ही राजा रामसिंह के तरफ की गोलाबारी का वेग घटा वैसे ही वह मैदान छोड़ पानी की तलाश करने लगी और उसकी खोज में भटकती हुई संयोग से राजा रामसिंह की सेना के सामने जा पहुँची। उसकी यह दशा देख राजपूत सैनिकों ने अपने आदमियों को उसके लिये जल का प्रबंध कर देने की आज्ञा दी और इसी के अनुसार उन्होंने कुओं से पानी निकालकर मुगल सैनिकों को और साथ ही उनके घोड़ों को भी तृप्त कर दिया। इस प्रकार अपने शत्रुओं को स्वस्थ हुआ देख राजपूतों ने उनसे कहा कि इस समय तुम्हारे और हमारे बीच युद्ध 'चल रहा है। इसलिये अब तुम्हें यहाँ से शीघ्र भाग जाना चाहिए"।

इसी के आगे 'सहरुल मुताखरीन' का लेखक लिखता है—"यद्यपि यह घटना अपूर्व है तथापि मैंने इसे अपने मौसेरे भाई इस्माइल अलीखाँ की जबानी, जो उस समय जुल्फिकारजंग के साथ था, सुनकर ही लिखा है। इसलिये यह बिलकुल सही है। राजपूतों का यह गुण और उच्च स्वभाव प्रशंसनीय है। ईश्वर उनको और भी सद्गुण दे[१]। इसके बाद यद्यपि बखतसिंह ने जुल्फिकारजंग

شنیده شد که وقت نصف النهار چوں توپها نهایت گرم شدند و نائره حرب افسردگی پذیرفت در نواح راجپوتانه خصوص دراں میدان که قلت آب بمرتبۀ اتم و کمل ست رفقائے امیرالامرا بنا بر بے آبي مضطرب گشته در تفحص آب اکثرے تا نزدیك لشکر رام سنگهه رسیدند - راجپوتیه اثر عطش از سیمائے آنها در یافته از چاه ها بدست ملازمانِ خود آب کشانیده اسپ و سوار را سیراب گردانید و گفتندالحال برگردید که میاں ما وشما جنگ است حکایتِ احوال ذوالفقار جنگ و آب دادن راجپوتیه بدشمنان نهایت صحت دارد -

چه سیّد اسمعیل علي خاں بهادر خلف عبدالهدی خان برادر خالوزاد فقیر دراں سفر رفیق و شریك آں لشکر بود - فقیر از زبان او استماع نموده بسلك تحریر کشید ایں صفت راجپوتان از عجائب اوصاف ، محامد اخلاق ست اوتعالی جمیع اصناف امم عالم را صفاتِ حمیده و اخلاقِ پسندیده کرامت فرماید -

(सहरुल मुताखरीन, भाग ३, पृष्ठ ८८४)

को हर तरह से समझाकर हिम्मत बँधानी चाही तथापि वह घबराकर अजमेर की तरफ होता हुआ लौट गया। इस युद्ध में मल्हारराव होल्कर का पुत्र[1] और जयपुर-नरेश ईश्वरीसिंह भी रामसिंह की तरफ थे, फिर भी बखतसिंह ने रसद आदि के संग्रह करने में चतुरता से और युद्ध में वीरता से काम लिया था। परंतु जुल्फिकारजंग के इस प्रकार हतोत्साह होकर लौट जाने से उसे भी युद्ध से मुँह मोड़ना पड़ा।"

वि०-सं० १८०७ की कार्तिक सुदी नवमी (२८ आक्टोबर सन् १७५० ई०) को बखतसिंह जी ने 'मेड़ते' पर चढ़ाई की[2]। परंतु इसमें भी उन्हें सफलता न मिली[3]। यह देख उन्होंने बीकानेर-नरेश गजसिंहजी और रूपनगर (किशनगढ़)-नरेश बहादुरसिंहजी को साथ लेकर रायपुर पर आक्रमण किया और वहाँ के ठाकुर को अधीनस्थ करने के बाद सोजत पर भी अधिकार कर लिया। वि०-सं० १८०८ के वैशाख (ई० सन् १७५१ के अप्रेल) में महाराजा रामसिंह जी के और बखतसिंह जी के बीच 'सालावास' में फिर युद्ध हुआ और इसके बाद ही 'रूपावास' आदि में भी कई लड़ाइयाँ हुईं। अंत में जैसे ही महाराज लौटकर जोधपुर पहुँचे वैसे ही राजाधिराज के मेड़ते की तरफ आने की सूचना मिली। इसलिये ये जोधपुर में केवल एक रात रहकर शीघ्र ही 'मेड़ते' जा पहुँचे। इसकी खबर पाते ही बखतसिंह जी गगराणे में ठहर गए, और रास ठाकुर केसरीसिंह की सलाह से उन्होंने जैतारण होकर बलूँदे पर चढ़ाई की। परंतु मार्ग में बाँजाकूड़ी के मुकाम पर ही बलूँदे के ठाकुर ने स्वयं आकर उनकी अधीनता स्वीकार कर ली। इसलिये वे उधर न जाकर नींबाज की तरफ चले। वहाँ के ठाकुर कल्याणसिंह ने उनका बड़ा आदर-सत्कार किया। इसके बाद वे रायपुर होकर 'बीलाड़े' और 'पाल' को लूटते हुए वि०-सं० १८०८ के आषाढ़ (ई० सन् १७५१ के जून) में, जोधपुर पर अधिकार करने के विचार से, 'रातानाडा' के तालाब के स्थान पर आकर ठहरे।

वि०-सं० १८०७ (ई० सन् १७५०) में ही जयपुर-नरेश ईश्वरीसिंह जी का देहान्त हो चुका था। इसलिये महाराजा रामसिंहजी को उस तरफ से सहायता मिलनी बंद हो गई थी। इधर मारवाड़ के मेड़तिये सरदारों के सिवा करीब-करीब अन्य सभी सर्दार महाराज से बदल गए[4] थे। इसी से जोधपुर

---

[1] संभव है, यह खांडेराव हो, जो वि०-सं० १८११ (ई० सन् १७५४) में जाटनरेश सूरजमल से लड़ता हुआ, 'डीग' में मारा गया था।

[2] इस अवसर पर महाराजा रामसिंह जी की तरफ़ के 'रीयाँ' के ठाकुर शेरसिंह और राजाधिराज बखतसिंह जी की तरफ़ के 'आउवे' के ठाकुर कुशलसिंह के बीच बड़ी वीरता से युद्ध हुआ। अंत में दोनों ही योद्धा आपस में लड़कर वीरगति को पहुँचे। यह युद्ध वि० सं० १८०७ की अगहन सुदी नवमी (ई० सन् १७५० २६ नवंबर) को हुआ था।

[3] 'तवारीख़ राज श्री बीकानेर' में इसी वर्ष की अगहन बदी नवमी (११ नवंबर सन् १७५०) को 'मेड़ते' के युद्ध में रामसिंह जी का हारना लिखा है। (पृष्ठ १७८)। इसी के बाद की लड़ाई में 'रीयाँ' का ठाकुर शेरसिंह मारा गया था।

[4] इस विषय का यह दोहा मारवाड़ में प्रसिद्ध है—"रामैखूँ राजी नहीं दीनो उत्तर देश। जोधाणो झाला करै आवधणी बखतेश॥"

पर बखतसिंहजी के आक्रमण करने पर कुछ ही देर की लड़ाई के बाद नगर के सिंधी सिपाहियों ने जोधपुर-शहर का 'सिवानची' नामक दरवाजा खोल[1] दिया। इस घटना से नगर पर राजाधिराज बखतसिंह जी का अधिकार हो गया[2]। यह देख पहले तो किलेवालों[3] ने कुछ देर तक गोलाबारी कर इनका सामना किया; परंतु अंत में वि०-सं० १८०८ की सावन बदी दूज (२९ जून सन् १७५१ ई०) को किले पर भी राजाधिराज का अधिकार हो गया। जब इस घटना की सूचना महाराजा रामसिंह जी को मिली तब वे शीघ्र ही जोधपुर की तरफ चले। परंतु राजाधिराज ने नगर के द्वार बंद करवाकर उसकी रक्षा का पूरा-पूरा प्रबंध कर लिया था, इससे नगर को कुछ दिन तक घेर रखने पर भी रामसिंह जी को सफलता न मिली। यह देख ये सिंधिया से सहायता प्राप्त करने के लिये जयपुर की तरफ चले गए। वि० सं० १८०९ (ई० सन् १७५२) में सिंधिया की सहायता से रामसिंह जी ने एक बार फिर जोधपुर पर चढ़ाई की। इससे कुछ दिन के लिये 'अजमेर' और 'फलोदी' पर इन (रामसिंहजी) का अधिकार हो गया। परंतु शीघ्र ही इन्हें उक्त स्थानों को छोड़कर 'रामसर' होते हुए 'मंदसोर' की तरफ जाना पड़ा। अंत में बहुत कुछ चेष्टा करने के बाद बखतसिंह जी को 'साँभर' का परगना इन्हें सौंप देना पड़ा। वि०-सं० १८११ (ई० सन् १८५४) में, विजयसिंह जी (बखतसिंह जी के पुत्र) के समय में, मरहठों[4] (जय आपा सिंधिया) की सहायता से, इन्होंने फिर एक बार अपना गया हुआ राज्य प्राप्त करने की चेष्टा की। परंतु अंत में इन्हें मारवाड़ के सिवाना, मारोठ, मेड़ता, सोजत, परबतसर, साँभर और जालोर के प्रांत लेकर ही संतोष करना पड़ा। वि-सं० १८१३ (ई० सन् १७५६) में भी रामसिंह जी ने, अपने अधिकृत प्रांतों के महाराजा विजयसिंह जी द्वारा छीन लिए जाने पर, फिर मरहठों से सहायता ली थी। वि०-सं०१८२९ की भादों सुदी छठ (३ सितंबर ई० सन् १७७२) को जयपुर में महाराजा रामसिंहजी का स्वर्गवास हो गया[5]।

[1] यह घटना वि०-सं० १८०८ के आषाढ़ बदी दसमी (७ जून ई० सन् १७५१) की है।

[2] नगर में प्रवेश करने पर राजाधिराज ने अपना निवास तलहटी के महलों में किया था। 'तवारीख राज श्री बीकानेर' में लिखा है कि वि०-सं० १८०८ की आषाढ़ सुदी नवमी (२१ जून ई० सन् १७५१) को चार पहर तक जोधपुर नगर लूटा गया। (पृष्ठ १७८) परंतु ज्ञात होता है कि इसमें 'बदी' के स्थान में 'सुदी' और तिथि 'दशमी' के स्थान में 'नवमी' भूल से लिखी गई है।

[3] 'तवारीख राज श्री बीकानेर' में लिखा है कि उस समय जोधपुर का किला भाटी राजपूतों की देख-रेख में था। (पृष्ठ १७८)

[4] ग्रांट डफ़ की 'हिस्ट्री ऑफ़ मरहटाज' में इस घटना का समय ई० सन् १७५९ (वि०-सं० १८१६) लिखा है। (भाग १, पृष्ठ ५१३)। यह भूल प्रतीत होती है। वि० सं० १८११ की पौष बदी दशमी का, रामसिंह जी का, एक खास रुक्का मिला है। यह 'ताउसर' (नागोर के निकट) से लिखा गया था। संभव है, उस समय मरहठों के साथ होने से ये उधर भी गए हों।

[5] किसी-किसी ख्यात में इनकी मृत्यु की तिथि माघ सुदी ७ (ई० स० १७७३ की ३० जनवरी) भी लिखी मिलती है। कहते हैं कि महाराजा रामसिंह जी ने तीन गाँव दान किए थे—(१) 'टेला' (मेड़ते परगने का, वि०-सं० १८०७ में) चारणों को; (२) 'तिलवासनी' (बीलाडे परगने का, वि०-सं० १८०८ में) और (३) 'वासणी' (जोधपुर परगने का, वि०-सं० १८१२ में) ब्राह्मणों को दिए थे।

बोधि-वृक्ष से

तुम कौन छिपाए व्यथित हृदय, हो खड़े यहाँ काननवासी ?
किस लिये उदासी छाई है, किस लिये बन गए संन्यासी ?
क्या सोच रहे तुम जीवन के, उस सहचर की वह करुण-कथा ?
या दग्ध कर रही है तुमको, उस दयाधाम की विरह-व्यथा ?
क्यों मौन खड़े हो, हे तरुवर, कुछ तो मर्मर स्वर में बोलो,
उलझी है कौन गाँठ मन की, अपने उर का रहस्य खोलो।
हे भाग्यवान्, सौभाग्य अहो ! तुम-सा किसने जग में पाया ?
जिसके अंचल में रहने को, करुणावतार आतुर आया।
शुद्धोदन का वह रत्न-जटित, सिंहासन विगलित हो क्षण में,
तव चरण-धूलि धर मस्तक पर हो गया धन्य इस जीवन में !
वह दिन कितना मधुमय होगा, जब पल्लव-छाया के नीचे,
वह शांत-करुण की मधुर मूर्त्ति बैठी होगी आँखें मीचे।
करुणा की धारा उमड़ उठी, जिस दिन गौतम-हृदयस्थल में।
थी दिव्य ज्योति की अमिताभा, उतरी उस दिन जगतीतल में,
वह था संसृति का स्वर्ण-काल, जब अभय-दान जग ने पाया,
करुणा की अरुण हिलोरों से, जब हृदय हृदय था भर आया !
इस बाह्य रूप का भेद भूल आत्मा ने आत्मा को जाना,
दो बिछुड़े हृदय मिले फिर से, प्राणों ने था सुख पहचाना।
युग युग हैं तब से बीत चुके, हे मौन, आज कुछ गाओ तुम,
संदेश दया का भूले हम, अब फिर से, उसे सुनाओ तुम।
हे बोधि-वृक्ष, तव आँगन में, जगती के नर-नारी आएँ,
संतप्तहृदय, तव छाया में, प्राणों की शीतलता पाएँ।

सोहनलाल द्विवेदी

भारतीय चिकित्सा-शास्त्र की विशेषता—'नाड़ी-परीक्षा'

[आयुर्वेदपंचानन जगन्नाथप्रसाद शुक्ल, वैद्यभिषङ्मणि]

किसी भी चिकित्सा-शास्त्र की विशेषता उसको रोग-परीक्षा-पद्धति और चिकित्सा की श्रेष्ठता तथा सफलता के ही कारण जानी जाती है। भारतीय चिकित्सा-शास्त्र में रोग और रोगी की अलग अलग परीक्षा कर रोग-निर्णय किया जाता है। रोग का निर्णय करते समय निम्नलिखित बातों पर विचार किया जाता है—[१] निदान (रोगोत्पत्ति के आदिकारण), [२] पूर्वरूप (रोगोत्पत्ति के आरंभ के समय दिखनेवाले अस्पष्ट आदि लक्षण), [३] रूप (रोग-ज्ञापक स्पष्ट लक्षण), [४] उपशय (रोग और रोगी के सात्म्य-असात्म्य, आहार-विहारादि के द्वारा होनेवाले बढ़ाव-घटाव से रोग का अनुमान करना तथा समझना), [५] संप्राप्ति (रोग के प्रकारों की संख्या, उसके दोषों के तर-तमभाव की विकल्पना, रोग की स्वतंत्रता, परतंत्रता के द्वारा उसकी प्रधानता, रोग और रोगी के बलाबल का विचार, रोगवृद्धि और शांति के समय तथा ऋतुकालादि का विचार)। इन सब बातों का विचार करके रोग का निश्चय किया जाता है। इस प्रकार रोग निश्चित करते समय—'नाडीं मूत्रं मलं जिह्वां शब्दस्पर्शदृगाकृतिम्' आठ प्रकार से रोगी की परीक्षा की जाती है। अर्थात्—रोगी की नाड़ी देखकर दोष और व्याधि का अनुमान करते हुए रोगी के मूत्र, मल, जीभ और आवाज की परीक्षा कर तथा रोगस्थानों को टटोल कर रोग-निर्णय किया जाता है। इस प्रकार रोगनिर्णय होने पर रोगी के दोषों का, उन दोषों के द्वारा दूषित होनेवाले रस-रक्तादि दूष्यों का, रोगी और रोग के बल का, समय का, रोगी के जठराग्नि का, उसकी प्रकृति और अवस्था का, उसके सात्म्य और सत्व-शक्ति तथा आहार का, साथ ही रोग की भिन्न-भिन्न अवस्था का भी विचार कर, चिकित्सा का क्रम निश्चित किया जाता है। यही कारण है कि भारतीय चिकित्सक इस विपरीत समय में भी, इस संघर्ष के युग में भी, टक्कर ले रहे हैं। सैकड़ों और हजारों वर्षों की विपरीत परिस्थिति तथा पराधीनता ने इस चिकित्सा-पद्धति को उठने नहीं दिया। इसकी नित्यनैमित्तिक अभिवृद्धि के मार्ग अवरुद्ध हैं। परंतु आज भी वैद्यों की नाड़ी-परीक्षा की धाक बँधी हुई है। आज भी सब उपायों से निराश होकर रोगी आयुर्वेद की शरण में आते हैं। आज भी रोग की साध्यासाध्य अवस्था जानने के लिये वैद्यों से नाड़ी की परीक्षा कराई जाती है। इससे स्पष्ट है कि भारतीय चिकित्सा-शास्त्र में 'नाड़ी-परीक्षा' का अत्यंत महत्त्व-पूर्ण स्थान है।

नाड़ी-ज्ञान भारतीयों की निजी संपत्ति है—भारतीय ज्ञान-विज्ञान की प्राचीनता और उसकी श्रेष्ठता कम करने के लिये प्रायः योरप के विद्वान् उसका समय यथाशक्ति इधर ही ठेलने का

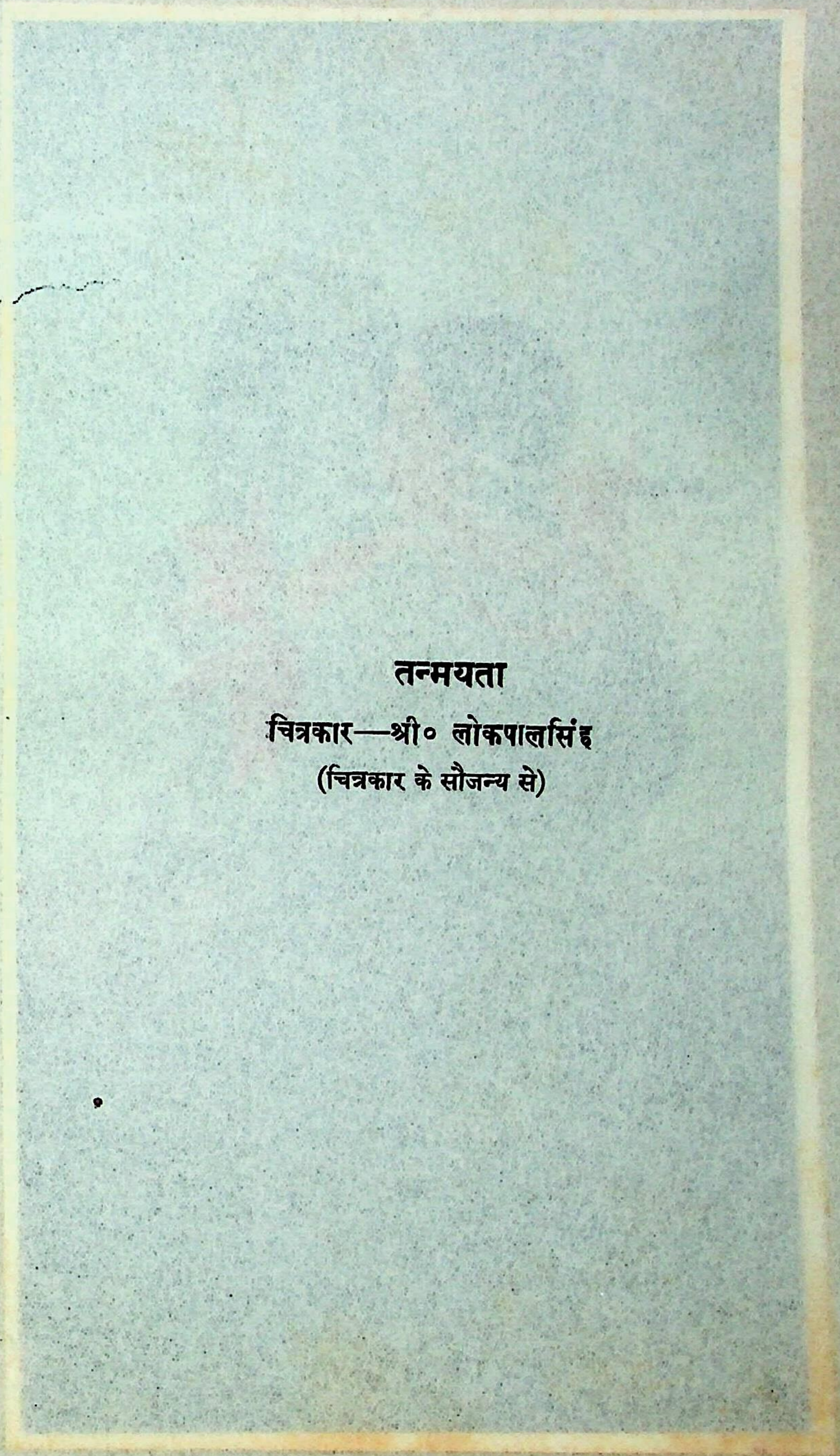

तन्मयता

चित्रकार—श्री० लोकपालसिंह

(चित्रकार के सौजन्य से)

LOKPAL

प्रयत्न करते हैं; फिर इस बात पर अपना दिमाग लगाते हैं कि इसे भारतीयों ने अमुक पश्चिमी देश से लिया होगा। इसी तरह नाड़ी-परीक्षा-शास्त्र के विषय में भी वे कहते हैं कि इसे भारतीयों ने अरबवालों अथवा यूनानवालों से लिया होगा। इसके प्रमाण में वे यह दलील पेश करते हैं कि चरक, सुश्रुत और वाग्भट जैसी प्राचीन संहिताओं में नाड़ी-ज्ञान का विचार नहीं है। सबसे पहले 'शार्ङ्गधर' में इसकी चर्चा हुई है जो चौदहवीं शताब्दी का ग्रंथ है। आश्चर्य तो यह है कि उन्हीं की आँखों देखनेवाले कुछ भारतीय डॉक्टर भी इसी प्रकार कहने लगते हैं! किंतु वे भूल जाते हैं कि चरक-सुश्रुत ने अपने-अपने अभिमत विषय का ही उल्लेख किया है, और जो विषय दूसरे विभाग के थे उन्हें छोड़ दिया है। उदाहरणार्थ—दाहकर्म, क्षार-प्रयोग तथा नेत्ररोग में उन्होंने लिख दिया है कि इसमें धन्वंतरि संप्रदाय के शास्त्र-चिकित्सकों का ही अधिकार है। इसके सिवा हजारों वर्षों में चरक-सुश्रुत न जाने कितनी बार विकलितांग हुए—उनका संस्कार किया गया। कौन जाने उनमें से कौन भाग कैसे नष्ट हुआ। यों तो रसतंत्र का भी इन संहिताओं में विस्तार नहीं है। तो क्या यह माना जायगा कि यह पद्धति महादेव जी से आरंभ कर नागार्जुन तक अबाधित नहीं आई? और, आज उसका जो विस्तृत स्वरूप मिल रहा है वह भी बाहरी है? उसका भी संग्रह तो शार्ङ्गधर के समय से ही चिकित्सा-ग्रंथों में होना आरब्ध हुआ है। बात यह है कि प्राचीन समय में चिकित्सा-शास्त्र के भिन्न-भिन्न अंगों के ग्रंथ अलग-अलग थे। यह बात वाग्भट के "तेऽग्निवेशादिकांस्ते तु पृथक् तंत्राणि ते निरे। तेभ्योतिविप्रकीर्णेभ्यः......" वाक्य से स्पष्ट है। लगभग एक हजार वर्ष से सब अंगों के संग्रह-ग्रंथ लिखने की चाल चली। नाड़ी-ज्ञान का प्रचार पहले तंत्रशास्त्रज्ञों और योगशास्त्रविदों में विशेष था और उन्हीं के द्वारा पहले नाड़ी-परीक्षा कराई जाती थी। नाड़ी-परीक्षा का ज्ञान कहीं बाहर से नहीं लिया गया। यह शुद्ध भारतीय है। अरब के मुसलमान सन् ईसवी के छः सौ वर्ष तक तो ज्ञान-विज्ञान के प्रेमी थे नहीं। यदि ऐसा होता तो वे सन् ६४० ई० में अलकजेंड्रिया के चार लाख ग्रंथों के संग्रहालय को खलीफा उमर की आज्ञा से इस तर्क पर न जलवा डालते कि जो बात कुरान में है वह यदि दूसरे ग्रंथ में हो तो उसकी आवश्यकता ही क्या और जो बात कुरान में नहीं है उसे रखने की आवश्यकता ही क्या! सन् ८०० ई० में, खलीफा हारूँउलरशीद के समय, बगदाद में चरक-सुश्रुत, माधवनिदान आदि का अनुवाद अरबी भाषा में किया गया। इसके पहले ही फारस का बादशाह 'बहराम' दो बार वेश बदल कर भारत आया था और उसने संस्कृत सीख कर यहाँ की विद्याओं का अपने देश के विद्यालयों में प्रचार कराया था। यद्यपि सन् ७११ ई० में अरब लोग सिंध में आए थे तथापि थोड़े ही दिन रह कर चले गए। भारतीयों से मुसलमानों का प्रत्यक्ष संबंध सन् १२०६ ई० के बाद, मुहम्मद गोरी के हमले के समय से, हुआ। इसके पहले भारतीय उनसे कुछ सीख नहीं सकते थे, और मुसलमानों का ध्यान भी तो उस समय अधिकांश लूटमार की ही ओर था; फिर वे विद्या सिखाने कब बैठते? इसके सिवा अरबवाले 'वात-पित्त-कफ' के अतिरिक्त रक्त को भी चौथा दोष मानते हैं। भारतीय चिकित्सक तीन अँगुलियों से नाड़ी-परीक्षा करते हैं, और वे चार अँगुलियों से। हमारे यहाँ रक्त 'दोष' के बदले 'दूष्य' माना गया है, वह स्वतंत्र नहीं है, और यही मत सकारण है। इस भेद को अगर न भी मानें तो भी जो शार्ङ्गधर चौदहवीं शताब्दी

का कहा जाता है वह यथार्थ में ग्यारहवीं शताब्दी का है; क्योंकि शार्ङ्गधर राजा अनंगभीम के समय में हुआ था। अनंगभीम ने शकाब्द १०९४ में जगन्नाथ जी का मंदिर बनवाया था, जिसका लेख मंदिर (पुरी) में मौजूद है। इससे मुसलमानों से नाड़ी-परीक्षा लेने की बात कट जाती है। यदि कहा जाय कि भारतीयों ने यूनानियों से यह विद्या सीखी तो न उनके इतिहास में इसकी पुष्टि के लिये कोई प्रमाण है और न हमारे ही इतिहास में। हाँ, ज्योतिष का कुछ भाग भारतीयों ने बाहर से लिया; पर उसे उसी नाम से प्रसिद्ध किया। यदि नाड़ी-परीक्षा बाहर से लेते तो अवश्य स्वीकार करते। यूनानी स्वयं अपने को आर्यवंशोद्भूत बतलाते हैं। फिर यही क्यों न समझा जाय कि आर्यों की जो शाखा यूनान में जा बसी वह भारतीय विद्या भी साथ लेती गई। जैसे शार्ङ्गधर में नाड़ी के गति की तुलना सर्प, जलौका, मेढ़क, हंस आदि की चाल से की गई है उसी तरह प्राचीन यूनानी भी नाड़ी की चाल चूहे, चींटी और बकरे की चाल से मिलाते थे। भारतीयों की तरह वे भी तीन अँगुलियों से नाड़ी-परीक्षा करते थे। हमारी त्रिदोष-पद्धति के समान वहाँ भी दोष-पद्धति प्रचलित थी। सन् ईसवी के ४०० वर्ष पहले यूनान में विद्वान् हिपोक्रेटिस हुआ। वह विद्यार्जन के लिये भारत आया था। इसके बाद सन् ईसवी से २२६ वर्ष पहले सिकंदर बादशाह यहाँ से कुछ प्रवीण वैद्य अपने साथ लेता गया था। उनसे उसने यूनानी भाषा में वैद्यक ग्रंथ लिखवाए थे। सन् ईसवी की पहली सदी में आर्चिगेनस ने नाड़ी-परीक्षा पर पुस्तक लिखी, पर वह नष्ट हो गई। फिर दूसरी सदी में डॉक्टर गेलन ने नाड़ी-परीक्षा पर पुस्तकें लिखीं। किंतु भारतीय तो इससे भी बहुत पहले से इस विषय को जानते थे। यद्यपि समय के प्रकोप से बहुत से प्राचीन ग्रंथ नष्ट हो गए हैं; तथापि बहुत से टीका-ग्रंथों से पता चलता है कि पहले यहाँ नाड़ी-परीक्षा-संबंधी बहुत से ग्रंथ प्रचलित थे। नागार्जुन का 'अष्टविध-परीक्षा' ग्रंथ अब भी कहीं कहीं मिलता है। शोधकों का कथन है कि नागार्जुन पहली अथवा दूसरी शताब्दी में हुआ है। 'भेडतंत्र'-कर्त्ता आचार्य भेड, चरक के समकालीन हैं। चरक का समय सुश्रुत से पहले है। सुश्रुत महाभारत के समय मौजूद थे। अतएव चरक का समय पाँच हजार वर्ष से अधिक प्राचीन मालूम पड़ता है। जो हो, आचार्य भेड ने अपने तंत्र में लिखा है—

"रोगाक्रान्तशरीरस्य स्थानान्यष्टौ परीक्षयेत्। नाडीं जिह्वां मलं मूत्रं त्वचं दन्तनखस्वरान् ॥"

'नाडीज्ञानतरंगिणी' में भरद्वाज-संहिता के निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किए गए हैं। महर्षि भरद्वाज त्रेता युग में भगवान् रामचंद्र के समय मौजूद थे—

दर्शनस्पर्शनप्रश्नैः संपरीक्षेत रोगिणम्। रोगांश्च साध्यान्निश्चित्य ततो भैषज्यमाचरेत् ॥
दर्शनान्नेत्रजिह्वादेः स्पर्शान्नाडिकादितः। प्रश्नाद्दूतादिवचनै रोगाणां कारणादिभिः ॥"

नाडी-ज्ञान के प्रधान 'वैद्यभूषण' नामक ग्रंथ में ऋषिकाल के पश्चात् जो ऋषिप्रणीत ग्रंथ थे उनका उल्लेख यों मिलता है—

"पराशरादिमुनिभिः प्रणीताञ्छास्त्रसागरान्। अष्टलक्ष्यमितानेतानालोड्य च मुहुर्मुहुः ॥
तेषां सारं समुद्धृत्य षड्शास्त्राणि प्रचक्रिरे। पराशरो योगशास्त्रमातितो जलमेव च ॥

नयनं क्षीरपाणिस्तु भेलकर्णो मनोवयम्। अग्निविद्-नाडिशास्त्रं च शास्त्रदक्षस्तु भैषजम्॥
एकैकं शास्त्रमेते हि ऋषयश्चक्रिरे मुदा।"

ऊपर के श्लोक में 'अग्निविद्' के नाडिशास्त्र का उल्लेख है; परंतु आजकल इसका कहीं पता नहीं है। कणाद ऋषि-प्रणीत 'नाडीविज्ञान' नामक ग्रंथ छप गया है। यदि ये कणाद न्यायशास्त्रकर्त्ता कणाद ही हों, तो भी इसकी प्राचीनता ही सिद्ध होगी। रावण-कृत छियानवे श्लोकों की 'नाडी-परीक्षा' पुस्तक भी प्रसिद्ध है। यदि ये रावण लंकाधीश हों तो भारतीयों के नाड़ीज्ञान का समय भरद्वाज-संहिता के समान त्रेतायुग में पहुँच जाता है। रावणकृत नाड़ीपरीक्षा में आचार्य, नंदीकृत नाड़ी-शास्त्र का उल्लेख है। कलकत्ते में प्रकाशित 'प्रयोगचिंतामणि' ग्रंथ में मार्कंडेय, वसिष्ठ और गौतम ऋषि के नाड़ी-परीक्षा-संबंधी मत दिए हैं। मार्कंडेय-कृत नाडी-परीक्षा की स्वतंत्र पुस्तक इस समय भी जर्मनी के एक पुस्तकालय में मौजूद है। वृद्धहारीत और मांडव्य ऋषि के नाडी-परीक्षा-संबंधी मतों का उल्लेख अनेक स्थलों पर मिलता है। कलकत्ते की रायल एशियाटिक सोसाइटी के संग्रहालय में आत्रेय-कृत नाड़ी-परीक्षा की पुस्तक मौजूद है। चरक-ऋषिकृत संहिता आत्रेय ऋषि की ही कही हुई है, यह सभी जानते हैं।

भारतीय आयुर्वेद को नीचा दिखाने की इच्छा रखनेवाले कुछ लोगों का यह तर्क है कि भारतीयों ने नाड़ी-परीक्षा चीनियों से सीखी होगी। निस्संदेह चीन का वैद्यक चार-पाँच हजार वर्ष का पुराना है; किंतु उसे व्यवस्थित स्वरूप सन् ईसवी के दो सौ उन्तीस वर्ष पहले विद्वान् 'चंकी' द्वारा मिला है। प्राचीन भारत की सीमा चीन से लगी हुई थी और चीनवासी भारत से बराबर विद्या ग्रहण किया करते थे। सन् ईसवी के दो सौ पचहत्तर वर्ष पहले अशोक ने चीन में बौद्धधर्मोपदेशक भेजे थे। बौद्ध लोग जहाँ जाते थे वहाँ धर्मोपदेश के साथ ही रोगी, अपाहिज आदि दुःखी जीवों की शुश्रूषा कर सहानुभूति प्राप्त किया करते थे। अतः कौन कह सकता है कि उक्त विद्वान् चंकी के समय तक बौद्धों द्वारा वहाँवालों को भारतीय विद्या का ज्ञान न हो चुका होगा। चीनी प्रवासी दसवीं शताब्दी तक भारत आया करते थे और बरसों यहाँ रहकर यहाँ के धर्म और ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा ग्रहण कर जाया करते थे। इतिहास साक्षी है कि हुएनसांग, इत्सिंग आदि सुप्रसिद्ध चीनी यात्री नालंदा आदि भारतीय विश्वविद्यालयों के ग्रंथभांडार से सैकड़ों ग्रंथों की प्रतिलिपियाँ स्वदेश ले गए थे। इन सब विवेचनों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि भारतीयों को नाड़ी-परीक्षा का ज्ञान हजारों वर्ष पहले से है। इसे उन्होंने किसी बाहरी देश से नहीं लिया। हमारे योगशास्त्र के ग्रंथों में भी नाड़ी-ज्ञान-संबंधी बातें भरी हुई हैं। तंत्रशास्त्रों में भी इस विषय का खासा उल्लेख है।

शारीरिक क्रिया-संपादन—मनुष्य-शरीर के मुख्य तीन भाग हैं—(१) शाखा (हाथ-पाँव), (२) मध्यशरीर (धड़), (३) उत्तमांग (सिर)। हाथ-पाँव-द्वारा मनुष्य की बाह्यक्रिया संपादित होती है। धड़ के मुख्य दो भाग हैं—एक उदर, जिसमें मूत्रस्थान, मलविसर्जनस्थान, पाचकाशय (आमाशय), छोटी बड़ी आँतें, यकृत और प्लीहा हैं, दूसरे भाग में हृदय, श्वासनलिका और फेफड़ा हैं। सिर में मुख्य मस्तिष्क है, जिसके द्वारा शरीर की सारी संवेदनात्मक और ज्ञान तथा विवेकादि की क्रिया संपादित होती है। रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र—शरीर में ये सात

धातुएँ रहती हैं। ये शरीर का धारण, पोषण और स्थिरता-संपादन करती हैं; इसलिये इन्हें 'धातु' कहते हैं। मल, मूत्र और स्वेद—शरीर में यही मुख्य तीन मल हैं। वात, पित्त और कफ—ये तीन शक्तियाँ शरीर की सारी क्रिया का संपादन कराने में सहायक होती हैं। ये शुद्ध रूप में शरीर को पोषण करतीं और विकृत होने पर शरीर का नाश कर डालती हैं। विकृत होकर ये परस्पर दूषित होती हैं और सप्त धातु तथा तीनों मलों को भी दूषित कर डालती हैं। इसी लिये इन तीनों शक्तियों को 'दोष' और धातु तथा मलों को 'दूष्य' कहते हैं। हम जो भोजन करते हैं, उसका जो सार-रूप रस बनता है, वही 'रस' कहलाता है। यही रस पित्त की गर्मी से पककर, और पित्ताशय तथा प्लीहा होकर, हृदय में तथा वहाँ से फुफ्फुस और सारे शरीर में चक्कर लगानेवाला जीवन-रक्त बन जाता है। रक्त अपनी और पित्त की ऊष्मा से घनीभूत हो कर मांस बनता है। मांस में वैसी ही ऊष्मा की क्रिया होती है जिससे स्नेहांश निकलता है—यही मेद है। मेद ही ऊष्मा से घनीभूत होकर अस्थि बनती है। ये हड्डियाँ ही शरीर को कड़ा रखती हैं। अस्थियों पर जो ऊष्मा की क्रिया होती है, उससे एक पीला चिकना रस निकल कर मज्जा बनती है। यह मज्जा हड्डियों के पोले भाग में रहकर उन्हें स्निग्ध और कोमल तथा सजीव बनाए रखती है। मज्जा पर जो ऊष्मा की क्रिया होती है, और उससे सब धातुओं का सार रूप जो द्रवांश बनता है, वही 'वीर्य' कहलाता है। इसके भी सार-रूप तेजोअंश को 'ओज' कहते हैं। यह शरीर में कांति उत्पन्न करता और हृदय को कार्यक्षम बनाए रखता है। इस प्रकार आहार के सार-रस से शरीर बनता है। उसका बचा हुआ जलांश मूत्ररूप से तथा घनांश मल-रूप से बाहर निकल जाता है।

नाड़ी का अधिष्ठान—धातुओं के बनने और शारीरिक क्रिया संपादित होने के लिये रस और रक्त अपने-अपने मार्ग द्वारा शरीर भर में घूमा करते हैं। रस बहानेवाली नालियाँ 'सिरा' और शुद्ध रक्त बहानेवाली नालियाँ 'नाड़ी' या 'धमनी' कहलाती हैं। जैसे किसी नदी या तालाब से जल आकर वाटरवर्क्स के हौज में संचित होता और वहाँ से फिर इंजिन-बायलर की शक्ति के सहारे अनेक फैले हुए नलों द्वारा सारे शहर में पहुँचता है, वैसे ही हमारे शरीर में बायलर का काम हृदय करता है और यही नाड़ियों को गति देनेवाला आदि-अधिष्ठान है। हृदय का आकार बिना खिले हुए (बंद) कमल के समान है। यह पाँच इंच लंबा साढ़े तीन इंच चौड़ा और ढाई इंच व्यासवाला होता है और छाती के वाम भाग में रहता है। यह स्नायुमय होता है। इसके भीतरी भाग में दो गढ़े होते हैं, दाहिनी ओर वाले को 'दक्षिण हृद' और बाईं ओरवाले को 'वामहृद' कहते हैं। एक स्नायु के परदे से आड़े दो भाग और होते हैं; इस तरह हृदय के चार भाग होते हैं। दक्षिण हृद होकर अशुद्ध नीलरक्त की शिराएँ और वामहृदाशय से शुद्ध रक्त की धमनी दक्षिणाशय होकर निकलती है और आगे चलकर द्विधाविभक्त होकर एक शाखा दक्षिण फुफ्फुस में और दूसरी शाखा वाम फुफ्फुस में जाकर मिलती है। दक्षिण कोषाशय में उघड़ने और बंद होनेवाला एक परदा 'त्रिदलपिधान' होता है। वामकोष और वामाशय को विभक्त करनेवाला भी एक आर पार छिद्रवाला द्वार होता है, जिसके बंद होने और खुलने के लिये दो दल का एक परदा 'द्विदलपिधान' रहता है। वामकोष से एक बड़ी धमनी निकलकर अनेक शाखाओं से सारे शरीर में रक्त पहुँचाती है।

विद्युत्-वनिता

चित्रकार—श्री० रामगोपाल विजयवर्गीय

(भारत-कलाभवन के संग्रह से)

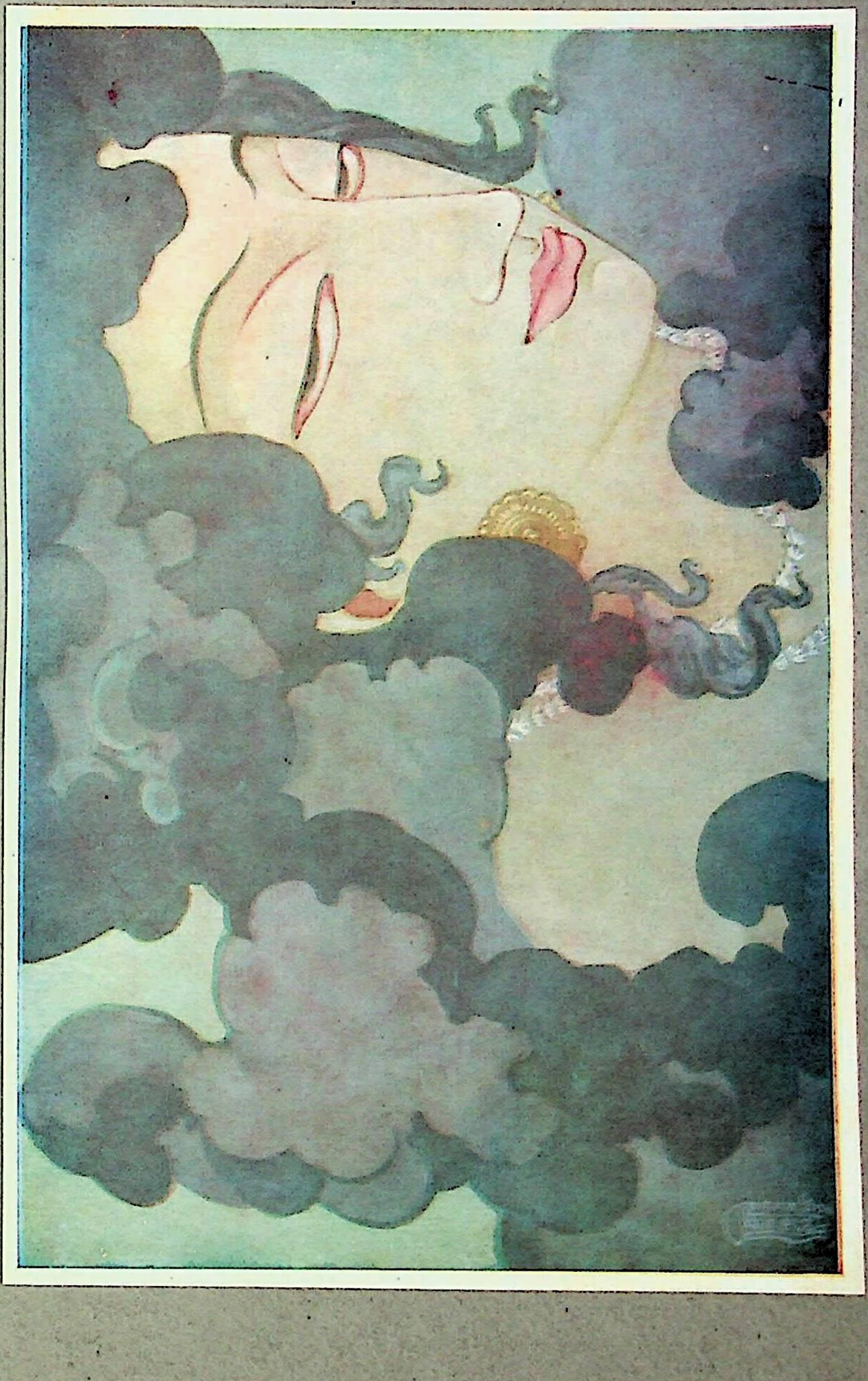

रक्त-संवहन क्रिया—रसवाहिनी सिरा, रक्तवाहिनी धमनियों के कार्य और उनके बहाव के ढंग का वर्णन वैदिक, वैद्यक और योग के ग्रंथों में भरा पड़ा है। आर्यों को बहुत पुराने समय से रक्त-संवहन-क्रिया का ज्ञान है, और नाड़ी-ज्ञान का यही मूल मंत्र है। यूनान और रोम के डाक्टर यद्यपि नाड़ी-परीक्षा करते थे, तथापि रक्तसंवहन क्रिया की स्पष्ट कल्पना उन्हें भी बहुत दिनों में हुई है। सन् १५५५ में विसिलियस को हृदय की क्रिया का, सन् १५५८ में कोलंबो को फुफ्फुस में रक्ताभिसरण का, सन् १६२५ में कर्णि को हृदय की सिरा का ज्ञान हुआ। नाड़ियों द्वारा रक्ताभिसरण का ज्ञान सन् १६२८ में अँगरेज 'हार्वे' को हुआ। सन् १७४८ में रेवरेंड स्टिफन हेल्स ने रक्त का जोर मापने का एक यंत्र निकाला। सन् १८७८ तक में इस यंत्र में बहुत संशोधन हुआ है; परंतु अब तक भी नाड़ी की गति से रोग-परीक्षा करने का ज्ञान पश्चिमी पंडितों को नहीं हुआ है। हमारे शास्त्रों में कहा गया है—"केदारेषु यथा कुल्याः पुष्यन्ति विविधौषधीः। तथा कलेवरे धातून् सर्वान् वर्धयते रसः॥ अर्थात् जैसे खेत की नालियों द्वारा भिन्न-भिन्न क्यारियों में जल पहुँच कर खेती का पोषण करता है, वैसे ही सिराओं द्वारा रस शरीर में फैलकर धातुवर्धन करता है।" कणाद ने इन सूक्ष्म सछिद्र सिराओं की संख्या सात सौ बतलाई है। रक्तवाहिनी नाड़ियों की संख्या योगशास्त्र में साढ़े तीन करोड़ कही गई है। इतने ही रोम-कूप भी हैं—"तिस्रः कोट्योऽर्धकोटी च यानि लोमानि मानुषे। नाडीमुखानि सर्वाणि धर्मबिन्दून्क्षरन्ति च॥" इन नाड़ियों का आरंभ मूलाधार के पास नाभिकंद से होता है और हृत्कमल होकर वे सारे शरीर में फैली हैं—"सार्द्धस्त्रिकोट्यो नाड्यो हि स्थूलाः सूक्ष्माश्च देहिनाम्। नाभिकन्दनिबद्धास्तास्तिर्यगूर्ध्वमधः स्थिताः॥" इस प्रकार अशुद्ध रक्त हृदय में आकर शुद्ध होता और फुफ्फुस में छन कर नाड़ियों द्वारा शरीर में पहुँचता है। जिन जिन स्थानों में नाड़ी की ध्वनि विशेष स्पष्ट होती है, वहीं नाड़ी-परीक्षा की जाती है।

नाड़ी-परीक्षा और उसके स्थान—रक्त-संवहन के समय हृदय के संकोचन और विकोचन के कारण जो धमन और स्पंदन होता है, उस पर हाथ की अँगुलियाँ रखकर उसकी गति जानने को नाड़ी-परीक्षा कहते हैं। रक्त-वाहिनी नाड़ियाँ प्रसरणशील और स्थिति-स्थापक धर्मवाली हैं। इससे उन पर अँगुली रख कर दबाने से स्फुरण स्पष्ट समझा जाता है। पश्चिमी डाक्टरों ने नाड़ी की गति देखने के लिये 'स्फिग्मोग्राफ' यंत्र बनाया है। परंतु एक की हस्तेंद्रिय पर दूसरे के हाथ के स्पर्श से जितना स्पष्ट ज्ञान हो सकता है, उतना यंत्र से नहीं हो सकता। इसके सिवाय यंत्र सबके लिये सुलभ और सुप्राप्य भी नहीं हो सकता। शरीर में रक्तवाहिनी नाड़ी जहाँ जहाँ स्पष्ट स्फुटित होती है वहीं परीक्षा की जा सकती है। योगशास्त्र में ईडा, पिंगला, सुषुम्ना आदि चौदह नाड़ियाँ, उनके स्थान, उनके आश्रित दस वायु और सबके भिन्न-भिन्न कार्य, स्वरूप और देवता गिनाए हैं। किंतु वैद्यक कार्य में इन सबों की विशेष उपयोगिता नहीं। मांसहीन चर्ममय स्थान में नाड़ी स्पष्ट होती है; किंतु गहरे और मांसल स्थान में स्पष्ट नहीं रहती। इसलिये दोनों हाथ के अँगूठे के नीचे मणि-बंध (कलाई) में, दोनों पाँवों के गुल्फ-भाग में और दोनों कपाल की शंखनाड़ियाँ प्रायः देखी जाती हैं—"अंगुष्ठमूले करयोः पादयोर्गुल्फदेशतः। कपालपार्श्वयोः षड्भ्यो नाडिभ्यो व्याधिनिर्णयः॥" कोई-

कोई कंठनाड़ी, नासानाड़ी, नेत्रनाड़ी, कर्णनाड़ी, जिह्वानाड़ी, और मेढ्र (लिंगेंद्रिय) नाड़ी को भी आवश्यक बताकर—दाहिने-बायें भेद से—सोलह नाड़ी-स्थान आवश्यक मानते हैं। किंतु सबमें प्रधान—जीवसाक्षिणी—नाड़ी हाथ की कलाई के पास की हो मानी गई है—"अंगुष्ठस्य तु मूले या सा नाडी जीवसाक्षिणी। तस्या गतिवशाद्विद्यात्सुखदुःखंच रोगिणाम्॥"

नाड़ी-परीक्षा-विधि—वैद्य लोग पुरुषों के दाहने हाथ, दाहने पाँव और दाहने शंख को—तथा स्त्रियों के बायें हाथ, बायें पाँव तथा बायें शंख को—नाड़ी देखा करते हैं; क्योंकि नाड़ी का उद्गम नाभिकूप से होता है। योगियों का कथन है कि नाभि-चक्र के बीच सुषुम्ना स्थित है और उसके आसपास अन्य नाड़ियाँ हैं जिनका घिराव कछुए के समान तथा टेढ़ा होता है। उसका मुँह बाईं ओर और पुच्छ दाहिनी ओर होती है। ऊपर की ओर बायाँ हाथ और पैर, तथा नीचे की ओर दाहना हाथ-पैर, रहता है। उसके मुख की ओर दो, पूँछ की ओर भी दो, और हाथ-पाँव की ओर पाँच-पाँच नाड़ियाँ निकली रहती हैं। यह कूर्मचक्र पुरुषों के शरीर में अधोमुख और स्त्रियों के शरीर में ऊर्ध्व-मुख रहता है। इसी से स्त्रियों की नाड़ी पुरुषों के विपरीत देखी जाती है। सूर्य की किरणें जैसे सूर्यमंडल से निकल कर संसार भर में फैलती हैं, वैसे ही नाभिचक्र Solar Plexus or Lumber Vertibric से नाड़ियाँ निकल कर शरीर में फैली हैं। पाश्चात्य विद्वान् नाभि में नाड़ीचक्र न मान कर मस्तिष्क में मानते हैं। परंतु हमारे यहाँ नाभि को कंदमूल मान कर मस्तिष्क को नाड़ियों का सहस्रदल-कमल माना है। शरीर की बनावट के समय भी नाभि से ही नाड़ियों का आरंभ होता है, मस्तिष्क की परिणति बाद में होती है। जो हो, आज-कल का शिष्ट संप्रदाय दोनों हाथ की नाड़ियों का तारतम्य देखकर रोग निश्चित करना उचित समझता है। नाड़ी देखने के लिये उत्कृष्ट समय सबेरे का है; क्योंकि उस समय शरीर और मन, रात के विश्राम के कारण, स्थिर और शांत रहते हैं। वैद्य और रोगी दोनों, सबेरे की शौच-क्रिया से निवृत्त होकर, बराबर आसन में स्थिर हो, मन को एकाग्र कर बैठें। वैद्य, प्रसन्नचित्त हो, ध्यान देकर रोगी के दाहने हाथ को अपने दाहने हाथ में ले; बायें हाथ से अँगुलियों के अग्र भाग को पकड़े; रोगी के हाथ को कुछ ढीला और झुका हुआ रक्खे; कलाई के पिछले भाग से अपनी अँगुलियों को ले जाकर, अँगूठे की जड़ से एक अंगुल जगह छोड़, अँगूठे की सीधवाली नाड़ी देखे। जिसने तत्काल स्नान किया हो, भोजन अथवा मलमूत्र-त्याग किया हो; जो भूखा, प्यासा, गर्मी से घबराया हुआ, रास्ता चला हुआ और व्यायाम करके अथवा तेल लगा कर आया हो अथवा मैथुन करके आया हो उस मनुष्य की नाड़ी शुद्ध नहीं रहती। अतएव ऐसे समय में कुछ देर ठहर कर नाड़ी देखनी चाहिए। वैद्य, अपनी तीन अँगुलियों से नाड़ी को जरा दबा कर, नाड़ी की तीस ठोकरें तक देखे; फिर छोड़ कर उसी तरह देखे; पुनः तीसरी बार भी उसी प्रकार देखे। तब उसके तारतम्य का विचार कर रोग-निर्णय करे।

नाड़ी-परीक्षा का महत्त्व—वैद्य के लिये नाड़ी-परीक्षा-विधि जानना नितांत अत्यावश्यक है। जो वैद्य देश, काल और पात्र का विचार कर रोगी के अंतर्बाह्य परिवर्त्तनों का—नाड़ी और

निदान-द्वारा—ज्ञान प्राप्त करता है; वही चिकित्सा-कर्म में सफल होता है। जो वैद्य नाड़ी द्वारा रोगी की वास्तविक अवस्था जानता और उचित चिकित्सा करता है, वही शास्त्रों में वैद्यराज कहा गया है—

"बोधहीनं यथा शास्त्रं, भोजनं लवणं विना। पतिहीना यथा नारी, तथा नाडीं विना भिषक्॥
नाडीज्ञानं विना यो वै चिकित्सां कुरुते भिषक्। स नैव लभते लक्ष्मीं न च धर्मं न वै यशः॥
नाडीज्ञानं विना वैद्यो न लोके पूज्यतां व्रजेत्। अतश्चातिप्रयत्नेन शिक्षयेद् बुद्धिमान्नरः॥"-

कहा गया है कि यह नाड़ी-ज्ञान सद्‌गुरु की कृपा से, नित्य के अभ्यास से, देवताओं के प्रसन्न होने से और पूर्वजन्म के पुण्य से ही प्राप्त होता है; केवल अपने-आप पढ़ने से नहीं। योगाभ्यास और नाड़ी-ज्ञान के अभ्यास की समानता बतलाई गई है।

त्रिदोषज्ञान—आयुर्वेद की इमारत त्रिदोष के पायों पर खड़ी है। इसे समझे बिना न आयुर्वेद का मर्म ही समझ में आ सकता और न नाड़ी-ज्ञान ही हो सकता; क्योंकि रोगी के हाथ पर अपने हाथ की तीन अँगुलियाँ रख कर पहले जो समझा जाता है वह दोषों का तारतम्य ही है। वात-पित्त-कफ में से कौन दोष प्रबल, कौन मध्यम अथवा अनुगामी, और कौन क्षीण है—यह समझने के बाद ही वैद्य रोग का अनुमान करता है। त्रिदोष पर बहुत वाद-विवाद और शास्त्र हैं। किंतु संक्षेप में समझना चाहिए कि तीन शक्तियाँ ही काम करती हैं—(१) वायु की शक्ति अथवा गतिकारक, प्रेरकशक्ति; (२) सूर्य अथवा अग्निशक्ति, अर्थात् ऊष्मा के उत्पादन और स्थापन-द्वारा क्रियाशीलता की शक्ति; (३) चंद्रशक्ति, अथवा सोमशक्ति,—अर्थात् स्निग्धता, शीत और शांति द्वारा स्थिरतास्थापकशक्ति। इन शक्तियों को ही आप वात-पित्त-कफ के रूप में समझ लें। ये शक्तियाँ जैसे संसार का परिचालन करती हैं वैसे ही—'दोषधातुमला मूलं सदा देहस्य' के अनुसार—शरीर का भी संचालन और संरक्षण करती हैं। 'शुद्ध वायु', उत्साह, श्वासोच्छ्वास, शारीरिक एवं वाचिक तथा मानसिक क्रिया-संपादन, मलमूत्रादि की प्रवृत्ति, धातुओं का गमनागमन और इंद्रियों की निर्मलता रख कर जीवन-व्यापार चलाता है। 'शुद्ध पित्त'—अन्नपाचन, उष्णता, दृष्टिशक्ति, क्षुधा, पिपासा, रुचि, कांति, धारणा, बुद्धि, शूरता और शारीरिक मृदुता उत्पन्न कर जीवन-व्यापार में सहायता करता है। 'शुद्ध कफ'—शरीर की दृढ़ता, स्निग्धता, संधिबंधन एवं शांति संपादन कर शारीरिक-व्यापार-परिचालन में सहायक होता है। इसी तरह, शास्त्र में, विकृत (बढ़े हुए) तथा क्षीण, वात-पित्त-कफ के लक्षण कहे गए हैं। नाड़ी-द्वारा वैद्य उनका अनुमान कर रोग-निदान करता है। शास्त्र में कहा गया है कि नाड़ी में, अँगूठे के नीचेवाली पहली अँगुली में, वायु का स्पंदन होता है; मध्य अँगुली में पित्त का स्पंदन और अंत की अँगुली में कफ का ज्ञान होता है। 'वायु' गतिमान होने के कारण, रक्तसंचालन में अपनी क्रिया आगे रखता है; इसी से नाड़ी दबाने पर वह आगे (पहले) अपना अनुभव कराता है। 'पित्त' सरकनेवाला है, इसलिये वायु के बाद दूसरी अँगुली में उसका ज्ञान होता है। 'कफ' मंदगामी और स्थिरता रखनेवाला है, इसलिये अंत की अँगुली में उसका बोध होता है। आरोग्यावस्था में नाड़ी केचुए के समान, साफ, बलयुक्त और स्थिर चलती है। किंतु विकार होने पर वायु की नाड़ी तिरछी—साँप की-सी चालवाली, कुटिलतायुक्त चलती है। पित्त की नाड़ी मेढ़क, कौवा और बटेर के समान कूदती हुई-सी, अँगुली पर

उठती-सी मालूम पड़ती है। कफ की नाड़ी हंस, मोर और कबूतर की तरह धीरे धीरे चलती है। जब दोष अकेले न होकर दो के मेलवाले होते हैं तब नाड़ी की चाल में भी अंतर पड़ जाता है। वायु और कफ के कोप से नाड़ी की चाल कभी टेढ़ी सर्पगति और कभी मंद हंसगति तथा मध्यमा और अनामिका के बीच प्रकट होती है। पित्त और कफ के प्रकोप से नाड़ी कभी उष्ण दादुर-गति और कभी ठंढी कपोत-गति तथा अनामिका और तर्जनी के बीच प्रकट होती है। वायु और पित्त की नाड़ी कभी टेढ़ी, कभी तेज, और तर्जनी तथा मध्यमा के बीच में प्रकट होती है। किंतु जब तीनों दोष प्रकुपित होते हैं तब सान्निपातिक नाड़ी कहलाती है। उसमें क्रम से तीनो गतियों का आभास मिलता है। उसकी गति अनिश्चित रहती है। जब नाड़ी ठंढी, मंद, कभी तेज और कभी धीमी, व्याकुल-सी, कभी चलती-चलती रुकती-सी हो तब वह असाध्य होती है। जो नाड़ी मंद होती हुई भी अपना स्थान नहीं छोड़ती और गंभीरता-पूर्वक बलवती चलती है वह रोगी के नीरोग हो जाने की सूचना देती है।

नाड़ी की गति—नाड़ी की चाल के संबंध में पूर्वी और पश्चिमी विद्वानों के अनुभव प्रायः समान हैं। गर्भस्थ बालक की नाड़ी एक मिनट में डेढ़ सौ ठोकरें देती है। बालक के पैदा होने पर एक मिनट में एक सौ चालीस, पहले वर्ष में एक सौ पन्द्रह से एक सौ छत्तीस तक, दूसरे वर्ष में चौरासी से एक सौ तीस तक, तीसरे वर्ष में नब्बे से सौ तक, चौथे से सातवें वर्ष तक पचासी से नब्बे तक, सातवें से चौदहवें वर्ष तक अस्सी से पचासी तक, चौदहवें से पचासवें वर्ष तक सत्तर से पचहत्तर तक, और पचासवें वर्ष के बाद नाड़ी चौवन से पचहत्तर बार एक मिनट में ठोकर देती है। अस्सी वर्ष के ऊपर तिरसठ से अठानबे तक नाड़ी की ठोकर होती है।

नाड़ी से क्या क्या बोध होता है?—"यथा वीणागता तन्त्री सर्वान् रागान् प्रभाषते। तथा हस्तगता नाडी सर्वान् रोगान् प्रकाशते ॥"—तात्पर्य यह कि जैसे सितार के तार सभी राग-रागनियों को निकालते हैं और जानकार लोग उन्हें जानते हैं वैसे ही नाड़ी-द्वारा काम, क्रोध, लोभ, उत्साह, अनुत्साह आदि मानसिक भावों का तथा प्रत्येक शारीरिक रोग के भेद का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। इतना ही नहीं, रोगी ने कठिन, कोमल, तरल, मधुर, लवण, तिक्त आदि कैसे द्रव्य खाए हैं—यह भी नाड़ी द्वारा समझा जा सकता है। इन सबके जानने के संकेत हमारे शास्त्र में वर्णित हैं। नाड़ी-ज्ञान के सूक्ष्माभ्यासी तो यह भी बता सकते हैं कि नाड़ी की कैसी गति होने से रोग साध्य और कैसी होने से असाध्य होता है—रोगी तुरंत मरेगा, या एक-दो पहर में, या एक दो दिन में, या चार दिन या सात या पन्द्रह दिन में, या कितने समय में। एक एक दोष-स्थान पर कौन नाड़ी कितनी ठोकरें दे तो किस दोष की प्रधानता-अप्रधानता होती है, यह सब जाना जा सकता है। वैद्य जब समझ लेता है कि अब रोगी नहीं बचेगा तब उसके कुटुंबियों को पारलौकिक क्रिया करने का संकेत कर देता है। पंडितराज रावण कहता है—

मृत्यून्मुखां धरां ज्ञात्वा न चिकित्सेद् गदातुरम्। **रामनामौषधं** तत्र कारयेत्पारलौकिकम् ॥

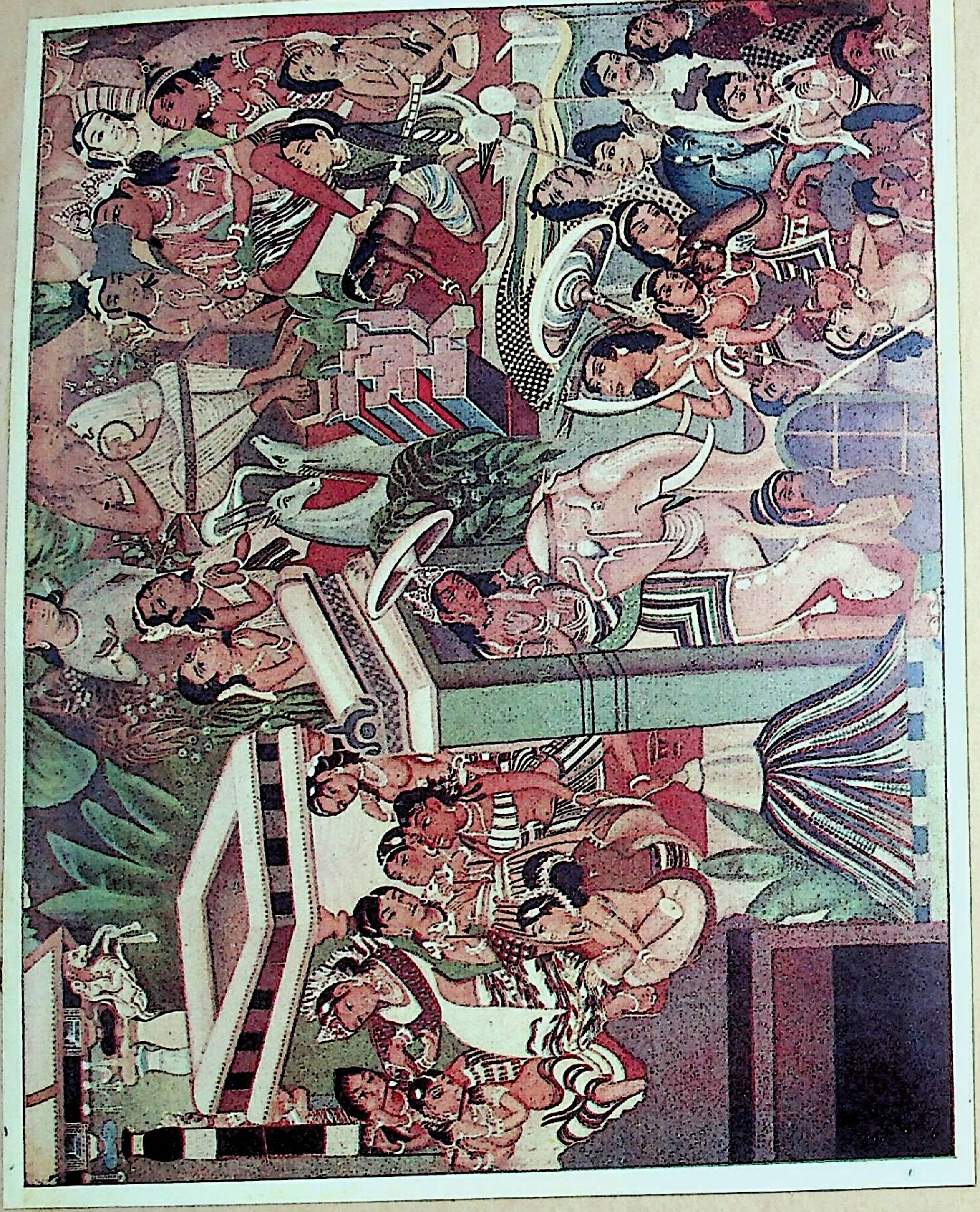

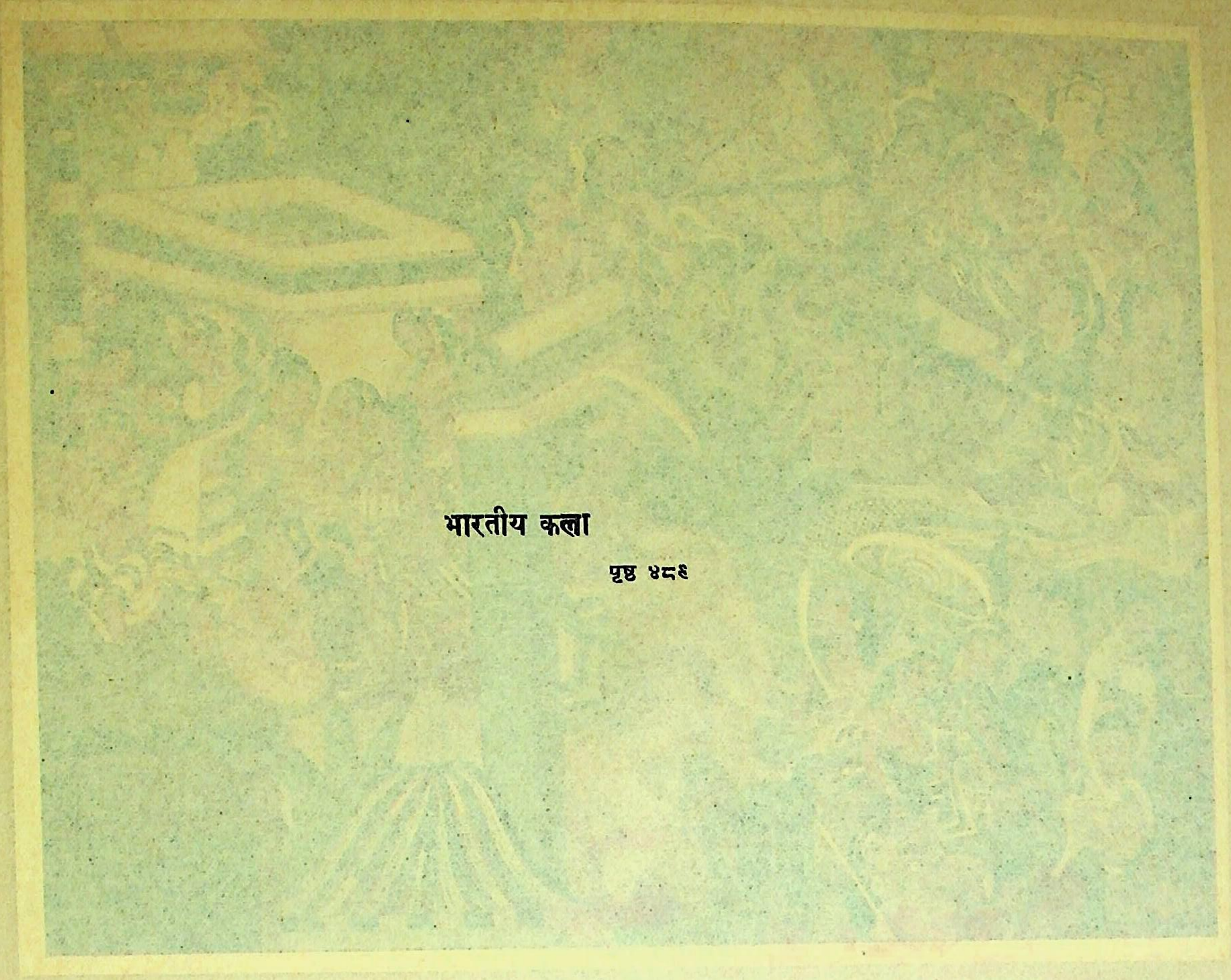

भारतीय कला

पृष्ठ ४८६

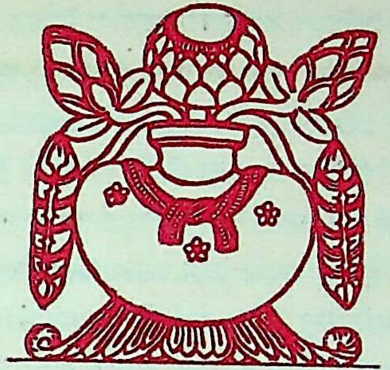

भारतीय कला

श्रीगोपाल नेवटिया

भारत के कभी ऐसे भी दिन थे जब वह सांसारिक चिंताओं से मुक्त था। उन्हीं दिनों यहाँ ऐसे अनेक हृदय थे जिनमें सरसता छलकती रहती थी। उनसे जो रस छलका उसका आस्वादन आज भी हम लोग कर रहे हैं। समय-समय पर वह सरसता अनेक रूपों में प्रकट हुई है—कवि की कविता में, चित्रकार के चित्रों में, मूर्त्तिकार की मूर्त्तियों में, शिल्पियों के निर्माण-कौशल में। बौद्ध-कालीन सम्राटों का आश्रय पाकर अनेक कलाविदों ने चित्र, प्रतिमा, चैत्य, मंदिर, स्तूप, प्रासाद आदि के रूप में ऐसी सुंदर कला को जन्म दिया जो आज भी आकर्षण का केंद्र हो रही है। मुगल-सम्राट् शाहजहाँ का वह शरच्चंद्रिकाचर्चित स्फटिकोज्वल 'ताज' आज भी संसार के कोने-कोने से कला-प्रेमी यात्रियों को अपनी ओर आकृष्ट करता है। अजंता की कला-मंडित गुफाएँ आज भी इतिहासवेत्ताओं के नेत्रों को विस्फारित और ललाट को कुंचित करती हैं।

कला और आनंद का घनिष्ठ संबंध है। कला आनंदोद्वेलित हृदय से जन्म पाती है, इसी लिये उसका एकांत उद्देश्य होता है दूसरों को आनंदित करना। किसी सुंदर प्रतिमा के सुविशाल नेत्र, मंदस्मित-विकसित अधर, उन्नत उरोज, प्रफुल्ल कपोल, क्षीण कटि, सुघटित अलंकार और कमनीय कलेवर यदि दर्शक को आनंदित न कर सके तो मूर्त्तिकार का प्रयत्न निष्फल समझना चाहिए। कलाकार की असफलता—और शोचनीय असफलता—एक दूसरे परिणाम से भी समझी जानी चाहिए। उसकी कला से यदि मन में विकार उत्पन्न हो तो समझना चाहिए कि उसने कला के साथ अत्याचार किया है। अपने हृदय के सौंदर्य और आनंदोल्लास को दूसरों के सामने प्रकट करने के लिए कलाकार के पास रमणी-सौंदर्य एक बहुत ही प्रिय साधन सदा से रहा है। उस सौंदर्य की अभिव्यक्ति यदि वासनाओं से दूषित हो तो वह 'कला' नहीं। यद्यपि कला का एकांत उद्देश्य आनंद प्रदान करना ही है तथापि उस आनंद के परिणाम पर ही कला की सफलता अथवा असफलता अवलंबित है। वास्तविक

कलाकार को तो अपना लक्ष्य आनंद-वितरण ही रखना चाहिए। भारतीय कलाकारों को यह विशेषता उनकी अपनी वस्तु है। और, इसी विशेषता में उनकी सफलता निहित है।

दुर्भाग्यवश बौद्ध काल से पहले की भारतीय कला के अवशेष विशेष उपलब्ध नहीं हैं। जो थोड़े-बहुत उपलब्ध हैं उनसे, और प्राचीन ग्रंथों के विशिष्ट वर्णनों से भी, भारतीय कला का अद्भुत गौरव प्रकट होता है। वैदिक और पौराणिक काल की तो बात ही क्या, बौद्ध-काल में भी भारत सुखी और संपन्न था; सभी आनंदित थे। वह आनंद तत्कालीन कला में प्रतिबिंबित है। साथ ही, भारतीय कलाकारों की एक विशेषता यह भी है कि उनकी कला इस जगत् और प्रकृति, तथा जगत् एवं प्रकृति के निर्माता को परस्पर संबद्ध करनेवाली वस्तु प्रतीत होती है। कलाकार का उद्देश्य यदि केवल उपदेश देना हो तो कलाविदों के मतानुसार उसका परिश्रम असफल समझा जाना चाहिए। पर भारतीय कलाकारों को तो अपनी कला की सिद्धि के लिए ऐसा साधन प्राप्त था कि आनंदोपलब्धि का उद्देश्य अनायास सिद्ध हो गया। उनका वह साधन आध्यात्मिक ज्ञान था, जो भारत की निजी संपत्ति है। उसी से प्रेरित होकर उन्होंने निर्जीव पत्थरों को सजीव बनाया, पर्वतों से सौंदर्य की खान निकाली, भारत वसुंधरा को शिल्प-शृंगार से अलंकृत किया।

बौद्ध-कालीन कला से सुशोभित अजंता की सुप्रसिद्ध गुफाओं के संबंध में एक दंतकथा प्रचलित है—"एक बार देवी-देवताओं ने स्वर्ग से ऊबकर पृथ्वी पर आने का विचार किया। स्वीकृति के लिए प्रस्ताव इंद्र के संमुख उपस्थित किया गया। इंद्र ने स्वर्ग से बाहर रहने के लिए केवल एक रात का अवकाश दिया। देवताओं को आदेश दिया कि अरुणशिखा की प्रथम ध्वनि के पूर्व ही लौट आवें। देवता हर्ष से फूले न समाए। वे अजंता की पहाड़ियों पर उतरे। वहीं आनंदोत्सव मनाया जाने लगा। भारत के प्राकृतिक सौंदर्य से वे इतने मोहित हुए कि उन्हें निर्धारित समय पर वापस जाने का ध्यान ही न रहा। बस, इंद्र के शाप से सब देवी-देवता चित्र-रूप होकर सदा के लिए अजंता की पहाड़ियों पर रह गए!" इस दंतकथा के गढ़नेवाले ने भारत के प्राकृतिक सौंदर्य से मुग्ध होकर स्वर्ग के भूल जाने की बात खूब कही है। साथ ही, इंद्र के शाप से देवी-देवताओं के चित्रवत् हो जाने की बात कहकर अजंता की गुफाओं में दिखाए गए भारतीय कलाकारों के शिल्पनैपुण्य का चरमोत्कर्ष भी प्रकट किया है।

कला-द्वारा कलाकार से सांनिध्य स्थापित करने की बात से भारत भली भाँति परिचित था। उस 'अज्ञात कलाकार' की कला—प्रकृति—द्वारा 'उससे' संबंध स्थापित करने की बात भारत खूब जानता था। भारतीय कलाकारों की उस कला का मूक उद्देश्य भी तो वही संबंध स्थापित करना था। वे कलाकार अपनी कला के प्रदर्शन के लिए ऐसा स्थल क्यों न चुनते जहाँ का प्रत्येक कण उस संबंध को सजीव बना रहा हो? प्राकृतिक दृश्य से परिपूरित प्रदेश में सुंदरतर कला का जन्म स्वाभाविक हो जाता है। प्रकृति के स्वरूप के ज्ञान से ही कला को उत्तेजन मिलता है। स्वरूप और सौंदर्य के लिए कला सदैव प्रकृति की ऋणी है। बाह्य सौंदर्य ही आंतरिक सौंदर्य को विकसित करता है। प्राकृतिक सौंदर्य से हमारे कलाकारों ने जो उत्साह, जो आनंद प्राप्त किया वह उनकी कला में वर्त्तमान है। अजंता की

पहाड़ियों पर आकर देवी-देवताओं के स्वर्ग को भुला देने की दंतकथा में वहाँ के अनुपम प्राकृतिक सौंदर्य की बात कितने सुंदर ढंग से कही गई है! उस 'सर्वश्रेष्ठ कलाकार' की कला के अंक में अपनी कला का चमत्कार प्रदर्शित करने की इच्छा स्वाभाविक ही है। एक सुंदर गायक के साथ गुनगुनाने का किसका जी नहीं चाहता? विश्वस्रष्टा ने मनोमुग्धकारिणी प्रकृति को अतुलनीय शोभासंपत्ति प्रदान की है। जिस हृदय में उस सौंदर्य को देखने के लिए प्रसन्न नेत्र हों और फिर उसे व्यक्त करने के लिए वाणी, तूलिका अथवा अन्य साधन भी हों, वही कलाकार है। वह किसी नव-रसाल के कोमल किसलय, किसी फूल के अद्भुत रंग, किसी निर्झर के प्रखर प्रवाह और वन्य-प्रदेश की रमणीयता से मोहित होकर अलौकिक सौंदर्य की कल्पना करता है। इसी कल्पना के सहारे वह अपनी कला का प्रदर्शन करता है। यदि उसकी वाणी में वैभव है तो श्रुतिमधुर स्वर-लहरियों के द्वारा, यदि उसकी तूलिका में चमत्कार और कौशल है तो नयनाभिराम चित्रों के द्वारा, यदि उसके औजारों में प्राण है तो प्रस्तर-प्रतिमा के द्वारा वह अपनी अनुभूति को दूसरे हृदयों तक पहुँचाता है। जहाँ प्रकृति षोडश शृंगार से विद्यमान है वहाँ उसके सौंदर्य का अनुकरण करने के लिए कलाकार का हृदय अनायास उत्साहित होता है। वाद्य यंत्र के एक मोटे तार के हिलने से दूसरे छोटे पतले तार भी झंकृत होने लगते हैं। भारत के प्राचीन कलाकार प्राकृतिक सौंदर्य की बाहरी रूप-रेखाओं को देखकर उसी का अनुकरण नहीं करते थे, वे तो उस सौंदर्य की आत्मा का साक्षात्कार प्राप्त करते थे और उसी आंतरिक सौंदर्य को अपनी कला में अभिव्यक्त करते थे। वे नैसर्गिक सौंदर्य को इन चर्मचक्षुओं से नहीं, हिये की आँखों से देखते थे और उसकी अभिव्यक्ति भी हार्दिक उल्लास से ही करते थे। यही कारण है कि आज अनेक शताब्दियों के बाद भी उनकी कला जीवित है।

भारत की सभ्यता और संस्कृति प्राचीन काल से धर्मप्रधान रही है। उसका प्रत्येक कार्य धर्म से संबद्ध रहा है। भारतीय कला पर भी धार्मिकता की छाप है, और वह छाप उस कला को सजीव बनानेवाली है। यद्यपि आनंद-वितरण के लिये कला का जन्म होता है, तथापि किसी व्यक्ति-विशेष को आनंदित करने के लिये उपस्थित की गई कला का क्षेत्र सीमित और जीवन अल्प होता है। पर भारत की प्राचीन कला किसी व्यक्ति विशेष के निमित्त नहीं थी। भारतीय कलाकारों को धार्मिक भावना ने उस कला को 'स्वांतःसुखाय' और अपने आराध्य देव के प्रीत्यर्थ जन्म दिया था, इसी कारण वह कला अमर है। यदि भारतीय कलाकारों की कला नारी के सौंदर्य में प्रकट हुई है तो वह नारी मानवी नहीं, किंतु देवी है, पार्वती है, लक्ष्मी है, शक्ति है, जगदंबा है, बुद्ध-जननी है; अथवा है स्वर्गीय अप्सरा। पुनः वही कला यदि पुरुष के रूप में प्रकट हुई है तो वह पुरुष मानव नहीं, किंतु देवता है, विष्णु है, राम है, कृष्ण है, शिव है, इंद्र है, बुद्ध है। इसी प्रकार उन कलाकारों के लता-वृक्षादि भी अलौकिक हैं, कल्पतरु हैं, बोधिवृक्ष हैं। भारतीय कला की महत्ता एवं सफलता का रहस्य इसी में निहित है।

निरक्ष देश

ज्योतिषाचार्य सूर्यनारायण व्यास, विद्यारत्न

'निरक्ष देश' उस स्थान का नाम है जहाँ अक्षांश न हो[1]। दक्षिण और उत्तर ध्रुव जिस भूमि से समतल पर दिखलाई दें वहाँ अक्षांश नहीं हो सकते[2]। अतएव निरक्ष देश का निवासी दक्षिणोत्तर ध्रुवों को जमीन से लगा हुआ देख सकता है[3]। 'वसिष्ठसिद्धांत'-कर्त्ता लिखते हैं—"व्यक्षदेशस्थितैर्मर्त्यैर्ध्रुवतारे समीक्षिते, वामदेशोभये साक्षात्सौम्ययाम्ये ध्रुवाश्रिते, अतो लंकाख्यदेशे च नाक्षांशा न पलप्रभः।"—अर्थात् व्यक्षदेश (अक्षांश-रहित) देश में रहनेवाले को ध्रुवतारे (दोनों) दिखलाई देते हैं। यही कारण है कि 'लंका' में अक्षांश और पलभा दोनों नहीं होते।

उत्तर मेरु के मध्य स्थान से ठीक समानांतर पर समुद्रीय उत्तर तटों पर, जंबूद्वीप की चारों दिशा के छोर में, भूगोल-कल्पित पूर्वादि दिशाओं में, चार नगरी हैं। उत्तर मेरु से भू-परिधि के चतुर्थांश (नब्बे अंश) की दूरी पर, पूर्व-भद्राश्व वर्ष में, 'यमकोटी' है[4]। दक्षिण में भारतवर्ष में 'लंका' है, और पश्चिमस्थ केतु मालवर्ष में 'रोमक' नगर है, और उत्तरस्थ कुरुवर्ष में 'सिद्धपुरी' है। इन चारों स्थानों में भूपरिधि के चतुर्थांश (नब्बे-नब्बे अंश) का अंतर है। उक्त नगरों के मध्य आकाश और ध्रुव में नब्बे अंश का अंतर होने के कारण 'ध्रुव' क्षितिज में लगा हुआ दिखलाई पड़ता है। इसलिये ध्रुव में कोई ऊँचाई नहीं होती, और उसी ऊँचाई का नाम अक्षांश है।[5] यही कारण है कि इन नगरों में अक्षांश नहीं होते, अतः ये निरक्ष देश हैं।

[1] 'यन्त्रोन्नतिध्रुवेऽक्षांशा'—भास्कराचार्य।

[2] 'निरक्षदेशात्क्षितिमण्डलोपगौ ध्रुवौ नरः पश्यति दक्षिणोत्तरौ'—भास्करः।

[3] 'क्षितिलग्ने ध्रुवतारे पश्यति पुरुषो निरक्षदेशस्थः'—भास्करः। 'मेरोरुभयतो मध्ये ध्रुवतारे नभःस्थिते, निरक्षदेशसंस्थानामुभये क्षितिजाश्रये,—अतोनाक्षोच्छ्रितिस्तासु ध्रुवयोः क्षितिजस्थयोः''—सूर्यसिद्धांत, श्लोक ४३-४४

[4] श्री शिवप्रसाद गुप्त जी ने अपने 'पृथ्वी-प्रदक्षिणा' नामक बृहत् ग्रंथ में जापान के वर्तमान नगर 'यामातो' को 'यमकोटी' बतलाया है; परंतु यह ठीक नहीं है।

[5] "यन्त्रोन्नतिध्रुवेऽक्षांशाः"—भास्कराचार्यः।

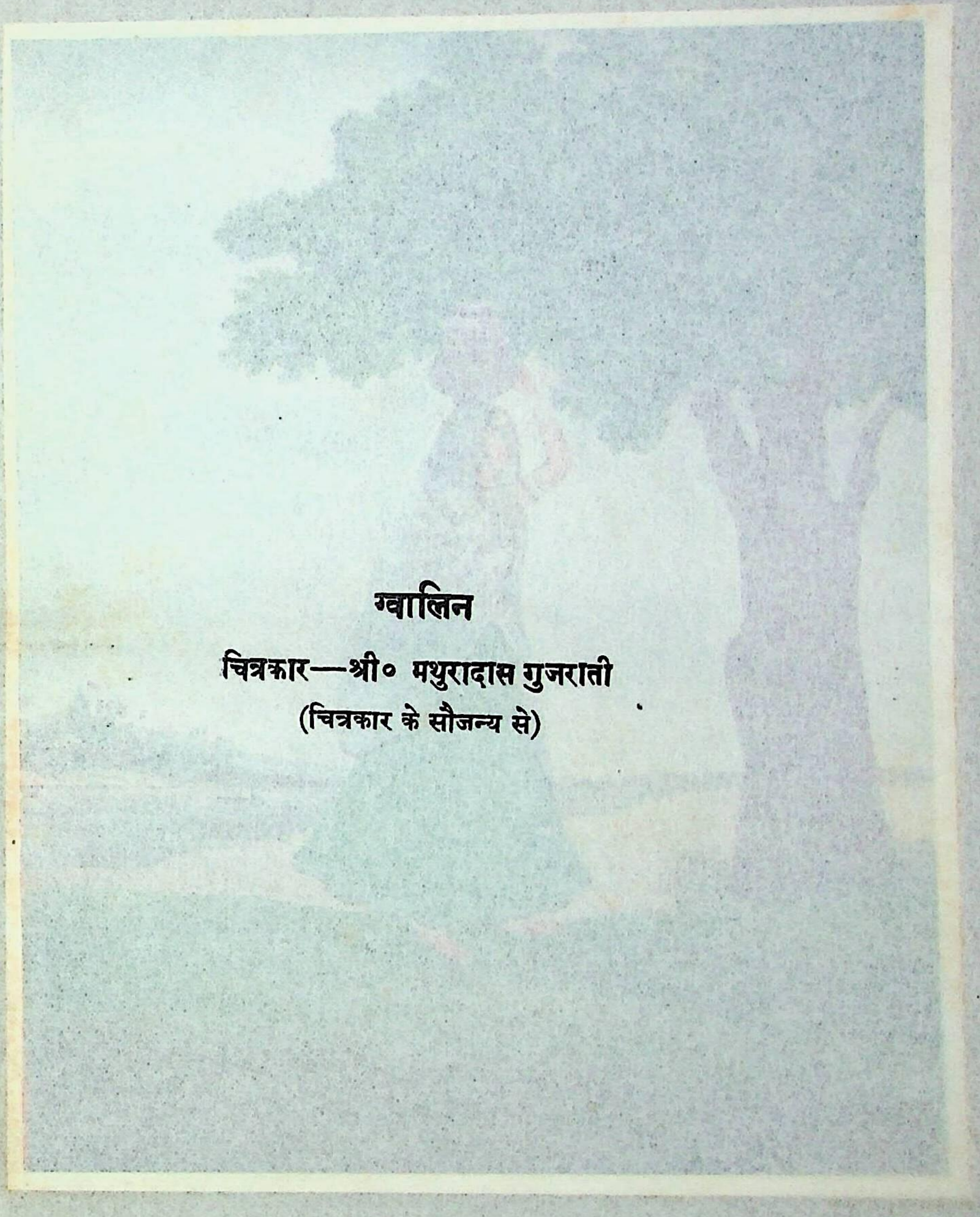

ग्वालिन

चित्रकार—श्री० मथुरादास गुजराती

(चित्रकार के सौजन्य से)

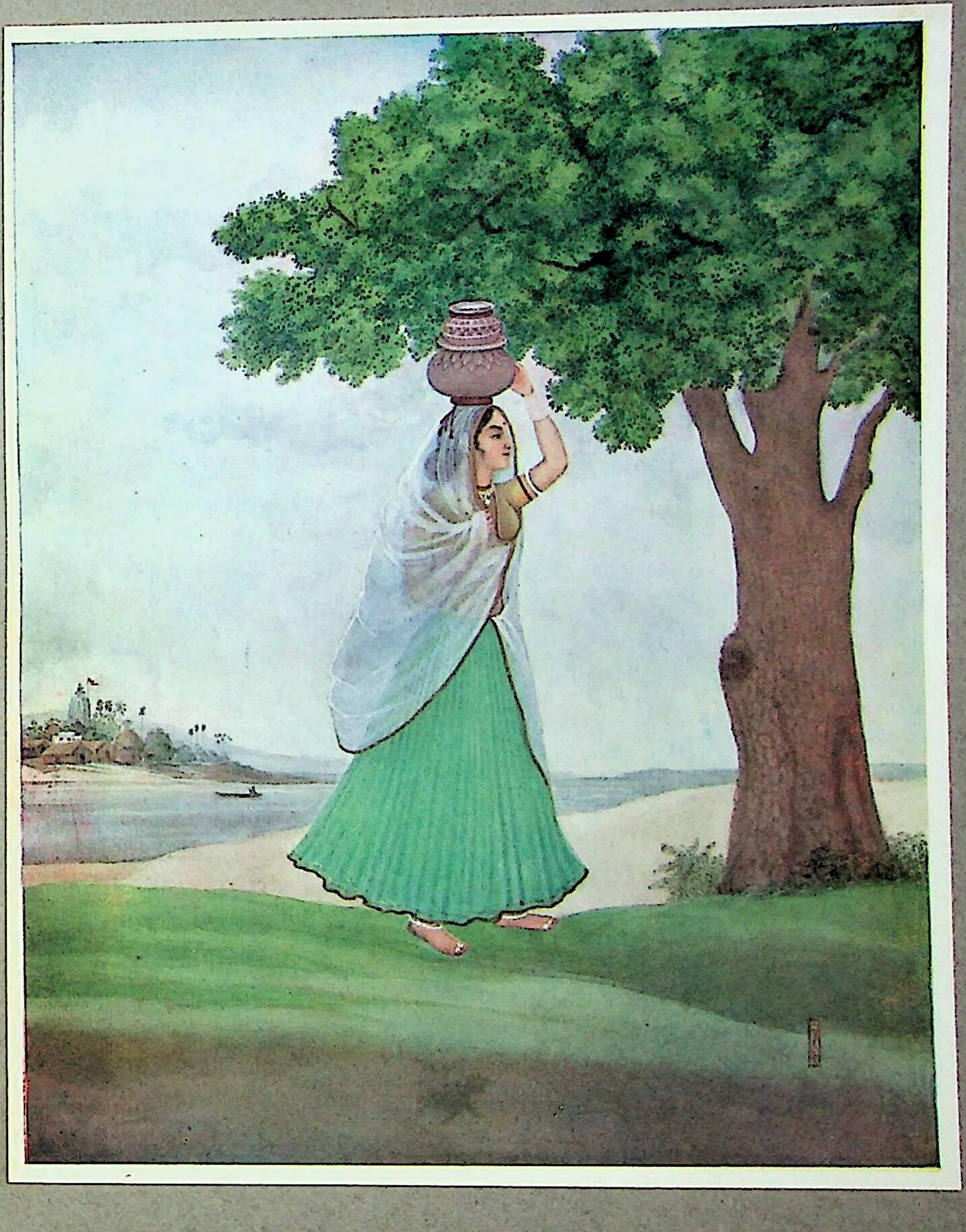

प्राच्य और पाश्चात्य सभी विद्वान् मानते हैं कि दिन-रात की जो घट-बढ़ हुआ करती है वह अक्षांशवाले प्रदेश में ही होती है; क्योंकि ध्रुव की ऊँचाई-निचाई ही 'अक्षांश' है, अतः जहाँ जितने अक्षांश हैं वहाँ दिन-रात्रि की उतनी ही घट-बढ़ होती रहेगी। जहाँ अक्षांश ही न हो, वहाँ दिन-रात्रि के घटने बढ़ने का सवाल ही क्यों उठेगा? जिस भू-भाग पर अक्षांश न होंगे—अर्थात् ध्रुवद्वय सम-भूमि पर दिखाई देंगे—वहाँ दिन-रात सर्वदा समान होंगे, न्यूनाधिक होने की संभावना कदापि नहीं है। आज स्कूल के लड़के भी इस बात को जानते हैं कि निरक्ष वृत्त पर बारहो मास दिन-रात बराबर होते हैं। भास्कराचार्य का कथन है—"सदा समत्वं द्युनिशोर्निरक्षे—निरक्ष देश में दिन-रात सदा समान होते हैं।" 'सूर्यसिद्धात' में भी लिखा है—"सव्यं भ्रमति देवानामपसव्यं सुरद्विषाम्। उपरिष्टाद् भगोलोयं व्यक्षेपश्चान्मुखः सदा। अतस्तत्र दिनं त्रिंशन्नाडीकं शर्वरी तथा॥"—अर्थात् भगोल को देवता लोग दक्षिणादि क्रम से और असुर लोग उत्तरादि क्रम से घूमता हुआ देखते हैं; किंतु वस्तुतः निरक्ष देश-वासियों के मस्तक के ऊपर से यह भचक्र सदा पश्चिमाभिमुख भ्रमण करता है, इसलिये निरक्ष देश में तीस घड़ी का दिन और तीस घड़ी की रात्रि होती है।

चित्र में 'श' वह स्थान है जिससे विदित होता है कि ग्रह कितने समय तक क्षितिज के ऊपर रहता है। 'उ'-'श'-'द'-रेखा 'श'-स्थान की क्षितिज रेखा है तथा 'ध'-'श'-'धा' निरक्ष देश की क्षितिज रेखा है। 'ध' आकाशीय उत्तर ध्रुव, और 'धा' दक्षिण दिशा का ध्रुव है। 'ऊ'-'ध'-'ख'-'द'-'धा' याम्योत्तर वृत्त, और 'ख'-'श'-'का'-'ख' स्वस्तिक है। पृथ्वी की दैनिक गति के कारण ग्रह-तारा आदि जिस वृत्त पर घूमते हुए दिन में एक परिक्रमा करते दिखाई पड़ते हैं, उस वृत्त को उस ग्रह-नक्षत्र-सूर्य का अहोरात्र-वृत्त कहते हैं। यह अहोरात्र-वृत्त विषुवद्-वृत्त के समानांतर में होता है। तीन अहोरात्र-वृत्तों के व्यास 'व-वा'-'वि-वी' और 'वु-वू' रेखा से प्रकट किए गए हैं। 'वि-वी' अहोरात्र-वृत्त का व्यास विषुवद्-वृत्त से मिल जाता है। इस पर वही तारे या ग्रह चलते देख पड़ते हैं जो ठीक विषुवद्-वृत्त पर रहते हैं। सायन-विषुव-संक्रमण के दिन सूर्य भी इसी अहोरात्र-वृत्त पर चलता हुआ दिखाई पड़ता है। यदि किसी ग्रह की उत्तर क्रांति 'व-वी' धनु के समान हो तो उस ग्रह के अहोरात्र-वृत्त का व्यास 'व-वा' होगा—इत्यादि। इस चित्र से प्रकट होता है कि 'ध-श-धा' रेखा से, जो निरक्ष देश की क्षितिज रेखा है, सभी अहोरात्र-वृत्त के व्यास दो सम भागों में कट जाते हैं। निरक्ष देश में जब तक सूर्य, तारा या ग्रह 'ध-श-धा' रेखा से ऊपर रहता है, तब तक वह देख पड़ता है या उदित रहता है, और जब तक वह इस रेखा से नीचे रहता है तब तक देख नहीं पड़ता, अर्थात् अस्त रहता है। इसी लिये निरक्ष देश में, जहाँ यह रेखा क्षितिज बनाती है, सूर्य-चंद्र-तारे सभी बारह घंटे तक उदित और एक दो घंटे तक अस्तंगत रहते हैं। इस बारह घंटे तक के समय में छः घंटे तक तो यह पूर्व क्षितिज से निकल कर ऊपर चढ़ते हुए याम्योत्तर-वृत्त पर पहुँचते हैं, और छः घंटे तक याम्योत्तर-वृत्त से नीचे उतरते हुए पश्चिम-क्षितिज में जा लगते हैं। निरक्ष देश में उत्तर या दक्षिण के स्थानों में केवल वे ही ग्रह या तारे आधे दिन तक उदित और आधे दिन तक अस्त रहते हैं। जो विषुवत्-वृत्त पर रहते हैं—अर्थात् जिसके अहोरात्र-वृत्त का व्यास 'वि-वी' से मिलता-जुड़ता है, किंतु जिस ग्रह-तारे की

क्रांति उत्तर होती है, वह उत्तर-गोल में आधे दिन से अधिक समय तक क्षितिज के ऊपर रहता है[1]। यही क्यों, भास्कराचार्य भी दिन-रात्रि-साम्य के विषय में निरक्ष देश के लिये यही कहते हैं—"सदा समत्वं द्युनिशोर्निरक्षे" और कमलाकर महाशय भी अपने 'तत्त्वविवेक-सिद्धांत' में बतलाते हैं—"सदा समत्वं द्युनिशोश्च सौम्ययाम्यध्रुवाधः स्थितयोर्निरक्षे—अर्थात् उत्तर एवं दक्षिण-ध्रुव के निरक्ष देश में सम-स्थल पर रहने के कारण दिन-रात्रि का साम्य होता है"।

उपर्युक्त विवरण से निरक्ष देश और उसकी स्थिति के विषय में बहुत कुछ स्पष्ट हो चुका है। अब हम यह बतलाना चाहते हैं कि इंदौर के विख्यात विद्वान् डाक्टर कीबे साहब (डिपुटी प्राइम मिनिस्टर, होल्कर-स्टेट) और मध्यप्रदेश के प्रसिद्ध पुरातत्त्वविद् रायबहादुर श्री हीरालाल जी बी० ए० ने जिस 'लंका' को मध्य-भारत में लाने का वाद उपस्थित कर रक्खा है, वह 'लंका' (रावणी लंका) भी निरक्ष देश ही है; क्योंकि विषुवद्दिन में सूर्य 'लंका' के ऊपर ही भ्रमण करता है[2]। इस कारण उस दिन लंका पर मध्याह्न की छाया नहीं पड़ सकती—अर्थात् 'पलभा' नहीं होती। विषुवद्दिन के मध्याह्न की छाया ही 'पलभा' होती है और उस दिन सूर्य एवं ध्रुव का अंतर भी नब्बे अंश के समान हो जाता है। अतएव लंका में अक्षांश भी नहीं होते। "लंकायां शून्यमक्षांशाः लम्बांशाः खाङ्कसंमिताः" (तत्त्वविवेक)। अर्थात् लंका में अक्षांश शून्य है। वैसे ही 'लंका' में 'चर' भी नहीं होते। उन्मण्डल और क्षितिजोदय के अंतर का नाम 'चर' है[3]। यहाँ तो उन्मण्डल पर ही निरक्ष देश—लंका—है। वृद्ध वसिष्ठ अपने सिद्धांत में लिखते हैं—"लंकावृत्तो मध्यस्थिते भुवो यत्कुजं तदुद्वृत्तम्। तेन न तत्र चरं सदा समत्वं च दिवसनिशोः। तत्राऽक्षाभावेऽपि स्व-स्वक्रान्त्या स्थितौ तिरश्चीनौ॥" इसका सारांश यही है कि लंका निरक्ष है;—अक्षांश-शून्य है, और निरक्षत्व होने के कारण दिन-रात्रि का साम्य है, इत्यादि। परंतु आज यह जगद्विख्यात दक्षिण-दिग्भागस्थ-रावण-राजधानी-निरक्ष देश 'लंका' कल्पनाओं के आधार पर मध्य प्रदेश के अक्षांश-युक्त प्रदेश 'अमरकंटक'[4] में बताई जा रही है !! सहदाश्चर्यम् !!! जिस स्थान को आकाशीय परिस्थिति के कारण अक्षांश-शून्य साधार जानकर गणित का महत्त्व-पूर्ण कार्य संपन्न किया जाता है, उसी गणित को दिन-रात्रि की घट बढ़ होनेवाले अक्षांशयुक्त स्थान से संपन्न कराने की स्थिति उत्पन्न की जा रही है ! किमाश्चर्यमतः परम् ?

[1] विज्ञानभाष्य।

[2] हम अपने 'सरस्वती', 'माधुरी' और 'त्यागभूमि' के लेखों में 'लंका' के विषय में काफी लिख कर उक्त विद्वानों से निवेदन कर चुके हैं कि उनका मत भ्रमात्मक है। उनका कहना था कि शायद भास्कराचार्य की लंका रावण की लंका से भिन्न हो ?' इसके कई प्रमाण उपस्थित कर भास्करी लंका को भी रावणी बतला चुके हैं। 'द्युदलभाविषुवद्दिवसे क्षभा"—सि० शिरोमणि।

[3] 'उन्मण्डलक्ष्मावलयान्तराले द्युरात्रवृत्ते 'चर' खण्डकालः—' भास्करः।

[4] 'अमरकंटक' के अक्षांश हैं—२४।२१।

The Macaulay Maya

By St. Nihal Singh

I

The sun was near setting. It seemed to stand still for a few moments, as if enchanted with the long-stretching vista of mountain and vale. Suddenly, recovering from its trance, it dropped out of sight.

For a space the deep blue sky, overspread with a film of clouds in little flakes, like the scales of a mackeral just taken out of the sea, was iridescent. Then darkness, emboldened by the absence of the moon that had departed on a distant quest, flung a soft black velvet mantle over the scene, blotting out perspective.

My wife and I had had a tiring day. We had wandered over hill and dale as long as the sunlight possessed any photographic strength making pictures of the mountains and valleys and streams and of the hill-folk of the region thereabout.

A doctor-man, also an Indian, who knew Ceylon as few Ceylonese did, had accompanied us from Colombo. He, too, was very tired and sat beside us. We three might have been deaf-mutes for all the talk we engaged in.

So long as the heavens were lit and the shadows were lengthening, we were, in a dazed sort of way, enjoying the beauty all about us. But when darkness shut out the view the jaded mind was perforce turned inwards and we became all the more conscious of the bodily aches and pains which we had been trying to forget.

II

Presently three men filed into the verandah of the wayside inn in which we were stopping for the nonce and occupied chairs at a short distance from us. They were strong, well-built fellows. Their faces, once white, had been deeply bronzed by much exposure to the tropical sun. Their speech soon indicated (to me) that one of them was a Scot, the second a Welshman and the third an Englishman. From the way they talked of the *tapal* (the Tamil word for " post ") it was plain to me that they were all tea-planters, probably on estates under the same proprietorship.

Hardly had they sat down when one of them yelled " Boy ! " and ordered whiskey and soda. They drank their " pegs " almost at a gulp, as if they had been out in the sun all day and were very thirsty.

Immediately another round of drinks was brought and the glasses were once more emptied.

The same process was repeated over and over again until three bottles of whiskey and goodness knows how many of soda water had been emptied.

Just as the news was brought to us that our dinner was ready to be served, I heard the Scot telling his companions :

" You fellows think that I am drunk. I tell you I am not and I'll prove it to you."

As he got up from his chair he said : " As you both know, a drunken man is supposed not to be able to walk in a straight line. I can; and I will show you that I can."

And he walked to the end of the verandah, stepping with sure tread along the edge of a long strip of coir matting spread over the floor. No life-long total abstainer could have kept a straighter line.

After sitting in his chair for a minute or so, he said : " Now, boys, I will give you another test of my soberness. A drunken man is supposed to be unable to keep his balance even on two legs. I will stand on one leg without wobbling. Now watch me."

He solemnly stood like a stork, bearing all his weight on one foot, then drew the other up until the sole of his boot pressed against the knee. The feat was so neatly performed that I had some difficulty in restraining myself from applauding him.

After he had sat down one of his companions remarked :

" Is it not time for us to settle our bill and go home ? "

" Ah, yes," said the third man, who had been the least talkative of the three. " But what shall we tell the ladies when we get back ? We cannot reach home before half-past ten, or may be eleven, at the earliest and we shall have to explain why we are so late."

" You and I can say that we met Jock (indicating the Scot who had been demonstrating his soberness) and had a long discussion with him about the work. There was much to talk about and so the time ran on."

" No, no, lad," the tall fellow from Scotland interrupted. " That's not wise. The ladies will get together and compare notes and catch us in a net of

श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, बी० ए०
(सन् १६२२ से १६२५ तक और मई १६२७ से
१६२८ तक आप 'सरस्वती' के संपादक रहे)

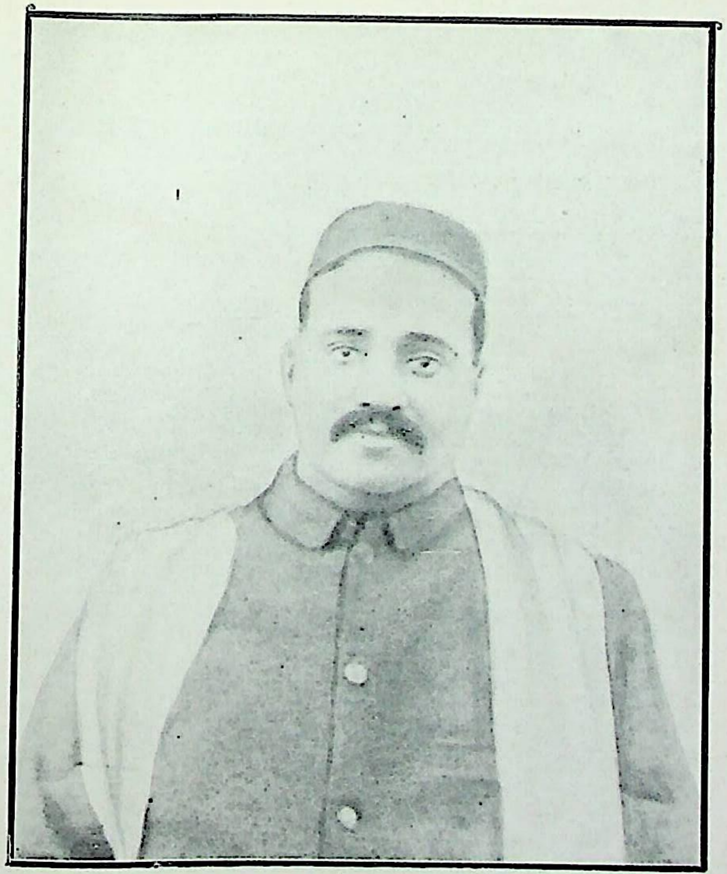

पंडित देवीप्रसाद शुक्ल, बी० ए०, एल्-एल० बी०
(द्विवेदी जी के अवकाश ग्रहण करने पर आपने सन् १६१० में
तथा १६१६ में 'सरस्वती' का संपादन किया था)

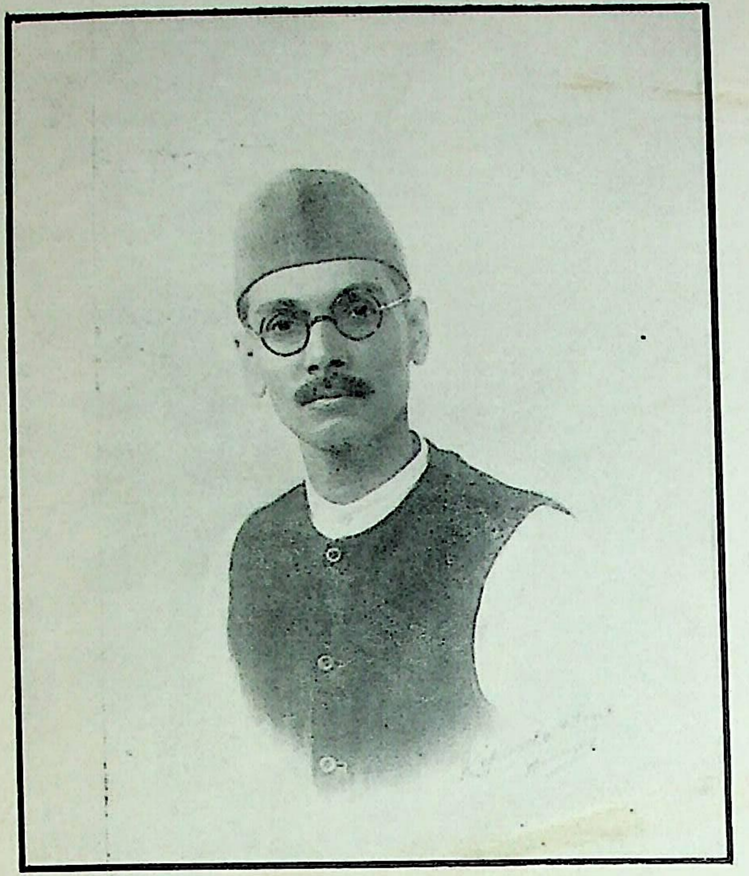

पंडित हरिभाऊ उपाध्याय
(द्विवेदी जी के समय में 'सरस्वती' के सहकारी संपादक)

पंडित उदयनारायण वाजपेयी
(द्विवेदी जी के समय में 'सरस्वती' के सहकारी संपादक)

lies. Women are the very devil at that game. But why blame an animate object when you can lay it on an inanimate one? "

" What inanimate object can we blame? " demanded the other two in one voice.

" The car, to be sure lad," replied the Scot. " We will say that all four tyres burst at one time as we were driving over a rough road. We had only one stepney and so had to patch up the other three. It took a long time and so, to our great regret, we could not reach home until very late. The ladies will sympathize with us instead of quarrelling with us; and if we all stick to the same story there can be no mixing us up."

So it was agreed. The three men went noisily to the car that was to be the scapegoat for their sins and, climbing into it, disappeared, tooting the motor horn uproariously as they drove like mad down the single street of the small settlement.

III

It was inevitable that the talk at the dinner table, to which we proceeded as the planters departed, should revolve round the antics of the merry Scot. Not for long, though.

All of a sudden my mind slid down the slope of time from the mountaintop of to-day into the valley of my boyhood. I seemed to be back in the Punjab. All about me were Punjabis and a few Bengalis. We all were drunk and performing antics, like the inebriated Scot, to prove that we were perfectly sober; and inventing plausible tales to explain away our abnormal condition.

The only difference was that our intoxication had not been caused by drinking whiskey. The wine that had gone to our heads was the knowledge imported from the West, which we had imbibed not wisely but too well. It was a heady wine.

I could not have plodded my weary way through more than two or three English primers at the time in which I fancied myself living once again. Naturally, my English vocabulary failed at almost every turn. I had to supplement it with Punjabi. It must have been a queer jargon. So proud was I, however, of my knowledge of the foreign tongue that I used it in season and out of season.

I recall that the keeping of the *dhobi* account used to be my affair. The washerman would come every week to deliver the clean linen. After it had been checked he would sort out the soiled linen, count aloud, and I would write down the number of the various articles on an odd bit of paper.

My mother's watchful eye followed every moment. My memorandum was often found to be at fault, but never her memory. The *dhobi* would have to acknowledge that she was correct each time she found a garment short.

Yet I considered myself intellectually superior to her because I could "talk English" while she could not. Her love was so deep and her sense of humour so great that she suffered my impudence without remonstrance. She knew that some day I would grow out of it and feel contrite.

I often wish that one of these precious memoranda of mine had been preserved. It would have furnished me no end of merriment, for the expressions that I coined for clothes of which I did not know the English name were fearful and wonderful.

I remember, for instance, that I called pillow-cases "tissues."

A "tissue" and a "case" appeared to my boy-mind to be synonymous, only a "tissue," I fancied, was made of fine stuff such as muslin, while a "case" was made of wood or leather. I must add that the pillow-cases were made from *latha*—as we called "long-cloth."

Clever invention, was it not?

There were other efforts upon my part similarly to enrich the English language: but I forbear from trying the reader's patience.

IV

After I had advanced a little in my studies I recall inditing an article for publication. It had to be in English. Nothing short of that would have satisfied my ambition.

How well I remember the circumstances in which this article was composed.

A missionary body in Calcutta used to issue a newspaper, twice a month, if I remember aright. It was sent free to any one who asked for it.

Somehow a copy of it fell into my hands. It occurred to me that by scanning its pages I would be able to increase my vocabulary of English words and improve my method of putting them together.

I must have been then about fourteen or fifteen years of age: but I had already made up my mind that I would be a writer of English. I prescribed the paper for myself in the sure knowledge that it would advance that ambition.

I seem to have been entirely oblivious of the spell that the reading of the missionary matter every fortnight might cast over it. Or was I, in my vanity, sure that the fabric of my mind was incapable of taking the missionary dye? I do not remember: but I would not put it beyond me. There was nothing that, in my middle 'teens., thought I could not do.

Some sort of controversy was ever going on in the columns of this missionary publication. One fine day I was lifted into the seventh heaven of delight by an opportunity that I seemed to detect to enter the lists.

I penned a few lines in feverish haste. My father being also my confidant, I took my effort to him.

Kindly man that he was, he said: "What is the good of asking me whether the editor will print it or not? Now that you have written it, make a fair copy of it and we will send it and see what happens. If it is printed, well and good. If not, no harm would have been done. You can try again."

Needless to say, father spoke to me in English, as he frequently did so as to help me to become accustomed to using the language fluently. His greatest ambition where I was concerned was that I should become a member of the I.C.S. or a barrister-at-law; and he was therefore anxious that I should become proficient in the language employed in the public offices and the courts. As for me, my only desire and intention was to become a journalist. Since this profession required proficiency in English, father's efforts did not go in vain, at least to that extent.

In any case, knowledge of English, to him as to practically cent per cent of the "educated men" of his generation, constituted a stepping stone to greatness and success in life; and he was determined that I should have the advantage of knowing that language. Fortunately for him—and ultimately for me—his feet were firmly planted on the Indian soil, even though his head was pushed into the Western clouds.

So the fair copy was made—by hand. There were not many typewriters about nearly two score years ago. Father himself put it into an envelope, directed it in his beautiful, copper-plate writing and, affixing a stamp to it, had it posted.

Sleepless nights and restless days followed. Finally came the date when the issue that might conceivably contain the article was due to be received. I accompanied Narain Singh—officially the peon but privately my companion and friend—who was sent each morning to fetch the mail from the head post office, a matter of a mile and a half from the house.

As soon as the sorter gave the paper to the servant, I snatched it from his hand, tore off the cover and scanned the columns. Finally my search was rewarded. My eyes lit upon my little contribution.

Since then matter that has flowed from my pen has found its way into the columns of newspapers and the pages of magazines and reviews in every quarter of the globe. But I recall no literary conquest that gave me such delirious joy as the publication of this, my first effort at writing for the press in English.

The Scot standing on one leg on the verandah in the Ceylon wayside inn was not more intoxicated than I was on this occasion. I felt that I had successfully demonstrated the fact that I was a "master of English," as I fondly fancied myself to be. Did any one ever earn the Master's degree in any subject with such little effort?

This article was a typical product of the time. Exceedingly sensitive as I was to what was going on about me, I had caught the contagion of mocking at everything indigenous and had poked fun at Ganesha. A creature with the head of an elephant and the body of a human being was a monstrosity, if not a physical impossibility, I asserted.

The missioner who edited the paper must have chuckled as he perused this effusion and passed it on to the printer.

Not a glimmer of comprehension of the rich treasures stored up in India's past did these lines penned by me contain. How could they when the atmosphere in which I lived and moved was filled with an intellectual mist that had poured in from Europe and blotted out every ray sent out by the shining accomplishments of our forefathers? It flung a veil over familiar objects, like a London fog (of which I was to have experience in later years), so that all sense of direction was lost for the time being.

V

Strange as it now appears, the task that the study of various subjects through a language that I had not learnt at my mother's knee and that I scarcely comprehended, did not then seem to be laborious. It must have held back my intellectual growth inevitably.

I have little doubt that the strain it imposed upon me was primarily if not wholly responsible for my inability to wrestle with subjects such as mathematics and other exact sciences, in which, but for this unnatural process, I might have acquired a measure of proficiency. Economic necessity or artistic craving compelled me in later life, to obtain a working knowledge of some of them. What an amount of cerebral tissue must have been killed in the process!

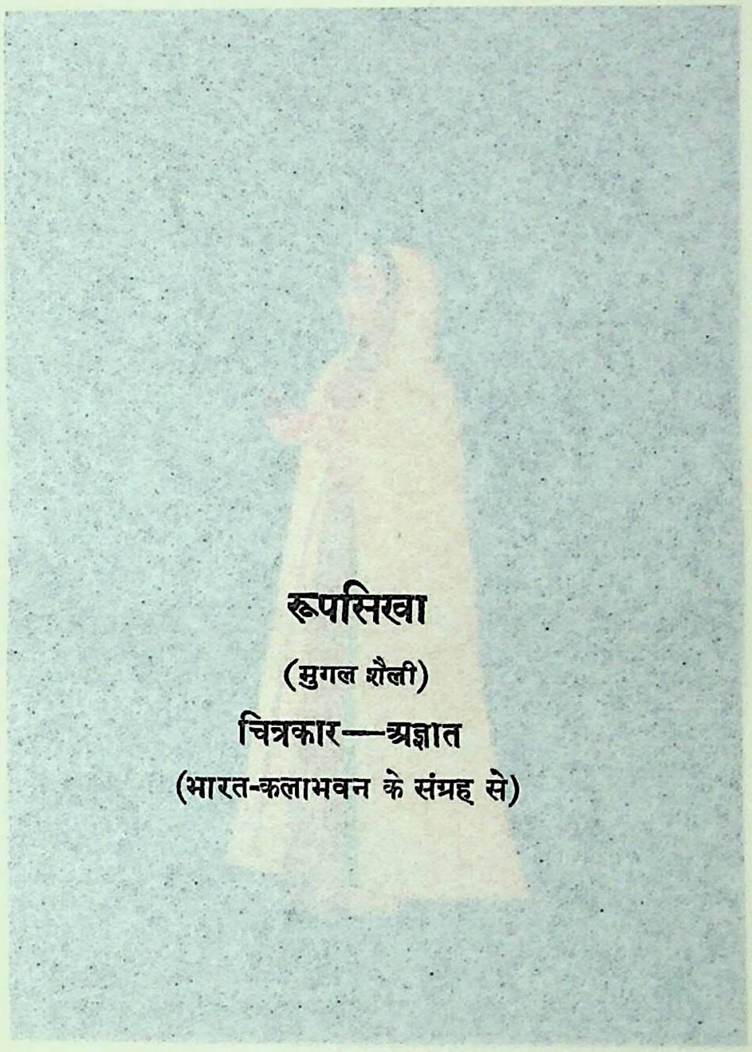

रूपसिखा

(मुगल शैली)

चित्रकार—अज्ञात

(भारत-कलाभवन के संग्रह से)

As soon as the sorter gave the paper to the servant, I snatched it from his hand, tore off the cover and scanned the columns. Finally my search was rewarded. My eyes lit upon my little contribution.

Since then matter that has flowed from my pen has found its way into the columns of newspapers and the pages of magazines and reviews in every quarter of the globe. But I recall no literary conquest that gave me such delirious joy as the publication of this, my first effort at writing for the press in English.

The Scot standing on one leg on the verandah in the Ceylon wayside inn was not more intoxicated than I was on this occasion. I felt that I had successfully demonstrated the fact that I was a "master of English," as I fondly fancied myself to be. Did any one ever earn the Master's degree in any subject with such little effort!

This article was a typical product of the time. Exceedingly sensitive as I was to what was going on about me, I had caught the contagion of sneering at everything indigenous and had poked fun at Ganesha. A creature with the head of an elephant and the body of a human being was a monstrosity, if not a physical impossibility, I asserted.

The missioner who edited the paper must have chuckled as he perused this effusion and passed it on to the printer.

Not a glimmer of comprehension of the rich treasures stored up in India's past did these lines penned by me contain. How could they when the atmosphere in which I lived and moved was filled with an intellectual mist that had poured in from Europe and blotted out every ray sent out by the shining accomplishments of our forefathers? It flung a veil over familiar objects, like a London fog (of which I was to have experience in later years), so that all sense of direction was lost for the time being.

V

Strange as it now appears, the task that the study of various subjects through a language that I had not learnt at my mother's knee and that I scarcely comprehended, did not then seem to be laborious. It must have held back my intellectual growth inevitably.

I have little doubt that the strain it imposed upon me was primarily if not wholly responsible for my inability to wrestle with subjects such as mathematics and other exact sciences, in which, but for this unnatural process, I might have acquired a measure of proficiency. Economic necessity or artistic craving compelled me in later life, to obtain a working knowledge of some of them. What an amount of cerebral tissue must have been killed in the process!

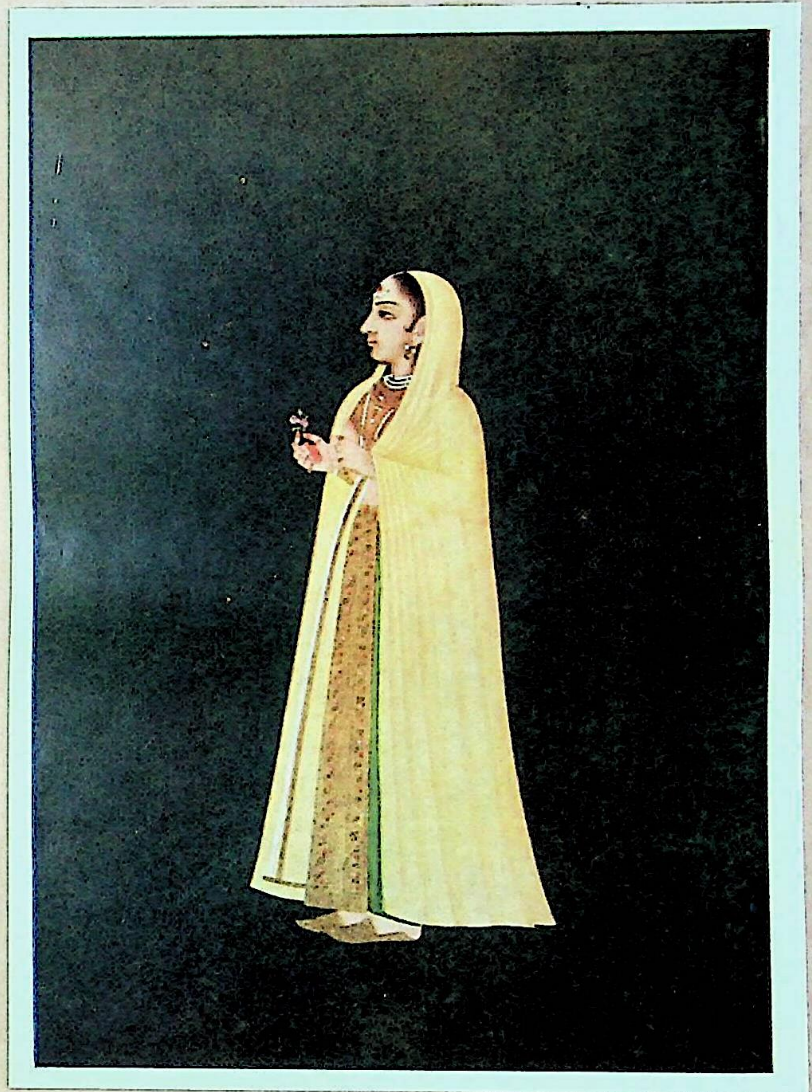

It was, however, characteristic of the time in which my boyhood and early manhood were passed that instead of feeling strangled by this unnatural process of acquiring knowledge through a foreign and only partially comprehended medium, I actually gloried in the mental torture it inflicted upon me. I was so drunk with the heady wine contained in the English primers that, like the Scot I have described, I was all the time trying to demonstrate that I was the only sober person in the crowd and all the others were intoxicated and like him my brain was busy concocting stories to prove that my condition was a perfectly logical one and that I deserved the plaudits—not the jeers—of persons who had not partaken of the same brand of intoxicant that had produced this state of inebriation in me.

I have cited my own case because I know it best and can therefore write of it with a degree of assurance. It was not, I believe, materially different from that of my contemporaries and probably that of the boys and young men of the generation preceding as also of the generation following mine.

VI

The events of which I have been writing took place in the eighties and nineties of the last century. The Punjab had been annexed only three or four decades before. Comparatively few Punjabi minds had been exposed to Occidental influences, but apparently these influences possessed great potency, otherwise the state of drunkenness that I have sought to describe would not have resulted so soon.

Early in the eighties the foundations of the Punjab University were laid at Lahore. My father, who took a great interest in current events, told me while I was still in my 'teens of the controversy that preceded its establishment.

Opinion was sharply divided as to the purpose the University was to serve. One section held that it must conserve and stimulate Oriental learning. Another advocated the acquisition of knowledge of modern arts and sciences that would unlock the door to the future.

The modernists were extremely suspicious. They accused the Orientalists of harbouring the sinister design of leading the Punjabi youth into the infructuous morass of the past and losing him there.

Their view was that, lacking a University in which the highest type of English education could be acquired, the Punjabis would be greatly handicapped in the struggle for existence. Few men would be able to secure the intellectual equipment that would enable them to rise to the highest posts in the government services—then the cynosure of all ambitious eyes.

Evidently the modernists did not consider themselves strong enough to get along without external aid. Sardar Dayal Singh Majithia, a grandee owning many broad acres, who, a short time earlier, had shocked the people among whom he was born by leaving the Sikh fold for the Brahmo Samaj, then just gaining a foothold in the Punjab, and cutting his long hair, imported a highly educated Bengali—Mr. Sitalakant Roy—and set him up as the editor of the paper he founded, I believe, without aid from anyone. The *Tribune*, as it was called, mercilessly attacked the protagonists of Oriental culture.

My father had unbounded admiration for Sitalakant, who, according to him, must have been a man of volcanic energy and great vigour of expression. He also thought highly of Sardar Dayal Singh, but for whose generosity the Punjab would not have had the *Tribune*, nor Sitalakant to edit it.

" Sitalakant Roy smashed the plot," my father would say. " He made it possible for any Punjabi desirous of obtaining English education to do so without being beholden to any institution outside the province."

An essential consequence of this success was the relegation to the background of Sanskrit, Persian and Arabic literature and sciences, not to speak of the derivatives of those languages such as Punjabi, Hindi and Urdu. Few Punjabis took advantage of such facilities as were provided for Oriental education and securing the degrees of Sastri, or Maulvi, that had been instituted by the Punjab University.

The protagonists of English education pointed to this fact in vindication of that effort. The Orientalists might as well have retorted that it was the inevitable reaction from the materialistic tendencies that had triumphed for the time being.

VII

As I have ruminated over this matter from time to time I have wondered why it was that a Punjabi who had been powerfully influenced by the Brahmo doctrines should have thrown himself into a movement that he ought to have known would turn the mind of the youth away from Eastern culture.

The rise of that faith cannot be described, to be sure, as a revolt against Western ideas. The founder of the Brahmo Samaj appreciated the arts and sciences developed in Europe too highly to initiate such a revolt.

The Raja Ram Mohan Roy had, in fact, managed to acquire considerable proficiency in English and, in cooperation with certain missionaries, initiated a movement for English education long before Thomas Babington Macaulay arrived in Calcutta and indited the despatch for the Lord William Bentinck that was to set India's face West-wards—past Mecca and Medina—past even Jerusalem.

But if that great Bengali leader and the others who came after him attached great value to the acquisition of Occidental arts and sciences, they had no less an appreciation of Oriental enlightenment. Ram Mohan Roy knew, in fact, Sanskrit, Persian and Arabic. He would have been the last man to throw his weight into any movement that tended to shove Oriental culture into the background.

The Brahmo Samaj was, in its essence, an attempt at reconciling the two systems of thought—at harmonizing the subjective with the objective. Whatever its limitations and shortcomings, it was an heroic effort especially in view of the time when it was made.

In this circumstance it was strange that men who had felt the impulse of this faith should have furthered a movement that they must have known would tend to subordinate Oriental to Western culture in the Punjab. Stranger still, that movement succeeded within thirty-five years of the extinction of Sikh rule in that part of India—a rule that was based upon ethics of pristine purity inculcating a noble ideal of social service.

Probably the most likely explanation is this : the Punjabi mind is strongly objective. This objectivity has been a matter of slow growth. Each onslaught from the north-west has been followed by an attempt at the reassertion of native pride, the resuscitation of life and the rehabilitation of institutions that were doomed again to be destroyed and again rebuilt.

At the moment that the first seeds of English education were sown in the province, an epoch had closed and another was opening. It was inevitable that the economic view should then be predominant in that part of India.

VIII

As one who grew to maturity about that time I must say that education was regarded almost exclusively as a bread-and-butter proposition. The commercial aspect entirely overlaid its cultural or aesthetic value.

As an under-graduate I learnt to look upon the University as a lever skilfully operated from some invisible region. It set in motion a powerful blade that chopped off the head of ambition from a young man's body.

I then had no idea that a University was meant to be a cultural centre—a place where the high tension wires of many intellectual activities converged, delivered their various messages and were recharged for performing their functions still more vigorously. I saw nothing that even remotely resembled an integrating process—only a machine worked with the remorselessness associated with an automaton.

The colleges recognized by the University, too, functioned mechanically. They certainly were not free units in a self-governing intellectual commonwealth. Nor was there any trace of cohesion—any craving for corporate action.

If one of the Fine Arts had wandered into Lahore—the intellectual centre of the Punjab—in those far-off days, it would have found the atmosphere chocking and might have died in the act of fleeing from the bane. Painting, sculpture, architecture, music and like subjects had no place in the scheme of studies.

Poesy had not been barred out : but the utilitarian spirit that prevailed had turned it into a mere passport to a degree. The intention might have been to accord it a higher status : but that intention had miscarried.

The lilt of the English lyric was lost in the sing-song that, in my day, was so common in the college class-room and the boarding-house cubicle. The image used was frequently so divorced from Indian life as to carry no particular meaning to the student. Poetry was a subject of study—laborious study—and not titillation for the senses—a vehicle of bliss.

Much the same could be said of English prose literature. The sensuous appeal failed to enrapture : for the scenes depicted were torn from a book of life with which we were totally unfamiliar—the nuances employed in description were of a nature that the Punjabi eye had not learnt to distinguish—the scents conjured up were such as to fail to secure any response from the Indian nostrils, unacquainted with them, as they were.

How well do I remember puzzling my youthful mind over the intricacies of love-making as they were revealed in the imaginative literature prescribed for study. Because of the difference of perspective between the writer and the reader, some of them seemed to be almost erotic.

I also recall wrestling with dialogue in broad Scotch and in Cockney dialect. Allusions to biblical and classical characters of whom I had never heard, too, presented serious difficulties.

Literature rooted in the Indian past or related to matters within every-day Indian ken would have placed little strain on the comprehension and therefore would have given unalloyed pleasure. But in the days of my early manhood, such literature was assigned a secondary position.

The times were indeed out of joint. Everything indigenous was at a discount. Everything foreign was at a premium.

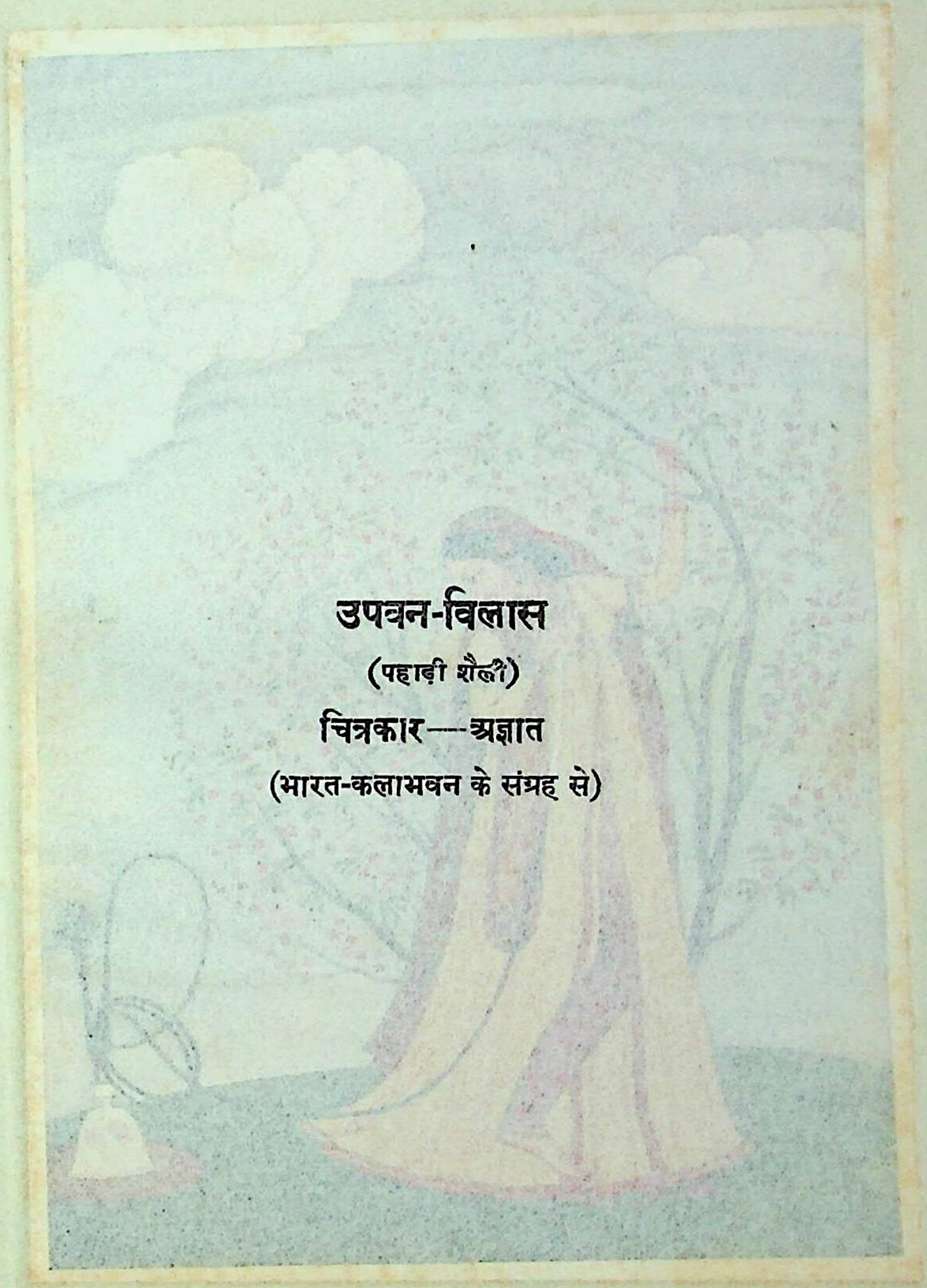

उपवन-विलास

(पहाड़ी शैली)

चित्रकार—अज्ञात

(भारत-कलाभवन के संग्रह से)

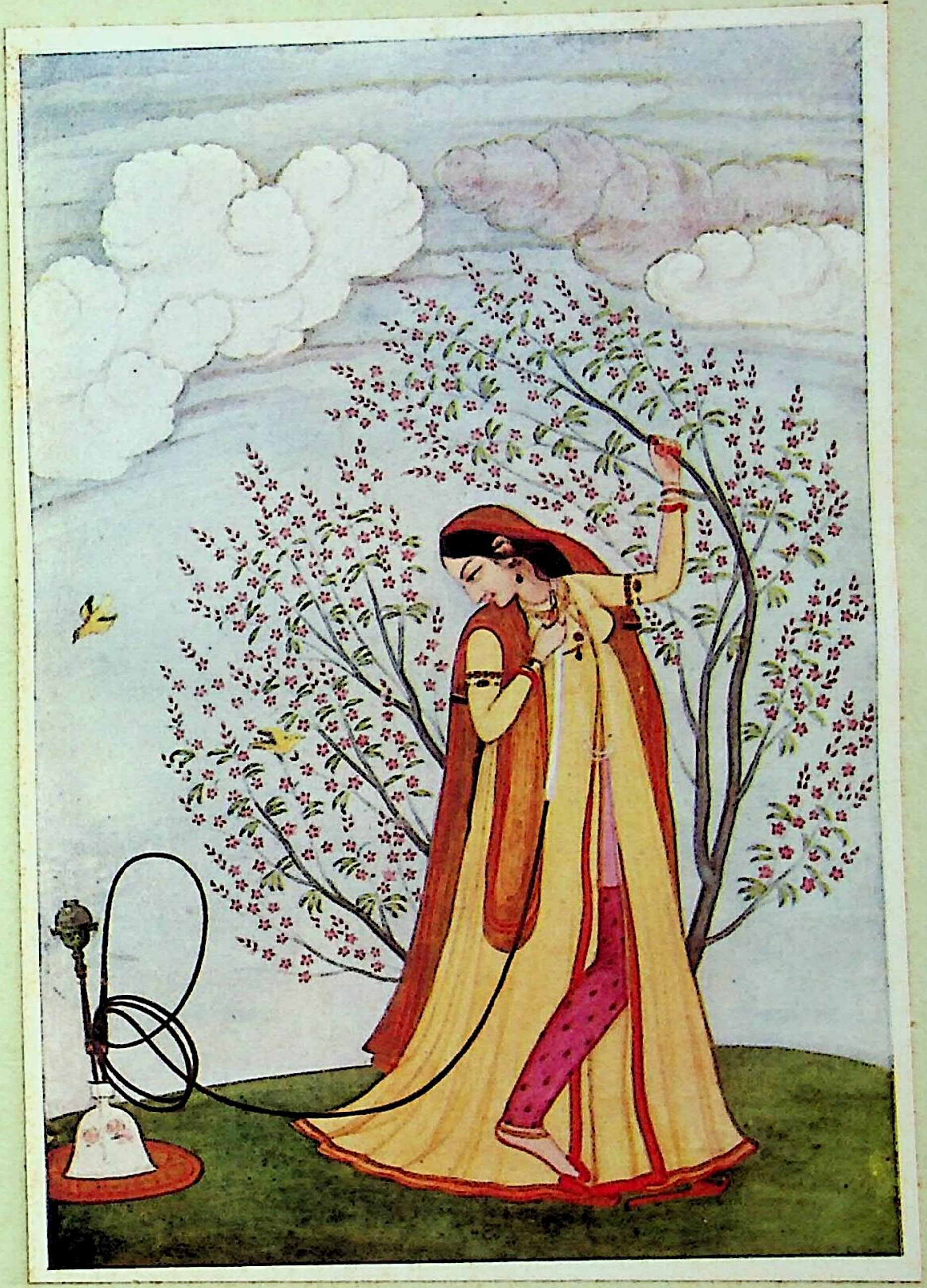

IX

So powerful were the utilitarian forces that they twisted and turned a great educational movement launched at Lahore in the last quarter of the nineteenth century. A *sanyasan* of Kathiawar parentage and birth known to us as the Maharishi Dayanand Sarasvati, had visited the Punjab. He brought to our province a gospel of fire with which he sought to set ablaze the rubbish that had accumulated during the centuries of India's degeneracy. His aim was to carry the people back to the purity of the Vedic period.

The sermons that he preached were aglow with the burning faith that was in him. He castigated men for straying from the noble path prescribed by the Aryans of old.

Caste, he declared, had become only a matter of birth. In the Golden Age it had been determined by the qualities (guna) conduct (karma)—and temperament (subhawa). In the era of India's greatness it was possible for the lowliest chandala to rise to rishihood.

He inveighed against early marriage and other social evils. The abandonment of the institution of *brahmacharya* had, to his mind, inflicted a double wrong upon the people. It had lowered physical vitality on the one hand and dwarfed our minds on the other.

No wonder that Indians of his generation were happy to bask in the reflected glory of the West. Our forefathers, on the contrary, had accumulated and systematized knowledge and had given it liberally to the then known world.

The college that owed its existence to the impulse generated by this great Indian revivalist and with which his name is associated, was not however designed in any direct way to revive the system of *brahmacharya*, nor was it entirely or even largely devoted to the resuscitation of Sanskrit literature and science. It did, to be sure, make some provision for the study of Vedic literature; but similar provision existed in institutions that were frankly modelled upon the Western pattern and did not make any pretence to being Vedic.

Many of the men to whose initiative this institution owed its existence were true patriots. Lala Lal Chand and Lala Lajpat Rai—to mention only two who gave their best to it—were forceful characters.

Mahatma Hans Raj—whom I know better as Lala Hans Raj—set an example of self-sacrifice and devotion to duty that had a most stimulating effect upon Punjabis of more than one generation. Fortunate were the thousands of young men who sat at his feet. They owe their success in later life largely to the inspiration they received from him and his colleagues, some of whom were almost as great as he was himself.

Nothing is therefore further from my aim than to belittle the achievement of this college. It has indeed done valuable work, especially in placing higher education within reach of classes that might not otherwise have been able to afford it.

As an humble historian of our times I must, however, say that I have been disappointed that it did not boldly essay the task of interrupting the intellectual revolution through which the Punjab was passing. Even if it had broken down in the effort, the effort would not have been entirely in vain.

X

Candour compels me to write in the same vein of similar attempts made by other bodies, among them the Sikhs at Amritsar and the Sanatanists at Lahore. None of them aimed higher than (shall I say?) to impart instruction on a pattern analogous to that on which the Christian missionary institutions were conducted in this and other Indian provinces.

The *Granth Sahib* or the *Gita* has no doubt been substituted for the Bible. The prayer is addressed to Sri Wahi Guru or to Parmeshwara and not to Jehovah.

But little has been accomplished by these institutions in the way of knitting together the thread of the old civilization broken by the aggressive, objective type of education determined by the masterful mind of Macaulay just about a century ago. If they have tried to check the tendencies he set in motion, their success has not been so pronounced that he who runs can see it.

The fact is that all such colleges have been tethered to the University, essentially a mental child of Macaulay, and the tether has been extremely short and powerful. Restiveness has therefore accomplished little, except to lacerate the neck against which the rope has rubbed.

XI

Only in one instance of any importance has the attempt been made to keep clear of such an entanglement. Lala (later Mahatma) Munshi Ram, who showed such courage, possessed a mind distinctively masculine in character. Dissatisfaction with existing institutions led him finally to establish the Gurukula on the banks of the sacred Ganges not far from Hardwar, where education could be given in conformity with the ancient institution of Brahmacharya modified in certain respects to suit modern conditions.

Not only did this ex-lawyer of Jullundur, near which town some of the happiest years of my boyhood were spent, have the courage to make that departure, but he also possessed the organizing ability and pertinacity needed to give a material form to his ideal. Hundreds of parents signed the pledge drafted by him in which they promised to keep their sons, for years, far away from themselves and from their families, at the forest University he established at Kangri, close to Nature's heart, to train the youth in Vedic studies and Sanskritic sciences as well as mundane subjects.

The disastrous floods of 1924 made it necessary for the institution to be shifted to the left bank of the Ganges Canal, a few miles from Hardwar. In respect of health conditions and convenience, the present site is no doubt more desirabe : but it cannot be so quiet, or at least so picturesque as the one abandoned under compulsion.

The originator of the idea is gone to that bourne from which no traveller e'er returns, at least in the same human form. But his mantle has fallen upon a man who is as great a believer as Munshi Ram was in this revived institution. I hope that the results from the experiment will be commensurate with the effort expended.

One thing is already certain. The idea has caught on. Institutions modelled on a similar pattern have sprung up in several places.

XII

I have chosen to write of the Punjab because it was affected by the forces set in motion by Macaulay later than the other large areas of India. At the time of its annexation in 1849 fourteen years had elapsed since he had consigned Oriental learning to the dust-heap. A system of education based upon his arrogant dictum had been introduced in Bengal, Madras, Bombay and the North-Western provinces (now incorporated in the United Provinces of Agra and Oudh) and had made considerable progress there before the Sikh resistance had completely broken down.

By the time the movement had reached the Punjab and had resulted in the establishment of the University early in the eighties, it had gained a great impetus. During my youth it was at its peak. It stood triumphant over Oriental learning which it had swept into a corner.

Conditions in other parts of British India were however not much different. English education had gone to the head of the "educated classes," filling them with contempt for things Eastern and impelling them to ape Westerners in speech, manner and dress. To sing the praises of the English spring (even when the singer's eyes had never feasted upon those glories) was the height of Indian ambition.

Never had one nation established its intellectual empire over another so completely as in India during the second half of the nineteenth century. Never did a people suffer so acutely as we did from the inferiority complex—as the modern psychologist would put it.

The suggestion given by Macaulay had had a hypnotic effect upon Indians. The *maya* he created turned the Indian accomplishment of thousands of years into nothing. Under the spell cast by him, Indians played the rôle of "mock Europeans" with a zest that I can liken to nothing so appositely as to the antics of the aforementioned inebriated Scot in the verandah of the Ceylon wayside inn.

XIII

Macaulay's spell, potent as it was, was however not to last for ever. It had been conjured up in darkness—in abysmal ignorance of the Oriental learning that he condemned. The realm of darkness cannot be enduring, even in this Kali Yuga.

Before the echoes of Macaulay's incantation had died down, Europeans who had more erudition than arrogance were becoming fascinated with the wealth of Sanskrit learning. The richness of Hindu imagination and the profundity of Hindu thought had fascinated Britons like Monier Williams, Henry Wilson and Griffiths.

Over in Germany Goethe, the great poet, had acclaimed Kalidasa's *Shakuntala* as the greatest dramatic work composed anywhere in the world at any time. A little later another German was teaching Sanskrit at the ancient University of Oxford and editing a series of monographs written by *savants*, mostly Europeans, making the treasures of Sanskrit literature available to the English-speaking world. One of this learned corps was Rhys Davids, who, as a member of the Ceylon Civil Service, had learnt Pali—particularly as it was spoken in Magadha in Asoka's time—and translated and interpreted the canons of the Southern Buddhist School, in collaboration with his wife herself a great scholar.

XIV

Similar work, but in a more popular (perhaps spectacular) form, had been inaugurated by a Russian woman of great driving power—Madame H. P.

Blavatsky. Her colleague, Colonel H. S. Olcott, an American who had fought in the Civil War that had resulted in the emancipation of the negroes held in slavery in the United States of America, was a man of great force of character and organizing ability.

At a later date they were joined by Mrs. (afterwards Dr.) Annie Besant, who, in her early womanhood, had been associated with Charles Bradlaugh in a crusade that was to have a powerful effect upon their own and subsequent generations. Possessing a remarkable gift of easily assimilating knowledge accumulated by other peoples and wielding a ready pen that made abstruse truths plain to persons of limited intelligence, she supplemented Blavatsky's and Olcott's work.

With enthusiasts that flocked to the standard they raised, Theosophy, as they named the new faith, was broadcasted in all directions. Whatever it may or may not have done in other parts of the world, it certainly helped to resuscitate Indian thought in India—helped to restore to it the vitality that had been sapped by internal degeneracy and intellectual invasion.

XV

A vitalizing impulse also emanated from the Swami Vivekananda. India —outside Bengal that bore him—knew him not until after he had appeared at the Parliament of Religions in Chicago, towards the beginning of the last decade of the nineteenth century, and had carried it by storm through the power of his personality and his eloquence. Once he had captured the imagination of the West his message acquired a meaning for India that overcrowded the largest hall in any Indian city in which he spoke.

Deriving his inspiration from sources hidden from mortal eyes, he spoke with fearlessness and frankness to which Indians brought up in the humbugging atmosphere of the nineteenth century were unaccustomed. He dared to call his countrymen " rats " and bade them come out of their " rat-holes."

I recall his visit to Lahore towards the end of the last century. Ram Tirath, who was then teaching mathematics at the Government College, became enamoured of him and his philosophy.

The Professor had a gold watch attached to a stout gold chain. Prostrating himself, he begged the Swami to accept these gifts, his most cherished possessions.

What could a wandering mendicant do with a handsome gold watch and chain, thought Vivekananda. Yet he did not wish to hurt Ram Tirath's susceptibilities, which he divined were very tender. So on the eve of his departure from Lahore he took the watch and chain which he had accepted for the time being and, putting them into Ram Tirath's pocket, said: "I will keep them there."

Hardly was the Swami's back turned when the Professor took the watch out of his pocket. The hands pointed exactly to one o'clock. He immediately stopped the watch from working. In the years that followed he would take it out and point to the dial as a token of his oneness with the Infinite in which the Swami had been absorbed.

Not long after this he decided that he had done all the professorial work that was required of him by his karma and renounced the world. In the yellow robe of a monk who is the teacher and the taught at the same time, he wandered over half the globe and finally his soul found rest in the cold, cleansing waters of Ganga Mai just as she emerges from her snowy birth-place in the Himalayas into the parched plains of Hindustan that she blesses and fructifies as she advances towards her blue-hued mate—the sea.

XVI

These movements and other of a similar character had a powerful reaction. They had the effect of a stream of ice-cold, crystal-clear water directed through a hose full upon the flushed face of a person reeling with drunkenness.

Intellectual intoxication becomes, however, as much of a habit as spirituous inebriation. Some of the intellectual inebriates upon whom the hose was turned were steadied for a moment. But after a time they reached out for the bottle, took another drink—and were lost for ever.

Most of the men of my generation who refused to be again overcome by the old habit were, however, incapable of mastering Sanskrit or did not have time or energy to study it. They could not therefore repair to the fount of ancient learning and refresh themselves with deep draughts from it.

The best they could do was to obtain this lifegiving liquid as it was bottled by others. Having been shrewd, the bottlers had taken the precaution to add a little gas that made the water bubble and effervesce, which enhanced its attraction.

Some of us even had the effrontery to suggest that this bottled water was superior to the draught quaffed directly from the fount of ancient knowledge. I recall, for instance, that Romesh Chandra Datta wrote that in preparing his metrical version of one of our epics he had drawn upon the translations made under the editorship of Max Muller in the Wisdom of the East series, and had "seldom thought it necessary to consult those original Sanskrit works which have been translated in" that series.

A sad admission coming from so giant an intellect.

XVII

As the Macaulay *maya* has been dispelled through these agencies the liberated Indian intellect has re-established contact with the past. It did not take it long to discover that many of the wonders of modern science had been known to our forefathers. I have space to cite but one instance.

The theory of the circulation of the blood upon which rests the superstructure of modern medical science, was enunciated by an English physician, William Harvey by name, early in the seventeenth century. Long before his time, however, the Hindus had discovered that *rasa* (lymph-chyle)—blood without colouring matter—circulated through the *dhamnis* (vessels) in the human body.

The earliest Hindu writers on medicine had also discovered the *chala* (circulatory) properties of *rakta* (blood). This matter is elucidated in a work submitted in 1895 to the Medical Faculty of the Edinburgh University by a Rajput Raja in Kathiawar—His Highness Shri Bhagvat Sinhjee, the Thakore Sahib of Gondal—who had completed the course entitling him to the M. D. degree. of the Royal College of Physicians of Edinburgh. To quote him :

> "Harita, in his work called the Harita Samhita, which some believe to be older than Sushruta refers to the circulation of the blood in describing a disease called 'Panduroga' (Anaemia). He says that this disease is sometimes caused by swallowing clay, which some persons are in the habit of doing. 'The clay thus eaten blocks the lumen of the several veins and stops the 'circulation of the blood.' The author of Bhavaprakash who is a century older than Harvey, quotes the following couplet bearing on the circulation of the blood :
>
> 'Dhatoonam pooranamsamyak
> Sparshajnanam asamshayam,
> Svashiasu charad raktam
> Kuryach chanyan gunan api.'
>
> "Blood, by circulating through its vessels, fills the Dhatus well, causes perception, and performs other functions (of nourishing and strengthening)."

Again :

‘ Yada tu kupitam raktam
Sevate svavahas shiras,
Tadasya vividha roga
Jayante raktasambhavas.’

“ ‘ When defective blood circulates through its vessels it causes many blood diseases.’

“ Similar passages can be transcribed from even earlier writers. But the above quotations are enough to satisfy a casual reader that the circulation of the blood was not unknown to the early Aryans.”*

The Thakore Sahib reproduces in his book diagrams of instruments used by ancient and mediæval Hindu surgeons and shows that they had a fairly good idea of anatomy and physiology and possessed at least a glimmer into asepsis. They had at their command not only anæsthetics, but also preparations for restoring the senses quickly after an operation.

XVIII

Research in other realms of knowledge garnered in the old days, demolished, bit by bit, the assumption that in intellectual accomplishments our people were inferior to Europeans. The desire to exult over the East, fed upon ignorance of Eastern culture, had influenced Westerners to give the Hindus a characterization that ill accorded with the facts of history.

As the Macaulay *maya* was dispelled, we realized, for instance, that our forefathers were not the land-lubbers, standing in fear and awe of the *kala pani*, that they were painted to be. They were, on the contrary, a sea-faring, colonizing people.

Traces of some of these old colonies remain. Ceylon may or may not be the ancient Lanka : but by far the greatest bulk of its inhabitants are descended from one Indian stock or another and received the nucleus of their civilization from India—their Motherland. Sumatra might well have been “ *Swarnabhumi,*” and Singapore “ Simhapura.” Our epics are still a living force in the islands incorporated in the Dutch East Indies. Siam and contiguous countries.

---

* *A Short History of Aryan Medical Science*, by H. H. Bhagvat Sinhjee, G.C.I.E., M.D., F.R.C.P.E., D.C.L., LL.D., F.R.S.E., F.B.U., F.C.P.S., M.R.I., Etc., Etc., the Maharaja of Gondal. Second Edition, 1927. Shree Bhagvat Sinhjee, Electric Printing Press, Gondal. Pp. 94-95.

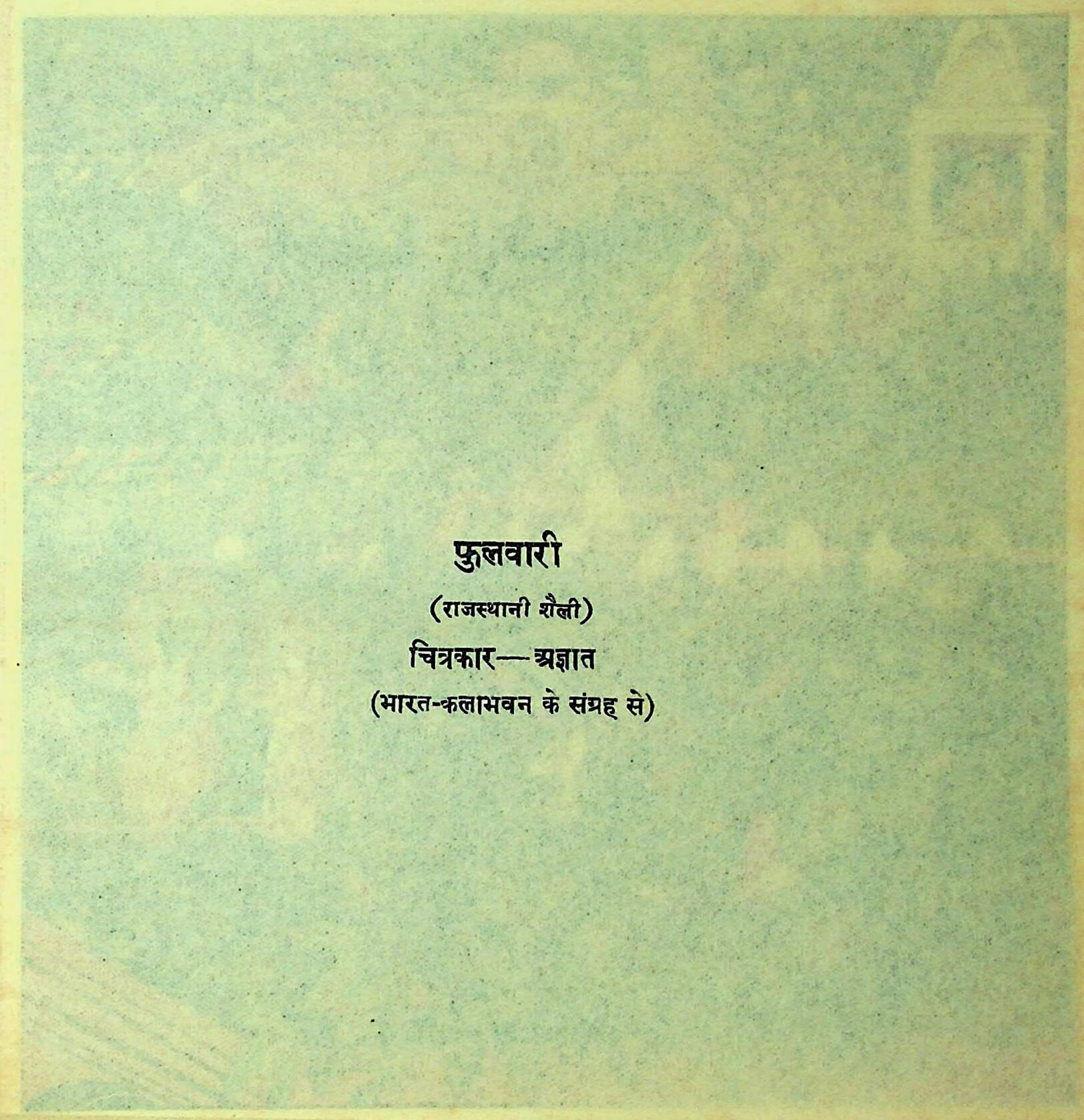

फुलवारी

(राजस्थानी शैली)

चित्रकार—अज्ञात

(भारत-कलाभवन के संग्रह से)

Again:

‘Yada tu kupitam raktam
Sevate svavahas shiras,
Tadasya vividha roga
Jayante raktasambhavas.’

“ ‘When defective blood circulates through its vessels it causes many blood diseases.’

“Similar passages can be transcribed from even earlier writers. But the above quotations are enough to satisfy a casual reader that the circulation of the blood was not unknown to the early Aryans.”*

The Thakore Sahib reproduces in his book diagrams of instruments used by ancient and mediæval Hindu surgeons and shows that they had a fairly good idea of anatomy and physiology and possessed at least a glimpse into secrets. They had at their command not only anaesthetics, but also preparations for restoring the senses quickly after an operation.

XVIII

Research in other realms of knowledge garnered in the old days, demolished bit by bit, the assumption that in intellectual accomplishments our people were inferior to Europeans. The desire to exploit the East, fed upon ignorance of Eastern culture, had influenced Westerners to give the Hindus a characterization that ill accorded with the facts of history.

As the Macaulay *maya* was dispelled, we realized, for instance, that our forefathers were not the land-lubbers, standing in fear and awe of the kala pani, that they were painted to be. They were, on the contrary, a sea-faring, colonising people.

Traces of some of these old colonies remain. Ceylon may or may not be the ancient Lanka; but by far the greatest bulk of its inhabitants are descended from one Indian stock or another and received the nucleus of their civilization from India—their Motherland. Sumatra might well have been “Suvarna-bhumi” and Singapore “Simhapura.” Our epics are still a living force in the islands incorporated in the Dutch East Indies. Siam and contiguous countries

---

* *A Short History of Aryan Medical Science*, by H. H. Bhagvat Sinhjee, G.C.I.E., M.D., F.R.C.P.E., D.C.L., LL.D., F.R.S.E., F.B.U., F.C.P.S., M.R.I., Etc., Etc., the Maharaja of Gondal. Second Edition, 1927. Shree Bhagvat Sinhjee, Electric Printing Press, Gondal. Pp. 94-95.

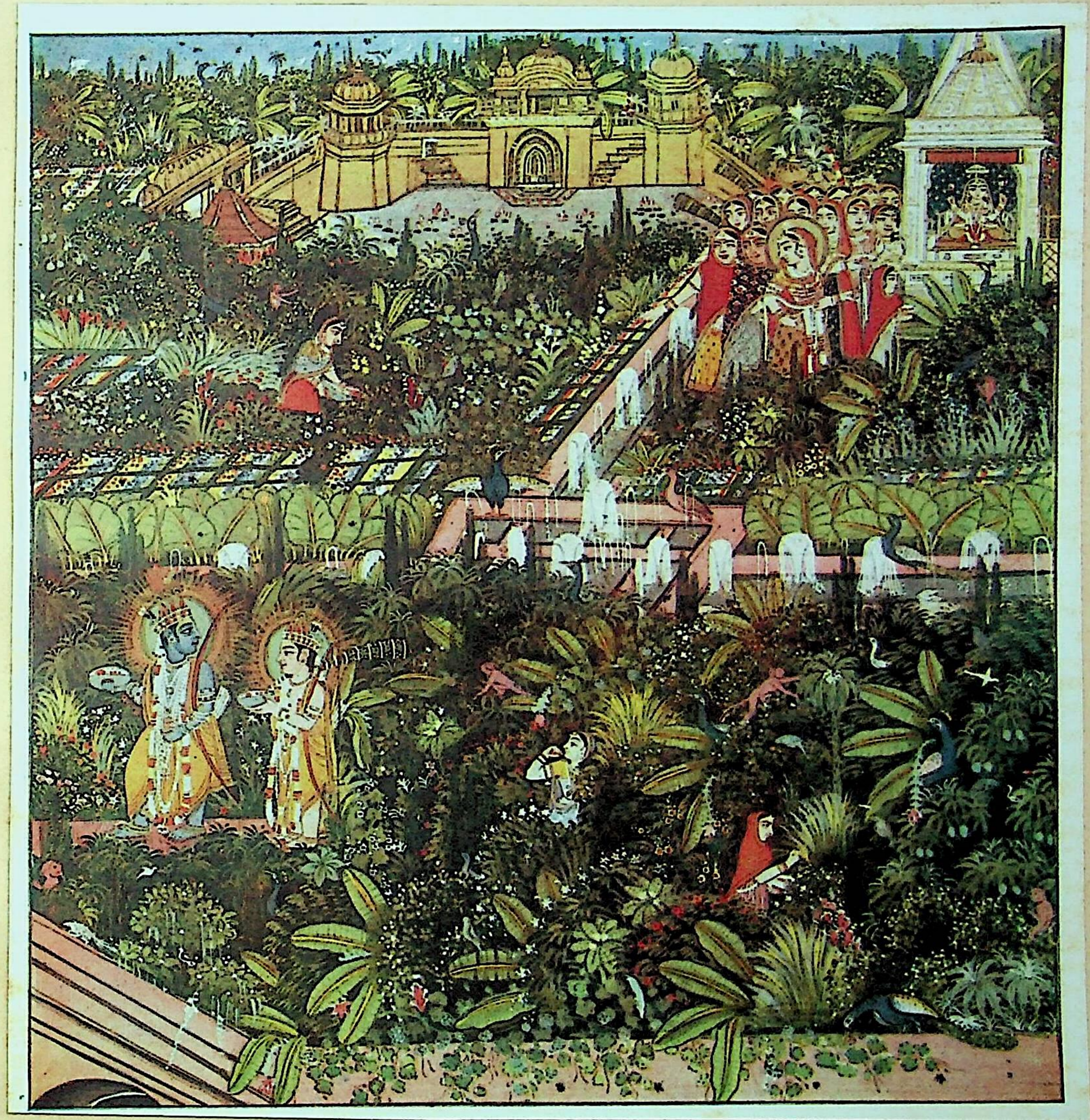

too, felt the tread of Indian Empire-builders. Even in the heart of Africa archæologists have dug up remains that dispose them to the view that Indians—or at least the Indian influence—had penetrated there in the remote past.

The rediscovery of Indian accomplishments by Indians whose intellects have been liberated from the thraldom of the Macaulay *maya* is a fascinating subject. Considerations of space, however, forbid further reference to them here.

Nor is it possible to refer to the accomplishments of our men of science, who have proved to the world that the days when India made an original contribution to the world's store of knowledge are not over, but have returned as the inferiority complex has been lessening its hold on our minds. The work of Sir Jagadis Chander Bose has attracted the attention of scientists in Europe and America; while Sir C. V. Raman has only recently been awarded the Nobel Prize.

XIX

This intellectual movement is still in its early stages. The youth of the country continues to labour, in many places, under the handicap of perusing studies in general knowledge through a non-Indian tongue, itself not thoroughly understood. That practice prevails even in some of the Universities that owe their existence to Indian initiative and are under Indian management—in itself an indication of the extent to which the Indian mind had come under the influence of the Macaulay *maya*.

It is nevertheless a happy sign of the times that Indian thought and energy are being increasingly directed towards the development of Indian languages—often miscalled the "vernaculars," literally the speech of uncultivated persons. Such activity is freeing the Indian soul and giving wings to originality.

If Bengal fell under the Macaulay spell before other parts of India, it has also awakened earlier from its trance and has been taking the lead in this linguistic and literary development. No provincial language has been enriched more or has attained a higher standard of refinement than Bengali.

This province has moreover shown the way to effect a union between the present and the past in matters artistic. Bengali painters and sculptors have sought inspiration from the art treasures at Sanchi, Ajanta, Ellora, Karli and other glorious relics of India's Golden Age; and have built up, on that basis, a mode of expression in the realm of the fine arts in consonance with our specially suited to our genius.

Attempts at the revival of the old traditions of the dance and drama and for the invention of a system of notation for recording compositions in Indian *ragas* and *raganis* are being made in various directions. Some of them are bound to succeed.

The force of this intellectual revival has penetrated even to the distant Punjab, which, as I have written, was affected more powerfully by the Macaulay hypnotic suggestion than perhaps any other part of India. Punjabi—a derivative of Sanskrit and a sister of Hindi—has been passing through a process of rejuvenation, largely through the efforts of Bhai Vir Singh, the Sikh literateur of Amritsar.

No one has laboured harder or to greater purpose in the cause of promoting intellectual freedom by popularizing expression in an Indian language—Hindi in his case—than Pandit Mahavir Prasad Dvivedi, in whose honour the volume of which this paper forms a part, is being published by the Nagari Pracharni Sabha—itself a great force in the same direction. All honour to him for the pioneer work that he has performed in the face of obstacles and discouragements that would have daunted a less brave soul than his.

XX

The development of regional languages, while to be welcomed and encouraged, is unfortunately fraught with one danger of great potentiality. It is likely to intensify the tendency inherent in the modern Indian nature to take a restricted view of men and matters—to confine sympathies within a narrow circle—and thereby to strengthen fissiperous tendencies.

That menace can be avoided only by the development of an indigenous *lingua Indica* to serve as a common medium. Until I travelled somewhat extensively over southern India I was inclined to exaggerate the difficulties that stood in the way of finding a nexus between the languages derived from the Dravidian and Sanskritic sources. To my astonishment I found that not only have Sanskritic terms found their way into the principal tongues in that part of our Motherland but nowhere in our land is Sanskrit more assiduously cultivated than in certain southern Indian centres.

The difficulty lies not in finding a common medium of exchange but in securing its recognition and adoption. Credal loyalties—mistaken credal loyalties—I fear, stand in the way.

Any one who strives to remove these obstacles will deserve well of the country. A common speech and script are as necessary for intellectual purposes as they are for conducting commercial affairs.

छाया और छल

[लेखक, प० श्यामाचरणदत्त पन्त]

शिला का वृक्ष, सलिल का मूल,
वायु का विम्ब, गगन का फूल;
सत्य ऐसा ही केवल है,
विश्व यह छाया है, छल है।

चित्र विन पट है, पट विन तार,
तार है विना किसी आधार;
किसी का अचरज-कौशल है,
विश्व यह छाया है, छल है।

नटी ने निज घूँघट की ओट,
चला दी जो कटाक्ष की चोट;
उसी की सारी हलचल है,
विश्व यह छाया है, छल है।

वीरतामय अतीत-इतिहास,
दुर्ग-पुर-राज्य, विजय-उल्लास;
गन्ध किंशुक की, निष्फल है,
विश्व यह छाया है, छल है।

रूप-यौवन का मधुमय सङ्ग,
क्षितिज-रवि का-सा घन पर रङ्ग;
झमक है, झूठी झलमल है,
विश्व यह छाया है, छल है।

देश का यह अनन्त आकार,
काल का सीमा-हीन प्रसार;
विन्दु में निहित, अर्धपल है,
विश्व यह छाया है, छल है।

शलभ का दीपक पर नर्त्तन,
आँच पर बुदबुद का जीवन;
यही सब है, सब चञ्चल है,
विश्व यह छाया है, छल है।

अंत में

क्षमा करो उनको भी राम!
उनके भी उद्धार-हेतु मैं,
करता हूँ प्रभु, तुम्हें प्रणाम।
जो अपना चेतन खो बैठे,
अहंभाव का विष बो बैठे,
जिनके मस्तक जड़ हो बैठे,
वे किस भाँति झुकें इस ठाम?
क्षमा करो उनको भी राम!
साधु गिनें जो अनुगत को ही,
जिससे मत न मिले, वह द्रोही;
मानें संशयमय जो मोही
स्वयं दक्षिणों को भी वाम!
क्षमा करो उनको भी राम!
सरल रूप में है छल जिनका,
बस, उपहास बड़ा बल जिनका,
कुटिल भाव हो कौशल जिनका,
पर-निंदा है जिनका काम।
क्षमा करो उनको भी राम!
जिनका सत्य नग्नता में है,
भाव विलास-मग्नता में है,
पौरुष नियम-भग्नता में है,
नहीं विनय का जिनमें नाम।
क्षमा करो उनको भी राम!
जान रहे जो रत्न अनल को,
सम थल मान रहे हैं जल को,
जलें न आज, न डूबें कल को,
नाथ, बचा लो उनको थाम।
क्षमा करो उनको भी राम!
सब कुछ जिनके लिये यहीं है,
मरणोत्तर कुछ नहीं कहीं है,
जहाँ भुक्ति है मुक्ति वहीं है,
वे भी तो देखें वह धाम।
क्षमा करो उनको भी राम!
उनका दंभ-दर्प तुम भूलो,
अपने दया-दोल पर झूलो,
सबके हो, सब पर अनुकूलो,
वाम न हो हे लोक-ललाम!
क्षमा करो उनको भी राम!
किसे प्रकाश मिले न अरुण से?
यही विनय है तुम सकरुण से—
दोषी को बाँधो निज गुण से,
शुभ ही हो सबका परिणाम।
क्षमा करो उनको भी राम!

मैथिलीशरण गुप्त

श्रद्धांजलि

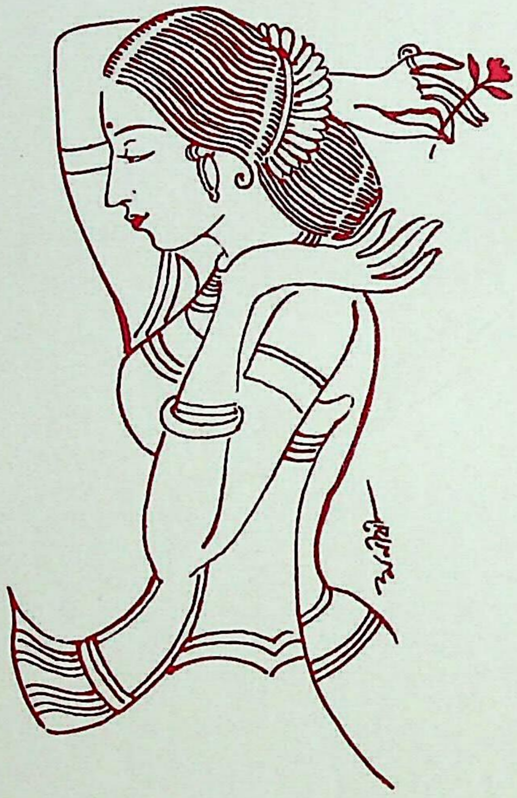

महात्मा गांधी का संदेश

प्रधानमंत्रीजी,

आपका पत्र मुझे मिला है। यद्यपि आचार्य श्री महावीरप्रसादजीसे मेरा सीधा परिचय नहीं तथापि उनकी भाषा सेवासे मैं अपरिचित नहीं हूं। उनको ७० वर्ष प्रवेशके अवसर पर उनका सन्मान हिंदी प्रेमीयों द्वारा होना सर्वथा उचित समझता हूं।

२ ९/३२
यरवडा मंदिर

आपका
मोहनदास गांधी

श्रद्धांजलि

भारतेंदु कर गए भारती की वीणा निर्माण,
किया अमर-स्पर्शों ने जिसका बहु विधि स्वर-संधान,
निश्चय, उसमें जगा आपने प्रथम स्वर्ण-झंकार
अखिल देश की वाणी को दे दिया एक आकार !
पंख-हीन थी अहा, कल्पना, मूक कंठगत गान !
शब्द-शून्य थे भाव; रुद्ध, प्राणों से वंचित प्राण !
सुख-दुख की प्रिय कथा स्वप्न ! बंदी थे हृदयोद्गार,
एक देश था सही, एक था क्या वाणी-व्यापार ?
वाग्मि ! आपने मूक देश को कर फिर से वाचाल,
रूप-रंग से पूर्ण कर दिया जीर्ण राष्ट्र-कंकाल !
शत-कंठों से फूट आपके शतमुख गौरव-गान
शत-शत युग-स्तंभों में तानें स्वर्णाभ कीर्त्ति-वितान !
चिर स्मारक-सा, उठ युग-युग में, भारत का साहित्य
आर्य, आपके यशःकाय को करे सुरक्षित नित्य।

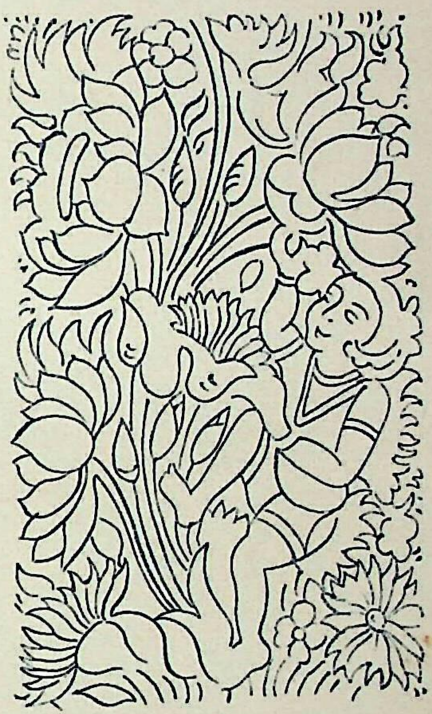

सुमित्रानंदन पंत

हिंदी-साहित्य पर द्विवेदी जी का प्रभाव

पूज्यवर पंडित महावीरप्रसाद जी द्विवेदी का आधुनिक हिंदी-साहित्य ऋणी है, और उसके एक लघु सेवक के नाते मैं अपने को भी उनका ऋणी मानता हूँ। इस ऋण का परिशोध होना मेरे-जैसे अकिंचित्कर से तो असंभव है, परंतु उनके संबंध के इस लेख-द्वारा अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

विगत तीस वर्षों का हिंदी-साहित्य का इतिहास श्रद्धेय पंडित जी की कीर्त्ति-कौमुदी से ही आलोकित है। इस इतिहास-मंदिर की दीवारें जिस नींव पर खड़ी हो सकती हैं, वह एकमात्र उन्हीं की साहित्य-सेवा है। स्वर्गीय पंडित नाथूराम शंकर शर्मा ने जिस 'सरस्वती की महावीरता' का गुणगान किया था, उसे हटा दीजिए तो पहले पंद्रह वर्षों का इतिहास तो शून्य मात्र रह जाता है और पिछले पंद्रह वर्षों का विलकुल लचर। जिस समय पंडितजी ने सरस्वती की सेवा अपने हाथ में ली थी, उस समय की दशा का थोड़ा सा सिंहावलोकन कीजिए। कलकत्ते से भारतमित्र, हिंदीवंगवासी, हितवार्त्ता; बंबई से श्री वेंकटेश्वर-समाचार; पटने से विहार-बंधु; बनारस से भारतजीवन, यही प्रमुख साप्ताहिक थे। 'अत्र भवान् सदा समरविजयी' राजा रामपालसिंह का कालाकाँकरवाला 'हिंदोस्थान' एकमात्र दैनिक था। भट्ट जी का 'हिंदीप्रदीप' प्रयाग से, और 'छत्तीसगढ़मित्र' विलासपुर से साहित्यिक मासिक पत्रों के नाते निकलते थे। सांप्रदायिक पत्रों की चर्चा व्यर्थ है। 'छत्तीसगढ़मित्र' तो उसी साल बंद भी हो गया। पंडित माधवप्रसाद मिश्र का 'सुदर्शन' और पंडित प्रतापनारायण मिश्र का 'ब्राह्मण' दोनों अच्छे पत्र थे; परंतु कभी के बंद हो चुके थे। समस्या-पूर्त्तियों की कई पत्रिकाएँ निकल पड़ी थीं, जिनमें एक 'रसिक-वाटिका' के सिवा, जो राय देवीप्रसाद पूर्ण के तत्त्वावधान में कानपुर से निकलती थी, सभी निकम्मी पूर्त्तियों से भरी जाती थीं। उन दिनों उर्दू की पुस्तकें ज्यादा छपती और विकती थीं और हिंदी की बहुत कम। इसी लिये अच्छी पुस्तकें तो अभागी हिंदी को अलंकृत करने पाती ही न थीं। उसके दो बरस बाद की बात है कि मैंने प्रसिद्ध सुधारक और प्राच्य विद्याओं के विद्वान् स्वर्गीय राय बहादुर लाला बैजनाथ से पूछा—'आप अच्छी हिंदी लिखने में पूर्ण समर्थ होते हुए भी उर्दू में क्यों लिखते हैं?' उन्होंने उत्तर दिया—'हिंदी की पुस्तकों की कोई बात नहीं पूछता। विधवा-विवाह पर मेरी लिखी हिंदी की पुस्तक की छपी प्रतियाँ आज तक मेरे पास पड़ी हैं; और उर्दूवाली का दूसरा संस्करण निकल चुका है।'

'सरस्वती' के ही आकार-प्रकार का पत्र बँगला में 'प्रवासी' निकलता था। वह भी इंडियन प्रेस से ही उन दिनों प्रकाशित होता था। हिंदी में तो 'सरस्वती' का आकार-प्रकार

अद्वितीय था। इसके पहले दो वर्ष तक इसके पाँच संपादक थे जिनमें श्रद्धेय बाबू श्यामसुंदरदास भी थे। तीसरे वर्ष बाबू साहब ने अकेले संपादन-कार्य सँभाला था। चौथे वर्ष से पूज्य द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' की सेवा अपने हाथ में ली। इससे पूर्व पंडित जी की ख्याति संस्कृत और हिंदी के लेखों से साहित्य-संसार में अच्छी तरह हो चुकी थी। अपनी छात्रावस्था में 'संस्कृत-चंद्रिका' में और 'हिंदोस्थान' में मैंने आपके लेख बड़े मनोयोग से पढ़े थे। आपके संस्कृत के लेख तो समझने की मुझमें उपयुक्त योग्यता न थी; परंतु हौसला था और तज्जनित प्रयत्न था। माघ संवत् १९५५ की 'रसिकवाटिका' में आपका 'रसविवेचन' नाम का लेख पढ़कर पहले-पहल—'रस का परिपाक' किसे कहते हैं, यह बात—यथार्थ रूप से मेरी समझ में आई। 'छत्तीसगढ़मित्र' में आपकी लिखी व्यंग्य-पूर्ण, संस्कृत और हिंदी दोनों में ही, 'काककूजितम्' नाम की कविता पढ़कर मैं लोट-पोट हो गया था। जब से 'सरस्वती' का संपादन आपके हाथ में आया, तब से नियम से 'सरस्वती' का पढ़ना मेरा कर्त्तव्य-सा हो गया। उस समय की तो बात ही क्या है, आज भी संपादक-समुदाय में बहुत कम ऐसे दायित्व भाववाले विद्वान् हैं जो अपने कर्त्तव्यों का यथार्थ पालन करते या कर पाते हों। उस समय समालोचना का मार्ग-प्रदर्शन पूज्य द्विवेदी जी ने ही किया। 'छत्तीसगढ़मित्र' में पाठक जी के कई काव्यों की समालोचना बड़े मार्मिक ढंग पर हुई थी। वे विस्तृत समीक्षाएँ थीं। ऐसी ही विस्तृत समीक्षाएँ प्राचीन कवियों पर, और फिर उस समय के भी कवियों पर, पंडित जी ने सामयिक पत्रों में लिखकर यथार्थ समालोचना का मार्ग प्रशस्त कर दिया। आपने समीक्षा में सच्ची बात लिखने में कभी रत्ती भर भी संकोच न किया। शत्रु, मित्र, उदासीन, कोई भाव सत्समालोचना के समय न था। कठोर न्याय आपकी कसौटी था। सदसत्, सत्यासत्य, शिवाशिव और सुंदर-असुंदर का विवेक था। व्यक्ति की महत्ता वा पक्षपात का विवेक के इस समीकरण पर कोई प्रभाव न पड़ता था। आप काशी-नागरीप्रचारिणी सभा के सदस्य थे। सभा ने खोज की रिपोर्ट अँगरेजी में निकाली थी और उसकी प्रति समालोचनार्थ अँगरेजी पत्रों के पास भेजी थी। 'प्रवासी' तक को मिली। 'सरस्वती' के पास न गई। आपने अपने खर्च से एक प्रति मँगवाकर उसकी निष्पक्ष समालोचना की और उसकी त्रुटियाँ दिखाईं। आपने इस प्रकार पुस्तकें मँगा-मँगाकर समालोचना करके व्यवहारतः यह दिखा दिया कि प्रचलित साहित्य की हठात् समीक्षा करना संपादक का आवश्यक कर्त्तव्य है। यदि वह जैसे-तैसे साहित्य का मनमाना प्रचार होने दे तो वह भारी भूल करता है।

पहले वर्ष के संपादन में पं० गिरिजादत्त वाजपेयी के सिवा और किसी का लेख नहीं है, सभी आपकी ही कलम से हैं। बात यह न थी कि लेखों का कोई संग्रह न था। नहीं, संगृहीत लेखों में आपकी पसंद के लेख न थे। जो थे भी, उनमें इतने संशोधनों की आवश्यकता थी कि पूरा संशोधन होने पर 'सारा मजमून रुखसत' हो जाता। उस समय चौथा ही साल था और शायद ग्राहक-संख्या बहुत गिर गई थी। हालत डावाँडोल थी। स्वर्गीय बाबू चिंतामणि घोष के साहस और हौसले ने तथा द्विवेदी जी की विद्वत्ता, परिश्रम, संपादन-कला और कलम के जोर ने उसे

सँभाल लिया; नहीं तो इधर तीस बरसों का हिंदी-साहित्य का इतिहास किसी और ढंग पर लिखा जाता। फिर 'सरस्वती' की दूसरी-तीसरी संयुक्त संख्या में आपने 'हिंदी भाषा और साहित्य' नाम का अपना एक बड़े महत्त्व का लेख दिया है। इसके अंत में आपने उस समय के विश्वविद्यालय के पदवीधरों को कड़ा उलाहना दिया है और पूज्यवर पंडित मदनमोहन मालवीय जी को भी नहीं छोड़ा है। उनसे प्रेमपूर्वक विनय किया है कि 'आप स्वयं हिंदी में लिखा कीजिए और अपने प्रभाव के अधीन सबको हिंदी को ही अपनाने को प्रवृत्त कीजिए।' आपका यह उलाहना बड़ा जोरदार है। इसी के प्रभाव से आपके पास कुछ अच्छे लेख भी आने लगे। आपके उद्योग और अध्यवसाय से अनेक छिपे रुस्तम निकल पड़े। बेहिम्मतवालों को हिम्मत हो गई। उस समय के अच्छे-अच्छे लेखकों ने 'सरस्वती' को लेख देना आरंभ किया। श्री राधाकृष्णदास, पंडित श्रीधर पाठक, डाक्टर महेंदुलाल गर्ग, पंडित राधाचरण गोस्वामी, श्री शिवचंद्र जी भरतिया, पंडित गौरीदत्त जी वाजपेयी, राय देवीप्रसाद जी पूर्ण, पंडित जनार्दन जी झा, पुरोहित गोपीनाथ जी, पंडित माधवराव जी सप्रे, पंडित गंगाप्रसाद जी अग्निहोत्री, पंडित नाथूराम शंकर शर्मा, पंडित शुकदेवप्रसाद तिवारी, मुंशी देवीप्रसाद मुंसिफ, पंडित रामचरित उपाध्याय, कुँवर हनुमंतसिंह प्रभृति उस समय के लेखक और कवि 'सरस्वती' को अपने लेख-रत्नों से आभूषित करने लगे। नई पीढ़ी के लेखकों और कवियों का भी इसी समय अभ्युदय और प्रोत्साहन हुआ। मेरे सहाध्यायी लोकमणि और वागीश्वर मिश्र अच्छे और होनहार कवि थे। परंतु दो-तीन बरस के अंदर ही वे दिवंगत हो गए। श्रीगिरिजाकुमार घोष बंगाली थे; परंतु लाला पार्वतीनंदन के नाम से उन्होंने जो कहानियाँ लिखी हैं, उन्हें पढ़कर कोई यह नहीं कह सकता कि ये किसी बंगाली की लिखी हुई हैं। आधुनिक गल्प-लेखन कला का उन्हीं से आरंभ समझना चाहिए। श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने विलायत से अपने लेख भेजने आरंभ किए। श्री सत्यनारायण कविरत्न की कविताएँ 'सरस्वती' में चमकने लगीं। श्री मैथिलीशरण गुप्त जी की कविताएँ भी निकलने लगीं। पंडित रामचंद्र शुक्ल, पंडित वेंकटेशनारायण तिवारी, पंडित लक्ष्मीधर वाजपेयी, पंडित देवीप्रसाद शुक्ल, श्री ब्रजनंदनसहाय, पांडेय लोचनप्रसाद, स्वामी सत्यदेव, श्रीनरेंद्रनारायणसिंह, लाला हरदयाल, पंडित गिरिधर शर्मा नवरत्न, पंडित लक्ष्मीप्रसाद पांडेय, पंडित आनंदीप्रसाद दुबे आदि लेखकों ने 'सरस्वती' को अपनाया। फिर तो 'सरस्वती' चल निकली। दस बारह बरसों के बाद लेखकों की संख्या और भी बढ़ी। उनके नामों का उल्लेख अनावश्यक है। 'सरस्वती' का कलेवर भी बराबर बढ़ता गया। यहाँ तक कि औरों ने स्पर्धा की; और यह प्रयत्न होने लगा कि लोग पत्रिका निकालें तो 'सरस्वती' के टक्कर की और संपादक हो तो पूज्य द्विवेदी जी-जैसा। पंडित जी का नाम इस स्पर्धा में लेना तो हद दरजे की ढिठाई होती; परंतु फिर भी मेरठ की 'ललिता' ने अपने कवर पर 'सरस्वती' से टक्कर लेने की बात लिख ही डाली! इस टक्कर का फल तो प्रत्यक्ष है, परंतु उसके संपादक का हाल मैं नहीं जानता। जो हो, पूज्य द्विवेदी जी के संपादन के पहले वर्ष में व्यंग्यचित्रों के रूप में वर्त्तमान साहित्य की जो आलोचनाएँ निकलीं, वे अपने ढंग की निराली थीं। साहित्य-सभा, शूर समालोचक, नायिकाभेद का पुरस्कार, कलासर्वज्ञ

संपादक, मातृभाषा का सत्कार, रीडर-लेखक और हिंदी, काशी-साहित्य-सभा, चातकीचरमलीला आदि ऐसी समीक्षाएँ निकलीं जिन्होंने मर्मस्थल पर घाव किए और लोग इन्हें सह न सके—दुहाइयाँ देने लगे। ब्राह्मण के दयालु हृदय को पसीजते क्या देर लगती है! द्विवेदी जी ने अगले वर्ष से उसका सिलसिला बंद कर दिया। परंतु आपकी 'वार्षिक आलोचना' इस कमी की बहुत कुछ पूर्त्ति कर देती थी। आप कोई लेख बिना आदि से अंत तक पढ़े और संशोधन किए, 'सरस्वती' में छपने के लिये न देते थे—फिर चाहे वह किसी का लेख और किसी विषय का क्यों न होता। अनेक निकम्मे लेख लौटा भी दिए जाते थे। संशोधनों पर अनेक लेखक झुँझला उठते थे, नाराज होकर बहुत दिनों तक लेख न देते थे, आपको उलाहने देते थे, झगड़ बैठते थे। पर आप ऐसों को बड़े धैर्य से समझाते थे—"आखिर आपको सर्वज्ञता का दावा तो है नहीं, हम सभी भूल कर सकते हैं। मैं भूल करूँ, आप बता दें तो मैं कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करूँगा।" इत्यादि। लेखों का संशोधन करते-करते आपके मन में भाषा और व्याकरण के नियमों की 'अनस्थिरता' के संबंध में जो विचार उत्पन्न हुए, आपने वे 'भाषा और व्याकरण' नामक लेख में 'सरस्वती' के छठे भाग के ग्यारहवें अंक में दिए। उसमें अनेक प्रसिद्ध लेखकों के उदाहरण देकर आपने बड़ी योग्यता से अपनी प्रतिज्ञा को प्रमाणित किया। इस लेख से एक भारी लाभ हुआ। श्री बालमुकुंद गुप्त ने स्वयं आपके लेख में त्रुटियाँ दिखाकर हँसी उड़ाई। गुप्त जी से आपका कोई झगड़ा न था। गुप्त जी बड़े मसखरे थे। साहित्य-क्षेत्र में उनकी संपादकता में जब कालाकाँकर का 'हिंदोस्थान' निकलता था, तब पूज्य द्विवेदी जी अपने लेख दिया करते थे। पहले का रव्त-जब्त था। 'आत्माराम' के कल्पित नाम से भारतमित्र में 'अनस्थिरता' शब्द की दिल्लगी उड़ाते हुए उन्होंने एक लेख-माला निकाल दी। इसका बड़ा ही सुंदर युक्तियुक्त तथा विनोदपूर्ण उत्तर आपने 'सरस्वती' में दिया[1]। गुप्त जी के भद्दे विनोद का उत्तरवाला अंश तो 'कल्लू अल्हइत' ने पहले ही लिख दिया था[2]। इस विवाद से हिंदी-लेखकों का बड़ा उपकार हुआ। लेख-शैली सुधर गई। लेखों में नियमों की स्थिरता आ गई। पंडित गोविंदनारायण मिश्र ने भी 'आत्माराम की टें टें' नाम की लेख-माला में द्विवेदी जी की अनेक बातों का समर्थन किया। आपने जो विवाद उठाया, उसका फल यह हुआ कि इसके बाद से हिंदी के सभी लेखक अधिक सावधान हो गए। लेखन-शैली सुधर गई। मुहावरों पर लोगों ने ध्यान देना शुरू किया। व्याकरण के शिकंजे में भाषा कसी जाने लगी। 'अनस्थिरता' और उच्छृंखलता बहुत घट गई। हिंदी के पाठकों की रुचि को भी आपने धीरे-धीरे बढ़ाया। आपने आते ही 'सरस्वती' की भाषा को अधिक सरल और सुबोध बनाया। इतने पर भी पाँचवें भाग के 'सांवत्सरिक सिंहावलोकन' में आप और अधिक सरलता चाहनेवाले पाठकों को आश्वासन देते हैं। लेखों की भीड़ की भारी शिकायत से स्पष्ट प्रकट है कि आपको उनकी भाषा के संशोधन में कितना परिश्रम करना पड़ता था। आप लिखते हैं—"अतएव लेखों से सरस्वती

[1] 'भाषा और व्याकरण'—सरस्वती, भाग ७, संख्या २, पृष्ठ ६०, फरवरी १९०६

[2] 'सरगौ नरक ठेकाना नाहिं'—सरस्वती, भाग ७, संख्या १, पृष्ठ ३८, जनवरी १९०६.

की सहायता करनेवाले सज्जनों से प्रार्थना है कि अब वे अपने लेखों को पहले की अपेक्षा अधिक लाभदायक और रोचक करने की कृपा करें।'' इसी लेख में आपने 'अखिल प्रबंधहर्त्ता' ग्रंथकर्त्ताओं की खूब खबर ली है और उन्हें सावधान कर दिया है। आगे के वार्षिक सिंहावलोकनों में आपने लेखकों एवं पाठकों को अधिक गंभीर और ठोस लेखों में अभिरुचि बढ़ाने के लिये उत्साहित किया है। 'सरस्वती' भाषा की ओर जैसे उत्तरोत्तर अधिकाधिक सुबोध और रोचक होती गई, वैसे ही विषय की ओर भी अधिक गंभीर और अधिकाधिक उपयोगी बनती गई। उसने जो नमूना हिंदी-संसार को दिखाया, उसका जोरों के साथ अनुकरण किया गया। क्या विषय में, क्या भाषा में, क्या चित्रों में, क्या छपाई और सज-धज में, सभी अंगों में हिंदी के सामयिक साहित्य-संसार में 'सरस्वती' आदर्श बन गई। उसके अनुकरण में आज अनेक सामयिक पत्र निकल रहे हैं और 'सरस्वती साइज' तो कागज की नाप पर ध्यान न देनेवालों में डबल क्राउन अठपेजी का नाम पड़ गया है! आज चाहे 'सरस्वती' के उतने पढ़नेवाले न हों, परंतु किसी समय जब 'सरस्वती' के टक्कर की पत्रिकाएँ नहीं निकली थीं, 'सरस्वती' का ग्राहक एक होता था तो उससे मँगनी माँगकर पढ़नेवाले दस से कम नहीं होते थे। और पुस्तकालयों में तो कहना ही क्या है! इस तरह पंडित जी के लेखों और विचारों का प्रचार 'सरस्वती' की ग्राहक-संख्या से दस गुने अधिक पाठकों में बराबर होता रहता था।

पूज्य द्विवेदी जी ने हिंदी-साहित्य के प्रचार और प्रसार के किसी अंग को नहीं छोड़ा। अन्य भाषाओं के पत्रों में निकले हुए अच्छे लेखों का स्वाद अपने पाठकों को चखाते हुए उनकी दाद देना और उचित प्रशंसा करना आपके संपादन की विशेषता थी। आपने पाठकों की जानकारी के क्षेत्र को विस्तीर्ण कर दिया, अपने लेखकों को उनके विस्तार में सहायक होने को प्रोत्साहित किया; साथ ही कई लेखकों को आप और क्षेत्रों से लाने में भी समर्थ हुए। राय साहब छोटेलाल जी (बार्हस्पत्य) इंजीनियर के ज्यौतिष वेदांग पर बड़े ही गवेषणापूर्ण लेख अँगरेजी के 'हिंदुस्तान रिव्यू' में छपे थे। लेख सचमुच बड़े महत्त्व के थे। आप उन्हें पढ़कर लोट-पोट हो गए। 'बार्हस्पत्य' जी को एक स्वरचित सुंदर संस्कृत पद्य में आशीर्वाद दिया। आपकी दाद और आशीर्वाद ने बार्हस्पत्य जी को 'सरस्वती' के लिये मोल ले लिया। फिर तो लिपियों पर बार्हस्पत्य जी की बड़ी ही गवेषणा-पूर्ण—परंतु साथ ही अत्यंत रोचक—लेखमालाएँ निकलीं। मैंने तो ऐसे रूखे-सूखे विषय का ऐसा मनोमोहक रूप आज तक दूसरा नहीं देखा है। नागरी-लिपि के प्रचार और रोमन तथा कैथी लिपियों पर विचार के संबंध में भी आपने कम ध्यान नहीं दिया। संपादक की हैसियत से हिंदी-हित के लिये आपकी कोशिशें चौमुखी थीं। जिस विषय की आपने समीक्षा की, उसका पूरा परिशीलन करके ही छोड़ा। आपकी समालोचना-विधि से प्रभावित यों तो हिंदी-संसार ही हुआ; परंतु कवि 'शंकर' ने तो अपनी अनुपम कविता-द्वारा दो बार अच्छी दाद दी। एक बार उन्होंने समालोचना के लक्षण पर एक लंबी कविता लिखी। दूसरी बार उन्होंने 'सरस्वती की महावीरता' लिखी। इसे जनवरी १९०७ के अंक में द्विवेदी जी ने बड़ी मुश्किलों से प्रकाशित किया।

'सरस्वती' की उत्तरोत्तर वृद्धि से प्रभावित होकर और पत्रिकाएँ भी साहित्य-प्रांगण में आने लगीं। भागलपुर से 'कमला' निकली, पर कुछ दिनों चलकर बंद हो गई। प्रयाग से 'मर्य्यादा' निकली और कुछ दिनों तक चली। उसे लेखक भी अच्छे-अच्छे मिले। 'सरस्वती' के लेखों में गंभीरता के साथ-साथ रोचकता का जो प्राचुर्य था, वह 'मर्य्यादा' में भी लाने की कोशिश की गई और उसे बहुत-कुछ सफलता भी मिली। मेरठवाली 'ललिता' ने तो बढ़कर 'सरस्वती' का मुकाबला करना चाहा। खंडवा से 'प्रभा' निकली और अच्छी निकली; परंतु पूरे साल भर तक चलना कठिन हो गया। कई वर्षों पीछे वही 'प्रताप'-कार्यालय (कानपुर) से फिर निकली। परंतु कई वर्ष चल कर धनाभाव से फिर बंद हो गई। हमारी काशी से 'इन्दु' भी सुंदर प्रकाशित हुआ। उसकी सज-धज भी अच्छी थी; पर वह भी कुछ बरसों के बाद अस्तंगत हो गया। जान पड़ता है, इन पत्रिकाओं में लेखों का संशोधन विशेष मनोयोग के साथ नहीं किया जाता था। किंतु 'सरस्वती' में संशोधन करके लेख छापते-छापते द्विवेदी जी ने सैकड़ों नवयुवकों को सुलेखक बना डाला। अब, 'अभ्युदय' और उसके बाद 'प्रताप' ने साप्ताहिक पत्रों का आदर्श उपस्थित किया। पंडित जी की छत्रच्छाया में ही 'प्रताप' का स्कूल जन्मा और फला-फूला। आत्मोत्सर्ग के सर्वोत्कृष्ट आदर्श श्रीगणेशशंकर विद्यार्थी का पहला लेख, जो सरस्वती में छपा था, 'आत्मोत्सर्ग' ही था। उस दिवंगत आत्मा का लेख आज भी पढ़ने से जान पड़ता है कि मानों आत्म-बलिदान का उदाहरण देने के पूर्व ही यह लेख लिखा होगा। 'प्रताप' का ढंग सभी साप्ताहिकों से निराला निकला। उसकी शैली, उसका संपादन, उसकी गंभीरता, उसकी तेजस्विता, उसकी स्वतंत्रता और निर्भीकता जिस मस्तिष्क से निकलती थी, उसकी रचना का बहुत बड़ा श्रेय पंडित जी को ही है। 'प्रताप' को देखकर औरों ने अनुकरण की कोशिश की; पर वह आज भी अननुकरणीय ही है।

'कालिदास की निरंकुशता' बड़ी आनबान से लिखी गई। 'मनमाराम' ने इसका उत्तर भी देने की चेष्टा की; परंतु वह बात कहाँ! साथ ही विद्यावारिधि जी की निरंकुशता की खबर पंडित पद्मसिंह शर्मा ने ली। 'सतसई-संहार' भी सरस्वती में एक चीज निकली। समालोचना के साथ-साथ विनोद का बड़ा अच्छा मेल था। पंडित जी के मित्र विद्यावारिधि (पंडित ज्वालाप्रसाद मिश्र) जी भी थे और शर्मा जी भी। परंतु सत्समालोचना के आगे इन संबंधों की क्या चर्चा? मैथिलीशरण गुप्त जी को आपने ही प्रोत्साहित करके महाकवि बनाया और 'साकेत' महाकाव्य की नींव भी 'सरस्वती' के ही प्रांगण में पड़ी थी। पंडित जी के संपादन में 'सरस्वती' ने वस्तुतः अपना नाम सार्थक कर दिया। उसने वही काम किया जो हिंदी-संसार के लिये एक प्रौढ़ और समुन्नत विद्यापीठ या विश्वविद्यालय करता। 'सरस्वती' की पुरानी फाइलें उठाकर देखिए—साहित्य, विज्ञान, दर्शन, इतिहास, संगीत, चित्रकला, नीति, कोई शास्त्र छूटा नहीं। सभी विषयों पर अच्छे से अच्छे गंभीर और गवेषणापूर्ण लेख हैं और इनमें से अनेक या तो स्वयं पंडित जी की कलम से हैं अथवा उनके प्रभावित लेखकों की कलम से। इस चलते-फिरते प्रचारित विश्वविद्यालय में लाखों पाठकों ने घर-बैठे शिक्षा पाई और पंडित, सुलेखक और कवि हो गए। यदि हम पूज्यवर द्विवेदी जी को इस बड़े समुदाय का आचार्य

कहते हैं तो उसमें पूर्ण औचित्य है। कई वर्षों से बहुश्रुत समुदाय का यह प्रस्ताव है कि हिंदू-विश्वविद्यालय को चाहिए कि आपको 'डॉक्टर आफ लिटरेचर' की उपाधि दे। परंतु मैं तो समझता हूँ कि विश्वविद्यालय द्विवेदी जी से प्रार्थना करे कि वह इस तरह की कोई उपाधि स्वीकार करके विश्वविद्यालय का सम्मान बढ़ावें। पूज्य द्विवेदी जी उपाधि और सम्मान से कितनी दूर भागते हैं, यह बात छिपी नहीं है। सम्मेलन उद्योग करके थक गया, आपने उसका सभापतित्व न किया, न किया। 'डॉक्टर' की उपाधि आपके लिये क्या मूल्य रखती है! आपने अपने साहित्यिक जीवन में मातृ-भाषा हिंदी की जो सेवाएँ की हैं, उनको फूलते-फलते देखकर आपको आज जो आनंद हो रहा है, उसका मूल्य कौन आँक सकता है? और उससे हिंदी-साहित्य का जो प्रसार और प्रचार हो रहा है, वह हमारी आँखों के सामने इतना प्रत्यक्ष है कि स्वाभाविक-सा लगता है और हम उसके प्रेरक के प्रति कृतज्ञ होना भूल जाते हैं।

रामदास गौड़

MESSAGE FROM GERMANY

MUNCHEN 2M.:

Dated the 28th September, 1932.

WE enclose herewith our contribution, the German text along with a Hindi translation, to the Memorial volume in honour of Acharya Mahavira Prasad Dvivedi, whom you are fittingly honouring this way. This message embodies the sentiment not only of myself or of the Deutsche Akademie, but of the whole German nation.

Dr. v. Winternitz

President, India Institute of the Deutsche Akademie.

वे दिन !

सन् १९०४ ई० की घटना है । मैं काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा की ओर से, हस्तलिखित पुस्तकों की खोज के लिये सहकारी एजेंट बनाकर, बुंदेलखंड भेजा गया था। उन दिनों साहित्यिक कारणवश पूज्य द्विवेदी जी का, सभा एवं बाबू श्यामसुंदरदास से, मतभेद हो गया था। विशेषतः हिंदी-पुस्तकों की खोज के विषय में उस समय विवाद चल पड़ा था। अक्टूबर १९०४ ई० की 'सरस्वती' में सन् १९०१ ई० की 'खोज की रिपोर्ट' की कड़ी समालोचना हुई थी। सभा ने उस समालोचना का प्रतिवाद करते हुए इंडियन प्रेस के स्वामी को एक पत्र लिख भेजा। दिसंबर सन् १९०४ की 'सरस्वती' में आदरणीय आचार्य द्विवेदी जी का एक तीव्र आलोचनामय लेख निकला। 'सभा और सरस्वती' उसका शीर्षक था। उसमें सभा के पत्र का प्रतिवाद करते हुए, और इन पंक्तियों के लेखक पर भी दो-चार छींटे देते हुए, पूज्य द्विवेदी जी ने रिपोर्ट की समालोचना की। उस समय मैं पन्ना (मध्य भारत) में खोज का काम कर रहा था। वहाँ उक्त लेख को देखकर मैं क्षुब्ध हो उठा। कारण, बाबू श्यामसुंदरदास तथा सभा के साथ सन् १८९५ से मेरा घना संबंध चला आ रहा था। अतः मुझमें सभा और बाबू साहब के साथ सहानुभूति और पूर्ण पक्षपात का होना स्वाभाविक ही था। उक्त लेख निकलने के साथ ही सभा के अधिकारियों तथा शुभचिंतकों में बड़ी हलचल मच गई। इस झगड़े ने यहाँ तक उग्र रूप धारण किया कि नागरी-प्रचारिणी सभा ने तुरंत अपनी प्रबंधकारिणी समिति की बैठक करके इंडियन प्रेस को सूचना दे दी कि 'सभा' आगामी जनवरी १९०५ से 'सरस्वती' पर से अपना अनुमोदन हटाती है। फिर क्या, इंडियन प्रेस के संस्थापक स्वनामधन्य बाबू चिंतामणि घोष बड़े आत्माभिमानी पुरुष थे। जनवरी १९०५ की 'सरस्वती' के छपे हुए कवर को रद्द करा दिया, और दूसरा कवर—'नागरी-प्रचारिणी सभा के अनुमोदन से संस्थित' निकलवा कर—छपवा दिया। फलतः 'सरस्वती' एक सप्ताह देर करके अपने पाठकों की सेवा में पहुँची। जहाँ तक मुझे स्मरण है, फरवरी १९०५ की संख्या मुझे बिहारी-सतसई के उर्दू-अनुवादक लाला देवीप्रसाद 'प्रीतम' से बिजावर (बुंदेलखंड) में मिली। सभा के अनुमोदन से शून्य कवर देखकर मैं चौंक उठा। हृदय से एक चीख निकल पड़ी। इतने ही में पृष्ठों को उलटते-पलटते क्या देखता हूँ कि उसी झगड़े के कारण 'सरस्वती' को सभा से बिदाई लेनी पड़ी है! इस पर द्विवेदी जी ने जो 'अनुमोदन का अंत' शीर्षक संपादकीय वक्तव्य लिखा था—सहृदयता और मार्मिक दुःख के साथ—उसे पढ़कर कोई सहृदय पाठक बिना दो बूँद आँसू बहाए नहीं रह सकता था। मैं आज भी सच्चे हृदय से कहता हूँ कि उक्त लेख को पढ़कर यह सहज ही पता लग जाता है कि द्विवेदी जी

महाराज कितने सहृदय, भावुक, प्रतिभाशाली, विद्वान् और शिष्ट लेखक हैं। वे इस दिशा में अपना सानी नहीं रखते। उक्त लेख को पढ़कर आधुनिक लेखक उपर्युक्त गुण सीख सकते हैं। अपने विपक्षी के प्रति तर्क में कैसा शिष्टतापूर्ण सौम्य भाव दिखलाना आवश्यक है, यह उस लेख से कोई सीख सकता है। अस्तु, छतरपुर-बिजावर में प्राचीन पुस्तकों की खोज का काम करके मैं झाँसी होता हुआ सीधा जुही (कानपुर) पहुँचा। पूज्यवर द्विवेदी जी से मेरा पहला उग्र प्रश्न यही हुआ कि सभा के कार्यों की इतनी कड़ी आलोचना का हमें किस रूप में प्रतिवाद करना होगा—क्या 'विषस्य विषमौषधम्' की नीति का अवलंबन करना पड़ेगा ? पर वाह रे सहृदयता ! उसी समय श्रद्धेय द्विवेदी जी ने मुसकराते हुए सज्जनोचित शब्दों में कहा—"देवता ! ठहर जाओ, मैं अभी आता हूँ ।" बस, घर में जाकर एक हाथ में एक गिलास—जिस पर एक सुंदर तश्तरी में मिठाइयाँ रक्खी थीं—तथा दूसरे हाथ में एक लोटा पानी लिए हुए बाहर आये। लाकर मेरे सामने रख दिया, और उसी कमरे के एक कोने से एक मोटी लाठी भी लाकर मेरे सामने रख दी। मुसकराते हुए बोले—"सुदूर प्रवास से थके-माँदे आ रहे हो, पहले हाथ-मुँह धोकर जलपान करके सबल हो जाओ, तब—यह लाठी और यह मेरा मस्तक है ।" मैं अपने उग्र प्रश्न तथा उद्दंड व्यवहार के प्रति ऐसा नम्रतापूर्ण उत्तर और भद्रोचित सद्व्यवहार देखकर पानी-पानी हो गया। चित्त की क्रोधाग्नि को अश्रु-धारा ने बुझा दिया। क्रोध का स्थान करुणा ने ग्रहण कर लिया। हृदय में श्रद्धा और भक्ति का भाव उमड़ पड़ा। उसी समय से विद्वद्वर द्विवेदी जी पर दिन दिन मेरी असीम श्रद्धा बढ़ती गई, जिसका परिणाम भविष्य में यह हुआ कि जब कभी वे काशी आते, तब दो दिन पहले ही मुझे सूचना दे देते—"मैं अमुक तिथि को अमुक समय अपने बहनोई के यहाँ ('त्रिपुराभैरवी' पर) पहुँचूँगा। वहीं पर अवश्य मिलो।" मैं यथासमय जाकर सेवा में उपस्थित हो जाता था। उन दिनों जब कभी वे काशी आते, सभाभवन में,—केवल मतभेद के कारण—कभी न जाते; बल्कि सभा से सटे कंपनी-बाग में जाकर बेंच पर बैठे रहते और किसी आने-जानेवाले आदमी से मुझको सभा के पुस्तकालय से बुलवा लेते। मुझसे अधिक स्नेह होने के कारण वे पंडित रामनारायण मिश्र से कहकर—जब तक काशी में रहते, तब तक के लिये—मुझे सभा से माँग लेते। एक बार, बनारस-कांग्रेस के अवसर पर, सन् १९०५ के दिसंबर में, आप काशी पधारे। मैं भी उस समय आपके साथ ही कानपुर से आया। जहाँ तक मुझे स्मरण है, बाबू श्यामसुंदरदास जी, बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर', बाबू अमीरसिंह और मैं, आठ बजे रात को, सब लोग एक साथ ही, द्विवेदी जी के बहनोई के घर उनसे मिलने गए थे। उस समय साहित्यिक चर्चा चली, पर द्विवेदी जी ने कोई ऐसी बात न कही जिससे उक्त बाबू साहब के प्रति मनोमालिन्य प्रकट होता। मैं द्विवेदी जी की यह अलौकिक क्षमता तथा ऐसा शिष्टतापूर्ण व्यवहार देखकर चकित हो गया। द्विवेदी जी में यह बड़ा भारी गुण है कि वे अपने प्रतिद्वंद्वी के प्रति आत्मीयतापूर्ण सद्व्यवहार दिखलाने में कभी पीछे नहीं रहते। ऐसी स्थिति में वे सदा उदार नीति को ही आश्रय देते आए हैं। इसी बात पर एक मनोरंजक घटना याद आ गई। नवंबर १९०५ की सरस्वती में 'भाषा और व्याकरण' शीर्षक एक लेख निकला। उसमें हिंदी के धुरंधर लेखकों

की रचनाओं से व्याकरण-संबंधी अनेक दोष उद्धृत करके दिखलाए गए थे। शायद उसमें तत्कालीन 'भारतमित्र' के संपादक लाला बालमुकुंद गुप्त की रचना से भी एक अवतरण दिया गया था। फल-स्वरूप लाला बालमुकुंद गुप्त ने 'आत्माराम' के नाम से बड़ी ही तीव्र भाषा में प्रतिवाद किया। 'भाषा की अनस्थिरता' शीर्षक लेख में द्विवेदीजी पर अनेक वाग्बाण बरसाए। उनके प्रतिवाद का खंडन विद्यादिग्गज पंडित गोविंदनारायण मिश्र ने 'आत्माराम की टें टें' शीर्षक लेख में किया। मिश्र जी का वह लेख बड़े कटु-शब्दों में लिखा गया था। गंभीर और विद्वत्तापूर्ण शैली थी। 'हिंदी-वंगवासी' में वह प्रकाशित हुआ था। उसका परिणाम यह हुआ कि हिंदी के तत्कालीन सभी प्रतिष्ठित धुरंधर लेखक द्विवेदी जी के पक्ष में हो गए। 'भारतमित्र' और 'सरस्वती' के बीच यह झगड़ा बरसों चलता रहा जिसमें हिंदी-वंगवासी, व्यंकटेश्वर-समाचार, सुदर्शन आदि अपने-अपने इष्ट-मित्रों का पक्ष लिए रहे। इस वाद-विवाद में कुछ लोग सहृदयता, सौजन्य और शिष्टता का ध्यान एक दम भूल गए थे। पर विद्वद्वर द्विवेदी जी उस अवस्था में भी अपने विरोधियों का प्रतिवाद करने में सर्वदा शिष्टता और सहृदयता का ही निर्वाह करते रहे। अपने स्वाभाविक अभ्यास के कारण वे मर्यादा का ध्यान कभी न भूले। पर कोई कहाँ तक सहन कर सकता है? सहन-शीलता की भी एक सीमा होती है। एक लेख में मीरमुंशी[१] बालमुकुंद जी ने बैसवारे की बोली में "हम पंचन के टूवाला माँ" लिखकर द्विवेदी जी पर कटाक्ष किया। बस, द्विवेदी जी कुछ क्षुब्ध हो उठे। 'कल्लू अल्हइत' के नाम से "सरगौ नरक ठेकाना नाहिँ" शीर्षक आल्हा लिख डाला! उस पर उक्त मीरमुंशी जी ने अपनी राय देते हुए लिखा—'भाई वाह! कल्लू अल्हइत का आल्हा खूब हुआ! क्यों न हो, अपनी स्वाभाविक बोली में है न'। यही वाक्य लिखकर उन्होंने संतोष कर लिया। किंतु उक्त आल्हा द्विवेदी जी के उस समय के आंतरिक भावों का द्योतक था। इस झगड़े ने हिंदी-साहित्य-संसार में बड़ी चहल-पहल मचा दी थी। फिर भी लाला बालमुकुंद जी गुप्त बड़े धर्मभीरु और ब्राह्मणभक्त थे। वे बहुत पहले से द्विवेदी जी के दर्शन करना चाहते थे। परंतु यह सुनकर कि द्विवेदी जी बड़े उग्र स्वभाव के हैं, उनके पास जाने का साहस न करते थे। फिर भी, अपने जीवन के अंतिम दिनों में, कानपुर के सुप्रसिद्ध उर्दू मासिक पत्र 'जमाना' के सुयोग्य संपादक मुंशी दयानारायण निगम बी० ए० के साथ, वे द्विवेदी जी के पास जुही गए। निगम महाशय ने द्विवेदी जी का परिचय देते हुए कहा—"आप ही सरस्वती के सुयोग्य संपादक पं० महा......।" इतना कहना था कि लालाजी ने झट द्विवेदी जी के चरणों पर अपना मस्तक रख दिया। द्विवेदी जी उन्हें पहचानते न थे, बड़े आश्चर्य में पड़ गए; एक अपरिचित भद्र पुरुष को इस प्रकार चरणों पर माथा टेकते देख चट उठाकर हृदय से लगा लिया। तब, निगम महाशय ने बतलाया कि 'आप 'भारतमित्र' के सुयोग्य संपादक लाला बालमुकुंद जी गुप्त हैं।' गुप्त जी

---

[१] पहले बाबू शिवप्रसादजी (पश्चात् राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद) 'मीरमुंशी' के नाम से प्रसिद्ध थे। इसके बाद 'कोहनूर' और 'रीडिंग रूम चुनार' नामक प्रसिद्ध उर्दू पत्रों के सुयोग्य संपादक लाला बालमुकुंद गुप्त 'मीरमुंशी' कहलाने लगे थे।

ने अश्रुधारा बहाते हुए कहा—"मैं अपराधी हूँ और आपके सामने अपने उन अभद्रतापूर्ण व्यवहारों के लिये क्षमा माँगने और प्रायश्चित्त करने आया हूँ। आप विद्या में गुरु बृहस्पति, स्नेह में ज्येष्ठ भ्राता तथा करुणा में बुद्ध के सदृश हैं। आपके चरणों पर मैं बार बार अपना सिर रखता हूँ। अखबारनवीसी एक ऐसा काम है जिसमें अपने कर्त्तव्यों का पालन करने में बहुधा ऐसी भूलें होती हैं। मैंने न्याय-संगत बातों का अनुचित रूप से उत्तर दिया है, जिसके लिये मैं हृदय से क्षमा चाहता हूँ।" आज तक द्विवेदी जी समय-समय पर गुप्त जी की इस उदाराशयता की प्रशंसा किया करते हैं।

आह! वे दिन चले गए; पर बातें याद हैं। वर्त्तमान का संबंध कभी अतीत से टूट नहीं सकता। तभी आज इन पंक्तियों को लिखकर हृदय हलका हुआ है।

केदारनाथ पाठक

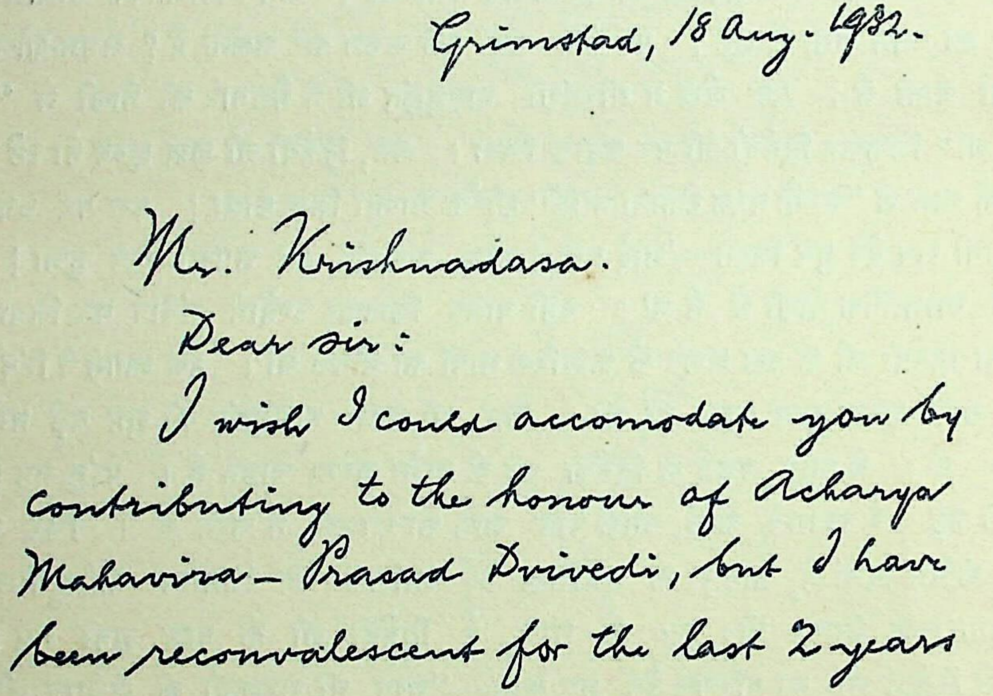

Grimstad, 18 Aug. 1932.

Mr. Krishnadasa.

Dear sir:

I wish I could accomodate you by contributing to the honour of Acharya Mahavira-Prasad Dvivedi, but I have been reconvalescent for the last 2 years and feel not able to do penwork at all. Even this few lines are — I am sure — full of uncorrectness. Beg to be excused!

Yours respectfully
Knut Hamsun.

द्विवेदी जी की एकनिष्ठ साधना

आज से अनेक वर्ष पहले हिंदी की अवस्था आज जैसी नहीं थी। इस अभागे देश के विद्वान् हिंदी से अनजान होने को ही प्रतिष्ठा की बात समझते थे। उनको हिंदी की ओर खींचने में, उनके हृदय में हिंदी-प्रेम भरने में पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने सबसे अधिक परिश्रम किया है। वे वीर योद्धा के समान इस क्षेत्र में आए थे—उन्होंने प्रतिद्वंद्वियों का सामना किया; अपनी असीम योग्यता, अटूट धैर्य और अप्रतिम दक्षता दिखाई, और विजयी हुए। लोगों ने उनको समझा, उनका महत्त्व स्वीकार किया। यह है एकनिष्ठ साधना का फल। द्विवेदी जी हिंदी के निष्काम साधक थे। मैं जानता हूँ, बहुत-से साहित्यसेवी सभाओं और संमेलनों के सभापतित्व के लिये प्रयत्न करते हैं—इधर-उधर आदमी दौड़ाते हैं—सभापति-निर्वाचिनी सभा में अपने मत के पोषक बहुत-से सदस्य अपने खर्च से ले जाते हैं—कभी-कभी स्वयं और कभी-कभी दूसरों से अपने संबंध में लेख लिखवाते हैं और इस प्रकार सभापति बनने का अपना हक साबित करते हैं। पर द्विवेदी जी महाराज ने कभी ऐसा नहीं किया। एक बार हम लोग द्विवेदी जी पर इसलिये नाराज हो गए थे कि वे बार बार सभापतित्व को ठुकरा क्यों देते हैं—स्वीकार क्यों नहीं कर लेते। पर अब हम समझते हैं कि उन्होंने जो कुछ किया, ठीक किया। उन्होंने हिंदी की सेवा की है अपने लिये—हिंदी के महत्त्व का प्रचार करके उन्होंने अपने कर्तव्य का पालन किया है। उसके लिये पारितोषिक कैसा? उनका मत है कि मैंने जो कुछ किया है, अपने लिये किया है; हिंदीवालों पर तो कोई उपकार किया नहीं। फिर हिंदीवाले मुझे संमेलन का सभापति क्यों बनाना चाहते हैं? अब मेरी यह राय हो गई है कि संमेलन के सभापति-पद पर द्विवेदी जी को बैठाना उनका अपमान करना होता। कहाँ द्विवेदी जी, कहाँ उनकी हिंदी-सेवा, और कहाँ यह सभापतित्व! कौन इनमें समता स्थापित करने का दुष्प्रयत्न करेगा? द्विवेदी जी ने हिंदी की नीरव उपासना की है। उन्होंने अपना विज्ञापन तो किया नहीं। उनके विषय में यदि किसी ने कभी सच्ची बातें भी कह दीं तो वे उस पर अवश्य असंतुष्ट हो गए। यही उनका क्रम रहा है। पर तो भी आज हिंदीवालों में शायद ही ऐसा कोई अभागा हो जो उनको न जानता हो—उनके कार्यों के सामने सिर न झुकाता हो। आज हम लोगों के लिये इससे बढ़कर क्या बात हो सकती है कि हमारे समाज में एक ऐसा भी व्यक्ति है जिसका महत्त्व निर्विवाद है—जिसकी कार्य-पद्धति में हमारी आशावृद्धि है। द्विवेदी जी महाराज देखें, और बहुत दिनों तक देखें, कि उन्होंने जवानी में जो प्रयत्न किया है—जिसके लिये उन्होंने युद्ध किया है—आज वह प्रयत्न सफल हुआ। आज ही वे युद्ध में विजयी हुए हैं। भगवान् उनको चिरायु करें और उनके परामर्श से हम लोग सदा लाभ उठाते रहें।

चंद्रशेखर शास्त्री

परिचय

जिस समय मैं स्कूल की किसी छोटी कक्षा में पढ़ता था, अपने फुफेरे भाई के घर प्रायः जाया-आया करता था। वे रेलवे में मुलाजिम थे। रेलवे में उनके अनेक मित्र थे, जो कानपुर में उनके घर एकत्र होते थे। इसी मित्रगोष्ठी में पहले-पहल मुझे पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी की कीर्त्ति सुनाई पड़ी। द्विवेदी जी की प्रशंसा सुनकर मेरे चित्त पर बड़ा असर पड़ा। सोचा, द्विवेदी जी कोई प्रभावशाली अफसर हैं जिनके द्वारा रेलवे में लोगों का उपकार हुआ करता है। यह बात कदाचित् सन् १८८० की है। तदनंतर कई वर्ष बाद जब मैं कालेज-क्लास में पहुँचा, तब फिर द्विवेदी जी का नाम सुनाई पड़ने लगा। परंतु इस बार रेलवे के संबंध में नहीं किंतु हिंदी-साहित्य के संबंध में। अब तक मुझे उनके दर्शन न हो सके थे। उनके दर्शन का लाभ मुझे पहले-पहल कान्य-कुब्ज-कानफरेंस की पहली बैठक में हुआ, जो सन् १९०१ में हुई थी, सो भी दूर ही से; वार्त्तालाप का सौभाग्य तब भी प्राप्त न हो सका। इसके कुछ ही दिनों बाद द्विवेदी जी ने 'सरस्वती'-संपादन का भार अपने ऊपर लिया और जी० आई० पी० रेलवे से अपना संबंध विच्छिन्न कर 'जूही' (कानपुर) में अपने मित्र बाबू सीताराम के हाते में रहने लगे। कान्यकुब्ज-प्रतिनिधि-सभा के उपमंत्री होने के नाते मैं यह अपना धर्म समझता था कि प्रतिष्ठित कान्यकुब्जों को सभा में शरीक करूँ। इसी उद्देश्य से मैं एक रोज द्विवेदी जी से मिलने 'जूही' पहुँचा। गया तो था उन्हें सभा के कार्यों में फाँसने के लिये, परंतु मैं स्वयं उनके प्रेम-पाश में फँस गया! उनकी शिष्टता ने मुझ पर बहुत असर किया। मेरे मिलने के दूसरे या तीसरे ही दिन बाद द्विवेदी जी विजिट रिटर्न (visit return) करने के लिये मेरे तंबू में आ पहुँचे। उन्हीं दिनों शहर में प्लेग का प्रकोप था। अपना घर छोड़कर मैं भी अपने एक रिश्तेदार के यहाँ, ई० आई० रेलवे कंपाउंड में एक छोलदारी लगाए, वृक्षों के नीचे अपना समय काट रहा था। इस स्थान और 'जूही' के बीच कुछ खेतों ही का फासला था। रेल की शंटिंग और कुलियों के चीत्कार से जब कभी मेरा जी ऊबता, तब मैं सीधा 'जूही' की राह पकड़ द्विवेदी जी की शरण में जा पहुँचता था। कभी-कभी मैं द्विवेदी जी के घर से पुस्तकें और समाचार-पत्र भी उठा लाया करता था। एक दिन 'काव्यमंजूषा' मेरे हाथ लगी। इसमें द्विवेदी जी की फुटकर कविताओं का संग्रह था। जब मैंने ये कविताएँ पढ़ीं—और विशेषकर उन अवसरों को जाना जिनमें वे लिखी गई थीं—तब मैं द्विवेदी जी पर मुग्ध हो गया और मेरी श्रद्धा उन पर बहुत बढ़ गई। मुझ पर द्विवेदी जी के गद्य की अपेक्षा उनके पद्यों का प्रभाव विशेष रूप से पड़ा। द्विवेदी जी मुझे भी यथावकाश हिंदी लिखने-पढ़ने के लिये उत्साहित करने लगे।

'सरस्वती' उन दिनों 'काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के अनुमोदन से संस्थित' थी। दैवात् सभा के कुछ कार्यों की समालोचना 'सरस्वती' में निकली। सभा ने 'सरस्वती' के सर से अपना रक्षावाला हाथ हटा लिया। वह लेख, जो द्विवेदी जी ने 'सभा और सरस्वती' के संबंध-विच्छेद पर लिखा था, बड़ा ही मार्मिक था—विशेषकर 'अनीस कवि' की वे पंक्तियाँ, जो लेख के अंत में चस्पाँ की गई थीं। इसी बखेड़े में पड़, विचार-स्वातंत्र्य की पुष्टि में, द्विवेदी जी ने 'मिल' की 'लिबर्टी' नामक अँगरेजी पुस्तक का हिंदी अनुवाद कर डाला। तदनंतर 'स्पेंसर' की 'शिक्षा' भी लिख डाली। उस समय तक हिंदी में 'पोलिटिकल इकानमी' पर बहुत ही कम पुस्तकें लिखी गई थीं। ऐसे नवीन विषयों पर विद्वान् हिंदी-लेखकों का ध्यान दिलाने के लिये ही मानों द्विवेदी जी ने 'संपत्तिशास्त्र' लिख डाला। उन्होंने अँगरेजी के कई अर्थशास्त्र-संबंधी महत्त्वपूर्ण ग्रंथों के आधार पर इसे तैयार किया था। इसकी भूमिका को उन्होंने पहले 'सरस्वती' में प्रकाशित किया—केवल हिंदी-प्रेमी अर्थशास्त्रज्ञ लेखकों का ध्यान आकृष्ट करने के लिये। इसी प्रकार वे हिंदी की आवश्यकताओं की पूर्त्ति करते-कराते रहे। 'सरस्वती' द्वारा उन्होंने निष्पक्ष सत्समालोचना का आदर्श भी उपस्थित किया। उन दिनों 'सरस्वती' अपनी कड़ी समालोचनाओं के लिये प्रसिद्ध थी। यहाँ तक कि कभी-कभी लोग उससे अप्रसन्न भी हो जाते थे और उसके संपादक के विषय में यह अनुमान करने लगते थे कि वह बहुत उग्र स्वभाववाला कोई गर्विष्ठ व्यक्ति है। परंतु जब उन्हें कभी द्विवेदी जी का साक्षात्कार होता था तो यह भ्रम तत्क्षण दूर हो जाता था। द्विवेदी जी की नम्रता और साधुता, सत्यता और उदारता, उन लोगों को भली भाँति विदित है जिनका उनके साथ तनिक भी संबंध रहा है। मुझ जैसे कितने ही मनुष्यों की रुचि हिंदी में उन्हीं की बदौलत जागरित हुई। मातृ-भाषा की उन्नति हुए विना भारतवर्ष में स्वराज्य स्थापित होना दुस्तर है, यह भाव प्रत्येक मित्र के हृदय पर अंकित करने से वे कदापि न चूकते थे। शायद राजनीतिक मामलों में प्रकट रूप से उन्होंने कभी भाग नहीं लिया; परंतु उनका हृदय स्वदेश-प्रेम से सदा परिपूर्ण रहा। हिंदी की उन्नति द्वारा हिंदोस्तान को समुन्नत करने में ही उन्होंने अपनी मुख्य मातृसेवा समझी। अपने इष्ट-मित्रों के साथ तो उनका व्यवहार सदा निष्कपट रहा है। अपने से छोटों—यहाँ तक कि सेवकादि आश्रित जनों—के साथ भी वे सदैव प्रेमपूर्ण बर्त्ताव करते हैं। मैंने कई बार देखा है कि दूसरों को अपने नौकरों के साथ कठोरता का बर्त्ताव करते देख वे बड़े दुःखी हुए। उन्हें उस समय बहुत ही पीड़ा होती है जब कोई अपने वचन का प्रतिपालन नहीं करता। कानपुर में मेरा घर उनके स्थान से करीब छः मील था। यदि भूल से भी कभी उनकी जबान से निकल जाता था कि अमुक समय मैं तुम्हारे घर आऊँगा तो कार्य के अनावश्यक होते हुए भी, लू-लपट की कुछ परवा न कर, उसी समय वे आकर उपस्थित हो जाते थे! यदि कोई उनसे वादाखिलाफी करता है तो वे उसे बहुत ही लज्जित करते हैं। वे चाहते हैं कि दूसरे भी व्यवहार में वैसे ही शिष्ट और सत्यपरायण हों जैसे वे स्वयं हैं। उनके सद्भाव का यह हाल है कि उनके सेवक और

आश्रित जन उनके कुटुंबी नहीं हैं, इसका सहसा पता लगना कठिन हो जाता है। उन्होंने अपने मित्रों और रिश्तेदारों के बाल-बच्चों तक का पालन-पोषण इस स्नेह और वात्सल्य के साथ किया है कि इस युग में ऐसा क्वचित् ही देखने में आता है। यदि किसी मित्र ने जरा भी उनका उपकार किया तो वे अपने को सदा के लिये उसका ऋणी मानने लगते हैं—"परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यं निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः।" कई बार उन पर विपत्ति के झोंके आए, परंतु मैंने कभी उन्हें अधीर और विचलित होते नहीं देखा। मान-रक्षा ही के लिए उन्होंने रेलवे की अफसरी का क्षणमात्र में परित्याग कर दिया। धनार्जन की अनेक सुविधाएँ होते हुए भी उन्होंने ईमानदारी के साथ निर्धन रहना ही अच्छा समझा। बुढ़ापे में एकमात्र अवलंब होनेवाली उनकी साध्वी सहधर्मिणी को भी भगवान् ने उठा लिया। नाना प्रकार की शारीरिक बाधाएँ सताती रहीं। पर ऐसे अनेक संकटों में भी उन्होंने साहित्य-सेवा और परोपकार-व्रत का सदा पालन किया है। परमेश्वर करें कि उनका शरीर बहुत दिनों तक सुखी रहे ताकि उनके जीवन से सुविस्तृत हिंदी-संसार को लाभ पहुँचे।

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमान्यपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि न कश्चित् ज्ञातुमर्हति॥

देवीप्रसाद शुक्ल

संस्कृति-रक्षा और द्विवेदी जी

संस्कृति की रक्षा तथा विकास का एक साधन भाषा है।

पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिंदी-भाषा को स्थिर रूप देने में बड़ा भाग लिया है। कई मौलिक रचनाएँ रच कर और संस्कृत तथा अँगरेजी की कई पुस्तकों का अनुवाद करके द्विवेदी जी ने हिंदी पर बड़ा उपकार किया है। हिंदी-पत्र-कला के आचार्य होने से उन्होंने कई लेखकों को बनाया है। यह भी उनका हिंदी पर ही उपकार है।

इनसे बढ़कर उपकार एक और है। हिंदी के द्वारा द्विवेदी जी ने हिंदू-संस्कृति का भला किया है। मेरे लिये हिंदू-संस्कृति और हिंदुत्व दो पर्यायवाची शब्द हैं। द्विवेदी जी ने भाषा-द्वारा हिंदुत्व की रक्षा तथा विकास किया है; अतः मेरे लिये वे मान्य हैं।

भाई परमानन्द

पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी

द्विवेदी जी ने हिंदी-साहित्य की जो सेवा की है, वह अक्षय्य है। प्राचीन काल के रस-सिद्ध कवीश्वर जरा-मरण के भय से रहित यश:शरीर की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करते थे। परंतु आधुनिक युग के लेखक ऐसे यश:शरीर की कामना तक शायद नहीं करते। सच्ची बात यह है कि आधुनिक युग महत्ता के लिये प्रयत्न ही नहीं करता। वह विस्तार के लिये कोशिश करता है। आधुनिक साहित्य हिमालय की तरह भव-भूतल को भेदकर आकाश की ओर अग्रसर नहीं हो रहा है। वह घास की तरह सारी पृथ्वी पर फैलकर उसे स्निग्ध बनाना चाहता है। वह रसिकों के लिये भव-सागर से भाव-रत्नों का संचय नहीं करता, वह सर्वसाधारण के लिये ज्ञान का पथ परिष्कृत करता है। वह लोगों में प्रेम और सहानुभूति का ही प्रचार करना चाहता है। पाठकों की रुचि परिष्कृत होती रहती है, ज्ञान की सदैव परीक्षा होती रहती है और ज्ञान की वृद्धि के साथ साथ साहित्य का विकास होता रहता है। आधुनिक हिंदी-साहित्य के कितने ग्रंथ काल का आघात सह सकेंगे? दस, बीस, पचास या सौ साल के बाद वर्तमान साहित्य की कितनी रचनाएँ पढ़ने के लिये लोग व्यग्र रहेंगे—कितनी की उपयोगिता बनी रहेगी—कितनी की मौलिकता और नवीनता लोगों के चित्त को आकृष्ट करती रहेगी?

द्विवेदी जी की कितनी ही ऐसी रचनाएँ हैं जो पाठकों में सत्साहित्य के प्रति अनुराग और ज्ञान के प्रति स्पृहा उत्पन्न करने के लिये लिखी गई हैं; और कितनी ही ऐसी हैं जिनका संबंध देश और समाज की वर्त्तमान अवस्था से है। हिंदी-भाषा-भाषियों में ज्ञान का जितना प्रचार द्विवेदी जी ने किया है, उतना अन्य किसी लेखक ने नहीं किया। यह आधुनिक हिंदी-साहित्य के लिये कम सौभाग्य की बात नहीं है कि उसके प्रारंभ-काल में ही उसे द्विवेदी जी के समान सेवक प्राप्त हो गया। द्विवेदी जी ने "रजत-शृंखला" क्या तोड़ी, हिंदी-साहित्य में सर्वसाधारण के लिये ज्ञान का द्वार ही उन्मुक्त कर दिया। अठारह वर्ष तक 'सरस्वती' के द्वारा उन्होंने साहित्य और शिक्षा, पुरातत्त्व और इतिहास, अर्थ-शास्त्र और विज्ञान, राजनीति और समाज-तत्त्व के ज्ञान सर्वसाधारण के लिये सुलभ कर दिए। 'सरस्वती' के पाठकों के लिये आधुनिक हिंदी-साहित्य में कोई विषय नया नहीं है।

द्विवेदी जी हिंदी-साहित्य में केवल ज्ञान का द्वार उन्मुक्त करके नहीं रुक गए। उन्होंने सच्चे सेवक की तरह हिंदी-साहित्य के मंदिर को कलुषित होने से बचाया। उन्होंने हिंदी-साहित्य को सदैव उच्च आदर्श पर रखने की चेष्टा की। क्या भाषा और क्या भाव, कहीं भी उन्होंने विकार

नहीं आने दिया। जहाँ उन्होंने भाषा या भाव-संबंधी कालुष्य देखा, वहीं उसका विरोध किया; फिर चाहे उसका प्रवर्तक कितना ही बड़ा साहित्य-सेवी या विद्वान् क्यों न हो। असत्य का उन्होंने सदा मूलोच्छेद ही किया। साहित्य में सस्ती कीर्ति लूटनेवालों के लिये उन्होंने जगह ही नहीं रक्खी। इसी लिये उनके संपादन-काल में समग्र हिन्दी-साहित्य पर एक आतंक सा छाया हुआ था। लेखक भी सावधान थे और प्रकाशक भी सावधान थे। सभी अपने मन में यह बात समझते थे कि हिंदी-साहित्य पर किसी निरीक्षक की दृष्टि लगी हुई है जो किसी के साथ पक्षपात नहीं करता। द्विवेदी जी के इसी प्रभाव के कारण हिंदी-साहित्य उन्नति के पथ पर अग्रसर होता रहा। खेद यही है कि साहित्य-क्षेत्र से द्विवेदी जी के हट जाने के बाद कोई दूसरा उनका स्थान नहीं ले सका।

यदि कोई मुझसे पूछे कि द्विवेदी जी ने क्या किया, तो मैं उसे समग्र आधुनिक हिंदी-साहित्य दिखलाकर कह सकता हूँ कि यह सब उन्हीं की सेवा का फल है। हिंदी-साहित्य-गगन में सूर्य, चंद्रमा और तारागणों का अभाव नहीं है। सूरदास, तुलसीदास, पद्माकर आदि कवि साहित्याकाश के देदीप्यमान नक्षत्र हैं। परंतु मेघ की तरह ज्ञान की जल-राशि देकर साहित्य के उपवन को हरा-भरा करनेवालों में द्विवेदी जी की ही गणना होगी।

पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी

श्रद्धाञ्जलिः

(१)

महा-प्रदीपैर्धिषणाप्रकाशैः
वीर-श्रिया चाप्युपलक्षितोऽयम् ।
प्रसाद-लक्ष्मीं दधदात्मनिष्ठो-
द्विवेदि-वर्य्यो जयताच्चिराय ॥

(२)

साहित्य-पाथो निधिमन्थनानि
कृत्वा तदीयैर्मणिभिः प्रकृष्टैः ।
निर्म्माय हारं रुचिरं सुकण्ठे
हिन्द्या गिरो योऽर्पितवानुदारः ॥

(३)

प्राच्य-प्रतीच्यरचनाः परिशील्यगाढं
संदृब्धवान् बहुतरानुपयुक्तबन्धान् ।
कोषं नितान्तदयनीयमवेत्य हिन्द्या-
स्तत्पूर्त्तये कमिह यत्नमसौ न चक्रे ॥

(४)

ब्राह्म्या मुखात्सर्वकलोद्गमो यथा
शार्वाज्जटामण्डलतो यथापः ।
द्विवेदिनां प्रेरणया तथैव
सुलेखकानां ततयो निरीयुः ॥

(५)

हिंदीभाषासाहितीसस्यराजिं
सूम्नामेतां भारतेन्दोः करेण,
धारासारैः स्वीयवाचां सुधाक्तैः
सिञ्चन्नासौ कस्य नैवाभिवन्द्यः ॥

ज्वालादत्तशर्म्मणः

मेरे गुरुदेव

हिंदी के वर्तमान वासंतिक मनोरम उद्यान में जो नव-सौंदर्य-भाराक्रांत सुरभित पुष्प-वृक्ष अपने विमल सरस पराग से साहित्यिक भ्रमर-कुल को रसोन्मत्त किए हुए हैं, उनके चतुर पोषक द्विवेदी जी की चिरस्मरणीय हिंदी-सेवा से कौन परिचित नहीं है ? हिंदी के जिन भक्त प्रेमियों को उसके बीसवीं सदी के इन प्रारंभिक तीन दशकों के नवजीवनपूर्ण इतिहास का समुचित ज्ञान है, उनको द्विवेदी जी के महान् कर्तृत्व का भी वैसा ही ज्ञान है। 'भारतेंदु' के अस्त और 'प्रताप' के तिरोहित हो जाने पर जब हिंदी-साहित्य पतवार के बिना नौका की भाँति असहाय अवस्था को प्राप्त हो गया था, उस समय उसी बैसवाड़ी के देहात से, जहाँ की बोली का हिंदी में मखौल उड़ाया जाता है, द्विवेदी जी ने आगे आकर हिंदी के कार्य-क्षेत्र में उसका नेतृत्व ग्रहण किया और अपने ओज-पूर्ण नाम के अनुरूप ही अपना अनुपमेय पुरुषार्थ प्रकट किया। यह उनकी उसी अप्रतिम शक्ति के प्रादुर्भाव का भव्य परिणाम है कि हम इस समय हिंदी के विशाल उपवन को अनेकानेक जातियों के बहुरंगी सुरभि-पूर्ण पुष्पों से चारों ओर विकासमान देखते हैं।

द्विवेदी जी ने हिंदी-साहित्य का नेतृत्व पूर्ण रूप से तैयार होकर ग्रहण किया था। स्कूल-कालेज की उपयुक्त शिक्षा न पाकर भी, और साहित्य से सर्वथा भिन्न क्षेत्र में नियुक्त हो जाने पर भी, उनको उनकी स्वभावजन्य साहित्यिक प्रतिभा ने तात्कालिक निर्दिष्ट जीवन में सीमित न रहने दिया। रेलवे-विभाग के निर्जीव जीवन में रहते हुए भी उन्होंने अपनी उसी नैसर्गिक प्रतिभा की प्रेरणा से—निजी ढंग से—संस्कृत, अँगरेजी, मरहठी, बँगला, गुजराती आदि भाषाओं का यथाविधि अध्ययन किया था और इन भाषाओं में से कई एक में उनके लिखने और बोलने की समुचित शक्ति प्राप्त कर ली थी। यही नहीं, किंतु तत्कालीन सामयिक पत्रों में तरह-तरह के पांडित्य-पूर्ण लेख लिखकर अपनी साहित्यिक रुचि का पूर्ण रूप से प्रदर्शन भी किया था। इसी प्रकार सतत अध्ययन से, तथा तत्कालीन साहित्यिक आंदोलन में प्रमुख भाग लेकर अपने को सब प्रकार से उपयुक्त बनाकर, हिंदी के कार्यक्षेत्र में पदार्पण किया था। उनके सौभाग्य से या हिंदी के भव्य भाग्य से उनको इंडियन प्रेस के संस्थापक नरपुंगव स्वयंसिद्ध स्वर्गीय बाबू चिंतामणि घोष का संरक्षण प्राप्त हो गया था, जिन्होंने अपनी 'सरस्वती' का संपादन-भार द्विवेदी जी को आग्रहपूर्वक सौंप दिया था। हिंदी के साहित्य-क्षेत्र में द्विवेदी जी का आगमन ऐसा ही महत्त्वपूर्ण था।

'सरस्वती' का कार्य-भार ग्रहण कर लगभग अठारह वर्ष तक द्विवेदी जी ने केवल उसका उत्तम ढंग से संपादन ही नहीं किया, किंतु उस कार्य के साथ ही उन्होंने हिंदी को विशिष्ट परिमार्जित

शैली में ढालकर उसे एकरूपता प्रदान करने का भी स्थायी कार्य किया। हिंदी की 'अनस्थिरता' को स्थिरता प्रदान करने में उन्होंने जो अभूतपूर्व कार्य किया सो तो किया ही, इसके सिवा सबसे बड़ा कार्य उन्होंने गद्य-पद्य की एक भाषा करने का किया। इस संबंध में जो आंदोलन उनसे पूर्व स्वर्गीय बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री ने उठाया था और प्रारंभ में जिसके पक्ष का स्वर्गीय कविवर पंडित श्रीधर पाठक ने समर्थन किया था, उस महत्त्वपूर्ण कार्य को सफलता प्रदान करने का चमत्कार द्विवेदी जी ने ही भले प्रकार दिखलाया। हिंदी-साहित्य के इतिहास-ग्रंथों में उनके विद्वान् प्रणेताओं के द्वारा जिस स्थल पर उनकी साहित्य-सेवा का उल्लेख किया गया है, उनकी लोकोपयोगी और पांडित्य-निदर्शक कृतियों की चर्चा की गई है, वहाँ उनकी उपर्युक्त दोनों विशेषताओं का भी विशद रूप से विवरण अंकित किया गया है। और इसके साथ इसी रूप में इस बात का भी उल्लेख होगा कि उन्होंने अपनी प्रेरणा और प्रोत्साहन से कितने ही नवयुवकों को सुलेखक बना दिया जिनमें कोई कोई समालोचकाचार्य, सम्पादकाचार्य तक हो गए। भले ही इन लोगों में से कुछ लोग अकृतज्ञता या ऐसे ही किसी भाव से यह बात इस समय न स्वीकार करें, किंतु जब द्विवेदी जी का विस्तृत जीवन-चरित लिखा जायगा, तब यह बात अपने-आप प्रकट हो जायगी कि केवल बाबू मैथिलीशरण गुप्त ही उनके बनाए नहीं हैं, वरन और भी कतिपय लोग हैं जिन्होंने अपनी कृतियों से अपने साथ ही हिंदी-साहित्य को भी गौरवान्वित किया है।

द्विवेदी जी असाधारण पुरुष-पुंगव हैं। वे जैसे विद्वान् और बहुज्ञ हैं, वैसे ही प्रतिभाशाली और क्षमतावान भी हैं। उनकी विद्वत्ता और बहुज्ञता का परिचय जहाँ उनकी चारु कृतियाँ देती हैं, वहाँ उनकी कृतियों की प्रत्येक पंक्ति से उनकी प्रतिभा और क्षमता का भी ज्ञान होता है। और यही वे गुण हैं जिनकी बदौलत उन्होंने विश्वामित्र की भाँति लड़कर ब्राह्मणत्वरूपी हिंदी के आचार्यत्व जैसे उच्च पद को प्राप्त किया है। द्विवेदी जी का जीवन ऐसा ही उत्साहपूर्ण और स्वाभिमान-व्यंजक रहा है।

'सरस्वती' को अपने हाथ में लेकर उन्होंने उसमें समय-समय पर देश-कालानुसार जो उपयुक्त परिवर्त्तन किए हैं, उन सबका—उनकी पत्रकार-कला का—परिचय देना अत्यंत कठिन कार्य है। इस संबंध में तो यहाँ इतना ही उल्लेख कर देना पर्याप्त होगा कि 'सरस्वती' हिंदी की एक आदरणीय और लोकप्रिय पत्रिका रही है। और द्विवेदी जी की जिस संपादन-संबंधी प्रतिभा की बदौलत 'सरस्वती' ने यह उच्च स्थिति प्राप्त की है, वह प्रारंभ से ही उनकी एक विशेष वस्तु रही है। 'सरस्वती' का संपादन-भार ग्रहण करने के तीन वर्ष के बाद ही 'हिंदी-भाषा और व्याकरण' शीर्षक लेख लिखकर हिंदी के क्षेत्र में उन्होंने जिस नए जीवन का आविर्भाव किया था, वह उनके समय में ही उत्तरोत्तर विकसित होकर स्थायित्व के रूप को प्राप्त हो गया। जब उन्होंने हिंदी की साहित्यिक चर्चा छेड़कर लोक-रुचि को उसकी ओर आकृष्ट करने में सफलता

प्राप्त कर ली, तब संस्कृत-साहित्य की चर्चा करके उस रुचि को और भी परिष्कृत कर सन् १९१७ से 'सरस्वती' को जो लोकोपयोगी रूप उन्होंने प्रदान किया, वहीं उनकी संपादन-कला-संबंधी विलक्षणता का सुंदर दर्शन होता है। द्विवेदी जी ऐसे ही देश, काल और लोकरुचि के अनुयायी और उसके पथप्रदर्शक थे और इसी कारण वे जनता में 'सरस्वती-संपादक' के नाम से प्रसिद्ध हुए थे। वे वास्तव में लोकप्रिय संपादक थे।

परंतु जिन द्विवेदी जी ने हिंदी के साहित्य-क्षेत्र में इस बीसवीं सदी के आरंभ-काल में अपने भव्य व्यक्तित्व का प्रदर्शन किया था और हिंदी के निर्माण के कार्य में जिन्होंने सतर्कता और दृढ़ता का परिचय दिया था, उनके उस नेता-रूप के वाद हमें उनके जिस मानव-रूप के दर्शन होते हैं, वस्तुतः वह किसी भी साहित्यिक के लिये ईर्ष्या की वस्तु हो सकता है। उनका निष्कपट व्यवहार, उनका सरल और सरस प्रेम, उनकी सहृदयता और उदारता आदि ऐसी बातें हैं जिनके ही कारण वे अपने परिचित लोक-समूह-द्वारा यथारीति समादृत हुए हैं। परंतु उनका यह रूप 'सरस्वती' से संबंध त्याग करने के वाद ही विशेष रूप से प्रकट हुआ है। वे अपने इस विश्राम-काल में एक वानप्रस्थी-जैसे अपने जीवन की कमाई का प्रायः सर्वांश हिंदू-विश्वविद्यालय को अर्पित कर असहायों की सहायता करने, पीड़ितों की रक्षा करने, युवकों को सन्मार्ग पर लगाने-जैसे सत्कार्यों में अहर्निश लगे रहते हैं। उनका यह परसेवा-परायण स्वरूप ही उनका विशुद्ध स्वरूप है। और अपने इन महारथी साहित्यिक के इस रूप का दर्शन किस हिंदी-भाषी के लिये आनंद का कारण न होगा?

देवीदत्त शुक्ल ('सरस्वती'-संपादक)

No one has a higher appreciation of the great services rendered to Hindi literature by the Acharya than myself, and I much regret to hear that he is now in bad health.

I also greatly regret that I am unable to contribute anything to the proposed volume. Advanced age and failing eyesight prohibit me from undertaking any literary work at present.

George A. Grierson

आचार्य द्विवेदी जी

पूज्य द्विवेदी जी का स्मरण होते ही मेरे सामने पिता और गुरु की एक संमिलित मूर्ति खड़ी हो जाती है । जब मैं 'सरस्वती' में जाने लगा था, तब मुझको कुछ हितैषियों ने मना किया था कि 'द्विवेदी जी से तुम्हारी पटेगी नहीं, तुम वहाँ न रह सकोगे, वे बहुत कड़े और क्रोधी हैं। कोई सहायक उनके पास अधिक समय तक नहीं टिका है ।' मैंने अपने मन में सोचा कि 'जब पूज्य द्विवेदी जी इतने विद्वान्, ऐसे सुयोग्य संपादक, और हिंदी-संसार में ऐसे मान्य पुरुष हैं, तब ऐसा कोई कारण नहीं कि मैं उनके अधीन काम करने में हिचकूँ या किसी भावी भय को हृदय में स्थान दूँ। यदि वे कड़े हैं तो काम ही तो अधिक लेंगे; यदि क्रोधी होंगे तो कुछ भला-बुरा ही तो कह लेंगे; कोई अमानुषिक व्यवहार तो करेंगे नहीं ।' फिर मैं तो उनके प्रति बहुत श्रद्धा और गुरु-भाव रखकर जाना चाहता था। तो, मैंने मित्रों से कहा कि उनकी कड़ाई मेरे लिये अच्छे ट्रेनिंग का काम देगी और उनका क्रोध मेरे लिये वरदान होगा । बस, मैं चल पड़ा । प्रयाग में 'इंडियन प्रेस' के एक कमरे में मैं पूज्य द्विवेदी जी के सामने पहले-पहल पेश किया गया। मैं मन में कुछ सहम रहा था। उनका खासा लम्बा कद, विशाल और रोबदार चेहरा, बड़ी-बड़ी मूछें—ये सब उनके तेजस्वी व्यक्तित्व की छाप डाल रहे थे । उनके सामने मैं दुबला-पतला अधमरा-सा युवक पहुँचा! पहुँचते ही उन्होंने मुझसे पूछा—'ओहो! आप भी ऐनक लगाते हैं!' मेरे पाँव के नीचे से जमीन खिसक गई। मैंने सोचा, क्या पहली परीक्षा में ही फेल होना होगा? उन्होंने और भी कुछ चुने हुए प्रश्न किए, जिनके उत्तरों में उन्होंने मुझे भीतर-बाहर सब अच्छी तरह समझ लिया। मैं खूब समझ रहा था कि मुझ पर जबरदस्त 'सर्चलाइट' पड़ रही है । लेकिन उस समय भी मुझे यही प्रतीत हो रहा था कि मैं एक सहृदय और सहानुभूतिशील बुजुर्ग के सामने हूँ । अस्तु, कोई तीन वर्ष मुझे द्विवेदी जी के चरणों में रहकर 'सरस्वती' की सेवा करने का सौभाग्य प्राप्त रहा। मुझे कभी याद नहीं पड़ता कि क्रोध करने की तो बात ही क्या, कभी तेज स्वर में भी द्विवेदी जी ने मुझे कुछ कहा हो। मुझे याद है कि 'जुही' में दस-बारह रोज मेरे काम करने के बाद ही उन्होंने मुझसे कहा—"उपाध्याय जी, आप इतनी जल्दी काम पूरा करके क्यों दे देते हैं! जो बहुत जरूरी होगा, उसके लिये मैं स्वयं कह दिया करूँगा। बाकी काम फुरसत से और आराम से कर दिया कीजिए । दिन-रात मिहनत करने की जरूरत नहीं।" उसी समय मैंने इस रहस्य को समझ लिया कि द्विवेदी जी काम करने और

काम चाहनेवाले आदमी हैं। खुद भी कड़े परिश्रम से काम करते हैं और चाहते हैं कि दूसरे भी ऐसा ही करें। जो आदमी स्वयं परिश्रमी होता है, वह इस बात को सहन नहीं कर सकता कि दूसरा आदमी आलसी बना रहे या काम में टालमटूल करता रहे। मुझे तो यहाँ तक याद है कि कोई कठिन समय आ पड़ा है, मैं बीमारियों और कौटुंबिक कठिनाइयों में घिर गया हूँ, तो पूज्य द्विवेदी जी ने खुद ही 'आर्डिनेंस' निकाल कर मुझे 'सरस्वती' के काम के बोझ से मुक्त कर दिया है और स्वयं वह काम कर लिया है। निःसंदेह उनके रोबदार चेहरे और लंबे-चौड़े डील-डौल के अंदर बड़ा ही सहानुभूतिपूर्ण और करुणार्द्र हृदय छिपा हुआ है। मेरे दो छोटे भाइयों का जीवन बचना असंभव था—यदि पूज्य द्विवेदी जी उनके इलाज का बोझ मुझ अनुभव-हीन युवक के हाथ से लेकर अपने ऊपर न डाल लेते। कहाँ तक कहूँ, पूज्य द्विवेदी जी की तेजस्विता और नियमनिष्ठा की भी बड़ी गहरी छाप मेरे हृदय पर पड़ी है। उनके दैनिक कार्य-क्रम से परिचित रहनेवाला मनुष्य यह निस्संदेह बता सकता है कि द्विवेदी जी अमुक समय पर अमुक काम करते हैं। अपने गुरुजनों में तो मैंने उनसे बढ़कर नियमनिष्ठ महात्मा जी (गांधी जी) को ही देखा है। पूज्य द्विवेदी जी इस बात को गवारा नहीं कर सकते कि कोई आदमी चालाकी से या दबाकर उनसे कोई काम करा ले। एक दफा एक पी-एच० डी० महोदय ने एक लेख लिखकर भेजा। उन दिनों 'बी० ए० और एम्० ए०' वालों के लेखों के लिये भी संपादकों को बड़ा प्रयत्न करना पड़ता था। पी-एच० डी० तो, कम से कम मेरी दृष्टि में, देवताओं के समान थे! लेख के साथ पत्र में पी-एच० डी० महोदय ने लिखा कि 'इसके संशोधन में आप कृपा करके कोई उर्दू शब्द न डालें।' द्विवेदी जी ने बिना विलंब उनका लेख लौटा दिया और लिख दिया कि 'संपादन के संबंध में मैं किसी की कोई शर्त्त स्वीकार नहीं कर सकता।' एक सज्जन ने स्वदेशी शक्कर की कुछ थैलियाँ द्विवेदी जी को भेंट कीं। उनका गर्भित आशय यह था कि द्विवेदी जी उनके संबंध में 'सरस्वती' में कुछ लिख दें! कुछ दिनों के बाद फिर वे सज्जन उनसे मिले और उन्होंने उन थैलियों की याद दिलाई, तो अपनी अलमारी की ओर हाथ उठाकर द्विवेदी जी ने कहा—'तुम्हारी थैलियाँ जैसी की तैसी रक्खी हुई हैं। 'सरस्वती' इस तरह किसी के व्यापार का साधन नहीं बन सकती।'

पूज्य द्विवेदी जी बड़े सुव्यवस्थित, अध्ययनशील और परिश्रमशील हैं। उनके अध्ययन के तो कई सुफल हिंदी-संसार के सामने हैं। सुव्यवस्थित इतने कि यदि किसी दूसरे आदमी ने उनके पुस्तकालय में पुस्तकें इधर-उधर की हों तो उनको फौरन पता लग जाता था। पुरानी चीज़ों और यादगारों के संग्राहक ऐसे कि कोई बीस बरस पहले की रक्खी हुई पूने की बढ़िया इनी-गिनी अगर-बत्तियों में से एक उन्होंने मुझे बड़े प्रेम से दी थी और मैंने उसे उनका आशीर्वाद समझकर ग्रहण किया था। पैकटों की डोरियाँ, चपड़ी और लेबल के काग़ज़ काटकर, सँभाल कर और सँवार कर रखते और उनका उपयोग करते। अख़बार इतने ग़ौर से पढ़ते थे कि एक बार विज्ञापनों में से एक कटिंग मेरे पास भेज दिया और लिखा कि तुम्हारे चचा जी को जो

फलाँ बीमारी है, उसके लिये यह दवा उपयोगी होगी । संपादन में इतना परिश्रम करते थे कि ऐसा मालूम होता था मानों सारी 'सरस्वती' के लेख एक ही कलम से लिखे गए हों । मेरी समझ से पूज्य द्विवेदी जी नई हिंदी के पथ-प्रदर्शक हैं । उन्होंने हिंदी-संसार में अपनी एक विशिष्ट लेखन-शैली और संपादन-कला का प्रवेश कराया है। उनके समय में 'सरस्वती' में लेख का छप जाना अहोभाग्य समझा जाता था। 'सरस्वती' की समालोचनाओं का बड़ा असर पाठकों पर होता था। समालोचना की जो धाक मराठी में 'केसरी' की थी, हिंदी में वही 'सरस्वती' की थी। द्विवेदी जी निर्भीक समालोचक हैं। वे वैसे ही साहित्यिक योद्धा भी हैं। कोई धमकी उन पर असर नहीं कर सकती। उनके 'कालिदास की निरंकुशता', 'भाषा की अनस्थिरता' आदि उस समय के विवाद प्रसिद्ध ही हैं, जिनमें उनके योद्धापन और निर्भीकता का काफी परिचय मिलता है। हिंदी में कई कवियों और लेखकों के तैयार करने का श्रेय उन्हीं को है । आज हिंदी में सौभाग्य से कई मासिक पत्रिकाएँ निकल रही हैं । परंतु द्विवेदी जी के समय की 'सरस्वती' की धाक हृदय पर से मिटाए नहीं मिटती । मैं तो अब भी, चौदह-पंद्रह वर्ष बीत जाने पर भी, जब उन तीन वर्षों का स्मरण करता हूँ तो, उस समय से अब सब तरह से कहीं अच्छी हालत में होते हुए भी, अपनी किसी चीज को खोई हुई पाता हूँ। 'सरस्वती' से संबंध छोड़ने के बाद भी मेरे प्रति पूज्य द्विवेदी जी का वही वात्सल्य भाव रहा है। पूज्य महात्मा जी के वातावरण में आने का पथ मेरे लिये सुगम बना देने में भी पूज्य द्विवेदी जी का बड़ा हाथ है। सन् १९२१ में उन्होंने जो दो अच्छे शब्द मेरे लिये मान्यवर जमनालाल जी बजाज को लिख दिए, उनसे 'हिंदी-नवजीवन' की योजना को प्रकृत रूप देने में बहुत सहूलियत पैदा हो गई । जिन पुरुषों के प्रभाव से मेरा जीवन कुछ बना है, उनमें पूज्य द्विवेदी जी भी एक उच्च पुरुष हैं, और आज मुझे इन शब्दों में उनके प्रति अपना आदर-भाव प्रकट करते हुए बहुत हर्ष होता है । वे जुग-जुग जिएँ और हम-जैसों को उत्साहित एवं अनुप्राणित करते रहें, यही जगन्नियंता से प्रार्थना है।

हरिभाऊ उपाध्याय

साहित्य-महारथी द्विवेदी जी

नई दिल्ली की सुंदर विशाल सड़कों पर घूमनेवाला यात्री इस बात को कभी ध्यान में नहीं ला सकता कि कुछ वर्षों पहले उसी भूमि पर घना जंगल, रेगिस्तान और ग्रामीणों के खेत थे। वहाँ दिन के समय भी इक्के-दुक्के मनुष्य का गुजरना असंभव था, दिन-दहाड़े डाका पड़ना साधारण बात थी। ऐसी ही भूमि को श्रमजीवियों ने बड़े परिश्रम से आधुनिक नगर का रूप दे दिया और आज हजारों मनुष्य उन सड़कों पर प्रातःकालीन समीर का आनंद लेते हैं और मोटरगाड़ियाँ निर्भय इधर से उधर घूमती हैं। उन श्रमजीवियों के परिश्रम का मूल्य क्या कोई समझ सकता है? संसार में ऐसी ही विचित्र दशा है! जो कठोर तपस्या कर दूसरों के लिये मार्ग-प्रदर्शक बनते हैं, जो अपने-आपको मिटा कर आनेवाली संतानों के लिये उन्नति के द्वार खोलते हैं और जो खून-पसीना एक कर बाधाओं का वध करते हैं, उनके बलिदान का मूल्य किसी प्रकार कूता नहीं जा सकता। यह अवस्था जीवन के सभी विभागों में है। परंतु साहित्य में ऐसे बलिदान का कितना ऊँचा स्थान है, यह समझने के लिये अत्यंत सहृदय होने की आवश्यकता है। साहित्य की प्रारंभिक अवस्था में जिन विद्वान् लेखकों ने निष्काम भाव से अपने स्वास्थ्य को खोकर इसका मार्ग विशाल बनाया, कंकड़-पत्थर बीने, झाड़-झंखाड़ और काँटों को जलाया, जरा उनके परिश्रम पर गंभीरता से विचार कीजिए। इतना ही नहीं, बल्कि उनके परिश्रम का भावी परिणाम क्या होगा, उस पर दूर तक नजर दौड़ाइए। यदि आप ऐसा कर सकते हैं तो आपको हिंदी-साहित्य के मार्ग को प्रशस्त करनेवाले आचार्य पंडित महावीरप्रसाद जी द्विवेदी की कठिनाइयों, उनके बलिदान और उनकी रातों जागकर काम करनेवाली लेखनी का चमत्कार मालूम हो सकेगा। हिंदी के जो नए लेखक आज उनके बनाए हुए विशाल पथ पर निर्भय होकर मोटरगाड़ी और घोड़े दौड़ाए फिरते हैं, वे इस बात की कल्पना नहीं कर सकते कि तीस वर्ष पहले साहित्य की इस सुंदर सड़क पर कैसा घनघोर जंगल था। यदि उस समय के लेखकों की पांडुलिपियाँ किसी म्यूजियम में पड़ी हों—वे लेख जो उन दिनों 'सरस्वती' में छपे थे—तो हमारे आज के नए लेखक उनमें किए गए संशोधनों से द्विवेदी जी के परिश्रम, उनके अध्यवसाय और उनकी तपस्या का कुछ अंदाज अपने मन में लगा सकेंगे। यह साहित्य-महारथी बड़े धैर्य से उन लेखों को शोधता था, उन्हें शुद्ध हिंदी का रूप देता था, उनमें नए मुहाविरे भरता था—किसलिए? ताकि आनेवाली संतान हिंदी-साहित्य के द्वारा भारतीय राष्ट्र का निर्माण कर सके। कोई उसको प्रोत्साहन देनेवाला न था, उसकी बीमारी की अवस्था में कोई उसका स्थान लेनेगाला न था, वह अकेला साहित्य-भक्त निर्भय और निर्द्वंद्व होकर ईश्वर के भरोसे अपने कर्त्तव्य पर डटा रहा; इसलिये नहीं कि उसे कोई साहित्य-सम्राट् कहे, अथवा

कोई बड़ा पुरस्कार दे दे। उसने केवल अपने आदर्श की ओर ध्यान रखकर इस प्रकार निरंतर वर्षों मजदूरों की तरह मिहनत की और हिंदी को राष्ट्र-भाषा का रूप दिया। यह बड़े आनंद की बात है कि यह वृद्ध साहित्य-तपस्वी आज अपने नेत्रों से उस परिश्रम का परिणाम देख रहा है। उसका हृदय कितना गद्गद होता होगा, जब कि उसके बनाए हुए पथ पर आज सैकड़ों लेखक आनंद से साहित्य-सेवा करते हुए दिखाई देते हैं।

समय परिवर्तनशील है। भारतवर्ष में अँगरेजों का राज्य रहे चाहे स्वराज्य हो जाय; एकाधिपत्य हो, चाहे प्रजातंत्रवाद की दुंदुभि बजे; परंतु हिंदी-साहित्य का जो राष्ट्रीय भवन द्विवेदी जी ने तैयार किया है, वह सदा अपना मस्तक उन्नत किए साभिमान खड़ा रहेगा और उसके द्वारा भारतीय संस्कृति का संदेश संसार में फैलेगा।

सत्यदेव परिव्राजक

अभिनंदन

१

बने हुए पथ पर चलें, सभी सहित उत्साह।
है विशेष दुर्लभ वही, जो कि निकाले राह॥

२

शिल्पी परम प्रवीण मातृ-मंदिर-निर्माता,
अभिनव लेखन-कला-लोक के विज्ञ विधाता!
उपयोगी साहित्य आपने लिखा, लिखाया।
सेवा में ही सरस्वती की जन्म बिताया॥
हिंदी-भाषा के सदा लगे रहे उद्धार में।
ऋषि दधीचि-सम अस्थियाँ दे दीं पर-उपकार में॥

३

जो कुछ हैं उपकार आपने किए हमारे।
उनका बदला नहीं चुका सकते हम सारे॥
आत्माराम, अकाम, आपका निःस्पृह मन है।
अपने ही संतोष-हेतु यह अभिनंदन है॥
चरणों में अर्पण किया तुच्छ अर्घ्य यह भक्ति का।
गुरुवर, स्वीकृत कीजिए समझ चिह्न अनुरक्ति का॥

रूपनारायण पांडेय

सफल संपादक द्विवेदी जी

लेखकों के लेखों और कवियों की कृतियां का संपादन संपादक को करना चाहिए अथवा नहीं, और करना चाहिए तो किस सीमा तक, इस संवंध में लोगों का एक-मत नहीं है। संयुक्त-प्रान्तीय एक विश्वविद्यालय के एक प्रख्यात अध्यापक महोदय ने कहा था कि 'सरस्वती' में जो कुछ छपता है, सव भली भाँति संपादित होकर ही। उसकी भाषा ऐसी टकसाली होती है कि उसमें अन्य लेखकों का व्यक्तित्व सर्वथा लुप्त हो जाता है और सर्वत्र उसके संपादक की ही छाप नजर आती है। ऐसा प्रतीत होता है मानों 'सरस्वती' में लिखनेवालों की भाषा एक विशेष साँचे में ढली हुई है। वास्तव में दूसरे की रचना में संशोधन करना बड़ा अप्रिय कार्य है। लेकिन इस संशोधन-कार्य से लेखक की रचना का जनता में जो आदर बढ़ जाता है, इसको वह प्रायः समझ नहीं पाता और जिनके परिश्रम से उसकी रचना सुंदर रूप धारण करके लोक-समादृत हुई है उन्हें तो कोई जल्दी पहचानता ही नहीं। वे तो निंदा-स्तुति से दूर किसी कोने में चुपचाप बैठे एकाग्रता के साथ इसी अप्रिय कार्य के करने में जीवन की आहुति दे देते हैं। इसमें संदेह नहीं कि ऐसे भी लोग हैं जो यह जानते हैं कि अगर काट-छाँट की जायगी तो कृति की सौंदर्य-वृद्धि के लिये ही; उसे कुरूप करने के लिये नहीं। ऐसे सहृदय लोगों से संशोधन के लिये अनुमति माँगी जाती है तो वे सहर्ष दे देते हैं। एक बार 'सरस्वती' में कवि विशाखदत्त-प्रणीत मुद्राराक्षस नाटक पर एक लेख छपने को आया था। उसे देखकर द्विवेदी जी ने छापना स्वीकार कर लिया था। उसमें जहाँ-तहाँ पेंसिल से उन्होंने संशोधन भी किया था। लेख के अंत में पेंसिल से एक नया वाक्य लिखा हुआ था। कंपोज होने से पहले उसे देखने का अवसर उक्त लेख के लेखक को मिल गया। उन्होंने द्विवेदी जी की संपादन-पटुता की सहस्रमुख से प्रशंसा कर कहा कि इस अंतिम वाक्य से लेख में सजीवता आ गई है, संशोधन से लेख की श्रीवृद्धि हुई है। वे प्रसन्नता से मुसकुराने लगे। इसी प्रकार एक बार 'सरस्वती' की एक कविता में, कंपोज होने से पूर्व, देखा कि द्विवेदी जी ने एक प्रसिद्ध कवि की रचना में से साढ़े तीन पद्य साफ निकाल दिए हैं और अपनी ओर से आधा पद्य जोड़ कर रचना के प्रवाह को यथापूर्व कर दिया है। यह कार्य बहुत ही कठिन है। कवि जी कोई बात कहते-कहते अगर सड़क से जरा सा हट गए हैं तो धीरे से उन्हें सड़क पर ले आना, और वह भी इस तरह कि कवि जी को इसका गुमान तक न हो कि किसी ने उनको छू लिया है, क्या कम चातुर्य की बात है? पद्य में संशोधन करना सबका काम नहीं। न तो भाषा में अंतर पड़े, न विचारों का तारतम्य टूटे और न छंदो-रचना में ही रत्ती भर व्यतिक्रम पड़े। यही तो संशोधन-पटुता है। दूसरे की कृति पर कलम चलाना साधारण काम नहीं है। इस कार्य में द्विवेदी जी बड़े ही सिद्धहस्त हैं। संपादन के लिये जिन गुणों की आवश्यकता होती है उनमें

से अधिकांश द्विवेदी जी में विद्यमान हैं और वह भी प्रचुर परिमाण में। जिस समय उनके हाथों में 'सरस्वती' के संपादन का कार्य-भार रहा है, उन्होंने न तो दिन को दिन समझा है और न रात को रात। कार्य के गुरुत्व के आगे उन्होंने अपने अमूल्य स्वास्थ्य तक का बलिदान कर दिया। अपने लेखकों का उन्हें पर्याप्त ज्ञान रहा है। वे जानते थे कि किस लेखक से, किस विषय पर, किस तरह लेख मिल सकता है। शिष्टाचार के तो वे अवतार ही हैं। लेख उन्हें जिस घड़ी मिलेगा उसी घड़ी वे लेखक को प्राप्तिसूचना दे देंगे और हो सकेगा तो लेख के संबंध में अपनी सम्मति भी। लेख का संपादन इतने मनोयोग से करेंगे कि रचना सर्वांगपूर्ण हो जाय। न तो कहीं भाषा-शैथिल्य रहने पावेगा और न वर्ण्य विषय में अपूर्णता ही रह जायगी। अपने अध्यवसाय और उदाहरण से उन्होंने न केवल संपादन का ही सुंदर आदर्श उपस्थित कर दिया है, प्रत्युत भाषा की एक सजीव शैली निश्चित कर दी है। द्विवेदी जी के समकालीन लेखकों पर भी उनका प्रभाव पड़ा और अज्ञात रूप से उनकी रचना पर द्विवेदी जी की शैली ने आधिपत्य प्राप्त कर लिया। बहुत थोड़े लोग यह जानते हैं कि आजकल जिस भाषा का वे उपयोग करते हैं उसकी शैली के निर्माण करने का श्रेय, अधिक अंशों में, द्विवेदी जी को ही प्राप्त है। आज से पचास वर्ष पहले की भाषा की तुलना वर्तमान काल की भाषा के साथ करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। और तो क्या, गद्य-साहित्य के वर्तमान प्रवाह को द्विवेदी-युग कहना ठीक होगा। गद्य ही क्यों, पद्य के वर्तमान स्वरूप और उसके संविधान में भी द्विवेदी जी के सफल हस्त-कौशल अंतर्निहित हैं। आज से बीस-पचीस वर्ष पहले के अधिकांश कवि द्विवेदी जी के ही पदचिह्नों पर चलकर यशस्वी हुए हैं। वर्तमान समय के लेखकों और संपादकों के सामने उनका ज्वलंत उदाहरण विद्यमान है। मेरा तो विश्वास है कि कोई भी व्यक्ति द्विवेदी जी की विशेषताओं को अंगीकृत करके गौरवशाली हो सकता है।

लल्लीप्रसाद पांडेय

द्विवेदी-युग की काव्य-प्रगति

अकबर के समय से, मुगल-साम्राज्य के भारत में स्थापित हो जाने पर, प्राय: दो सौ वर्ष तक, देश में एक प्रकार से शांति स्थापित रही। जीवन में संघर्ष का अभाव-सा रहा। शाही दरबार में भोग-विलास का दौर-दौरा हुआ। जनता ने भी ऐहिक सुखोपभोग को ही जीवन का चरम लक्ष्य समझ लिया। जनसमाज की इस मनोवृत्ति के प्रभाव से उसके प्रतिनिधि—कवि—भला कैसे वंचित रहते! उनकी कविता शृंगार की दूषित भावनाओं की अभिव्यक्ति को ही अपना एकमात्र उद्देश्य बना बैठी। श्रीकृष्ण के जिस दिव्य प्रेम की ओर निंबार्क, चैतन्य और बल्लभाचार्य जैसे महापुरुषों ने अपने समय में जनता का ध्यान आकृष्ट करके उसकी उदासीनता दूर की थी—और जिसकी मनोहर व्यंजना करके सूरदास, नंददास, हित हरिवंश आदि अगणित कवि-पुंगवों ने उसके हृदय में प्रफुल्लता का संचार किया था—वही कालांतर में, मुसलमानी वातावरण के प्रभाव से, वासनाओं की तृप्ति का विषय बन गई। कवियों ने अपने अभिभावकों की, या अपनी ही, मनस्तुष्टि के लिये नायक और नायिका के रूप में श्रीकृष्ण और राधा की कल्पित गुप्त क्रीड़ाओं की अतिरंजित उद्भावना की। ऐसा करके राधा-माधव के स्मरण का बहाना किया जाने लगा। टट्टी की ओट से शिकार खेला जाना आरंभ हुआ। इस प्रकार नायिका के भेदोपभेद का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवरण प्रस्तुत करना, उनके नखशिख के वर्णन में सिर खपाना और नायकों की उछल-कूद का चित्रण करना ही कवि-कर्म समझा जाने लगा। इन बातों से अवकाश मिलने पर अलंकारों, छंदों, रसों आदि का विवेचन करके उनके उदाहरण—विशेषतया शृंगाररसात्मक-स्वरूप कविता लिखने में कवियों का समय बीतने लगा। फलतः हिंदी-कविता की सीमा विषय-वस्तु की दृष्टि से अत्यंत संकुचित हो गई। यद्यपि इसी युग में कुछ शुद्ध एवं सात्त्विक प्रेम की अभिव्यंजना करनेवाले—और भूषण, लाल, सूदन के सदृश लोक-भावना को प्रतिबिंबित करनेवाले—कवि भी हुए, तथापि इस काल में प्रधानतया शृंगार-रस का, सो भी उसके कलुषित रूप का, स्वाद चखने-चखाने में कवि-समाज उन्मुख रहा। हिंदी की अवधी, खड़ी, बुँदेलखंडी आदि प्रांतीय बोलियों को छोड़कर व्रजभाषा को तत्कालीन कवियों ने देश की काव्यभाषा के रूप में स्वीकृत कर लिया था। इस प्रकार व्रजभाषा में कुछ सीमित भाव या विषय व्यक्त होने लगे थे। अस्तु; अँगरेजों के उत्तरी भारत में शासन के आरंभिक दिनों में हिंदी-कविता इसी सीमित क्षेत्र के भीतर रहकर चर्बित चर्बण में आत्म-विस्मृत हो रही थी। समय की आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिये इस समय गद्य के द्वारा मनोविचार प्रकट करने की आवश्यकता हुई और इस कार्य के लिये खड़ी बोली उपयुक्त समझी गई तथा सर्व-सम्मति से

स्वीकृत हुई। इसी बीच हिंदी-काव्याकाश में 'भारतेंदु' का उदय हुआ। उन्होंने गद्य में कई दिशाओं में पथप्रदर्शन करने के साथ कविता की गति और प्रवृत्ति में परिष्कार और नवीन प्रवर्त्तन किया। हिंदी के इस संधि-काल में भारतेंदु हरिश्चंद्र-जैसे प्रतिभाशाली कवि का आविर्भाव स्वर्ण-संयोग है। उन्होंने गद्य के लिये खड़ी बोली को उपयुक्त समझा, उसके चलते रूप को परिष्कृत किया और उसमें दो-एक कविताएँ भी लिखीं, तथापि कविता की सामान्य भाषा के लिये उन्होंने व्रजभाषा को ही स्वीकार किया। हाँ, उसके परंपरा से प्राप्त रूप में आवश्यकतानुसार परिमार्जन किया एवं उसे जीवित भाषा बनाए रखने के लिये उसमें नवीनता का संचार किया। उन्होंने राष्ट्र और समाज की उस समय की भावनाओं की व्यंजना का भी कविता में सूत्रपात किया। इस प्रकार कविता को सामाजिक प्रगति से पीछे न पड़ी रहने दिया। भारतेंदु-युग में जैसे कविता की बाह्यात्मा—भाषा—संस्कृत की गई वैसे ही उसकी अंतरात्मा—विषय-वस्तु, भाव आदि—में भी नवीनता लाई गई; वह रीति-कालीन रंग-भवन के दलदल से निकाली गई। इस काल के कवियों ने कविता में नवजीवन तो डाला; किंतु उनकी शक्ति मुक्तक-रचनाओं, छोटे-छोटे पद्यात्मक निबंधों की अवतारणा करने में, लगी रही; वे नवीन विषयों पर प्रबंध-काव्य न लिख सके।

इस समय तक देश में अँगरेजी-राज्य की पूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी थी। अब गद्य में प्रयुक्त होने से खड़ी बोली केवल एक प्रांत की उपभाषा नहीं रह गई थी; उसे व्यापकता मिली। इससे प्रोत्साहित होकर उसे काव्य की भाषा बनाने का विचार अंकुरित हुआ। साथ ही, इन्हीं दिनों देश में राष्ट्रीय भावना की अभिवृद्धि ने देशी भाषाओं में से किसी एक को राष्ट्र भाषा मनोनीत करने की आवश्यकता उत्पन्न की। सब बातों पर विचार करने के पश्चात् हिंदी ही इस कार्य के लिये ठीक समझी गई। जैसे हिंदी-गद्य को भारत-व्यापक बनाना आवश्यक था, वैसे ही उसके पद्य को भी अन्य प्रांतवालों के लिये बोधगम्य बनाना उचित जान पड़ा। किंतु व्रजभाषा में पद्य-भाग के अभिव्यक्त होने से ऐसा होना कठिन था। गद्य खड़ी बोली में हो और पद्य व्रजभाषा में! ऐसा होने से अन्य प्रांतवालों के लिये दो उपभाषाएँ सीखना सुगम नहीं। इसलिये खड़ी बोली में गद्य की भाँति पद्य की भी रचना करना अधिक उपयोगी प्रतीत हुआ। यों तो खड़ी बोली में कविता के अंकुर 'हेमचंद्र' (संवत् १२३०) के 'सिद्ध हेमचंद्र शब्दानुशासन' नामक प्रसिद्ध व्याकरण में संगृहीत कुछ दोहों तक में मिलते हैं—और खुसरो, सादी, वली, मीर, नजीर आदि उर्दू-कवियों के अतिरिक्त कबीर, रहीम, सीतल, ललितकिशोरी आदि हिंदी-कवियों की रचनाओं में भी उसके उदाहरण मिलते हैं—किंतु उसे देश की काव्य-भाषा होने का गौरव मिलने का युग अब से ही आरंभ होता है। पंडित श्रीधर पाठक इस समय की जन-वृत्ति के प्रदर्शित करने में अग्रणी हुए। पाठक जी पहले व्रजभाषा में कविता किया करते थे, और बाद में भी उन्होंने इससे प्रेम नहीं छोड़ा; परंतु सन् १८८३ में ही उन्होंने खड़ी बोली में कविता करने का श्रीगणेश किया। उनके 'मनोविनोद' के द्वितीय खंड की पहली कविता उक्त सन् के १४ सितंबर की रचना

है। तदनंतर वे सन् १८८६ में 'एडविन अंजलैना' और 'एकांतवासी योगी' नामक दो अँगरेजी से अनूदित काव्य लेकर खड़ी बोली के कविता-मंडप में, उसके सर्वप्रथम काव्यकार की हैसियत से, आए। फिर दूसरे साल 'जगन्मिथ्या'-सिद्धांत की असारता सिद्ध करने के लिये आपने इसी भाषा में 'जगत-सचाई-सार' नामक मौलिक कविता लिखी। इस प्रकार पाठक जी ने, सरल तथा बोलचाल की भाषा में उक्त एवं अन्य मौलिक और अनूदित काव्य तथा मुक्तक पद्य लिखकर, उस समय में प्रचलित इन विचारों का सक्रिय मूलोच्छेदन किया कि 'खड़ी बोली में अच्छी कविता नहीं हो सकती'। उनकी कोमल-कांत-पदावली, उनकी भाषा की सफाई और उक्तियों की मार्मिक व्यंजना पर मुग्ध होकर खड़ी बोली की काव्य-ध्वजा फहरानेवाले आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने सन् १८९९ में 'श्रीधर-सप्तक' लिखकर कविता के इस नवीन युग के आद्याचार्य की अभ्यर्थना की। द्विवेदी जी ने अपने 'सप्तक' में पाठक जी को गीतगोविंदकार 'जयदेव' का अवतार मानकर उनके काव्य-माधुर्य की प्रशंसा की है; और अंत में पाठक जी से दरिद्र हिंदी का कलंक धोने का अनुरोध करके अपनी उस मनोवृत्ति की सूचना दी है जो उनके 'सरस्वती' का संपादन प्रारंभ करने पर खड़ी बोली की कविता के लिये कल्पलता हुई।

पाठक जी की आरंभिक कृतियों की भाषा में वह सुघराई न आ सकी थी, जो उनकी उत्तरकालीन रचनाओं—जैसे 'भारत-गीत'—में दृष्टिगोचर होती है। उनकी पहली रचनाओं में अधिकांश मौलिक भी नहीं थीं, अँगरेजी या संस्कृत से अनुवादित थीं। इस त्रुटि का मार्जन करने के लिये पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' सचेष्ट हुए। आप इसके पहले से व्रजभाषा में, रीति-काल की काव्य-पद्धति पर, कविता करते आ रहे थे। खड़ी बोली में कविता करने के नवीन आंदोलन ने अपनी ओर आपका ध्यान आकृष्ट किया। इस समय तक पाठक जी की कविताएँ देखने को मिल चुकी थीं। उनके आधार पर खड़ी बोली में कविता किए जाने के विरोधी यह कहते सुने जाते थे कि 'इसमें सरल भाषा में कविता हो सकना असंभव है'। आपने नित्य की बोल-चाल की भाषा में कविता करके इस आरोप को व्यर्थ सिद्ध किया। फिर कुछ काल के पश्चात्, 'खड़ी बोली में केवल छोटी-छोटी मुक्तक कविताएँ ही लिखी जा सकती हैं'—इस आक्षेप का मुँह-तोड़ जवाब आपने 'प्रियप्रवास'-द्वारा दिया। 'प्रियप्रवास' में वर्णित आख्यान यद्यपि पुराना है, तथापि उसमें नवीन योजनाएँ करके आपने अपनी कल्पना शक्ति का भी परिचय दिया। श्री कृष्ण को लोकरक्षक के रूप में चित्रित करने का कार्य हिंदी-कवियों में सबसे पहले आपने ही किया। वात्सल्य एवं करुण रसों का अतीव रुचिकर परिपाक इस काव्य में हुआ। इसकी भाषा में तत्सम शब्दों के प्रयोग की ओर एक तो कवि की वैसे ही रुचि रही, दूसरे उसमें अधिक परिमाण में प्रयुक्त संस्कृत-वृत्तों—विशेषकर वर्ण-वृत्तों—के कारण यह काव्य और भी संस्कृत-गर्भित जान पड़ता है। हिंदी में संस्कृत-वृत्तों का इस प्रकार अधिक मात्रा में प्रयोग सर्वप्रथम आपने ही किया। इस प्रकार की क्लिष्ट भाषा में, खड़ी बोली में, अब तक का सर्वश्रेष्ठ काव्य लिखने के बाद आपने पुनः बोलचाल की भाषा की ओर दृष्टिपात किया। फलतः नित्य के

व्यवहार में आनेवाली भाषा में आपने उर्दू-छंदों की रचना सफलतापूर्वक की। आपकी ऐसी ही कविताओं का संग्रह 'चोखे चौपदे' और 'चुभते चौपदे' में है। इनमें मुहावरों पर आपने अपना अद्वितीय अधिकार प्रदर्शित किया। साथ ही राष्ट्रीयता, समाज-सुधार, देशोन्नति आदि से संबंध रखनेवाले विचारों की कवित्वपूर्ण अभिव्यंजना भी इनमें बहुत अच्छे ढंग से हुई।

द्विवेदी जी का प्रभाव, हरिऔधजी के आरंभिक कविता-काल में ही, देश-व्यापक हो चला था। द्विवेदी जी ने आरंभ में संस्कृत और ब्रजभाषा में कुछ कविताएँ लिखीं; फिर आप खड़ी बोली की ओर झुके। जब तक झाँसी में, जी० आई० पी० रेलवे के दफ़्तर में, रहे तब तक 'भारत-मित्र,' 'हिंदी वंगवासी' आदि में—और 'सरस्वती' के प्रकाशित होने पर उसमें भी—खड़ी बोली में ही कविताएँ लिखते रहे। जब सन् १९०४ में 'सरस्वती' के आराधना-क्षेत्र में आए, तब से आपने स्वयं तो खड़ी बोली को अपनाया ही, अन्य कितने ही कवियों को इसी में कविता करने के लिये प्रोत्साहित करके उन्हें मार्ग दिखाया, सिखाया और कवि बनाया। 'सरस्वती' के द्वारा आपने खड़ी बोली की कविता को ऐसा प्रोत्साहन दिया कि बहुत दिनों तक 'खड़ी बोली बनाम ब्रजभाषा' के झगड़े का दौरदौरा रहा। पहले लोगों को यह विश्वास ही नहीं होता था कि एक दिन खड़ी बोली का, इतने अल्प काल में, आज की भाँति, काव्यक्षेत्र पर प्रभुत्व हो जायगा। स्वयं द्विवेदी जी (२ फरवरी १९०९ को) स्व-संपादित 'कविता-कलाप' की भूमिका में लिखते हैं—'इस नये ढंग की कविताओं को 'सरस्वती' में प्रकाशित होते देख बहुत लोग अब इनकी नकल अधिकता से करने लगे हैं।... अतएव, बहुत संभव है कि किसी समय हिंदी के गद्य और पद्य की भाषा एक ही हो जाय।'' हर्ष है कि द्विवेदी जी के जीवन-काल में ही उनकी यह आशा पूरी हो गई। द्विवेदी जी ने फुटकल विषयों पर जो कविताएँ लिखीं, उनमें से कुछ 'कविता-कलाप', 'काव्यमंजूषा' एवं 'सुमन' में संगृहीत हैं। कालिदास-कृत 'कुमारसंभव' के प्रथम पाँच सर्गों का सार भी आपने 'कुमारसंभव-सार' में पद्य-बद्ध किया। 'कुमारसंभव-सार' की कविताएँ द्विवेदी जी की मौलिक रचनाओं से अधिक सरस हैं। द्विवेदी जी स्वयं अपने को कवि नहीं मानते; पर वे निस्संदेह एक बहुत बड़े कवि-निर्माता और भाषा के संस्कारकर्त्ता हैं। उन्होंने 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ आई हुई सभी कविताओं को संशोधित एवं परिमार्जित किया और उनके द्वारा प्रोत्साहन प्राप्त कर तत्कालीन अन्य कवियों ने संस्कृत भाषा के आदर्श पर काव्य-रचना की। इसी प्रकार द्विवेदी जी के व्यक्तित्व ने अपने समय के प्राय: सभी कवियों पर कुछ न कुछ प्रभाव डाला। यहाँ तक कि राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'-जैसे ब्रज भाषा के कवि ने भी समय की गति का साथ दिया; किंतु श्री मैथिलीशरण गुप्त, पंडित रामचरित उपाध्याय, पंडित लोचनप्रसाद पांडेय, पंडित कामताप्रसाद गुरु इनमें मुख्य हैं। पंडित गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', पंडित रूपनारायण पांडेय, पंडित लक्ष्मीधर वाजपेयी, ठाकुर गोपालशरणसिंह, श्री सियारामशरण गुप्त, पांडेय मुकुटधर शर्मा आदि पर भी द्विवेदी जी का प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा। कहना न होगा कि काव्य-भाषा का जो स्वरूप द्विवेदी जी जनता के सम्मुख रखना चाहते थे, वह उन्होंने अपनी रचनाओं के द्वारा तो प्रस्तुत किया ही, 'सरस्वती' में

प्रकाशित कविताओं में भी उन्हीं की छाप लगी रही। इन कविताओं के लेखकों में—द्विवेदी जी का सफल अनुकरण करनेवालों में श्री मैथलीशरण गुप्त प्रधान हैं। सन १९०९ और १९१० में क्रमशः 'रंग में भंग' और 'जयद्रथवध' लिखकर आपने द्विवेदी-शैली में खड़ी बोली के काव्य-ग्रंथों की रचना का सूत्रपात किया। आपके हृदय में भारत के अतीत गौरव का जो महिमामय स्थान है उसकी व्यंजना के साथ ही उक्त काव्यों में आपकी कवित्व-शक्ति का भी प्रस्फुटन हुआ। इन कथानकों के द्वारा आपने करुण, वीर, रौद्र आदि रसों की जो धारा प्रवाहित की, वह आगे चलकर कुछ दिन तक देशभक्ति के अपूर्व रस में दबी-सी रही। 'भारत-भारती' की सृष्टि करके आपने देश के नवयुवक कवियों के लिये भारत-संबंधिनी कविताओं की रचना करने का मार्ग दिखाया। फिर आपने महाभारत से कई छोटे-छोटे आख्यान लेकर उन्हें कविता-बद्ध किया। इधर गत वर्ष आपका सबसे श्रेष्ठ काव्य कहा जानेवाला 'साकेत' भी निकला। आपकी भाषा की सरसता सबसे अधिक 'पंचवटी' में अथवा आपकी अनूदित 'विरहिणी व्रजांगना' में ही दृष्टिगोचर होती है। फिर द्विवेदी-युग के अन्य कवियों में ठाकुर गोपालशरणसिंह के कवित्तों में अपेक्षाकृत अधिक मधुरता मिलती है। उनमें भाषा का स्वभावतया विकसित निखरा रूप दिखाई पड़ता है। पंडित लोचनप्रसाद पांडेय की रचनाएँ फुटकल छोटे-छोटे पद्यात्मक निबंधों तक ही सीमित रहीं; किंतु उनके द्वारा देशभक्ति के अतिरिक्त करुण रस के मनोरम छींटे भी उड़े। उनकी 'मृगी-दुख-मोचन' और 'आत्मत्याग' शीर्षक कविताएँ इसी कोटि की हैं। 'गुरु जी' भी मुक्तक-रचना में ही रह गए। किंतु पंडित रामचरित उपाध्याय ने छोटे-बड़े कई काव्य रचे जिनमें 'रामचरितचिंतामणि' मुख्य है। साहित्य-शास्त्र में स्वीकृत महाकाव्य के लक्षणों से युक्त यह ग्रंथ खड़ी बोली का महाकाव्य है। इसके अनेक स्थल बहुत सरस और मार्मिक हैं। इधर समाज-सुधारक और नीत्युपदेष्टा बनने की धुन में आपने अपने कवित्व को व्याघात पहुँचाया है। इनके अतिरिक्त लाला भगवानदीन, सैयद अमीर अली 'मीर' और श्री रामदास गौड़ भी खड़ी बोली के काव्य-क्षेत्र में उतरे। लाला जी के 'वीर पंचरत्न', 'वीर क्षत्राणी' और 'वीर बालक' में वीर रस की अच्छी व्यंजना हुई है। इन्होंने खड़ी बोली में उर्दू-छंदों का प्रयोग किया। पंडित रामचंद्र शुक्ल भी इसी कवि-समुदाय के मध्य, किंतु सबसे भिन्न रूप में, आते हैं। ये भी 'सरस्वती' के द्वारा ही काव्य-जगत् में प्रविष्ट हुए हैं। यद्यपि आगे चलकर आपने सर एडविन ऑर्नल्ड के विश्व-विख्यात काव्य 'लाइट आफ एशिया' के आधार पर 'बुद्धचरित' की रचना परिष्कृत व्रजभाषा में की, तथापि आप खड़ी बोली में बराबर लिखते रहे। आपकी कविता में प्रकृति का अंकन एक विशेष रूप से हुआ है। वर्त्तमान युग के कवियों पर देश की राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थिति का इतना अधिक प्रभाव पड़ा है कि उनमें से केवल कुछ को छोड़कर अधिकांश को प्रकृति की रमणीयता की ओर नजर उठाकर देखने तक का अवसर नहीं मिला। जिन्होंने उसे देखा भी है, उनमें से प्रायः सबने उसे अपने भावों से रँगा पाया है। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने प्रकृति को मानव-समाज के संपर्क में ही देखा था। उनके गंगा-यमुना के प्रसिद्ध वर्णनों में प्रकृति की सुषमा का उपयोग उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, संदेह आदि

अलंकारों की सृष्टि के लिये ही हुआ है। ठाकुर जगमोहनसिंह ने अलबत्तः वाल्मीकि, भवभूति आदि संस्कृत कवियों को भाँति विंध्याचल की सुंदरता की संश्लिष्ट योजना की है; किंतु उनके दृष्टिकोण से खड़ी बोली के कवियों ने प्रकृति की मधुर मूर्त्ति के दर्शन न किए। खड़ी बोली के पहले खेवे के कवियों में केवल पंडित श्रीधर पाठक ही प्रकृति के प्रेमी और पुजारी दिखाई पड़ते हैं। परंतु उन्होंने भी, हिंदी के अन्य बहुसंख्यक कवियों की भाँति, प्रकृति के लावण्य का उपयोग या तो अलंकारों की योजना के लिये किया अथवा उसे मानव-सुख-दुःख का अनुभव तीव्र करने में सहायक समझा। इसके विपरीत पंडित रामचंद्र शुक्ल ने प्रकृति को उसके वास्तविक रूप में देखा। उन्हीं के शब्दों में "अनंत रूपों से भरा हुआ प्रकृति का विस्तृत क्षेत्र उस 'महामानस' की कल्पनाओं का अनंत प्रसार है। सूक्ष्मदर्शी सहृदयों को उसके भीतर नाना भावों की व्यंजना मिलेगी। नाना रूप जिन नाना भावों की सचमुच व्यंजना कर रहे हैं, उन्हें छोड़कर अपने परिमित अंतःकोटर की वासनाओं से उन्हें छोपना एक झूठे खेलवाड़ के ही अंतर्गत होगा।"[१] अस्तु, शुक्ल जी ने प्रकृति-दर्शन में न तो हिंदी में प्रचलित उपर्युक्त प्रणाली का उपयोग किया और न उसके नाना रूपों या व्यापारों की गिनती करके उनकी तालिकामात्र तैयार की; प्रत्युत आपने प्रकृति के अगणित रूपों, दृश्यों, व्यापारों आदि की संश्लिष्ट योजना करके अंतः एवं बाह्य प्रकृति का रागात्मक संबंध प्रदर्शित किया। प्रकृति को आपने मानव जीवन से चिर-संबद्ध माना। अँगरेजी के प्रसिद्ध कवि 'शेली' की भाँति प्रकृति के भव्य रूप पर, या 'वर्ड्सवर्थ' की भाँति उसके साधारण रूप पर, आप मुग्ध नहीं होते। आप तो 'मेरडिथ' के सदृश प्रकृति के उस रूप के द्वारा आकृष्ट होते हैं जिससे सच्चा रागात्मक संबंध प्रस्तावित होता है। आपकी 'मधुस्रोत' और 'रूपमय हृदय' शीर्षक कविताओं में इसी दृष्टि से प्रकृति-पर्यवेक्षण हुआ है। आप प्रकृति के नाना रूपों से प्रभावित भी होते हैं; किंतु वहीं तक, जहाँ तक उनका प्रकृति के व्यापार-विशेष से संबंध रहता है। प्रकृति के किसी रूप से प्रभावित होकर आप दूर की कौड़ी लाने का प्रयत्न कभी नहीं करते। जब आप 'हृदय का मधुर भार' शीर्षक अपनी लंबी कविता में अपने बाल्यकाल की स्मृति करते हैं, तब मिर्जापुर के विंध्यगिरि में भ्रमण करते समय आपने पर्वत पर स्थित छोटे-छोटे गाँवों, पहाड़ों, जंगलों आदि का जो रूप देखा था वही हमारे सामने ऐसा आ जाता है कि अर्थ और बिंब दोनों हमारे मानस-पट पर अंकित हो जाते हैं। इसी कविता में, जब आप ग्रीष्म से व्याकुल होकर पार्वत्य-प्रदेश के मध्य में स्थित एक अकेले पेड़ के नीचे जाते हैं और आपका एक साथी उस पेड़ की छाया के नीचे पहले से बैठे और हाँफते हुए कुत्ते को भगाकर अपने खड़े होने के लिये जगह करता है, तब आप मनुष्य की स्वार्थ-परता की तुलना प्रकृति की सबके प्रति समान उदारशीलता से करते हैं; किंतु ऐसा करने पर भी आप 'केशव'-जैसे कवियों के सदृश अपने प्रकृत विषय से दूर हटकर दार्शनिक विवेचन

---

[१] "हिंदी-साहित्य का इतिहास"—पंडित रामचंद्र शुक्ल, पृष्ठ ६४६

करने या अलंकारों की बंदिशें बाँधने में भटक नहीं जाते। आपकी प्रकृति-दर्शन की स्वाभाविक और रुचि-वर्धक दृष्टि आपको द्विवेदी-युग के अन्य कवियों से विशिष्ट स्थान दिलाती है।

जिस प्रकार खड़ी बोली की कविता के इस युग में पंडित रामचंद्र शुक्ल की स्वतंत्र सत्ता है, उसी प्रकार पंडित नाथूराम 'शंकर' शर्मा का भी स्थान निराला है। शंकर जी ने भी, इस काल के अधिकतर अन्य कवियों की भाँति, पहले व्रजभाषा के द्वारा ही भगवती वीणापाणि की अभ्यर्थना आरंभ की। फिर सामयिक परिस्थिति से प्रभावित होकर आप खड़ी बोली के मैदान में आए। आप विलक्षण प्रतिभा-संपन्न कवि थे। आपकी सूझ गजब की थी। अलंकारों और भावों का समन्वय करने की आप की-सी शक्ति बहुत कम कवियों में पाई जाती है। आपके सदृश चुटीले और खरे व्यंग्य खड़ी बोली का दूसरा कवि अब भी नहीं लिख पाता। अपनी असाधारण कवित्व-शक्ति के बल पर ही आपने अपने जीवन के उत्तरार्ध में मात्रिक वृत्तों के प्रत्येक चरण में समान वर्ण रखने का ऐसा भीष्म व्रत निभाया जो अभी तक कोई प्राचीन अथवा अर्वाचीन कवि नहीं कर सका। इतना सब होने पर भी आपके काव्य-कौशल को आर्यसमाज ने एक प्रकार से ग्रस लिया था। इसके कारण आप कवि न रहकर समाज-सुधारक हो गए। इसी कारण आपकी भाषा में भी कर्कशता आने लग गई। हाँ, जब कभी आपने समाज-संशोधन की भावना से मुक्त होकर कविता लिखी, तब उसमें पर्याप्त कमनीयता की पुट देख पड़ी। इस युग के खड़ी बोली के कवियों में आपने ही आध्यात्मिक विषयों पर लेखनी चलाई है। यद्यपि द्विवेदी-युग के अन्य कवियों में बहुसंख्यक ऐसे नहीं हुए जो अपनी विशेष छाप लगाकर अपना प्रभाव प्रदर्शित कर सके हों, तथापि जो थोड़े-से कवि काव्याकाश में मनोरम ज्योति का संचार करने में समर्थ हुए हैं, उनमें ठाकुर गोपालशरणसिंह का उल्लेख करना आवश्यक है। भाषा की जो मिठास रीति-काल के 'पद्माकर'-जैसे भाषाधिकारी कवियों की कविता में मिलती है, ठाकुर साहब के हाथ में पड़कर खड़ी बोली वही प्रदान करने योग्य हुई। खड़ी बोली के विरोधी उसकी श्रुति-कटुता को उसका सबसे बड़ा दोष बताकर कविता के लिये उसकी अनुपयुक्तता सिद्ध किया करते थे। ठाकुर साहब ने अपने कवित्तों और सवैयों के द्वारा ऐसों का मुँह बंद कर दिया। जैसे आप लौकिक विभूति से संपन्न राजा हैं, वैसे ही, आचार्य द्विवेदी जी के शब्दों में 'कविता की दृष्टि से भी राजा हैं।' द्विवेदी-युग के कवियों में भाषा की दृष्टि से ये सर्वश्रेष्ठ ठहरते हैं। खड़ी बोली के अन्यतम कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त के अनुज श्री सियारामशरण जी को भी हम इस वर्णन में नहीं भूल सकते। वे मैथिलीशरण जी से अधिक कवित्वपूर्ण हैं—ऐसी बहुत-से मर्मज्ञों की धारणा है। करुण रस की व्यंजना वे बहुत मनोहर रूप में कर सके हैं। संभवतः वे भी महाकवि भवभूति के 'एको रसो करुण एव' के समर्थक हैं। उन्होंने 'विषाद,' 'दूर्वादल' और 'आर्द्रा' में करुण रस पर अत्यंत सरस और भावपूर्ण कविताएँ लिखी हैं। आरंभ में उन्होंने अपने अग्रज के ढंग पर 'मौर्य-विजय' की रचना की थी, जो 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात'

समझा गया था। बाद में वे उनसे भिन्न मार्ग पर चलकर कविता में अपने स्वतंत्र पथ के पथिक हुए। इनके भी सबसे मधुर गीत वही हैं जो वेदना की चरम व्यंजना करते हैं।

इस प्रकार ईसा की गत शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश में पंडित श्रीधर पाठक ने जिस खड़ी बोली में कविता का बीजारोपण किया था, और जिसका बिरवा सींचने और उसे अनुप्राणित करने में पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी की अटूट लगन और साधना ने योग दिया था, वह लहलहाती हुई पौद—छोटा पेड़—के रूप में द्विवेदी जी के 'सरस्वती' के संपादन-काल में ही लोगों का मन मोहित करने लगी। द्विवेदी-युग के उत्तरार्ध में ही इसमें अन्य शाखाएँ भी पल्लवित होने लगीं। उनमें विकास यद्यपि इस काल के अनंतर हुआ, तथापि इस काल में विकसित होने के कारण काव्य-कल्पद्रुम की इन शाखाओं का भी उल्लेख यहाँ होना आवश्यक है। किंतु ऐसा करने के पूर्व इस युग में, कालानुक्रम से पहले आनेवाली कविता की उस पुरानी प्रगति का विवरण भी, संक्षेप में, दे देना समीचीन प्रतीत होता है, जो व्रजभाषा के द्वारा ही पुरानी काव्य-परिपाटी से संबंध बनाए रही और तत्कालीन समाज के एक अंश की भावाभिव्यक्ति करती रही। व्रजभाषा-काव्य का क्रियात्मक समर्थन करनेवाले कवि-वर्ग को पुरानी बातों से इतना अधिक अनुराग था कि उन्हें नवीन युग की बातों ने एक प्रकार से प्रभावित ही नहीं किया। इस समुदाय में केवल एक कवि ऐसे हैं जो नवीनता में उपादेयता मानते और उसके कुछ वांछनीय अंशों का समर्थन करते हैं। वे हैं खड़ी बोली के भी ख्यातनामा कवि हरिऔध जी। ऊपर यथास्थल लिखा जा चुका है कि हरिऔध जी का कवि-कर्म व्रजभाषा में ही काव्य-रचना से प्रारंभ होता है। समय की गति का सहानुभूतिपूर्वक अनुसरण करते हुए भी आपके हृदय में व्रजभाषानुराग बना रहा। आपने अपने समकालीन अन्य व्रजभाषा के कवियों की भाँति देश और काल की अवहेलना न की, प्रत्युत स्वरचित व्रजभाषा की कविताओं में भी आपने नवीन भावों की अभिव्यक्ति की। अंधपरंपरानुयायी प्राचीन परिपाटी के कवियों को भी अपने सदृश विचारवाला बनाने के उद्देश्य से आपने, थोड़े दिन हुए, 'रसकलस' नामक एक रीति-ग्रंथ रचा है। इसमें अधिकांश रचनाएँ आपके आरंभिक कविता-काल की हैं, इससे वे हमारे विवेचन-काल के अंतर्गत निस्संकोच आ जाती हैं। उक्त ग्रंथ के 'विशेष वक्तव्य' में आप लिखते हैं—"मैं यह स्वीकार करता हूँ कि प्राचीन प्रणाली का अनुसरण ही आज-कल अधिकांश वर्त्तमान व्रजभाषा के कवि कर रहे हैं। निस्संदेह यह एक बहुत बड़ी त्रुटि है। समय को देखना चाहिए और सामयिकता को अपनी कृति में अवश्य स्थान देना चाहिए। देश-संकटों की उपेक्षा देश-द्रोह है और जाति के कष्टों पर दृष्टि न डालकर अपने रंग में मस्त रहना महान् अनर्थ।.........यह विचार कर ही प्राचीन प्रणाली के कवियों की दृष्टि इधर आकर्षण (आकर्षित ?) करने के लिये 'रसकलस' की रचना की गई है।" इसमें जहाँ हास्य रस के उदाहरणों में देश के वर्तमान विषयों पर सूक्तियाँ हैं—रौद्र और बीभत्स रसों में उदाहृत छंदों में आधुनिक युग की भावनाएँ हैं—नायिका-भेद में जाति, देश, जन्मभूमि, और धर्म की प्रेमिकाओं एवं लोकसेविकाओं की नवीन उद्भावना है, वहाँ अद्भुत रस के उदाहरण-स्वरूप रहस्यवाद-संबंधिनी

उक्तियाँ तक हैं। इस प्रकार आपकी इस कृति में समाज का वही पूर्ण प्रतिबिंब दृग्गोचर होता है जो खड़ी बोली की आपकी तथा औरों की कविता में मिलता है। आपके अतिरिक्त इस निबंध में विवेचनीय काल के व्रजभाषा के कवियों में पंडित किशोरीलाल गोस्वामी, बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर', पंडित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, श्रीमान् मिश्रबंधु और पंडित सत्यनारायण कविरत्न की गणना प्रधानतया की जाती है। इनमें अंतिम तो अल्पायु में ही कालकवलित हो जाने के कारण हमारी बहुत-सी आशाओं पर पानी फेर कर चले गए और 'रत्नाकर' जी के अतिरिक्त अन्य सज्जनों का कवि के रूप में कोई विशेष महत्त्व नहीं है। 'रत्नाकर' जी वर्तमान काल में, हरिश्चंद्र जी के बाद, व्रजभाषा के सबसे बड़े कवि थे। उनकी भाषा में ओज, प्रसाद और माधुर्य का मनोहर सम्मिलन होता था, और उसकी सफाई का तो कहना ही क्या! किंतु विषय-वस्तु की दृष्टि से उनका काव्य वर्तमान समय के सदियों पूर्व का ठहरता है। 'हरिश्चंद्र', 'गंगावतरण', 'उद्धवशतक' आदि में सर्वत्र माधुर्य है, सूक्तियाँ हैं और कविता है; परंतु इन सबके विषय तो पुराने हैं ही; कवि इनमें उस प्रकार की कोई नवीन योजना भी नहीं कर सका जिस प्रकार हरिऔध जी ने 'प्रियप्रवास' में श्रीकृष्ण और राधा के चरित्रों में की है। हाँ, सत्यनारायण जी अवश्य व्रजबाला को नवीन वस्त्राभूषणादि से अलंकृत करते—ऐसा उनकी उन थोड़ी-सी मुक्तक कविताओं से विदित होता है जो 'हृदयतरंग' में संकलित हैं। व्रजभाषा में क्या, खड़ी बोली में भी, सत्यनारायण की-सी रसीली राष्ट्रीय कविताएँ उँगलियों पर ही गिनी जा सकती हैं। उपालंभ और व्यंग्य काव्य-श्रेणी में उनकी तद्विषयक थोड़ी-सी रचनाएँ भी बहुत उच्च स्थान की अधिकारिणी हैं। भवभूति के करुण रस के अद्वितीय नाटक 'उत्तररामचरित' के अब तक के सर्वश्रेष्ठ हिंदी-अनुवादक सत्यनारायण के व्यक्तिगत जीवन में जिस प्रकार करुण रस घुला-मिला था, उसी प्रकार उनकी अधिकांश रचनाओं में भी यह रस ओतप्रोत है। सच है, 'हमारे मधुरतम गीत वही हैं जिनमें करुणतम घड़ियों की वेदना झंकृत होती है।' इस व्रजकोकिल के असमय में ही गोलोक को उड़ जाने से व्रजभाषा की पूरी न की जा सकने योग्य क्षति तो हुई ही; हिंदी-काव्य-कानन में एक अलौकिक एवं अनुपम कोकिल-रत्न का कूजन ही प्रायः न सुना गया। अस्तु; ऐसे युग में, जिसमें खड़ी बोली की तूती बोलने लगी थी, व्रजभाषा की वंशीध्वनि भी देश में सुनाई पड़ती रही।

ऊपर संकेत किया जा चुका है कि द्विवेदी-युग के उत्तर-काल में ही खड़ी बोली में उस काव्य-पद्धति का भी आरंभ हो चुका था जो उसके पश्चात् अधिक व्यापक हुई। इस पद्धति के प्रथम कवि श्री जयशंकरप्रसाद का कविता-काल ईसवी सन् १९०९-१० के कुछ पूर्व से आरंभ होता है। यद्यपि उनकी प्रारंभिक रचनाओं—नाटक, चंपू और कविताओं—में जो उनके संग्रह-ग्रंथ 'चित्राधार' में सर्वत्र व्रजभाषा का प्रयोग हुआ है और उनमें भाव भी प्राचीन प्रणाली के ही हैं, तथापि इस प्रकार की भावाभिव्यंजन की शैली और व्रजभाषा का संबंध 'प्रसाद' जी से प्रायः बीस वर्ष की अवस्था में (सन् १९१०-११ में) ही छूट जाता है। तदनंतर 'प्रसाद' जी ने हिंदी-कविता में भाव और भाषा दोनों की दृष्टि से नवीन मार्ग ग्रहण किया। उनकी काव्य-भाषा अब

से खड़ी बोली हुई। किंतु वह द्विवेदी जी के प्रभाव से नितांत मुक्त रही। उनकी भाषा में अँगरेजी के ढंग की लाक्षणिकता का समावेश हुआ और वृत्तों के विषय में भी उन्होंने अपना नया मार्ग निकाला। संस्कृत और अँगरेजी की-सी अभिन्नाक्षर कविता, विशेषतया वर्णवृत्तों में, उनके पहले से हिंदी में होने लगी थी, किंतु उन्होंने अँगरेजी और बँगला की भाँति ऐसी कविता का हिंदी में श्रीगणेश किया जिसमें प्रत्येक चरण में समान वर्णों या मात्राओंवाले वर्णों का ग्रंथन नहीं रहता। ऐसी कविता में एक वाक्य में व्यक्त होनेवाला भाव कई चरणों तक चला जाता है और फिर दूसरा वाक्य किसी चरण के किसी भी भाग से प्रारंभ हो जाता है। 'करुणालय' इसी शैली में लिखा गया। इसकी और 'कानन-कुसुम' में संगृहीत कविताओं का जन्म सन् १९१३ के लगभग हुआ। आगे चलकर 'प्रेम पथिक' और 'महाराणा का महत्त्व' नामक दो अन्य भिन्न तुकांत काव्य भी 'प्रसाद' जी ने लिखे। इनके द्वारा उन्होंने नवीन छंदों में अपनी अलग परिपाटी चलाई, जिसमें कुछ समय के पश्चात् अधिक प्रौढ़ता और सुंदरता आई। 'झरना' की कविताएँ भी द्विवेदी-काल के अंतर्गत हैं, और उसके बाद की कविताएँ तो इस काल के पश्चात् की होने से यहाँ विचारणीय नहीं। 'झरना' तक की कविताओं में से कुछेक—जैसे 'करुणालय' और 'महाराणा का महत्त्व'—में विषय-वस्तु की प्राचीनता होते हुए भी उसके व्यक्त करने का ढंग द्विवेदी-खेवे के अथवा तत्कालीन अन्य कवियों से भिन्न है; और शेष में तो भावों या मनोविकारों एवं वेदनाओं की साकार कल्पना हुई है, और परोक्ष सत्ता से रागात्मक संबंध स्थापित करने की मार्मिक व्यंजना हुई है। 'प्रसाद' की काव्य-कला ने इसी विचार-धारा का स्रोत प्रवाहित किया, जो आगे चलकर अधिक वेगवती और विस्तृत हुई। इसी भावाभिव्यंजन शैली के दूसरे कवि राय कृष्णदास जी भी इसी युग में, 'प्रसाद' जी के प्रायः साथ ही, अवतीर्ण हुए। इनकी प्रथम कृति 'उपवन' में चार-पाँच को छोड़कर शेष सभी कविताएँ तुकविहीन हैं। इनको काव्य और संगीत के मणि-कांचन-संयोग का भी ध्यान रहा और इसी लिये इन्होंने कुछ गेय पद्य भी रचे। 'भावुक' में संगृहीत इनके कुछ पद्यों की स्वर-लिपि भी दी गई है, जो हमारी इस धारणा की पुष्टि करती है। इन्होंने भी 'प्रसाद' जी की ही भाँति अदृष्ट सत्ता का रहस्य जानने का प्रयत्न किया और कुछ कविताओं में इन्होंने भाव सहृदयता-पूर्वक मनोमोहक रूप में व्यक्त किए। किंतु इनको अपना कवित्व पद्य-द्वारा व्यक्त करने में वह सफलता नहीं मिली, जो गद्य-गीतों-द्वारा व्यक्त करने में मिली है। फलतः 'साधना', 'छायापद' और 'प्रवाल' में इनके भावों का विकास गद्य रूप में हुआ। उन्हीं के द्वारा कवित्वपूर्ण गद्य की एक नवीन शैली का सूत्रपात हुआ। इस प्रकार द्विवेदी-युग में हिंदी कविता की नवीन धारा का भी आरंभ हो गया था, और वह तत्कालीन अन्य काव्य-पद्धतियों की भाँति स्वतंत्र रूप से विकसित होने लगी थी। अस्तु, द्विवेदी-युग के आविर्भाव के साथ हिंदी-कविता में कई दिशाओं में परिवर्तन हुआ। रीति काल तक चली आती हुई देश की काव्य-भाषा (ब्रजभाषा) के स्थान पर खड़ी बोली की, जो उस समय तक केवल प्रांतीय बोली थी और जिसमें तब तक

नाममात्र को कविता हुई थी, देश की काव्य-भाषा के रूप में स्थापना हुई; रीति-कालीन कवियों के सीमा-बद्ध कविता के विषयों में परिवर्तन हुआ और कवियों ने देश-काल की स्थिति के साथ कंधे से कंधा मिलाकर चलना आरंभ किया। उन्होंने अतीत के गौरव पर ही लट्टू रहकर अपने को धोखा देना छोड़ा और वर्तमान का चिंतन करके अपने आंतरिक जीवन के अस्तित्व का परिचय दिया। कविता में परंपरागत वृत्तों का सिंहासन भी डिगा और उनके स्थान पर संस्कृत से ही अनेक वृत्त नहीं लिए गए, वरन् बहुत-से नए छंदों का निर्माण हुआ और अँगरेजी एवं बँगला की देखादेखी मुक्त-वृत्तों का भी पदार्पण हुआ। इस प्रकार भाषा और भाव दोनों दृष्टियों से द्विवेदी-युग में हिंदी-कविता में युगांतर हुआ। इसमें संदेह नहीं कि इस युग में फुटकल रचनाओं के अतिरिक्त उच्च कोटि के जो तीन-चार काव्य निर्मित हुए, उनमें प्राचीन काव्य-भाषाओं—अवधी और व्रजभाषा—की समता करने की शक्ति नहीं; किंतु यह न भूलना चाहिए कि उन काव्यों की सृष्टि तब हुई है जब ये भाषाएँ सदियों तक मँज चुकी थीं। इधर द्विवेदी-युग में यह क्या कम महत्त्व की बात है कि इतने अल्प काल में खड़ी बोली को देश की काव्य-भाषा होने का गौरव मिला और उसमें वैसी ही सफाई, मधुरता, अर्थ-गंभीरता और व्यंजना आ गई जैसी व्रजभाषा में शताब्दियों के पश्चात् आई थी! सच तो यह है कि जैसे व्रजभाषा और अवधी में रचित हमारा अतीत साहित्य हमारे आनंद तथा गर्व का विषय है, वैसे ही हिंदी-काव्य-साहित्य में यह वर्तमान युग-परिवर्तन भी हमारे आह्लाद और भावी सदाशाओं का कारण है। और, इस नवयुग के आरंभ करनेवाले आचार्य पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी को अपने इस सदनुष्ठान का ऐसा सुरम्य परिणाम अपने जीवन-काल में ही देखने को मिल गया—इससे बढ़कर और क्या आनंद हो सकता है? जिस ऋषि ने इस महान् युग-धर्म का प्रवर्तन किया है, उसी के सम्मानार्थ ये पंक्तियाँ सादर समर्पित हैं।

रामबहोरी शुक्ल

आदर्श संपादक द्विवेदी जी

जिस समय द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' का संपादन-भार अपने हाथ में लिया, उस समय हिंदी के मासिक पत्र-संपादन की कला बहुत पुरानी शैली की थी। जो छोटे-मोटे मासिक पत्र निकलते थे, उनमें आधुनिक काल की संपादन-कला का कहीं चंचु-प्रवेश भी नहीं हुआ था। द्विवेदी जी ने ही 'सरस्वती' में पहले-पहल आधुनिक युग की संपादन-कला का सूत्रपात किया। द्विवेदी जी के पूर्व के संपादकों को इस बात का कुछ ध्यान ही न था कि आधुनिक युग में हिंदी के पाठकों को किन विषयों की जानकारी होनी चाहिए, पश्चिमी संपादन-कला का हिंदी मासिक पत्रों में किस प्रकार प्रवेश किया जाय, विषय-वैचित्र्य का संपादन-कला में क्या महत्त्व है—इत्यादि। द्विवेदी जी ने ही पहले-पहल 'सरस्वती' में यह आदर्श सामने रक्खा और इस प्रकार उन्होंने मासिक पत्रों के संपादन में एक नया ही युग उपस्थित कर दिया। इतना ही नहीं, संपादक का एक सबसे बड़ा कर्त्तव्य समाज और साहित्य की आलोचना करना भी है। ऐसी आलोचना कि जिससे समाज और साहित्य के कान खड़े हो जायँ, या समाज और साहित्य—जिसमें बिलकुल स्तब्धता छाई हुई है—एकदम जाग्रत होकर और खड़बड़ा कर उठ खड़ा हो। ऐसी समालोचना की शैली द्विवेदी जी ने ही पहले-पहल हिंदी-संसार के सामने रक्खी। इसमें संदेह नहीं कि समाज या साहित्य के जिस अंग की ऐसी मर्मस्पर्शी समालोचना द्विवेदी जी ने अपने लेखों और टिप्पणियों में की, उस अंग को या उन व्यक्तियों को ऐसी समालोचना अप्रिय और असह्य प्रतीत हुई; परंतु द्विवेदी जी ने जिस बात को सत्य समझा, उसको निर्भयतापूर्वक लोगों के सामने रख दिया। उसमें किसी की रिआयत नहीं की। इसका परिणाम यह हुआ कि जहाँ पुरानी शैली के लेखकों के कान खड़े हो गए, वहाँ आगे नवीन शैली के लेखकों के सामने एक उज्ज्वल प्रकाश आ गया—नवयुवक लेखकों को आगे का रास्ता साफ दिखाई पड़ने लगा। द्विवेदी जी स्वयं तो लिखते ही थे, और संपादन-कार्य में घोर श्रम भी करते थे; परंतु साथ ही साथ वे नए-नए लेखक और कवि भी बनाते चलते थे। उनकी पैनी नजर—उनके उन्नत ललाट की बड़ी-बड़ी भौंहों के नीचे के तेजस्वी नेत्रों की मर्मवेधिनी दृष्टि नहीं, वल्कि उनके मस्तिष्क के भीतर की पैनी दृष्टि—भारतवर्ष के हिंदी-संसार से बहुत दूर विदेशों के भी हिंदी जाननेवालों में अपने लिये लेखक ढूँढ़ा करती थी। अमेरिका, जर्मनी, फ्रांस, इँगलैंड आदि देशों में भी उन्होंने हिंदी-लिखनेवालों को ढूँढ़ा; और जो लोग विदेशों में रहकर हिंदी को भूले हुए थे, शायद हिंदी लिखना भी बहुत कम जानते थे, उनसे भी हिंदी के लेख लिखवा-लिखवा कर मँगाए। और, उन लेखों की भाषा अपने साँचे में ढाल कर लेखकों को ऐसा उत्साहित किया कि उनमें से कई लेखक आज भी हिंदी संसार में चमक रहे हैं। द्विवेदी जी ने सैकड़ों लेखकों को, जिन्हें

कोई जानता भी न था, 'सरस्वती'-द्वारा मैदान में लाकर खड़ा किया। श्री मैथिलीशरण गुप्त, 'शंकर' जी, हरिऔध जी, राय साहब 'पूर्ण' जी, पंडित रामचरित उपाध्याय, पंडित लोचनप्रसाद पांडेय, पंडित रामनरेश त्रिपाठी, पंडित गिरिधर शर्मा 'नव रत्न', पंडित गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', पंडित रूपनारायण पांडेय, ठाकुर गोपालशरणसिंह आदि यशस्वी कवियों को प्रकाश में लानेवाले द्विवेदी जी ही हैं। पंडित कामताप्रसाद गुरु की 'भानु की झाँकी' द्विवेदी जी ने ही 'सरस्वती' में दिखलाई। द्विवेदी जी ने ही पहले-पहल 'श्रीधरसप्तक' लिखकर पंडित श्रीधर पाठक का गौरव बढ़ाया।

स्वनामधन्य 'भारतेंदु' जी के बाद अपने ढंग की भाषा-शैली द्विवेदी जी ने विशेष रूप से चलाई। व्याकरण-विशुद्ध भाषा लिखने पर सदैव जोर दिया। आजकल के सैकड़ों लेखक करीब-करीब उसी शैली पर चल रहे हैं। 'प्रताप' के तेजस्वी संपादक स्वर्गीय गणेशशंकर विद्यार्थी तो द्विवेदी जी को अपना एक ही परम गुरु मानते थे और अपना प्रत्येक कार्य्य द्विवेदी जी का आशीर्वाद लेकर करते थे। वे द्विवेदी जी के ही अखाड़े में तालीम पाए हुए एक विशेष व्यक्ति थे। इसी प्रकार द्विवेदी जी ने गद्य की भाँति पद्य की भी शैली ठीक की। उनके संपादक-पदारूढ़ होने के पहले हिंदी कविता की बड़ी विचित्र दशा थी। ब्रजभाषा के नाम पर कवि लोग मनमाने ढंग की भाषा लिख डालते थे। वह न शुद्ध ब्रजभाषा होती, न शुद्ध खड़ी बोली। किंतु द्विवेदी जी ने स्वयं खड़ी बोली में कविता लिखकर तथा औरों से लिखाकर एक नई पद्य-रचना-शैली चलाई। विषयों का चुनाव तो द्विवेदी जी का प्रारंभ से ही बिलकुल नवीन ढंग का था, जिसकी ओर उस समय तक हिंदी के अन्य किसी कवि का ध्यान आकृष्ट नहीं हुआ था। आगे चल कर द्विवेदी जी ने हिंदी-कविता में अपनी संपादन-कला के द्वारा जो उत्क्रांति की, वह आज 'प्रसाद', 'पंत' और 'निराला' के रूप में जाकर प्रकट हुई है।

द्विवेदी जी में संपादकीय शिष्टाचार भी हद दर्जे का था। अपने सहयोगियों और लेखक-वर्ग के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए, यह द्विवेदी जी खूब जानते थे। सहयोगियों के साथ उनका व्यवहार बहुत ही सरल और प्रेमपूर्ण था। अपनी तरफ से वे कभी किसी के साथ न अटके; परंतु जिन लोगों ने उनकी शान के खिलाफ कभी कुछ लिखने का साहस किया, उनको मुँह तोड़ उत्तर देना उन्होंने अपना कर्तव्य समझा। इस गुण को हम संपादकीय शिष्टाचार से अलग नहीं कर सकते। लेखकों के साथ द्विवेदी जी का जो शिष्ट बर्ताव रहा, उसके विषय में तो हमको यही कहना पड़ता है कि "न भूतो न भविष्यति"। न तो उसके पहले किसी संपादक का वैसा व्यवहार था और न अब है। आज-कल के कितने ही हिंदी-पत्र-संपादक अपने लेखकों को ठीक समय पर पत्रोत्तर देना भी आवश्यक नहीं समझते; लेकिन द्विवेदी जी इतने उच्च श्रेणी के संपादक होते हुए भी छोटे-छोटे लेखकों को—जिनके अंदर वे थोड़ी भी प्रतिभा देखते थे—बराबर उत्साहित किया करते थे। पत्र उनके पास पहुँचा नहीं कि उसका उत्तर लिखकर रवाना किया। आज कोई लेख उनके पास पहुँचा, और तीसरे ही दिन लेखक को स्वीकृति या अस्वीकृति की सूचना मिल

गई। और यदि किसी लेख में कुछ भी तत्त्व देखते, तो उसका यथोचित संशोधन कर उसे अवश्य छापते। यदि लेख छापने योग्य न होता, तो बहुत करके तीसरे ही दिन लेखक को वापस मिल जाता। होनहार लेखकों को उत्साहित करने में द्विवेदी जी अद्वितीय थे। लेखक को पत्र लिखते समय वे अपने संक्षिप्त पत्र में प्रायः एक वाक्य ऐसा अवश्य ही डाल देते थे जिसे पढ़कर उसका हृदय गद्‌गद हो जाता था और द्विवेदी जी द्वारा इतना प्रोत्साहन पाकर वह अपने को बड़ा सौभाग्यशाली समझता था। लेखकों के साथ इतना ही उपकार करके वे संतुष्ट नहीं हुए। जब देखा कि इसको कुछ लिखना आ गया, तब उसका नाम 'फ़्री लिस्ट' में लिखा दिया और लेखक को सूचित कर दिया—'सरस्वती अब आपकी सेवा में बराबर पहुँचा करेगी।' फिर एकाध साल के बाद जब देखा कि इस लेखक का अब इतना हक है कि इसको 'पुरस्कार' भी दिया जाय, तब बिना प्रार्थना के ही उसके लेखों के लिये रुपए भी पहुँचने लगे। द्विवेदी जी का इस प्रकार का व्यवहार कुछ इने-गिने लेखकों के ही साथ न था, सैकड़ों ही ऐसे लेखक गिनाए जा सकते हैं जिनको उन्होंने निस्स्वार्थ भाव से उपकृत किया है। इसी का परिणाम है कि आज 'द्विवेदी' शब्द किसी व्यक्ति का बोधक नहीं, बल्कि एक 'स्कूल' या 'संप्रदाय' का परिचायक है, जिसमें हजारों ऐसे नवयुवक लेखकों और कवियों की संख्या गिनाई जा सकती है, जो अपने पूज्य गुरुवर्य आचार्य द्विवेदी जी की गद्य-शैली और पद्य-प्रणाली का अनुकरण करते हुए उनके संप्रदाय को चला रहे हैं।

लक्ष्मीधर वाजपेयी
ज्योतिःप्रसाद मिश्र 'निर्मल'

Department of Oriental Printed Books & Mss.,
British Museum,
London: W.C.1.

475/32. 8th August, 1932.

Sir,

I beg to acknowledge the receipt of your letter of 18th July, inviting me to co-operate in the Commemoration volume in honour of Acharya Mahavira Prasad Dvivedi. It would give me extreme pleasure to be able to show my appreciation of that eminent scholar's admirable services to Hindi literature, but unfortunately I am prevented from doing so by my health, which prevents me from undertaking any private studies.

Believe me, to be
Yours very faithfully,

L. D. Barnett

आचार्य पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी

दौलतपुर (जिला रायबरेली) हिंदी के आचार्य वयोवृद्ध व पूज्य पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी का जन्म-ग्राम है । वहीं वे निवास करते हैं। सघन बागों से घिरे हुए उनके गाँव की शोभा ही निराली है । उनका गाँव भगवती भागीरथी के तट पर है । उनका आमों का एक बागीचा बिलकुल गंगा के समीप है । उनके निज के आम के बागीचे अनेक हैं, जिनमें तरह-तरह के देशी आमों के पेड़ लगे हुए हैं। उनको आम खाने का बड़ा शौक है। वे एक बार कहते थे कि गरमियों में आमों खाने से उनकी तन्दुरुस्ती अच्छी रहती है । उनके खाने के लिये आम सवेरे ही पानी में रख दिए जाते हैं। शाम को भोजन करने के बाद ही वे आम खाते हैं । इसी तरह सुबह भी करते हैं । उनको केवल आम खाने का ही शौक नहीं है, बल्कि लगाने का भी है । उनके लगाए हुए करीब पचास-साठ पेड़ हैं । आम के पौधों के सिंचन, सेवन और उनकी वृद्धि व रक्षा का वे विशेष ध्यान रखते हैं। प्रतिदिन सायंकाल वे जब अपने बागों में घूमने जाते हैं, तब उनका भली भाँति निरीक्षण करते हैं । यही नहीं, वे निरीक्षण द्वारा इसका भी अनुमान कर लेते हैं कि किस वृक्ष में कितने फल लगे हुए हैं । इसी प्रकार वे अपने खेतों का भी खूब निरीक्षण करते हैं । शाम को टहलते हुए वे प्रत्येक खेत में यह देखते हैं कि उसे सींचने की आवश्यकता है या नहीं; या उसमें कोई कीड़ा तो नहीं लग गया । प्रतिदिन खेतों में जाकर वे यह देखते हैं कि मजदूर भली भाँति काम कर रहे हैं या नहीं । सैकड़ों रुपए खर्च कर उन्होंने अपने खेतों के चारों तरफ खाइयों पर मूँज लगवाई है, जिससे सैकड़ों बोझ पतवार निकलती है और मूँज की रस्सियाँ इत्यादि बनाई जाती हैं । उनके यहाँ तीन-चार मजदूर, अधिकतर कृषि-संबंधी कामों के लिये, बराबर रहा करते हैं। इन मजदूरों पर उनकी बड़ी कृपादृष्टि रहती है । मजदूरों को प्रायः वे मासिक वेतन देते हैं। मासिक वेतन के अतिरिक्त और भी अनेक प्रकार की सहायता दिया करते हैं। अभी हाल ही में खुश होकर एक मजदूर को चाँदी के कड़े बनवा दिए थे । उन्होंने कभी अपने धन का दुरुपयोग नहीं किया। हिंदी में केवल 'संपत्तिशास्त्र' लिखकर ही उन्हें संतोष न हुआ; उन्होंने अपने जीवन द्वारा संपत्तिशास्त्र के नियमों को चरितार्थ किया है । मितव्ययिता के यदि वे आदर्श माने जायँ तो इसमें अत्युक्ति न होगी। अपने खर्च व आमदनी का हिसाब वे बरसों से लिख रहे हैं। उनका स्वयं सदा यही ध्येय रहा है—और दूसरों को भी प्रायः यही शिक्षा देते रहे हैं कि आय से व्यय कदापि अधिक न होना चाहिए। इस संबंध में वे प्रायः यह श्लोक कहा

करते हैं—"इदमेव हि पाण्डित्यमियमेव विदग्धता। अयमेव परो धर्मो यदायान्नाधिको व्ययः।" अर्थात्—"जो प्राप्ति से अधिक व्यय नहीं होने देता, वही पंडित है, वही चतुर है और वही धर्मात्मा भी है।" मितव्ययिता का गुण होते हुए भी वे अपने संबंधियों तथा और लोगों को यथावसर आर्थिक सहायता देते रहे हैं। अँगरेजी में एक कहावत है—"Liberality does not consist in giving much but in giving at the right moment." अर्थात्—"बहुत देने से ही उदारता या दानशीलता नहीं होती, बल्कि आवश्यकता के समय पर देने से दानशीलता समझी जाती है।" द्विवेदी जी की उदारता भी ठीक इसी प्रकार की है। अपने गाँव में, लड़कियों की शादियों में, गरीब व छोटी जाति के मनुष्यों की दीनावस्था में, और विधवा स्त्रियों के संकट-समय में, वे सदा सहायता देते रहे हैं। परदुःखकातरता उनमें इतनी है कि दूसरों की विपत्तियाँ उनसे देखी नहीं जातीं। उनके कुटुंब में यदि कोई बीमार होता है तो वे अत्यंत उद्विग्न हो उठते हैं, किंतु बड़े धैर्य के साथ उसकी परिचर्या करते हैं। अपनी बीमारी में स्वयं वे उतना ध्यान नहीं देते जितना दूसरों की बीमारी पर। चिकित्सा करने में भी वे बहुत सावधान रहते हैं। किसी दवा का सेवन करने के पहले वे डॉक्टर या वैद्य से उसका नाम, अनुपान, गुण इत्यादि अच्छी तरह पूछ लेते हैं। उनके प्रश्न करने के इस स्वभाव से डाक्टर या वैद्य परिचित हो गए हैं, अतएव वे उनकी जिरह से घबराते नहीं। किंतु द्विवेदी जी खुद ही अपने स्वास्थ्य के बारे में बहुत सावधान रहा करते हैं। इस समय उनकी अवस्था उनहत्तर वर्ष की है। हिंदी के लिए सतत परिश्रम करने के कारण उनका स्वास्थ्य अवश्य गिर गया है; पर वे अपना जीवन इस प्रकार नियमपूर्वक व्यतीत करते हैं कि वे अब भी, इस अवस्था में भी, बहुत कुछ काम करते हैं। यद्यपि उन्होंने अब लेख आदि लिखना बंद कर दिया है, तथापि समाचार-पत्रों व सम्मत्यर्थ आई हुई पुस्तकों का अवलोकन कुछ न कुछ जरूर करते हैं। 'स्वभावो हि दुस्त्यजो नृणाम्'। "आयुर्वेदमहत्त्व" पर लिखते हुए एक जगह उन्होंने अपने स्वास्थ्य के संबंध में लिखा है'—"पेट की कुछ शिकायत के कारण १५ दिसंबर २५ को मैं कानपुर दवा कराने गया। वहाँ रोग बढ़ गया। मैं म्रियमाण दशा को प्राप्त हो गया। कई डाक्टरों ने बड़े प्रेम से मेरी चिकित्सा की, पर रोग न गया। बराबर दो महीने तक उन्होंने अनार और नारङ्गी के रस तथा थोड़े से हारलिक्स मिल्क (डब्बों के विलायती दूध) पर मुझे किसी तरह जीता रक्खा। जब उनकी चिकित्सा से कुछ भी लाभ न हुआ तब उन्होंने कृपापरवश होकर मुझे मेरे मित्र वैद्यों को सौंप दिया। उस समय मेरा शरीर अस्थिमात्र रह गया था। जिगर बढ़ा हुआ था; उसमें दर्द भी था। मलावरोध की बड़ी शिकायत थी। ज्वर भी था। वैद्यों ने मिलकर एक कान्फरन्स की। उसमें दवा और पथ्य का निश्चय हुआ। तीसरे ही दिन ज्वर जाता रहा। और शिकायतें भी धीरे-धीरे दूर हो गईं। और दवा क्या दी गई थी—सिर्फ लौह और एक और दूसरी चीज। कुछ समय तक सुबह मकरध्वज भी दिया गया। सो दवा तो यों ही राम का नाम थी। वैद्यों की मुख्य दृष्टि पथ्य पर थी। एक महीने तक उन्होंने मुझे केवल दुग्ध पर रक्खा। फिर धीरे-धीरे फल और तरकारी पर लाए। तदनंतर अन्न दिया। इस पथ्य

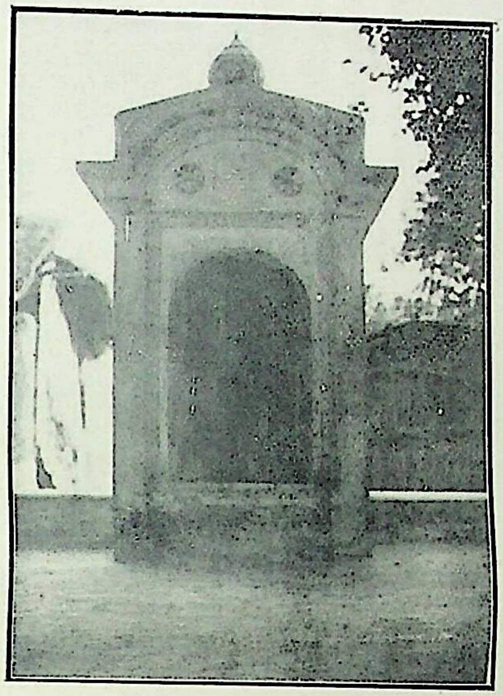

'स्मृति-मंदिर' के पास ही यह मंदिर या मँढ़िया है जिसमें महावीर (हनुमान्) की मूर्त्ति स्थापित है। इसे आचार्य द्विवेदी जी की पत्नी ही ने अपने खर्च से बनवाया था। प्रतिष्ठा व्रज़मोहन मिश्र की पत्नी के नाम से इसलिये कराई थी क्योंकि आचार्य द्विवेदी जी देव-प्रतिमाओं की स्थापना के खिलाफ थे; कारण यह कि पीछे से उनकी दुर्गति होती है--कोई झाड़ू तक मंदिर में नहीं लगाता। इस मंदिर या मँढ़िया के द्वार पर निम्नलिखित शिलालेख लगा हुआ है—

महावीरप्रसादस्य द्विवेदिकुलजन्मनः।
धर्म्मपत्न्या वदान्यायाः प्राप्याज्ञाञ्च सहागताम्॥१॥
व्रजमोहनमिश्रस्य ग्रामस्यास्यैव वासिनः।
पत्न्या विधवया स्थानं निर्म्मापितमिदं मुदा॥२॥
सं० १९७०

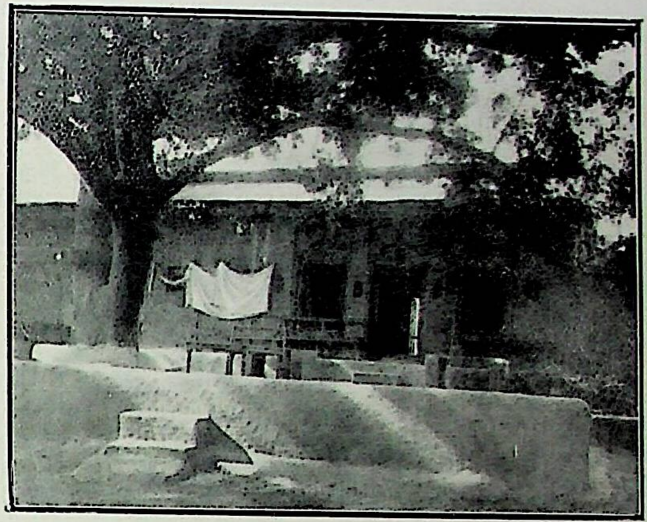

आचार्य द्विवेदी जी का बैठका और पुस्तकालय। इसी के सामने, पूरब तरफ, फुलवाड़ी और कुआं तथा गोशाला है।

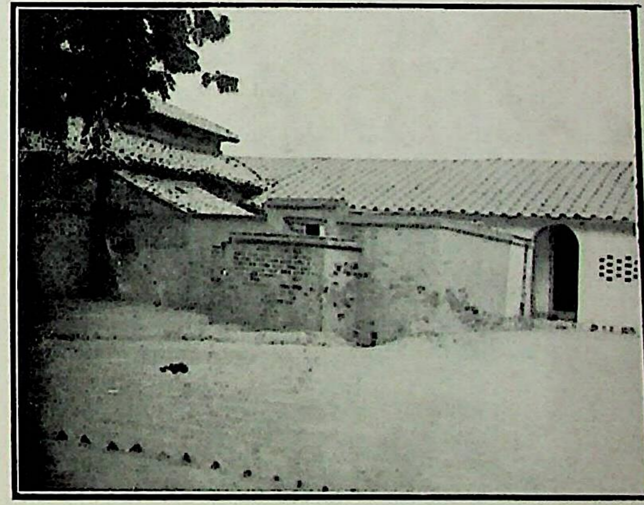

आचार्य द्विवेदी जी का गोदाम, जिसमें गौओं का चारा इत्यादि रक्खा जाता है।

आचार्य द्विवेदी जी ने अपनी दिवंगता धर्मपत्नी की स्मृति में यह मंदिर बनवाया था। इसके ऊपर, सामने, "स्मृति-मंदिर" खुदा हुआ है। मध्य में आचार्य-पत्नी की प्रस्तर-प्रतिमा प्रतिष्ठित

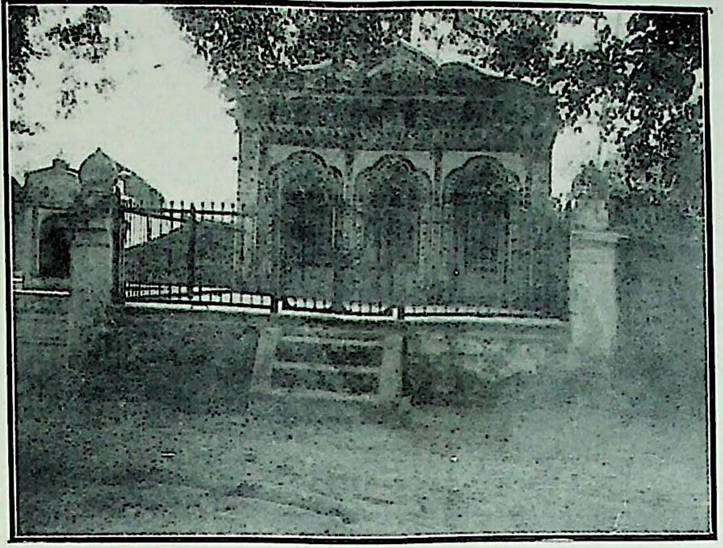

है जिसके वाम भाग में सरस्वती की और दक्षिण भाग में लक्ष्मी की मूर्ति स्थापित है। इस मंदिर के सामने, छज्जों के नीचे, निम्नलिखित दो श्लोक-खंड, रंग से चित्रित हैं—

यत्र नार्य्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः
—इति मनुः

विद्याः समस्तास्तव देवि भेदाः
स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु
—इति व्यासः

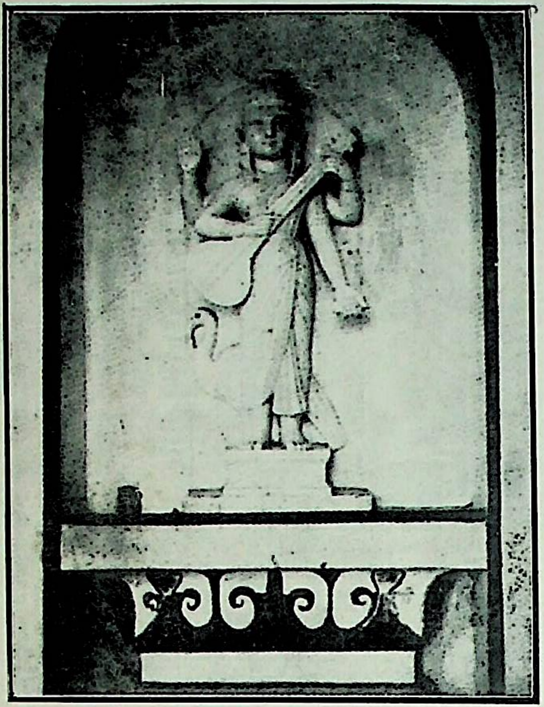

'स्मृति-मंदिर' में, आचार्य-पत्नी की प्रधान मूर्त्ति के वाम भाग में, सरस्वती की यह मूर्त्ति स्थापित है। इसके ऊपर यह शिलालेख है—

हंसोपरि समासीना विद्याधिष्ठातृदेवता।
वरदा विश्ववन्द्येयं सर्वशुक्ला सरस्वती॥

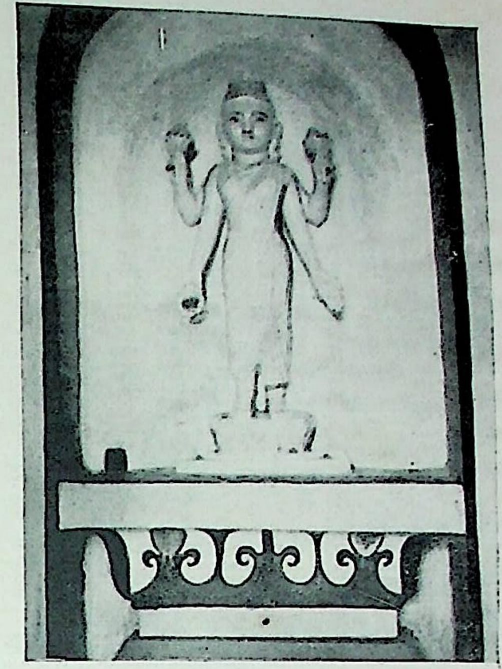

लक्ष्मी की यह मूर्त्ति आचार्य-पत्नी की प्रस्तर-प्रतिमा के दक्षिण भाग में स्थापित है। इसके ऊपर यह शिलालेख है—

विष्णुप्रिया विशालाक्षी क्षीराम्भोनिधिसम्भवा।
इयं विराजते लक्ष्मीर्लोकेशैरपि पूजिता॥

ने जादू का जैसा काम किया। इससे मेरा वह रोग ही नहीं जाता रहा, ३५ वर्ष का पुराना कब्ज भी बहुत कुछ दूर हो गया।" इस प्रकार स्वास्थ्य-संबंधी नियमों का पालन तो वे करते ही हैं, अपने घर की सफाई पर भी विशेष ध्यान देते हैं। घर में जो चीज जहाँ रक्खी जाती है, वह वहीं अपने स्थान पर रक्खी जानी चाहिए, इस नियम का शायद ही उनके घर में कभी उल्लंघन होता हो—कम से कम उनके रहते हुए तो नहीं हो सकता। टोपी या छड़ी रखने की जगह पर कोट या जूते नहीं रक्खे जा सकते। इसी प्रकार वे पुस्तकों को भी निश्चित स्थान पर ही रखते हैं। यदि कोई पुस्तक अपनी जगह से हट या गायब हो जाती है तो जन्हें तुरंत मालूम हो जाता है कि कोई गड़बड़ी हुई है। वे घरवालों से पूछ-ताछ कर तुरंत पता लगा लेते हैं। पुस्तकों की सफाई तो वे इस वृद्धावस्था में भी रोज करते हैं। पुस्तकें उन्हें प्राणों से भी अधिक प्यारी हैं। गाँव में पुस्तकें केवल उन्हीं लोगों को देते हैं जिनके बारे में यह जानते हैं कि पुस्तक पढ़कर समझ सकते हैं। जो व्यक्ति उनसे पुस्तक ले जाता है, वह निश्चित समय में, ज्यों की त्यों, वापस कर जाता है। पुस्तकें वे बड़ी पूछ-पाछ के बाद देते हैं और परीक्षा के भय के कारण बहुत कम लोग उनसे माँगने आते हैं। कुछ लोग उनके स्पष्ट-भाषण से नाराज हो जाते हैं। किंतु स्पष्टवादिता उनमें स्वाभाविक है। वे किसी से बनावटी बात नहीं कहते। कृत्रिमता का उनमें लेश भी नहीं। खुशामद करना तो जानते ही नहीं। उनका वार्तालाप कभी-कभी व्यंग्यपूर्ण होता है, किंतु उससे मनोरंजन ही होता है, किसी के हृदय को दुःख नहीं पहुँचता। वे सत्य के उपासक हैं और अपने जीवन के भिन्न भिन्न मार्गों में इसी पथ का अनुसरण करते रहे हैं। स्वयं जो बात कहते हैं, वही करते भी हैं। निम्नलिखित श्लोक उन्हें बहुत प्रिय है—

लज्जा गुणौघजननीं जननीमिव स्वामत्यन्तशुद्धहृदयामनुवर्त्तमानाम्।
तेजस्विनः सुखमसूनपि संत्यजन्ति सत्यव्रतव्यसनिनो न पुनः प्रतिज्ञाम्॥

द्विवेदी जी किसी प्रकार का पूजा-पाठ या संध्या-वन्दन इत्यादि नहीं करते। वे प्रायः 'ईश्वर' का नाम या 'राम' का नाम जरूर लेते हैं; किंतु उन्होंने अपने को किसी प्रकार के धार्मिक बंधन में नहीं जकड़ रक्खा है। ईश्वर की सत्ता में उनका पूर्ण विश्वास है। इस बात का प्रमाण उनके लेखों में मिल चुका है। "गोपियों की भगवद्भक्ति" शीर्षक लेख के अंत में लिखते हैं—"हमारी प्रार्थना इतनी ही है कि यदि पूर्वजन्मों में हमने कभी कोई सत्कार्य किया हो तो भगवान् हमें ब्रजमंडल के करीर का काँटा ही बना देने की कृपा करें।" इस वाक्य में उनका आत्मनिवेदन है। इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि वे भगवद्भक्ति में विश्वास रखते हैं। 'राम'-नाम का उच्चारण करते हुए तो अनेक बार हमने उन्हें देखा है। इसके अतिरिक्त वे प्रायः जगद्धर भट्ट की "स्तुति-कुसुमांजलि" के श्लोक स्वयं कहा करते हैं और कभी-कभी दूसरों को भी सुनाया करते हैं। ये श्लोक शिव जी की स्तुति में जगद्धर भट्ट ने लिखे हैं। उन श्लोकों के संबंध में वे लिखते हैं—"एकांत में आँखें बंद करके भक्तिभाव-पूर्वक इनकी स्तुतियों का पाठ करने से जिस आनंद की

प्राप्ति होती है, उसका अंदाजा सहृदय भावुक ही कर सकते हैं। यह संभव ही नहीं कि पाठक सहृदय हो और उसके नेत्रों से आँसू न टपकने लगें।" मालूम होता है, उन्होंने स्वयं भगवद्भक्ति के इस आनंद का अनुभव किया है। वे नियमित संध्यावंदन इत्यादि के विरुद्ध नहीं हैं; परंतु उनका अधिक समय साहित्यिक क्रिया-कलाप के संपादन में ही बीतता रहा है। उनका हृदय भगवद्भक्ति से शून्य नहीं, और उनका सत्य-प्रेम तो परम प्रशंसनीय है। सच्चरित्र मनुष्यों का निष्कपट व्यवहार वे बहुत पसंद करते हैं। झूठे और निंदक से वे सदा दूर ही रहा करते हैं। गाँव के लोगों के साथ गप-शप लगाने में उनका समय कभी नष्ट नहीं होता। प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर, शौचादि से निवृत्त हो, वे कुछ दूर टहलने जाया करते हैं। लौट कर अपने बैठकखाने में तखत पर बैठ जाते हैं। आवश्यक चिट्ठी-पत्रियों के जवाब देने के बाद सम्मत्यर्थ आई हुई कुछ पुस्तकों का सिंहावलोकन करते हैं और कुछ समाचार-पत्र भी पढ़ते हैं। दोपहर में बारह बजे के उपरांत फिर शौच को जाते और स्नान करते हैं। स्नान व भोजन के बाद उसी कमरे में फिर आकर जो समाचारपत्र व मासिक पुस्तकें सुबह नहीं देख सके, उन्हें देखते हैं। प्रायः दो बजे के बाद मुकद्दमों का फैसला इत्यादि करते हैं; क्योंकि वे सरकारी पंचायत के सरपंच भी हैं। पहले वे आनरेरी मुंसिफ भी थे, लेकिन अब कई वर्षों से वहाँ पंचायत स्थापित हो गई है। मुकद्दमों की कुल काररवाई वे हिंदी ही में लिखते हैं। जिस दिन मुकद्दमे इत्यादि नहीं पेश होते, उस दिन थोड़ा-सा आराम करके अखबार ही पढ़ा करते हैं। कभी-कभी दोपहर में लेटकर कुछ विश्राम भी कर लेते हैं। नींद तो उन्हें रात में भी बहुत कम आती है, दिन में तो शायद ही कभी सोते हों। उन्निद्र रोग से वे अब भी पीड़ित रहते हैं। शाम को, चार बजने के बाद, वे अपने बागों व खेतों की ओर घूमने जाते हैं। गरीब किसानों से वे ग्रामीण भाषा में, उनकी खेती-किसानी के विषय में, बड़ी देर तक बातें किया करते हैं। एक बार एक अहीर किसान बैल-गाड़ी में किसी दूसरे गाँव को जा रहा था। उसकी तबीयत खराब थी। द्विवेदी जी ने उससे कहा—"द्याखौ, उहाँ कुछ अंट-संट न खाय लीन्ह्यो, नाहीं तौ बहुत दिक्क होइ जइहौ"। इस तरह हमने देखा कि उन्होंने कई बार उसे समझाया। शाम को घूम-फिर कर थोड़ी देर तक दरवाजे पर बैठते हैं। कोई आ गया तो उससे बात-चीत करते हैं। उनके साथ बात-चीत करने में एक विशेष प्रकार का आनंद आता है। उनके वार्तालाप में एक अनोखापन रहता है। प्रायः अपने संभाषण में वे साहित्यिक पुट भी जमाते जाते हैं। व्यंग्य भी कभी-कभी उनकी बात-चीत में रहता है, परंतु वह अत्यंत सारगर्भित होता है। उनसे मिलने और बात-चीत करने पर शायद ही कोई व्यक्ति ऐसा हो जिस पर उनकी प्रतिभाशाली सौम्य आकृति का प्रभाव न पड़े। सत्य के मार्ग का निरंतर अनुसरण करने के कारण ही साहित्य-क्षेत्र में उनका यशःसौरभ फैल रहा है। उनका उन्नत ललाट, गौर वर्ण, उनकी सिंह की ऐसी बड़ी-बड़ी मूछें और असाधारण बड़ी-बड़ी भौंहें देखने से चित्त में एक असाधारण महापुरुष व तत्त्ववेत्ता के साक्षात्कार का अनुभव होता है। वे अपनी बात-चीत में, बीच-बीच में, प्रायः संस्कृत के श्लोक भी कहा करते हैं। उनका उच्चारण अत्यंत स्पष्ट और हृदयग्राही होता है। एक-एक अक्षर स्पष्ट

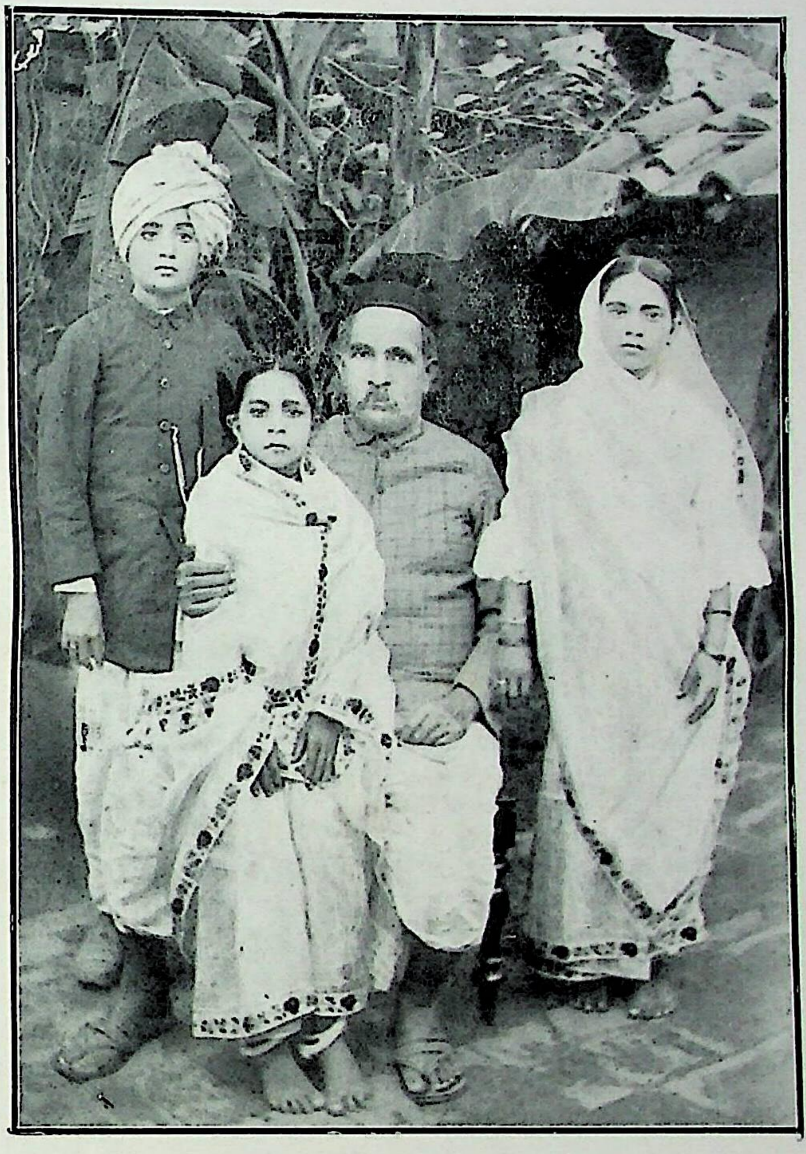

बाईं ओर से—(खड़े) द्विवेदी जी के भानजे श्री कमलाकिशोर त्रिपाठी, (बीच में कुर्सी पर बैठे) आचार्य द्विवेदी जी (गोद में उनकी छोटी भानजी कुमारी विद्यावती), (किनारे खड़ी) द्विवेदी जी की बड़ी भानजी कुमारी कमलावती (स्वर्गीया)। संवत १९७४ (सन् १९१७)

पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी
संवत् १९६५ (सन् १९०८)

पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी
संवत् १९७१ (सन् १९१४)

उनके उच्चारण में सुनाई देता है। युक्त-प्रांत में बहुत-से पंडित संस्कृत के उच्चारण में दाक्षिणात्य ब्राह्मणों से अधिक उन्नत नहीं हैं। किंतु द्विवेदी जी इसके भीषण अपवाद-रूप समझे जा सकते हैं। उनका संस्कृत का उच्चारण अत्यंत शुद्ध होता है। वे कभी किसी से दब कर बात-चीत नहीं करते। वे ऐसी बात ही नहीं कहते जिसमें उन्हें दबना पड़े। आत्म-सम्मान की मात्रा उनमें यथेष्ट है। उनकी रहन-सहन, वेश-भूषा अत्यंत सादी है। जीवन की सचाई ही उनका ध्येय है; अतएव उन्हें बहुत अधिक सांसारिक शिष्टाचार पसंद नहीं। वे वर्त्तमान स्वदेशी आंदोलन के पहले ही बहुत बरसों से स्वदेशी वस्त्रों का उपयोग करते आ रहे हैं। उनके पास बरसों के पुराने कपड़े रक्खे हुए हैं। उन्हें वे अब भी पहनते हैं। जूता वे सादा देहाती ही पहनते हैं। उनके कमरे में कई शस्त्र—एक बन्दूक, एक तलवार, काता और कई लाठी-डंडे—रक्खे रहते हैं। जयपुर से मँगाये हुए धनुष-बाण भी रक्खे हुए हैं। जहाँ बैठते हैं, ठीक उसी जगह उनकी बाईं ओर, एक करौली रक्खी रहती है। उनके यहाँ एक बार चोरी हो गई थी। चोरी आदि के कारण और फिर देहात में मामले-मुकद्दमों का फैसला करने के कारण वे अपनी रक्षा के लिये उपर्युक्त शस्त्र अपने अध्ययनागार में रखते हैं। मासिक पत्रिकाएँ तो करीब-करीब सभी उनके यहाँ देखने को मिल जाती हैं। दैनिक पत्र भी कई आते हैं। दौलतपुर के डाकखाने में अधिकतर उन्हीं की डाक आती है। यह डाकखाना उनके घर ही पर है, इसलिये उन्हें पत्र-व्यवहार करने में बड़ी सुविधा रहती है। वे पत्र-व्यवहार करने में असाधारण पुरुष हैं। पत्रों के उत्तर देने में उन्हें कभी आलस्य नहीं मालूम हुआ। पत्र आपका पहुँचा नहीं कि उन्होंने तुरंत आवश्यक उत्तर भेज दिया। अपने कुटुंबियों को ही नहीं, बल्कि किसी भी मनुष्य को वे उसी त्वरित गति से उत्तर देते हैं। उनके पत्रों से, आपत्ति के समय में, बड़ी सांत्वना मिलती है। घरेलू पत्रों के अतिरिक्त उनके साहित्य-संबंधी पत्रों की संख्या इतनी अधिक है कि वे एक स्वतंत्र पुस्तक के रूप में निकाले जा सकते हैं। उन पत्रों की गणना अलग एक साहित्य में की जा सकती है। द्विवेदी जी ने कभी-कभी आवश्यकतावश अँगरेजी में भी पत्र लिखे हैं। अपने एक संबंधी को उन्होंने अँगरेजी में एक पत्र लिखा था। उसमें बहुत-सी घरेलू बातें लिखने के बाद आखीर में लिखा था—

> "That two persons being closely related to each other, and being natives of the same province, and speaking the same mother tongue should correspond in a language of an island six thousand miles away is a spectacle for gods to see. Such an unnatural scene is possible only in a wretched country like India."

द्विवेदी जी में कोई व्यसन नहीं है। पान और तंबाकू वे बहुत दिन तक खाते रहे; किंतु कई साल से पान खाना छोड़ दिया है। अब केवल थोड़ा-सा देशी तंबाकू खाते हैं। चाय भी वे पहले बहुत पिया करते थे, किंतु अब उसके स्थान में केवल दूध पीते हैं। भोजन करने में वे बहुत परहेज से काम लेते हैं। आज-कल वे थोड़ा दूध, शाक और दलिया खाते हैं। रोटी-दाल खाना, स्वास्थ्य

के कारण, छोड़ दिया है। उनकी दिनचर्या बिलकुल नियमित रहती है। उसमें कोई अंतर पड़ने से उनके स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ता है। इसी लिये उन्हें यात्रा करने में बड़ी तकलीफ होती है। अधिकतर अपने गाँव ही में रहते हैं। वहाँ उनका स्वास्थ्य, और जगह की अपेक्षा, अधिक अच्छा रहता है। उनकी धर्मपत्नी की मृत्यु हुए करीब बीस वर्ष हो गये। उनके कुटुंब में इस समय उनका एक भानजा, एक भानजी, भानजे की बहू और एक लड़की है। ये लोग दूर के रिश्तेदार हैं, किंतु द्विवेदी जी ने उनको अपनी संतान के समान रक्खा है। दो भांजियों के विवाहादि कार्य अपनी लड़कियों की तरह किए हैं। कुटुंब का पालन-पोषण व संचालन किस प्रकार करना चाहिए, इसकी शिक्षा भी उनके जीवन से मिल सकती है। घर के किसी भी व्यक्ति को कष्ट में देखकर उनका हृदय पिघलने लगता है; और जब तक उसका कष्ट निवारण नहीं हो जाता, तब तक वे चैन नहीं लेते। प्रत्येक कुटुंबी उनके स्वभाव व दिनचर्या से परिचित है और घर की सफाई में, और गृहस्थी की वस्तुओं के धरने-उठाने में बड़ी सावधानी से कार्य करता है। उनका कौटुंबिक शासन अत्यंत सुव्यवस्थित है। उनके घर का कोई व्यक्ति उनसे असंतुष्ट नहीं रहता। स्त्रियों के संबंध में उनके विचार अत्यंत उदार हैं। वे स्त्री-शिक्षा के बहुत बड़े समर्थक हैं। लड़के और लड़की के पालन-पोषण में उनका समत्व-भाव परम प्रशंसनीय है। वे जिस प्रेम से अपने भानजे के वस्त्रादि बनवाते हैं, उसी प्रेम से अपनी बहू (भानजे की पत्नी) व भानजे की लड़की के लिये भी कपड़े व गहने बनवा देते हैं। जिस कार्य का आरंभ करते हैं, उसे यथाशक्ति कुशलपूर्वक समाप्त करने का संकल्प कर लेते हैं। दौलतपुर से रेल का स्टेशन 'बिंदकी रोड' ही निकट है। वह छः मील की दूरी पर है। गंगा पार करके पैदल या बैलगाड़ी में स्टेशन तक पहुँच होती है। वर्षा-काल में तो अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इन सब असुविधाओं के रहते हुए भी वे अपनी या अपने कुटुंबियों की बीमारी में आवश्यकता पड़ने पर प्रायः कानपुर से डाक्टर बुलवाते हैं। रोगी चाहे लड़का हो या लड़की, इस बात की वे परवा नहीं करते। यद्यपि वे स्त्री-शिक्षा व अन्य स्त्रियोपयोगी सुधारों के समर्थक हैं, तथापि वे स्त्रियों की योरपीय ढंग की स्वतंत्रता को पसंद नहीं करते। स्त्रियों के प्रति उनकी आदर की भावना इसी से प्रत्यक्ष है कि उन्होंने अपनी पत्नी की मृत्यु के बाद उनकी स्मृति में अपने मकान के पास ही एक स्मृति-मंदिर बनवाया है। इसमें एक ओर लक्ष्मी की और दूसरी ओर सरस्वती की मूर्ति है। बीच में उनकी धर्म-पत्नी की मूर्ति है। मूर्ति का उन्होंने जयपुर में निर्माण कराया था। पत्नी के निधन के बाद बहुत लोगों ने उनसे दूसरी शादी करने के लिये कहा। उनकी अवस्था उस समय लगभग छियालीस वर्ष के थी। पर उन्होंने विवाह करना स्वीकार नहीं किया। उनके कोई संतति नहीं है; किंतु इस बात से उन्हें कोई दुःख नहीं है। उनका यश ही सदैव अमर रहेगा। वे बच्चों को बहुत प्यार करते हैं। टहलते समय छोटे से छोटा बालक भी उन्हें देखकर कहता है—"बाबा, पाँव छुई या चरन छुई।" वे "जियत रहौ" इत्यादि आशीर्वचन कहते हुए चले जाते हैं। गाँव में बच्चों से लेकर बूढ़े तक सभी उनका आदर करते हैं। जिले के सरकारी कर्मचारियों पर प्रभाव होने के कारण तथा

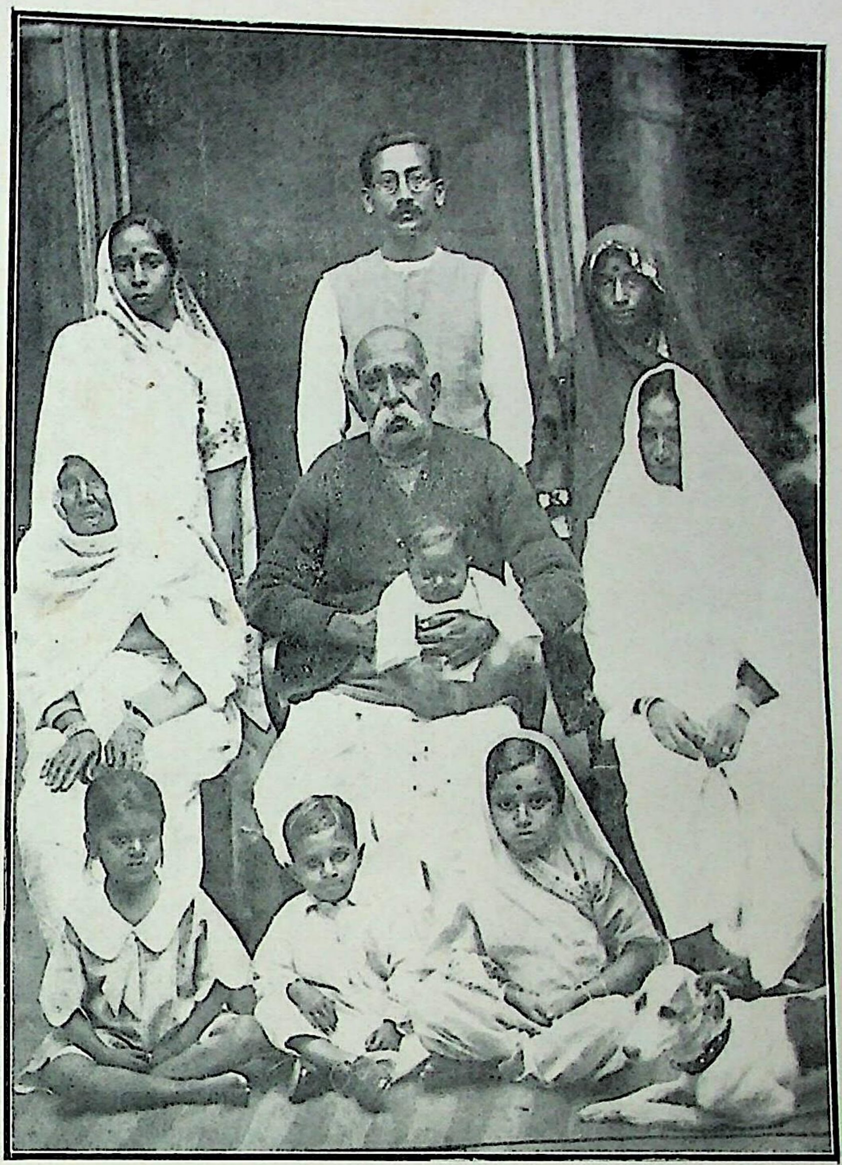

पीछे की पंक्ति में खड़े (बाईं ओर से)—द्विवेदी जी की भानजी श्रीमती विद्यावती देवी, द्विवेदी जी के भानजे श्री कमलाकिशोर त्रिपाठी, श्री कमलाकिशोर जी की पत्नी श्रीमती राधा देवी।

बीच की पंक्ति में, कुर्सी पर बैठे (बाईं ओर से)—द्विवेदी जी की चचेरी बहन लक्ष्मी देवी (उम्र ९० वर्ष), आचार्य द्विवेदी जी, उनकी गोद में श्रीमती विद्यावती देवी का पुत्र इंद्रदत्त (उम्र ७ मास), लक्ष्मी देवी की नवासी (लड़की की लड़की) दुलारी देवी।

नीचे की पंक्ति में, बैठे हुए, (बाईं ओर से)—श्री कमलाकिशोर जी के साले की लड़की रानीदेवी, श्रीमती विद्यावती देवी का लड़का रुद्रदत्त, श्री कमलाकिशोर जी की लड़की मनोरमा।

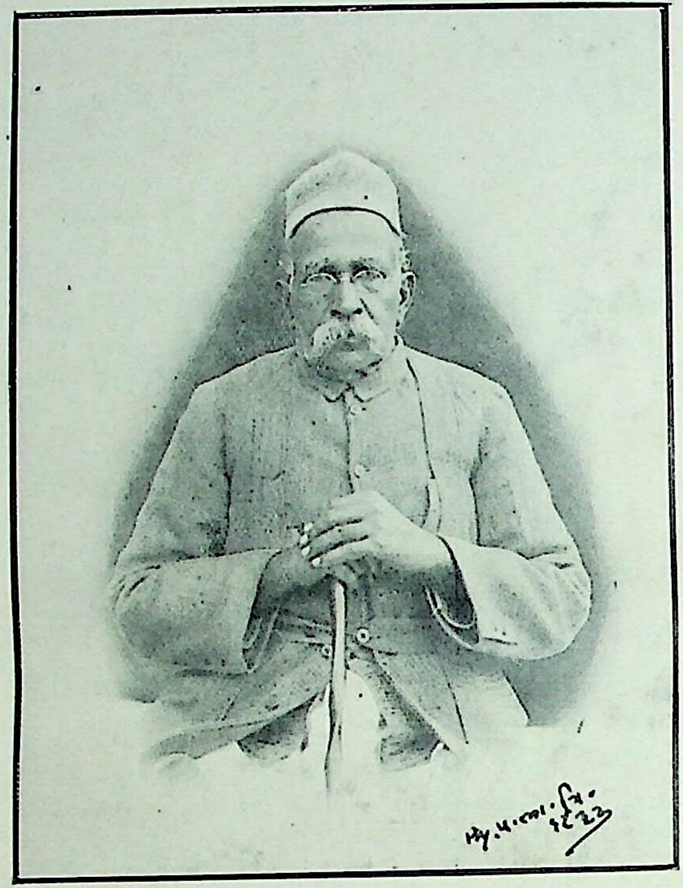

आचार्य द्विवेदी जी, संवत् १९८९ (सन् १९३२)

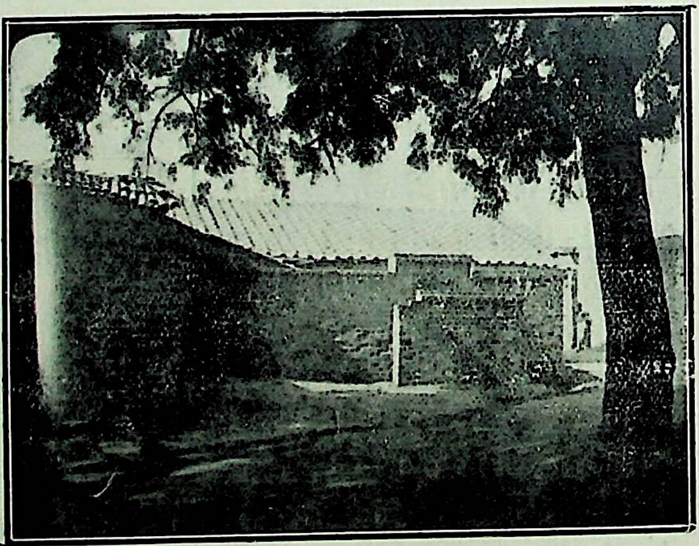

आचार्य द्विवेदी जी की अतिथिशाला।

ख्यातनामा पुरुष होने के कारण उनका प्रभाव गाँव भर पर और पास-पड़ोस में छाया हुआ है। झाँसी के रेलवे-दफ़्तर में बहुत दिनों तक मुलाजिमत करने के कारण अपने गाँव में वे 'महावीर बाबू' के नाम से प्रसिद्ध हैं। गाँव में इस समय केवल एक सज्जन उनसे उम्र में कुछ बड़े हैं। उनका गाँव राजा मुरारमऊ के तअल्लुके में है। वे इस गाँव को कोर्ट आव् वार्डस से खरीदना चाहते थे, परंतु सरकार ने गाँवों का नीलाम किसी कारण से रोक दिया।

द्विवेदी जी की भाषा-शैली किस प्रकार की है, उनके प्रयुक्त वर्णों में क्या माधुर्य्य है, उनकी लेखन-कला में क्या सौंदर्य है, इत्यादि बातों पर कुछ प्रकाश डालना अत्यंत आवश्यक प्रतीत होता है। वे इस समय हिंदी-गद्य के सर्वोत्कृष्ट लेखक हैं। यों तो समस्त देश के हिंदी-साहित्य पर उनकी छाप पड़ गई है, तो भी विशेषतया इस प्रांत (युक्त-प्रदेश) में 'महावीरी हिंदी' का बहुत प्रचार है। उन्होंने एक विशेष प्रकार की शैली का निर्माण किया है। एक स्कूल में, एक दफे एक पंडित जी इम्ला (Dictation) बोल रहे थे। एक लड़के ने 'लिये' लिखा था। पंडित जी ने कहा—'लिये' को 'लिए' लिखा करो, देखते नहीं हो, 'सरस्वती' इसी प्रकार लिखती है। कहने का तात्पर्य यह कि 'सरस्वती' की भाषा को उन्होंने आदर्श बना दिया था। उनकी भाषा में साधारणतया संस्कृत के शब्द तो रहते ही हैं, इसके अतिरिक्त वे प्रायः फारसी और उर्दू के शब्दों का भी प्रयोग करते हैं। वे उन महापुरुषों में हैं जो दूसरी भाषाओं के शब्दों को अपनी भाषा में खींचकर खपा देते हैं। उनका कार्य पथ-प्रदर्शन का है। उन्होंने अपने साहित्यिक जीवन में यही किया है। यदि वे ऐसा न करते तो हिंदी का यह वर्त्तमान रूप दिखाई न पड़ता। हिंदी के साहित्य-क्षेत्र का विस्तार करना, उसकी ग्राहिका शक्ति बढ़ाना, उसको सर्वसाधारण के समझने योग्य बनाना—इत्यादि विषयों में उन्होंने जिस मनोभिनिवेश से कार्य किया है, वह सर्वथा स्तुत्य है। हिंदी को सर्वप्रिय बनाना ही उनका मुख्य उद्देश्य था। इसी विचार-दृष्टि से उनकी समालोचनाएँ भाषा की सदोषता दूर करने के लिये 'ठीक नश्तर का काम करती थीं'। "हिंदी भाषा की ग्राहिका शक्ति" के विषय में उन्होंने लिखा है—"बात यह है कि जिस तरह शरीर के पोषण और उपचय के लिये बाहर के खाद्य पदार्थों की आवश्यकता होती है, वैसे ही सजीव भाषाओं की बाढ़ के लिये विदेशी शब्दों और भावों के संग्रह की आवश्यकता होती है। जो भाषा ऐसा नहीं करती या जिसमें ऐसा होना बंद हो जाता है, वह उपवास-सी करती हुई, किसी दिन मुर्दा नहीं तो निर्जीव-सी जरूर हो जाती है। दूसरी भाषाओं के शब्दों और भावों को ग्रहण कर लेने की शक्ति रखना ही सजीवता का लक्षण है; और जीवित भाषाओं का यह स्वभाव, प्रयत्न करने पर भी, परित्यक्त नहीं हो सकता। हमारी हिंदी सजीव भाषा है। इसी से, संपर्क के प्रभाव से, उसने अरबी, फारसी और तुर्की भाषाओं तक के शब्द ग्रहण कर लिए हैं और अब अँगरेजी-भाषा के भी शब्द ग्रहण करती जा रही है। इसे दोष नहीं, गुण ही समझना चाहिए; क्योंकि अपनी इस ग्राहिका शक्ति के प्रभाव से हिन्दी अपनी वृद्धि ही कर रही है, ह्रास नहीं। ज्यों ज्यों उसका प्रचार बढ़ेगा, त्यों त्यों उसमें नए-नए शब्दों का आगमन होता

जायगा। हमें केवल यह देखते रहना चाहिए कि इस सम्मिश्रण के कारण कहीं हमारी भाषा अपनी विशेषता को तो नहीं खो रही—कहीं बीच बीच में अन्य भाषाओं के बेमेल शब्दों के योग से वह अपना रूप विकृत तो नहीं कर रही। बस।" हिंदी की हितचिंतना के इन उदार भावों से अनुप्राणित होकर उन्होंने 'मिश्रित शैली' की योजना की है। उनकी लेखनी से इस शैली का प्रवाह सहज ही में होता है। यह उनकी असाधारण प्रतिभा का द्योतक है। लकड़ी के तखत पर बैठे हुए, पीठ को एक बड़े तकिये पर टेके हुए, घुटनों पर एक दफ्ती के ऊपर कागज रखकर वे प्रायः लेख, पत्र आदि लिखा करते हैं। हमने उन्हें कुर्सी-मेज लगाकर लिखते-पढ़ते कभी नहीं देखा। उनके लिखने का कागज बढ़िया नहीं, बिलकुल मामूली होता है। यहाँ तक कि कभी-कभी अखबारों या मासिक पत्रों के रैपरों को फाड़-फाड़ कर अपने पास जमा रखते हैं, और उन्हीं पर पत्र आदि लिख कर भेज दिया करते हैं। अखबारों के कालमों की तरह कागज के लंबे-लंबे टुकड़ों पर प्रायः लेख लिखा करते हैं। बराबर धाराप्रवाह लिखते चले जाते हैं। लेखनी मानों रुकना ही नहीं जानती। उनकी वेगवती लेखनी को चलते हुए देखकर कभी कभी उर्दूदाँ लोग भी चकित हो जाते हैं और हिंदी लिपि की सार्थकता में विश्वास करने लगते हैं। पंचायत के मामलों में प्रायः देहाती लोग अपने दावे लिखाने आते हैं और अपनी ग्रामीण भाषा में असंबद्ध रीति से अपनी शिकायतें व्यक्त करते हैं। द्विवेदी जी सुनने के साथ ही तुरंत उनके दावों को सरल शिष्ट हिंदी में लिखकर उन्हें सुना देते हैं। सारांश यह कि उनके लेखों में अधिकतर भाषा का स्वाभाविक प्रवाह होता है। भाषा पर उनका असाधारण अधिकार है। अकृत्रिम और मुहावरेदार भाषा में वे अपने विचार प्रकट किया करते हैं। कठिन से कठिन विषय को भी वे अपनी भाषा में सरलतापूर्वक लिख सकते हैं। अपने निबंधों में वे प्रायः संस्कृत के श्लोकों का उद्धरण करते हैं। कभी-कभी श्लोकार्ध ही या श्लोक का एक ही चरण उद्धृत कर देते हैं। परंतु वे अवतरण कभी असंगत नहीं मालूम होते; उनका उपयोग प्रकरण के अनुसार ठीक स्थान में ही होता है। 'महावीरी हिंदी' की यही खूबी है कि वह बड़ी सुबोध होती है, उसे सब लोग मजे में समझ सकते हैं। उनकी संस्कृत-मिश्रित भाषा पढ़कर, जो लोग संस्कृत का ज्ञान नहीं रखते, उनके हृदयों में भी, संस्कृत के अध्ययन की सदिच्छा जाग्रत हो जाती है। उनका भाव-प्रकाशन का ढंग भी निराला ही है। हिंदी में सुधार करने की हितैषणा से, और लोकोपयोगी कार्यों की विवेचना करने में, उन्होंने प्रायः व्यंग्य-पूर्ण लेख भी लिखे हैं। यह उनकी एक विशिष्ट शैली है। साधारण-सी बात को भी वे कभी कभी ऐसी चुभती हुई भाषा में कहते हैं जिसका प्रभाव सुननेवाले के ऊपर खूब पड़ता है। इसी प्रकार उन्होंने अपनी बहुत-सी गद्य-रचनाओं में भी व्यंग्य का खूब प्रयोग किया है। परंतु उनका व्यंग्य बहुत उच्च कोटि का होता है। उसमें बारीकी रहती है। उनके व्यंग्य की गहनता उनकी सरकारी रिपोर्टों की समालोचनाओं में देखिए। वास्तव में द्विवेदी जी हिंदी के युग-प्रवर्त्तक हैं। उन्होंने प्रायः व्यंग्य और प्रचारणापूर्वक अपने हृदयोद्गार प्रकट किए हैं। महापुरुषों के कहने का ढंग सर्वसाधारण के ढंग से विभिन्न होता ही है। अपनी व्यंगोक्तियों द्वारा उन्होंने हलचल मचा दी

थी। सरकारी रिपोर्टों की समालोचनाएँ उन्होंने एक अनोखे ढंग से की हैं। उनकी शैली ही विचित्र है। "साँप मरे और लाठी न टूटे"—इस लोकोक्ति को उन्होंने चरितार्थ किया है। गवर्नमेंट की कूट-नीति पर उन्होंने समय-समय पर जो टीका-टिप्पणियाँ की हैं, उनमें एक विशेष प्रकार के साहित्य का आनंद मिलता है। व्यंग्योक्तियों के अतिरिक्त उनके लेखों में स्पष्टोक्तियाँ भी खूब रहती हैं। भाषा के तो वे मानों बादशाह हैं; और भावों को बहुत ही सुंदरतापूर्वक व्यक्त करने तथा खरी और लगती हुई बातें कहने में वे अपना जोड़ नहीं रखते। उन्होंने इतने विषयों पर लेख लिखे हैं कि बिना उन्हें पढ़े हुए उनकी समस्त शैलियों की जानकारी प्राप्त करना कठिन है। साहित्य, जीवनचरित, इतिहास, पुरातत्त्व, विज्ञान, अध्यात्म-विद्या, संपत्तिशास्त्र, हिंदी भाषा और शासन-पद्धति आदि पर उनके अनेक लेख हैं। पुस्तक-परिचय, आलोचना आदि से संबंध रखनेवाले जो लेख 'सरस्वती' में प्रकाशित हुआ करते थे, उनका स्थान ही अलग है। वे तो अद्वितीय हैं। 'कोविदकीर्त्तन' में उन्होंने जो शब्द-चित्र खींचे हैं, उनका आनंद उन्हें पढ़ने ही से मिलता है। ऐसे लेखों में शब्द-चयन और भाषा का प्रवाह बिलकुल वार्तालाप का-सा है। इस प्रकार के वार्तालाप का ढंग उनके गद्य-लेखों में बहुधा पाया जाता है। इसका मुख्य कारण यह है कि वे 'खड़ी बोली' अथवा बोल-चाल की भाषा के मुख्य प्रवर्त्तक हैं। किंतु गूढ़ और गंभीर विषयों पर लिखते समय उनकी लेखन शैली में भी गांभीर्य आ जाता है। और ऐसा होना अनिवार्य है; क्योंकि विषय के सदृश शब्द-योजना न होने से उसका ठीक-ठीक मतलब ही नहीं प्रकट हो सकता। उनके निर्माण किए हुए साहित्य में अधिकतर सिद्धांतों का प्रतिपादन ही हुआ है। इसका मुख्य कारण यह है कि वे स्वयं एक विचारशील पुरुष हैं। यदि उन्हें हिंदी के क्षेत्र में एक प्रकार का तत्त्ववेत्ता भी कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। भाषा, व्याकरण और साहित्य-संबंधी अपने सिद्धांतों को 'सरस्वती' द्वारा प्रकट करने ही के कारण वे हिंदी को एक 'स्थिर' रूप दे सके हैं। साहित्य के विषय में वे लिखते हैं—"साहित्य ऐसा होना चाहिए जिसके आकलन से बहुदर्शिता बढ़े, बुद्धि की तीव्रता प्राप्त हो, हृदय में एक प्रकार की संजीवनी शक्ति की धारा बहने लगे, मनोवेग परिष्कृत हो जाय और आत्म-गौरव की उद्भावना होकर वह पराकाष्ठा को पहुँच जाय। मनोरंजन-मात्र के लिये प्रस्तुत किए गए साहित्य से भी चरित्रगठन को हानि न पहुँचनी चाहिए। आलस्य, अनुद्योग, या विलासिता का उद्बोधन जिस साहित्य से नहीं होता उसी से मनुष्य में पौरुष अथवा मनुष्यत्व आता है। रसवती, ओजस्विनी, परिमार्जित और तुली हुई भाषा में लिखे गए ग्रंथ ही अच्छे साहित्य के भूषण समझे जाते हैं।" भाषा कितनी मँजी हुई, परिपक्व और व्यवस्थित है। भाषा की दृष्टि से उनकी शैली 'मिश्रित' है। हिंदी-संसार में यह एक सर्वमान्य बात हो चुकी है। उनके भाव-प्रकाशन की शैलियाँ भिन्न-भिन्न विषयों के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार की कही जा सकती हैं—यह एक अनिश्चित बात है; क्योंकि इस प्रकार उनकी शैलियों की संख्या अगणित हो जायगी। अतएव उनके लेखों को तीन ही शैलियों में विभक्त करना उचित जान पड़ता है—(१) व्यंग्यात्मक, (२) आलोचनात्मक और (३) वर्णनात्मक

या गवेषणात्मक। पहले दो प्रकार के उनके लेख प्रसिद्ध ही हैं। तीसरे वर्ग में उनकी अन्य प्रकार की रचना-रीतियों का वर्गीकरण किया जा सकता है।

अपनी रचनाओं में द्विवेदी जी प्राय: जो शब्द जिस जगह प्रयोग करते हैं, वे ठीक उसी स्थान के लिये उपयुक्त होते हैं। यदि वे शब्द या वाक्य उस जगह से हटा कर दूसरी जगह रख दिए जायँ तो उनका सौंदर्य ही नष्ट हो जाय। अन्य भाषाओं के पर्य्यायवाची शब्दों को हिंदी में बना कर तत्सम अर्थ पैदा करना उन्हीं के जैसे भाषा-तत्त्वज्ञों का काम है। उन्होंने स्वयं कुछ शैलियों का रूप स्थिर किया है और कभी-कभी वे लेखकों की लेखन-प्रणाली को परिष्कृत करने के लिये आदेश भी करते रहे हैं। इस प्रकार के आदेश का एक उदाहरण लीजिए—"लेखकों को सरल और सुबोध भाषा में अपना वक्तव्य लिखना चाहिए। उन्हें वागाडंबर द्वारा पाठकों पर यह प्रकट करने की चेष्टा न करनी चाहिए कि वे कोई बड़ी ही गंभीर और बड़ी ही अलौकिक बात कह रहे हैं। इस प्रकार की जटिल भाषा को अनेक पाठक और समालोचक उच्च श्रेणी की भाषा कहते हैं। जिस रचना में संस्कृत के सैकड़ों क्लिष्ट शब्द हों, जिसमें संस्कृत के अनेकानेक वचन और श्लोक उद्धृत हों; जिसमें योरप तथा अमरीका के अनेक देशों, पंडितों और लेखकों के नाम हों, जिसमें अँगरेजी नाम, शब्द और वाक्य अँगरेजी ही अक्षरों में लिखे हों उस रचना को लोग बहुधा पांडित्यपूर्ण समझते हैं। परंतु यह गुण नहीं, दोष है। हिंदी में यदि कुछ लिखना हो तो भाषा ऐसी लिखनी चाहिए जिसे केवल हिंदी जाननेवाले भी सहज ही में समझ जायँ। संस्कृत और अँगरेजी शब्दों से लदी हुई भाषा से पांडित्य चाहे भले ही प्रकट हो, पर उससे ज्ञान और आनंददान का उद्देश्य अधिक नहीं सिद्ध हो सकता। यदि एकमात्र पांडित्य ही दिखाने के उद्देश्य से किसी लेख या पुस्तकों की रचना न की गई हो तो ऐसी भाषा का प्रयोग करना चाहिए जिसे अधिकांश पाठक समझ सकें। तभी रचना का उद्योग सफल होगा—तभी उससे पढ़नेवालों के ज्ञान और आनंद की वृद्धि होगी।" इसी लिये सरल और व्यावहारिक भाषा ही द्विवेदी जी के गद्य में रहती है। 'वागाडंबर' उन्हें अच्छा नहीं लगता। 'सरस्वती' के संपादन-काल में प्रकाशनार्थ प्राप्त हुए लेखों को वे उपर्युक्त सिद्धांतों की कसौटी पर कसते थे; इसलिये केवल वही लेख स्वीकृत किए जाते थे जो उनकी 'कसौटी' पर खरे उतरते थे। उनके भाषा-विषयक इस संस्कार का प्रभाव अनेक लेखकों पर पड़ा और लेखकों ने तदनुसार द्विवेदी जी की शैली का ही अनुकरण किया।

यज्ञदत्त शुक्ल

Die Sprache ist die Seele des Volkes. Die Geisteseigentümlichkeit eines Volkes findet Ausdruck hauptsächlich in seiner Sprache und wird zum Teil auch dadurch bestimmt. Eine einheitliche Sprache ist deshalb eine der wichtigsten Bedingungen zum einheitlichen Volkstum.

Ohne eine einheitliche Sprache wird das grosse indische Volk nie seine von Gott bestimmte Mission in der Welt ausführen können; aber schon hat Hindi unter den Dialekten Indiens sich einen hohen Platz erobert, und ist nun auf dem besten Wege, die *lingua franca* Indiens zu werden. Die Zeit ist heute nicht mehr allzu weit, da die verschiedenen Völkerschaften Indiens im öffentlichen Verkehr sich der Hindi Sprache bedienen werden, ohne dabei, in engeren Kreisen, den heimatlichen Dialekten untreu zu werden, gerade so wie es in Europa mit der deutschen Sprache der Fall ist. Weit über die Grenzen Deutschlands hinaus wird die deutsche Sprache von breiten Kreisen im öffentlichen Verkehr gebraucht, obwohl in den betreffenden Ländern ganz andere Sprachen die Träger der bodenständigen Kultur sind.

Gerne füge ich deshalb auch meine Stimme zu dem Jubelruf, der den Meister heute an seinem siebzigsten Geburtstage begrüsst,—den Meister, der immer treu seinem vorgesteckten Ziel, durch ein langes Leben hindurch, mehr als irgend ein anderer, die Sache der Hindi Sprache gefördert hat.

भाषा जाति की आत्मा है। किसी जाति की विशेषता मुख्यतया उस की भाषा द्वारा प्रकट होती है और बहुत अंशों में उसीके द्वारा निश्चित होती है। इस लिए एक भाषा का होना एक जातीयता के लिए अत्यावश्यक बात है।

बिना एक भाषा के भारतीय जाति अपने परमात्मा द्वारा निर्धारित कार्य को पूरा नहीं कर सकती। परन्तु इस समय तक हिन्दी अन्य भारतीय भाषाओं में सब से ऊंचा स्थान प्राप्त कर चुकी है और भारत की राष्ट्रीय भाषा बनने का दावा कर सकती है। वह दिन दूर नहीं है जब कि भारत के विभिन्न भाषा भाषी लोग बिना अपनी गृहभाषाओं को क्षति पहुंचाए हिन्दी ~~में आपस के व्यवहार~~ का सार्वजनिक व्यवहार में उपयोग करने लगेंगे। जिस प्रकार कि आज यूरोप में जर्मनि भाषा की अवस्था है। दूर दूर तक जर्मन सीमाओं से परे जर्मनि भाषा सार्वजनिक व्यवहार में प्रयुक्त होती है यद्यपि उन देशों में वहां की सभ्यता को धारण करनेवाली भाषाएं जर्मन भाषा से बिलकुल विपरीत हैं।

बडी खुशी से मैं इस गुरु के, जिस ने अपने जीवन में इस उद्देश्य को सामने रख कर हिन्दी का गौरव बढाने का निरन्तर प्रयत्न किया है, सत्तरवें जन्मदिन का अभिनन्दन करनेवाली हर्षध्वनि में अपनी वाणी को सम्मिलित करता हूं।

चित्र-परिचय

सदाशिव

योगीश्वर महादेव की कल्पना बड़ी मार्मिक है। विश्व के उद्भव, स्थिति और संहार में तपस्या और योग का जो बहुत बड़ा हाथ है, उसी का, सात्त्विक मूर्त्तिस्वरूप अवढर दानी भोलानाथ की कल्पना में, स्फुट किया गया है। इसी विशद कल्पना को श्री रामप्रसाद जी ने अपने इस चित्र-द्वारा बड़ी सफलता से व्यक्त किया है।

भाग्य-नक्षत्र

मध्य रात्रि की गंभीरता और नीलिमा में जब जीवजंतु तो क्या, पहाड़ तक गहरी नींद में डूब जाते हैं, तब यह होनहार बालक जिसका केवल छायांश हमें दिखाइ पड़ रहा है, अपने भाग्य-नक्षत्र का एक टक अवलोकन कर रहा है; और उसके लिये वह जो संदेश लाया है, उसे सुन-गुन रहा है। इसके चित्रकार निकोलस डी रोरिक विश्वविख्यात कलावंत हैं। न्यूयार्क ने आपके चित्र रखने के लिये २९ खंड का एक गगनचुंबी कलाभवन बनाया है। आपकी कला पर भारत की गहरी छाप है।

पुरवैया

ग्रीष्म के अंत में पुरवैया वर्षा ले आने के लिये जो उपक्रम करती है, उसी का दृश्य इस चित्र में बड़ी सजीवता से अंकित किया गया है। पुरवैया के वेग से पेड़ की पत्तियाँ उड़ रही हैं, डालें लहरा रही हैं। शेष दृश्य के लिए देव-स्वामी की निम्नांकित पंक्तियाँ पूर्णतः घटित होती हैं—

"पुरुब से उमड़ि-घुमड़ि उठि धूरि।
संग लिये मेघन को मंडल रही गगन भरपूरि"॥

इसके चित्रकार श्री० गगनेंद्रनाथ ठाकुर श्री० अवनींद्रनाथ के अग्रज हैं। प्राकृतिक चित्रों तथा व्यंग्य और संकेत-चित्रों के अंकित करने की उन्होंने एक अपनी शैली निकाली है। खेद है कि पक्षाघात ने उन्हें बिलकुल असमर्थ कर दिया है।

रुधिर

महाभारत-युद्ध में कौरवों का सर्वनाश हो जाने पर धृतराष्ट्र और गांधारी के भाग्य में यह भी बदा था कि उन्हें अपनी संतति के रुधिर से पंकिल उस रण-क्षेत्र में जाना पड़े। धृतराष्ट्र के चरण उन काँटों का अनुभव करके अब भी मानों दाँत पीसकर प्रतिहिंसा की प्रतिज्ञा कर रहे हैं; किंतु गांधारी के चरण, एक नहीं, अपने सौ-सौ पुत्रों के रुधिर से गीली धरती का अनुभव करने में असमर्थ हैं।

इसके चित्रकार ठाकुर-शैली के जन्मदाता श्री० अवनींद्रनाथ ठाकुर के प्रमुख शिष्य श्री० नन्दलाल बोस हैं। कई दिशाओं में उनकी कला अपने गुरु से भी उन्नत हो गई है।

ठाकुर-शैली के अंकन-विधान और परिपाटी में कई शैलियों का अनुकरण है, किंतु इसकी आत्मा पूर्णतः भारतीय है।

पति की चिता

यह चित्र कवींद्र रवींद्र की पुत्रवधू सौ० प्रतिमा देवी की रचना है। अपने सर्वस्व की चिता को, जिस कातर और करुण दृष्टि से चित्रस्थ अनाथिनी देख रही है, उसके अंकन में चितेरी ने बड़ा कौशल दिखाया है।

मोल-भाव

बंगाल के वैष्णव मछली खाना नहीं छोड़ पाये हैं। उसे जल-तरोई कह कर शाक ही में गिनते हैं। श्री ठाकुर के आरंभिक शिष्यवर्ग में के मद्रासी चित्रकार वेंकट अप्पा ने इसी वैषम्य पर अपनी इस कृति द्वारा व्यंग्य किया है। वैष्णव-महाशय केवल मछली का मोल-भाव ही नहीं कर रहे हैं, मछलीवाली को तीग भी रहे हैं।

सांध्य नृत्य

यह चित्र मेघदूत के निम्नलिखित पद्य का कितना मौलिक अंकन है—

अभिनव जवाकुसुम की लाली धारण करना सायंकाल;
शिव के उच्च बाहु-तरु-वन पर अपना मंडल देना डाल।
जिससे वे न नाच में लेना चाहें गज की गीली छाल;
और शांत हो शिवा एकटक लखें भक्ति तेरी तत्काल।

३७, पूर्व मेघ।

यह चित्र ठाकुर शैली का है। इसके कुशल शिल्पी श्री० शैलेंद्रनाथ जी ठाकुर महोदय के प्रिय शिष्यों में हैं।

विधवा

भारतीय विधवा त्याग, तपस्या, शान्ति और विरह की प्रतिमूर्त्ति है। ठाकुर महोदय के शिष्य श्री० दुर्गाशंकर भट्टाचार्य ने उसी की कैसी भाव-मूर्त्ति इस चित्र में उपस्थित की है!

प्रकृति-पुरुष

गुजरात के प्रसिद्ध चित्रकार तथा कलाप्रवर्तक श्री० रविशंकर रावल ने यद्यपि पश्चिमी कला का अभ्यास किया है, तो भी अपनी चित्रकारी में वे भारतीय भाव और प्रणाली का पर्याप्त समावेश करने लगे हैं। प्रस्तुत चित्र में प्रकृति-पुरुष के इस अपार पसारे—विश्व-वैभव—को उन्होंने एक लाक्षणिक कल्पना-द्वारा बड़ी सुंदरता से अभिव्यक्त किया है।

समुद्र-तट

समुद्र-तट का यह दृश्य पाश्चात्य ढंग पर अंकित हुआ है। किसी दृश्य को देखने के साथ ही आँख पर—हृदय पर नहीं—जो पहला प्रभाव पड़ता है अर्थात् उस ओर पूर्णतः मन न होने के कारण दृश्य जैसे अस्फुट-से दिखाई पड़ते हैं, उसी को ज्यों-का-त्यों अंकित कर देना ही इस प्रकार के चित्रों की विशेषता है; और वह विशेषता इस चित्र में सफलतापूर्वक अभिव्यक्त हुई है।

इसके चित्रकार यद्यपि ठाकुर-शैली के कलावंत हैं, तो भी कई शैलियों पर उनका समान अधिकार है एवं वे कुशल मूर्त्तिकार भी हैं।

कवि जामी

जामी के साथ फारस के प्राचीन भावुक छायावादी सूफी कवियों की परंपरा का अंत हो जाता है। ये पंद्रहवीं शताब्दी के मध्य भाग में हुए थे और जाम नामक स्थान के निवासी होने के कारण अपना उपनाम 'जामी' रखा था, जिसका उपयोग ये श्लेष में जाम (मद्य-पात्र) पीनेवाले किया करते थे। उनके इस काल्पनिक चित्र में उनके व्यक्तित्व का अच्छा खाका खींचा गया है। इसके चित्रकार श्री० चगताई ने पत्र-पत्रिकाओं द्वारा अच्छी ख्याति पाई है। उनकी कला में नक्काशपन अधिक है। कोणमय कपड़ों की टूट तथा उसी प्रकार की अन्य रेखायें, वे बड़ी कुशलता से खींचते हैं।

मराठा वीर बाजीप्रभु

बाजीप्रभु शिवाजी के सेनापति थे। एक बार पन्हाल गढ़ में शत्रुओं से घिर गये थे। बाजीप्रभु ने हठ-पूर्वक उन्हें वहाँ से राँगना दुर्ग में भेज दिया और स्वयं भयंकर गोलावारी में डटे रहकर शत्रुओं को उलझा रखा था। आगे श्री मैथिलीशरण गुप्त के शब्दों में—

आये शिवाजी जब राँगना में
छोड़ी गई पीवर पाँच तोपें।
था क्षेम का सूचक भीम नाद
निश्चिंत बाजीप्रभु हो गये यों॥

फैली मुखश्री उनकी अपूर्व
किया उन्होंने प्रभु-धन्यवाद।
निर्वाण के पूर्व यथा प्रदीप
वे तेज से पूर्ण हुए विशेष॥

गोलाबारी में डटे हुए और प्राणों का खेल खेलनेवाले इस धीर-उदात्त वीर का भाव खूब दर्शाया गया है। इसके चित्रकार श्री० चट्टोपाध्याय ठाकुर-शिष्य परंपरा में हैं। चित्रांकण में इनकी एक अपनी पद्धति है, जिसकी रेखाएँ और घुमाव बड़े रहस्य, चमत्कार और अर्थ-पूर्ण होती हैं।

सावित्री-सत्यवान

यह आदर्श कथा प्रत्येक हिंदू को विदित है। घटना का जहाँ पूर्ण परिपाक होता है अर्थात् सत्यवान के प्राण जब यमराज ले जाते हैं और सावित्री उनके शरीर की रक्षा करती है, तभी का दृश्य चित्रकार ने बड़ी उत्तमता से अंकित किया है। उसकी मौनतामय चिंता की मुद्रा दिखलाने में कलावंत पूर्ण सफल हुआ है। श्री० ए० पी० बनर्जी श्री नंदलाल बोस के प्रधान शिष्यों में हैं और उनकी कला में अपने गुरु की बहुत-कुछ छाया है।

गुड़िया

यह गुड़िया खेलती हुई भोली भाली सलोनी बालिका स्वयं भी तो एक बड़ी प्यारी गुड़िया है। फिर हम इसी को उस नाम से क्यों न पुकारें? इसके नवयुवक चित्रकार श्री रसिकलाल पारिख गुजरात के एक उदीयमान कलावंत हैं। वे देवीप्रसाद राय चौधरी के शिष्य हैं और चित्रों में वर्णविन्यास करने में एक ही हैं। उनकी यह कृति आधुनिक भारतीय कला का एक बहुत उत्कृष्ट नमूना है।

उषा और संध्या

प्रत्येक प्रातःकाल उषा कैसे सिंगार-पटार से अपनी झाँकी देती है और दिवावसान होने पर वही गंभीर प्रशांत संध्या का रूप किस प्रकार धारण कर लेती है, इसे हम नित्य प्रति देखा करते हैं। इस जीवन का भी यही हाल है। यही बात इस चित्र में व्याज-मूर्त्तियों द्वारा दिखाई गई है। मूल चित्र लकड़ी पर बना है। इसके मनस्वी चित्रकार श्री मनीषि दे ठाकुर-परंपरा में हैं और उनमें पर्याप्त मौलिकता है।

अंजनि और पवन

अंजनि और पवन की कथा सबको मालूम ही है। इस चित्र में गुजराती कलावंत श्री० सोमालाल शाह ने पवन की प्रेम-यांचा और मुग्धा अंजनि की मूक असमंजस दिखाने में कमाल किया है।

काशी के घाट की एक झलक

उक्त मनीषि दे का यह घसीट चित्र है। इसमें काशी के घाट का दृश्य एक स्वप्न-नगरी सा प्रतीत होता है। यही चित्रकार का उद्देश्य भी है।

पद्मांजलि

कितनी अकृत्रिम श्रद्धा और तन्मयता इस प्रणति में है! अंजलि में पद्म के मिस से मानों हृदय-कमल ही आराध्य के चरणों में उपहृत किया जा रहा हो।

इसके चित्रकार श्री० सुधीरंजन खास्तगीर शांति-निकेतन कलाभवन के स्नातक हैं। कुशल चित्रकार होने के साथ ही वे अच्छे मूर्तिकार भी हैं।

प्रत्यागमन

श्री० नंदलाल बोस के शिष्य-समुदाय में से गुजरात के श्री० कनु देसाई ने अपना एक नया मार्ग निकाल लिया है। वे अंधकारमय आकृतियों-द्वारा ही अपनी कल्पना को व्यक्त करते हैं। उसी पद्धति का यह नमूना है। बुद्धत्व प्राप्त करने पर सिद्धार्थ का कपिलवस्तु लौटना इसका विषय है। यद्यपि इस वस्तु की अभिव्यक्ति में देसाई जी को बधाई नहीं दी जा सकती क्योंकि बुद्ध को उन्होंने बहुत ही चपल-गति बनाया है, तो भी चित्र के अग्र भाग में भारी खंभे देकर उन्होंने उसे खूब जोरदार बना दिया है।

दरिद्र भारत

भारत के भिखारी मूर्तिमान् दारिद्र्य हैं। चाहे वे नई रोशनीवालों के घृणा के पात्र हों, किंतु उनके मूक आर्तनाद में जो ज्वाला निकल रही है, वह क्या जाने क्या कर डालेगी। इसी तरह के दो मनुष्य कहे जानेवाले दीन प्राणियों के चित्र द्वारा श्री० प्रभात नियोगी ने देश की दरिद्रता खूब दिखाई है।

कलावंत

कलावंत ने अपनी सारी आयु संगीत के आनंद में बिताई है और वह आनंद उसके अस्तित्व ही में ओत-प्रोत हो गया है। यहाँ तक कि इस बुढ़ापे में भी, जब बाल पक गये हैं, दाँत जा चुके हैं, आँखें डबडबाई रहती हैं, कितनी तन्मयता से वह अपनी चिरसंगिनी सितारी को छेड़ रहा है। श्री नंदलाल बोस के शिष्य गुजरात के उदीयमान कलावंत श्री० कृष्णलाल भट्ट इसके निर्माता हैं।

कैलास

नीले और हलके बादामी केवल इन्हीं दो रंगों के उपयोग से इस चित्र में चित्रकार ने एक अनिर्वचनीय रमणीयता पैदा कर ली है। कैलास एक गंधर्वनगरी की भाँति एक अद्भुत स्वप्न की तरह हमारे सामने उपस्थित होता है। श्री० मसोजी की यह कृति बड़ी विलक्षण है। वे महाराष्ट्र हैं और शांति-निकेतन में श्री नंदलाल जी के चरणों में बैठकर उन्होंने सफलतापूर्वक चित्रविद्या का लाभ किया है।

मातृ-ममता

गृह-कार्य छोड़-छाड़कर माता जिस तन्मयता से अपने सर्वस्व को निरख रही है, वह प्रेक्षक को भी तन्मय बना डालती है। काशी के होनहार चित्रकार श्री० हरिहरलाल मेढ़ को देहाती-जीवन अंकित करने में रस मिलता है। यह चित्र उन्हीं का है।

तन्मयता

इस चित्र में चित्रकार ने कृष्ण के वंशी सिखाने और राधा के उसके ग्रहण करने की तन्मयता का अच्छा अंकन किया है।

इसके निर्माता श्री० लोकपालसिंह श्रीमान् होते हुए चित्रकार भी हैं। इन्होंने श्री शारदाचरण उकील की शैली को अपनाया है।

विद्युत्-वनिता

मेघदूत के एक भाव के चित्र की चर्चा ऊपर हो चुकी है। उसके स्रष्टा श्री० शैलेंद्र बाबू के शिष्य श्री रामगोपाल विजयवर्गी जयपुर के होनहार चित्रशिल्पी ने उसी काव्यरत्न के अन्य भाव को लेकर यह चित्र बनाया है। इसमें विद्युत-वनिता के पद्मपलाशयित नेत्र बड़े ही मादक बनाए गए हैं। मेघदूत का अंतिम पद्य है—

या जलधर! मित्रता मान कर या दुखिया पर दया विचार।
इस मेरे अनुचित याचन को पूरा करके भार उतार॥
वर्षा की शोभा से शोभित कर मनमाने सदा विहार।
क्षण भर भी क्षणदा से तेरा विरह न हो यों किसी प्रकार॥

इसी में के विरही यक्ष के आशीर्वाद की यह अभिव्यक्ति बड़ी ही आकर्षक है।

ग्वालिन

ग्वालिन के इस चित्र में भारतीय और पाश्चात्य कला का सम्मेलन है। इस शैली को पटना-शैली कहते हैं, क्योंकि बिहार में ईस्ट इंडिया कंपनी-काल में इसका प्रादुर्भाव हुआ था। प्रख्यात चित्रकार श्री ईश्वरीप्रसाद के यह घर की विद्या है। उन्हीं के शिष्य श्री मथुरादास गुजराती इसके चित्रकार हैं। ग्वालिन की रूप-छटा देव के इस कवित्त की याद दिलाती है—

माखन सो मन दूध सो आनन है दधि तै अधिकै उर ईठी।
जा छबि आगे छपाकर छाँछ समेत सुधा बसुधा सब सीठी॥
नैनन नेह चुवै कवि देव बुझावत बैन बियोग अँगीठी।
ऐसी रसीली अहीरी अहे कहौ क्यों न लगै मनमोहनै मीठी॥

रूप-शिखा

कालिदास ने स्वयंवरा इंदुमती का वर्णन करते हुए लिखा है—"दीप-शिखा की भाँति वह राज-कुमारी स्वयंवर में एकत्र जिस राजा के सामने जाती थी, उसका मुँह तो दमकने लगता था, बाकी अंधकार में पड़ जाते थे"। इस मुगल-चित्र के मुसव्विर को मानों उनकी उसी उक्ति ने यह चित्र लिखने में प्रवृत्त किया था। चित्र में काली जमीन देकर चित्रकार ने अंकित सौंदर्य को खूब प्रधानता दे दी है। पिछली मुगली शैली के स्त्री-सौंदर्य-चित्रण का यह एक बढ़िया नमूना है।

उपवन-विलास

हिंदू चित्र-कला की पहाड़ी शैली के चित्रकारों ने स्त्री-सौंदर्य की एक ऐसी सुकुआर और रमणीय कल्पना की है कि उनके रमणी-चित्र हृदय पर एक गहरी छाप लगा देते हैं। प्रारंभिक १९ वीं शताब्दी के प्रस्तुत चित्र में उसी तरह की एक सुंदरता आनंद से अपने प्रफुल्ल उद्यान में विलास कर रही है।

फुलवारी

गोसाईं जी के रामचरितमानस भर में फुलवारी सबसे मधुर अंश है। उसी का यह अपूर्व चित्र है। प्रारंभिक उन्नीसवीं शताब्दी की हिंदू चित्र-कला का यह एक अनुपम उदाहरण है। देखिए, गोसाईं जी की निम्नलिखित पंक्तियों को चित्रकार ने अपनी कृति में किस सुंदरता से अनूदित किया है!

तेहि अवसर सीता तहँ आई।
गिरिजापूजन जननि पठाई॥
संग सखी सब सुभग सयानी।
गावहिँ गीत मनोहर बानी॥
सर समीप गिरिजागृह सोहा।
बरनि न जाइ देखि मन मोहा॥

× × × ×

एक सखी सिय संगु बिहाई।
गई रही देखन फुलवाई॥
तेइ दोउ बंधु बिलोके जाई।
प्रेम बिबस सीता पहँ आई॥

× × × ×

तासु बचन अति सियहिँ सुहाने।
दरस लागि लोचन अकुलाने॥

× × × ×

कंकन-किंकिनि-नूपुर-धुनि सुनि।
कहत लषन सन राम हृदय गुनि॥
मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्ही।
मनसा बिस्व-विजय कहँ कीन्हीं॥
अस कहि फिरि चितये तेहि ओरा।
सिय-मुख-ससि भए नयन चकोरा॥

× × × ×

देखि सीय-सोभा सुख पावा।
हृदय सराहत बचनु न आवा॥

नोट—इनके अतिरिक्त इस ग्रंथ में जो और रंगीन चित्र हैं उनका संबंध भिन्न भिन्न लेखों से है, जिसकी सूचना चित्र पर दे दी गई है।

प्रतिष्ठापक-सूची

(अकारादि क्रम से)

१—कुँअर उदयप्रतापसिंह
कटिआरी राज्य, फर्रुखाबाद

२—पं० उदित मिश्र
बिड़ला-पार्क बालीगंज, कलकत्ता

३—तत्रभवान् महाराव उमेदसिंह जू, जी० सी० एस० आई०
कोटा राज्य, (राजपूताना)

४—सेठ कमलाप्रसाद गोयनका
२८, ओल्ड चीना बाजार स्ट्रीट, कलकत्ता

५—राय कृष्ण जी
पांडेपुर, बनारस

६—बा० गोकुलचंद्र जी
३० बड़तल्ला स्ट्रीट, कलकत्ता

७—ठाकुर गोपालशरणसिंह
मेंबर स्टेट कौंसिल, रीवाँ

८—बा० गौरीशंकरप्रसाद जी एडवोकेट
बुलानाला, काशी

९—म० म० पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा
अजमेर

१०—राय बहादुर पं० चंद्रिकाप्रसाद त्रिपाठी
गणेशगंज, अजमेर

११—तत्रभवान् राजा चक्रधरसिंह जू देव
रायगढ़

१२—राय बहादुर ठा० जगदीशनारायणसिंह
पड़रौना राज्य, गोरखपुर

१३—सेठ जी० एस० पोद्दार
बौम्बे हाउस, ब्रूस स्ट्रीट, फोर्ट बंबई

१४—पं० ज्वालादत्त शर्मा
किसरौल, मुरादाबाद

१५—श्री० डी० एस० दीक्षित
डेटिन्यू, १४ लार्ड सिनहा रोड, कलकत्ता

१६—श्री० दुर्गाप्रसाद खेतान
एडवोकेट तथा एटर्नी-ऐट-ला
४३, जकरिया स्ट्रीट, कलकत्ता

१७—पं० नरोत्तम शास्त्री गांगेय
गांगेय-भवन, १२, आशुतोष दे लेन, बीडन-स्ट्रीट, कलकत्ता

१८—श्री० नाथूराम प्रेमी
हिंदी-ग्रंथ-रत्नाकर कार्यालय
हीराबाग, बंबई

१९ – सेठ प्रभुदयाल हिम्मतसिंहका
१४ ए, चित्तरंजन एविन्यू (साउथ) कलकत्ता

२०—राय बद्रीदास गोएनका सी० आई० ई० एम० एल० सी०
गोएनका हाउस, कलकत्ता

२१—पं० बलराम उपाध्याय एडवोकेट
बड़ी पियरी, बनारस

२२—सेठ बालकृष्णलाल पोद्दार
४।१।१, ताराचंद दत्त स्ट्रीट, कलकत्ता

२३—सेठ भागीरथ कानोडिया
रायल एक्सचेंज प्लेस, कलकत्ता

२४—सेठ मोतीलाल कानोडिया
१०, सुखराम कानोडिया रोड, हवड़ा

२५—सेठ राधाकृष्ण सोन्थलिया
६५ पथरिया घट्टा स्ट्रीट, कलकत्ता

२६—राय रामचरण अग्रवाल एम० ए०, एल-एल० बी०
बड़ी कोठी, दारागंज, प्रयाग

२७—पं० रामनारायण मिश्र
हेड मास्टर, सेन्ट्रल हिंदू स्कूल, काशी

२८—श्रीयुत रामनिवास रामनारायण

२९—बा० रामप्रसाद जी
८।६ रानीमंडी, इलाहाबाद

३०—तत्रभवान् महाराज सर रामसिंह जू देव के० सी० आई० ई०
सीतामऊ राज्य (मध्य भारत)

३१—सेठ लक्ष्मणप्रसाद पोद्दार
२ हेस्टिंग्स पार्क, कलकत्ता

३२—बा० लक्ष्मीनारायण खत्री
४४, मानिकतल्ला स्ट्रीट, कलकत्ता

३३—सेठ लक्ष्मीविलास बिड़ला
बिड़ला काटन मिल्स लिमिटेड,
सब्जीमंडी, दिल्ली

३४—वाणिज्य-भूषण सेठ लालचंद सेठी
विनोद-भवन, उज्जैन

३५—श्री० विद्याधर मिश्र, श्री रघुनाथ मिश्र
ठि० गांगेय पं० नरोत्तम शास्त्री, कलकत्ता

३६—श्री० विनयकृष्ण रोहतगी
४५, आर्मीनियन स्ट्रीट, कलकत्ता

३७—श्री० शिवप्रसाद गुप्त
सेवा-उपवन, नगवा, काशी

३८—श्री० श्रीगोपाल नेवटिया
हरगाँव, सीतापुर (अवध)

३९—सेठ सत्यनारायण डालमिया
७०, काटन स्ट्रीट, कलकत्ता

४०—राय बहादुर डा० सरयूप्रसाद तिवारी
१२, तुकोगंज, इन्दौर

४१—श्री० सी० एल० वर्मन
पी० १८, बी० चित्तरंजन एविन्यू, (नार्थ)
कलकत्ता

४२—सेठ सीताराम सेकसरिया
शुद्ध खादी भंडार
१३२।१, हरिसन रोड, कलकत्ता

४३—श्रीमान् कुँवर सुरेशसिंह
कालाकाँकर राज्य (अवध)

४४—राय बहादुर श्री० हीरालाल बी० ए०
रिटायर्ड डिप्टी कमिश्नर, कटनी
(सी० पी०)